(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य कृत

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार

–प्रवक्ता–

अध्यात्मयोगी, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री, न्यायतीर्थ

पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

–प्रकाशक–

मन्त्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५-ए, रन्जीतपुरी, सदर

मेरठ (उ०प्र०)

पंचम संस्करण
११००

सन् २०११

लागत मूल्य
१२०/-

प्रस्तावना

भारतीय धर्मों में जैन धर्म का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उसके अहिंसा और अपरिग्रहवाद आदि सिद्धान्त बहुत ही प्राचीन हैं। इनके प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव हैं। जिन्हें आदि ब्रह्मा भी कहा जाता है। जैन सिद्धान्त ने ही लोक में समता-समानता अथवा विश्व प्रेम की अनुपम धारा को जन्म दिया है। अनेकान्त के व्यवहार द्वारा उनके पारस्परिक विरोधों का निरसन करता हुआ उनके जीवन में समन्वय और सहिष्णुता का आदर्श पाठ सिखाता है।

जैन धर्म में भावों की प्रधानता है, उस में परिणामों की अच्छाई, बुराई का जो स्वरूप एवं फल बतलाया गया है और जो जीवन की उन्नति अवनति का स्पष्ट प्रतीक है जिसके द्वारा नैतिक एवं आध्यात्मिक रूप से मानव अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठा सकता है और पूर्ण विकास तक पहुँच सकता है।

जैन धर्म में जहाँ भावों की प्रधानता है वहाँ उनके आचार को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। उनके सिद्धान्त चार भागों में विभक्त हैं जिन्हें चार अनुयोग भी कहते हैं, चरणानुयोग में जीवों के आचार मार्ग का विधिवत कथन है। इसमें गृहस्थ और साधुओं के आचार-विचार का विवेचन है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी आचार मार्ग से सम्बन्ध रखता है। इसी कारण इसका नाम "रत्नकरण्डश्रावकाचार" है। ग्रन्थ में जैन श्रावक के आचारों का सांगोपाङ्ग कथन दिया हुआ है। यह ग्रन्थ उपलब्ध श्रावकाचारों में सब से प्राचीन है। ग्रन्थ में आप्त-आगम और गुरु के लक्षणों की परिभाषायें तथ रत्नत्रय, द्वादश व्रतों और प्रतिमाओं के लक्षण और सम्यग्दर्शन की महत्ता का स्पष्ट कथन किया है साथ ही जैन तीर्थंकर केवली की धर्म देशना को सुन्दर उदाहरण द्वारा पुष्ट किया गया है।

इस ग्रन्थ के कर्ता प्रतिभा सम्पन्न विद्वान, आचार्य, तर्कशिरोमणि और महान योगी थे आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी। आप में वाद करने की अद्भुत शक्ति थी। आप का व्यक्तित्व महान और प्रज्ञायें असाधारणता थी। आप क्षत्रिय राजपुत्र थे। आप का बाल्यकालीन नाम शान्ति वर्मा था। उन्होंने सांसारिक वैभव निःसार समझकर छोड़ दिया था। आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी का समय विक्रम की दूसरी तीसरी शताब्दी माना जाता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार पर जो पूज्य गुरुवर्य्य श्री 105 क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द जी महाराज ने प्रवचन दिये हैं वह इतने लोकप्रिय हुए कि स्वाध्याय प्रेमियों की मांग को देखते हुए पुनः प्रकाशित कराये जा रहे हैं एक-एक सूत्र पर यह प्रवचन श्री सहजानन्द जी के जीवन की आत्म साधना अथवा ज्ञानाभ्यास का अनुपम फल है। इन प्रवचनों के अवलोकन से महाराज श्री की आन्तरिक भावना का परिज्ञान और उनकी लगन, कर्तव्यनिष्ठा, उत्साह तथा आत्म जागृति का भान सहज में हो जाता है।

पाठक प्रवचनों की भाषा विशेषता और विवेचन शैली का स्वयं ही अनुभव कर सकते हैं। इस प्रकार यह प्रवचन गृहस्थों के लिए बहुत ही उपयोगी है। प्रवचनों में कहीं-कहीं पर चरणानुयोग के विषय को उसके पात्र की सीमा से कुछ ऊँचा कहा गया है। अर्थात् आचार मार्ग का विधि विधान धारण करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा न कर उच्चादर्श से प्रेरित होकर निरुपित किया गया है। क्योंकि श्री सहजानन्द जी महाराज का आशय विशुद्ध और वस्तु स्थिति को दिखलाने का रहा है।

इस संस्करण को नया रूप देने में मान्यवर खेमचन्द जी जैन सर्राफ मन्त्री श्री सहजानन्द शास्त्र माला के अथक् परिश्रम किया है, जो अत्यन्त प्रशंसनीय है, इसके लिए वह बधाई के पात्र हैं। मेरी तो यही भावना है कि सभी धर्म स्नेही बन्धु इस ग्रन्थ का पठन-पाठन रूप स्वाध्याय से सम्यग्दर्शन प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बनावें।

सुमेर चन्द जैन
सम्पादक "वर्णी प्रवचन"

श्री मनोहर जी वर्णी महाराज

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ परम् पूज्य श्री 105 क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज का संक्षिप्त जीवन परिचय

जन्म नाम	— मगन लाल
चिरोजा बाई जी द्वारा प्रचलित नाम	— मनोहर लाल
जन्म तिथि	— कार्तिक कृष्ण दशमी ब्रह्ममुहूर्त संवत् 1972, सन् 1915 ई०
जन्म स्थान	— ग्राम दुमदुमा, जिला टीकमगढ़ बुन्देलखण्ड (म०प्र०)
पिता का नाम	— श्री सिंघवी गुलाब राय जी जैन
माता का नाम	— श्रीमती तुलसा बाई जी
शिक्षा	— सिद्धान्त शास्त्री, न्याय शास्त्री, साहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ की परीक्षाएँ उत्तीर्ण
शिक्षण कार्य	— बरूआ सागर विद्यालय के प्रधानाचार्य तथा अनेक विद्वानों, साधु, मुनियों के जैन दर्शन के गूढ़ विषयों के अध्यापक
शिक्षा-दीक्षा गुरु	— परम् पूज्य गुरुवर 105 क्षु० गणेश प्रसाद जी वर्णी
दीक्षा के बाद नाम	— पूज्य 105 क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज
समाज के प्रति देन	— लगभग 500 ग्रंथों की रचना, श्री सहजानन्द शास्त्र माला की स्थापना, वर्णी प्रवचन प्रकाशिनी संस्था की स्थापना, श्री भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मन्दिर की स्थापना, उत्तर प्रांतीय गुरुकुल हस्तिनापुर की स्थापना व अन्य अनेक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना के प्रणेता।
साहित्य सृजन काल	— सन् 1942 से सन् 1978 तक
शरीर त्याग	— 29 मार्च सन्ध्याकाल सन् 1978 ई० त्यागी भवन, मेरठ कैन्ट।

पंचम संस्करण का प्रकाशकीय

प्रिय पाठकवृन्द!

'श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार प्रवचन' का पंचम संस्करण आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुये मुझे अति प्रसन्नता हो रही है। यह ग्रन्थ श्री मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज की एक अनुपम कृति है। इस में प्रत्येक विषय को भली-भांति समझाया गया है। तीर्थंकर प्रकृति की कारणभूत सोलह कारण भावनाएँ, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा तथा ध्यान आदि अनेक विषयों का बहुत ही सरल तथा सुन्दर विवेचन किया गया है।

संसार विषम समस्या रूप है। यहाँ सभी प्राणी दुःखी और संतप्त हैं। जैन धर्म ने इस समस्या को बड़ी गम्भीरता और वास्तविकता पूर्वक सुलझाया है। इसके लिए दो धर्म वर्णन किये गये हैं—मुनि धर्म और श्रावक धर्म। यद्यपि संसार से छूटने के लिए पवित्र मुनि दीक्षा ही एकमात्र मार्ग है, तथापि उसके धारण की शक्ति नहीं हो तो गृहस्थ के व्रत अंगीकार करना आवश्यक है। इस ग्रन्थ में पूज्य वर्णी जी ने जीवों के आचार मार्ग का विधिवत् कथन दिया हुआ है। ग्रन्थ में जैन श्रावक के आचारों का सांगोपाङ्ग कथन दिया हुआ है। इसका एक-एक वाक्य जंचा-तुला है। ग्रंथ में लक्षणों की परिभाषाएँ तथा रत्नत्रय, द्वादश व्रतों और प्रतिमाओं के लक्षण और सम्यग्दर्शन की महत्ता का स्पष्ट कथन दिया हुआ है।

ग्रन्थ में वाक्य-विन्यास सुन्दर है। विवेचन शैली सरल और श्रुति मधुर है। सर्वत्र उन्नत एवं उदार विचारों का समर्थन पाया जाता है जोकि जैन धर्म की आत्मा का प्राण है और जो सर्वोदय विश्व की अनुपम धारा का प्रतीक है इस टीका में पूज्य सहजानन्द जी की आन्तरिक भावना का परिज्ञान होता है। टीका की भाषा सरल तथा सुबोध है। आज विश्व को परिग्रह-परिमाण व्रत के आचरण की भारी आवश्यकता है। विश्व के मानव यदि अपनी आवश्यकतानुसार परिग्रह का परिमाण करलें तो वे न केवल चाह-दाह की भीषण ज्वालाओं से बचेंगे, बल्कि सांसारिक सुख-शान्ति भी अनुभव कर सकेंगे।

टीका की विशेषता और विवेचन शैली का पाठक स्वयं ही अनुभव कर सकते हैं। यह टीका गृहस्थों के लिये बहुत ही उपयोगी है। इस टीका में कहीं-कहीं पर चरणानुयोग के विषय को उसके पात्र की सीमा से कुछ ऊँचा लिखा गया है। यानी आचार मार्ग का विधि-विधान धारण करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा न कर उच्चादर्श से प्रेरित होकर निरूपित किया गया है, परन्तु टीका की उपयोगिता में कोई कमी नहीं है। टीकाकार पूज्य श्री सहजानन्द जी वर्णी का आशय विशुद्ध और वस्तुस्थिति के दिखलाने का रहा है।

अन्त में अपने पाठकों से नम्र निवेदन है कि इस ग्रन्थ में गृहस्थों के कर्त्तव्य को भली-भांति अध्ययन कर उनको कार्यरूप में परिणत करने का यत्न करें तथा अपने मानव जीवन को सफल बनाएँ।

विनीत

खेमचन्द जैन

सदर, मेरठ

रत्नकरण्ड प्रवचन प्रथम भाग

—: प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ

पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज

नमः श्रीवर्द्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥ १ ॥

रत्नकरण्ड ग्रन्थके आदिमें श्री वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार—इस ग्रन्थका नाम है रत्नकरण्ड। इसके रचयिता हैं स्वामी समंतभद्राचार्य। रत्नकरण्डका अर्थ है रत्नका पिटारा। रत्न क्या? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीनका जिसमें कथन है उसे कहते हैं रत्नकरण्ड। रत्नकरण्डके आदिमें मंगलाचरण करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि श्री वर्द्धमानके लिए मेरा नमस्कार हो। श्री वर्द्धमानका मुख्य अर्थ तो यह है कि इस चतुर्थ कालके अन्तमें २४ वें तीर्थंकर राजा सिद्धार्थके नन्दन, त्रिशला माताके नन्दन श्री वर्द्धमान तीर्थंकर हुए हैं, उनका स्मरण किया। दूसरा अर्थ यह है कि श्री वर्द्धमान मायने सबकोई जो अंतरंग श्री ज्ञानलक्ष्मी से वर्द्धमान हो, बढ़ा हुआ हो वह श्री वर्द्धमान है। तो श्री वर्द्धमान के कहनेसे सभी तीर्थकरोंका, अरहंतदेवका अंतरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मीकी अपेक्षा तीर्थंकरोंका और मात्र अंतरंग लक्ष्मीकी अपेक्षा सिद्धोंका इसमें ग्रहण हुआ है। उनमें एक श्री वर्द्धमान स्वामी को ही विशेषण करदें और विशेष्य करदें, तो अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीसे बढ़े हुए वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार किया है। आज इस पंचमकालमें जो कुछ भी तत्त्वज्ञान चल रहा है वह वर्द्धमान स्वामीकी परम्परासे चला आया हुआ चल रहा है। जो यह तत्त्वज्ञान न मिलता तो यह जीव अज्ञान अंधेरेसे हटकर कैसे मोक्षमार्गमें लगता? तो वर्द्धमान प्रभुका हम सबपर बड़ा उपकार है।

श्री वर्द्धमान भगवानके शासनमें सम्यक् आचार व विचार का प्रतिपादन—लोकमें दो बातोंकी महत्ता होती है—(१) आचार और (२) विचार। जिसका आचार और विचार सुन्दर हो वह उत्तम माना जाता है और इन दो बातोंमें सब कुछ आ गया। भावना, सद्भाव, विचार—ये सब विचार बनें और मन, वचन, कायकी चेष्टा आत्माका व्यापार ये सब आचार बने, तो जैन शासनमें आचारके लिए मुख्यता है अहिंसाकी और विचारके लिए प्रधानता है स्याद्वादकी। स्याद्वादसे वस्तुका निर्णय करिये। चूंकि वस्तु बनी रहती है और बनती बिगड़ती है। अगर बनना बिगड़ना न हो पदार्थमें तो बना रहना भी नहीं हो सकता और यदि बना रहना न हो पदार्थमें तो बनना बिगड़ना भी नहीं हो सकता। तो जब हमेशा रहता है और उसकी अवस्थायें बनती बिगड़ती हैं तो बस द्रव्य और पर्याय इन दो

दृष्टियोंसे वस्तुकी पहिचान बनाई गई। द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ नित्य है और पर्याय दृष्टिसे अनित्य है। यदि नित्य ही है, अनित्य ही है, ऐसा सिद्धान्त माना जाय तो पदार्थ किस मुद्रामें रहेगा? और फिर आत्माका रागद्वेष सुधार बिगाड़ मुक्ति कुछ भी न बन सकेंगे? तो क्या आत्मा क्षण-क्षणमें नया-नया है? यदि ऐसा माना जायेगा तो क्षण-क्षणमें जब नया-नया आत्मा बन रहा तो धर्मकार्य करनेकी, मोक्ष मार्गकी आवश्यकता ही क्या रही? कोई भी आत्मा एक क्षणको रहे, दूसरे क्षण न रहे तो उसे मोक्षमार्गमें बढ़नेकी आवश्यकता ही क्या रहेगी, और यह व्यवहार चलेगा ही क्यों? सब अव्यवस्था है। अतः पदार्थ आत्मा नित्यानित्यात्मक है और इसी तरह स्याद्वादमें आत्माके स्वरूपको समझनेके लिए अनेक दृष्टियाँ लीं, अनेक धर्मोंका परिचय कराया गया। तो स्याद्वादसे तो वस्तुका निर्णय करना और अहिंसासे अपने आत्माको पवित्र करना धर्मका स्वरूप भी जैन शासनमें मूलतः यह बताया है कि अपने परिणामों में रागद्वेष इष्ट अनिष्ट मोह भाव नहीं सो अहिंसा हैं।

अहिंसाके स्वरूपनिर्णयमें और मार्गानुसरणमें सर्वविधेय समस्यावोंका समाधान—तो एक समस्याका समाधान मिल गया जिससे किसीको बहुत अधिक समझाना भी न पड़ेगा कि भाई इससे यों बोलो, इससे यों करो, अमुककी रक्षा करो। अनेक बातें कहनी ही नहीं पड़ेंगी। जो कुछ होना है वह स्वयं हो जायेगा उस जीवको जिसने वास्तविक अहिंसाको चित्त में उतारा है। अपने में विकार न लावें, रागद्वेष भाव न करें। ऐसा कोई करके रहे तो उसका मन कैसे चलेगा? उसके वचन कैसे निकलेंगे? शरीरकी कैसी चेष्टा होगी। बस यही चरणानुयोगमें दिखाया है। दोनों बातोंका मेल है। शास्त्रोंमें लिखा है सो करना चाहिए और ज्ञानी आत्माके द्वारा जो प्रवृत्ति बनती है सो शास्त्रोंमें लिखी है। जैसे स्वानुभवका मेल शास्त्रोंमें देख लो जिसप्रकार आत्माका स्वरूप दिखाया है उस प्रकार अपने आत्मस्वरूपका चिन्तन करना और आत्मस्वरूपका चिंतन करते हुए उस अनुभवका अलौकिक आनन्द पाया तो उसका मेल शास्त्रोंमें देख लो, यही लिखा है ना? हां तो इस प्रकारका समन्वय बना। अपने आपको ठीक ज्ञानप्रकाशमें लाये बिना अपना परिणाम, परिणमन शान्तिका नहीं बन सकता। तो अहिंस और स्याद्वाद इन दोनोंका जो विस्तार पूर्वक विवेचन है उससे हम आप लोगोंने ज्ञानप्रकाश पाया यदि पशु पक्षियोंकी भाँति खाना पीना, रागद्वेष करना, झगड़ा करना, मोह करना, मरजाना, फिर जन्म पाना, फिर रागद्वेष करना ··· इन ही में अगर रुचि है तो ठीक है, तब तो जो पशुओंका काम है सो अपन भी कर रहे, उससे आगे कुछ नहीं सोचा। यदि इस संसार में जन्म मरण करते रहना और नानाप्रकारकी यातनायें सहते रहना ही मंजूर है तो बस ठीक है, इन पशु पक्षियोंकी भाँति ही कार्य करते रहो, वे सब बातें मिलती रहेंगी, और यदि नहीं इष्ट है, और अपने आपको संसारके संकटोंसे सदाके लिए छुटकारा दिलानेका परिणाम हुआ है तब तो वीर प्रभु के शासनमें, उसकी छायामें आयें और ज्ञानमार्गमें चलें।

सर्वोत्कृष्ट ज्ञानके प्रभु श्री वर्द्धमान प्रभुको नमस्कार—जगतमें केवल ज्ञान ही एक ऐसा वैभव है कि जिसकी उपमा तीन लोक तीन कालमें किसी अन्य वस्तु से नहीं दी जा सकती। मानो वे बाह्य चीजें उसके आगे कुछ नहीं हैं। फक्कड़ हैं, दिगम्बर हैं और अपने खाने पीने की कुछ परवाह

नहीं है, ज्ञान सही है, ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो यह स्थिति बनाने की योग्यता है तो वह तो अन्तः ऐसा उद्यम कर रहा कि शरीर का झगड़ा भी खतम हो जायेगा। जिस शरीर से आज प्रेम किया जा रहा है वह शरीर अभी कुछ ही दिनों बाद अग्निसे जला दिया जायेगा। यह शरीर रखने योग्य नहीं फिर इससे प्रीति क्यों करना? हां संयम की साधना के लिये, जीवन निर्वाह के लिये इस शरीर के नाते से कुछ कुछ करना भी पड़े सो तो ठीक है पर यह शरीर ही मैं हूं, यही मेरा सर्वस्व है, उसके ही सम्मान अपमान की बातों का ध्यान बनाये रहना यह इस जीवन की भारी भूल है। यह तो है घोर अज्ञान अन्धकार की बात, इससे कोई शांति का अनुभव नहीं कर सकता। शांतिका उपाय तो वीर प्रभुने बताया है सो शांति की प्राप्ति के वर्णन में सर्वप्रथम वीर प्रभुका स्मरण किया गया है।

निर्धूतकलिलात्मक श्री वर्द्धमान प्रभुको नमस्कार—श्री वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार हो। कैसे हैं वे प्रभु? निर्धूतकलिलात्मने, याने पूर्ण रूप से धो डाला है इन पापोंको आत्मासे जिसने वे वर्द्धमान प्रभु। जैसे धुनियां रुई धुनता है तो उस रुई को धुन धुनकर उसके सारे बिनोले ढूंढकर समाप्त कर देता है ऐसे ही ज्ञानी जीव इन राग भावों को धुनते हैं ज्ञान के यंत्र से। कोई राग द्वेष न रहे। यदि राग द्वेष रहेगा तो मुक्ति नहीं मिल सकती। तो प्रभुने स्वयं में खुद अपने पाप कर्मों को आत्मासे निकाल डाला है, धो डाला है, दूर कर दिया है और इसी से वर्द्धमान प्रभुको वह दिव्य ज्ञान मिला कि जहाँ यह दिव्य उपदेश चला, कर्मके बारे में यह ध्यान दिलाया कि जब यह जीव अज्ञानभाव में रह रहा, रागद्वेषादिक विकारोंको अपना रहा, रागी द्वेषी बन्धा रहा तो कार्माणवर्गणा जातिके पुद्गल स्वयं ही कर्मरूप परिणम जाते हैं, जीव उनको परिणमाता नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको परिणमा सकता नहीं है, पर ऐसा ही निमित्त नैमित्तक योग है कि जीवमें अज्ञानभाव, रागद्वेषभाव जगा कि कार्माणवर्गणायें स्वयं कर्मरूप परिणम गई। सो प्रभुने रागद्वेष मोह रूप कलिलको आत्मासे बिलकुल अलग कर डाला है।

सर्वज्ञेयोंके लिये दर्पणायमान वर्द्धमान प्रभुको नमस्कार—निर्धूतकलिलात्मक होने के कारण सालोकानांत्रिलोकानां नाम याने जिसका ज्ञान लोकालोक के सब जीवोंको प्रकाशित करने में दर्पणकी तरह आचरण करता है। एक दो दृष्टांत सामने रखिये एक तो दर्पणमें सामने आये हुए पदार्थ का फोटो आ जाना, प्रतिबिम्ब आ जाना और एक अग्निके सम्बन्ध से पानी में गर्मी आ जाना, इन दोनों में बड़ा अन्तर है। दर्पणमें जो फोटो आयी है वह ऊपरी है, छाया है, निमित्त के हटने पर छाया भी दूर हो जाती है और जब तक वह प्रतिबिम्ब है दर्पणमें तो उसको देखकर लोग तो यह कहेंगे कि दर्पण तो लाल नहीं हुआ किन्तु लाली दीख रही है। कोई लाल चीज सामने हुई तो दर्पणमें लाल प्रतिबिम्ब आया। तो सभी के मन में यह बसा हुआ है कि दर्पण लाल नहीं हुआ किन्तु दर्पणमें यह लाल रंग दिख रहा है। किन्तु अग्निसे होने वाली गर्मीमें यह बात नहीं पायी जाती। अग्नि हट जाये तो भी पानी कुछ देर गरम रहता। भले ही कुछ देर में ही ठंडा हो गया मगर तत्काल तो गर्मी नहीं हट पाती। जबकि दर्पण के सामने की चीज हटने पर तुरन्त प्रतिबिम्ब हट जाता। तो जैसे अग्निके सम्बन्धसे पानी गरम हो जाता है इसी तरह कर्म विपाकके सम्बंध से आत्मा रागीद्वेषी विकारी हो जाता है और कोई बाह्य पदार्थ ज्ञानमें आ गया, ज्ञानमें ज्ञेयका सम्बन्ध बन गया, यह है एक स्वभावसे होने वाली बात। ज्ञानका स्वरूप

क्या है? जानना अगर जानना परिणमन न रहा तो ज्ञानका कुछ अर्थ भी है क्या? ज्ञान कुछ रहा ही नहीं, तो ज्ञानका परिणमन होना, जानना यह स्वभावसे हो रहा है, यह विकारसे नहीं हो रहा, जबकि आत्मामें रागद्वेष का होना स्वभाव से नहीं हो रहा किन्तु विकार भाव से हो रहा। कर्मविपाकका निमित्त पाकर हो रहा—तो जिसके ज्ञानमें सर्वज्ञेय पदार्थ दर्पण की तरह आचरण कर रहे हैं ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामीको यहाँ भाव पूर्वक, विनय पूर्वक नमस्कार किया है।

श्री से वर्द्धमान श्री वर्द्धमान प्रभुको नमस्कार—वर्द्धमान प्रभु श्री से बढ़े हुए थे, श्री मायने अंतरंग लक्ष्मी, बहिरंग लक्ष्मी। महावीर भगवानके आत्मामें ज्ञान तो अनन्त प्रकट है, दर्शन अनन्त, आनन्द अनन्त, शक्ति अनन्त आदिक स्वच्छ स्वरूप यह तो है उनकी अंतरंग लक्ष्मी और बहिरंग लक्ष्मी क्या? बड़े शोभायुक्त समवशरण का होना, समवशरण मायने धर्मसभा, भाषण सभा, प्रवचन सभा, किसी नेता के आने पर या सरकारी किसी ऊंचे पदाधिकारी के आने पर लोग उसके व्याख्यान के लिये बड़ा मंडप तैयार करते हैं सो कुछ विशेषता करते कि नहीं, फिर तीनों लोकके गुरु जो वास्तविक बात बताने वाले हैं, जो केवल ज्ञानी हुए तीनों लोकमें उत्तम हुए उनके धर्मोपदेशके लिए दिव्य ध्वनि खिरे उसके लिए कैसा मंडप बनना चाहिये सो तो बताओ? इन नेताओं का सम्बंध तो देश नगरके थोड़े लोगोंसे है सो वे लोग रहते हैं, मंडप बना लेते हैं, पर तीर्थंकर का स्नातक गुरु का सम्बंध है तीन लोक के जीवोंसे। तो जिसमें सबका प्रसंग है उसका मंडप कैसा बनना चाहिये? वह मनुष्यों द्वारा नहीं बनाया जा सकता। वह देवों की ही रचना है। तो समवशरणमें कैसी अद्भुत रचना है, कैसी शोभा है कि कोई अगर प्रभुका उपदेश सुनने जाय तो निकट पहुंच भी नहीं पाया, पर बाहरी वातावरण को देखकर उसके धर्मभाव बढ़ने लगे। धर्मभाव बढ़ा हुआ हो, धर्मभाव आ रहा हो तो सुननेमें विशेषता होती है, और धर्मभाव मनमें न हो और बाहरी बात संकल्प विकल्प आरम्भ परिग्रह की बात चित्तमें बसी हो तो धर्मोपदेशका सुनना थोड़े ही बनता है। तो समवशरण की रचना ऐसी बने कि जहाँ प्रवेश करते ही चैत्यालयोंके दर्शन, मुनिजनोंके दर्शन और फुटकर चर्चा करती हुई गोष्ठियों का मिलना इस तरह चले जा रहे हैं, धर्मका वातावरण बढ़ रहा है और जब अपनी बारह सभामें पहुंचे, अपने कोठेमें बैठे तो प्रभुका जो उपदेश, दिव्यध्वनि हो, उसके सुननेको पात्रता आ जाती है। तो वर्द्धमान प्रभु अंतरंग और बहिरंग लक्ष्मीसे शोभायमान हैं। उनको नमस्कार करके अब आचार्यदेव ग्रंथमें क्या कहेंगे वह बात बतला रहे हैं। जैसे कहते हैं प्रतिज्ञापन इस ग्रंथ में किस चीज का वर्णन होगा वह बहुत संक्षिप्त शब्दों में सबसे पहले बताया जा रहा है। वही उद्देश्य इस दूसरे श्लोक में बताया जा रहा है।

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम्।
संसार दुःखतः सत्त्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे॥ २॥

संसारोद्धारक धर्मतत्त्वके उपदेशका प्रतिज्ञापन—मैं कर्मको नष्ट करने वाले इस कर्मको नष्ट करने वाला उत्तम धर्म कहूंगा जो वर्णन किया जायेगा यह अपने आत्माकी बातका ही वर्णन होगा। जैसे कि मानो कोई इतनी ही बात कह रहा हो इसलिये उसके सुननेमें आलस्य न लाना, निरुत्साह न

होना, जो भी कहा जायगा, जो आपके भीतर की बात कही जायगी और वह भी ऐसी बात कही जायेगी कि जिस उपायसे पहले दुःखों को दूर कर सुखमें पहुंच जायेंगे। इसी श्लोक में विशेषण देकर धर्मका स्वरूप बताया गया। जो जीवको संसारके दुःखोंसे छुटाकर उत्तम सुखमें पहुंचा देता है उसे धर्म कहते हैं। धर्मके अनेक प्रकारसे लक्षण कहे गये हैं, वे सब इस लक्षणमें आ जाते हैं। जैसे कहा गया कि क्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक दस लक्षण धर्म हैं तो ये १० बातें—क्षमा करना, नम्रता रखना, सरल रहना, लोभ न करना ऐसी कोई प्रवृत्ति करे तो वह संसारके दुःखोंसे छूटकर उत्तम सुखमें पहुंच जाता है ना। उनमें भी यह धर्मका लक्षण कहा गया है। वस्तुस्वभावो धर्मः, जो वस्तुका स्वभाव है वह धर्म है। आत्माका स्वभाव है जानना, देखना, ज्ञाता द्रष्टा रहना। रागद्वेष करना स्वभाव नहीं। जानना स्वभाव है। जाने बिना यह रह ही नहीं सकता। क्योंकि ज्ञानस्वरूप है सो जानन जरूर बनेगा। सो जानन तो होता है अपने स्वभावसे, पर विकार जगता है परका निमित्त पाकर विकार भावसे, स्वभावसे नहीं। सो आत्माका धर्म बताया है जानना देखना। स्वभाव ज्ञानस्वरूप चैतन्यभाव। सो जो इस ज्ञानस्वभाव को जानेगा और इस ही स्वभावमें मग्न बनेगा वह दुःखसे छूटकर उत्तम सुखमें जायेगा या नहीं? जायेगा। वहाँ भी धर्म का यह लक्षण बना। दयाको भी धर्म कहते। और उसका पूर्ण रूप लीजिए—अपने आपकी दया करना और दूसरे जीवोंकी दया करना। अपने आपकी दया तो इसमें है कि यहां रागद्वेष विकार भाव न जगे, पर उस दया धर्मका उपदेश देते हैं। उनके गुणोंकी रक्षा करना यह पर दया है। सो दोनों प्रकारकी दया करना धर्म है। तो लो दया रूप धर्ममें भी यह लक्षण गया। धर्मका लक्षण बताया है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रयरूप परिणाम। तो भला बतलावो जो अपने आत्माके स्वरूपका विश्वास करता है। स्वरूप को जानता है और स्वरूपमें ही मग्न होता है वह पुरुष संसार के दुःखोंसे छूटकर उत्तम सुखमें पहुंचेगा या नहीं? पहुंचेगा। लो रत्नमें भी यह धर्मका लक्षण घटित हुआ।

ज्ञानमार्गमें रुचि करनेका कर्त्तव्य—भैया! धर्मकी बात यों मौजसे न आयगी कि अपने मनको कुछ समझाना न पड़े और एक विनोद तफरी मौज से हमें धर्म मिल जाय, सो ऐसी आशा न रखें। अगर मौज मौजका ही काम करना है तो अनादिसे करते आये और जो फल पाते आये सो चलने दीजिये। और यदि यह भाव बना है कि मुझे तो संसारके संकटोंमें छुटकारा पाना है तो चाहे कोई गृहस्थावस्थामें हो, आजीविका सम्बंधी काम काज भी करता हो, अन्य कार्य भी करता हो तो भी वहाँ उसे आत्मा की सुध रहेगी, अन्यथा अज्ञानी जनों जैसा काम, दुष्टों जैसा काम क्यों नहीं बनता ज्ञानीका? उसे अपने आपके आत्माकी सुध है। तो अपने कल्याणके लिए ज्ञानके लिए प्रयत्न अधिक होना चाहिए। स्वाध्यायसे, अध्ययनसे, चर्चासे, मन नहीं लग रहा धर्म कार्योंमें तो वहाँ भी कुछ मन लगाना होगा, कुछ अपने पर जबरदस्ती करनी होगी, यों ही मानों कि धर्मकार्य अति दुस्तर है, ज्ञानकी बात समझमें आती नहीं है, अब मान लो ज्ञानके मार्गसे हट गये तो फिर जावोगे कहाँ? करोगे क्या? वही विषय और कषाय। तो विषयकषायमें तो प्रेम है पर धर्मवार्तामें प्रेम नहीं है तो उसका परिणाम तो सैकड़ों आचार्योंने पहले से ही घोषित कर दिया है कि वे क्या बनेंगे? किस तरहसे उनका जीवन

जायगा। तो धर्मका विवरण इस ग्रंथमें है और वह भी बड़ी पद्धतिसे है। क्या-क्या पहले समझना चाहिए, किस तरहसे यह जीव समझे वह सब अपने आत्माकी बात लिखी है। उसे ध्यान पूर्वक सुनना है, मनन करना है और उस रूप अपने आपको ढालना है।

सुगमलभ्य अन्तःस्थ धर्म भावके कथनका प्रतिज्ञापन—यहाँ समंतभद्राचार्य ग्रन्थ के प्रारम्भमें अपना उद्देश्य बतला रहे हैं कि मैं वास्तविक धर्मका प्रतिपादन करूँगा। जो धर्म कर्म और संकटोंको दूर करने वाला है। संसारके दुःखोंसे छुटाकर उत्तम सुखमें पहुंचाने वाला है। उस धर्मके विषयमें बताया था कि रत्नत्रयधर्म, दस लक्षण धर्म, आत्मस्वभाव धर्म और दयारूप धर्म इन चार रूपोंमें उस धर्मका दर्शन होता है। सो वह धर्म जो आत्माके विकासरूप है वह धर्म कहीं बाहरसे नहीं मिल सकता, बाजारमें खरीदनेसे नहीं मिल सकता। कोई सोचे कि मैं धनिक हूं। मैं पैसेके बलसे धर्म पा लूंगा तो इस तरहसे धर्म नहीं मिलता, बल्कि मंदिर आदिकमें भी भींट पत्थर या जो भी दृश्यमान चीजें हैं उनसे धर्म नहीं मिलता। धर्म मिलता अपने आत्मामें से। जिसको अपने आत्मामें से धर्म मिलता है उसको धर्ममें सहयोग मंदिर प्रतिमा मूर्ति आदिक सब पड़ जाते हैं और जिसको अपने आत्मासे धर्म नहीं मिलता उसको कहीं से भी न मिलेगा। तो वह धर्म आत्माका स्वरूप है और अपने आत्मासे ही प्रकट होता है। जैसे कहते हैं ना कि धर्म बिना शान्ति नहीं है तो वह धर्म क्या चीज है जिसके होने पर शान्ति हो जाती है? वह धर्म है आत्माके स्वरूपका परिचय। सो मैं उस धर्मको कहूंगा, ऐसी ग्रन्थकार यहाँ प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

शुद्धभावकी धर्मरूपता—संक्षेपमें आत्माके चार भाव जानिये—द्वेषपरिणाम, अशुभराग, शुभराग और आत्माका शुद्धभाव। जैसे राग शुभ और अशुभ होता है ऐसे ही द्वेष भी शुभ और अशुभ हो सो नहीं। यहां आप यह सोच सकते हैं कि किसी शिष्य पर किसी भक्त पर जिसको अनुराग है वह भक्तको, शिष्यको डांटता भी है, कुछ दण्ड भी देता है, कुछ बलपूर्वक भी बोलता है, यह तो द्वेष हुआ ना? अरे यह शुभ द्वेष है, भलेके लिए किया जा रहा है। तो द्वेष शुभ और अशुभ कैसे न हुआ? किन्तु उत्तर है कि यह अनुरागवश द्वेष किया जाता है तो वह शुभ रागमें आया। द्वेषमें उसकी गिनती नहीं की जाती। जैसे यहीं देख लो—कोई माँ छोटे बच्चेको डाटती है तो उसे कोई कहता है क्या कि इस माँ को अपने बच्चेसे द्वेष है कोई नहीं कहता। डाटने की तो बात छोड़ो यदि पीट भी दे तो भी कोई नहीं कहता कि माँ को अपने बच्चों से द्वेष है। वह तो किसी रागवश ही किया गया। बच्चा कहीं कुमार्गमें न जाय सन्मार्गमें रहे, ऐसा भाव होनेसे उस बच्चेके प्रति डाटने डपटने अथवा पीटनेका भाव हुआ तो ऐसे ही यदि कोई गुरु अपने शिष्यपर भक्तपर नाराज हो किसी बातसे तो उसे भी द्वेष नहीं कहा गया। वह शुभ रागमें शामिल है क्योंकि प्रेरणा तो शुभ रागसे चली। तो द्वेष तो अशुभ ही होता है, उससे तो हटना ही है। अशुभराग याने विषय सम्बंधी राग, वह भी अशुभ ही होता है। उससे भी हटना। शुभराग जैसे प्रभुभक्ति, पूजा, गुरुजनोंकी वैयावृत्ति आदि ये सब शुभ राग हैं। सो शुभ राग भी आश्रव हैं फिर भी मोक्ष मार्गकि रुचियाको शुभ राग करना पड़ता है। सो जितने अंश में वहाँ राग है, उतने अंश में तो धर्म नहीं है और जितने अंश में वीतरागता है उतने अंश में धर्म है। वीतराग अंशकी

विशेषता है और राग अंशकी गौणता है। जैसे माँ बच्चेको डाटे डपटे तो उसको बच्चेसे राग है ना और डाट डपट चल रही सो कुछ रोष भी है, पर प्रधानता किसकी है? रागकी। तो ऐसे ही जो धर्मात्माजन अन्य धर्मात्माजनोंसे कभी किसी समय कुछ प्रतिकूल बोलें, डाटकर बोलें, धमकाकर बोलें तो भी उसमें द्वेषकी प्रधानता न लेना, शुभ रागकी प्रधानता लेना, पर धर्मकी बात उन तीनोंमें नहीं है। न द्वेषमें है, न अशुभ रागमें है और न शुभ रागमें है। तो वह धर्म किसी बाह्य वस्तुसे न मिलेगा किन्तु अपने आत्माके आश्रयसे ही मिलेगा।

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धतिः॥ ३॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रके एकत्वकी धर्मरूपता—धर्म क्या चीज है उसका स्वरूप यहाँ कह रहे हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनको धर्म कहते हैं। धर्म तीन नहीं हैं, सम्यग्दर्शन भी धर्म, सम्यग्ज्ञान भी धर्म, सम्यक्चारित्र भी धर्म, और फिर जिसकी मर्जी आये सम्यग्दर्शनसे मोक्ष जाय; कोई सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष जाय, कोई सम्यक्चारित्रसे मोक्ष जाय ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनका जो मेल है, परिपूर्णता है वह साक्षात् धर्म है, इसी कारण बोलते समय यों न बोलना कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र धर्म हैं। क्रियाको बहुवचनमें न बोलना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र धर्म हैं, ऐसा न बोलना। एक वचनसे बोलना, अर्थात् इस रत्नत्रयकी पूर्णता धर्म है। जैसे प्रथम अध्यायके सूत्रमें कहा है—जीवाजीवास्रवबन्धसंवर-निर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। यहाँ जैसे उन ७ बातोंका नाम लेकर बहुवचन किया गया ऐसे ही तत्त्वमें बहुवचन नहीं है वह एक वचनमें है, जिससे सिद्ध होता कि उन तीनोंका सम्प्रदाय धर्म है। जैसे कोई एक मिलकर काम होता है, अथवा जैसे एक कमेटी होती है या संसद सदस्य जैसी संविद समिति, तो प्रत्येक सदस्य कमेटी नहीं है, किन्तु उन सदस्योंका जो समुदाय है वह कमेटी है। अगर सदस्योंका ही नाम कमेटी होता तो वे कितनी ही कमेटी कहलातीं। सबकी जुदी जुदी राय है अथवा जैसे आगे ९वें अध्यायमें दसलक्षण धर्मका सूत्र दिया—उत्तम क्षमामार्दवार्जवशौच-सत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः, धर्मः शब्द एक वचन है और १० चूंकि संज्ञा हैं, नाम हैं सो वे बहुवचन में आये मगर वे १० धर्म नहीं हैं। १० धर्मोंका एकत्व धर्म है। अगर १० धर्म होते तो कोई क्षमासे ही मोक्ष चला जाता, फिर उसे मार्दव आर्जव आदि धर्म पालनेकी जरूरत ही न थी पर ऐसा तो नहीं है। जो दस धर्मोंका समूह है वह धर्म है। ऐसे ही यहाँ कह रहे हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनको भगवानने, गणधर देवने धर्मेश्वरने बताया है, ये धर्मके अधिपति हैं। उन्होंने इन तीनों के समुदायको मोक्षमार्ग कहा।

रत्नत्रयभावकी धर्मरूपता व रत्नत्रयसे प्रत्यनीक भावोंकी भवपद्धतिरूपता—जब मोक्षमार्ग चल रहा हो तो वहां प्रसन्नता रहती है। सम्यग्दर्शन क्या चीज है? सम्यक् मायने अच्छा, दर्शन मायने नजर आना, अच्छी बात नजर आ जाय तो उसे कहते हैं सम्यग्दर्शन। अब अच्छी बात क्या है? तो यह समझिये कि अच्छी बात वह होती है कि जो कभी बुरी न हो सके। अच्छी बात है आत्माका

स्वरूप उसका परिचय। यह है सम्यग्दर्शन। सम्यग्ज्ञान आगमका, शास्त्रका ज्ञान होना और उस कथनसे अपने आपके स्वरूपमें रमकर जैसाका तैसा जानना सम्यग्ज्ञान है। सम्यक्चारित्र—आत्मस्वरूपमें मग्न होना, कषाय न रहना यह है सम्यक्चारित्र। तो इन तीनका समुदाय मोक्ष मार्ग है। और इससे उल्टे श्रद्धान, वस्तु अन्य तरह है मानता अन्य तरह है, वस्तु अनित्य है, मानता नित्य है, प्राप्त समागम सब बिछुड़ जायेंगे, पर यह मानता कि ये सदा रहेंगे, तो जहां यह मिथ्याभाव है वहां धर्म नहीं है। तो यह मिथ्यादर्शन धर्मसे विपरीत वस्तु है। कभी किसी पुत्रको अपनी माँ से कोई ठेस पहुंची किसी भी बोली वाणीसे तो पुत्र उसमें बुरा मान जाता, उसकी यह दृष्टि नहीं बन पाती कि यह माँ मेरे भलेके लिए कह रही, किन्तु वह इससे विपरीत सोचता, पुत्रके स्वयंकी कषाय है जिससे वह अपनी ही खुदगर्जीमें रहता है ऐसे ही जो पुरुष या जो आत्मा परमात्मा के प्रतिकूल है उसको परमात्मस्वरूप समझमें नहीं आता और जैसे वह पुत्र माँ के दोष ही दोष देखता, माँ के द्वारा किए गए जीवन भरके उपकारोंको भूल जाता बल्कि उन्हें अपने लिए अपकार बताता तो ऐसे ही जब मिथ्यात्वका उदय है तो उसको देवशास्त्र और गुरुमें भी दोष नजर आते हैं, गुण नहीं, यह है मिथ्यादर्शन। मिथ्याज्ञान—जैसा पदार्थका स्वरूप है वैसा ज्ञानमें न आना, उससे उल्टा जानना यह है मिथ्याज्ञान। और उल्टा चलना, विषयोंमें प्रवृत्ति करना, कषायोंमें लगना यह सब है मिथ्याचारित्र। ये तीन भाव तो संसारके बढ़ाने वाले हैं और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये संसारको हटाने वाले भाव हैं। तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र वे धर्म कहलाते हैं, ऐसा गणधर देवने बताया है।

श्रद्धानं परमार्थाना-माप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ ४॥

परमार्थ आप्त आगम तपस्वियोंके श्रद्धानकी सम्यक्त्वरूपता—सम्यग्दर्शनका लक्षण इस गाथामें किया गया है—परमार्थ भूत सच्चा जो आप्त, आगम और तपस्वी अर्थात् देव, शास्त्र और गुरु इनका श्रद्धान करना, जिस श्रद्धानमें तीन मूढ़ता न हों, ८ अंग हों ऐसे तत्त्वश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। वास्तविक देव, शास्त्र, गुरु कौन हैं? तो किस बातका देव, शास्त्र, गुरु आप पूछ रहे? मोक्षमार्गका। तो जो मोक्षमार्गसे चलकर मुक्त हुए हैं ऐसे पवित्र आत्मा देव कहलाते हैं। और शास्त्र कौन है? उन देवोंके द्वारा बताया गया जो शासन है वह आगम है, और गुरु कौन है? तपस्वी कौन है? जो उस आगमके अनुसार, प्रभुके आदेशके अनुसार मोक्ष मार्गमें चल रहे हैं और बढ़ रहे हैं वे कहलाते हैं गुरु। धर्मके देव, धर्मके आदर्श, धर्मका कथन करने वाले आगम, धर्मके गुरु—जो उस धर्ममें चल रहे हों ऐसे देवशास्त्रगुरुका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। इसमें मूढ़ता न होगी और अष्ट अंग होगा। जैसे मानो कोई संगीत सीखना चाहता तो अब केवल संगीत संगीतका निर्णय किया जा रहा। आप सोचिये उस संगीतका देव कौन है? जो संगीतमें बहुत ऊंचा पहुंचा हुआ हो सो वह पुरुष संगीतका देव है। यद्यपि वह रोज-रोज मिलेगा नहीं क्योंकि पता नहीं कहां रहता है, सुना ही है कि वह बड़ा गवैया है, लेकिन सीखने वाला पुरुष उस पुरुषको आदर्श मानकर और उस मार्गसे चलकर यही मुझे बनना है ऐसा

विश्वास करके वह संगीत सीखता है। और संगीतका शास्त्र कौन हुआ? जिसमें संगीतके चिह्न लिखे हों, संगीत सिखानेके शब्द हों वे संगीत शास्त्र कहलाते। और संगीतके गुरु कौन कहलाते? जो अपनेको संगीत सिखाने वाले मास्टर मिल सकें। ऐसे ही धर्मकी बात सुनो। धर्मका देव कौन है? जो धर्ममें पूरा पहुंच चुके हैं ऐसे अरहंत और सिद्ध धर्मके देव हैं। धर्मकी बातें जहां लिखी हों, रागद्वेष मोहसे हटना यह वृत्ति जिन उपदेशोंमें पायी जाय वे धर्मके शास्त्र है, और धर्मके गुरु कौन? जो अपनेको बढ़ें मिल सकें। जो धर्मभावमें बढ़ रहा है वह है धर्मका गुरु। तो ऐसे देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

तत्त्वश्रद्धानका प्रारम्भिक आधार आप्त आगम गुरुका श्रद्धान—यहां कोई ऐसा सोच सकता है कि वास्तव में सम्यग्दर्शन तो आत्माके अविकार स्वभावका परिचय है। अनुभव है पर यहां बतला रहे कि देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। तो उत्तर यह है कि जो कुछ भी तत्त्वज्ञान किया जाता है उसका मूल है देव शास्त्र, गुरु। जो उस मार्गको तय कर चुके उनका श्रद्धान इसलिए करना कि मुझे खुद उस मार्ग पर चलना है। जैसे नदीके इस पार रहने वाले जो हैं, जिनको कभी उस पार जाना नहीं है उनके लिए तो नदी पार करके किनारे पहुंचे हुए का कोई महत्व नहीं, क्योंकि उनको नदी पार करनेका ख्याल ही नहीं, पर जिन पुरुषोंको नदी पार करना है उनके लिए नदी पार होनेका बड़ा महत्व है। ऐसे ही कैसे संसारके दुःखोंसे छुटकारा मिले, कैसे कष्टसे बचें, यह सब ध्यानमें रहता है सो इन भव्योंको संसार महानदी पार करनेकी उत्सुकता है तो आत्मानुभव हुआ या स्व परका भेदविज्ञान किया तो उसका आधार है आगम, देव, शास्त्र, गुरु। सो देव, शास्त्र, गुरुका यथार्थ श्रद्धान हो तो यथार्थ तत्त्वश्रद्धान हो जाता है। भगवानका आत्मा अमूर्त है, शरीरमें रहकर भी शरीरसे न्यारा ऐसा भगवानके स्वरूपका किसीने स्मरण किया तो अपने आपके स्वरूपमें उसका प्रवेश हुआ इस कारण धर्म है। तो सबका आधार है देव, शास्त्र, गुरु और सबके लिये वह उपयोगी है। जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहता है उसके लिये भी यही उपाय है कि वह देव, शास्त्र, गुरुकी उपासना भक्ति में लगे, ऐसे परिणामके अभिमुख होनेको श्रद्धान कहते हैं। श्रद्धानमें तीन मूढ़तायें नहीं रहतीं। जैसे संगीत सीखने वाले को अपने संगीत कार्यके लिये मूढ़ता नहीं रहती। उसको यह सम्यक् श्रद्धान है कि ये पड़ोस के उस्ताद हमारे गुरु हैं, ये हमको संगीत सिखा देंगे, तो ऐसे ही इस ज्ञानीको धर्मके देव, शास्त्र, गुरुके बारेमें मूढ़ता नहीं है कि कैसे ये जीव देव, शास्त्र, गुरु बन गये पक्का श्रद्धान है। और जैसे व्यवहार में कोई संगीत सीखने वालेको अपने संगीत के विषय में शंका नहीं है और संगीतको छोड़कर अन्य कुछ इच्छा नहीं है, संगीत सिखाने वाले के प्रति ग्लानि नहीं करता, संगीत सिखाने वालों के दोषों पर वह दृष्टि नहीं देता। संगीत सिखाने वाला कदाचित् च्युत हो जाय तो प्रेमी लोग उसको बड़ा महत्व देते हैं। कोई संगीतका प्रेमी कभी अपने धर्मसे चिग जाय तो उसको उसमें स्थिर करते हैं। उससे प्रेम भी रखते हैं और उस संगीत विषयकी या उस्तादकी प्रशंसा भी गाते हैं। वह बड़ा अच्छा गाता है, बड़ी लगनसे सिखाता है तो वहां भी ८ अंग पाये जाते हैं। वे संगीतके अंग हुए। तो धर्ममें जो चलने वाला है उसको धर्मविषयक ८ अंग बनते हैं।

देहके अष्ट अंङ्गोंमें अङ्गविधित्वका प्रेक्षण—जैसे शरीरमें ८ अंग है वे भी इन अंगों जैसा काम करते हैं। चलना है तो जैसे मानलो आगे दाहिना पैर बढ़ाया तो कैसा निःशंक बढ़ाते हैं लोग, कोई ऐसी शंका तो नहीं करता कि मैं इस पृथ्वी पर पैर धर रहा हूं, कहीं इस जगह यह पृथ्वी पोली न हो और मैं गड्ढेमें समा जाऊं? अरे वह तो निःशंक रहता और पिछले पैरको भी वह बड़ी उपेक्षासे उठा लेता है। जैसे मानो वह जगह उसके लिये बेकार हो। पीछे पैर वाली भूमिसे उसे कोई लगाव नहीं रहता। यह दाहिना पैर जैसे आगे रखा तो वह निशंकित हुआ और पीछेका पैर उठाया तो वह निःकांक्षित हुआ। यह शरीरके अंगोंकी बात देखो—जिन अंगोंसे हम सर्वकार्य करते हैं। निर्विचिकित्सा—सुबह उठकर हर एक कोई शौच जाता है तो वह मानो बायें हाथसे शुद्धि करता है। पर किसी को उस हाथको गाली देते हुए देखा कि यह हाथ बड़ा बुरा है? नहीं देखा। तो ऐसे ही सभी अंगोंकी बात है। किसी को बायें हाथ से ग्लानि नहीं होती। यह निर्विचिकित्सा हुई। और इस दाहिने हाथमें कैसा निर्णय पड़ा है कि यह दृढ़ता पूर्वक दूसरेको कहता है कि ऐसा काम करो। यह करना ही होगा। यह दाहिना हाथ उठता है। यह अमूढ़ दृष्टि है। उपगूहन—उपगूहन कहते हैं ढाकनेको जैसे धोती या लंगोटसे शरीरके कुछ अंगोंका ढाकना, यह उपगूहन हो गया। कुछ स्थितिकरण—पीठ पर कितना ही बोझ रख लेना यह है स्थितिकरण। वात्सल्यका काम किया। और ये दिमाग मस्तक आदि प्रभावनाका कार्य करते हैं। धर्ममार्गमें धर्म भावके ८ अंग सहित देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन कहलाता है।

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥ ५॥

निर्दोष आत्माके ही आप्तपनेकी संभवता—इससे पहले श्लोकमें यह कहा था कि वास्तविक आप्त आगम और गुरुका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। तो उन तीनोंमें से प्रथम कहा हुआ जो आप्त है उसका क्या स्वरूप है यह वर्णन इस श्लोकमें चल रहा है। आप्त का शब्दार्थ है पहुंचा हुआ, व्याप्त हुआ, छाया हुआ और उसका भावार्थ है कि वह परमात्मा जिसकी दिव्यध्वनिसे आगमकी रचना बनी है उसे कहते हैं आप्त। वह आप्त कैसा होता है? दोषरहित, सर्वज्ञ और आगमका अधिकारी याने हितोपदेशी। जहां ये तीन बातें पाई जायें उसे आप्त कहते हैं। अब इसके विरुद्ध कुछ कल्पना करके सोचिये आप्तमें ३ बातें कहा है—(१) निर्दोष (२) सर्वज्ञ और (३) हितोपदेशी। यदि निर्दोष न हो तो क्या वह आप्त हो सकता है? जिसमें क्षुधा, तृषा, वेदना रोग ये दोष पाये जायें तो वह खुद ही सुखी नहीं है। फिर वह दूसरोंको आनन्दका क्या उपदेश दे सकता है? काम विकार आदिक भी दोष हैं, ये जिनके दोष नहीं मिटे, कामी है विकारी है कोई तो वह खुद पराधीन है, कामके विषयभूत है, पर पुरुष या स्त्रीके ध्यानमें निरन्तर रहनेसे वह पराधीन है, वह क्या आप्त हो सकेगा? जिसके रागद्वेष हैं वह स्वयं कलंकित है, वह आप्त कैसे हो सकता है? वह सत्य कैसे बोल सकता है? जिसके रागद्वेष भाव लगा है वह यथार्थ उपदेश नहीं कर सकता। फिर जो दोषी है वह उन दोषोंके वशीभूत होकर या भयके वशीभूत होकर या जीवनमें क्रूरताके परिणाम बढ़ाकर वह अनेक साधन रखेगा। कोई स्त्री रखे है फिर

भी यह प्रसिद्धि कर रहा कि मैं भगवान हूं। कोई हथियार रखे है, किसीके पुत्र भी है तो भी यह प्रसिद्धि करता है कि मैं भगवान हूं, जो शस्त्र रखे हैं सो क्यों रखता है? या तो उसे शौक है या कोई डर लगा है। तो शौक होना वह भी दोष, डर लगा है तो वह तो बड़ा डरपोक। वह प्रभु कैसे हो सकता है? तो निर्दोष होना यह आप्तका पहला विशेषण है। उसके बिना आगेकी बात चल ही न सकेगी।

निर्दोष व सर्वज्ञ आत्माके ही आप्तपनाकी संभवता—आप्तका दूसरा विशेषण दिया है सर्वज्ञ, जो सर्वको जानने वाला हो वह आप्त है क्योंकि जो सबको न जानता हो वह सर्व बातोंका कैसे वर्णन कर सकता है? सर्व कितनी चीज्जें हैं? पहले तो द्रव्यकी जाति जानों कि द्रव्य ६ प्रकारके होते हैं (१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश और (६) काल। जीव द्रव्य हैं अनन्त, पुद्गल हैं अनन्त। धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक है और कालद्रव्य असख्याते हैं। अब इनमेंसे मानो एक जीवको ही ग्रहण करे तो एक जीवमें अनन्त शक्ति है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द, आदिक, और एक-एक शक्तिकी भूतकाल, वर्तमानकाल, भविष्यकाल की अपेक्षा अनन्त पर्यायें हैं। उन अनन्त पर्यायोंमें एक ही पर्यायमें अनन्त रस भरे पड़े हैं। ऐसे-ऐसे अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल कितने पदार्थ हैं जगतमें उन सबका जानने वाला जो पुरुष होगा वही प्रयोजनकी सच्ची बातें कह सकेगा। इसलिये आप्तके लक्षण में दूसरा विशेषण कहा है कि वह सर्वज्ञ होना चाहिये।

निर्दोष, सर्वज्ञ हितोपदेशी आत्माके ही आप्तपनाकी संभवता—आप्तका तीसरा विशेषण है हितोपदेशी। सकल परमात्माका जो उपदेश है यह सर्व जीवोंके हितके लिये है। जैसे मनुष्यों को दयाका, संयमका, व्रतका उपदेश किया है तो जो लोग उन उपदेशोंका पालन करेंगे उनका हित होगा और जीव दयाका उपदेश दिया तो वह जीव दया पालेगा तो अनेक जीवोमें दया होगी। उनकी हिंसा बच गई सो यह अन्य जीवोंका हित है। तो आप्त हितोपदेशी होता है। इससे यह अर्थ जानें कि आप्तके उपदेशोंकी परम्परासे जो आप्त आगम है, जो चार अनुयोगों में विभक्त है—(१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग, (४) द्रव्यानुयोग। सो प्रत्येक शास्त्रके कथनमें आत्माके हित की ही बात कही गई है। पुराणोंमें चारित्र देकर यह श्रद्धा करायी गई है कि जो शुभ भाव करेगा सो पुण्य बांधेगा। जो अशुभ भाव करेगा सो पाप बांधेगा और जो शुभाशुभ दोनोंसे रहित आत्माके शुद्ध भावको करेगा वह मोक्ष पायगा। तो उस प्रथमानुयोग पुराणके सुननेसे उदाहरण भी सामने आने से यह श्रद्धा दृढ़ होती है कि मेरे आत्माको तो शुभ और अशुभ भावसे हटकर शुद्ध भावमें लगना चाहिए। प्रथमानुयोगमें बाह्य-क्रियाओंका वर्णन है और अन्तरंग भावनाका उसमें समन्वय है तो योग्य क्रियायें करने से इन जीवोंको पात्रता होती है कि वे मोक्ष मार्गमें चल सकें। तो वह भी उपकारक उपदेश है। करणानुयोगमें तो तीन लोक, तीन काल, गुणस्थान मार्गणा आदिकका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विवेचन है जिससे अपनी स्थितिका हम पहले क्या थे उन बातोंका, अब हमें क्या करना चाहिए, इन सबका वहां ज्ञान बताया है। द्रव्यानुयोगमें आत्मा और आत्माका स्वरूप दिखाकर अनात्मासे हटना और सहज आत्मस्वरूपमें लगना, इस तरहका उपदेश करके जो आत्मा को निर्दोष निर्मोह बनाया तो उसमें भी आत्माके उद्धार की ही बात लिखी है, ऐसा आगमका जो प्रसंग है हितोपदेशी द्वारा कहा गया है।

आप्तके लक्षणमें निर्दोष, सर्वज्ञ व हितोपदेशी इन तीन विशेषणोंकी सार्थकता—यहां एक शंका की जा सकती है कि आप्त अरहंतदेवके लक्षणमें दिव्यध्वनि द्वारा आगम प्रसार करने वाले तीर्थंकर आदिकमें यहां जो तीन गुण बतला रहे विशेषण बतला रहे, सो तीन की क्या जरूरत थी? एक ही विशेषणसे सब काम बन जाता। जैसे प्रभु निर्दोष होते हैं तो अब अर्थ आगे बढ़ाते जाइये जो निर्दोष प्रभु हैं, परमात्मा हैं सो शास्त्रके रचने वाले हैं, पहुंचे हुए हैं। तो एक निर्दोष शब्दके कहनेसे ही सही परमात्माका परिचय होता है और उसमें कुछ उपयोग देकर अपने आपको सुखी शान्त बनाया जाता है। तो इस निर्दोषकी बात श्लोकमें रखते यानि केवल निर्दोष शब्द ही कहा जाता। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यदि सर्वज्ञ और हितोपदेशी ये दो विशेषण हटा देते तो उसका अर्थ यह बनता कि जो क्षुधा तृषा रागद्वेषादिक दोषोंसे रहित है वह है आप्त। इतना ही अगर कहते तो पुद्गल धर्मादिक द्रव्य इनमें कहाँ क्षुधा तृषा, रोग, शोक पाये जाते हैं। तो सिर्फ निर्दोषको ही कहते कि यह आप्त है और सर्वज्ञ और हितोपदेशी ये दो विशेषण न कहते तो पुद्गल धर्मादिक द्रव्य आप्त बन जाते, इससे केवल निर्दोष कहकर आप्तको सही लक्षण बतानेकी कोशिश नहीं निभती। निर्दोष हो और सर्वज्ञ हो वही पुरुष आप्त हो सकता है। तो कोई शंका करे कि ये दो ही विशेषण रहने दो—निर्दोष हो और सर्वज्ञ हो, हितोपदेशी शब्द न कहते, तो इस शंका का उत्तर यह है कि सिद्ध भगवान निर्दोष हैं और सर्वज्ञ है, पर वे आप्त तो नहीं कहलाते। यद्यपि सिद्ध भगवान आप्तसे बड़े हैं, आप्ततो अरहंत अवस्थाका नाम है। तीर्थंकर या अन्य अरहंत जिनकी दिव्यध्वनि खिरती है और ज्ञानधारा जहांसे बहती है उसे आप्त कहते हैं। सिद्ध भगवानके ८ कर्म नहीं हैं। शरीर नहीं है और वह बहुत उत्कृष्ट पूर्ण सर्वोत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हैं फिर भी सिद्ध भगवानकी वजहसे परम्परासे शास्त्र नहीं निकले। आगम नहीं निकला। आगम निकला है आप्त की परम्परासे। आप्तका निर्दोष और सर्वज्ञ ये दो विशेषण देते हितोपदेशी न कहते तो भी आप्त का लक्षण पूरा नहीं बनता। आज हम जैन शासनका अध्ययन कर रहे हैं। वे शास्त्र कहांसे निकले, उनका मूलप्रणेता कौन है, यह निर्णय हुए बिना शास्त्रमें भी श्रद्धान न जगेगा। इसके प्रणेता निर्दोष सर्वज्ञ हितोपदेशी अरहंत भगवान हैं, उनकी परम्परासे चले आये शास्त्रमें असत्यताका कोई अवकाश नहीं। सर्व सत्य है और प्रामाणिक है। तो इस प्रकार आप्त भगवानके लक्षणमें ये तीन विशेषण दिये हैं—निर्दोष हो, सर्वज्ञ हो और हितोपदेशी हो।

निर्दोष, सर्वज्ञ व हितोपदेशी हुए बिना आप्तपनेकी असंभवता—उक्त तीनों गुणोंसे रहित कोई भी हो वह यदि अपने को भगवान जाहिर करे तो वह केवल एक लौकिक चाल की ही बात रही, पर प्रभुता नहीं आयी उनमें। क्योंकि जो निर्दोष नहीं है वह पराधीन है, दुखी है उसके वचन सत्य कैसे निकल सकते? सो इस प्रकार ये तीनों ही विशेषण आप्तके कथनमें देना आवश्यक हुआ, ऐसा आप्त तत्त्वार्थका कहने वाला है। प्रभु सर्वज्ञ हैं, तीन लोक तीन कालके सर्व पदार्थोंको एक साथ जानते हैं। ऐसा सर्व विषयक ज्ञान होना आत्मासे है इन्द्रिय द्वारा सम्भव नहीं है क्योंकि इन्द्रिय तो एक सामने रहने वाले पदार्थको जानेगी, और उसमें भी कुछ जानेगी, सबको न जानेगी, जैसे आंख से जाना कि यह चौकी है तो आंखने चौकीके बारेमें कितना समझा कि बस ऊपरसे यह रंग रूप और सामने जितना

आकार दीख रहा, बस इतना ही भर आँखों द्वारा जाना। चूंकि पूरा नहीं जान पाये। पूरा क्या? कि अनादि अनन्त है, अनन्त शक्ति वाला है आदि, सो इन पदार्थोंको भी इन्द्रियज्ञान पूरा नहीं जान सकता। सर्वका जाननहार ज्ञान अतीन्द्रिय है, इन्द्रियसे परे है। इन्द्रियजन्य ज्ञान स्थूलको जानेगा, सामने रहने वाले पदार्थको जानेगा। वर्तमान में जो बन रहा है उसे जानेगा, पर इतने स्थूल क्रमवर्तीको जाननेसे कोई सर्वज्ञ नहीं होता। सर्वज्ञ होता है तो एक इस सत्यार्थ स्वरूपके ज्ञानके बलपर।

श्लोकमें कहे गये तीन विशेषणोंके क्रमस्थापनका रहस्य—इस श्लोकमें आप्तके तीन विशेषणोंका जो क्रम रखा है उससे क्या सम्बन्ध निकलता है सो देखिये? सबसे पहला विशेषण है भगवानका आप्तका जिसकी दिव्यध्वनि की परम्परासे हम सबको यह तत्त्व ज्ञान मिला है। सो उसके तीन प्रकार हैं, देखिये तीन बातें कही हैं—निर्दोष, सर्वज्ञ, हितोपदेशी इनमें कारण कार्य बना है। निर्दोष होंगे तब ही सर्वज्ञ बनेंगे दोष रहित हुए कोई सर्वज्ञ नहीं बन सकता। करणानुयोगके अनुसार निर्दोष होना १२ वें गुण स्थान में हो जाता है। १० वें गुण-स्थानके अन्तमें निर्दोष हो जाता है। अर्थात् किसी भी मोहनीय कर्मकी सत्ता न रही क्षपकके १२ वें गुणस्थानमें तो जब यह निर्दोष अवस्था मिली १२वां गुणस्थान मिला तब वह १३ वां गुणस्थान पाया याने सर्वज्ञ हुए। तो निर्दोष जो होगा सो ही सर्वज्ञ होगा, दूसरा कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता। यह सम्बन्ध बना है। जो निर्दोष होगा, सर्वज्ञ होगा वही हितोपदेष्टा हो सकता है दूसरा नहीं हो सकता। तो आप्तके ये तीन विशेषण दिए। आगमके मूल प्रणेता अरहंत भगवानमें ये तीन विशेषण इस क्रमसे न रखते और दूसरा क्रम रख देते तब सर्वज्ञ, निर्दोष, हितोपदेशी या हितोपदेशी, सर्वज्ञ, निर्दोष, तो ऐसे कुछ भी अटपट क्रममें यह सर्वज्ञ नहीं विदित हो सकता। उल्टी बात आती है। यहां कालका भी क्रम आ गया। पहले निर्दोष होता है कोई फिर सर्वज्ञ होता है वही कोई फिर हितोपदेशी होता है। कारण भी आ गया, निर्दोष हुआ इस कारण सर्वज्ञ हुआ। सर्वज्ञ हुआ इस कारण हितोपदेशी हुआ। यह चर्चा किसकी चल रही है? इन्हीं शास्त्रोंकी निकली है। उन शास्त्रोंका मूल वक्ता, मूल प्रणेता कौन था, उसका यह वर्णन चल रहा है। वह थे निर्दोष इसलिए कोई झूठ बात उसमें आ नहीं सकती। वह थे सर्वज्ञ इसलिए कोई अज्ञानकृत दोषके कारण भी झूठ बात आ नहीं सकती। उनके अज्ञान है ही नहीं। वह थे हितोपदेशी सो किसी अहित बातका यहां उपदेश हो ही नहीं सकता। सम्यग्दृष्टिसे लेकर, पहली प्रतिमासे लेकर बढ़ते चले जाइये। महाव्रती हुये, क्षपक श्रेणीमें चढ़े, सभी का आचार, सभीका व्यवहार अपनी अपनी भूमिकामें हितकी ओर रहने वाला रहता है। अहित वाला व्यवहार नहीं रहा। तो प्रभु जो निर्दोष हो सर्वज्ञ हो वही हितोपदेशी है और जिसमें ये तीन गुण हों उसके द्वारा जो आज शास्त्र प्रवाह चल रहा है वह पूर्ण प्रामाणिक है। जो लोग इन शास्त्रोंके अध्ययनमें नहीं है और न प्रयत्न करना चाहते कि हम कुछ सीखें, अध्ययन करें, जिससे हमें विदित हो कि शास्त्रोंमें जो कुछ लिखा है वह वस्तुस्वरूपके अनुसार लिखा है। जैन शासन कहो या विश्वधर्म कहो। विश्व मायने समस्त पदार्थ उनको बताने वाला, उनके धर्मको जताने वाला यह शासन है। ऐसे परम्परासे चले आये हुए इन शास्त्रोंके अध्ययनसे हम अपने कल्याणकी बात पाते हैं।

आप्तकी पुरुषोत्तमता—वे आप्त मनुष्य हैं। अरहंत भगवान मनुष्य हैं जिनकी हम पूजा करते

हैं मूर्ति बनाकर। वे मनुष्यगतिके जीव हैं। अब आप देखिये मनुष्य मनुष्यमें कितने भेद पड़ गए हैं। कोई मनुष्य अज्ञानी मिथ्यादृष्टि खुद व्याकुल ऐसी स्थितिमें है तो कोई मनुष्य यथार्थ वान और श्रद्धान पाकर कुशल बना, सावधान बना है और वह अनन्त संसार वाले कर्मोंको नहीं बांधता। एक वह मनुष्य है। और एक वह मनुष्य है जो आत्मानुभव करनेकी दिशा में बढ़ रहा है और अपनी भूमिकाके अनुसार अणुव्रत धारण कर रहा है और उसमें ११ प्रतिमाके भेद और एक वह मनुष्य जिसका किसी प्रकारका शल्य नहीं है। किसी बाह्य पदार्थमें अटका हुआ नहीं है मुनि है, महाव्रती है, शरीरमात्र ही जिसका परिग्रह है तो एक ऐसा मनुष्य। और वही मुनीश्वर जब अपने आत्मा पर एक कब्जा प्राप्त कर लेते हैं तो वे श्रेणीमें बढ़ते हैं। जहां शुद्ध ध्यान है। रागद्वेषकी प्रवृत्ति नहीं है, एक तो वह मनुष्य और एक वह मनुष्य कि जिसके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्रकट हुआ है, जिसकी दिव्य वाणी सुननेके लिए स्वर्ग खाली हो जाता है। देव लोग आ जाते हैं। खाली होनेका मतलब बिल्कुल खाली नहीं किन्तु वहां कोई चहल पहल नहीं रहती, सब विक्रिया ऋद्धिसे भगवानके समवशरणमें आ जाते हैं। कैसी समवशरण की रचना, कैसी परम वैराग्यकी मुद्रा, एक वह मनुष्य है। तो मनुष्योंके अनेक भेद हैं। जिन आप्तका हम वर्णन कर रहे हैं वे आप्त हैं मनुष्य, किन्तु मनुष्योंमें अलौकिक मनुष्य हैं, जिन्हें मनुष्य न कहकर भगवान कहियेगा। ये अनन्त ज्ञान द्वारा सबको जानते हैं। अनन्त दर्शन द्वारा सबका अवलोकन करते हैं। अनन्त शक्ति द्वारा सर्व इन अनन्त गुणोंको, अनन्त विकासोंको सम्हाले हुए हैं। अनन्त आनन्द द्वारा अद्भुत अलौकिक आनन्दको भोग रहे हैं। तो ऐसे लोकालोकमें व्याप्त हो जानेसे याने जिनका ज्ञान इतना बढ़ा चढ़ा है कि उसमें सारे लोकालोक प्रतिबिम्बित हो गए तो ऐसे व्याप्त हो जानेके कारण जो अन्य दीन मनुष्योंमें आत्मरूप न पाया जाय, ऐसे आत्मस्वरूपसे वे देदीप्यमान रहते हैं। ये प्रभु देवाधिदेव मनुष्य पर्यायमें रहने वाले अनन्तज्ञान, अनन्तशक्ति आदिक गुणोंके कारण ये आप्त कहलाते हैं। उनकी वाणी है यह सब जो कि आज अनेक शास्त्रोंके रूपमें फैली हुई है।

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥ ६ ॥

आप्तकी क्षुधादोषरहितता—इससे पूर्व श्लोकमें आप्तका लक्षण कहा गया है जो निर्दोष हो, सर्वज्ञ हो, हितोपदेशी हो उसे आप्त कहते हैं। आप्तके मायने है कि वह परमात्मा जिसकी दिव्यध्वनिसे आगमकी रचना बनी है। तो वह मूल वक्ता आप्त अरहंत भगवान तीर्थंकर निर्दोष सर्वज्ञ और हितोपदेशी है। जो निर्दोष होगा सो ही सर्वज्ञ बनेगा। जो निर्दोष और सर्वज्ञ होगा वही सच्चा उपदेश कर सकेगा। जो केवल निर्दोष है, सर्वज्ञ नहीं उन निर्दोषके मायने है कि रागद्वेष क्षुधा तृषा आदिक दोष न हों, तो ऐसे तो पुद्गल द्रव्य भी हैं। पुद्गल द्रव्यमें भूख प्यास रोग शोकादिक कुछ भी नहीं हैं तो वे आप्त हो जायेंगे क्या? तो निर्दोष हो और सर्वज्ञ हो तब आप्त बनता है। तो निर्दोष और सर्वज्ञ तो सिद्ध भगवान भी हैं तो क्या वे आप्त कहलाते है? भले हो वे आप्तसे बड़े हैं मगर आप्त नहीं है आप्त उन्हें कहते

हैं जिनकी दिव्यध्वनिसे आगमकी रचना होती है। तो निर्दोष हो, सर्वज्ञ हो हितोपदेशी हो वही आप्त हो सकता है। तो निर्दोषके मायने क्या है? कौनसे दोष नहीं हैं इसका विवरण करनेके लिए यह श्लोक आया है। जिसमें ये १८ दोष नहीं हैं वह आप्त कहलाता है। (१) पहला दोष बताया है क्षुधा। जिस भगवानको भूख लगती है वह भगवान भगवान भी कहां हैं और वह आप्त भी कैसे हो सकता? क्षुधामें विह्वलता होती है। बुद्धि भी हीन हो जाती है। शक्ति भी घट जाती है। और भूख मेटनेके लिए भोजन करना होता है, तो उसमें रागद्वेष इष्ट अनिष्ट बुद्धि बनती है। तो जो भोजन करता हो वह भगवान ही नहीं, फिर आप्त कैसे हो सकता है?

प्रभुके क्षुधा माननेपर दोषोंका भार—कुछ लोग भगवानको भोजन करने वाला मानते हैं। सो मोटी दलीलोंसे भी साबित होता है कि जो अनन्त शक्ति वाला आत्मा होगा वह भोजन क्यों करेगा? रही एक यह बात कि भोजनके बिना देह कैसे टिका रहेगा? सो यह सब जीवोंकी अलग-अलग बात है। देवताओंका भोजनके बिना शरीर टिका रहता है। ये जब मुनि अवस्थामें थे और जब क्षपक श्रेणीमें चढ़ने लगे तो अप्रमत्त विरतमें, अपूर्वकरण में और ऊंचे गुणस्थानोंमें पाप प्रकृतियाँ बदलकर पुण्य प्रकृतियां हो रहीं तो पुण्य प्रकृतियोंका आधिक्य है। पाप प्रकृति केवल नाम पर चलती है १३ वें गुणस्थानमें। उससे वेदना नहीं हो सकती। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें केवली भगवानको आहार करने वाला माना है। तब सोचा जाय तो आहार वह करते हैं मानो तो सबके देखते-देखते करते या लुक छिपकर? अगर देखते-देखते करें तब तो लोगोंके चित्तमें भगवानके रूपसे श्रद्धा न रहेगी, एक केवल साधु जितनी ही श्रद्धा रहेगी। छुपकर करें तो उसमें कपटका दोष है। रोज-रोज आहार करते या दो चार दिन बाद करते? अगर रोज-रोज आहार करते तो इसके मायने है कि रोज-रोज उनका शारीरिकबल घट जाता है। या कुछ दिन बाद करते हैं तो उतने दिन तक शरीरका बल रहा फिर क्षीण हो गया, शक्तिहीन हो गया तब आहार करते। वे आहार करते तो उस आहारका ज्ञान उन्हें केवल ज्ञानके द्वारा होता है या रसनाइन्द्रिय द्वारा? अगर कहो कि उसका ज्ञान अनुभव तो केवलज्ञान द्वारा होता है तो केवलज्ञान द्वारा तो बाहर कहीं भी पड़ा रहे अन्न भोजन उसे भी जान जायेंगे। खानेकी भी जरूरत क्या रही? अगर कहो कि रसना इन्द्रिय द्वारा वे श्वांस लेते, ज्ञान करते तो वह तो मतिज्ञान कहलाने लगा। सर्वज्ञता न रहेगी। उनके घातिया कर्म नष्ट हो जानेसे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति प्रकट होती है। सुखमें फर्क आये तो भोजन आदिक जैसी अनेक बातें करें और वहां तो अनन्त आनन्द है शक्ति भी अनन्तवीर्य है। शक्ति क्षीण कभी होती ही नहीं। किसलिए भोजनका प्रसंग है? तो प्रभु जो हो गया उसके क्षुधाका दोष नहीं होता।

प्रभुकी पिपासादोषरहितता—(२) दूसरा दोष बताया है तृषा। प्रभुके तृषाका भी दोष नहीं है। उनका देह स्फटिक मणिकी तरह शुद्ध होता है, उस देहमें क्षुधा तृषा जैसी वेदना नहीं है। उनका देह देवोंसे भिन्न हैं। क्षुधा और तृषा ये दोनों बड़ी वेदनायें कहलाती हैं। जिनमें क्षुधाकी वेदनाके तो दर्जे कहा—तीव्र और मंद। किसीके तीव्र क्षुधा लगी है, किसीके मंद क्षुधा लगी है और तृषाकी वेदनाके चार दर्जे कहे हैं—(१) तीव्र (२) तीव्रतर (३) मंद (४) मंदतर याने अत्यन्त हल्की प्यास, हल्की प्यास, तेज

प्यास, बहुत तेज प्यास। इससे मालूम होता कि क्षुधाकी असातासे तृषाकी असाता और अधिक होती है। थोड़ी सी भूख लगी हो तो भूखका अनुभव नहीं होता।जबकि जरा सी भी प्यास लगी हो उस प्यासका पता पड़ जाता है कि हमको प्यास लगी है। क्षुधा और तृषा दोनों ही वेदनायें हैं। आप्त भगवानके ये दोष नहीं होते।

आप्तकी जरातङ्कदोषरहितता—(३) तीसरा दोष है बुढ़ापा। बुढ़ापा बड़ा दोष हे। बुढ़ापा स्वयं रोग है। शरीर क्षीण है। इन्द्रियां काम करती नहीं। मन भी प्रबल नहीं रहा। तृषा बढ़ जाती है। ऐसी स्थितियोंमें वृद्धावस्थामें बड़ा कष्ट होता है। ज्ञान हो तो ज्ञानबलसे वह कष्ट न मानेगा, पर ज्ञान जिसके नहीं है तो वह उसमें बड़ा कष्ट मानता है।तो बुढ़ापा अरहंत भगवानके नहीं है। आप्तमें नहीं है ये सभी दोष अरहंतके, भगवानके नहीं हैं। चाहे वह आप्त हो या नहीं। सभी अरहंत आप्त नहीं कहलाते। कोई उपसर्ग सिद्ध हुए हैं। उनकी दिव्यध्वनि नहीं खिरी, उनसे आगमकी परम्परा बनी ही नहीं, पर ये १८ दोष सभी अरहंतोमें नहीं पाये जाते। चौथा दोष है रोग। इस शरीर सम्बंधी व्याधि। शरीरमें करोड़ों रोग बताये गए? अब करोड़ों रोगोंका कौन नाम लेता फिरे। इसलिए कुछ मुख्य-मुख्य रोगोंके नाम आयुर्वेदमें बताये गए। पर रोग शरीरमें उतने होते जितने कि शरीरमें रोम, और उससे भी कई गुना अधिक समझो। तो अरहंत भगवानके स्फटिक मणिकी तरह देह होता है। वहां निगोद जीव तो रहते ही नहीं हैं। कोई भी त्रस जीव वहां नहीं पाये जाते। अरहंत भगवानके शरीरमें किसी भी प्रकारका रोग नहीं है। किसी मुनिको अगर रोग भी हो पहले और उसे केवलज्ञान हो जाय। अरहंत हो जाय तो वहां रोग नहीं रह सकते। इसी तरह कोई अंग खराब हो जाय और उस मुनिके केवलज्ञान हो जाय तो फिर उसका वह अंग सही सुदृढ़ हो जाता है।

आप्तकी जन्ममरण दोषरहितता—(५) ५ वां दोष बताया है जन्म। जन्म होनेमें इतना कष्ट है कि जिसका जन्म हो रहा वह अबोध जैसा है। उस समयके कष्टोंको वह बता नहीं सकता। जब बताने लायक हो जाता है तब जन्मके समयकी बातें भूल जाता है। और जन्मके समयमें मरणसे कम दुःख नहीं हैं जन्म वास्तवमें तो जिस क्षण जीव उस भवमें आया गर्भमें आया उसे कहते हैं और रुढ़िमें गर्भसे निकलनेकी स्थितिको जन्म कहते है। गर्भमें आया तब भी दुःख था और गर्भसे निकल रहा उस समयकी तो बहुत बड़ी वेदना। तो जन्मका दोष अरहंत भगवान के नहीं है अर्थात् अरहंत प्रभु अब जन्म धारण न करेंगे। खोटे जन्म न लेंगे यह तो है ही मगर लोकमें जो अच्छे जन्म माने जाते इन्द्र होना, चक्री होना आदि ये भी जन्म नहीं होते। उनके आयु कर्म समाप्त होनेके बाद कोई कर्म रहते ही नहीं हैं तो जन्म कैसे हो? (६) छठा दोष है अंतक अर्थात् मरण। अरहंत भगवानके आयुका क्षय तो होता है पर उसे मरण नहीं कहते। मरणकी रूढ़ि है कि जिसके बाद जन्म होवे ऐसे मरणको मरण कहते हैं। अरहंतकी आयुका विनाश होनेके बाद उनका जन्म नहीं होता इसलिए उसे मरण संज्ञा नहीं दी। वैसे शास्त्रोंमें निर्वाणका नाम पंडित पंडित मरण कहा है अर्थात् वह भी इस भवकी दृष्टिसे तो मरण ही कहलाया, पर जन्म नहीं होता इसलिए मरण नहीं कहते। भगवान महावीर स्वाकीका निर्वाण हुआ तो कोई यह तो नहीं कहता कि दीवालीको महावीर स्वामी मर गए। उनके मरनेका नाम कोई नहीं लेता।

भले ही आयुका क्षय हो पर अगला जन्म न होनेसे मरण नाम नहीं और वह मृतक देह भी पड़ा नहीं रहता इसलिए भी मरण नाम नहीं।

आप्तकी भयस्मय दोषरहितता—(७) अरहंत भगवानके ७ वां दोष भय नामका भी नहीं है। डरे कौन जो निर्बल हो, ऐश्वर्यहीन हो। भगवान तो अनन्त वीर्यके धारी हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द है। जिसमें कभी बाधा ही नहीं आ सकती। बाधा किसी पर पदार्थसे किसीकी नहीं हुआ करती, मगर मानते हैं इसलिए बाधा है। बाह्य पदार्थ जहां पड़े हैं पड़े रहने दो, आना हो आयें, जाना हो जायें। उनसे कोई वास्ता ही नहीं इस जीवका। यहां तक कि यहांके संसारी जीवोंको शरीरमें कुछ हो गया तो उससे कहीं आत्मा को बाधा नहीं आती। पर शरीर मेरा है, मैं शरीर हूं ऐसा शरीरके साथ जो एकत्व बुद्धि लगी है उसके कारण यह बाधा मानता है और दुःखी होता है। प्रभुके बाधा न होना बिल्कुल स्पष्ट है। प्रभुके भयका नाम नहीं। यदि प्रभुके भय होता तो वे बढ़ियासे बढ़िया हथियार भी रख सकते थे। जैसे कि अनेक लोगोंने अपने प्रभुको हथियारधारी माना, धनुष लेना, बर्छी रखना, त्रिशूल रखना, फरसो रखना ऐसी बातें की हैं। भले ही जो भगवान होते अरहंत होते उन्होंने गृहस्थावस्थामें शस्त्र धारण किया, वे क्षत्रिय थे, लड़ाईमें जाते थे, शस्त्रोंका प्रयोग किया था, मगर साधु होनेपर शस्त्रोंका भी त्याग हो जाता। यदि कोई साधु शस्त्र रखे तो उसके रागद्वेष स्पष्ट है। साधु तो अपने आत्मा की साधनाके लिए हुआ है। आत्मसाधनामें किसी बाहरी चीजकी जरूरत ही नहीं। कमण्डल और पिछी तो संयमके लिए रखते हैं, शुद्धिके लिए रखते हैं और न ही पिछी कमण्डल तो भी मुनिपना मिटा नहीं। वह मुनि कहलायगा, पर गमनागमन नहीं कर सकता। बैठे हैं ध्यान करें, आहार चर्या आदिक न करेंगे, पर मुनिपना नहीं मिटता। यदि कमण्डल पिछी न हों तो वह कहीं मुनिपना नहीं खतम हो जाता, वे सब तो हैं चर्या, गमन शुद्धिके लिए। इतने काम रुक जायेंगे इसलिए रखते हैं, पर साधुको तो एक अणु मात्र भी कुछ रखनेका प्रयोजन नहीं है वह अपने आपमें आत्मदृष्टि करके प्रसन्न रहा करता है। वह तो भगवानके स्मरणके लिए उसने सब कुछ त्यागा है। तो जब वहां ही शस्त्र नहीं है तो फिर प्रभु होने पर शस्त्रोंका लगाव बन ही कैसे सकता है? प्रभु निर्भय हैं इस कारण उनके पास शस्त्र नहीं हैं। और अनन्त शक्तियोंके धारी हैं। वहां भयका क्या काम? (८) एक दोष है स्मय। स्मय मद करने को कहते हैं। किसी भी बात पर मद किसे होता? जिसके ज्ञान न हो। कोई भी घटना, थोड़े ज्ञान आदि की घट गई, अब उस घटनाको निरखकर मद किसे होगा? जिसको पहले कुछ भी ज्ञान आदि नहीं है। और अचानक कुछ दिखा तो उसे मद होगा। भगवानको तीन लोक तीन कालका सब कुछ ज्ञान है। अब उसे मदका अवकाश ही कहां रहेगा? प्रभुके मद नहीं होता।

आप्तकी रागरहितता—प्रभुके राग नहीं। राग होता है तुच्छ प्राणियोंके, अल्पज्ञ प्राणियोंके। किसी भी जीव या जीवके प्रति राग करने, प्रीति करनेके परिणाम रखना यह तो उसकी अनुदारताका सूचक है। प्रभुके राग नहीं होता। लोग कहते हैं कि प्रभु भक्तोंकी सम्हाल करते हैं या भक्तोंको मनोवाञ्छित फल देते हैं। यह सब बात सही नहीं है। तब फिर लोग भक्ति करते ही क्यों हैं। भक्ति करनेका कारण यह है कि जो विवेकी जीव हैं वे तो मुक्ति चाहते हैं और मुक्तिके मार्गके लिए चाहिए

अविकार स्वभाव ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी उपासना और प्रभु प्रकट अविकार हैं ज्ञानमात्र और ज्ञानसे परिपूर्ण हैं। तो उनके स्वरूपको निरखकर अपने आत्माके स्वभावकी दृष्टि दृढ़ करना इस प्रयोजनके लिए विवेकी जन भगवानकी भक्ति करते हैं और जिनके विवेक नहीं और कदाचित् थोड़ी बहुत सांसारिक भावना भी है तो प्रभुकी भक्ति करनेसे अपने आप अपने अनेक भवोंके पाप बदल जाते हैं। पुण्यरूप हो जाते हैं। नवीन बंध पुण्यका बंधता है, सो अब पुण्यका उदय आने पर उन्हें इष्ट सामग्री मिलती है। तो चूंकि शुभ भावोंके आश्रयभूत भगवान हैं सो लोग यों कहने लगे कि भगवानने सब कुछ सुविधा दी। अरे भगवान तो अपने अनन्त ज्ञान अनन्त शक्तिमें लवलीन रहते हैं। उनको क्या प्रयोजन है कि बाहर कोई रागद्वेष करे। जो लोग भगवान को ऐसा मानते हैं कि भगवान सुख देता है, स्वर्ग नरक भेजता है, फैसला करता है वह कर्ता बना हुआ है तो ऐसा मानने वालोंको भगवानमें भक्ति जगेगी ही नहीं। तो फिर करते हैं सो क्या बात है? वे डर के मारे करते हैं कि भगवान नरक न भेज दे या आस्थाकी वजहसे करते हैं कि भगवान सब कुछ देने वाले हैं सो भगवानकी भक्ति करें तो आशासे या भयसे कोई उपासना करे, सेवा करे तो वह भक्ति नहीं कहलाती। भक्ति तो गुणोंके अनुराग होनेका नाम है। वहां गुणानुराग है नहीं। भय और आशा लगी हुई है। तो भगवानका स्वरूप नहीं है ऐसा कि वह राग किया करे। प्रभु राग नामके दोषसे रहित हैं।

आप्तकी द्वेषमोहरहितता—(१०) प्रभुमें द्वेषका भी दोष नहीं है। वैसे राग और द्वेष दोनों ही एक दर्जे के हैं। मलिनतायें हैं, कलंक हैं, पर लोगोंका ऐसा ख्याल है कि द्वेष तो रागसे भी अधिक बुरी चीज है। प्रभु किसी से द्वेष करें, यह सम्भव नहीं। भगवानके द्वेष नामक दोष भी नहीं है। (११) प्रभुके मोह नहीं है। मोह कहलाता है अज्ञानभाव। परपदार्थके प्रति लगावका परिणाम। प्रभु तो अनन्त आनन्दका अनुभव करते हैं, वे क्यों किसी वस्तु का लगाव रखेंगे? उनका ज्ञान तो पूर्ण निर्मल है, वे क्यों खोटा ज्ञान बसायेंगे? तो प्रभुके मोह नहीं है। इतने दोषोंके नाम इस श्लोकमें कहे गए हैं, किन्तु ये सब हैं केवल ११ नाम। ७ नाम और शेष रहे। तो इस श्लोकमें च शब्द लिखा है। मायने और और भी हैं, तो शेष दोषोंके नाम, इस च शब्दसे ग्रहण किए गए हैं। वे क्या हैं? सो आगे सुनिये।

आप्तकी चिन्तारतिनिद्राविस्मयखिदस्वेदखेदरहितता—(१२) चिन्ता—किसी भी बातकी चिन्ता करना। न भक्तकी चिन्ता न किसीकी खराबी करनेकी चिन्ता, चिन्ता नामकी कोई बात ही नहीं है। शुद्ध आत्मा हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्दमय आत्मा है। वहां चिन्ताकी बात ही नहीं। वे तो ऐसा शुद्ध परिणम रहे हैं कि जैसे धर्मादिक द्रव्य अपनेमें शुद्ध परिणमते हैं। वहां अशुद्धताकी गुंजाइस भी नहीं। तो ऐसे जिनके कोई उपाधि न रही उनकी चिन्ता आदिक जैसे विकारोंकी गुंजाइस ही नहीं। (१३) तेरहवां दोष है रति, प्रीति करना, किसी बातका इन्ट्रेस्ट (दिलचस्पी) लेना, यह रतिनामक दोष अरहंत भगवानके नहीं होता। (१४) चौदहवां दोष है निद्रा। नींद आना। नींदमें मनुष्य अचेत हो जाता, नींद तब आती है जब कोई थक जाता, सो प्रभुका जो काम है केवल जानना ही जानना वह जो स्वभावकी क्रिया हो रही है, उससे थकते नहीं हैं और कुछ कार्य वे करते नहीं, फिर निद्राका कारण क्या? निद्रा आनेका निमित्तभूत दर्शनावरण कर्म उनके रहा ही नहीं है तो प्रभुके निद्रा नामका दोष

नहीं होता। (१५) पंद्रहवां दोष है विषाद। शोक रज ये प्रभुके नहीं होते। धर्मास्तिकाय पदार्थोंकी तरह वे शुद्ध परिणम रहे हैं उनको विषादका प्रसंग ही क्या है? (१७) सत्रहवां दोष है पसेव। प्रभुके शरीरमें पसीना नहीं आता। स्फटिक मणिकी तरह स्वच्छ शरीर होता। (१८) अठारवां दोष है खेद, व्याकुलता। यह भी दोष प्रभुमें नहीं होता, प्रभुके चार घातिया कर्मोंका विनाश हो गया है। जिसके ये सभी दोष नहीं होते वह आप्त कहलाता है, सभी अरहंतोंके ये १८ दोष नहीं होते।

परमेष्ठी परंजयोनिविरांगो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥ ७ ॥

अज्ञानी जीवको उद्धारके लिये धर्मोपदेशकी प्रारंभिक अनिवार्य आवश्यकता—हम आप सब जीव हैं। जिसमें मैं मैं का भीतर बोध हो रहा है वह एक चेतन पदार्थ है। किसी भी जड़ पदार्थमें मैं का अनुभव नहीं होता। जिसमें मैं का अनुभव चल रहा वह मैं हूं, मैं अमुक हूं आदिक रूपसे जिसमें मैं का अनुभव चलता है वह मैं जीव हूं। यह मैं जीव आज इस हालतमें हूं। कभी मैं किस किस पर्यायमें था उसका परिचय संसारके अन्य जीवोंको देखकर मिल जायगा ये जो कीड़ा-मकोड़ा, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदिक दिख रहे, ऐसी ही शकलमें मैं था जैसे कि और जीव हैं। उन सब भवोंमें कितना कष्ट है सो सब देख ही रहे हैं। झोंटा, बैल, गधा, खच्चर आदि लदा करते हैं, बूढ़े भी हैं तो भी जुट रहे हैं। चल भी रहे हैं तो भी उन पर लाठी चल रही है। कितना बोझ लादते हैं, पराधीन हैं। जब खाना पीना दे दिया मालिकने तब ले लिया नहीं तो बंधे पड़े हैं। प्रत्येक भवमें देख लो बड़े कष्ट हैं। ऐसे ही कष्ट वाले भवोंमें कभी हम भी थे। आज कुछ सुयोग है। उन बुरी गतियोंसे हटकर मनुष्यभवमें आये हैं। तब यह बात विचारना कि मनुष्य भवमें आकर यदि पशुओं जैसे काममें ही जीवन गुजार दिया तो अब मनुष्यभवका लाभ क्या पाया? पशुवोंके काम किया। खाना-पीना, निद्रा लेना, डरना, विषयसेवन करना, इतने काम मनुष्य भी कर रहे तो इन मनुष्योंमें और पशुवृत्तिमें फिर कोई अन्तर न रहा। मनुष्यकी विशेषता है ज्ञानप्रकाश पा लेना, वह धर्म ज्योति पा लेना जिसके पानेसे संसारके संकट दूर होते हैं। तो ज्ञान लाभ कहो धर्मलाभ कहो एक ही बात है। मैं अपने आपके सही स्वरूपको जान लूं फिर संसारमें संकट न रहेगा। हम अपने स्वरूपको जानते नहीं और इस बाहरी भेषको, इस शरीरको मानते हैं कि यह मैं हूं। इसकी वजहसे सारे संकट इस जीवको लद जाते हैं। तो कर्तव्य क्या है कि मैं अपने वास्तविक स्वरूपको जानूं। वास्तविक स्वरूपका ज्ञान हो मुझे इसके लिए सर्वप्रथम देशनाकी आवश्यकता होती है, देशना अर्थात् धर्मोपदेश। इस जीवका जब भी उद्धार होता है तो उपदेश सुननेके बाद फिर उद्धार होता है। भले ही कोई मनुष्य आज इतना संस्कारवान हो कि किसीका उपदेश न सुहाये और उसे ज्ञान मिल जाय। सम्यक्त्व हो जाय तो भी समझिये कि आज नहीं तो पहले भवमें उसने कोई उपदेश पाया था जिसके बलसे ज्ञान बना और आज उस संस्कारसे स्वयं ही ज्ञान लाभ लिया। तो धर्मोपदेशका बड़ा महत्त्व है।

धर्मोपदेशका प्रयोजन दुःखनिदान मोहसे छुटकारा—इस श्लोकमें यह बात बतायी जा रही

है कि वास्तवमें धर्मोपदेशका अधिकारी कौन पुरुष है? धर्मोपदेश देनेके अधिकारी हैं भगवान सर्वज्ञ, जहां कुछ भी भूल नहीं है। उससे पहले जो ज्ञानी पुरुष हैं वे भी धर्मके अधिकारी हैं, उपदेश देने वाले हैं, पर भगवानकी वाणीकी परम्पराके अनुसार ही उपदेश देने वाले होते हैं। उपदेशमें क्या बात मुख्य आती है? पदार्थका सही-सही स्वरूप जान लेना। लोग कहते हैं कि मोह हटावो। मोह ही दुःखकी जड़ है, अब बतलावो वह मोह कैसे हटेगा? कोई उपाय तो बतावो जिससे मोह हटे। जीवन भर कहते आये कि मोह हटावो सब बेकार है, मरने पर सब कुछ छूट जायेगा, सार कुछ नहीं है इस समागममें और जितना मोह करते हैं उतना ही हम कष्ट पाते हैं इसलिये मोहको दूर करनेके विषय में लोग रोज-रोज कई बार कह लेते अब बताओ वह मोह कैसे दूर होगा? घर छोड़ दिया तो मोह दूर हो गया क्या, कुछ पता है क्या? घर छोड़ने पर भी चित्तमें घर बसा रहेगा तो मोह छोड़ना न कहलाया, हां घर छोड़ना कहलाया, प्रभुकी भक्ति करते हैं जैसा कि लोग किया करते हैं, तो उस भक्तिसे मोह छूट पाया क्या? उस भक्तिमें न जाने क्या क्या लोगोंके ख्याल रहा करते हैं। कोई सोचता है कि प्रभु हमको धन दिला देंगे या प्रभुकी भक्तिके प्रसाद से हमको वैभव मिलेगा। तो बतलावो उसने भक्तिमें मोह छोड़ा या बढ़ाया? कोई पुरुष इतना विवेकी हो कि प्रभु भक्तिमें केवल यही भाव रखे कि प्रभु मैं भव-भवमें आपका भक्त रहूं ··· इन भावोंसे भक्ति कर रहा तो भी उसने क्या मोह छोड़ दिया? नहीं छूट सका। व्रत उपवास आदिक भी करे कोई अब अमुक पर्व आया, व्रत करें, उपवास करें, ऐसा करके भी मोह छूट पाता है क्या? यह बात अपने मनसे सोचो, करते तो सब थोड़ा-थोड़ा, पर मोह छूटा क्या? मोह इस उपायसे नहीं छूटता। तो मोह छूटनेका उपाय क्या है? तत्त्वज्ञान, मोह होता है, बाहरी चीजोंसे, इन दिखने वाले बाहरी पदार्थोंसे, तो इनसे मोह छोड़ना है, कैसे मोह छूटेगा कि इनका सही ज्ञान करलें तो स्वयं मोह छूट जावेगा। जब तक हम पुत्रके बारेमें उल्टा ज्ञान रखते हैं तब तक मोह बढ़ता है और उसका सही ज्ञान कर लें तो मोह छूट जाता है।

मायाका मायाके रूपमें परिचय होनेकी सम्यग्ज्ञानरूपता—वह सही ज्ञान क्या है जिससे मोह छूटता है? वह सही ज्ञान है हम पहले यह जानें कि वास्तवमें जो कुछ दिखता है वह सचमुचमें पदार्थ है या यह झूठ है और असलमें क्या है? तो सुनो—जो भी दिख रहा है वह कोई परमार्थ पदार्थ नहीं है। वह सब माया रूप है। यहां सत्य कुछ नहीं दीख रहा। जो दिख रहा है वह कुछ भी सत्य नहीं है। वह माया स्वरूप है। वास्तविक पदार्थ नहीं है, तो वास्तविक पदार्थ क्या है, और माया रूप क्या है इन दोनोंका अन्तर जानें। मायाका क्या अर्थ है कि अनेक पदार्थ जुड़कर जो बने उसे माया कहते हैं। यह मायाका लक्षण है, और इस कुञ्जीसें ऐसा सब जगह समझते जावो। जो अनेक पदार्थ मिलकर बना हुआ हो वह माया है और जो अकेला ही एक पदार्थ हो, जिसमें दूसरा पदार्थ न जुड़ा हो वह पदार्थ है। वास्तविक है, सही है। ये दो बातें खूब ध्यानमें रखियेगा। अब घटावो—आपको क्या दिखता है? यह भींट दिख रही है। तो बताओ यह भींट एक चीज हैं या अनेक चीजें मिलकर बना हुआ रूप है। यह एक चीज नहीं है, यह अनेक चीजोंका मिलकर बना हुआ रूप है। यह कितने पदार्थोंसे मिलकर बना है? ये भींट, चटाई, दरी आदिक जो कुछ भी दिख रहे ये अनंत परमाणुवोंसे

मिलकर बने हैं। यह भी ध्यान रखें कि ये हजार ईंटें मिलकर भींट बनी, अरे ईंटे भी खुद-खुद नहीं हैं। ईंट भी खुद अनन्त परमाणुवोंका पिण्ड है। जो दिख रहा उसके टुकड़े बनाते जाइये, आखिरी टुकड़ा जब आपसे बन जाये उसमें भी अनगिनते टुकड़े होंगे उन्हें आप न कर पायेंगे, वे स्वयं होंगे। ऐसे टुकड़े बनाते जायें जो अन्तमें एक अविभागी अंश बनेगा वह है एक पदार्थ। उसे कहतें हैं परमाणु। तो जितना जो कुछ दिख रहा है यह सब माया रूप है और इसमें परमार्थरूप चीज क्या है? एक परमाणु, ऐसा परमाणु कि जिसका कोई दूसरा हिस्सा न हो सके वह परमार्थ है। बताओ—कोई परमार्थसे प्रीति करता है क्या? सब मायासे प्रेम करते हैं, परमार्थसे प्रेम करने वाले कोई नहीं हैं। जो केवलज्ञानी सिद्ध प्रभु होंगे, वे परमार्थकी दृष्टि रखते। और ये संसारी जीव इस मायामें दृष्टि रखते हैं।

प्राणियोंकी मायारूपता व परमार्थके परिचयका महत्त्व—अच्छा बताओ जो जहां बैठे हुए हैं मनुष्य या जानवर वगैरह जो कुछ दुनियामें हैं, ये वास्तविक हैं या माया रूप हैं? ये सब माया हैं। तो हम आप जितने बैठे हैं ये सब भी माया हैं। इसमें वास्तविक कोई नहीं है क्योंकि मायाका लक्षण बताया है कि जो अनेक पदार्थ मिलकर बना हो उसको माया कहते हैं। आप बैठे, हम बैठे, ये अनेक पदार्थ मिलकर बने हैं। कितने पदार्थ मिल गये हैं? एक तो जीव है और अनन्त शरीरके परमाणु हैं और अनन्त ही कर्मके परमाणु हैं, इन सबका मिलकर यह रूप बना है जो हम आम बैठे दिख रहे हैं। तो यह सब भी माया है। मायासे प्रीति करनेमें हित नहीं है, क्योंकि यह विनश्वर है, जबरदस्ती अपना माना जाता है। क्योंकि किसीका साथी नहीं है, पर जबरदस्ती मानते हैं तो परमार्थ पर दृष्टि दें—केवल एक-एक परमाणु, एक-एक जीव ये सब स्वतन्त्र हैं। एक का दूसरा कुछ नहीं लगता। सबका अपना-अपना अस्तित्व है, सब अपने-अपने स्वरूपमें परिणमते हैं। कोई किसीका करने वाला नहीं। भोगने वाला नहीं। सब अपने-अपने परिणाम को करते हैं, अपने-अपने भावोंको भोगते हैं। किसीका कोई स्वामी नहीं। परमार्थ दृष्टि करके जब ऐसी स्वतन्त्रताका ज्ञान होगा तो मोह टूटेगा और इस स्वतन्त्रता का ज्ञान किए बिना मोह टूट नहीं सकता अन्य चाहे कितने ही उपाय करलें। यह तत्वज्ञान प्रभुसे प्राप्त हुआ है।

तत्त्वज्ञानके विरुद्ध चलनेमें संकटोंका भार—तत्त्वज्ञानके विरुद्ध जो चल रहे वे सब जन्म लेते, मरण करते, जन्म और मरणके बीच जितनी आयु मिली है उसमें अनेक संकट सहते हैं। जीना। जिन्दगीमें बड़े-बड़े कष्ट सहना। मरना, फिर दूसरा जीवन पाना, जिन्दगीमें अनेक संकट सहना, मरना, बस इसी धारामें चलते आ रहे हैं सब जीव। अपनी भी बात विचारो। क्या यही करते रहना मंजूर है? अगर जन्म मरण जिन्दगीके संकट ये ही मंजूर हैं तो उसका उपाय तो यही है जो करते आ रहे। मोह करते जायें, संकट मिलते जायेंगे। और यदि यह संकट न चाहिए तो मोहको दूर करना है, यह उपाय करना होगा। सब अपनी-अपनी बात विचारो, धर्म मिलजुल कर नहीं होता। धर्म अकेले को मिलेगा, अकेलेसे होता है, कोई दो आदमी मिलकर धर्म नहीं करते। सबका धर्म अपने अपने आत्मामें है, अपने-अपने भावमें है। अपने भाव सुधारिये, ज्ञान प्रकाश लीजिए और आनन्द प्राप्त करिये, जो ऐसा नहीं करता वे जीव चार प्रकारकी विपत्तियोंसे घिरे हुए हैं। यहां भीतरी विपदा बतला रहे हैं कि वे चार पद क्या हैं? कोई माने या न माने, हैं वह विपदा। पहली विपदा है अहंकार। शरीर मैं नहीं,

शरीर तो अशुचि पदार्थका पिण्ड है मगर इसे निरखकर मानना कि मैं, बस अहंकार बन गया, मूढ़ता है। जहां यह मोह है, जहां यह मूर्खता लगी है कि मैं हूं तो एक ज्ञानानन्द स्वभाव वाला आत्मा और मान रहा हूं इस अशुचि पिण्ड देहको कि यह मैं हूं, वे मूढ़ हैं और संसारमें भटकने वाले हैं। जगह-जगह उसको विपदा है, जो भी यह कार्य करेगा उस ही में आकुलता बढ़ेगी, क्योंकि इसका आधार उल्टा है। शरीर को मानता है कि यह मैं हूं। 'देह जीवको एक गिने बहिरातमतत्त्वमुधा है'। सबसे पहले यह गलती दूर करना है। इस गलती को दूर किये बिना धर्म रंच भी न होगा, हां पुण्य हो जायेगा। पुण्य तो एक किसी जीव पर दया करने से भी हो जाता है। भगवानकी भक्ति, गान तान, नृत्य उद्यम आदिक करनेसे भी पुण्य हो सकता है, पर धर्मका मार्ग न मिलेगा। जब तक मिथ्यात्व दूर न हो तब तक धर्मका रास्ता नहीं है।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टिको सर्वत्र मिलने वाली आपदावोंमें प्रथम आपदा अहंकार—मिथ्यात्व है देहको आपा मानना। यह ही मूढ़ता कहो, मूर्खता कहो। किसी भी शब्दसे कहो, यह जीव इन विपत्तियोंसे घिरा हुआ है। जो इसका सही स्वरूप है वह उसके परिचयमें नहीं आ रहा, तब ऐसे मोह वालेको जगह-जगह आपत्ति है। एक छोटा कथानक है कि कोई दो स्त्री पुरुष थे, तो पुरुषका नाम तो था बेवकूफ और स्त्रीका नाम था फजीहत। उन दोनोंमे अकसर करके लड़ाई हो जाया करती थी। एक दिन जरा तेज लड़ाई हो गई सो फजीहत घर छोड़कर भाग गई। तो वह बेवकूफ गाँवके लोगोंसे पूछता फिरे पड़ोसमें कि भाई तुमने हमारी फजीहत देखी? तो सब जानते ही थे कि फजीहत इसकी स्त्रीका नाम है, सो सबने कहा भाई हमने तो नहीं देखा। एक बाद किसी अपरिचित व्यक्तिसे, मुसाफिरसे पूछ बैठा—भाई तुमने हमारी फजीहत देखी? तो वह मुसाफिर उसकी कुछ बात ही न समझ सका, उसे क्या पता कि फजीहत उसकी कौन थी? सो पूछ बैठा—भाई आपका नाम क्या है? तो वह बोला—मेरा नाम है बेवकूफ। ··· अरे भाई बेवकूफ होकर तुम फजीहत कहाँ ढूढ़ते फिरते? बेवकूफके लिए जगह-जगह फजीहत है। जहाँ ही खोटा बोल दिया बस वहींसे लात, जूते, थप्पड़ हाजिर हैं। तो जैसे बेवकूफके लिए जगह-जगह फजीहत हैं ऐसे ही इस मायाके रुचियाको, इस देहको आपा मानने वालेको प्रतिक्षण संकट ही संकट है। वह शान्तिका पात्र नहीं। इसमें समय बहुत गुजर गया जिन्दगीका। अब जो कुछ थोड़ा समय है उसमें ऐसा विवेक लायें। ऐसा प्रकाश लायें कि मैं अपने वास्तविक स्वरूपको पहिचान जाऊं। देखिये जब तक चारों चीजें मिली हुई होती हैं और मिलकर उसका रूप बिगड़ भी जाय तो भी जितनी चीजें मिली हुई हैं अहंकारमें उनका वही स्वरूप है। किसीका स्वरूप मिटता नहीं है। तो यहाँ अनन्त तो शरीरके परमाणु और अनन्त कर्मके परमाणु और एक ही जीवमें सबका मिलावट है। इस मिलावटके अन्दर भी यदि हम केवल अपने जीवके स्वरूपको पहिचान लें तो इसीके मायने है ज्ञान प्रकाश। उसको फिर संकट नहीं और जो उस सहज आत्मस्वरूपमें दृष्टि नहीं कर पाता उसको संसारके संकट नहीं दूर हो सकते। तो पहली विपत्ति है अहंकार। खुद खुदमें सोचिये—करनेकी बात है और आपके आत्माकी ही बात है। कोई दूसरी बात नहीं कही जा रही।

अज्ञानी जीवपर दूसरी व तीसरी विपत्ति ममकार व कर्तृत्वबुद्धि—दूसरी विपत्ति है ममकार।

मायने जो मेरा नहीं है उसे मानना कि यह मेरा है, यह भी बहुत बड़ी भारी विपत्ति है। बोलो घर सम्पदा आपकी है क्या? यहीं देख लो—यदि घर सम्पदा आपकी होती तो आपके साथ यहां (प्रवचन सभामें) भी आती, पर यहाँ तो कुछ साथ नहीं आया, आप तो अकेले बैठे हैं। और जो आपका है वह आपका एक क्षण भी साथ नहीं छोड़ सकता। आपसे अलग है, छूटा हुआ है वह आपका कुछ नहीं है। एक उदय है पुण्यका कि कुछ वैभव पास मिल गया है तो उनको मान रहे कि यह मेरा, यह मेरा पर वास्तवमें मेरा कुछ नहीं है। मेरा तो केवल मेरे आत्माका स्वरूप है। देह भी मेरा नहीं, बाहरी चीज भी मेरी नहीं। केवल मेरा वह स्वरूप है जो इस भवको छोड़कर जाऊंगा तो पूरा का पूरा मेरे साथ जायेगा। वह तो मेरे परिणामकी चीज है, बाकी कुछ भी मेरा नहीं, बाहरी परिकर कुछ भी मेरा नहीं। कोई माने कि यह मेरा है तो यह कहलाता है ममकार। इसके कारण भी जगतके जीव दुःखी हैं। इसे हटावो।

तीसरी विपत्ति लगी है जीवको कर्तृत्वबुद्धि की। मैं ही करता हूं, इन बच्चोंको मैं ही पालता हूं, इनकी मैं खबर न रखूं तो ये जिन्दा नहीं रह सकते। कितनी ही तरहके भीतरके भाव बनें। अरे जिनका आप इतना ख्याल रखते हैं, इतनी चिन्ता करते हैं उनका पुण्य आपसे अधिक है जिसके कारण आपको उनकी चिन्ता करनी पड़ती है। बात तो असलमें यह है पर मानता है अज्ञानमें जीव ऐसा कि मैं इनको पालता हूं, इनको पढ़ाता हूं, इनको सुखी दुःखी करता हूं ··· तो उसकी यह कर्तृत्व बुद्धि है, उसके कारण यह जीव निरन्तर दुःखी रहता है। इसको वह रास्ता नहीं मिल रहा कि जिस वजहसे यह केवल अपनेको अकेला अनुभव कर सके। वस्तुतः कोई किसीका करनहार है नहीं।

अज्ञानी जीवपर आनेवाली तीसरी विपत्ति कर्तृत्वबुद्धि पर एक उदाहरण—एक कोई मांगने वाला जोगी था, सो वह भीख मांग रहा था। उसे भीख मांगते हुए में एक जगह मिला एक संन्यासी। उस संन्यासी ने पूछा—भाई क्या कर रहे हो? ··· महाराज जी हम भीख माँग रहे हैं। ··· भीख मांगकर क्या करोगे? घर ले जायेंगे, बच्चोंको खिला पिलाकर उनका पालन पोषण करेंगे। ··· तो क्या आप बच्चोंको पालते-पोषते हैं? ··· हां-हां हम नहीं तो और कौन पालता पोषता? ··· अरे यह तुम्हारा ख्याल गलत है। वे बच्चे सब स्वयं अपने भाग्यसे पल पुष रहे, उनका तुम कुछ नहीं करते। ··· कैसे कुछ नहीं करते? हमीं तो बच्चोंको जिन्दा रखते। ··· अरे तुम व्यर्थ किसीके कर्ता बने। चलो हमारे साथ कुछ दिके लिए छोड़ दो सब व्यर्थके ख्याल। सो वह था कुछ धार्मिक प्रकृतिका सो चल दिया उस संन्यासीके साथ। अब प्रतिदिन तो वह दोपहर तक घर पहुंचता था भीख मांगकर तब कहीं खाने पीनेका सेजा बनता था उस दिन न पहुंचा तो उसके बच्चे लोग बड़े चिन्तित हुए। इसी बीच किसी मसखरेने ऐसा भी कह दिया कि उसको तो आज बाघ उठा ले गया, खा डाला, वह तो मर गया। उसके सब बाल-बच्चोंने बड़ा रोना धोना मचाना शुरु कर दिया। पास पड़ोसके लोग जुड़े। सबने उस जोगीके मरनेकी घटना जानकर भारी खेद माना। लोगोंने विचार किया कि अब इसके घर कमानेवाला भी कोई नहीं रहा, घरमें खाने-पीने तकका सेजा नहीं है, अपना कोई पड़ोसी संकटमें रहे यह कैसे किसीसे देखा देख जायगा, सो सभी लोग उस जोगी के बाल बच्चोंके मददगार बने। गल्लेकी दुकान वालोंने गल्ला दे दिया, कपड़ा वालोंने कपड़ा दे दिया घी वालोंने घी दे दिया, शक्कर वालोंने

शक्कर दे दिया। अब क्या था, उसके घरका सारा रंग ढंग ही बदल गया। सब बड़े मौजमें रहने लगे। उधर वह जोगी संन्यासीके पास जंगलमें विचार करता है कि मुझे घरसे निकले काफी दिन बीत गए, पता नहीं घरमें कौन मरा होगा, कौन जीवित बचा होगा। सो वह संन्यासीसे बोला—महाराजजी, हमको घर से निकले कई दिन हो गए। आज्ञा दीजिए मुझे घर जानेकी। जाकर देखूंगा कि घरमें कौन मरा, कौन बचा। सो संन्यासी बोला—ठीक है जावो घर पर एक काम करना कि यों ही सीधे घरमें न घुस जाना, छिपकर पीछेसे मकान की छत परसे देखना। ··· ठीक है महाराज, ऐसा ही करुंगा। सो जब वह जोगी पहुंचा अपने मकानके पास और पीछेसे छिपकर छत पर पहुंचा तो ऊपरसे क्या देखा कि घरके अन्दर सब बच्चे लोग हंस खेल रहे थे, अच्छे-अच्छे नये कपड़े पहने हुए थे, पूड़ी कचौड़ी पक रही थीं, यह सब दृश्य देखकर वह जोगी दंग रह गया और मारे खुशीके घरकी आँगनमें उछलकर कूद गया और बच्चोंको गलेसे लगाने लगा। उधर बच्चे लोगोंको तो पूरा विश्वास हो चुका था कि वह तो मर गया सो यह सोचकर कि यह तो उसीकी शकलमें भूत आ गया, उसे मारना, भगाना, लूगर आदिसे जलाना शुरु किया। बड़ी मुश्किलसे प्राण बचाकर वह जोगी घरसे बाहर भगा। जंगल पहुंचा संन्यासीके पास और अपना सारा हाल कह सुनाया तो वहां संन्यासी बोला—देखो मैं कहता था कि तुम किसीको पालते पोषते नहीं, सब अपने भाग्यसे पलते पुसते हैं, तुम व्यर्थ ही करनेका अहंकार करते थे। अरे जब वे खुद मजेमें हैं तो तुम्हें पूछेंगे क्यों? तो किसीका यह कहना गलत है कि मैं किसीका कुछ करने वाला हूं।

अज्ञानी जीवपर चौथी विपत्ति भोक्तृत्वबुद्धि व सर्वविपदावोंसे छुटकाराका उपाय बतानेमें सच्ची धर्मप्रभावना—चौथी विपदा जीवमें यह लगी है कि वह मानता है कि मैं परका भोगने वाला हूं, धन भोगता हूं, भोजन भोगता हूं, अमुक चीज भोगता हूं। लगता है ऐसा कि मैं आम खा रहा हूं तो आमको भोग रहा, पर वास्तविकता यह है कि आमके बारेमें जो हमने ज्ञान किया, कल्पनायें किया कि बड़ा अच्छा है, बड़ा मीठा है, ··· इन कल्पनाओंको भोग रहे, कहीं जड़ पदार्थोंको यह आत्मा भोग नहीं सकता, क्योंकि आकाशकी तरह अमूर्त आत्मामें किसी चीजका सम्बंध ही नहीं बन सकता। तो ये जो चार कल्पनायें हैं उनसे यह जीव परेशान है। यह ही परेशानी सबको लगी है। तो इस परेशानीके मेटनेका उपाय है तत्त्वज्ञान। सही सही ज्ञान करना। अब तक लोग धर्मके नाम पर अनेक काम तो करते रहते हैं अनेक विधिविधान समारोह, मगर तत्त्वज्ञान मिले और वास्तविक ज्ञान जगे, इसकी ओर दृष्टि नहीं है। और, वास्तवमें पूछो तो धर्मके लिए कोई कितनी भी बाहरमें प्रभावना करे, समारोह बनाये, अनेक बातें करें पर धर्मप्रभावना उसका नाम नहीं किन्तु लोगों में यह ज्ञान बने कि वास्तविकता यह है तो उसे कहते हैं प्रभावना। ज्ञान की प्रभावना को प्रभावना कहते हैं, धनकी प्रभावनाको प्रभावना नहीं कहते। बड़े अच्छे समारोह बन गए, यह कोई सच्ची प्रभावना नहीं। सच्ची प्रभावना है यह कि अपना जो आत्मस्वरूप है वह ज्ञानमें आये, क्योंकि उससे लोग अपने आत्माका उद्धार कर लेंगे। सो ज्ञानप्रभावना ही अपनी प्रभावना है। ज्ञान प्रभावना ही धर्मप्रभावना है यह ज्ञान जगे, ऐसा उपाय बनायें

तो जीवन सफल हो जायेगा अन्यथा जो चलता आया वैसा चलता रहेगा उसमें अपनेको कुछ लाभ नहीं हैं।

देशनालब्धिका महत्त्व—संसारमें जिस भी प्राणीका उद्धार हुआ है उसका उद्धार उपदेश सुननेके बाद ही हुआ है। यह नियम है। इसे कहते हैं देशनालब्धि। सम्यक्त्वकी ५ लब्धियाँ होती हैं उनमें तीसरी लब्धि है देशना अर्थात् उपदेश मिलना जिसे सुनकर इसके भाव बढ़ें और सम्यक्त्व उत्पन्न हो। तो धर्मोपदेश अनिवार्य आवश्यक है। उसके बारेमें बतला रहे हैं कि मूल धर्मोपदेश देने वाला कैसा होता है। जो अब उपदेश चल रहा है—आचार्योंने किया मुनियोंने ब्रह्मचारियों ने किया, यह तो आपकी बात है पर किस उपदेश से लेकर यह उपदेश किया जाता है वह मूल उपदेश उसका देने वाला कौन हैं, यह बात बतलाते हैं। संक्षिप्त उत्तर तो यह है कि जो तीर्थंकर हैं या विशिष्ट अरहंतदेव हैं, जिनकी दिव्यध्वनि खिरती है उनकी दिव्यध्वनिसे उपदेशकी परम्परा चली है इसीलिए मूलवक्ता तीर्थंकर महाराजको बताया जाता है।

तत्त्वके मूल उपदेष्टाका परमेष्ठित्व—जो भी मूल उपदेश देने वाले हैं वे परमेष्ठी हैं। परमपदमें स्थित हैं। सबसे उत्कृष्ट पद कौनसा है? सबसे उत्कृष्ट पद इस लोकमें जिनेन्द्रदेवका है। जिनेन्द्रदेव मनुष्य ही हैं। जब तक सिद्ध भगवान नहीं बनते तब तक वे मनुष्य कहलाते हैं। अरहंत भगवान मनुष्यगतिमें हैं मगर पुरुषोत्तम हैं। याने उन जैसा मनुष्य कोई होता नहीं है। इस लोकमें सर्वोत्कृष्ट पद है जिनेन्द्रदेवका, अरहंतदेवका वे उस उत्कृष्ट पदमें स्थित हैं। उससे नीचेके पद हैं, आचार्य, उपाध्याय, मुनिके, उनका उपदेश अगर स्वयं कल्पनासे किया हुआ हो तो प्रामाणिक नहीं है। जिनेन्द्रदेवके उपदेशमें से उपदेश किया जाय तो वह प्रामाणिक है कोई अपने मनसे कुछ भी उपदेश करे तो वह प्रमाणभूत नहीं है। तो मूल उपदेष्टा कौन है? अरहंत भगवान। कैसे वे उत्कृष्ट पदमें हैं? उत्कृष्ट पद कौन कहलाता? जहाँ ज्ञान तो पूरा प्रकट हो और दोष एक न रहे वही उत्कृष्ट कहलाता है। किसी जीवमें दोष तो रहा नहीं, पर ज्ञान पूरा नहीं आया तो भी वह उत्कृष्ट नहीं है, और ऐसा हो ही नहीं सकता कि ज्ञान पूरा आ जाय और निर्दोष न हो। जैसे मुनिराज तपस्याके बलसे क्षुधा तृषा आदिक १८ दोषोंसे रहित हो जाते हैं, वे अरहंत बनते हैं। तो जो सर्वज्ञ है वह निर्दोष तो जरूर है, पर जो निर्दोष आत्मा हो गया वह अभी सर्वज्ञ हो पाया हो न हो पाया हो वहां दोनों बातें सम्भव हैं। जैसे गुणस्थान १४ होते हैं, उन १४ गुणस्थानोंमें शुरुके तीन गुणस्थान तो अज्ञानी जीवके कहे जाते हैं चौथा गुणस्थान सम्यग्दृष्टि ज्ञानीका होता है। ५ वाँ गुणस्थान श्रावक का होता है। छठा गुणस्थान मुनिका होता है जो आहार विहार भी करता है, पर ध्यानमें लीन हो जाय तो ७ वाँ गुणस्थान, इसके बाद इस पंचमकालमें गुणस्थान नहीं बढ़ पाते। हां पहले हुआ करते थे तो ७ गुणस्थानोंसे ऊपर दो श्रेणियाँ होती हैं। अगर कोई मुनि कर्मको दबाकर चढ़े तो उपशम श्रेणीमें चढ़ता है, कोई मुनि कर्मोंको हटाकर चढ़े तो वह क्षपक श्रेणीमें चढ़ता है। उपशम श्रेणीमें चढ़नेवाला मुनि ११ वें गुणस्थानसे नीचे के गुणस्थानों में गिर जायगा और क्षपक श्रेणा वाला मुनि ११वें गुणस्थानसे चढ़कर १२वें १३वें गुणस्थानोंमें चढ़ता है। इन गुणस्थानों में रागद्वेष नहीं रहता, निर्दोष हो गया वह जीव मगर सर्वज्ञ नहीं कहलाता। १३ वें गुणस्थानमें

सर्वज्ञ होता है। जिनकी मूर्ति बनाकर पूजते वे १३ वें गुणस्थानवर्ती अरहंत देव हैं। जो तीर्थंकरदेव, अरहंतदेव १३ वें गुणस्थान वाले भगवान, उनका उपदेश प्रथम होता है। उनकी दिव्यध्वनिको गणधरदेव झेलते हैं और फिर आचार्यदेव उसका प्रचार करते हैं।

तत्त्वज्ञानके मूल उपदेष्टा परमेष्ठी आप्त अरहंतदेवकी परंज्योतिस्वरूपता—मोक्षमार्गके इस उपदेश के मूलकर्त्ता करनेवाले हैं अरहंत भगवान। उनका आत्मा कैसा है? परमज्योति स्वरूप है। आत्माका स्वरूप क्या है? केवल ज्योति। अब भी हम आपका जो आत्मा है सो जो ज्ञानज्योति है वह तो आत्मा है और इस ज्ञानज्योतिमात्र रागद्वेषादिक विकारोंकी छाया पड़ती है। कर्मकी छाया वह मैं नहीं हूं। विकार है, मैं विकाररूप नहीं। मैं तो ज्ञानमात्र हूं। तो यह आत्मा ज्ञानज्योतिस्वरूप है। कहते हैं ना कि अपने आत्माका अनुभव करो, सम्यक्त्व हो जायेगा। संसारसे तिर जायेंगे, तो आत्माका अनुभव कैसे करेंगे आप? आत्माके बारेमें बहुतसा कथन है। यह आत्मा देहके बराबर है। यह आत्मा अनन्त गुणोंका पिण्ड है। अनेक प्रकारसे आत्माका वर्णन होता है पर जब अनुभव होगा तो आत्माकी लम्बाई चौड़ाईके ज्ञानसे न होगा, किन्तु अपनेको कोई ऐसा माने, मनन करे कि मैं ज्ञानमात्र हूं। ज्ञानज्योतिमात्र हूं, जो ज्ञानका स्वरूप है वही ज्ञानमें रहे। ऐसे ज्ञानको बनाये फिर आत्माका अनुभव होता है। तो वह क्या चीज है? परमज्योति। तो अरहंत भगवान जिनेन्द्रदेव वह परमज्योति स्वरूप है। उनके ज्ञान परसे आवरण हट गया है। ८ कर्मों में ज्ञानावरण कर्म आ गया सो घातियाकर्म दूर हुए वहां ज्ञानावरण भी दूर होता है। अब ज्ञानका कोई आवरण न रहा, पर्दा न रहा तो ज्ञान पूरा प्रकट हुआ, वही परमज्योति है। किसकी बात कही जा रही है कि जितने शास्त्र बने हैं, जितने आगम हैं उनका मूलकर्त्ता कौन है, यह प्रवाह कहाँसे चला? जो आज तक शास्त्रोंमें मिलता है। वह प्रवाह चला है तीर्थंकर देवसे, अरहंत देवसे। उनकी तारीफकी जा रही है कि वे परमेष्ठी हैं परम ज्योतिरूप हैं।

आगमके मूल स्रोत आप्तदेवकी वीतरागता—परमेष्ठी परंज्योतिर्मय मूल उपदेष्टा आप्त भगवान वीतराग हैं। वहां राग नहीं रहा। देखो राग करना आत्माका स्वभाव नहीं है। राग ज्ञानीके भी होता, अज्ञानीके भी होता है। अज्ञानी तो उसे आवश्यक समझता, अपना स्वरूप समझता, पर ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव जानकर घरमें रहना पड़े तो परिस्थितिके कारण राग करना पड़ता है। उसका राग करनेका भाव नहीं है। जैसे कोई रईस बीमार हो गया बड़ा तेज बुखार आ रहा तो उसका साधन बनाया जाता, अच्छे पलंग पर सोना, डाक्टरोंका आना जाना दवाई देना, कई कई नौकर सेवामें हाजिर रहना, मिलने वाले अनेक लोगों द्वारा बड़ी पूछताछ, दवा समय पर देना, यों बड़ी-बड़ी व्यवस्थायेंकी जाती पर बताओ उन सब साधनोंमें उस रईसको मोह है क्या? नहीं है मोह। मोह तो तब कहलाये जबकि वह रईस यह चाहे कि मुझे ये साधन जिन्दगीभर मिलें। अरे वह चाहता कि मुझे कब दवाई पीना छूटे। कब यह रोग मिटे, कब ये सब बातें खतम हों और मैं प्रतिदिन मील दोमील टहलने जाऊं। देखो चाहता तो यह है मगर परिस्थिति ऐसी है कि उसे औषधि पीनी पड़ती है। अगर औषधि समयपर न मिले तो वह झुंझला भी जाता है इतना प्रेम है उसे दवासे पर उस दवासे उसे मोह नहीं है। मोह न होकर भीदवासे राग कर रहा। तो ऐसे ही ज्ञानी जीव जिसे सम्यग्दर्शन हो गया वह रागको जरा भी नही चाहता मगर

घरमें रहना पड़ रहा तो राग किए बिना घरमें नहीं रह सकता इसलिए प्रीति करता है। मुनिराजको भी प्रमत्त अवस्थामें छठे गुणस्थानमें किसी परिस्थितिमें राग करना पड़ता है। पर बुद्धिपूर्वक वह राग नहीं है। इससे ऊपर जिनेन्द्रदेवके तो रागका अंश भी नहीं है। जिसके रागद्वेष न हो और पूरा ज्ञान हो ऐसे गुणागमके मूल वक्ता तीर्थंकर देवके वचन प्रामाणिक हैं।

तत्त्वज्ञानके मूल उपदेष्टा आप्त जिनेन्द्रदेवकी विमलता—प्रभु जिनेन्द्र आप्त परमेष्ठी हैं परंज्योति हैं, वीतराग हैं, वह विमल हैं, याने कि निर्मल हैं, किसी भी प्रकारका दोष उनके नहीं रहा, क्षुधा तृषा, जन्ममरण, रति अरति शोक आदि किसी प्रकारके दोष उनके नहीं रहे। देखो जिनेन्द्रदेवके दोष उनके नहीं रहे। देखो जिनेन्द्र देवके दर्शन करने आते हैं तो वहां क्या भाव रखना चाहिए कि हे प्रभो तुम्हारी स्थिति सर्वोत्कृष्ट है। मैं पामर आज संसारमें जन्म मरण कर भटक रहा हूं, आप इस भटकनसे अलग हो गए, पर हे प्रभो आत्मा जैसा आपका है वैसा ही हमारा है। जाति एक है, पर फर्क यह हो गया कि मैं राग करता हूं और संसारमें रुलता हूं। आपके राग नहीं हैं और आप उत्कृष्ट पदमें आनन्दमग्न हो। हे प्रभो मेरी स्थिति बने, मैं और कुछ नहीं चाहता। जो लोग प्रभुके दर्शन करते हुए कुछ चाहते हैं—मुझे धन मिले, मेरी मुकदमेमें जीत हो, मेरेको संतानकी प्राप्ति हो ··· तो वह उनकी भूल है। कैसे भूल है कि प्रथम तो जिनेन्द्रदेवकी भक्तिमें आये तो ऐसा ध्यान रखना चाहिए कि जगतमें सर्वोत्कृष्ट पद हैं तो यह पद है जिसके हम दर्शन कर रहे हैं, सो मुझे यह पद मिले, मैं और कुछ नहीं चाहता। यह भाव रहना चाहिए। क्योंकि जगतके ये सब समागम मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। यह जीव मोहवश अपना मानता है, कल्पनायें करता है मगर इसका कुछ नहीं है। तो चाहें तो भगवान जिनेन्द्रदेव जैसा पद चाहें कि मेरेको ऐसी स्थिति मिले कि जहाँ दोष रंच न हो और ज्ञान पूरा प्रकट हो। दूसरी बात यह है कि जिनेन्द्रदेवसे कुछ भी चीज मांगे कोई, तो जिनेन्द्रदेव देते नहीं, वे तो वीतराग हैं, ज्ञानानन्दमें मग्न हैं, वे कुछ नहीं देते इसलिए उनसे कुछ मांगना व्यर्थ है। जब वे कुछ दे नहीं सकते तो मांगना व्यर्थ है—पहली बात, दूसरी बात यह है कि जो कुछ मिलता है सो पुण्योदयसे मिलता है और पुण्यबंध भक्ति करनेसे होता है। अगर पहले ही हम कोई चाह रखकर भगवानकी भक्ति करें तो पुण्य भी नहीं बंधता मगर विषयोंकी चाह रखकर धन सम्पत्तिकी चाह रखकर भगवानकी भक्ति करें तो वह सच बात नहीं है और न वहां पुण्यका बंध है। जिसको ऐसा ज्ञानप्रकाश नहीं मिला कि मेरेको जगतमें कुछ भी न चाहिए जो भी स्थिति मिली है मैं उसीमें गुजारा करुंगा। पर मेरेको आत्माका ज्ञान रहे, परमात्माका ध्यान रहे, बाकी तो जो भी स्थिति हो उसीमें गुजारा करेंगे यह मनुष्य, आज मनुष्यभवमें है मगर कभी कुत्ता, गधा, सूअर आदिक भी तो था। वहां कितने-कितने कष्ट सहे। आज कितनी भली स्थितिमें हैं। ऐसी स्थितिको पाकर अच्छे कर्म करें। अच्छे भाव रखें जिससे संसारका बंधन छूटे और मुक्ति प्राप्त हो। यही अपना भाव रखें क्योंकि थोड़े दिनोंका यह जीवन है। मरना नियमसे होगा। यहां का सब ठाठ यहीं पड़ा रह जायगा यहां का कुछ भी साथ नहीं देता क्योंकि वह मेरा कुछ है ही नहीं। मेरा क्या है? ज्ञान, दर्शन, आनन्द, यह मेरा स्वरूप है, सो मरने पर यह साथ जाता है। यही तो आत्मतत्त्व है, और जो मेरा नहीं है वह कभी मेरे साथ जा ही नहीं सकता। शरीर मेरा नहीं, धन मेरा नहीं, ये कुछ

भी नहीं जा सकते। तो अपनेको ऐसा प्रकाश लेना चाहिए कि हे प्रभो मैं ज्ञानमात्र हूं। ज्ञान सिवाय मेरा कोई स्वरूप नहीं है। इस ज्ञानमात्र मुझका दुनियामें कुछ भी पदार्थ नहीं। मुझे कुछ न चाहिए। मुझे ऐसा स्वरूप दर्शन चाहिए कि अपने आत्माके स्वरूपको लखता रहूं। केवल वही चाहिए।

आगमके मूल स्रोत आप्त जिनेन्द्रदेवकी कृतकृत्यता, सर्वज्ञता, अनादिमध्यान्तता व सर्वहितकारिता—आगमका मूल उपदेष्टा कैसा होता है? ··· कृतकृत्य, याने जिसको दुनियामें कुछ करने लायक नहीं रहा, उसीका ज्ञान स्थिर होगा, उसीका उपदेश प्रामाणिक होगा। जो कृतकृत्य नहीं है, जिसके चित्तमें अनेक काम करनेको पड़े हैं उसके चित्तमें व्यग्रता रहेगी। वह मूल उपदेष्टा नहीं हो सकता। तो प्रभु अरहंतदेव कृतकृत्य हैं। उनका ही उपदेश प्रामाणिक है। प्रभु सर्वज्ञ हैं। तीन लोक तीन कालके सर्व पदार्थों के जाननहार हैं, तब ही उनकी दिव्यध्वनिपूर्ण प्रामाणिक होती है, जो सबको नहीं जानता, कुछ ही जान पाता उसका उपदेश मूल प्रामाणिक नहीं है। जो आजकल कम जानने वाले लोग भी उपदेश करते हैं वह प्रमाणिक है तो वह उस उपदेशसे मिला हुआ है तो प्रामाणिक है, और यदि स्वतंत्र उपदेश है तो वह प्रामाणिक नहीं। तो प्रभु जो उपदेष्टा हैं आप्त हैं वे सर्वज्ञ हैं और अनादि मध्याः मायने अनादिकालसे चले आये हैं। कभी न थे, अब नये भये ऐसा नहीं। जिनेन्द्र भगवानकी परम्परा अनादिसे चली आयी है। ऐसे ये प्रभु जो आदि, मध्य अन्तसे रहित हैं वे उपदेष्टा होते हैं। और अंतिम विशेषण सार्व है याने सबका हितकारी है। भगवानका उपदेश सब जीवोंका हित करता है। जैसे बताया गया कि छहकायके जीवोंकी रक्षा करें मुनि, तो मुनिजन तो जीव रक्षा करके अपना भी उपकार करते हैं और दूसरोंका भी। पर जीवों की रक्षा करनेका भाव होनेसे उनकी खुदकी भी रक्षा हो गई। और कोई श्रावकजन हैं तो उनको राग है, उनको उपदेश है कि तुम अणुव्रत पालन करो। कोई महाव्रती हैं तो उनके लायक उनको उपदेश है कि महाव्रत धारण करो। तो सबके लिए उनका हितोपदेश है। ऐसे जो परम जिनेन्द्र तीर्थंकर देव हैं वे उपदेष्टा कहलाते हैं। तो जो अभी सम्यग्दर्शनके विषयमें बताया था—आप्त, आगम, मुनि, इनका सच्चा श्रद्धान हो, उनमें यह आप्तकी बात कही। आप्त, उपदेष्टा अरहंतदेव होते हैं जिनकी दिव्यध्वनि खिरती है।

अनात्यार्थं बिना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितं।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥ ८ ॥

आप्तदेवका रागके बिना प्राणिहितकारी सहज उपदेश—इससे पहले श्लोकमें तत्त्वके मूल उपदेष्टा आप्त भगवानके गुण बताये गये थे। अब यहां प्रभुकी निरपेक्षता बतला रहे हैं। प्रभु अपनी खुदगर्जीके लिए नहीं, अपनी किसी इच्छासे नहीं, किन्तु रागके बिना प्राणियोंके हितका उपदेश करते हैं। जैसे कि बजाने वालेके हाथसे छुवा हुआ मृदंग आवाज देता हुआ क्या किसीकी अपेक्षा करता है? नहीं, इसी तरह भव्य जीवोंके भाग्यसे वचन योगके प्रयोगसे उपदेश होता है। वे प्रभु किसीकी अपेक्षा नहीं करते। जितना यह धर्मोपदेश आज शास्त्रोंमें सो है तो अनेक आचार्योंका बनाया हुआ है लेकिन कपोल कल्पित नहीं है। जो ठीक अरहंतदेवकी दिव्यध्वनिसे चला आया हुआ है वही है। सो

उन मूल उपदेष्टा अरहंत भगवानकी बात कही जा रही है कि वह उपदेश अपने प्रयोजनके बिना देते हैं, रागके बिना देते हैं। तो वीतराग सर्वज्ञ हुए हैं, अब भव्य जीवोंका भाग्य ही उसमें प्रबल निमित्त है कि प्रभुका उपदेश होता है और लोग समझते हैं, सुनते हैं। इस उपदेशमें सर्वप्राणियोंके हितकी शिक्षा बसी हुई है। जैसे मेघ कुछ इच्छा नहीं रखते कि हम इस गाँवमें बरषे पर जहाँके नगरोंके लोगोंका पुण्योदय विशेष है वहां जाकर मेघ बरष जाते हैं। न लोगोंने मेघोंको बुलाया न मेघोंने किसी गाममें जानेकी इच्छा की, किन्तु ऐसा ही सुयोग है कि वर्षा वहाँ होती है जहाँके जीवोंको, पुण्यशालियोंको आवश्यकता है। याने सब पुण्यपापके योगसे होता है। कहीं तेज वर्षा हो गई तो वहांके लोगोंका पापका उदय समझिये पर भगवानकी दिव्यध्वनि खिरती है वह केवल हितका उपदेश करनेके लिए है।

दृष्टान्तपूर्वक प्रभुसे सहज उपदेश प्राप्त होनेका समर्थन—यहाँ दृष्टान्त दिया है कि जैसे मृदंग बजाने वालने हाथका प्रयोग किया याने निमित्त नैमित्तिक भाव बना, अब वहां जो मृदंगसे आवाज निकली है सो वह किसीकी अपेक्षा नहीं करती। वह उस मृदंगका ही स्वयंका परिणमन है। ऐसे ही प्रभु इच्छाके बिना धर्मोपदेश करते हैं। वह यद्यपि प्रभुदेहका ही परिणमन हो रहा है वचन वर्गणाका ही परिणमन हो रहा हैं मगर उसमें निमित्त पुण्यवान जीव हैं। जैसे आमके वृक्ष फलते हैं उन फलोंका उपयोग आम खुद करते हैं क्या? नहीं। फल तो रहते हैं दूसरोंके उपकारके लिए। नदियोंमें पानी बह रहा है तो क्या नदियाँ स्वयं उस जलको पीती हैं? नहीं, पर लोगों का उपकार हो रहा, ऐसे ही प्रभु जिनेन्द्रदेवका उपदेश होता है तो वहां कोई बाहरी प्रयोजन नहीं है, पर भव्य जीवोंके ही पुण्यके कारण उनका उपदेश हुआ करता है। तो यहां तक आप्तका स्वरूप बताया। आप्त मायने वीतराग सर्वज्ञ देव, जो कि दिव्यध्वनि करते हैं, धर्मोपदेश जिनका होता है वे कहलाते हैं आप्त। भगवान तो बहुत हैं मगर सभी भगवान आप्त नहीं कहे गए। सिद्ध भगवान उनसे कोई शास्त्रकी परिपाटी नहीं चलती, अरहंत भगवान की ही दिव्यध्वनि खिरती है इसलिए उनको आप्त कहा गया है। आप्तका सीधा अर्थ है—पहुंचा हुआ उस विषयमें व्यापक होना कहलाता है। सो जो रागद्वेष रहित है, सर्वका ज्ञाता है वह पुरुष सर्व उपदेशोंका मूल प्रणेता होता है।

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकं।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनं॥ ९॥

आगमकी आप्तोपज्ञता होनेसे प्रामाणिकता—पहले बतलाया था कि आप्त, आगम और तपस्वी इनका यथार्थ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। तो उनमेंसे आप्तका तो वर्णन किया, अब इस श्लोकमें आगमका वर्णन कर रहे हैं। आगम, शास्त्र ये सब पर्यायवाची शब्द हैं, शास्त्र कौनसा उत्तम है? हितवादी। तो उसका विशेषण इस श्लोकमें दिया है कि पहले तो वह शास्त्र आप्तके द्वारा कहा हुआ होना चाहिए। मूल अधिकारी आप्त कहलाता है, उनका कहा हुआ है यह सब धर्मोपदेश। देखिये कैसा विचित्र काम है, आश्चर्यजनक काम है कि भगवान रागद्वेष रहित हो गए और उसके फलमें सर्वके मात्र ज्ञाता दृष्टा बने हुए हैं। उनका सर्वांगसे दिव्योपदेश होता है। वह कैसे नहीं प्रामाणिक हैं? तो प्रथम

तो वह सर्वज्ञ वीतराग देवका कहा हुआ होना चाहिए। जैसे इसके बाद दूसरेने सुना, दूसरेसे तीसरेने सुना, और सैकड़ों लोगोंमें वह बात फैल जाय तो भी जिज्ञासा यह रहती है कि यह बात मूल में किसने कहा? यदि वह प्रामाणिक पुरुष हैं तो सर्व लोग उस वाणीका विश्वास कर लेते हैं बिना ही परीक्षा किए कि यह सही है। और परीक्षा करने पर तो सही उतरती ही है। तो शास्त्र है आप्तके द्वारा कहा गया।

आगमकी अनुल्लङ्घ्यता—दूसरा विशेषण है शास्त्रका कि जिसके सिद्धान्तका कोई उल्लंघन न कर सके। कोई भी उसका खण्डन न कर सके, ऐसा निर्दोष वचन है आप्तके द्वारा कहा गया। हम आप आजकल सुन रहे हैं पर जिस जमानेमें आप्त सर्वज्ञ बने हुए थे उनकी दिव्यध्वनि खिरती थी, लोग उसे सुनकर धर्मलाभ लेते थे। वह तो बड़ा ही अद्भुत वातावरण था, प्रभुकी वाणी किसीके द्वारा खण्डित नहीं की जा सकती। प्रभुकी वाणी याने शास्त्र आगम और प्रत्यक्षसे बाधारहित हे। न तो उस कथनमें आगमसे बाधा आती और न अनुभव प्रत्यक्षसे बाधा आती। जैसे प्रभुने बताया कि जो भी जगतमें सत् है। जो भी वस्तु है वह प्रतिक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्यमय है। उत्पाद मायने उत्पन्न होना, व्यय मायने नष्ट होना और ध्रौव्य मायने बना रहना, सो देख लो प्रत्येक पदार्थ बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है। आत्मा पर भी घटा लो यह मैं आत्मा बनता हूं, बिगड़ता हूं और बना रहता हूं। जो नई पर्याय पायी वह तो इसका बनना कहलाया और जो पुरानी पर्याय विलीन हुई वह इसका व्यय कहलाया, पर मूलभूत पदार्थ वह है ही जिसमें इतना अवसर आया। तो यह शास्त्र अनुलंघ्य है किसीके द्वारा उल्लंघनमें नहीं आ सकता।

आगमकी अदृष्टेष्टविरोधकता, तत्त्वोपदेशकारिता—परमार्थप्रतिपादक आगममें प्रत्यक्ष अनुमानसे विरोध नहीं है। ऐसा यह शास्त्र तत्त्वका उपदेश देने वाला है। शास्त्र किसलिए है कि उनके अध्ययनसे, मननसे ऐसा ज्ञानप्रकाश जगे कि जिसमें ज्ञान ही ज्ञान समाया हो, रागद्वेषकी कालिमा न सुहायी हो तो अविरुद्ध वचन हैं, तत्त्वका उपदेश करनेवाला हैं। आत्माको मुक्ति कैसे मिलती है? आत्माका सही स्वरूप श्रद्धानमें लायें, ज्ञानमें लायें। और उस ही के अनुरूप अपना आचरण बनायें तो यह है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। प्रभुकी वाणीमें अनुयोग तो अनेक हैं पर संक्षेप करिये तो जो दूसरोंको बाधा करने वाले न हों वे वचन सत्य वचन हैं। आगमवचन तत्त्वका उपदेश करने वाले हैं और खोटे मार्गका विनाश करने वाले हैं। यदि शास्त्र स्वाध्याय न हो, ज्ञानकी बात चित्तमें न आये तब यह जीव न जाने कैसे मार्गको अपना लेगा कि वह अपना बुरा करेगा। तो जो शास्त्र है वह शास्त्र है वह तत्त्वका उपदेश करने वाला है।

आगमकी सर्वहितकारिता—आगम सार्व मायने सबके लिए हितकारी है। आज सम्प्रदाय अनेक हैं और सभी सम्प्रदायोंके कुछ सिद्धान्त हैं मगर उनके मूल प्रणेता रागी द्वेषी न हों और अपनी यशकीर्तिके लोलुपी न हों तो उनके वचन सत्य हों अन्यथा सब एकान्त रूप निकलेंगे। स्याद्वाद शासनमें द्रव्य और पर्याय दो की दृष्टि चलती है। जो सदा रहे सो द्रव्य। जो क्षण-क्षणमें नई घटना हो सो पर्याय। दो की दृष्टि चलती हैं जो सदा रहे सो द्रव्य, जो क्षण-क्षणमें नई घटनायें हों सो पर्याय तो जब दो दृष्टियां हैं, पदार्थमें दो बातें हैं तो द्रव्य दृष्टिसे पदार्थ को नित्य कहा जायगा और पर्यायदृष्टिसे पदार्थको आत्माको

अनित्य कह दिया जायगा। जब पर्यायकी दृष्टि रखते हैं तो अनित्य और जब द्रव्यकी दृष्टि रखते हैं तो नित्य। जैसे एक आदमी ६०-७० वर्षका है। बताओ वह वही है या कुछ नया नया बन गया? वह तो वही एक आदमी है, पर उसके जितने भाव बनते, जितनी लीलायें करते वे उनसे अनेक तरहका भी आत्मा बन गया। तो ऐसे ही आत्मद्रव्य वह एक रूप है और आत्मामें जो प्रवृतियां हैं वे अनेक बन जाती हैं। तो तत्त्वका उपदेश भरा हुआ है जैन सिद्धान्तमें मनोविनोदके लिए या फाल्तू बातके लिए जैन शासनमें कुछ कहा नहीं गया। ऐसा सब जीवोंका हित करने वाला शास्त्र है।

आगमकी कापथपरिहारकता—आगम खोटे मार्गका खण्डन करने वाला है। जो उपदेशका मूल प्रणेता है उसकी मुद्रा, उसका आचरण उसका ज्ञान उत्कृष्ट होना ही चाहिए। नहीं तो उसके उपयोगमें प्रमाणता न रहेगी। जो पुरुष दोषवान हो उसके वचनोंमें प्रामाणिकता नहीं आती। भले ही वह ठीक बोले मगर स्वयं ही जब वह उस उपदेशसे दूर है तो उपदेशमें प्रामाणिकता कहाँ से आयेगी? सो देख लो आप्त भगवान कुछ भी जिनके परिग्रह नहीं है, जो समवशरण आदिक विभूति रचते हैं तो वे देव और देवेन्द्र अपनी भक्तिसे रचा करते हैं, पर प्रभु का उसमें कुछ लगाव नहीं है। जबकि अनेक विडम्बनायें पायी जाती हैं अन्य दार्शनिकोंके मूल गुरु या देवताओंके। कोई चूहेकी सवारी करता फिर भी भगवान कहलाता, कोई शेरकी सवारी करता है फिर भी वह भगवती कहलाता। न जाने कैसे-कैसे रूपक हैं। जिनका दर्शन करते ही लोग उन्हें शुद्ध समझ लेते हैं और उनकी भक्तिमें रहते हैं। अरे प्रभुके तो केवल शरीरमात्र रह गया, न वहाँ कपड़े हैं, न सवारी, न अनेक तरहके भोजन हैं, न कोई वाहन, न त्रिशूल, न स्त्री पुत्रादिक। उनके तो केवल दिव्यदेह है। उनके मुखसे, उनके सर्वांगसे निकला हुआ दिव्यध्वनिरूप उपदेश पूर्ण प्रामाणिक है और उसी परम्परासे आज ये शास्त्र चले आये है।

आगमकी प्रामाणिकताकी अनुभवसिद्धता—शास्त्र प्रामाणिक हैं यह बात इस तरह भी जानी जाती कि उसमें जो कुछ लिखा है वह अपने अनुभवमें सत्य उतरा है। कोईसा भी विषय ले लो। जैसे दार्शनिक लोग पदार्थ कितने ही प्रकारके मानते हैं, जैनी भी मानते, पर अन्यके द्वारा बताये गए पदार्थमें प्रकार यों उचित ठीक नहीं पड़ते कि कुछ तो दुबारा कह दिए गए, कुछ कहे ही नहीं गए। जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आत्मा, मन। दिशा आदिक बोलते हैं तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये सब पुनरुक्त हो गए, ये भिन्न-भिन्न चीज नहीं हैं। एक पुद्गलकी ही जातियाँ हैं, चारोंके चारों पुद्गल हैं। अगर ये भिन्न-भिन्न द्रव्य होते तो कभी भी एक दूसरे रूप न बदल सकते थे। यह द्रव्यकी पहिचान है। पृथ्वी कभी जल बन जाती तो। चंद्रकांति मणि भी तो चंद्रका सामना पाकर पिघल जाती है। पिपरमेन्ट, कपूर और अजवाइनका फूल है तो ये सब पिण्डरूप, पृथ्वीरूप, और इन तीनोंको इकट्ठा कर दिया जाय शीशीमें तो जल रूप बन जाता है। अगर ये द्रव्य मूलतः अलग-अलग होते तो एक दूसरे रूप कभी न बन सकते। जैसे जीव और पुद्गल ये अलग-अलग पदार्थ हैं तो जीव कभी पुद्गल न बन सकेगा, पुद्गल कभी जीव न बन सकेगा। जो ६ प्रकारके द्रव्य जैन शासनमें कहे उनमें कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य रूप तीन कालमें नहीं बन सकता। जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य, इनमेंसे कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यरूप बन सकते हैं क्या? नहीं बनते। और इन छहोंके अलावा कोई द्रव्य

तो नहीं कि जो छूट गया हो, इसलिए जैन शासनमें जो ६ प्रकार बताये हैं पदार्थ के, वे बिल्कुल संगत है। पर अन्यत्र जो पदार्थके प्रकार बताये सो कुछ तो दुहरा दिया और कुछ छूट गए। धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्यकी कोई चर्चा ही नहीं जानते। जो गमनमें हेतु है वह धर्मद्रव्य है। जो स्थितिमें कारण है वह अधर्मद्रव्य है। इसकी तो कहीं चर्चा भी नहीं होती। तो जैन शासनमें जो कुछ ऐसा कहा गया है वह सिस्टेमेटिक और प्रामाणिक है।

वीतराग सर्वज्ञदेवके ही आगमप्रणेतृत्वकी संभवता—यहां यह बतला रहे हैं कि शास्त्रके मूलतः प्रणेता वीतराग सर्वज्ञ होना चाहिए। जिसके चारित्रमें रागकी घटना पायी जाती है और कभीसे ही किसी भी श्रृङ्गारदशामें वे भगवान कहे गए तो जो रागी हो उसके वचनोंमें प्रामाणिकता कैसे हो? जैन शासनमें तो तीर्थंकर या अन्य कोई जो भगवान बने हैं सो केवल ज्ञान होने पर ही उन्हें भगवान कहा गया है। उससे पहले नहीं। २४ तीर्थंकर हुए मगर वे जन्मसे भगवान नहीं हुए, उनकी दीक्षा होगी, मुनि होंगे, फिर तपश्चरण होगा, केवल ज्ञान होगा तब प्रभु कहलायेंगे। सो अनेक तीर्थंकरोंने विवाह भी किया मगर उस समय तो वे भगवान न थे। जब सबका त्याग किया, आत्मस्वरूपमें रमण किया तब वे भगवान कहलाये। सो जो सर्वज्ञ न हो वह सही बात कैसे बता सकता? जो वीतराग न हो वह सब बात सही कैसे बता देगा? तो आगमका मूल प्रणेता वही है जो वीतराग है और सर्वज्ञ है।

आगमकी हेयापादेय विवेक सम्पादकता—शास्त्र आप्तोपज्ञ हैं जिनमें न प्रत्यक्षसे बाधा है न अनुमान से। वे शास्त्र हैं, उनके अनुसार चलना, उसमें लिखे हुए तत्त्वका विनय करना यह मोक्षमार्गमें चलना है। आगम वही है जिसमें सर्व तत्त्वोंका ठीक निर्णय मिले। हेय क्या, उपादेय क्या, छोड़ने योग्य क्या चीज है और ग्रहण करने योग्य क्या चीज है? छोड़ने योग्य तो वह है जो मेरे स्वरूपमें नहीं, स्वभावमें नहीं। जैसे बाहर पड़ा हुआ धन वैभव दौलत यह सब हेय है कर्म विपाकका जो प्रतिफलन है वह सब हेय है। जिसने यह जान लिया कि यह परद्रव्य है यह परभाव है, इससे मेरे आत्माका कुछ भी सम्बंध नहीं है तो उसने तो छोड़ दिया जो छोड़नेका था, और ग्रहण कर लिया जो ग्रहण करने योग्य था। यह मोही जीव धन वैभव बंधु पुत्रादिक सब कुछ छोड़ सकता है, किन्तु अपने यशकी वाञ्छा नहीं छोड़ पाता। कैसा है प्रबल उपसर्ग इस जीवपर कि अपना सब कुछ छोड़ सकता है पर अपने यशकी इच्छा नहीं छोड़ पाता। और जो यश चाहता है समझिये कि उसे आत्म तत्त्वको पहिचान ही नहीं। किसका यश चाहते? सो जो आत्माका परिचय कर लेने वाला है उसको यशको चाह नहीं होती। अरे किनमें यश चाहते? जगतमें जितना जो कुछ दिखता है वह सब मायास्वरूप है। माया किसे कहते हैं? अनेक पदार्थोंका मिलकर रूप बना उसका नाम माया है। बतलावो जो कुछ दिख रहा है इसमें कोई चीज सत्य भी है क्या? परमार्थ भी है क्या? इसमें कोई भी परमार्थ नहीं है। जो कुछ आंखों दिख रहा है, जो कुछ सबके प्रयोगमें आ रहा है वह मिथ्या है, परमार्थ नहीं, मायारूप है। तो अज्ञानीजन मायामें ही तो सिर भिड़ा रहे हैं।

आगमोपदेशका मुख्य प्रयोजन मोहापहरण—मेरा अणुमात्र भी किसी परपदार्थसे परमार्थतः कुछ सम्बंध नहीं है, यह बात आगमने ही तो बताया। जाना हमने अपने अनुभवसे किन्तु यह सब प्रकट

हुआ है शास्त्रसे। उससे ही हमने द्रव्य गुण पर्यायकी बात सीखी। उससे ही हमने स्वरूपास्तित्वका बोध किया और उसके ही प्रतापसे मोह दूर हुआ। सर्वउपदेशोंका सार यह है कि मोहको दूर करें। जब तक मोह लगा है तब तक कष्ट ही कष्ट है। राग और प्रीति नहीं छूटती है तो न छूटे, फिर छूट जावेगी किन्तु मोह तो पूर्णतया छोड़ देना चाहिए। मोहमें यह भाव रहता है कि यह मेरा ही है, इससे ही मेरी जिन्दगी है, इससे ही मेरा महत्त्व है, इसके बिना मेरा अस्तित्व ही न रहेगा, ऐसा पर पदार्थोंमें मोह होना यह जीवके लिए कष्टदायी है। सो मोह न हो उस शिक्षाको कहते हैं वास्तविक शिक्षा। किसीसे कहा जाय कि मोह न करो तो ऐसा कहने मात्रसे उसका मोह न छूटेगा। और जब यह जान जायेगा कि प्रत्येक वस्तु जो दिखती है वह मायारूप है और मुझसे अत्यन्त भिन्न है, सारहीन है, उसका मोह छूट जायगा। तो जैसे मोह मिटे वैसा उपदेश सुनना, उसे अनुसार चलना ये सब बातें इस जीवके लिए लाभदायक हैं।

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतापोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥ १०॥

तपस्वियोंकी अनिवार्यरूपसे विषयवशातीतता—इस ग्रन्थमें सबसे पहले यह बताया था कि मैं उस सही धर्मकावर्णन करुंगा जिस धर्मके धारण करनेसे जीव संसारके दुःखोंसे छूटकर उत्तम सुखमें पहुंचता है। वह धर्म क्या है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। उसमें सम्यग्दर्शनके स्वरूपमें कहा था कि परमार्थभूत आप्त, आगम और तपस्वीका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यद्यपि सम्यग्दर्शनके लक्षण अनेक किए हैं मगर सूक्ष्मता से विचार करें तो सब एक जगह ही बात है। तो आप्त और आगमका वर्णन तो किया जा चुका है, आज तपस्वीका वर्णन किया जा रहा है। तपस्वी किसे कहते हैं? जो विषयोंकी आशाके आधीन न हो वह होता है तपस्वी। और भी लक्षण बताये जायेंगे, पर यहां पहले ही विचार करें कि जो गुरु स्वयं विषयोंकी आशाके आधीन हैं, खानेके लालची हैं, अनेक स्वादके वशीभूत है। कर्णेन्द्रियके वशीभूत हैं, जो यश, कीर्ति सुनना चाहते, जो अभिमानी होते, अन्य अन्य विषयोंमें जिनके राग जाता हो वे विषयोंके छोड़नेका कैसे सही उपदेश कर सकते हैं? इससे पहली बात गुरुमें यह होनी चाहिए कि वह विषयोंके आधीन न हो। महिलायें लोग एक भजन गाती हैं ना—"हम तो हैं उन चरनन्में दास जिन्होंने मन मार लिया।" जिन्होंने इन्द्रिय और मनको काबू किया वे पुरुष गुरु कहलाने योग्य हैं, क्योंकि विषयोंका लम्पटी दूसरोंको विषयोंसे छुटाकर वीतराग मार्गमें नहीं लगा सकता।

विषयाशावशातीत पुरुषके सत्संगसे अन्यके विषयनिवृत्तिकी संभवता—एक छोटासा दृष्टान्त है कि किसी बुढ़िया मां का छोटा बेटा गुड़ बहुत खाता था। उस गुड़के खानेसे उसके शरीरमें कोई मर्ज भी बन गया था, सो बुढ़िया मां किसी संन्यासीके पास पहुंची और बोली—महाराज आप मेरे बेटेका गुड़ खाना छुटवा दीजिए। अब वह संन्यासी स्वयं गुड़ खाता था सो दूसरेसे कैसे गुड़ छुटवा सके, सो बोला—अच्छा तुम आजसे १५ दिन बाद मेरे पास लाना, तन छुटवा दूंगा। इधर उस संन्यासी

ने पहले स्वयं गुड़ खाना छोड़ा और बराबर १५ दिन तक गुड़ न खानेका अभ्यास किया। १५ दिन बाद जब बुढ़िया अपने बेटेको लेकर आयी संन्यासीके पास और गुड़ छुड़वाने को कहा तो संन्यासी बोला उस बालकसे बेटे गुड़ खाना छोड़ दो, यह बड़ा हानिकारक है। वहां उस बुढ़िया ने संन्यासीसे पूछा—अरे यही बात तो आप आजसे १५ दिन पहले भी कह सकते थे, १५ दिन बाद क्यों कहा? तो संन्यासी बोला—बुढ़िया मां जब मैं स्वयं गुड़ खाता था तो दूसरेको गुड़ न खानेका उपदेश कैसे दे सकता था? जब मैंने १५ दिन तक गुड़ न खाने का अभ्यास कर लिया तब इस बालकको गुड़ न खानेका उपदेश दिया। तो इससे यह समझना कि जो स्वयं रागी द्वेषी मोही है, मलिन है, संसारी प्राणी है वह गुरु कैसे कहा जा सकता? जो विषयों का अनुरागी है उसे प्रथम तो आत्मज्ञान ही नहीं है, बहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टि है, वह गुरु कैसे कहा जा सकता। कोई पदवी तो गुरुकी ले ले, भेष तो गुरुका धारण करले और स्वयं विषयोंका लम्पटी हो तो उसको आत्मज्ञान नहीं है। गृहस्थीमें कोई रह रहा है और कभी विषयोंको भोग भी करता है उसके तो सम्यक्त्व भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसको बहुत तीव्र राग लगा है तब ही तो वह विषयोंकी लालसा रखता हो तो उसको सम्यक्त्व भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसको बहुत तीव्र राग लगा है तब ही तो वह विषयोंमें आसक्त बना। तो जो स्वयं आत्मज्ञानसे रहित है बहिरात्मा है वह गुरु कैसे हो सकता है? पहली बात कह रहे हैं कि तपस्वी गुरु वही है जो विषयोंके आधीन न हो।

तपस्वीकी अनिवार्य निरारम्भता—दूसरा विशेषण है तपस्वीका आरम्भरहित होना। त्रस स्थावर जीवोंके घातका अगर आरम्भ है तो उसके पापका ही बंध होगा। सो जो पापी पुरुष है आरम्भ करने वाला है वह गुरु कैसे हो सकता है? जैसे अनेक संन्यासी जन अपना बगीचा रखते हैं, खेती-बाड़ी देखते हैं और भेष रख लेते हैं कोई लंगोट पहननेका, भस्म रमानेका और सारा आरम्भ कर रहे हैं तो आरम्भका पाप उनको बराबर लग रहा है। वहाँ गुरुपना थोड़ा बहुत लौकिक हिसाबसे भी कैसे सम्भव है? फिर जो निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष धारण करले और किसी बाह्य आरम्भमें लग जाय तो वह तपस्वी नहीं, गुरु नहीं। तो जो निरारम्भ है वह ही तपस्वी हो सकता है। निरारम्भ पुरुषको न पहले चिन्ता न बादमें चिन्ता, न किसी तरहका उस कार्यका विकल्प है, अतएव वह आत्मध्यानमें भली भांति लग सकता है। तो तपस्वी निरारम्भ होता है।

तपस्वीकी अनिवार्य निष्परिग्रहता—तीसरा विशेषण है तपस्वीका कि वह अपरिग्रही हो, याने परिग्रहरहित हो। परिग्रह अंतरंग तो १४ प्रकारके हैं और बहिरङ्ग १० प्रकारके हैं। सो इन परिग्रहोंसे जो सहित हो वह गुरु कैसे हो सकता है? जो स्वयं परिग्रही है वह आप ही संसारमें फंस रहा है, वह अन्य पुरुषोंका उद्धारक, गुरु, तपस्वी कैसे हो सकता है? अंतरंग परिग्रह कौनसे होते हैं? जो जीवके भावरूप हैं, विकार हैं, विभाव हैं उनको जो लपेटता है उनसे लगाव रखता है, उनको आत्मस्वरूप मानता है वह भी तो परिग्रह हुआ। अन्तरंग परिग्रह हुआ। अन्तरंग परिग्रह १४ प्रकारके हैं—(१) मिथ्यात्व (२) वेद (३) राग (४) द्वेष (५) हास्य (६) भय (७) रति (८) अरति (९) जुगुप्सा (११) क्रोध (१२) मान (१३) माया (१४) लोभ। ये परिग्रह कैसे हैं सो सुनो।

मिथ्यात्व परिग्रहकी स्वभावविघातकता—(१) मिथ्यात्वपरिग्रह—इस समय जो प्राणियोंकी स्थिति है, शरीर सहित हैं तो शरीर तो एक पिण्डरूप है, अचेतन है, पौद्गलिक है, वह जाननहार नहीं है, और जो जाननहार तत्त्व है वह अमूर्त है, इस शरीरसे बिल्कुल निराला है। वहाँ इस शरीरको अपनाना कि यह मैं हूं और इस शरीरके पुष्ट रखनेका ही ध्यान रखना ऐसे विकल्पोंका नाम मिथ्यात्व परिग्रह है। कभी-कभी यह जीव इन बातोंको सुन लेता है, कह लेता है कि शरीरका यह रूप है पौद्गलिक है, इस शरीरके आधार ही तो अनेक प्रकारकी घटनायें होती हैं। जाति कुल मानना, किस पदमें रह रहे, क्या पोजीशन है, राज्य, धन वैभव, इज्जत, प्रतिष्ठा आदिकी सारी बातें इस शरीरके आधारसे ही तो बन रही हैं। ऐसी ये सब शरीर की रचनायें हैं जोकि कर्मों के उदयसे प्राप्त हैं। इस जीवके मिथ्यात्वकर्मका ऐसा उदय चल रहा है कि शरीरके नाशको अपना नाश मानता है। देखो धीरता स्थिरताकी यह बात है कि इसके मिथ्यात्व है तो इसको शरीरके छूटते समय एक सूझा पहुंचता है, साथ ही शरीरके नष्ट होने पर बताओ अपना नाश मानता कि नहीं? जब कोई विपत्ति आती है, शारीरिक रोग आता है या कोई मरणकी बात उपस्थित होती है तो बताओ यह मिथ्यादृष्टि जीव घबड़ाता है कि नहीं? घबड़ाता है मगर सम्यग्दृष्टि जीव न घबड़ायगा। उस सम्यग्दृष्टि जीवको अपने आत्मा पर श्रद्धान है कि यह मैं पूराका पूरा हूं। यहां हूं तो पूरा हूं, शरीरको छोड़कर जाऊंगा तो पूरा ही रहूंगा। मैं सर्वत्र पूरा हूं मेरा कुछ गिरता नहीं है। मरणके मायने शरीरका वियोग होना, इतना ही तो अर्थ है, पर मैं आत्मा गुणोंमें परिपूर्ण हूं। जो मेरा स्वरूप है वह अधूरा नहीं हैं। जाऊंगा तो पूरा का पूरा रहूंगा तो पूरा का पूरा। तो शरीर के नाश होनेसे अपना नाश मानना यह शरीरमें आपा माननेका ही तो परिचय है। शरीर निर्बल हो जाय तो अपने आत्माको निर्बल समझा यह शरीरमें आत्मीयताकी बुद्धि रखनेके संस्कार लगे हैं इसके सम्यत्व कहांसे होगा? वह तो ज्ञानी भी नहीं है फिर वह गुरु कैसे हो सकता है? शरीर अगर पुष्ट हो गया तो यह मानना कि मैं आत्मा पुष्ट हो गया हूं, या इस शरीरको ही निरखकर अपनेको उच्च अथवा नीच मानना ये सब देहात्मबुद्धिकी बातें हैं। जो खुद नहीं है, पररूप है, उसको अपना मानना यह मिथ्यात्व है कितने ही पुरुष तो ऐसे भी होते कि जो वचनोंसे तो कह देंगे कि ये सब परपदार्थ हैं, परवस्तु हैं लेकिन भीतरसे ऐसा लगाव रखे रहते हैं कि उन पर पदार्थोंके संयोग एवं वियोगमें भारी हर्ष विषाद मानते हैं। तो भीतरमें जिसके इस प्रकारका आशय पड़ा है उसके मिथ्यात्व नामका परिग्रह है, और जिसके मिथ्यात्वपरिग्रह लगा है वह गुरु नहीं हो सकता।

वेद रागद्वेष परिग्रहकी स्वभावविघातकता—(२) दूसरा परिग्रह है वेद। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, इनमें कामवासनाका भाव रखना यह वेद परिग्रह है। वेदरसानुभवमें आत्मस्वभावकी सुध नहीं रहती। (३) तीसरा अंतरंग परिग्रह है राग। पर द्रव्य शरीर, धन, स्त्री पुत्रादिक सम्बंधी समस्त परपदार्थोंमें अनुरक्त होना, उससे अपना महत्त्व मानना यह राग परिग्रह कहलता है। जिसके परपदार्थोंमें राग लगा है वह गुरु कैसे हो सकता है? (४) चौथा परिग्रह है द्वेष। दूसरोंका ऐश्वर्य देखकर उससे द्वेष हो जाना। हांलाकि उससे अपना बिगाड़ क्या होता, क्यों अपना अपमान महसूस कर रहा? तो बात यह है कि वह अपने ऐश्वर्यका बड़ा रागी है। वह अपना बड़ा ऐश्वर्य चाहता है पर मिला न हो, मिल

गया हो वह ऐश्वर्य किसी दूसरेको तो उस दूसरेसे इसे द्वेष बन जाता। इसी तरह दूसरेकी जवानी तथा धन सम्पत्ति देखकर उससे बैर रखना द्वेष है। जैसे कोई धनिक वृद्ध हो गया, रोगी भी है तो वह दूसरोंको खूब मौजसे खाते पीते रहते देखकर उनसे ईर्ष्या करता है तो यह उसका द्वेषपरिग्रह है। ऐसे ही किसीका भारी यश बढ़ रहा हो उसके प्रति द्वेष हो जाना यह द्वेष परिग्रह है। जिसके द्वेषपरिग्रह लगा है वह गुरु कैसे कहला सकेगा?

हास्य भय-रति अरति परिग्रहकी स्वभावविघातकता—(५) पांचवां अंतरंग परिग्रह है हास्य। हंसनेका परिणाम बनाना, विनोदकी प्रकृति बनाना, किसी भी घटनामें हंसना, ऐसा परिणाम जिसके हो रहा हो तो उसका उपयोग किस तरफ है? परद्रव्योंकी ओर। स्वयंके आत्मस्वरूपकी ओर नहीं। तो जिसके ऐसा हास्य परिग्रह लग रहा वह गुरु कैसे? (६) छठा अंतरंग परिग्रह है भय। अपना मरण होनका भय होना वियोगका भय लगा है, मैं मर जाऊंगा · · ; मरणके समयमें जो वेदना होती है उसका डर लगना यह सब भय परिग्रह है। भयपरिग्रहमें उपयोग अन्तस्तत्त्वकी ओर नहीं रहा। (७) सातवां अन्तरंग परिग्रह है रतिपरिग्रह जो पदार्थ अपने रागके कारणभूत हों याने राग कराने वाले पदार्थ उनमें आसक्तिसे लीन होना, रत हो जाना यह रति परिग्रह है। जिनके ऐसा रतिभाव है पर पदार्थोंमे उनमें गुरूपना कैसे सम्भव है? (८) आठवां अन्तरंग परिग्रह है अरति परिग्रह यह परिग्रह भी आत्मविमुख कर देता है जो वस्तु अपनेको अनिष्ट लगती हो, उसमें परिणाम न लगता हो, चित न लगता है और उसके प्रति ग्लानि बन जाय तो वह अरति परिग्रह है।

शोक जुगुप्सा परिग्रहकी स्वभावविघातकता—(९) नवमा परिग्रह है शोक परिग्रह। किसी इष्ट पुरुष या इष्ट वस्तुका वियोग हो जाय तो वह शोक परिग्रह है। देखिये जीवनमें सबको कुछ न कुछ वियोगकी घटनायें आती हैं, कहीं कोई गुजर गया, कहीं कोई चीज गुम गई, कहीं कुछसे कुछ घटना घट गई, ये बातें सब पर आती हैं तो फिर संसारमें सुखकी बात रही क्या? इन दुःखोंसे घबड़ाना नहीं इसके लिए चाहिए प्रभुकी आराधना, आत्माराधना। अपनेमें ऐसा भाव बने कि हे प्रभो मेरेमें वह बल प्रकट हो जिससे सर्व व्याधियोंको मैं समतासे सह सकूं। यदि कोई ऐसा मांगे या सोचे कि हे भगवान मुझको कोई कष्ट न आये तो यह बात बन नहीं सकती, क्योंकि संसार तो कष्ट रूप ही है, किसीको कुछ कष्ट है किसीको कुछ। तो मेरेको कोई कष्ट न आये, मैं सुखमें रहूं ऐसी अभिलाषा करना बिल्कुल बेकार है, क्योंकि ये अपने आधीन नहीं है, ये सब बातें आयेंगी। अपनी ऐसी भावना रहे कि हे प्रभो मुझमें ऐसा ज्ञान प्रकाश रहे कि मैं अपने ज्ञानको बड़ी सावधानीसे सम्हाले रहूं। कितनी ही व्याधियां आयें पर मैं उन्हें समतासे सहलूं। क्या है वे सब बाह्यपरिणतियां हैं। तो मैं सब स्थितियोंमें धीर रह सकूं यह अभिलाषा करना तो ठीक है पर यह अभिलाषा करना ठीक नहीं कि मेरेको कष्ट न आये। अरे यह संसार तो कष्टोंसे ही भरा हुआ है। सबको ये कष्ट भोगने पड़ते हैं। हां यह बात है कि जो ज्ञानीजन हैं वे इन कष्टोंको समतासे झेलते हैं और जो अज्ञानीजन हैं वे उन दुःखोंसे घबड़ाकर निरन्तर बेचैन रहा करते हैं ऐसी उनकी स्थिति होती है। तो यह शोक नामका परिग्रह जहां लगा है वो तपस्वी नहीं कहला सकते। (१०) दसवां परिग्रह है जुगुप्सा—बाह्य पदार्थोंको देखकर उनके प्रति ग्लानि होना,

बुरा लगना यह जुगुप्सा परिग्रह है। इसमें यह भी बात शामिल है कि दूसरोंका पुण्योदय है सो वे भली प्रकार रह रहे हैं, अब उनको सुखी देखकर खुदको सुहाये नहीं तो यह जुगुप्सा परिग्रह कहलाता है। जिसके जुगुप्सा है उसके गुरुपना कैसे सम्भव हो सकता है।

क्रोध मान माया लोभ परिग्रहकी स्वभावविघातकता—(११) ग्यारहवां अंतरंग परिग्रह है क्रोध। रोषका परिणाम होना, गुस्साका परिणाम होना यह क्रोध परिग्रह हैं कितने ही लोग तो इस क्रोध भावको अपनाये रहते हैं। मानलो किसी प्रतिकूल घटनाको देखकर क्रोध आ गया तो उस क्रोधको कम नहीं करना चाहते बल्कि कम होने लगे तो और भी क्रोधको बढ़ाना चाहते, इसलिए कि कहीं क्रोध कम हो गया तो फिर मैं इससे बदला कैसे चुका सकूंगा? तो भला बताओ जो क्रोधमें लीन हैं वे तपश्चरण कैसे कर सकते हैं? (१२) बारहवां अंतरंग परिग्रह है मानपरिग्रह याने घमंड होना। घमंडका जीतना बड़ा कठिन है और खासकर मनुष्योंमें मानकषायकी प्रधानता है। यद्यपि घमंड चारों गतियोंके जीवोंमें होता किन्तु विशिष्ट घमंड मनुष्यगतिमें कहा गया है। नरकगतिमें क्रोध मुख्य है, तिर्यञ्च गतिमें माया मुख्य है, देवगतिमें लोभ मुख्य है और मनुष्यगतिमें मान मुख्य है। देखिये कैसी विचित्र बात है कि इन देवोंको जरुरत कुछ नहीं है धनकी, क्योंकि उन्हें खाने पीने आदिके कोई रोग नहीं सताते, फिर भी तृष्णावश वे निरन्तर धन वैभवके पीछे दुःखी रहा करते हैं, ऐसे ही मनुष्यभवमें देख लो, मान कषायकी आदत बनी रहती है। कोई अच्छी जातिका है, कुल अच्छा मिला है तो उसका ही घमंड हो जाता कि मैं अच्छे कुलका हूं, बाकी ये सब लोग तो नीच कुलके हैं। अरे कल्याण चाहने वाले पुरुषोंको तो सभी जीवोंके अन्दर ज्ञानस्वभावको निरखना चाहिए। और पर्यायमें जो कुछ उसकी त्रुटि हो रही है वह गौण हो जाती है, मुख्यता रहती है चैतन्य स्वभावकी दृष्टि रखनेमें। मैं उच्च कुलका हूं, ये नीच कुलके ऐसी प्रधानता ज्ञानी पुरुष नहीं रखता, बल्कि कोई नीच कुलमें जन्मा हो तो उस आत्माके स्वभावपर दृष्टि रखकर यह विचारता कि यह तो है बेचारा स्वरूपदृष्टिसे भगवत स्वरूप मगर कर्मोदयकी विचित्रता देखिये कि आज यह इतनी नीच स्थितिमें है अब भला बताओ जहां मान परिग्रह है वहां तपश्चरण कैसे किया जा सकता? किसीको मान लो बड़ा सुन्दर रूप मिल गया तो वह अपनी सुन्दरताका बड़ा अहंकार करता? अरे क्या है यह सुन्दरता? जरा इस पतली चामके अन्दरकी चीजोंका तो ध्यान करो, खून, मांस, मज्जा आदि महा अपवित्र चीजें हैं, इस रूप सौन्दर्य का क्या घमंड करना? ऐसी ही बात सब प्रकारके घमंडोंके प्रति समझो। तो जहां मान कषाय है वह तपस्वी कैसे? (१३) तेरहवां अंतरंग परिग्रह है माया परिग्रह। जरा जरासी बातमें मायाचारी करना यह माया परिग्रह है। मायाचारी पुरुष तपस्वी कैसे कहा जा सकता? उसका तो चित्त ठिकाने ही न रहेगा। (१४) चौदहवां अंतरंग परिग्रह है लोभ परिग्रह। लोभ लालच तृष्णाका होना तो इस जीवके महा पतनका कारण है, निरन्तर बाह्यदृष्टि रहा करती है। ऐसी बाह्यदृष्टि रहने पर तपश्चरण कैसे किया जा सकता। अतः जहां लोभ परिग्रह लगा है उसे तपस्वी नहीं कहा जा सकता। जो स्वयं रागीद्वेषी है मोही है मलिन है वह गुरु कैसे हो सकता?

गुरुकी विषयातीतता निरारम्भता व अपरिग्रहताका पुनः स्मरण—गुरुका स्वरूप कहा जा रहा है जिसका अपर नाम है तपस्वी। जिनके अन्तरंग और बहिरंग तप हो उन्हें तपस्वी कहते हैं। गुरु

विषयोंके वश नहीं रहते। जो विषयोंके वश रहे वे दूसरोंको विषय त्यागनेका उपदेश कैसे दे सकते हैं, उनके उपदेशमें प्रभाव न रहेगा। गुरु तपस्वी आरम्भरहित होते हैं। जो भोजन पानी आजीविका आदिक किसी भी प्रकारका आरम्भ करें तो वह खुद बुरे कार्योंमें लग रहा, फिर वह दूसरोंको पापकार्य छोड़नेका क्या उपदेश कर सकेगा? तो गुरु अपरिग्रही होते हैं। परिग्रह २४ प्रकारके कहे गए थे जिनमे अन्तरंग परिग्रह तो १४ हैं और बहिरंग परिग्रह १० हैं। इन परिग्रहोंमें पहले क्या छोड़ना चाहिए, पीछे क्या छोड़ा जायगा इसका कोई नियम नहीं है। अथवा प्रायः नियम है तो बाह्य परिग्रहके छोड़नेका पहले नियम है, अंतरंग परिग्रह उसकेछूटता है जिसके बाह्य परिग्रह न रहा हो। फिर भी अन्तरंग परिग्रहमें जिसकी हीनता होगी तथा भावनामें अन्तरंग परिग्रहसे विविक्त अन्स्तत्त्वको प्राप्त कर लिया है। वह बाह्य परिग्रहको छोड़ सकेगा। जैसे चावलमें दो मैल होते हैं—एक तो ऊपरका धानका छिलका और दूसरा—चावल पर स्वयं जो प्राकृतिक पालिस सी रहती है वह तो अब बतलाओ कि चावलका अन्तरंग मल तो है पालिस और बहिरंगमल है छिलका। तो पहले उसका बहिरंग छिलका छुटाते हैं बहिरंगमल? बहिरंग छिलका। तो जिनका बहिरंगमल याने बाह्य परिग्रह नहीं छूटा उसका अन्तरंग परिग्रह नहीं छूट सकता।

निष्परिग्रह होनेके उपायप्रक्रमका क्रम—जिनको बाहरी परिग्रह नहीं छोड़ता है वे इस तरहकी बात को प्रधानतासे कहेंगे कि क्या है, अपना अन्तरंग भाव शुद्ध होना चाहिए, बाहरकी बात अपने आप हो जायगी। अरे ऐसा कहते-कहते सारी जिन्दगी गुजर जाती पर बहिरंगमल नहीं छूट पाता तो फिर वैसा कहनेका क्या अर्थ रहा? जो विधि है जैन सिद्धान्तमें वह इस प्रकार है कि पहले यह जीव तत्त्वज्ञान करे। तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेसे इसका अन्तरंग परिग्रह मंद होगा। अन्तरंग परिग्रह मंद होने पर इसकी भावना बनेगी बहिरंग परिग्रहके त्यागकी। और उसी समय या उसके बाद अन्तरंग परिग्रह छूट जाता है। बाह्य परिग्रह रखे रहें और कहें कि मेरा अन्तरंग परिग्रह तो छूटा हुआ ही है तो उनकी यह बात मानने योग्य नहीं है। इसी सिद्धान्त पर सवस्त्र मुनियोंका निर्माण हुआ है, वस्त्र भी पहने रहें और अपनेको मुनि भी कहते रहें। जिन सम्प्रदायोंमें वस्त्रधारियोंको मुनि कहते हैं उनका यह ही तो तर्क था कि हमारे अंतरंग परिग्रह नहीं है यह बहिरंग परिग्रह ऊपर पड़ा हुआ है। अरे पड़ा हुआ क्या है? जब वस्त्र रखते तो उनके धरने उठाने खरीदने आदिके अनेक विकल्प चलते तो बताओ कहां छूटा अन्तरंग परिग्रह? सो अंतरंग परिग्रह मंद हुए बिना बाह्य परिग्रह नहीं छूटता और बाह्य परिग्रह छोड़े बिना अन्तरंग परिग्रहका मूलसे सफाया नहीं होता। और अन्तरंग परिग्रहका वर्णन हो चुका है, अब बाह्य परिग्रह बतलाते हैं।

तपस्वीकी बाह्यपरिग्रहरहितता—बाह्य परिग्रह १० प्रकारके हैं—खेत, मकान, चांदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपड़े और बर्तन। जो भी परिग्रहके नाम छूटे हों उनकी समानता जानकर इन ही में गर्भित कर लेना। कोई संन्यासी खेत रख रहा है और कहता है कि यह दूसरोंके उपकारके लिए खेत रख रहे हैं, इसमें वृक्ष तैयार करते हैं, सींचते हैं, दूसरे लोग खाते हैं। उनको सुख पहुंचता है ऐसी

दलील दिया करते हैं मगर खुदकी बात तो देखो कि मोक्ष चाहिए या संसारमें रहना चाहिए? यदि मोक्ष चाहिए तो वीतराग भावका आदर होना चाहिए।

वीतराग भावके आदरमें दूसरे जीवोंपर दया होगी तो उसके स्वरूपको निरखकर कि इस स्वरूपका विकास हो इस विधि वाली दया होगी। जो साधु मार्गमें चल रहे हैं उनकी दयाकी विधि और है, जो संसारमार्गमें लग रहे हैं उनकी दयाकी विधि और है। तो जिसके पास खेतादिकका परिग्रह है उसके सन्यास न कहलायेगा। ऐसे ही यह मकान परिग्रह, मकान बनता हो, रहता हो किसी रूपमें, यह मेरा है ऐसा स्वीकार करते हो तो इस भावके रहते हुए वह अपरिग्रह नहीं कहला सकता। ऐसे ही सोना, चांदी, रकम, गाय, भैंस, अनाज, नौकर, नौकरानी, वस्त्र और बर्तन आदि सभीकी बात समझ लेना चाहिए। अनेक सम्प्रदायोंमें साधु समाजमें वस्त्र और बर्तन रखने वाले बहुत मिलेंगे। भले ही दूसरोंपर छाप रखनेके लिए उसमें भी भेष बना रखा, सफेद सफेद ही वस्त्र पहनेंगे, एक मुद्रा बना रखी कि दूसरों पर थोड़ा असर तो रहे, जो गृहस्थों जैसे कोई धारीदार पहने, कोई किनारीदार, कोई लाल कोई पीले, कोई किस ही तरहके, यों नाना तरहकी बात होनेसे प्रजाजनोंपर उनका पूरा प्रभाव नहीं पड़ता सो उन्होंने तय कर रखा है कि सफेद सफेद ही वस्त्र पहनेंगे, किसीने तय कर लिया कि लाल लाल ही वस्त्र पहनेंगे, किसने तय किया कि पीले पीले ही वस्त्र पहनेंगे किसीने तय किया कि गेरुवे रंगके ही वस्त्र पहनेंगे। भोली भाली जनता इस बाहरी भेषको देखकर समझ लेगी कि अरे ये तो साधु महाराज हैं। पर यहां कह रहे कि ऐसा वस्त्र परिग्रह जिसके हो वह साधु मुनि मोक्षमार्गी नहीं कहला सकता। मुनि वह है जिसका ध्यान आत्माके प्रति रहा करे, और बाह्य वातावरण भी ऐसा हो कि जिसमें ध्यानसे विचलित न हो सके। ऐसे ही बर्तन परिग्रह रखने वाले साधु अनेकों सम्प्रदायोंमें मिलेंगे। सो उसकी भी पोल ढाकनेके लिए उनका नाम उपकरण रख लिया है। और लोगोंपर कैसे प्रभाव पड़े तो किसीने काठ काठके ही बर्तन रखे, किसीने किस ही प्रकारके रखे। तो बर्तनोंका और वस्त्रोंका रखना बहुतसे सम्प्रदायोंके साधुवोंमें मिलता है, मगर वस्त्र क्या, बर्तन क्या, अन्न क्या, इन परिग्रहोंसे जो युक्त है उसके साधुता नहीं कहला सकती।

सर्वसाधारण साधुवोंका सर्वसाधारण एक चिन्ह—साधुका एक मुख्य चिन्ह तो यह होगा उसके पैरमें जूते न होंगे, यह एक मुख्य चिन्ह समझिये जिसे देखकर आजकलके लोग झट समझ लेते कि यह साधु है। यह एक साधारणरूपकी बात कह रहे हैं। इस सम्बन्धमें कि कदाचित मानलो कि वस्त्र भी पहने हों किसी सम्प्रदायके साधुने तो उन्हें साधु मान लिया पर जो जूते पहिनकर चलते हों उनके तो जरा भी साधुपना नहीं है। उसका कारण क्या है सो आपके अनुभव बतायेंगे। जूते पहिनकर चलने वालेकी करतूत बतायगी एक तो जमीन देखकर चलनेका काम वहां नहीं रहता, क्योंकि पैरमें कुछ लगनेका डर ही नहीं है। दूसरी बात वहां कुछ न कुछ अहंकारका ढंग बन जायगा। वहां जीव दया पालनेका रंच भी भाव नहीं रहता, यदि जीव दयाका भाव होता तो जूते ही क्यों पहनते, जमीनमें नीचे देखकर चलते, नंगे पैर चलते। तो एक मुख्य चिन्ह है बाहरसे एक जनरल साधुवोंमें भी यह जाननेके लिए कि इनका हृदय विरक्त है अथवा नहीं, तो उसकी यह मोटी निशानी है कि उसके पैरमें

जूते न मिलेंगे। तो यहां समीचीन पद्धतिसे कह रहे हैं कि किसी भी प्रकारका बाह्य परिग्रह गुरुजनोंके नहीं होता। यदि कोई तपस्वी साधु बड़ी तपस्या करके भी, बाह्य संयमकी प्रवृत्ति रखकर भी उसका चित्त अगर अंतरंग बहिरंग परिग्रहसे मलिन है तो उसका अकेलापना नहीं कहला सकता।

सुगुरुकी ज्ञानध्यानतपोरक्तता—चौथा विशेषण गुरुका इसमें दिया है कि वह ज्ञान, ध्यान और तपमें लीन रहता है यही उनका रात दिनका व्यवसाय है। ज्ञानमें लीन होनेके मायने स्वाध्याय आदिक करना, पढ़ना धर्मवार्ता करना और ध्यानमें लीन होनेके मायने जो ज्ञान किया, जिस अंतस्तत्त्वका बोध किया उसका मनन करना, एक ही जगह उपयोगा रमाना और तपश्चरणका मतलब अंतरंग और बहिरंग तपका करना, अब दूसरी विधिसे अर्थ देखिये—ज्ञानका अर्थ है केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना, ज्ञानमें कोई तरंग लहर विकार मल न आने देना, ऐसा केवल ज्ञाता मात्र रहना सो उनका है ज्ञान, वह है ज्ञानमें लीन और ध्यान और तपका वही अर्थ है जो पहली विधिमें कहा। अब इस द्वितीय विधिमें यह क्रम बनेगा कि गुरुको, साधुको मुख्यतया ज्ञानमें लीन रहना चाहिए अर्थात् ज्ञाता मात्र रहना चाहिए। विकार, तरंग, विचार, तर्क, इष्ट, अनिष्ट इन विकृतियोंसे हटकर केवल जाननहार रहना इसे कहते हैं ज्ञानलीनता। तो सबसे ऊंचा काम है ज्ञानलीनता। अब यदि इस ज्ञानमें लीन न रह सके, ज्ञानमात्र वृत्ति बना सके तब दूसरा काम है ध्यान करना अर्थात् ज्ञान उत्कृष्ट है, ध्यान उससे नीचा है, ध्यानसे ऊंची चीज ज्ञान है यह दूसरी विधिमें बतला रहे हैं और इस ज्ञानका अर्थ केवल जानकारी भर नहीं, किन्तु रागद्वेष न होकर केवल शुद्ध जाननहार रहना, ऐसे ज्ञानमें लीन न हो सके तो ध्यानमें लीन हो। ध्यानमें लीन होनेका अर्थ है कि किसी भी एक विषयपर, अन्तस्तत्त्वपर, द्रव्य गुण आदिक पर उपयोग लगाया, मनन किया तो उस ही ओर एकाग्रमनन चलना ध्यान कहलाता है। ध्यान भी एकसा नहीं चल सकता है, उसकी बदल होती है मगर उस विषयकी बदल न करें जिस विषयको ध्यानमें लिया है तो कुछ बदल भी होती रहे तो भी वह ध्यान कहलाता है। तो देखिये मुख्य बात है ज्ञानमें लीन रहना। ज्ञानमें लीन न रह सके तो ध्यानमें लीन रहना और ध्यानमें भी लीन न रह सके तो तपश्चरण करना, देखिये अन्तरंग वृत्तिका क्रम। तपश्चरणमें तो नानाविधता है, अनेक प्रकारकी बात है। ज्ञान ध्यानमें जिसकी लीनता नहीं है तो वह तपश्चरण करके अपनेको पापभावसे बचाता है। तो यों जो पुरुष ज्ञानध्यान तपमें लीन हो वह गुरु कहलाता है। ऐसा तपस्वी प्रशंसनीय है। यहां प्रकरण चल रहा था कि देव, आगम और गुरु इनका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। इसीसे ही सम्बंधित है आत्मस्वरूप, सो आत्मस्वरूपका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। तो उस सम्यग्दर्शनमें क्या क्या विशेषतायें होती हैं, अर्थात् जिनजीवोंके सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है उनमें मौलिक बात क्या आ जाती है उसका वर्णन करेंगे और वे ८ प्रकारोंमें बतायेंगे जिन्हें कहेंगे ८ अंग। उन ८ अंगोंमें से प्रथम अंगका वर्णन करते हैं।

इदमेवेदृशं चैव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः॥ ११॥

देवके देवत्वके प्रति ज्ञानीकी प्रखर श्रद्धा—देव शास्त्र गुरुका जो ज्ञान श्रद्धान पाया, आत्माके

सहज स्वरूपका जो ज्ञान श्रद्धान मिला, उसमें ऐसी दृढ़ता होना कि तत्त्व यही है, तत्त्व इसी प्रकार है, अन्य नहीं है, अन्य प्रकार नहीं है, इस तरहके अकम्प जरा भी न कंपे ऐसी रुचि होना सन्मार्गमें उसका नाम है निशंकित अंग। जैसे कि तलवारकी धारपर पानी चढ़ाया जाता है तो और पानी तो ढुलमुल होता है, पर तलवारपर जो पानी चढ़ चुका वह पानी चलित नहीं होता, जहांका तहां ठहरा हुआ है। बर्फ भी बनता है पानीका, पर वह चलित हो जाता, पिघल जाता, बिखर जाता, पर तलवारकी धार पर चढ़ा हुआ पानी बिखरता नहीं। उस पानीके चढ़ानेकी कोई विधि है तब ही तो कहते हैं कि भाई यह अपने विचारसे न हटेगा, इस पर पानी अच्छा चढ़ा हुआ हैं। तो वह चढ़ा हुआ पानी क्या कहलाता? वह एक दृष्टान्त है कि जैसे तलवारकी धार पर चढ़ा हुआ पानी अचलित है ऐसे ही अचलित श्रद्धा जिसकी है, जिसमें रंच भी कम्पन नहीं, चलायमानपना नहीं उसे कहते हैं निशंकित अंग। जिसके सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है वह सिद्धान्त विरुद्ध भेष और क्रिया निरखकर वहाँ आकर्षित नहीं होता, अपनी श्रद्धासे विचलित नहीं होता। देवोंका स्वरूप देखिये—अनेक लोगोंने अनेक प्रकारका माना है। अनेक प्रकारके शस्त्र हाथमें लिए है, कोई गदा लिए, कोई चक्र लिए, त्रिशूल लिए, तलवार लिए, धनुष बाण लिए, यों कितने ही प्रकारके शस्त्र लिए है, और इतना ही नहीं, कितने ही देव तो स्त्रीसहित हैं और भक्तजन उनका बड़ा आदर भी करते। और वह स्त्री साथ ही बैठी हो, ऐसा उसका चित्र रखते हैं। उसमें लोग देवत्वकी श्रद्धा करते हैं तो कारण क्या है कि देवका जो स्वरूप है वास्तविक कि जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो वह होता है देव, यह लक्ष्यमें नहीं है या इस ओर उनकी दृष्टि नहीं है, यहां तो किसी ऐसे ब्रह्मचारीको भी नहीं माना जा सकता जो कि घरके दोनों ही स्त्री पुरुष एकसाथ बैठे हों ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी रूपमें और उनका साथ फोटो खिंचे। तो जैसे भगवान और भगवती हैं ऐसे ही ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी हो जाय यह भी स्वीकार नहीं किया गया। तब फिर जो शस्त्र लिए हो, स्त्रीमें आसक्त हो, जिसका चारित्र ऐसा बना हो कि जरा जरा सी बातमें क्रोध आये घमंड बगराये, मायाचारी करे, लोभ करे, और जिसके ऐसी वाञ्छा रहती हो कि मैं लोगोंको कुछ अपना करतब दिखाऊं तो ऐसा रागसहित, परिग्रह सहित आत्मा देव नहीं कहा जा सकता है। देवके स्वरूप पर सम्यग्दृष्टिकी प्रखर श्रद्धा है।

आगम व गुरुके प्रति ज्ञानीकी प्रखर श्रद्धा—आगममें ज्ञानीकी प्रखर श्रद्धा है। समीचीन आगम वह है कि जिसमें लिखे हुए उपदेश विषयोंसे हटायें और आत्मस्वरूपमें लगायें। वह है आगम। अब कोई भी जीव विषयोंसे तब ही हट सकता और अपने स्वरूपमें तब ही लग सकता जब उसको तत्त्वज्ञान हो। वस्तुका स्वरूप कैसा है, इस सम्बंधमें यथार्थ ज्ञान हो तो मोह हटेगा। तो जिसमें वस्तुस्वरूपका परिचय कराया गया हो, हिंसा, काम, क्रोधादिकमें जिसको वैराग्य कराया गया हो उसे आगम कहते हैं। ज्ञानी जीवको गुरुके विषयमें भी दृढ़ श्रद्धा है। अनेक पाखंडी, लोभी, कामी, अभिमानी लोगोंको लोगोंने गुरु मान रखा सो सम्यग्दृष्टिके चित्तमें यह पूर्ण निर्णय है कि जो कुछ ग्रहण करता है वह गुरु नहीं है। छोड़ना छोड़ना ही काम होता है गुरुवोंका। वस्त्र छोड़ा, घर छोड़ा, आरम्भ छोड़ा, परिग्रह छोड़ा, ममत्व छोड़ा, यों छोड़ने छोड़नेकी बात हो होकर जहां एक ऐसी मुद्रा रह गई कि वह अब छोड़ी

कैसे जा सके? निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा है, तो ऐसे ही आत्मस्वरूपकी उन्मुखता रखने वाले पुरुष निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरु कहला सकते हैं। गुरुका अन्य प्रकार नहीं, ऐसी देव शास्त्र गुरुके विषयमें दृढ़ श्रद्धा होना, उसमें शंका न होना सो निशंकित अंग कहलाता है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानीके इहलोक भयका व परलोक भयका अभाव—जिसको अपने आत्माके सही स्वरूपका ज्ञान हो जाता है, उसको दुनियामें फिर कोई शंका नहीं रहती। शंका कहो, भय कहो, शंकासे भय होता है। भयसे शंका बनती है, जगतके जीवोंको इस लोकका भय लगा हुआ है कि इस जीवनमें मेरी आजीविका सही रहेगी या नहीं। इस प्रकार इस लोक सम्बंधी शंका बनी रहती है, मेरी इज्जत सही रहेगी या नहीं, पता नहीं कैसे कैसे कानून बनेंगे। मेरा कैसे गुजारा होगा, ऐसा इस जीवनकी शंकायें रखा करते हैं अज्ञानी, किन्तु ज्ञानी पुरुषको यह कोई शंकानहीं रहती, क्योंकि वह जानता है कि मेरा आत्मा पूरा है, इसमें दूसरेका कोई प्रवेश नहीं। मेरी कोई चीज मेरेसे अलग होती नहीं, बाहरकी चीजें हैं। जैसापरिणमें परिणमें, उससे मेरेमें क्या हानि होती है, यह निर्णय है ज्ञानीका, जिसने आत्माके सही स्वरूपका ज्ञान किया, इस कारण इसे इस लोक सम्बंधी शंका नहीं रहती। कभी यह जीव यदि परलोककी बात कुछ समझी है या चर्चा की है तो उसे परलोक सम्बंधी भी भय बन जाता है। मरकर मैं कहां जाऊंगा? किस गतिमें जन्म लूंगा, वहां मेरी क्या हालत होगी, ऐसी परलोककी शंका रखते हैं अज्ञानी, किन्तु जो ज्ञानी जीव है, जिसको आत्माके स्वरूपका परिचय है वह जानता है कि मैं हूं, मेरा स्वरूप है, मेरे स्वरूपमें मेरी सारी बात है। परलोक जाऊंगा तो यह मैं पूराका पूरा परलोकमें रहूंगा, मेरा लोक और परलोक तो मेरा चह चैतन्य स्वरूप है। बाहरी चीजोंसे ज्ञानी अपना लोक परलोक नहीं मानता। अपने आत्मका बोध है इस कारण ज्ञानीको परलोक का भय नहीं रहता।

सम्यग्ज्ञानी जीवके मरणभयका व वेदनाभयका अभाव—जीवको मरणका भय बहुत रहता है। मरणभयसे सभी जीव दुःखी रहा करते हैं। नारकी जीव तो मरण चाहते हैं पर उनका मरण नहीं होता। जितनी आयु बची है उतनी आयु तक ही रहेंगे नरकमें। इनके शरीरके खण्ड खण्ड टुकड़े भी कर दिए जाते हैं, क्योंकि वे नारकी सब परस्पर लड़ते हैं लेकिन वे टुकड़े भी इकट्ठे हो जाते हैं और ज्योंका त्यों शरीर भर जाता है। फिर लड़ते हैं। जो वे नारकी चाहते हैं कि मेरा मरण हो जाय। नरककी वेदना बड़ी कठिन है और उनका मरण बीचमें नहीं होता, क्योंकि उनका वैक्रियक शरीर हैं, बाकी तीन गतियोंके जीव कोई मरण नहीं चाहते कैसी ही हालत हो जाय, वृद्ध हो गए, कुछ तकलीफमें हो गए, कैसी ही स्थिति हो जाय पर मरण किसीको प्यारा नहीं, कोई मरण नहीं चाहता। पशु-पक्षी, कीड़ा मकोड़ा किसीको मरण इष्ट नहीं है। तो मरणका भय संसारी जीवोंको लगा है किन्तु ज्ञानी जीव जिसने आत्माके स्वरूपका परिचय किया है वह जानता है कि मैं तो अमर हूं। मेरा जो अस्तित्व है वह कभी नष्ट नहीं होता। मैं तो सदा ही रहता हूं, मेरा मरण नहीं होता। जैसे कोई पुरुष किसी घरमें रहता है और घरोंमें चलता फिरता है, दूसरे घरमें पहुंच जाता है तो आदमी तो जिन्दा है वही, ऐसे ही आत्मा आज इस शरीरमें है कल दूसरे शरीरमें है, भले ही कई गतियोंमें यह जन्म लेता रहा मगर आत्मा तो मूलमें वही है, वह कष्ट नहीं होता। ऐसा जानने वाले ज्ञानीको मरणकी शंका नहीं हुआ करती। भले ही रोगका

भय रहता है। मेरे शरीरमें कोई रोग न हो जाय, अथवा थोड़ा रोग हुआ हो तो यह बढ़ न जाय, तब क्या होगा? यह कठिन रोग लग गया है, ऐसी चिन्ता और शंका रहती है, पर ज्ञानी जानता है कि रोग नाम है किसका। शरीरमें कोई परिवर्तनसा हुआ है। वात पित्त कफ नसाजाल मांस आदिकमें कुछ परिवर्तन हुआ है, इस ही का नाम रोग कहते हैं। तो शरीर तो मेरे आत्मस्वरूपसे अत्यन्त भिन्न हैं, मैं शरीरसे अत्यन्त निराला हूं। मेरे आत्माको रोग नहीं होता। वह बाहर शरीर में इस रोगको निरख रहा है, उसे रोगकी शंका नहीं है।

सम्यग्दृष्टि जीवके अरक्षाभयका अगुप्तिभयका व आकस्मिकभयका अभाव— जीवोंको अरक्षाका भय रहता है। मेरा कोई रक्षक नहीं, मेरा कोई समर्थक नहीं, इस प्रकार की शंका रहती हैं। ज्ञानी जीवाको यह शंका नहीं रहती। वह जानता है कि मेरा सहाय करने वाला मेरा भगवान आत्मा है। दूसरा कोई मेरा मददगार नहीं। जब मैं अपने भगवान आत्मस्वरूपकी सुध करूँ तो सारे संकट टल जायेंगे। जब निज भगवान आत्मकी सुध नहीं रखते, बाहरी पदार्थोंमे चित्त रमाया करते, तब फिर कौन सहाय बनेगा जिन बाहरी पदार्थोंमें रम रहे हैं वे भिन्न हैं, विनाशीक हैं, वे मेरे मददगार कैसे होंगे तो ज्ञानी जीव जानता है कि मैं परिपूर्ण हूँ, मेरा विनाश ही नहीं हैं, फिर रक्षा का प्रश्न क्या। सदा सुरक्षित हूँ। ज्ञानी जीव को अरक्षाकी शंका नहीं रहती। अनेक जीवोंको अगुप्तिभय रहता है कि मेरा मकान सुरक्षित नहीं हैं, किसी भी ओर से चोर आ सकते हैं, डाकू आ सकते हैं, चीजें चुरा ले जा सकते हैं, किवाड़ भी ठीक नहीं हैं, ऐसी अनेक प्रकार की कल्पनायें करके वे अपनी अगुप्तिका भय बनाये रखते हैं, किन्तु ज्ञानी जीव जानता हैं कि मेरेमें अगुप्ति कहाँ है। मैं पूरा एक दृढ किले की तरह हूँ, जैसे मजबूत किले के अन्दर दुश्मनका प्रवेश नहीं हो सकता, ऐसे ही मेरे स्वरूपमें किसी दूसरे का स्वरूप नहीं आ सकता। मैं परिपूर्ण हूँ अधूरा सत् नहीं होता, मेरी अगुप्ति कहाँ? पूरा मैं अपने प्रदेशोमें चारों ओर से दृढ़ हूँ। ज्ञानी जीव को अगुप्ति का भय नहीं होता।

अनेक जीवोंको अकस्माद्भय सताता है। न जाने अकस्माद् ही क्यासे क्या हो जाय? कहींसे बिजली गिर जाय, छत गिर जाय, और और भी कल्पनायें करके बहुतसी शंकायें बन जाती हैं, पर ज्ञानी जीवको अकस्माद्भय भी नहीं हैं, क्योंकि वह जानता है कि मेरेमें किसी दूसरेसे कुछ होता ही नहीं। जो अपने ज्ञानमात्र स्वरूपको देखे और उस ही रूप अपना अनुभव बनाये रहे तो उसे काहेका कष्ट है पर अपने स्वरूपमें रह नहीं पाता।बाहरी पदार्थोंमें अपने सुधार बिगाड़की कल्पनायें करके दुःखी होते हैं और भय मानते हैं। तो ज्ञानी जीवको अपने आपमें कोई शंका नहीं होती।

दुर्लभ मनुष्यजन्मका सदुपयोग करनेका संदेश—देखिये यह मनुष्यजन्म बड़ी कठिनाईसे मिला है। संसारमें कितनी ही तरह के जीव हैं—एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, चौइन्द्रिय आदिक, इन सब भवोंमें भी हम रहे। इन सब भवोंमें रुलते-रुलते अनन्तकाल व्यतीत हो गया। आज एक दुर्लभ मानव जीवन मिला तो इस जीवनमें मेरे साथ क्या रहनेका है जो भी समागम हैं वे सब मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, मेरे अब भी नहीं हैं, मरण होने पर तो तिनका भी साथ नहीं जाता। तब फिर बाहरी पदार्थोंकी कल्पनामें क्यों अपना जीवन खोया जा रहा है जिस भाग्यके उदयसे मनुष्य जन्म मिला हैं उसमें इतना भाग्य तो

कम से कम है ही कि गुजारा चले, पर इतनी हिम्मत करना चाहिए कि जो भी साधन भाग्यसे मिले उनमें ही गुजारा कर लूंगा। और किसी भी वाह्य पदार्थसे अपनी रक्षा न मानना, सुख न मानना, अपने ही स्वरूपको आनन्दमय निरखकर उस ही में तृप्त रहना, यह कला सीख लेना चाहिए इस जीवनमें, इसे कहते हैं अध्यात्मकला। बाहर चित्त दे देकर अब दुःखी हो रहे है। शरीर धन वैभव, कुटुम्ब परिजन, इज्जत प्रतिष्ठा आदि बाहरी बातोंमें चित्त दे देकर दुःखी हो रहे हैं। वे पुरुष धन्य हैं जो इस जीवन में अपने कल्याणको प्रमुखता देते हैं, बाकी सब चीजोंको गौण रखते हैं। आत्मकल्याण करनेके लिए ही यह मानव जीवन है, ऐसा निर्णय रखना चाहिये। ज्ञानी जीवके यह निर्णय है इस कारण उसके ये कोई भय नहीं होते।

बाह्य पदार्थोंके लगावकी व्यर्थता व अनर्थता—ज्ञानी जानता है कि मेरा वास्तविक वैभव क्या है? शरीर निराला हैं, मैं आत्मज्योति निराला हूँ। वही मेरा वास्तविक वैभव है। यह शरीर तो बाह्य पदार्थ है। जैसे तार और बिजली का करेन्ट, ये दोनों अलग चीजें हैं ऐसे ही शरीर और आत्मज्योति ये भी अलग-अलग चीजें हैं। जैसे तारके अन्दर वह बिजली रह रही है ऐसे ही इस शरीरके अन्दर वह आत्मज्योति रह रही है। तो यह शरीर तो तारकी तरह है और आत्मज्योति बिजली की तरह है। शरीर निराला है, आत्मा निराला है, पर रह रहा है शरीरमें। तो यह शरीर प्रमाण जो एक आत्मज्योति है वह ज्ञान स्वरूप है। मेरा धन ज्ञान स्वरूप है, अन्य तो परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। यह देह मैं नहीं और देहके सम्बंधी स्त्री पुत्रादिक भी मेरे नहीं। ये भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। ये सब भिन्न द्रव्य हैं। यह तो एक संयोग बन गया है। जैसे दिन भर विचरने वाले पक्षी रात्रि में किसी पेड़ पर इकट्ठे होते हैं, संयोग बन गया है, पर रात्रि व्यतीत होते ही अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानको चले जाते हैं, ऐसे ही कोई किसी भवसे आया कोई किसी भवसे, किसी एक कुटीमें कुछ जीव इकट्ठे हो गये और अपनी-अपनी आयु पूर्ण होते ही वे सब बिछुड़ जायेंगे। तो मेरे आत्माके ज्ञानस्वरूपको छोड़कर कुछ भी मेरा नहीं है। सब मुझसे भिन्न हैं। जिनका संयोग हुआ उनका वियोग नियमसे होगा और जगतमें ऐसे सम्बंध अनन्तबार हुए, अनन्त बार बिछुड़े, फिर इन समागमोंकी शंका क्यों, वाच्छा क्यों? जिनका संयोग हुआ उनका वियोग जरूर होगा। मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, अमर हूँ, मैं नष्ट न होऊंगा। जिन जिनका संयोग हुआ है वे सब बिछुड़ जायेंगे, पर मेरा तो ज्ञानस्वरूप है, वह मेरे से बिछुड़कर कहाँ जायगा? वही तो मैं हूँ। ऐसा दृढ़ निर्णय है ज्ञानी जीवके तो उसको बाह्य परिग्रहोंके बिछुड़नेका भय नहीं रहता।

बाह्यार्थविषयक विकल्प छोड़कर अन्तःप्रकाशमें संतुष्ट होनेका कर्तव्य—भैया, जितने समागम मिले हैं वे सब बिछुड़ेंगे जरूर। चाहे अपने जीते जी ये सब बिछुड़ जायें और चाहे हमारे सामने खुद बिछुड़ जायें, पर बिछुड़ेंगे जरूर। तो अभीसे अगर आत्माके ज्ञानकी बात न सीखी, आत्मज्ञान न समाया तो जीवनमें ठिकाना नहीं है। दुःखी होकर मरना पड़ता है। यदि आत्माका कुछ बोध है तो वह मरते समय दुःखी न होगा। वह तो अपने स्वरूपमें उपयोग लगाकर प्रसन्नताके साथ जायगा। क्या है मेरा यहाँ, इसका उसे कुछ विकल्प नहीं। तो देखिये—मूल तो विपत्ति अज्ञान है। मगर जितना ये बाहरी समागम मिल जाते हैं उतना ही उसको दुःख उठाना पड़ता हैं, क्योंकि यह तो निश्चित है कि

वियोग जरूर होगा और संयोगकी चीजमें प्रेम बहुत कर डाला, मोह बहुत कर डाला, तो जब वियोग होगा तब कष्ट होगा ही। ज्ञानी जानता है कि ये खेत मकान धन दौलत आदिक जो १० प्रकारके बाहरी परिग्रह हैं ये मेरे कुछ नहीं हैं। यह मैं जीव हूँ। ज्ञानस्वरूप हूँ। मुझमें बाह्य पदार्थ झलकते रहते हैं, उसका स्वरूप है, स्वभाव है। वास्तवमें तो मैं किसी बाह्य पदार्थ को जानता भी नहीं हूँ। तो फिर किसको जानता हूँ? बाह्य पदार्थों का जो झलक हो रहा है यहाँ, बस उस झलकने वाली नित्य आत्माको मैं जानता हूँ, जब मेरा इन बाहरी पदार्थोंसे जानने तकका सीधा सम्बंध नहीं तब किसी अन्य परमाणु मात्रसे भी मेरा सम्बंध क्या हो सकता? सो यह सम्यग्दृष्टि जीव सर्म भयोंसे दूर हैं, और वह जानता है कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। केवल ज्ञान-ज्ञान ही रहे, जाननहार ही रहे तो मेरे सहज आनन्द रहेगा और जैसे ही इन बाहरी पदार्थों में कुछ भी ध्यान लगाया, ख्याल किया तो कष्ट होने लगता है। तो मेरा सहाय मेरा धर्म है, अन्य कुछ सहाय नहीं। धर्मके मायने मुझ आत्माका स्वभाव केवल जाननहार रहे, इष्ट अनिष्ट कल्पनायें जगें, वहाँ कोई कष्ट नहीं रहता। इस प्रकार निशंकित अंगका वर्णन किया, अब निकांक्षित अंगका वर्णन करते हैं।

कर्मपरवशे सांते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेनास्था श्रद्धानाकङ्क्षणा स्मृता॥ १२॥

पराधीन सुखमें लगाव रखनेके अपराध का ज्ञानीके अभाव— सम्यग्दृष्टि जीवके निकांक्षित अंग होता है। वह किसी वस्तुकी चाह नहीं करता और धर्मके एवजमें तो कभी कुछ चाह होती ही नहीं। अज्ञानी जीव किसमें चाह किये हुए हैं? हम मनचाही चीजें खा पी लेंगे, अमुक-अमुक चीजें छू लेंगे, छूने का सुख मान लेंगे, स्वाद का सुख मान लेंगे गंधका सुख मान लेंगे, सुन्दर-सुन्दर रूपावलोकन कर लेंगे, कर्णों से खूब राग रागनीके शब्द सुनकर मौज मान लेंगे, इस प्रकारकी चाह अज्ञानी जीव किया करते हैं। अब जरा देखो तो सही कि ये सुख हैं कहाँ? सर्वप्रथम तो ये कर्मके आधीन हैं। यदि कर्मका उदय हो तो वे चीजें भी मिल जायें जिनको इन्द्रियों द्वारा भोगा जाता। तो सर्वप्रथम सर्व कुछ समागम सांसारिक सुख कर्माधीन हैं। और ये सब सांसारिक सुख मात्र कर्माधीन हैं इतना ही नहीं किन्तु इनका विनाश होता है। कर्मके आधीन तो हैं पर पुण्यकर्मका उदय आये बिना करोड़ों उपायकर लिये जायें फिर भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। वे जीव तो पौद्गलिक हैं जो इस जीवनमें सुख दुःख भोगने के लिए नाना प्रकारके विकल्प करते हैं, नानाप्रकारकी चिंतायें रखते हैं। जो उदयमें है सो होगा। और फिर सांसारिक समागमोंकी अभिलाषा ही क्यों रखना। आत्माके स्वरूपको देखें, उसमें ही रमें और प्रसन्न रहें। यह काम करनेको है वास्तवमें, पर जिसके अज्ञान छाया है वह बाह्य पदार्थों की आशकांक्षा करता है। संसार के जितने सुख हैं वे सब कर्म के आधीन हैं। वे कर्म अन्त करके सहित हैं जो कि पराधीन सुख हैं वे आखिर कितने दिनों तक भोगे जा सकते? वे सब विघट जायेंगे। तो इन्द्रियजन्य जितने सुख हैं वे अपने इष्ट विषयके आधीन हैं। इष्टका समागम जो है वह जब नष्ट हो जायगा तब सुख भी नष्ट हो जायगा।

विनश्वर और दुःखव्याप्त सांसारिक सुखके लगावके अपराधकी ज्ञानीमें असंभवता— यहां का सुख क्षणभंगुर है। जैसे बिजली चमकती है और समाप्त हो जाती है ऐसे ही संसारका सुख क्षणभर को मिला औरसमाप्त हो जाता है। कुछ ही दिनोंके लिए ये सब साधन मिल रहें हैं। तो आप यह सोचें कि इस अनन्तकालके सामने यह १०-२०-५० वर्षका जीवन क्या गिनती रखता है? इसकी क्या गिनती, समुद्रके एक बूंद बराबर भी नहीं। यह इन्द्रियसुख क्षणभर है, पराधीन है, पराधीन है। तो जिस सुखमें इतनी पराधीनतायें हैं वे सब हेय हैं। ये सब सुख विनाशीक हैं। अच्छा तो दो बातें सांसारिक सुखमें मिली—(१) ये सांसारिक सुख कर्मोदयके आधीन हैं और (२) विनाशीक हैं। अब तीसरी बात देखिये—जितने समयको ये सांसारिक सुख मिलें हैं उतने समय भी ये सुख नहीं रहते। बीच-बीचमें अनेक दुःख आते रहते हैं। एक दिन तो क्या, एक घण्टा भी सुख से लगातार किसी का नहीं गुजरता। तो बीच-बीचमें दुःखका उदय आता रहता है। कैसे? खूब धन है, खाने पीने पहिनने ओढ़ने आदिके अच्छे साधन हैं बड़ा आराम है, मगर कोई रोग हो जाय तो उसका धन वैभवका आराम क्या रहा? तो एक तरहका सुख तो है कल्पनाका किन्तु उसमें दुःख अनेक भरे पड़े हैं। वैभव है खूब और स्त्री पुत्र मित्रादि किसी का मरण हो गया, वियोग हो गया तो जो बाहरी समागमका सुख मिला है उसकी क्या कीमत हुई? कभी अपमान हो जाता हैं। जो जितना बड़ा बन गया लोकमें वह उतना ही अधिक जरा-जरा सी बात का अपमान महसूस करता है, उसका ही दुःख लगा हुआ है। कभी धनकी हानि हो गई। सुख तो था, आमदनी तो खूब थी मगर अचानक धन नष्ट हो गया तो लो वहीं एक दुःख आ गया। दुःखके कुछ नाम नहीं, खुदकी कल्पनासे अनेक दुःख हैं मगर एक दुःखके बाद जब दूसरा दुःख आता है तो लोग यह कहने लगते हैं कि इससे तो वही दुःख अच्छा था। अब दूसरा दुःख उसे बिल्कुल हल्का लगने लगता। अब दूसरे दुःखके बाद कोई तीसरा दुःख आ जाय तो वह तीसरा दुःख दूसरे दुःख की अपेक्षा बड़ा मालूम होता है। याने पहलेका दुःख उसके अन्दर बना रहता पर नवीन दुःखके आ जानेसे पहले वाले दुःखका ध्यान नहीं रख पाता, पर वह दुःख निरन्तर बना रहता है, सांसारिक सुखोंको भोगते हुए भी उनके बीचमें निरन्तर दुख बना रहता है। उन सांसारिक सुखोंमें यह जीव कल्पित मौज मानता है पर वे सब सुख दुःखोंसे भरे हुए हैं। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे सुखोंमें लीन नहीं होते, वे अन्यायसे, अहितसे दूर रहते हैं। अपने स्वरूप को जान लेनेके कारण वे अपने आपमें ही तृप्त रहते हैं। बाहरी पदार्थों उनका चित्त नहीं रमता। सुखी होना है तो ज्ञानी बनें, दूसरा कोई उपाय नहीं है सुखी शान्त होनेका। तो ज्ञान मायने क्या? अपने आत्माके सहज स्वरूपका परिचय पा लेना। यदि यह काम कर लिया गया तो सारे संकट दूर हो जायेंगे।

पराधीन विनश्वर दुःखव्याप्त पापबीज इन्द्रियसुखमें ज्ञानीका अनादर—सम्यग्दृष्टिके निःकांक्षित अंगका वर्णन चल रहा है। सम्यग्दृष्टि जीवको संसारके सुखोंमें आकांक्षा नहीं रहती। सांसारिक सुखोंमें आदर रंच भी नहीं रहता, क्योंकि ये संसारके सुख पराधीन हैं, कर्मके आधीन हैं। और विषयसाधन मिलें उनके आधीन हैं। इन्द्रियां अपनी सही रहें उसके आधीन हैं। शारीरिक सुख भोगके लायक हों उसके आधीन हैं। अनेक पराधीनतायें है संसारके सुखोंमें। सो उनको अधिक क्या

समझाना, आप सब समझ ही रहें हैं। थोड़ासा भी संसार का सुख लिया तो उसके लिए कितना क्षोभ मचाना पड़ता एक भोजनका ही सुख ले लो। कितना भोजन तैयार करनेमें श्रम, कितने उसके सभी कामोंमें श्रम, तब १० मिनट का स्वाद सुख मिलता है, ऐसी ही सभी इन्द्रियोंके विषयकी बात है। इन विषयोंके सुखोंमें ज्ञानी जीवको आदर नहीं रहता और ये सुख पराधीन हैं, इतनी ही खराबी नहीं, किन्तु ये विनाशीक हैं। किसका सुख सदा रह सकता है? जीवनमें सुखदुःख आरेकी नाईं घूमता रहता है। कभी सुख कभी दुःख। दुःखमें बड़ा सुख है। सुखके बाद दुःख है। और विनाशीक है इतनी ही बात नहीं किन्तु जितने बाहरी सुख मिले हैं उसके बाहरमें भी अनेक दुःख भरे हुए हैं उस सुखके साथ। तो ऐसे सुखोंमें सम्यग्दृष्टि जीवको आदर नहीं रहता। और ये इन्द्रियजन्य सुख पापके बीज हैं इन सुखोंमें आसक्त होनेसे ही पापका बंध होता है। जिसका फल आगामी कालमें दुःख भोगना है। इन इन्द्रियजन्य सुखोंके वश होकर जीव संसारमें चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता है। नरकमें कौन जीव जाता? जो विषयोंमें अधिक आसक्त हैं। जैसे परस्त्रीगामी, वेश्यागामी, मद्यमांस भक्षी, चोर डाकू हत्यारे आदि, ऐसे लोग पापकर्मका बंध करते हैं और नरकगतिमें जन्म लेते हैं। तो क्यों जन्म लेना पड़ा कि उनको संसारमें विषयसुख प्यारे थे। जितने भी कुकर्म होते हैं वे विषय सुखोंके लोभसे ही होते हैं। सम्यग्दृष्टि अपने आत्मीय सहज आनन्दका परिचय है इस कारण विषयोंमें उसका आदर नहीं होता।

सहजपरमात्मतत्त्वके अनुभवी आत्माके सहज आत्मीय आनन्दका लाभ—सम्यग्दृष्टि का आनन्द तो सहज है। आत्मा हूँ, जो हूँ सो धीरता पूर्वक वैसाही जाननहार रहूँ, वहाँ आनन्द ही आनन्द बरषता है। जहाँ पर पदार्थपर दृष्टि है, किसी भी परसे सुखकी आशा मान रखी है वहाँ ही बैचेनी होती है। बड़े-बड़े तीर्थंकरोनें जिनकी बड़ी विभूति थी उन्होंने भी विषय सुखोंको त्यागकर आत्माका ध्यान किया तब आनन्द पाया। हम आप प्रभु के तो दर्शन करें रोज-रोज और विषयोंसे ही सुख है ऐसा भाव बनाये रहें तो दर्शन नहीं किया। जिसके दर्शन करते हैं उसमें जो गुण हैं, उनकी जो वृत्ति है वह हमको सुहा जाय तो उसे दर्शन कहते हैं तो जो विषयसुखोंका लोभी विषय सुखोंमें ही आसक्ति कर रहा है उसको प्रभु का दर्शन कैसे? प्रभु का जिसने दर्शन किया उसने यह परखा कि प्रभुने पहले इन्द्रियों पर विजय किया, आत्माके ज्ञानका अनुभव किया, आत्मीय आनन्दका अनुभव किया, उसके फलसे कर्मोंका क्षय करके अनन्तकालके लिए वे संसार के संकटोंसे मुक्त हो गए। अच्छा जरा यह भी तो सोचो कि एक इस भवमें खूब मौजसे रह लिया, अव्वल तो किसी का ऐसा हो नहीं सकता कि वह जीवनभर मौजमें रहे, खूब विषयोंका आराम भोगे। अब क्या होगा? बुढ़ापा न आयगा क्या? बुढ़ापामें आरामसे किसी इन्द्रियका सुख भोगा जा सकता है क्या? अरे सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जातीं। यहां तक कि पेटमें खाना भी नहीं खा पाता सो वह बुड्ढा दूसरोंको खूब खाता पीता देख मन ही मन कुढ़ता है—हाय मैं क्यों नहीं भोग पाता। इसी भवमें यह हालत है। मानलो किसी तरह इस भवमें आरामसे दिन गुजर गये तो अगला भव कैसा मिलेगा सो तो विचारो। यदि स्वभाव की दृष्टि न बनी हो और विषयोंमें ही आसक्त रहें हो, बाह्य पदार्थोंसे ही अपना शरण माना हो तो उसके भली गति कैसे हो सकती है? आगे दुःख भोगेगा। तो क्या मंजूर है कि मैं खूब जन्म मरण करता फिरूं और दुःख भोगता फिरूं? अगर

नहीं मंजूर है तो फिर जैन शासनके बताये हुए मार्ग पर चलो। प्रभुने बताया कि सर्वप्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करो, उसके बिना धर्ममें आपका रथ न चलेगा। वह सम्यक्त्व क्या चीज है? सर्व विकल्प छोड़कर आरामसे बैठ जायें। जो मैं सही हूँ सो ही अपनी जानकारीमें रहे, मुझे, कुछ अन्य नहीं जानना है। ऐसा अपने प्रभु के प्रसादका आग्रह करके आरामसे बैठूं, सबको भूलं जाऊं, कोई परवस्तु मेरे ख्यालमें न रहे तो भगवान आत्मासे वह आनन्द उमड़कर अनुभवमें आयेगा और वहाँ ज्ञात होगा कि वास्तवमें आत्मा कैसा है। जिसको आत्मीय आनन्द का अनुभव हो वह इन विषयसुखोंमें प्राप्ति न करेगा।

सांसारिक सुखोंकी पीड़त रूपता—संसारमें जितने इन्द्रियजन्य सुख हैं वे सुख नहीं हैं, किन्तु कोई पीड़ा हुई है उसका इलाज है। जैसे भूखकी पीड़ा है, भूख बर्दाशात न हो तो भूख का इलाज किया जाता है खाकर। खाने से सुख नहीं मिला किन्तु जैसे किसीको १०५ डिग्री बुखार है और घटकर १०१ डिग्री रह जाय तो वह कहता है कि मेरी तबियत अच्छी है। अरे बुखार तो अब भी १०१ डिग्री बना है, तबियत अच्छी कहाँ है मगर बुखार कम हो गया इससे कहता है कि मेरा स्वास्थ्य अच्छा है। तो ऐसे ही समझो कि ये जो संसार के सुख हैं उनमें कुछ दुख कम हो गया है, पर दुःख तो है ही है। भीतर बेहोशी, व्याकुलता, भय, शंका आदि सब बातें चल रही हैं, तो दुःख दूर नहीं हुआ किन्तु दुःख कम हो गया, इस कारण मोही जीव मानता है कि मेरेको सुख हुआ है। अरे यह सुख नहीं किन्तु सुखाभास है। प्यास की पीड़ा हुई तो जैसे पानी पीकर उसका इलाज कर लिया ऐसे ही पाँचो इन्द्रियों की पीड़ा होती है और उस पीड़ा का इलाज किया जाता है विषय सुख भोगकर, वास्तवमें वह आनन्द नहीं है। जिसमें आनन्द है वह विषयों सुखोंका इलाज क्यों करेगा? जैसे जिसके कानमें रोग नहीं हैं बकरे का मूत्र कानमें क्यों डालेगा। अथवा जिसके कोई फोड़ा फुंसी नहीं वह मलहमपट्टी क्यों करेगा? भगवानके अनन्त आनन्द है। तो जिसको समता है और आत्मानुभवका आनन्द है वह क्यों विषयसुखों की ओर मुख करेगा? जिसको वेदना है वे ही विषयसुखों से प्रीति करते हैं। तो ये विषय सुख पापके बीज हैं। उन सुखोंमें आदर न करना इसको बोलते हैं अनाकांक्षा।

सम्यग्ज्ञानीका वास्तविक लक्ष्य—जो ज्ञानी गृहस्थ हैं, घरमें रहते हैं सम्यक्त्व जिसके हो गया है तो गृहमें रहते हुए सभी तरहके सुख भोगता है मगर उसकी बुद्धि सही है। वह जानता है कि यह गृहस्थीका सुख भोगना यही मेरा अन्तिम लक्ष्य नहीं है, मेरा लक्ष्य है सिद्ध होना। सबको अपने मनमें यह सोचना चाहिए कि मुझे तो सिद्ध होना है, इससे पहले की जो कुछ अवस्थायें हैं संसारकी, देव बनना, राजा बनना, चक्री बनना आदि ये सब मुझे कुछ न चाहिए। मुझे तो सिद्ध भगवान होना है। अपना यह लक्ष्य बनायें कि मुझे तो केवल आत्मा ही आत्मा रहना है। हम आप तीन प्रकार की चीजोंमें बंधे हैं—(१) जीव (२) कर्म और (३) शरीर। याने शरीर, कर्म और जीव इनका मिलाकर यह पिंडोला है। सो जब तक ये तीन मिलते रहेंगे तब तक अपनी खैर नहीं। जैसे कहते ना कि बकरेकी माँ कब तक खैर मनायगी आखिर एक न एक दिन बकरा मरेगा जरूर, ऐसे ही इन तीन चीजों के रहते हुए जीव कब तक खैर मनायगा? भव भवके कष्ट भोगेगा जरूर। तो अपना यह लक्ष्य कैसे बने कि मैं आत्मा

केवल आत्मा रह जाऊं। इस केवलपनेमें ही आनन्द है अन्यथा नहीं है। तो सोचिये ऐसा रहना आपको पसंद है या नहीं? याने जो तीन चीजों का पिण्ड है शरीर, कर्म और जीव, तो इनमें शरीर और कर्म छूट जायें, केवल आत्मा ही आत्मा ज्ञान ज्योति रहे यह बात आपको पंसद होनी चाहिए। इसमें बिगड़ता नहीं है कुछ। बल्कि सुधरता हैं सब कुछ। मान लो मोह मोहमें ही सारा जीवन बिताया तो उसमें लाभ क्या मिलेगा? आखिर उसके फलमें रोना ही रोना होगा। इससे पहलेके भवोंमें जिन जिनसे मोह किया वे कोई साथ हैं क्या? जिन जिनका संग प्रसंग रहा वे कोई भी तो आज साथ नहीं हैं, ऐसे ही आज इस भवमें जो कुछ दिनोंका संग प्रसंग मिला है यह भी अगले भवमें साथ न रहेगा। आज इस भवमें मिले हुए लोगोंसे मिलजुल रहे हैं मरकर दूसरे भवमें जायेंगे वहां भी जो समागम मिलेगा उसमें मोह चलेगा। तो मोह चला चलाकर क्यों नहीं थकते? क्यों नहीं यह बुद्धि बनती कि मोह न करना। देखिये—गृहस्थ पुरुष निर्मोही तो रहे पर गृहस्थी का काम राग किये बिना नहीं चलता। दो बातें ध्यानमें रखें—मोह और राग। मोह तो कहते हैं परवस्तुसे ऐसा निकट लगाव रखना कि यह मनमें निर्णय रहता कि इस परवस्तुके बिना मेरी जिन्दगी ही नहीं, मेरा सारा शरण यह ही है। पर को और अपने को एकमेक करके रहना यह तो कहलाता हैं मोह और मोह न रहे, ज्ञान तो सही बन जाय कि यह पर है और यह मैं ज्ञानस्वरूप हूँ ये जीव अलग वस्तु हैं मैं जीव अपने स्वरूपमात्र हूँ यह वैभव भिन्न है, शरीर निराला है, मैं ज्ञानज्योति हूँ, मेरा काम मेरेमें ही होता है। मैं अपना ही कर्ता भोक्ता हूँ, पर पदार्थ अपने कर्ता भोक्ता हैं। ऐसा जानकर मोह दूर किया, लेकिन जब तक घरमें रह रहें हैं, नहीं है इतनी सामर्थ्य के गृह त्यागकर मुनिव्रत्त धारण करलें, घरमें रहना पड़ रहा तो घरमें रहकर राग किया जायगा। एक दूसरे की सम्हाल करना, पालन पोषण करना, अच्छे वचन बोलना, दूसरों को धैर्य धारण कराना ये सब काम गृहस्थीमें होंगें तो वे काम रागके कहलाये। सो इस राग बिना तो न चलेगा घरमें रहना, पर मोह बिना चलेगा, भीतरमें सही ज्ञान बनाये रहें कि मेरा आत्मा मेरे स्वरूपमात्र हैं, इनका आत्मा इनके स्वरूपमात्र है। सत्य ज्ञान बनाये रहें और घरमें रहनेके नातेसे रागव्यवहार पालन पोषण करते रहें।

निर्मोहताके कारण गृहस्थके भी व्याकुलता का अभाव—भैया, धर्म किसीको दुःख देनेके लिए नहीं होता, सबके सुखके लिए होता है। खुदके सुख के लिए होता है अब बतावो कि गृहस्थ निर्मोह होकर राग व्यवहार करता हुआ घरमें रहे तो कुछ काममें कमी आती है क्या? अरे आजीविका चलती है, घर चल रहा, सब कामकाज ठीक चल रहा, पर ज्ञानप्रकाश हो गया जिसके कारण अब उसे भीतरमें व्याकुलता नहीं रहती। कितनी ही कठिन परिस्थिति आ जाय, वह अधीर नहीं होता। समस्त दुःखोंको जानता कि ये तो कुछ भी दुःख नहीं है। इनसे भी कई गुने दुःख हुआ करते हैं अथवा यह तो परवस्तु का परिणमन है। उससे मेरे आत्मामें क्या आता? दुःख जितना भी माना जा रहा है वह अपने आत्मामें कल्पनायें करके माना जा रहा है। ज्ञानी जीवको विषय सुखोंमें आस्था नहीं रहती। रोग को कौन चाहता? पर रोग आ जाय तो इलाज करता या नहीं? इलाज करता हुआ भी क्या यह चाहता है कि मेरे ऐसा इलाज हमेशा चलता रहे क्योंकि इसमें बड़ा आराम है। बड़े ठाठ हैं, अच्छा कमरा है। कई नौकर चाकर है, अनेकलोग पूछताछ करते रहते हैं। अनेकों नाते रिस्तेदार सेवायें करनेके

लिए आते जाते रहते हैं, डाक्टर भी समय पर हाजिर रहता है, कोमल स्प्रिंगदार पंलग पर आरामसे पड़े रहते हैं, बताओ ये सब आरामके साधन हमेशाके लिए चाहता है क्या वह रोगी? अरे वह तो चाहता है कि मुझे कब इस झंझटसे छुट्टी मिले, मेरा रोग दूर हो और मैं प्रतिदिन एक दो मील टहलने जाया करूं। यों ही रोगी उन सब साधनोंमें राग तो करता है क्योंकि समयपर दवाई न मिले तो झुंझलाता है, सेवा पानेमें कुछ कमी हो तो नौकरों पर नाराज होता है, पलंगमें कुछ कोमलता कम हुई तो झुंझलाता है, यों राग तो उन सब साधनोंमें, पर उसे उनसे मोह नहीं है। वह नहीं चाहता उन सब साधनोंको, परन्तु परिस्थितिवश करना पड़ता हैं, ठीक यही हालत है सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवकी। व्यवहारमें रहकर उसे करना पड़ता है सब पर वह समझता है कि ये सब खटपटें करना मेरा काम नहीं, यह सब तो मुझे करना पड़ रहा है, रहना पड़ रहा है गृहस्थीमें पर यह सब मेरा काम न था। अब ये सब वेदनायें लगी हैं सो उनका इलाज भी करना जरूरी है सो करना पड़ता है पर मेरा कर्तव्य यह न था। मेरा काम था इन सब से आगे होकर मात्र अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मत्वमें लीन होना।

'अमूर्त आत्मामें स्वयं कष्टका अभाव होनेसे कष्टप्रतीकारकी अनावश्यकता—मैं आत्मा आकाशवत् अमूर्त हूँ। इस शरीरसे भिन्न ज्ञान ज्योतिमात्र हूँ। बस मैं आत्मा अकेला ही रह जाऊं, यही मेरा करने का काम था, बाकी तो सब फिजूलके काम हैं। इस अमूर्त आत्माको कोई बाधा नहीं दे सकता, छत पर्वत आदिकसे यह छिड़ नहीं सकता। लोग तो बताते हैं कि वैज्ञानिकोने ऐसा भी किया कि एक कांचके मकानके अन्दर किसी मरणहार व्यक्ति को रख दिया और ऐसा कांचसे बन्दकर दिया कि जिससे जीव तक के निकलने की जगह न रहे। पर क्या हुआ कि उस व्यक्ति के मरते ही जीव निकल गया, कांच तड़क गया, ऐसा लोग बताते हैं, पर यह बात मानने योग्य नहीं। जीव तो अमूर्त है, अमूर्त पदार्थ का मूर्तसे भिड़ना हो सकता? तो यह अमूर्त आत्माको कोई मूर्त पदार्थ बाधा दे नहीं सकता यह तो हालत है इस समय जबकि जीव कार्माण शरीरमें बंधा हुआ है। और जिसके कार्माण शरीर भी नहीं रहता, कर्मोका क्षय हो जाता यह पुरुष तो एक समयमें सिद्धलोकमें जाकर विराजमान हो जाता है। तो जीवको यों समझिये जैसे तार अलग बिजली अलग। मगर बिजली का आधार तार है ऐसे ही जीव अलग, शरीर अलग, मगर जीवका वर्तमान आश्रय यह शरीर है। आज कितना प्रिय लग रहा यह शरीर इस जीव को, मगर यह शरीर प्रीति किये जाने योग्य नहीं। यह एक दिन इन्हीं मित्रजनोंके द्वारा जला दिया जायेगा यही सबको आनी है। अगर ये मनुष्य मरते न होते तो यहां संसारमें पैर रखनेको जगह भी मिलना मुश्किल पड़ जाता। मान लो १०० वर्ष तक भी अगर कोई मरे नहीं और पैदा होते जायें तो भी यहां पैर रखनेको जगह न मिलेगी पर ऐसा नहीं होता। मरण सबका नियमसे होता तो जो शरीर अभी कुछ ही दिनोंमें जला दिया जायगा। वह प्रीति करने लायक नहीं है। हां यह शरीर तो हम आपको काम करने के लिए मिला है। जब तक शरीरमें बल है। जब तक इस शरीरमें बल है तब तक इससे काम ले लें। वैसे जरूरत नहीं है इस शरीरकी, पर जब साथ लगा है और शरीर की कुछ खुसामद भी करते तो फिर इस शरीरसे कुछ काम ले लीजिए। इस शरीरके प्रति आसक्तिका

भाव रखना योग्य नहीं। मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ। ऐसा भीतरमें ज्ञानप्रकाश रहे। मुझे ये संसारके सुख न चाहिए, मेरेको तो मेरा स्वाधीन आनन्द चाहिए।

परभावोंमें ज्ञाताकी अनास्था—एक जमाना था जबकि लोग विवाह बारातमें दूसरोंसे गहना (जेवर) माँगकर उसे पहिनकर जाया करते थे और सबके बीच बैठकर बड़ी ठसक बताते थे। मगर यह भी तो सोचो कि यदि दूसरोंको पता पड़ गया कि यह तो किसीसे माँगकर जेवर पहिन आया है तो क्या इज्जत रह गई उसकी? उसकी तो सारी शोभा बिगड़ गई। और मान लो कि कदाचित कोई दूसरे लोग न भी समझ पायें कि मांगा हुआ जेवर पहिनकर आया है तो खुद की आत्मा तो जानता है, कि मांगा हुआ जेवर है, खुद का नहीं, इसमें क्या ठसक दूसरों को दिखाना? तो ऐसे ही समझो कि यह संसारका जो वैषयिक सुख है वह माँगा हुआ हैं, पराधीन है। किससे उधार लिया? पुण्यकर्मसे। हमारी गाँठका नहीं है। तो उधार ली हुई कब तक अपने साथ रहेगी, वह तो सब जायगी। गाँठकी जो चीज है वह अपना सहज आनन्द है, वह कहीं न जायगा। उस सहज आनन्दको पानेका लक्ष्य बनाइये और इन उधार मिली हुई चीजोंका लक्ष्य न रखिये—यह तो हमारी कमजोरी है, वेदना है, भोगना पड़ता है, मगर इसको मैं नहीं चाहता। मैं तो अपना निजी स्वाधीन आनन्द ही चाहता हूँ, ऐसा चित्तमें संकल्प होना चाहिए। ज्ञानी जीवका यह निर्णय है इस कारण उसे विषयोंके सुखोंमें अनुराग नहीं रहता। यह कहा जा रहा है सम्यग्दृष्टिका दूसरा निःकांक्षित गुण। इसमें एक बात ओर विशेष समझिये कि घरमें रहने पर क्या यह इच्छा नहीं होती कि दूकानमे या कारखानेमें बैठनेपर मेरी आमदनी हो? होती है इच्छा मगर धर्मके स्थानमें जाकर या धर्म का कोई काम करके चाहना कि मुझे पैसा मिले, तो यह पाप है। इसमें सम्यक्त्व नहीं रहता। आकांक्षा भी दो तरह की हो गई—एक तो धर्मधारण करके इच्छा करना और दूसरी—धर्मके एवजमें नहीं किन्तु जरूरतके कारण इच्छा करना, इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है। जरूरतके कारण ज्ञानीके इच्छा होती है मगर धर्मधारण करके उसके एवजमें संसारके सुख और साधनोंकी इच्छा ज्ञानीके नहीं होती। उस धर्मके प्रसंगमें तो के वल धर्मकी धुन रहती है। मैं आत्मा अपने सहज ज्ञानानन्द को अनुभवूं जैसा कि प्रभुने अनुभवा है। धर्मके प्रसंगमें केवल यही भावना रहे। तो ऐसा सम्यग्दृष्टिके निःकांक्षित अंगका वर्णन हुआ।

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सागुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥ १३॥

सम्यग्दृष्टिका आन्तरिक और बाह्य निर्विचिकित्सित अङ्ग—सम्यग्दृष्टि जीवका अंतरंग कैसा होता है और बाहरमें प्रवृत्ति कैसी होती है उन अंगोंका वर्णन चल रहा है। इस श्लोकमें निर्विचिकित्सा अंग बताया जा रहा है। निर्विचिकित्साका अर्थ है ग्लानि न करना चित्तको मलिन न बनाना। अन्तरंग स्वरूपको देखकर प्रसन्न रहना। यह शरीर प्रकृत्या अपवित्र है। हम आपके शरीरमें नीचेसे ऊपर तक क्या बसा है? हड्डी, माँस, मज्जा, नसाजाल, चामरोम आदिक ये सब तो इस शरीरमें पड़े हैं, कुछ सारभूत बात है क्या? तो यह शरीरसे अपवित्र है, किन्तु इस शरीरमें रहने वाला कोई भव्य जीव यदि

रत्नत्रयसे पवित्र है जिसे आत्माका श्रद्धान सही है, ज्ञान सही है और अपनेमें ही रमनेका जिसका पुरुषार्थ चल रहा है उस मुनिके शरीरमें देखो तो लोग मंगलपना मानते हैं। कहते कि यह पवित्र है। रत्नत्रयके संयोगसे पवित्रता कही जा रही है। ऐसे उस मुनि आदिके शरीरमें कोई रोग हो जाय, उसकी सेवा करें तो सेवा करनेमें ग्लानि न रखना, चित्तको मलिन न रखना सो निर्विचिकित्सा अंग है। जिसने सम्यक्त्व पाया वह दूसरे सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी सयंमी जीवोंको देखकर प्रसन्न रहता है। रास्तेमें जा रहा हो पैदल या किसी प्रकार और जिस जगह जाता है उसी जगह का जाने वाला और मिल जाय तो कितना प्रसन्न होते हैं आप? एक से दो, दो से चार हो गए। तो ऐसे ही जो सम्यग्दृष्टि पुरुष है उसका निर्णय है कि मोक्षमें जाना और मोक्षमें जानेका प्रयत्न करने वाले साधुजन दिख जायें तो उसे कितना हर्ष होता है और जिसके प्रति हर्ष होता है, उसकी सेवा करनेमें ग्लानिका परिणाम न बनना। माता पिताको अपना बच्चा प्रिय है तो बच्चेकी सेवा करनेमें चाहे वह बच्चा शौच कर दे, मूत्र करदे तो भी उस बच्चेके प्रति म्लान परिणाम नहीं करते। ऐसे ही साधुसंत जनों की सेवा करनेमें कोई व्याधिवशकय हो जाय, दस्त होने लगे कैसी ही स्थिति हो उससे ज्ञानी जीव मलिनताका परिणाम नहीं लाता। अब उसके अंतरंगसे परखिये कितने ही पूर्वके बंधे कर्म हैं उनका उदय आता है तो किस भवका पापका उदय आया और कैसी ही स्थिति हो जाय तो कोई उपसर्ग हो क्षुधा आदिक वेदना हो, दरिद्रता हो कुछ भी स्थिति आये उस स्थितिको कर्मकी दशा जानकर ज्ञानी जीव अपने परिणाममें म्लानपना नहीं लाता। खेद हो या उस पर कुछ ग्लानि बने। ज्ञाता दृष्टा रहता है। यह है सम्यग्दृष्टिका निर्विचिकित्सा अंग।

सहजात्मस्वरूप होने पर भी अज्ञानमें व्याकुलताकी चेष्टायें—दूसरे जीवोंको भी जब यह ज्ञानी देखता है तो मूलमें परखकर लेता कि यह है सहजात्मस्वरूप अर्थात् सहज आत्मस्वरूप। जो प्रभुका स्वरूप है सो सब जीवोंका स्वरूप है। एक दरवाजे पर मकड़ा बैठा था, आज की बात है, तो देखा तो वह कुछ चलने लगा। मालूम होता कि उसके आखें भी होती और कान भी होते। आवाज होने पर वह भागता भी था, तो उसे देखकर हमारे मुख से अचानक ही ये शब्द निकले—अहो सहजपरमात्मस्वरूप। इस मकड़ेके आत्माका स्वरूप भी वैसा ही पवित्र है जैसा कि अन्य सब आत्मावोंका। और उसकी भी पर्याय देखकर कि ऐसी पर्यायें इस जीवने हम आपने कितनी बार पायी हैं। क्या जीवन हैं कीड़ोंका, मकोड़ोंका, मकड़ियोंका। ऐसी पर्याय जब पायी गई। आज एक मनुष्य पर्यायमें हैं तो भी हर भवोंकी तरह रागद्वेष मोहमें आसक्त हो रहे। एक बड़ी चिड़िया थी, हम इसी आंगनमें बैठे थे, तो वह चिड़िया बार-बार मेरे सिरपरसे निकले, एकदम निकटसे, चोंच तो नहीं लगाया, पर ५-७ बार निकली वह चिड़िया। मैंने सोचा कि बात क्या है, मैंने इसका कोई अपराध तो किया नहीं, पर ऐसी गुस्सा भरी दिख रही थी जैसा कि मानो मैंने उसका कोई बिगाड़ किया हो। थोड़ी देर में मैंने सोचा कि शायद इसका बच्चा गुम गया है जो मेरी पिछीमें बच्चेका भ्रम करके आ रही हो फिर मैंने ज्यों ही नीचेकी ओर देखा तो क्या देखा कि उस चिड़ियाका एक छोटा बच्चा नीचे चल रहा धीरे-धीरे। और उस बच्चेके ही कारण वह चिड़िया बड़ी बेचैन होकर मेरे पाससे बार आती जाती थी। तो देखिये चिड़ियोंको भी अपने बच्चोंपर कितना तीव्र मोह होता है। हम आपको तो उनके बच्चों पर

कुछ प्यार नहीं होता पर वे अपने बच्चोंको अपना सर्वस्व जैसा समझते। तो ऐसे ही समझलो कि यह जीव जब जिस भवमें जाता है उस भवमें जिन जिनका संयोग होता है उनसे यह अधिक आसक्ति मोहकर लेता है। फल यह होता है कि भव भवमें यह ही गल्ती करता है और जन्म लेता है, मरण करता है।

केवल सहजात्मस्वरूप निरखनेमें मोक्षमार्गके सर्व पौरुषोंकी सुगमता—अपने स्वरूपको देखिये—यह विशुद्ध चैतन्यस्वरूप जाननहार है, उसमें कष्टका काम नहीं। कष्ट तो कर्म फिल्मका अक्स है, वह भिन्न चीज है। मैं तो भगवानकी तरह हूँ। अच्छा यह ही बताओ कि जन्मे, बड़े हुए, विवाह किये, बच्चे हुए, चिन्ताकी, मरण किया, फिर जन्मे, तो वही-वही करते रहना अच्छा लगता है क्या? यदि संसार संकटोंसे छूटनेकी इच्छा है तो फिर उसका उपाय क्यों न बना लीजिए? क्या है इसका उपाय? इसका उपाय यह है कि जैसे मोक्षमें केवल आत्म ज्योति रहती है ऐसे ही मुझमें केवल आत्मज्योति अब भी है। वहाँ सर्व बाह्य संगसे रहित दशा है और यहां ये शरीर तथा कर्म साथमें लगे हैं। तो यहां पर अपनी केवल आत्मज्योतिका ज्ञान बनायें और उसको ही आत्मस्वरूप मानें। तो उपाय है मोक्षके मार्गका। सो किसी भी भवमें यह काम करने की इच्छा नही हुई। आज इस मनुष्य भवमें आये और यहां भी उस प्रकार की इच्छा न हुई तो फिर कब काम सुधरेगा? तो अपने सहज आत्मस्वरूपको निरखिये और यह भी परखिये कि जितना क्षुधा तृषा इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग, राग व्याधि अपमान आदिक जो जो भी कष्ट आते हैं वे कष्ट कर्मके विपाक हैं मेरे स्वरूप नहीं हैं। इसलिए कष्टोंमें भी चित्तको न गिराना, मनको मलिन न करना, यह कला होती है सम्यग्दृष्टि जीवकी। वह दो बातें तकता है। एक तो यह कि जो दुःख हम पर आया है वह दुःख न कुछ है, इससे भी कई गुने दुःख हुआ करते जीवों पर। मानो जिसके दरिद्रता है, रोज-रोज के खाने का कोई प्रबंध नहीं हैं। शरीरसे भी लाचार है, अंधा है तिस पर भी रोगी हो, कोढ़ी हो, सब लोग उसको दुतकारते हैं, जरा उसका दुःख तो देखो। उसके मुकाबले तो यहां कुछ कष्ट नहीं। ज्ञानी जीव एक तो यों निरखता है इसलिए अपने पर आये हुए कष्टोंसे उद्विग्न नहीं रहता है। दूसरी बात यह कि ज्ञानी जीव अपने आत्मामें अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपको देखता है। मैं तो यह पवित्र आत्मस्वरूप हूँ, इस कारण उसे कर्मकी दशाओंमें अधीरता नहीं आती, दूसरे दुःखी गरीब शरीरके अत्यन्त रोगी पशु पक्षी मनुष्योंको निरखकर भी ज्ञानी यह जानता है कि इनका आत्मा तो मूलमें पवित्र है, चैतन्यस्वरूप है, पर सब कर्म की लीला है। अपने को भी यों ही निरखना कि मैं अंतरंगमें पवित्र हूँ, केवल चैतन्यमात्र हूँ। अब जो अनेक बातें आती हैं। ऐसा जानने वाला सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष अपने मनको खेद खिन्न नहीं रखता और साधर्मी जनोंकी सेवा करनेमें ग्लानि नहीं करता।

उद्दायन राजाके निर्विचिकित्सत अंगके पालनकी ख्याति—निर्विचिकित्सत अंगकी एक कथा प्रसिद्ध है। स्वर्गोंमें यह चर्चा चल रही थी कि इस समय उद्दायन राजा साधुजनोंका बड़ा भक्त है, सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानी है, तो यह चर्चा जब स्वर्गोंमें सुनी देवोंने, वहां भी प्रवचनसभा चलती है, और उसमें मुख्य वक्ता इन्द्र होता है इसलिए उसको बृहस्पति भी कहते है, और बाकी सब लोग सुनते है, क्योंकि

धर्मकी बात कुछ न सुने तो वह जीवन बड़ा ऊबासा जीवन होता है। वे देव लोग विषयोंमें रमते हैं, नाना प्रकारके सुख भोगते हैं, और यही-यही करे तो वे प्रसन्न नहीं रह सकते, सुखी नहीं रह सकते तो उनके भी घण्टों धर्म चर्चायें चलती रहती हैं। तो एक देवके मनमें आया कि मैं उद्दायन राजाकी परीक्षा करूं सो वह आया मुनि भेष बनाकर, चर्याके समय पहुंचा, उद्दायन राजाने उनको पड़गाहा। आहार दिया। मुनि तो थे नहीं, देवका रूप था, आहार लिया और कय कर दिया, तो वह राजा उद्दायन और उसकी पत्नी अपने कर्मोंको धिक्कारती हुई कि मेरा कैसा अशुभ कर्म है कि आज महाराज को आहार देने का मौका मिला और उनको पचा नहीं कय हो गया, बड़ी तकलीफ है, सो वे कय वगैरह साफ करने लगे, उनका शरीर पोंछने लगे, रंच भी ग्लानि नहीं की। तब उन्होंने रूप प्रकट करके कहा कि हमने जैसा सुना था कि आप बड़े धर्मात्माजनोंके प्रेमी हैं, ज्ञानी हैं सो वह चीज हमने आज पाया। हम देव हैं, हमको क्षमा करो। मुझे एक परीक्षा भर करना था। तो जो ज्ञानी पुरुष है वह ग्लानि नहीं करता। अशुचि पदार्थ भी दिखें तो जान लिया साधारण रूपसे कि यह अशुचि चीज है पर अन्य लोगों की भांति नाक भौंह नहीं सिकोड़ता। मात्र उसका ज्ञाता भर रहता है। तो इसकी दृष्टिमें कि शरीर तो अपवित्र ही है सबका मगर वह मनुष्य पवित्र है। जिसका आत्मा रत्नत्रयसे युक्त है, उसमें उसकी प्रीति जगती है और किसी प्रकारकी ग्लानि नहीं होती। कभी कोई कर्मका तीव्र उदय आये और उसका खोटा फल मिलें, जिसमें कष्ट माना जाय जो वहां यह सोचता है कि जो मैंने कर्म किया सो वे भोगने में आ रहे हैं। सो यह तो भला हो रहा है कि वे खोटे कर्म मुझसे अब निकल रहे हैं। ज्ञाता जीव किसी भी स्थितिमें ग्लान-म्लान नहीं बनता। यह सम्यग्दृष्टि की पहिचान चल रही है। अब सम्यग्दृष्टि की चौथी पहिचान है अमूढ़दृष्टि उसका वर्णन करते हैं।

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसंमतिः।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढ़ा दृष्टिरुच्यते॥ १४॥

ज्ञानीकी कापथ और कापथस्थोंमें असम्मति—ज्ञानी पुरुष खोटे मार्गमें सम्पर्क नहीं बनाता। वह दुःखोंका मार्ग है। और खोटे मार्गमें चलने वाले चाहे वे सन्यासीके रूपमें भी हों उनकी संगति नहीं करता और इतना ही नहीं सम्बंध नहीं बनाता और उनकी प्रशंसा भी नहीं करता, यह कहलाता है अमूढ़दृष्टि अंग। भीतर जान लिया कि यह मैं पवित्र ज्ञानमात्र आत्मा हूं इसके सुखका मार्ग यही है कि अपने आत्मस्वरूपको निरखूं। इसी में ही संतोष है। जगतका कोई दूसरा पदार्थ मेरे संतोष के लायक नहीं। मुझको सत्य संतोष मिलेगा तो मेरे आत्माराममें ही मिलेगा। सो मेरे दुःखोंसे छुटकाराका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। जो लोग इस मार्गसे विरुद्ध चल रहे हैं वे खोटे मार्गमें हैं। मिथ्यात्वके उदयके कारण रागीद्वेषी जीवोंको लोग देव मान लेते हैं, उनकी पूजा प्रभावना करते हैं, पर उसे देखकर चित्तमें प्रशंसाका भाव न जगे किन्तु यही ध्यानमें रहे कि ये सब संसारमें रुलनेकी ही करतूत हैं। देव, शास्त्र, गुरु जो सत्य हैं उसमें ही उनकी श्रद्धा रहे। अन्य रागीद्वेषी जीवोंमें देवरूपसे श्रद्धा न रहे। कितने ही लोग मंत्रवादी अपने मंत्रका कोई प्रभाव डालते हैं लेकिन वे ख्याल बनाकर

उसमें अपना बड़प्पन मानते हैं, तो ऐसे लोगोंको देखकर भी यह ही सब कुछ है यह ही आदर्श है ऐसा नहीं मानता। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानी है, संयमी है वह ही भले मार्ग पर चलने वाला है यही सुनिर्णय है।

देखो भैया कितनी तरहकी बातें दुनियामें चलती है मिथ्यात्वमें। कुवा पूजते हैं, बावड़ी पूजते हैं और उसमें धर्म मानते है। भले ही इन कुवा बावड़ी आदिसे उपकारकी कई बातें मिलती है, पर संसारसे छूटने का जो मार्ग है। सो इनमें नहीं है। लौकिक लोगोंके उपकारकी बात हैं। सो गृहस्थजन करते भी हैं ऐसा। मगर यह धर्मका काम है, इसमें मेरा उद्धार हो जायगा यह श्रद्धा नहीं होती ज्ञानीकी। वह तो जानता है कि मेरा सहज आत्मस्वरूप ज्ञानमय है। इसकी दृष्टि और इसकी अवस्थामें ही हमारा कल्याण निहित है। तो जो अन्य प्रकारके देवी देवताओं को मानते हैं उनको देखकर मनमें उनके प्रति प्रशंसा और उत्साह भाव न हो।

देहोपकारक वस्तुवोंमें देवत्वकी श्रद्धासे लोकमूढ़ताका विस्तार—भैया कितनी ही बातें लोकमूढ़ता की होती है—जैसे बड़के पेड़में धर्मबुद्धिसे थोड़ा कलसा से पानी सींचना। और उस पेड़के चारों तरफ धागा बांधना, इसे लोग कहते हैं कि धर्म कर रहे हैं। बड़ पेड़ क्या है? एकेन्द्रियजीव और जो पूजने वाला कौन है? पंचेन्द्रिय जीव। कैसा मिथ्याभाव छाया है कि जिसमें कोई देवतापन की बात नहीं फिर भी लोग उसे बढ़ा-चढ़ाकर देवता कहते है। ये देवता कैसे कहलाने लगे, इसकी बात सुनो—कोई पहले ऐसा जमाना था कि इन मनुष्योंके काममें जो चीज अधिक आये उसको देवतारूप मान लेते थे। जैसै—अग्नि देवता, अब आग बिना तो सब काम बन्द रहेगा। न रसोई का काम बन सकेगा, न अन्य कोई जलाने पकाने आदि के काम। तो बड़ा उपकार हो रहा है अग्निसे जिससे अपना जीवन अच्छी तरह चले उसको लोगोंने देवता मान लिया, पर देवतो वास्तवमें वह आत्मा है जिसमें रागद्वेष रंच नहीं, ज्ञान और आनन्द अनन्त प्रकट हुआ है और उसे छोड़कर अन्य कैसे-कैसे देव माने जाते हैं। गाय, देवता, गाय बड़ा उपकारी जानवर है, उसके दूधसे बच्चे पुष्ट होते हैं, बैल बनते हैं, खेती की जाती है जिससे लोगोंका पोषण होता हैं। तो जिससे अपने प्राणोंको पोषण मिलता उसे देव मान लेने की बात मनमें थी, क्योंकि आत्मा परमात्माके बोध वाला जमाना न था। अब बड़के पेड़को देवता क्यों मानते सो सुनो—बड़का पेड़ इतना बड़ा छायादार होता कि उसके नीचे बारात पड़ जाय, सेना ठहर जाय, मुसाफिरोंको ग्रीष्मकालमें शीतल छाया मिले, वर्षाकालमें भीगनेसे बचें, यों बड़ा उपकार मिलता है बड़के पेड़से, इसीसे लोगोंने उसे देवता रूपमें माना। अब पीपलके पेड़ को देवता क्यों मानते सो सुनो—आयुर्वेद के अनुसार बताया है कि पीपपल के पत्तों से स्पर्श की हुई हवा प्रकृत्या ही निरोगताबर्द्धक है इसी कारण बहुत उपकारी होनेसे उसे देवता माना जाने लगा। अब यहां मनमें एक ख्याल आता है कि लोगोंने नीमके पेड़को क्यों छोड़ दिया देवता मानने से? नीमका पेड़ तो बड़ा ही उपकारी होता है, कितने ही रोग उसके द्वारा दूर किये जाते हैं। तो शायद नीमके कड़वा होनेका अवगुण होनेके कारण उसे छोड़ दिया होगा। खैर कुछ भी बात हो। पर बात यहां यह समझना कि जिसे लोगोंने अपना माना उसमें देवतापने की मान्यता बनाया। सूर्य देवता—सूर्य को भी लोग देवता मानते। अगर

सूर्य न निकले दो चार दिन तो लोगों को पता पड़ जाय कि बिना सूर्यके निकले कितना कष्ट होता है, मगर सूर्यको बड़ा उपकारी मानकर लोग सूर्य देवता कहने लगे। पर वहां वास्तविकता यह है कि सूर्य तो एक पृथ्वीकायिक विमान है, उसमें रहने वाला इन्द्र है वह भी देवगतिका जीव है। उसमें पूज्यताकी क्या बात? ऐसी ही बात चंद्र देवताके विषयमें समझना। इनमें पूज्यताकी कोई बात नहीं, पर उपकारी जानकर लोगोंने इन्हें देवता मानकर पूजा। लोग तो चक्की उखलीको भी देवता मानकर पूजते, अनेक चिथड़ोंके पुतले बनाकर देवता मानकर पूजते, पर ये सब मिथ्यात्व भरी बातें हैं।

सम्यग्दृष्टिकी समीचीन देव शास्त्र गुरुमें आस्था—वास्तवमें देव वह है जिसको ज्ञान परिपूर्ण हो गया हो और रागद्वेषादि विकार जिनके रंच भी न हो। वही स्वरूप तो मेरा भी है। तो अपने स्वरूप की यादके लिए प्रभुकी भक्ति बहुत काम देती है। तो ऐसे किसी भी प्रकारके लोगों द्वारा माने हुए गुरु हों, देव हों, शास्त्र हों, जिनमें वीतरागताकी बात नहीं है उनकी प्रशंसा न करना, उसका प्रभाव न होना यह कहलाता है अमूढ़दृष्टि अंग, अर्थात अन्य तत्वमें मुग्ध न हो ऐसी दृष्टि मिली है। सच्चा मार्ग तो एक दिगम्बर मार्ग है, मायने जिसको कुछ न चाहिए, मुक्ति ही चाहिए वह किसी भी अन्य वस्तु का सम्पर्क न रखेगा। तो जो आडम्बर रखता है, मूल्यवान वस्त्र पहिनता है, नाना प्रकारके भेष धारण करता है, उसके प्रति श्रद्धासे सिर झुका देना मिथ्यात्व है। तो जो वीतराग सर्वज्ञ है वह तो हमारा देव और जिसमें तत्त्वस्वरूपकी बात कही गई है, वीतरागताकी बात बतायी गई है वह है शास्त्र और जो उस मार्ग में चल रहे वे कहलाते हैं गुरु। इन्हें छोड़कर अन्य प्रकारके देव, शास्त्र, गुरुमें मोक्षमार्ग की श्रद्धा न होना अमूढ़दृष्टि अंग कहलाता है।

स्वयंशुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयां।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनं॥ १५॥

उपगूहन अङ्गके पालक ज्ञानीकी आन्तरिकता—मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रक एकत्व है। अर्थात अपने सहज आत्मस्वरूपको यह मैं हूँ, इस रूपसे श्रद्धा करना और सहज आन्तस्वरूपका ज्ञान रहना और इस दिशा ही में रमण करना, यह एकत्व मोक्षका मार्ग है। संसारमें सर्वत्र ही संकट हैं, इस कारण संसारसे छुटकारा पानेमें ही अपना कल्याण हैं। दूसरी बात चित्तमें न रहनी चाहिए। जो कुछ इस भवमें संयोग वियोग चल रहा है और आजीविकाके प्रकरणमें जो कुछ भी लाभ-अलाभ चल रहा है। वह सब पर पदार्थोंकी परिणति है। पर पदार्थोंके विषयमें हठ न होना चाहिए कि मुझको तो इतना ही वैभव चाहिए। मुझे इतना ही कमाकर रहना है, तब ही मेरेको सुख होगा यह हठ न करना, किन्तु यहां यह कला प्रकट करना है कि पुण्योदयवश जैसा जो कुछ हमारे साधारण परिश्रम से लाभ हो, हममें वह कला चाहिए कि उस ही परिस्थितिमें हम गुजारा प्रसन्नतासे कर सकें। बाह्य पदार्थोंपर हमारा अधिकार क्या, कुछ अधिकार नहीं किन्तु अपने आपको अपने ही सामर्थ्यसे उस ही में गुजारा कर लेनेकी कला का अधिकार है। क्योंकि यह मैं स्वयं हूँ। मैं अपने आपको समझा सकता हूँ। मेरा स्वयंपर अधिकार है। अत: मैं अपनी ज्ञानकलाका आलम्बन लूंगा। किसी पर पदार्थकी हठ

न करूंगा यह निर्णय अन्तरंगमें रहना चाहिए तब ही यह जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्रके मार्गमें लग सकता है।

उपगूहन अडगकी प्रयोजकता—यह रत्नत्रयभाव संसारसे छुटकारा पानेका मार्ग है। यह मार्ग प्रशस्त रहे, निर्दोष रहे, जगतके जीव समझें कि मार्ग तो बस यही है। उत्थानका उपाय यही है। ऐसी जैनशासनकी निर्दोषता चले इसके लिए उपगूहन अंगका पालन होता है। मार्गतो स्वयं सिद्ध है, मार्गमें स्वयंमें दोष नहीं है, किन्तु इस मार्गमें लगे हुए कोई बालक या असमर्थ पुरुषोंके द्वारा कोई दोषका काम हो जाय तो उस दोषको दूर करना अर्थात् इस जैनशासनमें दोष है, ऐसा लोगों की दृष्टिमें न आये, ऐसा उपाय करने का काम उपगूहन अंग है। वह उपाय क्या है? तत्काल तो यह है कि बालक असमर्थ, मनुष्य द्वारा कोई दोष हुआ है तो उस दोषका आच्छादन करना, ढाकना, प्रकट न होने देना, जैसे कि यह प्रसिद्ध है कि किसी धर्मात्मा पुरुषसे कदाचित कोई अपराध हो जाय तो उसे ढाकना, उसका अर्थ यह नहीं है कि उस पुरुषको दोष करने के लिए बढ़ावा देना। प्रयोजन यह है कि लोग यह न जानें कि वाह यह जैन धर्म या यह शासन तो ऐसा ही चल रहा है, इसमें ऐसे ही दोष रहा करते हैं। यह धर्म लोगों की दृष्टिमें शुद्ध बना रहे इसके लिए यह उपगूहन अंग है। तो इस ज्ञानी पुरुषने उस दोष करने वालेसे प्रेम नहीं किया किन्तु उसमें जैन शासन पर प्रीति करके दोष करने वालेके दोषोंको ढाका। कहीं लोगोंमें यह न प्रसिद्ध हो कि यह जैन शासन तो ऐसा ही दोषमय हुआ करता है। इसके लिए असमर्थ जीवके आश्रय होने वाली वाच्यताको, निन्द्यताको शुद्ध करनेका काम उपगूहन अंग है। इसके साथ ही यह भी कर्तव्य है कि जिससे दोष हो उसे चेतावनी दे देना चाहिए, समझाना चाहिये। भय न करना चाहिए कि मैं कैसे इसको कहूँ। यह बड़ा भारी प्रेम है कि दोष होने पर उसके दोषोंको उस ही से एकान्तमें बताया जाय कि इसमें आपका कल्याण है और वह दोषोंसे दूर हो सके ऐसी विधि बनावें, इसे कहते हैं उपगूहन अंग इसका दूसरा नाम है उपवृंहण अंग, अर्थात गुणों से बढ़ना सो उपवृंहण कहलाता है। उस उपवृंहण अंगसे यह लाभ है कि जगतमें भविष्यमें भी संसार संकटोंसे मुक्ति पाने के मार्ग की परम्परा चलती रहेगी। ऐसा यह मोक्षका पथिक पुरुष मोक्षमार्गको निर्दोष निरखना चाहता है।

धर्मात्माजनोंसे कदाचित् दोष होनेपर उसके सम्बंधमें एक चिन्तवन—किन्हीं धर्मात्माजनोंके दोषोंको देखकर यह विचार करना चाहिए कि कर्मका उदय बड़ा विचित्र है। यह जीव भी तो अपना आनन्द चाहता है। मेरे आत्माको वास्तविक आत्मीय आनन्द मिले, शान्ति मिले, मोक्ष मिले, लेकिन करोड़ों भवोंमें पहले के बद्ध कर्म भी आज उदयमें आते हैं और उस उदयमें कैसी बुद्धि कैसी शारीरिक दशा होती है ऐसे ही मुझ पर भी आ सकती है। मुझ पर भी आयी है, ऐसा निरखकर उस दोष करने वालेके आत्मासे ग्लानि न उत्पन्न होने देना। किन्तु उसके उद्धारके लिए उन दोषोंको उपस्थित करना। बताना कि ऐसे दोष न होवें तो आपका कल्याण है और जैन शासन की प्रभावना है। यह कर्मदशा क्या चीज है? पूर्वबद्ध कर्म जब आत्मासे निकलते हैं तो जो कुछ प्रकृति का कोई पुरुष हो तो वह निकलते समय अपनी दुष्टता का अधिक से अधिक प्रयोग करके जाया करता है तो अनुभाग बंध जिन कर्मोंका विचित्र था तब यह आत्मासे निकल रहा था तो बड़े तेज विकट फल ये अपनेमें प्रकट करते

हैं। जैसे चूने का डला-जब उसकी म्याद पूरी होती है अथवा कोई उस पर पानी डाल दे उदीर्णाकर दे, तो जैसे वह डला फूलकर एक विचित्र रूप रख लेता है, ऐसे ही ये कर्म उन विपाकोंको भुलाकर ऐसी विचित्र रूप रखते हैं कि जिसका अक्स आत्मा पर पड़ता ही है। प्रतिफलन होता है तो उससे आक्रान्त होकर यह आत्मा अपने स्वरूपकी सुधस छोड़कर विकल्पमें लग जाता है।

अपना आन्तरिक ज्ञान व यथार्थ परिचयके लाभमें प्रगतिकी मुद्रा—ध्यान तो यहां ही देना है वास्तविक, इसे भेद विज्ञान कहते है। यह मैं आत्मा हूँ ज्ञानमात्र। केवल जाननस्वरूप निराला। केवल जाननस्वरूप में कोई विकार नहीं हुआ करता। पर कर्म फिल्मका यह प्रतिफलन, यह विकार मुझपर छाता है। और मैं उसे अपनाता हूँ और अपनेको दुःखी कर लेता हूँ। यह स्थिति ज्ञान होने पर भी कुछ चलती है। तो उसे भेद विज्ञानसे दूर करना और दूसरेके दोषोंको भी भेदविज्ञानसे दूर करानेका यत्न यह ज्ञानी पुरुष करता है। जब तक विकार से, विकार के आश्रयसे उपेक्षा न होगी तब तक मार्ग निर्दोश न चल पायगा। वह उपेक्षा कैसे हो? तो देखिये जितने भी विकार हुआ करते हैं उन विकारोंके दो प्रकार हैं। व्यक्त विकार ओर अव्यक्त विकार। जैसे हम मन्दिरमें बैठे हैं, पूजा कर रहें हैं, स्वाध्याय सुन रहे हैं, काम अच्छा कर रहे और चित्त लगाकर कर रहे फिर भी पाप कर्मका उदय भी निरन्तर अभी चल रहा है। चारित्र मोहनीयका उदय अभी भी चल रहा है। लेकिन उपयोग हैं प्रभुके गुणोंमें। उपयोग है तत्त्वके श्रवणमें, तो उदित हुये वे पापकर्म फल दिखाकर तो चले जाते है, किन्तु वह फल अव्यक्त रहता है। हमारी बुद्धिमें नहीं आ पाता, इसे कहते हैं अबुद्धिपूर्वक। तो आप यह देखें कि शुभोपयोग की प्रक्रियामें कितनी सुविधा मिलती है। जिसने शुद्ध अंतस्तत्त्वका परिचय किया है और उस ही लक्ष्यमें रहना हुआ, शुभोपयोग में परिणत हो रहा है तो उदयमें आने वाले पापकर्म अव्यक्त फल देकर निकल जाते हैं। एक लाभ, दूसरे लाभमें शुभोपयोगसे अपने आत्माको ऐसा बचाया, उन पाप विकारों से दूर किया, इतनी पात्रता जगी कि यहां चाहे एक क्षण दृष्टि दें अपने कारण समयसारकी ओर तो हम इसको प्राप्त कर सकते हैं। पात्रता बने यह दूसरा उसका लाभ है। तीसरा लाभ-उस शुभोपयोगकी प्रकर्षतामें जैसे प्रभुके गुणोंमें हमारा चित्त बढ़ता जाता है तो गुणोंकी समानता के कारण कभी वहां भी विकल्प को छोड़कर निर्विकल्प अन्तस्तत्त्वको पा सकते हैं फिर ज्ञानी जीव शुभोपयोगको उपादेय नहीं मानता, अत्यन्त उपादेय नहीं मानता। चल रहा है उस विधि में, अगर शुभोपयोग कथञ्चित उपादेय न हो तो वह चले कैसे। फिर भी वह मानता है कि यद्यपि इस परिस्थितिमें शुभोपयोगको उपादेय बताया है तथापि शुद्ध तत्त्वके पाने पर वह स्वयमेव छूटता है। ऐसे निर्दोष मार्गको बताने वाले शासनमें लोग कलंकन ला सकें इसके लिए ज्ञानीजीव उपगूहन अंगका पालन करते हैं।

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते॥ १६॥

सम्यक्त्व और चारित्रसे चलित हो रहे स्व परको सम्यक्त्व व चारित्रमें स्थित करनेकी ज्ञानी की वृत्ति—ज्ञानी पुरुष स्व और परके अन्तः स्वरूपको जान चुका। मैं हूँ यह ज्ञानमात्र अपने

स्वरूपास्तित्त्वसे परिपूर्ण और अन्य द्रव्य अनन्तानन्त शेषजीव, अनन्तानन्त सभी पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य, ये सब पर द्रव्य हैं। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यमें प्रवेश कभी नहीं होता। निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था तो ठीक है परन्तु एकद्रव्यका सत्त्व दूसरेमें विलीन हो गया हो यह कभी नहीं हुआ, अथवा एक पदार्थका दूसरा कुछ लग गया हो, स्वामी हो गया हो यह कभी नहीं हो सकता। मैं अपने आपमें अपने आपको करता हूँ। अपने द्वारा करता हूँ। अपने लिए करता हूँ। अपने में करता हूँ। यही हमारा वास्तविक व्यवसाय है। ऐसे ही सब द्रव्योंका अपना व्यवसाय है। तो ऐसा परिचय हो जाना शान्तिका आधार है। सो इस ज्ञानीका अपने आपमें यह निर्णय बना है कि हमको अपने दर्शन ज्ञान चारित्रसे स्खलित न होना चाहिए, क्योंकि अपने स्वरूपकी दृष्टिसे अलग होकर किसी बाह्य पदार्थमें उपयोग रखेंगे, उसीको अपना सर्वस्व मानेंगे तो उसमें सिवाय आकुलता के और कुछ नहीं है। यह बात प्रसिद्ध है। ऐसा निर्णय करने वाला जीव भी इसी धर्मसे सम्बन्धित अन्य समारोह में, प्रबन्धमें, व्यवस्थामें लगता है पर ध्येय उन सब व्यवस्थावोंका यही है कि मेरा रत्नत्रय स्वरूप मेरे को प्रकट हो। तो अपने आपको इस रत्नत्रयसे स्खलित न करना चाहिए और दूसरे सम्यग्दृष्टि ज्ञानीजीव किसी कारणसे यदि वे अपने धर्मसे चलित हो रहे हों तो हर उपायोंसे उन्हें धर्ममें स्थिर करना यह कहलाता है स्थितिकरण अंग।

धर्मवत्सलता हुए बिना यथार्थ स्थितिकरणाडग की अनुत्पत्ति—यह स्थितिकरण तब तक नहीं हो पाता जब तक कि धर्मवत्सलता प्रकट न हो। वह रत्नत्रय धर्म जिसको प्रिय है वही दूसरे आत्मावोंसे प्रेम कर सकता है। जैसे कि सिनेमा देखने जाने वाले लोग अन्य देखने जाने वाले लोगोंसे अपनी मित्रता बना लेते हैं और एक दूसरेके कन्धे पर हाथ रखकर सिनेमा देखने जाते हैं, ऐसे ही मोक्ष मार्गमें जाने वाले ज्ञानी पुरुष दूसरे साधर्मी बंधुवों से अपनी मित्रता बनाकर चलते हैं वे सब परस्परमें एक दूसरेका कल्याण चाहते हैं। ज्ञानी जीवने अपूर्व वैभव पाया है अपने सहज आत्मस्वरूपका दर्शन। सहज आत्मस्वरूपका ज्ञान। सहज आत्मस्वरूपमें रमण। यही कला उसको इस संसार समुद्रसे पार करने वाली है। तब इस ज्ञानी जीव को अन्य सब बाह्य चीजें अनुपादेय लगती हैं जैसे कहते हैं कि काक बीटसम गिनत है सम्यग्दृष्टि लोग। यहां यह न समझना कि पुण्यभावको काकबीट कहा, वह काकबीट समान नहीं है किन्तु वह कथञ्चित उपादेय है और उसीके सिलसिलेमें पुण्यभाव छूटकर धर्मभाव आता है। आचार्यों ने बतलाया है कि अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है। शुभोपयोग हेय नहीं है और शुभोपयोग अत्यन्त उपादेय है। इन तीन शब्दोंमें क्या बात आयी कि अत्यन्त हेय है अशुभोपयोग, शुभोपयोग अत्यन्त हेय नहीं। किन्तु शुभोपयोगकी परिस्थितिमें जब शुद्धोपयोगकी योग्यता बने तब शुभोपयोग हेय है। जैसेकि प्रवचनसारमें व्रत धारण करते समय भक्त क्या कहता है कि हे समिति, हे व्रत, हे तप, मैं कब तक तुमको ग्रहण करता हूँ जब तक कि तुम्हारे प्रसादसे मैं शुद्धोपयोगको न प्राप्त होऊं। कोई कोई लोग तो प्रभुकी भक्ति करते समय यह कहते हैं कि हे प्रभो, मैं भव भवमें तुम्हारा दास रहूं। मगर विवेकी पुरुषकी यह आवाज निकलती कि हे प्रभो तुब पद मेरे हियमें ममहिय तुब

पुनीत चरननमें। तब लौ लीन रहे जब लौ प्राप्ति न मुक्ति पदकी होय, कहीं ऐसा सोचनेसे भक्तिमें हीनता न समझिये किन्तु वस्तुस्वरूपकी यथार्थ पकड़ समझिये।

भक्ति और भक्तिका प्रभाव—भक्ति दो प्रकारकी है। भक्त भी दो प्रकारके मिलते हैं एक तो प्रभुसे डर मानकर प्रभुसे आशा मानकर भक्ति करना। ऐसे भक्त मिलेंगे ईश्वर सृष्टिकर्तावादी, जो मानते हैं कि हमको ईश्वर स्वर्गमें ले जाता, नरकमें पटकता, तो वे डर मानकर ईश्वर की भक्ति करते। कहीं यह ईश्वर मुझे नरकमें न पटक दे, सुखसे हटाकर दुःखमें न डाल दे, इस कारण ईश्वरकी भक्ति करते। तो एक तो इस तरहके भक्त हुए। दूसरे वे भक्त होते जो प्रभुके गुणोंसे अपने गुणोंका परस्परमें मिलान करके भक्ति करते। गुणके मायने प्रकट दशा न लेना किन्तु शक्ति लेना। शक्ति याने प्रभु का जो स्वरूप है उस शक्तिको और अपनी स्वरूप शक्तिको एक समान मानते हैं। जब एक समान जाना और अन्तर रहा पर्यायका-मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान। अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान। यह ऊपरी अन्तर है कि वे वीतराग हैं और यहां रागका फैलाव है। ऊपरी अन्तर क्यों कहा? अन्तर तो सब भीतरी है। परिणामोंमें अन्तर क्यों आया? पर स्वरूपमें अन्तर नहीं है यह बात जताने के लिये ऊपर शब्द डाला है। कहीं स्वरूप में अन्तर न जानना। स्वरूप स्वभाव एक है। तो ऐसा एक स्वरूप देखकर जो भगवानके स्वरूपकी ओर खिचाव होता है वह विशुद्ध खिचाव है, विशुद्ध भक्ति है, और जो किसी आशा और भय से भक्ति होती है उसमें भीतर का अभेदभाव नहीं है भक्तिमें एकरसपना नहीं है। वह डर और आशाके कारण भक्ति है। एक रसपनेकी भक्ति तब ही हो सकती है जब द्रव्यतः गुणतः समान, पर्यायतः अन्तर, यह बात समझमें आये तब प्रभुके गुणोंमे एक रसरूपसे भक्ति बनेगी। तो प्रभुकी भक्ति कहो या आत्मस्वरूपकी भक्ति कहो, दोनोंमें अधिक अन्तर नहीं है। क्योंकि वह प्रभु स्वरूप क्या है? जो आत्माका वास्तविक रूप है वही विकसित हुआ है। जैसे पत्थरकी प्रतिमा बनानेमें कोई बाहरी चीज ला लाकर नहीं बनायी जाती किन्तु जिस पाषाणमें से प्रतिमा बनाना है उस पाषाणके अन्दर वह प्रतिमा स्वयं विद्यमान है। किन्तु उसको ढाकने वाले, आवरण करने वाले पत्थरोंको हटाने की जरूरत है। मूर्ति ज्योंकी त्यों प्रकट हो जायगी, तो ऐसे ही सिद्ध स्वरूप होनेके लिए हमें अपने आत्मामें बाहरकी कोई चीज नही लगाना है किन्तु इस स्वरूप के बाधक जो विषय कषाय आदिक आवरण हैं उन्हें हटाना है उनके हटते ही वह स्वरूप स्वयं प्रकट हो जायगा। तो ऐसा अपने स्वरूपका परिचय पाये हुए ज्ञानी संत स्थितिकरण अंगका पालन करते हैं। वे दूसरोंका स्थितिकरण कैसे करते सो सुनो—कोई पुरुष काफी आर्थिक संकटमें पड़ा है। जिसका साधारण ढंगका भी गुजारा नहीं चल पाता उसको सब प्रकारसे सहयोग देकर स्थिर कर देता है। किसीके चित्तमें दुविधा आयी है तो उसे सत्यार्थ स्वरूप सुना सुनाकर उसके चित्तको बदलता है, स्थिर करता है। जो भी उपाय बने उन सब उपायोंसे ज्ञानी जीव दूसरोंको धर्ममें स्थिर करता है। यह है ज्ञानी पुरुषका स्थितिकरण अंग। और भीतरमें स्वयं अपने लिए निरखता है कि मैं इस बाहरी स्वरूपसे अलग हूँ, कितना मैं अपने धर्मसे च्युत हुआ, कितना मैं अटपट क्रियावोंमें लग गया हूँ। उसे निरखकर वहांसे हटकर अपने आपमें आनेका वे पौरुष करते हैं।

ज्ञानमात्र, ज्ञानघन व आनन्दमयके संचेतनके तीन आत्मक्रान्तिकारी कदम—जो अभी मंगल तन्त्रमें आपने तीन विशेषण पढ़े थे—(१) मैं ज्ञानमात्र हूं (२) मैं ज्ञानधन हूं (३) मैं सहज आनन्दमय हूं। तो यहां तीन विशेषण—ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, और आनन्दमय इनका एक क्रम बन जाता है। अपने आपमें रमनेके लिए इस क्रमने कितनी मदद की। जब यह आत्मा बाहरकी चीजोंमें बहुत भटक गया। देशमें, क्षेत्रमें, कालमें बहुत बाहर चला गया कल्पनाओं द्वारा कल्पनाओंसे उन चीजोंको अपना मानने लगा तो वह पुरुष एक ही झटकेमें मैं ज्ञानमात्र हूं। ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त जितने भी परपदार्थोंका समूह है उसको एक झिटकेमें झिटक देता है। जिसे कहेंगे आऊं। बाह्य पदार्थोंमें मैं बहुत भटक गया था। अब वहां से हटकर आऊं, रम लूं, ऐसा कहो, या ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, आनन्दमय, ऐसा कहो। सर्व पदार्थोंसे अलग होकर अपने स्वरूप तक पंहुचनेके लिए बहुत विशेषणों द्वारा उसने झिटक दिया—ज्ञानमात्र, और फिर अपने ही ज्ञानमें संतुष्ट रहनेके लिए ज्ञानसे बाहर अब कभी न जानेके लिए उसने भीतरमें अनुभव किया कि मैं ज्ञानघन हूं। घन कहते हैं वही वहीं, ठोस परिपूर्ण। अधूरा जरा भी नहीं, अपनी पूरी सत्ता लिए हुए हूं, और वह है सब ज्ञान ज्ञानरूप। तो इसीको कहते हैं उतरूं। मैं अपने इस ज्ञानस्वरूपमें उतर जाऊं, इस ही में रहकर संतुष्ट होंऊ, तो जब यहां तक आये तो अब इतना भी ख्याल छोड़नेकी जरूरत है कि मैं ज्ञानरूप हूं, ज्ञानघन हूं, यह भी विकल्प छोड़ने की जरूरत है। तो वह तीसरी उपमामें यों अनुभव करता कि मैं आनन्दमय हूं। यह सब ज्ञान निजका है, निजकी ही चेष्टा है, इस निजकी वृत्तिमें निजकी क्या दुविधा? जब ही एक दृष्टिकी और एक अपना समग्र आत्मस्वरूप उसने दर्शनमें लिया, इस कामको करने न आयेंगे। भगवानके गुणोंका चिन्तन कर मैं अपने गुणोंका पोषण कर रहा हूं। तो भगवान निमित्त भर हुए और करना अपने को ही है।

संसारमें मोहवश विभ्रान्तियोंके कारण विडम्बितपना—इस संसारमें इस जीवने अनन्तभव धारण करके अन्य तो सब कार्य किया विषय सम्बन्धित किन्तु अपने आत्मस्वरूपकी उपासनाका कार्य अब तक नहीं किया। इसका प्रमाण क्या है कि अब तक संसारमें रुल रहा है। इससे अधिक और प्रमाण क्या? कोई पुरुष किसी शराब बेचने वाले की दुकान पर गया। दुकानदारसे बोला कि मुझे शराब चाहिये, क्या आपके पास अच्छी शराब होगी? हां हां अच्छी है। अजी नहीं, बहुत अच्छी चाहिए। हां हां अहुत ही अच्छी है, इसका प्रमाण क्या है सो चलकर साक्षात् देखलो। यह कहकर ले गया दुकानके पीछे और बताया कि देखो ये जो तुम्हारे चाचा बाबा नापदान में बेहोश होकर पड़े हैं। जिनके मुखपर कुत्ते भी मूत रहे हैं उन्हें देखकर अन्दाजा कर लो कि हमारे यहां की शराब अच्छी है या नहीं। तो ऐसे ही संसारमें देख लो—इस जीवने अब तक ज्ञानसुधारसका पान नहीं किया इसका प्रमाण साक्षात् यही है कि यह जीव अभी तक इस संसारमें रुल रहा है। इस जीवने अनादिसे अब तक न जाने कितना दुःख सहा। बहुत गौरसे देखिये—जिस क्षण खानेका आनन्द मान रहे हैं या अन्य विषयों का आनन्द समझ रहे हैं उस समय भी जरा भीतरमें अनुभव करके तो बताओ कि उन विषयोंका सुख भोगनेमे इस जीवको कितना क्षोभ होता, कितनी आकुलता मचानी पड़ती। इसलिये ये वैषयिक सुख दुःख रूप ही हैं। केवल कल्पनामें सुख मान रहा है। सुखके भोगनेमें भी क्षोभ है। दुःख पानेमें क्षोभ

है, यह तो स्पष्ट ही बात है। तो यह जानकर कि मेरे आत्मस्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी तत्त्व ऐसा नहीं हैं जिसमें मैं अपने मनको रमाऊं और कृतार्थ होऊं।

आत्मज्ञान बिना अपनी अव्यवस्थितता—जगमें कुछ भी पदार्थ नहीं है ऐसा कि जिसमें मुझे रमना चाहिए। घरमें स्त्री पुत्र मित्रादिक जो भी रह रहे हैं उनसे राग करना पड़ता है। राग किये बिना घरमें रह नहीं सकता, इसलिए राग किया जा रहा किन्तु अन्तः यह समझना चाहिए कि जैसे पड़ोसके या अन्य भवके जीव भिन्न है ठीक उसी तरहसे घरमें रहने वाले सभी जीव मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं। इसमें रंच भी गल्ती नहीं हैं। ठीक उतना ही अन्तर है जितना भिन्न अन्य जीव हैं क्योंकि उनका परिणाम उनमें हैं। उनका अनुभव उनमें हैं, उनके कर्म उनमें हैं।उनका उदय उनके साथ है। मैं उनमें कुछ परिणति कर नहीं सकता, वे मुझमें कुछ परिणति कर नहीं सकते। केवल राग वश ही ऐसी बातें की जाती हैं कि तुम हमको बहुत प्रिय हो। तुम्हारे बिना तो प्राण भी नहीं टिक सकते। तो यह तो ऐसी बात है कि उष्ट्रानां विवाहेषु गीत गायन्ति गर्दभाः, परस्परं प्रशंसन्ति अहो रूपमहो ध्वनिः। कहीं ऊँटों का विवाह हो रहा था, उसमें गीत गानेके लिए गधे बुलाये गये थे। तो वहां गधे गीत गा रहे थे—अहो ऊंट तुम कितने सुन्दर हो। तुम्हारा रूप बड़ा सुन्दर है, तो ऊँट कहते—अहो गधे—तुम्हारा बोल कितना सुन्दर है, तुम बड़ा सुन्दर राग अलाप करते हो। अब देख लो न तो सुन्दर रूप ऊँटोंका और न सुन्दर आवाज गधोंकी फिर भी दोनों एक दूसरे की प्रशंसा करके मौज मानते हैं ठीक ऐसी ही बात यहां समझिये। वास्तवमें यहां कोई किसीसे प्रीति नहीं करता, रागवश ही सब एक दूसरेसे प्रीतिका व्यवहार करते हैं। तो यह राग परिस्थितिवश करना पड़ता है। जैसे कोई रोगी औषधिसे राग करता है औषधि पीना छूटनेके लिए। वह वह नहीं चाहता कि मुझे यह औषधि जिन्दगी भर पीना पड़े किन्तु वह तो यह चाहता है कि कब मुझे औषधि पीनेसे छुट्टी मिले। औषधि पीनेसे छुट्टी मिले मायने मेरा रोग कब दूर हो, इसके लिए वह औषधिसे राग करता है और उसका पान करता है। उस रोगीको जैसे उस औषधिसे मोह नहीं है ऐसे ही अपने आपके आत्माको थोड़ा सम्हाल तो लीजिए अपने ज्ञानबलसे और ज्ञानमें ही अपने आत्माको नियंत्रित रखिये और स्पष्ट भीतर प्रकाश पाइये कि मैं मात्र आत्मा हूं, मेरा सर्वस्व मुझमें हैं, मेरेसे बाहर मेरा कुछ नहीं है, ऐसा करनेके बाद फिर घरकी वे सब व्यवस्थायें करें। करनी पड़ेगी। तो उन व्यवस्थावोंके करते हुए न तो आकुलता मचेगी और न व्यामोह होगा।

आत्मसुध बिना अन्य समागमकी बिडम्बना—भैया, सर्वश्रेष्ठ धन है अपने आत्माका ज्ञान। इसके बिना सब बेकार। एक घटना राँचीकी है। काफी दिन पहले जब हम वहां गये थे तो एक जगह क्या देखनेमें आया कि यहीं का कोई वैष्णव भाई जो कि बहुत बड़ी सम्पत्ति का मालिक था उसका बहुत दिनों से दिमाग खराब हो गया, उसको खानेके लिए एक होटलमें इन्तजाम कर दिया गया, रही सारी सम्पत्ति उसके ही नामसे, मगर क्या रहा अब उसके लिए? वह सब सम्पत्ति उसके लिए बेकार। वह तो ज्योंका त्यों दरिद्र रहा। तो जिसका ज्ञान अपनेमें स्पष्ट नहीं है, व्यवस्थित नहीं है उसके लिए यहां का सब कुछ बेकार है और जिसका ज्ञान व्यवस्थित है। साथ ही आत्मज्ञान है तो फिर उसकी शान की कहना ही क्या? वह तो अपनेमें एक गौरव अनुभव करता है, निराकुलता अनुभव करता है

और फिर घरकी व्यवस्था भी वह बड़ी उत्तम बनाता है। मान लो परिवारमें कोई बड़ा मोह करके रह रहा स्त्री पुत्रादिक परिजनोंसे तो उसका क्या हाल होगा, सो तो जानते ही हो। वह तो उनके पीछे निरन्तर दुःखी रहेगा और जो निर्मोही बनकर परिवारके बीच रहेगा उससे सब भय मानेंगें कि कहीं ऐसा न हो कि वह घर छोड़कर कब चल दे, इसलिए घरके सब लोग उसकी आज्ञामें रहेंगे। तो घर की व्यवस्थाके नाते भी आप देख लीजिए परिवार में निर्मोह बनकर रहनेमें घरकी अच्छी व्यवस्था बनती है।

आत्मज्ञानका माहात्म्य—आत्मज्ञानका बड़ा अद्भुत माहात्म्य है। उसके फलमें इस भवमें भी आनन्द पाये और परभवमें भी पाये। यहां का पाया हुआ सारा समागम तो इस ही भवमें छूट जायेगा, यहां का कुछ भी समागम साथ न देगा। यह मैं आत्मा अपने आपमें अकेला ही हूं, स्वतन्त्र हूं। जो मुझमें मेरा स्वरूप है वह अनादि से है, अब भी है। कभी छूटेगा नहीं मुझसे। उसमें दुःखका क्या काम। जो सत् है वह कभी नष्ट नहीं होता। सत् का कभी विनाश नहीं होता। मेरेमें कोई अपूर्णता ही नहीं है फिर घबड़ानेकी क्या बात मान लो वैभव मेरे घरमें न रहा, अन्यत्र कहीं चला गया तो उससे मेरे आत्मारामका क्या बिगाड़ हो गया? अथवा परिवारका कोई गुजर गया तो उससे मेरे आत्मारामका क्या बिगाड़ हो गया। किसी भी पर पदार्थके परिणमनसे इस मुझ आत्माका कुछ भी बिगाड़ अथवा सुधार नहीं होता। मैं ही उनके प्रति नाना प्रकारकी कल्पनायें करके स्वयं दुःखी अथवा सुखी होता हूँ। पर पदार्थके पीछे संकल्प विकल्प करनेसे तो निरन्तर आकुलता है, कष्ट है अतः अपना कर्तव्य यह है कि अपने ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वको सम्हालूं उसको ही निरख निरखकर संतुष्ट रहूँ तो यह अभ्यास, यह संस्कार जैसे-जैसे दृढ़ होता जावेगा वैसे ही वैसे इसका विकास होता चला जावेगा। तो जरूरत है इस बात की कि जिस कामको अभी तक नहीं किया वह काम कर लें। अन्य सभी काम तो कितने ही बार अब तक कर लिया होगा। न जाने कितने बार अब तक संसारमें जन्ममरण करके चतुर्गतियोंमें परिभ्रमण किया होगा, वहां क्या-क्या काम नहीं किया। सब कुछ किया, सभी जीवोंका समागम कितने कितने ही बार अब तक किया, चाहे किसी भी रूपमें किया हो। पर वे सब बातें निःसार रहीं, लाभ कुछ न मिला, उनसे इस जीवका कल्याण नहीं है। इन सबसे निराला जो अपना आत्मतत्त्व है उसको सम्हालिये और निर्मोह होनेका साहस बनाइये, और वह है क्या साहस? भीतर ज्ञानसे ज्ञानमें सोचना भर है, बाहरी श्रम करने की जरूरत नहीं। दूसरोंसे किसी प्रकारकी आशा करनेकी जरूरत नहीं। अपने ज्ञानसे अपने ज्ञानमें अपने ज्ञानस्वरूपको निरखिये, यह मैं हूं पूरा अविनाशी तत्त्व। ऐसा लखने वाला पुरुष रत्नत्रयभावसे चलित नहीं होता।

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते॥ १७॥

सम्यग्दृष्टिका वात्सल्य अङ्ग—वात्सल्य अङ्ग—रत्नत्रयधारियोंके प्रति निष्कपट अनुराग जगना वात्सल्य कहलाता है। इसमें यह निर्णय किया कि यह जगत बसनेके काबिल नहीं है। इस संसारमें चतुर्गतियोंमें निरन्तर अपवित्रता है और दुःख ही दुःख है। चाहे बड़े से बड़े वैभव का समागम हो लेकिन

उसके आश्रयमें शान्ति नहीं मिलती। किसी भी परतत्त्वके आश्रयमें शान्ति नहीं मिलती। कहीं दुःख कम हो जाता है तो लोग उसे सुख कहने लगते हैं। जैसे तेज बुखार वालेका बुखार यदि हल्का हो जाय तो वह कहता है कि अब तो हम बड़े सुखमें है। तो ऐसे ही जो कठिन दुःख है वह दुःख न रहा, उपयोग बदल गया विषयोंके उपभोगमें तो वह ऐसा सोचता है कि मैं सुख पा रहा हूं, पर भीतर जो विधि है जो मुद्रा बन रही है वह तो क्षोभकी है, आकुलताकी है। संसारमें कहीं भी सुख नहीं है। यह जगत रहनेके योग्य नहीं। यहांका समागम पकड़े रहने के योग्य नहीं। जिसका यह निर्णय हुआ है उसे धर्मात्मामें और धर्मात्माजनोंमें प्रेम जगता है। संसारमें, संसारके साधनोंमें प्रेम रहे और धर्म-धर्म धर्मात्मावोंमें भी प्रेम रहे ये दो बातें एक उपयोगमें नहीं रहती। तो जिसने आनन्दमय ज्ञानस्वरूप सबसे निराले इस गुप्त अविकार अंतस्तत्त्वका परिचय पाया है वह अपने गुणोंमे अनुरक्त रहता है। यहां ही श्रध्दान रहता है और बार बार इस ज्ञानमात्र अन्तः स्वरूपका अनुभव करके प्रसन्नता पाता रहता है।

स्वरूपपरिचयी पुरुषका स्वरूपमें वात्सल्य और उसका प्रभाव—स्वरूपपरिचयी पुरुषको अपने साधर्मीजनोंको निरखकर, मोक्षमार्गमें चलने वाले महान पुरुषोंको देखकर बहुत प्रसन्नता उत्पन्न होती है। बहुमान होता है क्योंकि यह जान रहा कि यह भी सर्वकी उपेक्षा करके एक मुक्तिके मार्गमें चल रहा है। तो जिस बातको हम चाहते थे वही बात जो कोई दूसरा चाहे तो वहां गाढ़ अनुराग हो ही जाता है। तो यहां निश्चयसे तो है अपने आपके गुणोंमें वात्सल्य और व्यवहारसे कहा जाता है। धर्मात्माजनों में वात्सल्य व्यवहार से कहा जाता, इसका यह अर्थ है कि मैं आत्मा जो कर सकता हूं सो अपने प्रदेशोंमें ही कर सकता हूं। बाहर कुछ नहीं कर सकता हूं फिर भी बाहरी आश्रय लेकर विषय बनाकर जो अपनेमें परिणाम बनाता हूँ तो बाहरकी बात कहना। वात्सल्य करते हैं, ऐसा कहना यह व्यवहारसे कहा जाता है। उसे प्रेम अपने आपके रत्नत्रयमें और रत्नत्रयके स्वरूपमें रत्नत्रयधारी में निश्छल हुआ करता है। इसके लिए उदाहरण दिया गया है गौवच्छ प्रीतिसम। जैसे गाय बछड़े के प्रति प्रीति रखती है क्योंकि गायको बछड़ेसे रंचभी आशा नहीं रहती कि यह बछड़ा बड़ा होकर मेरी सेवा करेगा फिर भी उस बछड़ेको देखकर गायको इतना गाढ़ अनुराग होता कि कदाचित वह बछड़ा नदीमें गिर जाय तो वह गाय उस बछड़ेको बचानेके लिए नदीमें कूद जाती है। इतना अधिक अनुराग होता गायको अपने बछड़ेसे। तो निश्छल अनुराग की समानतासे गाय बछड़ेका उदाहरण दिया, कहीं सुनने बनानेके लिए नहीं। ऐसे ही अपने रत्नत्रयधारियोंके प्रति यथायोग्य आदर और यथायोग्य वात्सल्य होता है।

धर्मात्माको सर्वत्र त्वरित धर्मका दर्शन—यह सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरंगमें तो अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें अनुराग रखता है और बाह्य में धर्मके आयतनमें अनुराग रखता है तो अन्य मिथ्यादृष्टि जनोंसे द्वेष नहीं करता। कैसी समता है कि गुण और गुणीमें अनुराग है किन्तु मिथ्यादृष्टि जनोंके प्रति द्वेष न उत्पन्न होना चाहिए। वहां भी यही देखना है कि यह जीव भी सहज आत्मस्वरूप है। ज्ञानी जीवको सभी जीव एकदम प्रथम ही सहज आत्मस्वरूप के रूपसे नज़र आते हैं। पश्चात कर्मदशा के कारण हुए भेदोंको निरखता है यह ज्ञानी जीवकी एक परमार्थ कला है। कीड़ा मकोड़ा पशुपक्षी दरिद्र

भिखारी किसी भी जीवको देखकर एकदम पहले यही ही निर्णय होता है कि यह भी सहज आत्मस्वरूप है पर कर्मका कैसा आक्रमण है कि यह ऐसी दुर्दशाको प्राप्त हो रहा है। जिसके चित्तमें जो है वही बात उसको बाहरमें सर्वत्र दिखती है। कोई पुरुष अगर रंजमें है, घर का कोई इष्ट व्यक्ति गुजर गया है। उसके पीछे वह बड़े शोकमें रहता है तो उसे सब जगह प्रथम शोक ही नजर आता है। कदाचित काई हंसने वाला व्यक्ति भी दिख जाय तो इसे यों लगता कि यह जबरदस्ती हंस रहा है। वहाँ उसे सुखी नहीं दिखता किन्तु जैसे सिनेमाके पर्दे पर अनेक चित्रण होते हैं ऐसे ही यह भी एक हंसनेका पार्ट अदाकर रहा है। यों शोकमय ही उसे निरखता है, और जो सुखमें हो उसे सब जगह सुख ही सुख नजर आता है। कोई रंजमें बैठा हो तो उसके प्रति सुखी व्यक्तिको यों लगता कि यह बनावटी रंज कर रहा है यह सुखी। तो जिसके चित्तमें जो बात बसी है उसको सर्वत्र वैसा ही दिखता है। तो जिसको अपने सहज आत्मस्वरूपका परिचय है। सहज आत्माका स्वरूप, ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, आनन्दमय जो स्वरूप इसने अनुभव किया है उस सहज आत्मस्वरूपका सर्वत्र दर्शन होता है। मूलमें तो सत् यह है, पर हो रहा है यह। तो सहज आत्मस्वरूपका परिचय करने वाले ज्ञानी संत दूसरोंमें इन ही गुणोंको तकते है और इसी कारण वात्सल्य जगता है।

धर्मिवत्सल पुरुषका धर्मविरुद्धजनोंमें समभाव—धर्मिवात्सल्य होने पर भी किसी भी समय अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जनों पर इसके द्वेषभाव कतई नहीं आता। ज्ञाता दृष्टा रहता है। यह भी सहज आत्मस्वरूप है। आज इसका ऐसा परिणमन हो रहा है। यह जीव अनन्तकालसे अनेक कुयोनियोंमें भ्रमण कर रहा मगर स्वरूप तो इसका अविकार ज्ञानमात्र है, इसमें मूलमें दोष नहीं है। यह दोष प्राकृतिक आया। प्राकृतिक कहते किसे हैं। जैसे कोई शिमला पहाड़ पर पहुंच जाय और प्राकतिक दृश्य देखे तो वह कहता है कि वाह यह तो प्राकृतिक दृश्य है, किसी का किया हुआ नहीं है। इसे कर कौन सकता है, किन्तु तथ्य क्या है कि वे सब दृश्य किये हुए है स्वाभाविक नहीं हैं। किसके द्वारा किये हुए हैं? जो शुभ अशुभ प्रकृतियां है कर्मकी उन जीवोंके साथ जो फूल हैं, वृक्ष हैं इन जीवोंके साथ जो शुभ अशुभ प्रकृतियां लगी हुई हैं उनके विपाकसे यह दशा बनी है। यह कर्मकृत दशा है, प्राकृतिक दशा है, प्रकृतिका नाम सब लोग लेते है, यह प्रकृति से हुआ है पर प्रकृतिका अर्थ क्या है? जिसे लोग प्रकृति कहते है और कर्म स्वरूप का निर्णय नहीं कर पाते वे कर्म है क्या चींज? उन्हें कर्म कहो अथवा प्रकृति कहो, एक ही चीज है। जो कषायवश कर्म बंधे हैं जीवके उनमें एक प्रकृति जुड़ी हुई है, आदत पड़ी हुई है कि यह कर्म ज्ञानको ढाकेगा, यह कर्म दर्शनको ढाकेगा, यह कर्म साताका कारण बनेगा, इस प्रकारकी उनमें प्रकृति पड़ी है उस प्रकृतिका उदय है जो हम और आपकी ऐसी दशायें चल रही हैं। इस तथ्यको निहारने वाले पुरुष सर्व जीवोंमें मैत्रीभाव रखते हैं। रत्नत्रयधारियोंमें विशेष प्रमोदभाव रखते हैं। पर मित्रता उनके सर्व जीवोंके प्रति है। मित्रता हुआ करती है समान लोगोंमें, छोटेमें नहीं, बड़ेमें नही, छोटेमें अनुराग, कारुण्य, आशीष और बड़ेमें विनय आदर और मित्रता समानमें चलती है। तो चूंकि इस ज्ञानीने सर्व जीवोंको सहज आत्मस्वरूपमें देखा है, समझा है, इस समानताके कारण सर्व जीवोंमें उसकी मौलिक मित्रता रहती है। सर्व जीव अपने आनन्दमय स्वरूपको पायें, इन्हें दुःख न हों।

दुःख क्या है? विकारभाव। अन्य और कुछ दुःख नहीं है। यह तो लोग मोहमें कहते हैं कि मेरको इतना घाटा पड गया, मैं बड़े कष्टमें हूं। अरे घाटा पड़नेसे कहीं कष्ट नहीं हुआ करता। मेरे अमुकका वियोग हो गया, मैं बड़े कष्टमें हूँ। किसीके मरणसे, वियोगसे कष्ट नहीं हुआ करता, किन्तु खुद ही परवस्तुके विषयमें कल्पनायें बनाकर खेद किया करते हैं।

ज्ञानीका आन्तरिक पौरुष—मैं परविषयक कल्पनाओंको हटाऊं और यह दृष्टि बनाऊं कि ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, मेरे ज्ञानमें ये सामनेके जीव अजीव पदार्थ नजर आ रहे हैं, उपयोगमें चित्रित हो रहे हैं, उनके बारेमें कुछ विचार करता रहता हूं सो ये न जानूं। इनको छोड़कर मैं ज्ञानके स्वरूपको ही जानूं कि ज्ञान क्या कहलाता है। ज्ञानका स्वरूप है ज्योतिमात्र, प्रतिभासमात्र। यह मैं अन्दरमें सिर्फ प्रतिभास ही किया करता हूं। वही तो स्वरूप है। तो उस प्रतिभासको ही, उस जाननको ही ज्ञानमें लेवें काहेके द्वारा? इन्द्रियके द्वारा नहीं किन्तु ज्ञानसे। ज्ञानके ही द्वारा ज्ञानके स्वरूपको ज्ञानमें लेवें, यह स्थिति बनाना चाहिए। इस स्थितिसे कल्पनाओंका एकदम विलय हो जायगा। कोई भी काम करें, उसे विधि रूपसे करना, इन्द्रियरूप काम अपने आप हो जायगा। जैसे लोग कहते हैं कि विषयोंसे हटो, पापों से हटो, इन कर्मोंसे हटो, तो इसके लिए क्या उपाय करना है कि इन सबसे हटा हुआ जिसका स्वरूप है ऐसे अविकार आत्मतत्त्व पर उपयोग रखना, ये सब अपने आप हटेंगे। कहते हैं कि अष्ट कर्मोंको जलानेके लिए मैं उद्यम करता हूं। अरे अष्ट कर्म हम सामने रखे रहें अपने उपयोगमें और फिर उनको जलानेका स्वप्न देखें कि मैं इन्हें जला दूंगा, दूर करुंगा। अरे जब परपदार्थोंका आश्रय ले रखा है तो उनके दूर होने की बात कहां रही? अष्ट कर्मोंको दूर करना है तो अष्टकर्मोंसे रहित ज्ञायकस्वरूप निज आत्मभगवानको उपयोगमें लेना होगा। इस विधिके प्रयोगसे परभावोंके निषेधका काम बन जायेगा। तो हमारी आदत दृष्टि ऐसी बन जाना चाहिये कि मैं क्षण-क्षणमें थोड़े ही प्रयास में एक ही झलकमें अपने अविकार आत्मस्वरूपको उपयोगमें ले सकूं। यह है अपने आपके गुणोंके प्रति सच्चा वात्सल्य। अपने आपके बारेमें मनन करते जाइये कि यह मैं सर्व गतियोंमें रहा, पर किसी गति रूप नहीं बना। मैं उनसे निराला ही रहा। मैं अनेक भवोंमें चल रहा, पर किसी भव रूप नहीं बना। मैं उन सबसे निराला ही रहा। क्या रहा? यह चैतन्यमात्र। ज्ञानमात्र सबसे निराला। सब बाह्य परिग्रहोंके बीच भी पड़ा रहा मगर इनसे मैं निराला ही रहा। आज भी मैं इस देहसे निराला। इन बीती हुई बातोंसे निराला। मन, वचन, कायकी चेष्टावोंसे निराला। केवल ज्ञानमें ही आ सकने वाला यह मैं चैतन्यमात्र हूं। इसका किसी भी पर पदार्थसे रंच सम्बध नहीं, सो सबकी उपेक्षा करके अपने आपमे अनुराग होना, लीन होना यह है अपना वात्सल्य।

धर्मिवात्सल्यमें समताकी मुद्राकी व्यक्ति—ऐसा निजवात्सल्य रखने वाले पुरुष दूसरे धर्मात्माजनों पर सच्चा अनुराग रख सकते हैं, ऐसा बाहरमें विचार करें तो जानें कि भावी बलवान है, कर्मों के उदय हैं विचित्र। इन लोगोंसे क्या द्वेष करना। इनमें तो समता रखना और रत्नत्रयके धारी संत पुरुषोंमें अनुराग करना, प्रमोद करना यह कोई पक्ष नहीं किया जा रहा कि अज्ञानी मिथ्यादृष्टिजनोंसे उपेक्षा और ज्ञानी चारित्रधारी मोक्षमार्गी पुरुषोंके प्रति अनुराग, यह भी समता का ही रूप है। अज्ञानीजनों

में द्वेष नहीं किया और उनके सहज आत्मस्वरूपकी भावनाकी, इस ढंगकी समता वहाँ जगी। यहां गुणीजनों में उस समान स्वरूपको देखकर और उसकी दृष्टि करनेसे जो उनमें विकास होता है, उनके प्रति जो अनुराग जगा वहां समता का यह रूप आया। ज्ञानी जीव की समता के ही ये सारे रूप हैं। जैसा कि दूसरी भावनामें बताया है—सबमें मैत्री, गुणियोंमे प्रमोद, दुखियोंमें कारूण्य और विरोधियोंमें माध्यस्थ ये चारों समताभावके रूप हैं। ऐसा समता का आदर करने वाले ज्ञानीजन अपने गुणोंमें प्रीति रखते हैं और रत्नत्रयधारी अन्य पुरुषोंमें प्रीति रखते हैं।

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथं।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना॥ १८॥

सम्यग्ज्ञानकी प्रभावनामें वास्तविक प्रभावनाङ्गका पालन—सम्यग्दर्शनके ८ अङ्ग होते हैं, जिनमें अन्तिम अङ्ग है प्रभावना। धर्मकी प्रभावना करना प्रभावना अङ्ग है, उसका ही लक्षण यहां कहा जा रहा है। धर्म मायने क्या है? ज्ञान। आत्माका स्वरूप ज्ञान है और ज्ञानकी दृष्टि करना, ज्ञानका ही प्रचार करना, ज्ञानका प्रसार करना सो प्रभावना अङ्ग है। आजकल प्रभावनाके लिए जितनी बातें की जाती हैं रथ निकलना या समारोह करना आदि वे ज्ञानकी प्रभावनामें सहायक है तब तो प्रभावना कहलाता है, नहीं तो मन वहलाना उसका नाम है, प्रभावना नहीं। प्रभावना का लक्षण समंतभद्राचार्य कह रहे हैं। अज्ञानरूपी अंधकारके फैलावको हटाकर यथायोग रीतिसे जैन शासनके माहात्म्यका प्रकाश करना प्रभावना कहलाता है। ये समग्र संसारी जीव अनादिकालसे ही अपने धर्मको नहीं जान रहें। ये सब आत्म ही तो हैं। इनके आत्माका जो धर्म है सो ही इनका धर्म है। धर्म कहीं अलग-अलग नहीं होते। जैसे कि आजकल सम्प्रदायमें बंट गया है। यह इनका धर्म है वह उनका धर्म है। धर्म तो आत्माका होता है। और वह धर्म है ज्ञान। ये संसारी जीव अनादिकालसे इस ज्ञानस्वभावरूप धर्मको न जानकर संसारमें भटक रहे हैं। इनको इसका भी पता नहीं कि मैं कौन हूं। मेरा क्या स्वरूप है, मैं कहां था, कहांसे आया, कैसा हूं, कहां जाऊंगा, और जो जीवन चल रहा है इस जीवनमें मेरे को करनेका क्या काम था, क्या कर रहा हूं, यह कुछ पता नहीं है। बस जन्म लिया, पञ्चेन्द्रियके विषयोंके भोगनेमें लग गये, विषयोंके साधन जुटानेमें लग गये और मरणकाल आ गया, मर गये, यहां का काम खत्म हुआ, अब अगले भवमें जायेंगे, यही चक्की आगे चलेगी, ऐसे ही भव-भवमें ये जन्म लेते फिरे। इन संसारी जीवोंको अपने आत्माका बोध नहीं हैं। इन्हें बोध मिले ऐसा उपाय बनायें, इसको कहेंगे प्रभावना! खाली धन वैभव, रथ सोना चांदी बड़े-बड़े ध्वजा पताका फहराना, बड़े-बडे जुलूस निकालना इसमें प्रभावना नहीं कहलाती, जिससे लोगोंको यह परिचय हो कि अपने आत्माका कल्याण तो जिनेन्द्र देवने बताया है जो जैन शासनमें कहा है और मार्ग का सही यहां परिचय मिलता। जन समूह सराह उठे कि धन्य है यह जैन शासन जिसमें संसारके संकटोंसे छूटनेका उपाय बताया है। यह बात दूसरोंके चित्तमें आ सके तब तो आपने प्रभावनाकी, नहीं तो प्रभावना तो दूर रही, उल्टी विपत्ति ही मोल ली। जब लोग देखेंगे कि इन जैनियोंका ऐसा वैभव सोना, चांदी रथके घोड़े। ऐसा जलूस, ऐसी सामग्री तो

लोग तो ईर्ष्या करेंगे, क्यों इनको ऐसा वैभव मिला, यह सोचकर वे उपद्रव ढायेंगे, तो यह कोई प्रभावना नहीं। हां ठीक यात्रा समारोह आदि भी है, मगर ज्ञान प्रभावनाके साथ ही ठीक है। यदि लोगों को अपने ज्ञानकी खबर मिले और उससे ही जैन शासनपर मुग्ध हो गये तो ये सब बाहरी समारोह उत्साह उसकी शोभा बढ़ा देंगे, पर ज्ञानकी प्रभावना रंच भी न हो तो ये सब कार्य प्रभावना के न कहलायेंगे।

अपने आचरण द्वारा अपनेमें व जनतामें धर्मप्रभावना—अब जरा अपनी भी करनी देखिये—यदि स्वयं जैन लोग अच्छे आचरण से रहने लगें, जैसे अभक्ष्य न खायें, रात्रि भोजन न करें, झूठ कभी न बोलें, दूसरे पुरुषों को न सतायें, और और भी जितने पापकार्य हैं उनसें बचे रहें, धनको दान में परोपकार में लगाते रहें तो इसमें भी प्रभावना बनती है और लोग सब कह उठेंगे कि धन्य हैं ये जैन शासन के भक्त लोग, जिनका ऐसा पवित्र आचरण हैं, ये कभी असत्य बोलते नहीं, दूसरों को सताते नहीं, पुण्योदय से परिग्रह जुड़ जाय, वैभव मिल जाय तो सबके उपकार में लगाते हैं। धन्य है यह जैन शासन। इसमें ऐसी ही शिक्षा बसी है कि लोग अच्छे कार्य करें। तो आप अपने आप अच्छे आचरण से रहें, यह भी प्रभावना अङ्ग है।

धर्मप्रभावनाके लिए अपने सदाचारकी व ज्ञानके प्रसारकी आवश्यकता—अब न तो खुद अच्छे आचरणसे रहें और न जनतामें ज्ञानका प्रचार करें, जहां ये दोनों ही कार्य नहीं हैं वहां प्रभावना नहीं हैं। यदि जैन शासनकी प्रभावना करना है, कल्याणके मार्गकी प्रभावना करना है तो ज्ञान का प्रसार कीजिए और अपने आपको अच्छे आचरणमें रखिये—यदि ये दो बातें हो सकें तो प्रभावना बनेगी। दोनों ही प्रभावनाके उपायोंमें ज्ञान प्रकाश का मूल आधार जहां ज्ञानकी बात मिले और समझमें आये उपदेश द्वारा, विद्वानों द्वारा ज्ञानका प्रचार होने पर जब समझमें आयगा जनताके कि अहो सत्य है, मैं देहसे न्यारा ज्ञानमय आत्मा हूं। मेरा मैं ही सर्वस्व हूं, मैं खुदके ज्ञान स्वरूपको, अवस्थावोंको करता रहता हूं, और इस ही ज्ञान के फल को भोगता रहता हूँ। अन्य किसी पदार्थ पर मेरा अधिकार नहीं है। अहो इस प्रकाशने मोह ही मिटाया और आत्माको व्याकुलतासे रहित कर दिया। यह बात जब ध्यानमें आयगी तो वे जैन शासनकी अनुमोदना करने लगेंगे। जैन शासन कोई सम्प्रदाय का नाम नहीं है। किन्तु जो आत्मा रागद्वेषको जीतकर जिन कहलाने लगे उसके द्वारा कहा गया जो मार्ग है उसका नाम जैन धर्म है। यों तो आप कोई भी शब्द रख लें उसीमें लोग पक्ष मान लेंगे। जैसे मानों धर्मका निष्पक्ष धर्म कह दिया हो वह भी लोग सम्प्रदायमें घसीटने लगेंगे। ये निष्पक्ष धर्मके मानने वाले हैं। तो यों तो कोई भी नाम रखकर सम्प्रदाय बनाया जा सकता है, किन्तु भाव देखना चाहिए कि जैन धर्मका मूल अर्थ क्या है? रागद्वेष मोह पर विजय पाने वाले सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा गया मार्ग जैन धर्म कहलाता है। सो ज्ञानके प्रसारमें आत्मदृष्टि बनना मूल आधार है, उसी से ही प्रभावना बनती है और जो लोग शुद्ध आचरणसे चलने लगें तो उससे भी आत्मस्वभावकी दृष्टि बनती है। जब जैनोंका आदर्श चरित्र देखें कोई कि इनका बोल कितना हितमित प्रिय है, इनकी चेष्टा सर्व प्राणियोंके लिए हितकारी है। इनकी दृष्टि कभी खोटी नहीं बनती है। ये व्रत, तप, नियम के बड़े सावधान हैं। जो व्रत, तप, नियम लिया अहिंसाव्रत आदिक तो प्राण जाने पर भी ये व्रतको छोड़ते नहीं हैं। और ऐसा है ही करीब करीब

कि जो व्रत नियम लेते है वह मरते समय भी इसका विकल्प नहीं करता और कह देता है वह रोगी कि रात्रिको मुझे कुछ न पिलाना, तो लोग जानते नहीं क्या कि जो व्रत नियम लेते हैं लोग वे पूरी शक्तिसे निभाते हैं। तो इन सब आचरणोंको देखकर उनका अनुमान न बनता होगा क्या कि कौनसा ज्ञानप्रकाश इन्होंने पाया जो अशुभ कर्ममें नहीं लगते और शुभ बातों में ही चलते हैं। वह है आत्मज्ञान। इस आत्मज्ञानका प्रसार होना यह ही वास्तवमें प्रभावना कहलाती है।

रत्नत्रय धर्म व उसकी प्रारम्भिक आधारशिला—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रूपोंमें आदर्शकी बात है। श्रद्धान ऐसा दृढ़ होना चाहिए कि सर्वज्ञ वीतराग आत्मा ही देव हैं। जो अल्पज्ञ हो, जो रागसहित हो वह तो संसारी जीव है, देव कैसे हो सकता? ऐसा दृढ़ श्रद्धा देखकर जनता कहने लगेगी कि इन जैनोंका कितना दृढ़ श्रद्धान है। किसी भी मुसीबतमें ये देवका श्रद्धान नहीं छोड़ते और यदि खुद ही श्रद्धानसे डिगा रहे जीव तो वह अप्रभावना कर रहा है। जो वास्तविक जैन शासनका भक्त है उसका यह चिन्तन रहता है कि मेरे द्वारा कोई ऐसा अपकृत्य न हो जिससे जैन शासनकी प्रभावनामें आंच आये। श्रद्धान उनका दृढ़ होता। जो संवेग वैराग्यको बढ़ाये, जिनमें आत्माका ज्ञान मिले, विषय कषायोंसे विरक्त करायें वे वचन, वे ग्रन्थ शास्त्र हैं। ऐसे ही शास्त्रोंको ये जैन लोग मानते हैं। जिनमें विषय कषायोंकी बात लिखी हो, पोषण करायी गई हो, भगवान का रूप दिखाया गया हो खूब जैसा चाहे खावो जैसा चाहे प्रेम करो, जैसा चाहे रागद्वेष करो, भगवान का चरित्र ही ऐसा दिखाया गया हो तो वहां वीतरागताकी शिक्षा कहां से मिल सकती है। धन्य है यह जैन शासन जिसमें छोटेसे लेकर बड़े-बड़े शास्त्र तक सर्व जगह एक इस वीतरागता की प्रेरणा दी है। गुरु वे जो विषयोंकी आशा न रखें, निर्ग्रन्थ हों, दिगम्बर हों, ज्ञानध्यान तपमें लीन हों, ऐसे पवित्र आत्माको पुरुषको ये जैन लोग गुरु मानते हैं। गाँजा भाँग पीने वाले और और प्रकारके भेष रखने वाले, रागवृत्ति पोषने वाले पुरुषोंको गुरु नहीं मानते। इनकी श्रद्धा अटल हैं ऐसे ही श्रद्धा की बात जानकर जनता जैन शासनकी ही तो प्रशंसा करेगी। इससे अपना श्रद्धान पवित्र होना चाहियें। ज्ञान भी इस जैन शासनमें इन जैनोंका कितना विशुद्ध है। तत्त्वज्ञानमें वस्तुस्वरूप मूलमें बताया है कि प्रत्येक पदार्थ जो भी है वह अपने आप पूरा है। और जो है उसमें स्वयं यह सामर्थ्य है कि प्रति समय कोई न कोई अवस्था बनाये रहेंगे। भले ही अशुद्ध स्थितिमें परद्रव्यका निमित्त पाकर उसकी दशा बनती है, पर बनी तो खुदके परिणमन से। कैसा वस्तुस्वातंत्र्य बताया है जैन शासन में कि कोई किसी का मालिक नहीं, कोई किसी का कर्ता नहीं, कोई किसीका भोक्ता नहीं। सुख दुःख दाता कोई न आन। मोह राग रुष दुःख की खान। सो ऐसे दुःखों से बचने का उपाय कैसा सत्यार्थ बताया है जैन शासनमें कि निजको निज परको पर जान। फिर दःचाका नहिं लेश निदान। निज आत्माको जान लो, यह मैं हूं। बाकी जीवोंको और समस्त पुद्गलादिकको जान लो कि ये सब पर हैं। परसे मेरा लेन देन? निज स्वयं परिपूर्ण है, दुःखका कहीं भी काम नहीं है। जहां ऐसा तत्त्वज्ञान जिन गुरु मुखसे मिला करता हो उन गुरुवों द्वारा जैन धर्मकी प्रभावना होती है और ऐसे गुरुवोंकी ही श्रद्धा है जैनोंकी, यह जानकर भी प्रभावना चलती है। तो प्रभावनाका आधार है ज्ञानका प्रचार करना जिससे जीवोंको आत्माका ज्ञान मिले बस यह कहलाया प्रभावना।

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनंतमति स्मृता।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता॥ १९॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः।
विष्णुश्च बज्रनामा च शेषयोर्लक्षतां गतौ॥ २०॥

सम्यक्त्वके आठ अङ्गोंका पुनः स्मरण—सम्यक्त्वके जो ८ अङ्ग कहे गये हैं (१) निशंकित, (२) निःकांक्षित, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढ़दृष्टि, (५) उपगूहन, (६) स्थितिकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना, ये ८ अङ्ग नहीं है। ऐसा अपना व्यवहार नहीं बन पाता। इससे उल्टा व्यवहार चलता है तो समझिये कि उसके सम्यक्त्व नहीं है। जैसे शरीरमें ८ अङ्ग हों तब ही वह शरीर सही कहलाता है ऐसे ही सम्यक्त्वके ८ अङ्ग हों तो वह सम्यक्त्व सही कहलाता है, पूर्ण है। इन श्लोकोंमें वह उदाहरण बतलाया गया कि जो इन अङ्गों में प्रसिद्ध हुए हैं।

निःशंकित अङ्गके पालनमें अंजनचोरका उदाहरण—निशंकित अंगमें अंजन चोर प्रसिद्ध हुआ है। एक अंजन नामक चोर था, उसमें कोई ऐसी कला थी कि वह आँखमें आँज ले तो उसका शरीर दूसरोंको न दिखे, पर वह चोर वेश्यामें आशक्त था। तो वेश्या एक हठ पर उतर गई कि तुम अगर रानीके गले का हार लावो तो हमारे घर आ सकोगे। तो उसने प्रयत्न किया और रानी का हार ले आया। हार लेकर जा रहा था अंजन चोर तो किसी को दिखे नहीं किन्तु हार तो नहीं छुप सकता था, उस पर तो अंजन न चलेगा। तो वह चमकता हुआ हार सबको नजर आये। पुलिसने उसका पीछा किया, वह भगा और भागते-भागते आखिर जब थक गया तो एक जगह उसने देखा कि मुनि बैठा हुआ ध्यान कर रहे थे सो उन्हींके आगे हार फेंककर वह आगे भग गया। अब उन मुनिराजका क्या हुआ यह तो आप प्रभावना अंगमें जानेंगे। वह थे वज्रकुमार मुनि। उनकी बात प्रभावना अंगमें बतायी जायेगी। अभी निशंकित अंगकी बात देखिये—अब वह अंजन चोर अकेला रह गया, उसे पुलिस न पकड़ सकी, वह आगे भाग गया। बनमें एक जगह उसने क्या देखा कि कोई सेठ आकाशगामी विद्या सिद्धकर रहा था। वृक्ष पर १०८ सूतका झूला डालकर उस पर बैठा हुआ था और नीचे तलवार, भाला, बल्लम आदि अनेक नुकेले अस्त्र खड़े थे। एक बार णमोकार मंत्र पढ़े और एक लर काटे, दूसरी बार णमोकार मंत्र पढ़े फिर दूसरी लर काटे। यों १०८ बार णमोकार मंत्र पढ़कर कुल १०८ लरे काटने पर आकाशगामिनी विद्या सिद्ध होनी थी, सो यह क्रिया वह सेठ कर रहा था, मगर नीचे रखे हुए नुकेले शस्त्रोंकी वजहसे उसको उस रस्सीके फन्दे काटनेकी हिम्मत न पड़ती थी, सो कभी झूला पर बैठे कभी पेड़ की डाल पर बैठे। यह दृश्य देखकर उस अंजन चोर ने पूछा—भाई यह क्या कर रहे हो? तो उसने बताया कि हम आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कर रहे हैं। तो अंजन चोर बोला—आप तो यह काम हमे दे दीजिए।··· ठीक है ले लो। पर हमें कैसे कैसे क्या-क्या करना पड़ेगा?··· एक मंत्र है णमोकारमत्र उसका उच्चारण करना होगा और प्रत्येक बार उच्चारण करके एक-एक काटना होगा। अन्तिम लर कटने पर वह विद्या सिद्ध हो जायगी।··· अच्छा तो मंत्र कौन सा है?··· णमो अरिहंताणं,

णमोसिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमोलोएसव्वसाहूणं।··· अच्छा तो ठीक है, इस मंत्र को पढ़कर हम वह विद्या सिद्ध करेंगे। आखिर मंत्र पर सच्ची श्रद्धा रखकर और निशंक होकर उस मंत्रकी आराधना करना शुरू कर दिया। एक बार मंत्र पढ़े और एक लर काटे, यही क्रिया चालू रही। थोड़ी ही देरमें वह मंत्र तो सही सही याद न रख सका, पर श्रद्धा सही बनी रही, सो बोलने लगा—आणं ताणं कछू न जाणं, सेठ वचन परमाणं। सो आणं ताणं बोलता जाय और रस्सी की एक एक लर काटता जाय। जब सारी रस्सी कट गई सिर्फ एक लर रह गई और वहां णमोकार मंत्र की आराधना किया तो अन्तिम लर के कटते ही आकाशगामी विद्याने उसे झेल लिया, और प्रकट होकर कहने लगी विद्या कि तुम जो चाहो सो आज्ञा करो हम करने को तैयार हैं? तो वहां उस अंजन चोरने कहा कि हमे तो जिस मंत्र की वजह से यह विद्या सिध्द हुई उसके शासनके आयतनोंके दर्शन करावो। आखिर उस विद्याने अंजन चोरको अकृत्रिम चैत्यालयोंकी वंदना कराया। अंजन चोरको आकाशगामिनी विद्या प्राप्त हुई। तो देखिये यह है निशंकित अंगका अनूठा उदाहरण। अंजन चोरको णमोकार मंत्र पर दृढ़ श्रद्धान था और उसे किसी प्रकारका रंच भी भय न था।

निःकांक्षित व निर्विचिकित्सत अंगके पालनमें प्रसिद्ध अनन्तमती व उद्यायनराजाका उदाहरण—इस णमोकार मंत्रका अचिन्त्य माहात्म्य है। इसकी श्रद्धा होने पर पाठ करनेसे और विशेष भी नहीं तो भूत प्रेतादिकका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता यह तो निश्चित ही है और और भी कितनी ही बाधायें विनशती हैं। इस णमोकार मंत्रका चिन्तवन करनेसे कितने ही आधि व्याधि रोग नश जाया करते हैं। कितने ही पुराणपुरुष ऐसे हुए जो कि इस णमोकार मंत्रके दृढ़ श्रद्धानके बल पर तिर गए। अनन्तमती एक महापुरुषकी पुत्री थी। उसने अनेकों वर्ष हरण आदि संकटोंमें भी अपने आपको शील व तपश्चरणमें ही लगाया, उपसर्ग आनेपर भी उसने अपने दृढ़ श्रद्धानको न छोड़ा, जिसका फल यह हुआ कि उसकी भवमें देव रक्षा करते रहें। कितने ही लोगोंने उसे अनेक प्रकार के लालच दिये मगर उसे किसी तरहकी विषयाकांक्षा नहीं उत्पन्न हुई। यह घटना सम्यक्त्वके निःकांक्षित नामक दूसरे अंगमें बहुत प्रसिद्ध हुई। तीसरे अंगमें उद्यायन राजा बहुत प्रसिद्ध हुए। तीसरा अंग है निर्विचिकित्सा अंग। मुनि, साधुवोंकी सेवा करते हुए में ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा है। उद्यायन राजा साधु, मुनि तथा साधर्मीजनों का बड़ा सेवक था। उनकी सेवा करनेमें रंच भी घृणा न करता था। उसकी चर्चा स्वर्गोंमें देव भी किया करते थे। सो एक बार एक देवके मनमें आया कि उद्यायन राजाकी परीक्षा करना चाहिए कि जैसी बात प्रसिद्ध है वैसा है अथवा नहीं, सो एक मुनिका भेष धरकर चल दिया परीक्षाके लिए। राजा उद्यायन तथा उसकी रानी दोनोंने चर्या के समय उन्हें पड़गाह लिया और विधि पूर्वक आहार दिया। आहार हुए बाद उस मुनिने कय कर दिया, उसका सारा शरीर कय से सन गया, वहां उद्यायन राजा तथा उसकी रानी इन दोनोंने बिना किसी प्रकारकी घृणा किये उनका सारा शरीर पोंछ कय साफ किया। बस क्या था वह परीक्षामें सफल हुए। वह देव आखिर परीक्षा करने ही तो आया था, सो वह यही कहकर गया कि धन्य है तुम्हारे श्रद्धानको। हमने जैसी तुम्हारी प्रशंसा स्वर्गोंमें सुनी था। सचमुच वैसा ही देखनेको मिला। आखिर वह देव राजा उद्यायनसे क्षमा याचना करके स्वर्गोंमें पहुँचा और वहां

सभामें पहुँचकर बीती हुई सारी घटना सुनायी और कहा कि सचमुच राजा उद्दायन साधुसंतोंका परमभक्त है, वह उनकी सेवा करते हुए में रंच भी ग्लानि नहीं करता। तो यह सम्यक्त्वका तीसरा अंग हुआ।

आत्माके सहज स्व—अष्ट अंगों सहित जिनके सम्यग्दर्शन होता है उनका ही सम्यक्त्व प्रशंसनीय है और वह ही मोक्षमार्गमें आगे बढ़ सकता है। मोक्षका मार्ग अर्थात् उपाय संसारके संकटोंसे छूटनेके उपायका मूल सम्यक्त्व है। किसे छूटना है, क्यों छूटना है, इस बातका जिनको परिचय नहीं, उनका मोक्ष कहना केवल शब्द मात्र है। छूटना किसको है? यह जो मैं आत्मा अपने स्वरूपास्तित्वमात्र हूँ पर अनादिसे कर्म सम्बंध और शरीर सम्बंध चले आ रहे हैं जिससे हमारी विभाव पर्यायें चल रही हैं। आकारकी भी विभाव पर्याय और भावोंकी भी विभाव पर्याय और उस अवस्था में मैं दुःखी रहता हूं। यह दुःख मेरा स्वरूप नहीं है। यह व्यर्थ ही लाद लिया गया है। इस दुःखसे मुझे छूटना चाहिए। किसे छूटना चाहिए? जो अपना स्वरूपास्तित्वमात्र है अर्थात स्वरूपतः यह अन्य पदार्थसे मुक्त ही है इसलिए यह पर्यायरूपमें भी मुक्त हो सकता है अर्थात सांसारिक अवस्थावोंसे मुक्त बन सकता है।

वस्तुके साधारण गुणोंसे वस्तुकी व्यवस्थितता—प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपास्तित्त्वको लिए हुए है अन्यथा सत् ही नहीं रह सकता। यदि कोई पदार्थ दूसरेसे सत्त्व उधार ले तो वह सत् ही नहीं रह सकता। स्वयं सत् हैं सर्व पदार्थ। प्रत्येक जीव जो है वह पूरा है, स्वतन्त्र सत् है। प्रत्येक अणु अपने-अपने स्वरूपास्तित्त्वसे सत् है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य प्रत्येक कालद्रव्य ये सभी अपने स्वरूपास्तित्त्वको लिए हुए हैं। मेरा स्वरूप है चेतन। मैं अस्तित्त्वसे सम्पन्न हूं और अपने ही साधारण गुणोंसे देख लो तो सारी व्यवस्था मेरी मुझमें बनी हुई हैं। जैसे कि सर्व पदार्थोंकी व्यवस्था उनकी उनमें बनी हुई है। मैं हूं अपने स्वरूपसे हूं, पररूपसे नहीं हूं, यह वस्तुत्व गुण हैं कहीं मैं सर्वात्मक नहीं हो गया, किन्तु अपनेही स्वरूपसे हूं परस्वरूपसे नहीं हूं। यहां स्याद्वादकी भी परख करना। कुछ थोड़ा सूक्ष्मदृष्टिसे सुननेकी बात है। मैं स्वरूपसे हूं, पर रूप से नहीं हूं, यह कहलाता है स्याद्वाद मैं मैं हूं पर नहीं हूं यह स्याद्वादका रूप नहीं है। फलित अर्थ है यह कि मैं मैं हूं मैं पर नही हूं, पर स्याद्वादका रूप यों ही नहीं हूँ। स्याद्वाद एक वस्तुमें प्रतिपक्ष धर्मका अवगाह है, अस्तित्व है। नास्तित्व है। मैं ही हूं और मैं ही नहीं हूं, दोनों बातें आती हैं। मैं स्वरूपसे हूं पररूपसे नहीं हूं, तो मुझमें अस्तित्व भी बसा है और नास्तित्व धर्म भी बसा हुआ है। उसकी अपेक्षा ये दोनों हैं। अब इस ही स्वरूपमें निरखते जाइये यह है, अपने स्वरूपसे है, पररूपसे नहीं, पर इतनेसे अभी सत् न कहलायेगा। है तो सत् मगर उसका परिचय नहीं बन पाया। इतना ही नहीं हैं कि वह है, वह निरन्तर परिणमता रहता है। ऐसा परिणमते रहनेकी बात न निरखी जाय तो यही तो नित्यन्त एकान्त है। और सर्वथा नित्य कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। जो है वह कोई न कोई अवस्थामें रहेगा और अवस्थायें एक ही किसी की नहीं रहती, चाहे शुद्ध द्रव्य भी हो और शुद्ध अवस्था ही निरन्तर चल रही है सिद्धमें, धर्मादिक द्रव्योंमें, तो भले ही सिद्ध अवस्था चल रही है पर प्रतिक्षणकी शुद्ध अवस्था उस क्षणकी शुद्ध अवस्था है। वह अवस्था अगले क्षणकी नहीं है। तो यों सत्त्वका परिचय नहीं बना, परिणमता रहता है तो किसी रूप परिणमता रहे। जो चाहे जो कुछ बन जाय। फिर तो एक कुछ ईश्वरसा रह गया कि किसी रूप बना

रहे। सो नहीं है सत्। अपने रूपमें परिणमेगा, पररूपसे न परिणमेगा, यह व्यवस्था अगुरुलघुत्व करता है। अपने आपमें निहारते जाइये मैं हूं, अपने स्वरूपसे हूं, पररूपसे नहीं हूं, निरन्तर परिणमता रहता हूं, अपने स्वरूपसे परिणमता हूं, पररूपसे नहीं परिणमता। इतना सब कुछ कहने सुनने बताने के बाद भी कुछ अभी एक वस्तु सो सामने नहीं आयी। कैसे आये? जब तक प्रदेशात्मक रूपसे वस्तुको न समझा जाय तब तक सामने रहेगा क्या? यह तो फिर एक तरह की कल्पना भर रह जायगी। तो प्रदेशवत्व गुणसे वस्तुका सीधा स्पष्ट परिचय हो जाता है। प्रदेशवान है सर्व पदार्थ। चाहे एक प्रदेश हो वह भी प्रदेशवत्व सम्पन्न है, चाहे बहुप्रदेशी हो। इतने तक तो वस्तुका परिचय बना, लेकिन एक विशेषता यह बतायी जा रही है कि ज्ञेय सत् ही होता है, असत् नहीं होता। जो असत् है वह ज्ञेय कहां से हो? ज्ञानमें ज्ञेयाकार कहां से होगा?

प्रमेयत्व गुणकी सार्थकताके विषयमें चर्चा—प्रमेयत्वगुणके विषयमें लोग कभी शंका करते हैं कि वस्तु है जान गये, पर उस वस्तुमें प्रमेयत्व गुण माननेकी क्या आवश्यकता है?आवश्यकता क्या? यही तो धर्म है कि जो सत् है सो ही प्रमेय होता, असत् प्रमेय नहीं होता। जब कभी किसी असत्के बारेमें बात करते हैं, जैसे गधेकी सींग, खरगोशके सींग, बंध्याका पुत्र, यों बात तो करते हैं ना, और हैं असत्—मगर वहां पर भी सर्वथा असत् की बात है ही नहीं। कुछ है। बंध्या है कि नहीं, पुत्र भी आदमियोंके होते कि नहीं, अब उनका एक मेलजोल करके बात कही जा रही है। जो असत् है वह ज्ञेयाकार रूपमें नहीं आ सकता। गधेके सींग नहीं होते पर गधे और सींग ये दोनों कहीं तो होते हैं। गधे भी होते हैं और सींग भी होते। अगर ये कहीं पाये न जाते तो ये शब्द कहां से निकलते? गधे भी होते, सींग भी होते तब ही तो उसकी बात करते हैं। पर गधेमें सींग यह बात तो असत् रूपसे कही जा रही है? शब्द जितने हैं उनका वाच्य है। भले ही कोई निषेध रूपसे रहे। जैसे एक असत् शब्द ही लो यह असत् जब कुछ है ही नहीं तो यह शब्द कहांसे आया? तो सत् तो है, उस सत्के निषेध रूपमें कह रहें हैं। तो वस्तुमें प्रमेयत्व गुण होता है इसके मायने है कि सत् ही प्रमेय होता है, असत् प्रमेय नहीं होता।

आत्मस्वरूपपरिचयके सम्बन्धमें प्रथम साधारण ज्ञातव्य—अपने आपके स्वरूपके परिचय की बात कही जा रही है। ऐसा यह मैं प्रदेशवान अखण्ड अपने स्वरूपास्तित्वमय निरन्तर परिणमता रहने वाला एक चेतन पदार्थ हूं। इसका किसी भी अन्य सत्के साथ क्या सम्बंध है? भले प्रकार निरखिये अपने पर कृपा करते हुए, कल्याणबुद्धि रखते हुए अपनेको संकटोंसे बचानेके उद्देश्यसे सब मनन करते हुए निरखिये तो सही कि यह मैं जो स्वयं सत् हूं इस सत्का किसी अन्य सत्के साथ संम्बंध क्या कि वह मेरा कुछ कहलाने लगे। भलेही निमित्त नैमित्तिक योगसे कर्म साथ लगे। शरीर साथ है तिसपर भी एक सत्का दूसरा सत् बन तो नहीं सकता। तो मेरा जगतके किसी भी पदार्थके साथ स्वामित्व सम्बंध नहीं है, और मैं किसीको परिणमा दूं, ऐसा भी कर्तृत्वसम्बंध नहीं है। निमित्त नैमित्तिक योगसे होता क्या है कि योग्य निमित्तके सान्निध्यमें उपादान अपनेमें अपनी कला प्रकट कर लेता है। तो वस्तुतः वह प्रभाव उपादानका है, पर उपादान अपने इस प्रभावको इस निमित्त सन्निधानके

बिना प्रकट नहीं कर पाता, जैसा जो प्रभाव हो, तब उसके निमित्त का प्रभाव है यह ऐसा आरोप किया जाता है, पर यह भी नहीं है कि निमित्त सन्निधानके बिना उपादानमें विकार होता है।

निमित्तनैमित्तिकभावप्रभावमें भी वस्तुस्वातन्त्र्यका स्पष्ट दर्शन—बात यह कही जा रही है कि प्रत्येक वस्तु अपने आपमें अपना परिणमन करता चला जा रहा है। जैसे आप किसी सड़कसे चले जा रहे हैं, सड़क पर कोई वृक्ष है उसके नीचेसे भी जा रहे हैं तो आप छाया रूप बने। आपको कुछ शीतलता भी आयी, आगे बढ़े, धूप मिली, गर्मी मिली, छाया मिली, यह सब बात आपकी आपमें ही होती चली आ रही है मगर उस उस निमित्त सन्निधानमें आपका वह ठंड गर्मी आदिकरूप वहां परिणमन चलता जा रहा है। हां आपके शरीरके परिणमनको वृक्षने अपनी जगहसे हटकर आपमें लगकर नहीं किया। पर उस सन्निधान बिना भी बात नहीं बनी, पर परिणमन देखो सबका स्वरूप अपने-अपनेमें है परिणमन परिणमन अपने अपने में है, वृक्ष अपनेमें परिणम रहा, यह मनुष्य शरीर अपनेमें परिणम रहा और निमित्त नैमित्तिक योग भी चल रहा। जिसे कह सकते कि निमित्त नैमित्तिक योग और वस्तुस्वातंत्र्यमें दोनों एक साथ रहें हैं। रहो फिर भी वस्तुके स्वरूपको देखो वह अपने द्वारा अपनेमें अपने लिए अपनेसे परिणम रहा है। किस योगमें परिणम रहा, वह भी एक चर्चा है, पर केवल एक वस्तु को निरख करके तो देखिये उसका सर्वकुछ अपने आपमें चल रहा है। जब मैं किसी परपदार्थको कुछ परिणमाता भी नहीं, किसी का मैं कुछ करने वाला भी नहीं। भले ही आप अपने बच्चेकी बहुत बहुत सेवा करें और उसे देखकर अपना महत्त्व अनुभव करें, लेकिन वहां क्या है कि उस पुत्रका आपसे अधिक पुण्य है। जिस पुण्यके निमित्तसे आपको नौकरकी तरह बनकर सेवा करनी पड़ती है, पर करने वाला कौन किसका है? तो करने का भी सम्बंध नहीं है और परमार्थतः भोगनेका भी सम्बंध नहीं है। यह जीव भोगता किसको है? अपने अपके परिणमन को भोगता है। परिणमन मुख्य है ज्ञान परिणमन। जैसा ज्ञान होता है वैसे ज्ञानको भोगता है और उस ही के अनुरूप दुःख सुखका अनुभव चलता है। किसी बाहरी पदार्थसे दुःख आता है क्या? आ ही नहीं सकता। बाहरी पदार्थके बारेमें कल्पनायें करते हैं, उस ज्ञानकी एक ऐसी दशा बनी है कि अपने आपके परिणमनमें दुःखका अनुभव चल रहा है। किसी अन्यसे मुझमें सुख आता क्या? सुख भी नहीं आता, किन्तु अपने आपके ही ज्ञानको इस दिशामें बढ़ाया जा रहा कि दृष्ट बुद्धिकी कल्पनायें बना बनाकर अपनेको सुखका अनुभव करता है, किन्तु उस समय वे बाह्यपदार्थ, नोकर्म विषयभूत हैं इसलिए उनका नाम लदता है कि मैंने इसे भोगा, मैंने इसका सुख पाया।

उपादान, निमित्त व आश्रयभूत कारणके विषयमें प्रकाश—बात यहां यों जानना कि जितने भी दुःख सुख आदिके परिणमन हो रहे हैं उनमें तीन प्रकारके कारणोंकी बात समझना है—(१) उपादान कारण, (२) निमित्त कारण और (३) आश्रयभूत कारण। जैसे किसीको देखकर सुख हुआ तो उस सुख रूप कार्यका उस सुखानुभव का उपादान कौन? यह ही जीव, जो सुखरूप परिणमा। और निमित्त कारण क्या? साता वेदनीयका उदय आदिक। यहां इतनी सावधानी रखना कि जगतमें ये जितने भी पदार्थ दिख रहे हैं स्त्री पुत्र मित्र धन वैभव आदिक ये मेरी परिणतिमें निमित्त कारण नहीं कहलाते।

निमित्त कारण तो केवल कर्मकी दशा है। यह अन्तर डालें तो बहुत सी समस्यायें सुलझ जायेंगी। हमारी स्थितिमें, दशामें केवल कर्म दशा निमित्त कारण होती है। जगतके ये बाह्य पदार्थ मेरी दशामें, अवस्थामें निमित्त कारण नहीं होते, क्योंकि इसका कारण क्या है कि निमित्त कारण वे कहलाते हैं कि जिनके कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बंध हो। होता तो है अत्यन्ताभाव वाला भिन्न पदार्थ। मगर जिसको जिस कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बंधका अर्थ क्या? जिसके होनेपर विकार हो, जिसके न होनेपर विकार न हो, यह नियम जहां बना हो उसे कहते हैं निमित्त कारण। ये जगतके बाहरी पदार्थ ये निमित्त कारण नहीं हैं, क्योंकि इनके होने पर विकार हों और न होने पर विकार न हों, ऐसा निमित्त पाया जाता। घर गृहस्थी छोड़कर साधु हो गया कोई और कल्पनायें कर करके विकार कर रहा, सुख हो रहा, दुःख हो रहा। सामने चीज नहीं है, पर चल रहा है। एक बात और समझें। जैसे एक दृष्टान्त दिया जाता है कि वेश्यामरी, तो उसको जलानेके लिए लोग श्मशान लिए जा रहे थे। उसको जब किसी साधुने देखा तो उसके ये भाव हुए कि देखो इस बेचारीने बड़ा दुर्लभ मानव जीवन पाकर व्यर्थ ही खो दिया, एक कामी पुरुष जो उसमें आसक्त था, देखा तो उसके ये भाव हुए कि यह वेश्या यदि कुछ दिन और जीवित रहती तो मुझे इससे और भी सुख मिलता, एक कुत्तेने उस वेश्याके मृतक शरीर को देखा तो उसके ये भाव बने कि ये लोग इसे व्यर्थ ही जलानेके लिए ले जा रहे, यदि इसे यों ही छोड़ देते तो हमारा कुछ दिनों का भोजन बनता। अब देखिये अगर वह वेश्या शरीर विकारभावका निमित्त होता तो सबके एक सा ही विकारभाव होना चाहिए था। यहां फर्क क्यों आया? फर्क यों आया कि मुनिराजका तो निमित्त कारण और तरह का था, कषायोंका क्षयोपशम, ज्ञानावरणका क्षयोपशम जिसके कारण वैराग्यमय वातावरण बना। तो उनको निमित्त कारण कर्मोंका क्षयोपशम रूप था इसलिए उसके ऐसे ही परिणाम हुए देखा वेश्याको और उसके आश्रयभूत कारण करके ही समझा गया मगर निमित्त कारण इसका और प्रकारका है। तो कामी पुरुषका निमित्त कारण और प्रकारका है। उसके है पुरुषवेदका उदय, और उसकी जो जो भी चीजें, वे सब कर्मदशायें उसके लिए निमित्त कारण थीं तब उसके अनुरूप उसका भाव बना और कुत्ता आदिकका क्या निमित्त कारण था? असाता वेदनीयका उदय, क्षुधा वेदनीयका उदय। तो दशा थी कर्म की इसलिए उसके अनुरूपभाव बने और तीनोंके लिए आश्रयभूत कारण वेश्या रही। तो ये जगत के जितने बाह्य पदार्थ हैं इनको भी हम रूढ़िसे निमित्त बोलते हैं और शास्त्रोंमें भी निमित्त कहते हैं, पर अर्थ यों समझना चाहिए कि यहां आश्रयभूत कारण तो निमित्त शब्दसे कहा है या वास्तविक कारणको निमित्त रूपसे कहा है?

आश्रयभूत कारणके सद्भाव असद्भाव आदिसे सम्बन्धित कुछ तथ्योंका प्रकाश—अब आश्रयभूत कारण की बात देखिये—विकार होते हैं जीवमें, उस प्रकारके मोहनीयकर्म के उदयका निमित्त पाकर। किन्तु यदि कोई विवेकी है और अपने उपयोगको आत्माके अनुभवकी ओर लिये जा रहा है या कोई आप सामायिक आदिक धार्मिक कार्योंमें चल रहा है तो उदय तो बराबर निरन्तर चल रहा है मगर आश्रयभूत कारण उसके लिए धन वैभव मित्रादिक नहीं बन रहे, क्योंकि उपयोग दूसरी ओर है। तो आश्रयभूत कारण न होनेसे विकार तो होंगे मगर वे अव्यक्त होंगे और आश्रयभूत कारण उपयोगमें

लिया जाय तो वह उपयोग व्यक्त हो जायगा। तो यहां यह बात जानना कि जो यह कहने की एक आदत है कि निमित्त कारण कुछ नहीं है, उसकी आवश्यकता क्या? देखो बिना निमित्तके भी कार्य हो गया। तो वास्तविक दृष्टिसे कथन करें तो यह बात नहीं कही जा सकती। होता क्या है कि निमित्तको तो झुठलाते हैं और उदाहरण देते हैं आश्रयभूत कारणोंका। देखो वह वेश्या सामने आयी और मुनि महाराजके विकार न जगा तो निमित्त तो कुछ न रहा। और ये बाहरी समस्त पदार्थ आश्रयभूत कारण कहलाते हैं। ये निमित्त कारण नहीं कहलाते। इन्हें नोकर्म भी कहते हैं। इनका आश्रय करके इस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको पाकर कर्म अपनेमें एक विशेष रूपसे प्रतिफलित होते हैं।

निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयकी प्रयोजकता—यह बात चल रही है एक आत्मस्वरूपकी इस निमित्तनैमित्तिककी चर्चासे आपको आध्यात्मिक लाभ क्या होता है? ये जो विकार जगे ये मेरे स्वभावसे नही जगे। ये निमित्त पाकर जगे, और निमित्त पाना भी किस तरहका होता इस विकारके प्रसंगमें कि उन कर्म प्रकृतियोंमें स्वयं अनुभाग पड़ा हुआ है। कबसे पड़ा पड़ा है? जबसे बंधा हुआ था। बंधके कालमें प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग हुआ है। सो जब कर्मोदयवश या उदीरणावश आत्मासे निकलते है तो जैसे किसी दुष्टको घरमें बसा लिया जाय तो जब तक वह घर में रहेगा तब तक आप पर उपद्रव न करेगा और जब वह मौका पायेगा घरसे बाहर निकलनेका तो वह कुछ भी दुष्टताका व्यवहार कर सकता है। यह करीब-करीब ऐसी बात है, ऐसे ही ये कर्म जब तक एक सत्त्वमें पड़े है तब तक इनका फल नहीं भोगनेमें आता, ये कर्म न निकलते और सत्तामें पड़े रहते तब तो अच्छी बात होती। हमको दुःख ही न होता। पड़े रहेंगे सत्तामें, पर ऐसा होता कहां है? जो आ रहा सो जायगा। तो जब वे कर्म विदा होते हैं तो उनका अनुभाग प्रस्फुटित होता है, फूटता है याने उनमें विकृति जो अनुभाग है वह एकदम फूल जाता है, बिगाड़ हो जाता। और उसका प्रतिफलन चूंकि चेतना है आत्मा, इस उपयोग भूमिमें आता है, आक्रान्त हो गया यह और उस समय यह विचक गया, स्वभावसे हट गया, उपयोग बदल गया, परकी ओर चला गया, यों दुःखी होता है। तो जब यह ज्ञानमें आयगा कि यह तो प्रतिफलन है तो यह कर्मके उदय का प्रतिफलन है। मेरे स्वभावमें कष्ट नहीं, मेरे स्वभावमें विकार नहीं। मैं तो अपने स्वरूपास्तित्वसे अपने चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ। इसका जिस ज्ञानी सतने परिचय पाया उसको जगतसे विविक्तता आयी।

अन्तस्तत्त्वकी रुचिका प्रभाव—मैं मैं हूं। ज्ञानमात्र हूं। मेरे स्वरूपमें किसी अन्यका प्रवेश नहीं है। कोई मुझमें परिणमन करता नहीं है। निमित्त नैमित्तिक योग है। वही तो संसार है, वही तो सारी व्यवस्थायें चल रही हैं। निमित्त नैमित्तिक योग समझने से भी लाभ तो मिला, तथ्य समझे तो सही। यह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं अपने स्वभावरूप रहूंगा, मैं इन प्रतिफलनोंमें उपयुक्त न होऊंगा। ऐसा जानने वाला अंतस्तत्त्वका रुचिया संत अपनी ओर आता है। आऊं, उतरूं, रमलूं। ये इसमें स्थितियां बनती हैं। कहां से आऊं? जहां भटक गये वहां से लौटकर आऊं। कहां भटक गये थे? जगतके इन सर्व बाह्य पदार्थोंमें, वहां से लौटकर आऊं। उतरूं जो मेरा स्वरूप है, ज्ञानभाव है, मैं अपने ज्ञानस्वरूपमें उतरूं। ज्ञानस्वरूपको जानूं, रमलूं और इस ही ज्ञानस्वरूपमें मैं रम जाऊं। ये तीन बातें—ज्ञानमात्र,

ज्ञानघन और आनन्दमय इन तीन विशेषणोंके मननसे सम्बंध रखती हैं। मैं ज्ञानमात्र हूं, इन इन रूप नहीं हूं। मात्र केवल ज्ञान हूं इन बाहरी पदार्थोंरूप नहीं। ज्ञानमात्र विशेषण द्वारा समस्त बाह्य पदार्थोंसे हटकर मैं अपनी ओर आऊं और फिर करने क्या लगा? ज्ञानघन विशेषणके माननसे इस अपने आपके स्वरूपमें उतरा मायने उस ज्ञानस्वरूपको ही जानने लगा, जानता रहा, इसीमें बर्तता रहा और आनन्दमय वह दशा कहलाती है जहां ज्ञानघनका भी विचार नहीं, मनन नहीं। भानहोकर उस विकल्पसे हट गया, वहां आनन्द प्रकट होता है, वही रमण होता है। तो आनन्दमय इस विशेषणके मननके साथ यह निर्विकल्प होकर अपनेमें रमता है, ऐसी अपने आपमें अपनी क्रीड़ा करता हुआ, रमण करता हुआ यह ज्ञानी संत प्रसन्न रहा करता है। उस ही सम्यक्त्वकी बात यहां चल रही है। उस सम्यक्त्वके ८ अंग बताये जा रहे हैं उसमें किस अंगमें कौन प्रसिद्ध हुआ उनके सम्बंधमें यह श्लोक चल रहा है।

स्वभावविमुख व परभावोन्मुख मोही जीवोंके जीवनकी व्यर्थता—जीवनमें रत्नत्रय नहीं पाया तो यह जीवन भी बीते हुए अनन्त भवोंकी तरह व्यर्थ है। मानो लोकके वैभव कितने भी मिल गए, बड़े राजपाट मिल गए, बहुत बडे धनी हो गए, किन्तु एक अपने आपका पता न पा सके, फिर यह किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अपने आप का कुछ भी भाना करके दुःखी रहा करता हैं। मैं कौन हूं इसका परिचय होना बहुत जरूरी है। मैं हूं, स्वयं हूं, और चैतन्यस्वरूप हूं। मैं जो कुछ अपने आपमें हूं सो केवल प्रतिभास मात्र हूं, उसमें विकार का काम नहीं। स्वभाव अविकार है, स्वभाव केवल जाननेका है, कोई कष्ट नहीं। मेरा स्वभाव परिपूर्ण है—अधूरा नहीं हूं मैं जो कि कुछ करनेको पड़ा हो अपनेमें जिससे कि मैं पूरा बनूं, ऐसा कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वरूपसे पूरा हूं और जब स्वयं मात्र जाननहार हूं, ऐसा मेरा निजका स्वरूप है, पर अनादिकालसे कर्मबंधनके कारण कर्मका विपाक आक्रमण करता है उससे दब जानेके कारण मैं अपने को न जान सकूं और बाहरमें लगा रहूं तो यह तो अपने जीवन को खोना है। संसारका सुख केवल कल्पनाका सुख है, वास्तविक सुख नहीं है, तब ही तो संसार का सुख भोगकर भी यह जीव तृप्त नहीं हो पाता, बल्कि बादमें पछताता है यदि संसारमें वास्तविक आनन्द होता तो यह तृप्त रहता और सदा रहता, कभी व्याकुल न होता। तो संसारके ऐसे उतार चढ़ाव हैं कि कभी सुख कभी दुःख, कभी लोगों की दृष्टिमें बड़ा ऊँचा, कभी अत्यन्त गिरा हुआ ये सब नटखट चलते हैं। तो इन बाहरी पदार्थोंके लगावसे लाभ क्या है? लाभ है अपने आपकी समझमें। मर गये, इस भवसे गये, यह अकेला गया, इसके साथ कुछ जाता है क्या। फिर क्यों इन बाहरी पदार्थोंमें इतनी आसक्ति बनाते मेरा मैं हूं, मेरा मैं शरण हूं, मेरा मैं महान हूं। किसकी छायामें में जाऊं? भगवानकी भक्तिकी छायामें जाने का अर्थ है अपने आपके स्वरूपकी छायामें जाना, पर दुनियाके लोगोंकी छायामें जानेका क्या अर्थ निकल सकेगा? वह सब विडम्बना है। तो एक बार हिम्मत करके जिसे कहते कि एक झिटका देकर इन सबसे निराला ज्ञानघन यह मैं आत्मा हूं, इसकी दृष्टि एक बार तो पालें। आपके पड़ोसी के लिए आपके बच्चे पर हैं। और कदाचित मान लो आप इस भवमें न होते, किसी और जगह होते तो ये आपके कुछ लगते थे क्या? कल्पनामें भी कुछ न थे। तो यह सब व्यर्थकी माया है। ये व्यर्थके झुकाव, व्यर्थके लगाव खुद को परेशान कर डालते हैं। इन सुखोंसे तो दुःख अच्छा है जिसमें

एक फैसला बना हुआ है, पर इस सांसारिक सुखमें तो धोखा है। क्षोभ है, पापका ही बंध है। तो इससे उपेक्षा करके कुछ अपने आत्माके ज्ञानके अभिमुख होना चाहिए।

सम्यग्दृष्टिकी निःशंकता, निःकांक्षितता व निर्विचिकित्सताका स्मरण—जिनको आत्मस्वरूप का अनुभव हुआ उन्हें कहते हैं सम्यग्दृष्टि जीव। सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होता है। क्या होगा मेरा? यह उसको शंका नहीं रहती। सब मालूम है उसे कि मेरा क्या होगा। मैं ज्ञानस्वरूप हूं और ज्ञानका परिणमन करता रहूंगा। यह मेरा होगा। पूरा तो पता है ज्ञानीको, वह घबड़ायगा क्यों? वह बाहरी चीजोंको तो अपनी कुछ समझता ही नहीं है। वह जानता है कि ये तो सब बाहरके परिणमन हैं। ज्ञानीको पूरा पता है कि मेरा क्या होगा। मैं ज्ञानस्वरूप हूं। ज्ञानका परिणमन होगा, बस यही चलता रहेगा। ज्ञानीको शंका नहीं रहती। ज्ञानीको किसी प्रकारका भय नहीं रहता। यह बात सब निशंकित अंगमें कही गई है। और उसमें प्रसिद्ध हुआ अंजन चोर। उसकी भी बात आप सब जानते हैं। ज्ञानी जीवको बाह्य पदार्थोंमें इच्छा नहीं रहती, इसका नाम है निःकांक्षित गुण। धर्म धारण करके तो इच्छा रहती ही नहीं है किसी सांसारिक सुख पानेकी। कभी अपने आप पर तीव्र पापकर्मका उदय आ जाय और बड़ी विपत्तिका सामना करना पड़े तो ज्ञानीजीव उस खोटी दशाके बीच भी अपने ज्ञानको, अपने मन को नहीं गिराता। वहां साहस बनाता। आत्माकी शक्ति घटाकर वह दुःखी नहीं होता। इसे कहते हैं सम्यग्दृष्टिका निर्विचिकित्सित अंग।

सम्यक्त्वके अमूढ़दृष्टि अंगमें प्रसिद्ध रेवती रानीकी अमूढ़दृष्टिका दिग्दर्शन—चौथा अंग है अमूढ़दृष्टि अंग, मुग्ध न होना। चाहे खोटे तापसी जैसा चाहे अपने आपको देव मानने वाले लोग कैसा ही अपना प्रभाव दिखायें किन्तु वह ज्ञानी जीव उस चमत्कारमें मुग्ध नहीं हो जाता। ऐसी सम्यग्दृष्टिको शुद्ध श्रद्धा है। एक बार रेवती रानी की बड़ी प्रसिद्धि थी कि वह अपनी श्रद्धापर अटल है, वह यहां वहां की देखी सुनी बातों पर विश्वास नहीं करती किन्तु जो शास्त्रोंमें लिखा है उस पर उसकी श्रद्धा थी। यह बात किसी एक विद्यावान क्षुल्लकने या किसीने सुना तो उसने उस रेवती रानीकी परीक्षाके लिए अपने विद्याबलसे कई देवताओंके रूप रखा और उनका बड़ा चमत्कार दिखाया। लोगों की बड़ी भीड़ लगने लगी उनका वह चमत्कार देखकर, पर रेवती रानी उस चमत्कारसे आकर्षित न हुई। ऐसी ही कई घटनायें विद्याके बलसे दिखाया। एक बार तो ऐसी घटना दिखायी कि जहां समवशरण की रचना थी, वहां मानो कोई नया तीर्थंकर उत्पन्न हुआ हो, ऐसा दृश्य दिखाया। तब वहां लोगोंने रेवतीरानी से कहा कि अब तो तीर्थंकर महाराज समवशरणमें विराजे हैं, उनके दर्शन करने चलो, तो उसने कहा कि २४ तीर्थंकर तो हो चुके अब २५वां नया कोई तीर्थंकर न होगा, यह तो किसी मायाजालका रूपक है। वह नहीं गयी। तबउस भेषधारीने अपना बनावटी रूप छोड़कर सही रूप प्रकट किया और रेवती रानी की भारी प्रशंसा की। अमूढ़दृष्टि अंगकी मुख्यता है अपने आपके स्वरूपके बारेमें बेहोश न होना और विशुद्ध किसी घटना को देखकर उसमें आकर्षित न होना। यह कला ज्ञानीमें पायी जाती है क्योंकि उसे अपने बारेमें परिचय मिल चुका है।

सम्यक्त्वके उपगूहन अङ्गमें पालनमें प्रसिद्ध जिनेन्द्रभक्त सेठकी जिनशासन भक्तिका

दिग्दर्शन—ज्ञानीके सम्यक्त्वका ५ वां अङ्ग है उपगूहन अङ्ग। किसी धर्मात्मासे चाहे वह भेष वाला ही धर्मात्मा हो कोई बात दोषकी बने तो उसको जगतमें प्रकट न होने देना। आपके लिए सोचना होगा कि यह कोई बुद्धिमानी है क्या किसीसे कोई दोष बन गया तो उसे दण्ड दिया जाय? हां यह भी एक न्याय है पर सम्यग्दृष्टि की मंसा है कि यह जैनशासन जो अनादिसे चला आ रहा है, जिसका आलम्बन लेकर भव्य जीव संसारसे तिरते हैं, लोगोंकी दृष्टिमें यह न आये कि यह जैनशासन भी मलिन शासन है। उस शासनमें कलंक न आये। क्या किसी पुरुषका नियम लेना आलम्बनसे रहित हो जायगा, इसलिए वह उपगूहन अंगका आदर करता है। इस अंगमें जिनेन्द्र भक्त नामका सेठ प्रसिद्ध हुआ है। उसका चैत्यालय था, जिसमें बड़ा कीमती छत्र लगा था, बड़ी कीमती मणि चढ़ी थी। एक बार किसी चोरके मनमें आया कि इस छत्रको चुराना चाहिए पर वहां बड़ी व्यवस्था थी, कैसे चुरा सके? तो उसने कोई ब्रह्मचारी या क्षुल्लकका रूप रख लिया और बड़े ही निरारम्भ, निष्परिग्रह रूपसे उस चैत्यालयमें रहने लगा। सेठको भी उस पर क्षुल्लकपर बड़ा विश्वास हो गया। और विश्वास हो जाना सम्भव ही था क्योंकि धर्मात्माका सच्चा रूप उसके अलावा और कौन हो सकता था? सो एक दिन वह सेठ कहीं बाहर जाने वाला था किसी व्यापार सम्बन्धी कार्यसे, तो उसने उस क्षुल्लकसे कहा कि मैं एक दिनके लिए बाहर जाऊंगा, आप इस चैत्यालय की देखरेख रखना। ठीक है वह तो चाहता ही था कि कब मौका मिले और मैं छत्र चुराऊं। आखिर वह सेठ तो चला गया। इधर क्या घटना घटी कि मौका पाकर वह क्षुल्लक मंदिरके अन्दरसे छत्र चुराकर भगा। अब छत्रमें मणिकी चमक होनेसे उस नगरके रक्षक सिपाहियोंने उसे देख लिया और चोर समझकर उसका पीछा किया। वह चोर भगता हुआ चला जा रहा था और सिपाही उसका पीछा किये थे। इसी बीच उधरसे वह सेठ अपने घरके लिए वापिस हो रहा था। रास्तेमें उसने देखा कि वह चोर उसके ही मंदिरका छत्र लिए हुए जा रहा था और सिपाहियों ने उसको पकड़ लिया था। यह दृश्य देखकर सेठने सारा रहस्य जान लिया, पर इस दृष्टिसे कि इससे तो हमारे धर्मकी अप्रभावना होगी, यहां धर्मकी रक्षा करना चाहिए। सो इस भावनासे प्रेरित होकर सेठ बोला सिपाहियोंसे कि आप लोग इन्हे छोड़दे, यह छत्र मेरा है और मैंने ही इनसे मंगाया था। बस छोड़ दिया सिपाहियोंने। यह है उपगूहन अंगका सच्चा उदाहरण। यहां लोगोंको एक शंका हो सकती कि यह तो सरासर झूठ बोलना हुआ। तो ठीक है, यहां झूठ बोलकर उस चोरको बचाने का भाव न था बल्कि धर्म शासनको अप्रभावनासे बचानेका भाव था, इसलिए वह झूठ बोलना भी उस ज्ञानी पुरुषके लिए उस स्थिति में गुण हो गया। यह भी एक सम्यग्दर्शन का अंग है। आज जैन शासन के मानने वालोंका चरित्र ऊंचा न रहा इस कारण जैनधर्मकी अप्रभावना चल रही है। ऐसी स्थिति में किसी के मुखसे कैसे निकल सकेगा कि ये जैनी हैं, ये धर्मात्मा है, ये कभी झूठ नहीं बोलते, ये कभी चोरी नहीं करते ये रात्रि भोजन नहीं करते, ये बड़े सदाचारी हैं, ऐसा अब लोग कैसे बोल सकते क्योंकि कुछ संख्यामें इनका चारित्र स्वयं गिर रहा है। हां कभी एक ऐसा जमाना था कि लोग जैनियोंको बड़ी अच्छी दृष्टिसे देखते थे और जैन धर्मकी भी बड़ी प्रशंसा करते थे। पर आज बात नहीं देखनेमें आती। तो इस जैन शासनको विशुद्ध रखना यह अपने आचरण पर निर्भर है।

सम्यक्त्वके स्थितिकरण अङ्गमें प्रसिद्ध श्री वारिसेण मुनिराज का करुणा—सम्यग्दर्शनका छठा अंग है स्थितिकरण। किसी धर्मात्माको धर्मसे चिगते हुए में उसे स्थिर कर देना स्थितिकरण अंग है। इसमें वारिसेण नामक मुनि अधिक प्रसिद्ध हुए। वारिसेण महाराज जब पुष्पडालके यहांसे आहार लेकर जंगलकी ओर चले तो पुष्पडाल उन्हें कुछ दूर पहुंचाने गए। जब कोई एक दो मील जगह तय कर गये तो पुष्प डालने सोचा कि हम कैसे इनसे कहें कि अब मुझे घर जाने की आज्ञा दे दीजिए, इस संकोचसे न कहा, उधर वारिसेण महाराजने भी पुष्पडाल को घर लौटने कि लिए न कहा। यद्यपि पुष्पडालने कई बाते ऐसी कहीं कि जिनमें यह संकेत था कि अब मैं काफी दूर आ गया हूं, घर वापस लौटनेकी आज्ञा दे दीजिए, पर वारिसेणने नहीं कहा। क्या कहा था पुष्प-डालने महाराज यह वही तालाब है जहां हम तुम बचपनमें नहाने आया करते थे, यह नगरसे कोई दो मील पड़ता है, यह वही बगीचा है जहां हम आप घूमने आया करते थे, यह नगर से कोई तीन मील पड़ता है···; वारिसेण महाराजने कुछ न कहा। आखिर जंगल पंहुचे, पुष्पडालके भाव भी कुछ विरक्तिकी और बढ़े ओर वहीं मुनि हो गये। अब मुनि तो हो गये पर उन्हें अपनी स्त्रीका याद बराबर बना रहा। यद्यपि उनकी श्रीमति जी थी कानी, पर राग उसके प्रति बराबर बना रहा। जब वारिसेण महाराजने पुष्पडाल मुनिको विचलित होते हुए देखा तो क्या उपाय किया कि अपने घर माँ के पास खबर भेज दिया कि कलके दिन हम घर आ रहे हैं, आप सभी रानियोंको सजाकर रखना। यद्यपि वारिसेणकी माँ को बड़ा आश्चर्य हुआ अपने बेटेकी उस करतूत पर, पर समझा कि इसमें कोई रहस्य छिपा होगा। खैर उस माता ने दो सिंहासन सजाये—एक तो स्वर्णका और एक काठका। सोचा कि अगर हमारा बेटा विचलित हो रहा होगा तो स्वर्णके सिहांसन पर बैठेगा नहीं तो काठके सिंहासन पर। खैर वारिसेण तथा पुष्पडाल जब घर पंहुचे तो क्या देखा कि बड़ा ठाठ, अनेक सुन्दर रानियां बड़ा वैभव···। यह सब ठाठ देखकर पुष्पडालका चित्त पलट गया सोचा ओह धिक्कार है मुझे जो एक कानी स्त्रीका ध्यान नहीं छोड़ पाता, यहां तो इतनी इतनी सुन्दर रानियोंको तथा इतने विशाल वैभवको त्यागकर ये वारिसेण महाराज मुनि हुए। बस पुष्पडाल मुनिका मोह गल गया और अपने धर्ममें स्थिर हो गये। यह है धर्म में स्थिर करनेका सुन्दर उदाहरण।

सम्यक्त्वके वात्सल्य अङ्गमें प्रसिद्ध श्री विष्णु मुनिकी करुणा—सम्यक्त्व का ७वां अंग है वात्सल्य अंग। इस अंगकी तो बड़ी कथा है। रक्षाबंधन पर्व जो आज चल रहा है उसकी कहानी आप सब जानते ही हैं। वात्सल्यके मायने है प्रेम। जब श्री अकम्पनाचार्य आदिक ७०० मुनियोंपर विकट उपसर्ग हो रहा था बालि आदिक मन्त्रियोंने ७ दिन का राज्य पाकर उन मुनिराजोंको बेड़कर एक बाड़ेके अन्दर बन्द कर दिया था और उसके अन्दर लकड़ियोंमें आग लगा दिया था। अब मुनियोंके ऊपर आये हुए इस घोर उपसर्गका निवारण कैसे हो यह किसी की समझमें न आ रहा था। आखिर यह घोर उपसर्ग देखकर श्रवण नक्षत्र कम्पित हुआ, देखा कि किसी मुनि का हाय शब्द निकला, जान लिया सब वृतान्त। उनसे किसी विद्याधरी क्षुल्लकने पूछा—महाराज क्या मामला है जो रात्रिको हाय शब्द निकला? तो वहां बताया कि इस समय हस्तिनापुमें ७०० मुनिराजों पर घोर उपसर्ग है।··· तो महाराज इसके निवारण करने का क्या उपाय है?··· जावो, विष्णुकुमार मुनिश्वर अमुक जंगलमें तप

कर रहे हैं वहां जाकर घटना बतावो वे ऋद्धिबलसे सब उपाय सोच लेंगे और संकट टाल सकेंगे। सो वह क्षुल्लक विष्णुकुमार मुनिके पास पहुंचे और सारी घटना बताया तो विष्णुकुमार मुनिने पूछा—इस उपसर्गके निवारण का क्या उपाय किया जा सकता है? तो क्षुल्लकजी नें बताया कि आपको विक्रिया ऋद्धि सिद्ध है, उसके बल पर आप उन मुनियोंका संकट निवारण कर सकते हैं। यह बात सुनकर विष्णुकुमार मुनिको महान आश्चर्य हुआ कि हमें विक्रिया ऋद्धि कैसे सिद्ध है, हमें तो इसका कुछ पता ही नहीं आखिर इसका पता लगाने के लिए जो उन्होंने हाथ उठाया तो उनका हाथ लवणसमुद्र पर्यन्त बढ़ गया। अब तो उन्हें पुर्ण विश्वास हो गया कि हमें विक्रिया ऋद्धि सिद्ध है। अब क्या था, विष्णुकुमार मुनि तुरन्त ही अपना मुनि पद छोड़कर एक ५२ अंगुल वाला बोनारूप रखकर वहां पंहुचे जहां कि मुनियोंपर वह उपसर्ग आया हुआ था। वहां जाकर देखा कि बलिराजा उन मुनियोंको जलते हुए देख देखकर बड़ा खुश हो रहा था, उस समय बडे बडे पंडित बुलवाकर मंत्रोच्चारण करवाकर यज्ञ जैसा कर रहा था उसकी खुशीमें सभी को मन चाहा दान दिया जा रहा था। आखिर ७ दिन को मांगा हुआ राज्य उसे मिल गया था, वह उस समय मनमाने कार्य कर सकता था, आखिर जब मुफ्त ही उसे मिला था तो उसमें कंजूसीकी क्या जरूरत? सो वहां राजा बलिने विष्णुकुमार से कहा कि आप भी कुछ मांगिये तो वहां विष्णुकुमारने तीन पग भूमि मांगा। उस समय राजा बलि बड़े आश्चर्यमें पड़ा कि एक तो यह वैसे भी कद का बौना और फिर तीन पग भूमि मांगता, इतनेसे इसे क्या होगा, सो कहा—अरे इतने से क्या होगा, कोई बड़ी चींज मांग लो या भूमि ही मांगना है तो काफी सी मांग लो, तो वहां विष्णुकुमार बोले राजन् मुझे इससे अधिक न चाहिए। ··· अच्छा तो आप तीन पग भूमि जहां चाहे ले लीजिए, दे दूंगा यह मैं संकल्प करता हूँ। तो वहां विष्णुकुमार मुनिने अपना एक पग उठाया तो विक्रियासे वह पग इतना अधिक बढ़ गया कि एक पगसे खड़े होकर दूसरे पगसे सारा मनुष्यलोक घेर लिया फिर दूसरा पग घुमाया तो मानुषोत्तर पर्वत घेर डाला। अब तीसरा पग रखने को जगह न मिली तो बलिसे कहा—बताइये अब मैं तीसरे पग की भूमि कहां नापूं? तो उस समय वह राजा बलि अत्यन्त शर्मिन्दा हुआ और विष्णुकुमार के चरणोंमें लोटकर क्षमा याचना किया और विष्णुकुमार के कहे अनुसार मुनिराजोंका वह घोर उपसर्ग दूर किया। सारे मुनिराजोंको उस बाड़ेसे निकाला गया, उस समय उनकी क्या हालत थी सो तो ध्यान दो। उन मुनिराजोंके सारे अंग अग्निसे झुलस गये थे, अग्निके धूमसे कंठ अवरुद्ध हो गये थे, उनका सारा शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया था मगर उपसर्ग दूर हो चुका था, अब उन्हें कैसे जीवित रखा जाय इसका उपाय क्या किया लोगोंने कि जब वे चर्या को निकले तो उन्हें आहारमें सिवइयां दिया था ताकि उनके कंठ में आहार लेते हुए में कष्ट न पहुंचे। तभीसे रक्षाबंधन पर्व चला और उसमें सिवइयां बनने की प्रथा चली। वह प्रथा आज भी चली आ रही है। तो विष्णु कुमार मुनिने वात्सल्य अंगकी पूर्ति की, पश्चात् फिर दीक्षा लेकर तपश्चरण करने लगे।

सम्यक्त्वके प्रभावनाङ्गके पालनका एक उदाहरण—सम्यक्त्वका ८ वां अंग है प्रभावना। इस अंग में प्रसिद्ध हुए हैं बज्रकुमार। इनके दो रानियां थी, एक थी वैष्णवमतके मानने वाली और एक थी जैन धर्मके मानने वाली। दोनोंने अपना-अपना रथ निकालनेके लिए होड़ मचायी। एकने

कहा—पहले हम निकालेंगी, दूसरी ने कहा हम पहले निकालेंगी। इसी प्रसंगको लेकर दोनों रानियां अनशन करके बैठ गईं तो वहां बज्रकुमारने अपने चमत्कार बलसे वैष्णवमतको मानने वाली रानीका विचार बदल दिया और जैनरथ पहले निकला, जैन धर्मकी प्रभावना हुई। वास्तविक प्रभावना तो ज्ञानकी प्रभावना को कहते हैं। बाहरी शो दिखा देना यह कोई प्रभावना नहीं हैं। जनताके मनमें आ जाय कि ये लोग बड़े सम्पन्न हैं, अपने धर्मकी प्रभावनाके लिए बहुत कुछ धन लुटानेको तैयार हैं।

इस प्रकार की बात मनमें रखकर बाहरी आडम्बरका प्रदर्शन करके लोगोंको दिखाना यह कोई वास्तविक प्रभावना नहीं हैं। प्रभावना कहते हैं ज्ञान का प्रचार प्रसार करने को। सो ऐसे ८ अंगोंसे युक्त सम्यक्त्वको जो प्राप्त करता है वह पुरुष धन्य हैं जो संसारसंकटोंसे सदा के लिए पार हो गए।

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिं।
न हि मंत्रोऽक्षरोन्यूनो निहन्ति विषवेदनां॥ २१॥

अङ्गहीन सम्यक्त्वकी जन्मसंततिछेदनाशक्यताके कथनके प्रसंगमें प्रथम चार अङ्गोके स्वरूप का पुनः स्मरण—अभी सम्यग्दर्शनके ८ अंग बताये गये थे। उनके सम्बंधमें कह रहे हैं कि उन अंगोंमें से यदि कोई अंग कम है तो वह सम्यक्त्व जन्मसंततिको छेदनेमें समर्थ नहीं है। जैसे कि कोई अक्षर कम हो किसी मंत्रमें तो उस हीन अक्षर वाले मंत्रकी आराधनासे विषवेदनाको नहीं दूर कर सकते, ऐसे ही अंगहीन सम्यक्त्व जन्म संततिको नष्ट नहीं कर सकता। जिसके ८ अंग बराबर हों उस सम्यक्त्वसे संसार पार होगा। वे ८ अंग क्या हैं सो संक्षेपमें सुनो—(१) अपने आत्माके स्वरूपमें शंका न करना, किसी प्रकारका मरण आदिक भय न रखना, जिनवाणीके वचनोंमें संदेह न करना। (२) विषयभोगके साधनोंकी इच्छा न करना और कमसे कम इतना तो अवश्य ही करना कि धर्मधारण करनेके एवजमें विषयोंकी आकांक्षा न करना। जैसे महावीरजी क्षेत्रपर जाकर कोई कामना करे कि मेरे को अमुक कामकी सिद्धि हो या अन्य क्षेत्रपर चढ़ावा बोले या अपने ही नगरमें धर्म पूजा करे उसके एवजमें चाहें कि मेरा परिवार सुखी रहे या अमुक लाभ हो तो वे सब सम्यक्त्वसे विपरीत बातें हैं। उल्टी चाल चलनेसे सिद्धि नहीं होती। निष्पक्ष धर्मका ख्याल करके धर्म करना चाहिए। जो लोग महावीर जी, पद्मप्रभु या तिजारा आदिक जगहों पर कामना नहीं करते, नहीं जाते ऐसे लोग क्या दुःखमें रहते हैं? लोग धन की बात करते हैं। अन्य विदेशों में जो लोग कोइ देव नहीं मानते वे लोग भी तो करोड़पति, अरबपति आदिक बड़े सम्पन्न पाये जाते। तो बताओ प्रभुसे मांगनेसे उन्हें धन मिला क्या? अरे यह तो सब पूर्वकृत कर्मके उदयसे सब पुण्यसामग्री मिली है। आजकी बात आज है। अब परिणाम बिगड़ेंगे तो आगे कष्ट है, अपने परिणाम ठीक रखेंगे तो आगे आराम है। जरा अपनी वर्तमान बात सोचिये—यह संसार यह जन्ममरण दुःखका जाल है। इससे बचना अभीष्ट है, इससे बचना है। उसका उपाय क्या है? अपने अकेले स्वरूपको जानें उस ही में श्रद्धान बनावें कि यह मैं हूं और उस ही में रमण करें, अवश्य शान्ति मिलेगी। तो किसी प्रकारकी आकांक्षा न करना, धर्म धारण करके तो आकांक्षा करना ही नहीं। यह निःकांक्षित अंग है। कोई तीव्र कर्मोदय आये और बड़े संकट सामने आ जायें तो

उनसे घबड़ाना नहीं, चित्तको गिराना नहीं और सोचना कि क्या संकट है? ये बाहरी पदार्थ हैं, ये रहें न रहें, कैसे ही रहें, वे बाहर की बातें बाहर ही तो रहीं, उनसे मेरेमें क्या संकट है? अपने अमूर्त, सुरक्षित ज्ञानस्वरूपको निहारकर उसमें ही तृप्त रहना चित्तको गिराना नहीं यह निशंकित अंग है। और साधुजनोंकी सेवा करते हुए में ग्लानि न रखना यह है तीसरा निर्विचिकित्सत अंग। (४) अमूढ़दृष्टि। खोटे मार्ग को देखकर, खोटे मार्ग पर चलने वाले लोगोंका चमत्कार देखकर उसमें मुग्ध न होना, बात यथार्थ ही जानना कि लोकमें चमत्कार कितने ही दिखा लिए जाये पर उनसे पूरा न पड़ेगा। पूरू पड़ता है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे।

अङ्गहीनसम्यक्त्वकी जन्मसंततिच्छेदाशक्यताके कथनके प्रसंगमें अन्तिम चार अङ्गोंके स्वरूप का पुनः स्मरण—५ वां है और उपगूहन। जैन शासनको उज्ज्वल बनाये रखनेके लिए किसी धर्मात्माके दोषोंका प्रसार न करना, नहीं तो लोग धर्ममार्गसे हट जायेंगे, यह कहकर कि यह सब ढकोसला है, जैन शासन कुछ नहीं हैं, सो उसकी रक्षा करनेके लिए निर्दोष बनाना उपगूहन अंग है। (६) स्थितिकरण—कोई धर्मसे चिग रहा हो किसी आपत्तिसे या उसकी चिन्तासे तो हर उपायोंसे उसको धर्ममें स्थिर करना स्थितिकरण है। (७) वात्सल्य—निष्कपट प्रेम। क्योंकि खुद भोगके साधनोंमें अनादर रख रहा इसलिए उससे कोई कपट नहीं हो सकता। ये चूंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके धारी हैं दूसरे पुरुष तो उनके गुणोंमें अनुराग जगता ही है। (८) आठवां है प्रभावना अंग—ज्ञानकी प्रभावना करना प्रभावना है। धर्म ज्ञान ही है, अन्य चेष्टावों का नाम धर्म नहीं। मंदिरमें आकर पूजा करके, हाथ जोड़कर, अनेक चेष्टायें करके यदि आपके इस ज्ञानस्वभावमें दृष्टि जगती है, इसका लक्ष्य बनता है। इस ज्ञानस्वभावमें रुचि जगती है तब तो आप समझिये कि धर्म कर रहे अन्यथा धर्म नहीं कर रहे। अब कोई पूछ सकता क्या इन मंदिरोंका आना छोड़ दिया जाय? तो यहां छोड़ने की बात नहीं कर रहे, क्योंकि धर्म करनेके ये साधन हैं। अगर इन साधनोंमें लगे रहेंगे तो ज्ञानकी वार्ता कभी मिलेगी और कभी अनुभव बनेगा तो आप धर्म करने लगेंगे, क्योंकि धर्म ही इस जीव का कल्याण कर सकने वाला है। दूसरा कोई मददगार नहीं। अब विशुद्ध ज्ञानस्वभावमय अपने को अनुभवना बस यही संकटोंको दूर रखना है। तो यों आठ अंग होते हैं। उनमें यदि कोई अंग कम हो जाय तो वह सम्यक्त्व जन्म परम्पराको नष्ट नहीं कर सकता।

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनां।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥ २२॥

लोकमूढतामें नदी समुद्रमें स्नान करनेमें धर्मकी मान्यता—अब इस प्रसंगमें उन मूढतावोंका वर्णन करेंगे जिन परिणामोंके रहते सम्यक्त्व होता नहीं। उन मूढ़तावोंमें यह प्रथम मूढ़ता है लोकमूढ़ता। इस शब्दसे अर्थ निकलता है कि दुनियाके लोग जहां बह रहे है, जिन-जिन अधर्म वृतियोंमें धर्मकी मान्यता कर रहे उन्हीं के पीछे खुद लग जाना और खुद भी वैसा मान लेना यह लोकमूढ़ता कहलाती है। जैसे लौकिकजन नदीमें स्नान करनेसे धर्म मानते हैं—जैसे गंगा, यमुना, नर्मदा, सिंधु और और भी

ले लीजिए। ये सब बहुत दूर हों तो अपने ही गांवके पासका नाला ले लीजिए, जहां कहीं भी स्नान करनेमें धर्म मानना यह लोकमूढ़ता है। भला सोचिये नहाया गया शरीरमें धर्म मिलेगा क्या? जो शरीर खुद अपवित्र है। उसको कितना ही धोवो, क्या वहां धर्म बन जायगा? क्या पवित्रता बन जायगी? जैसे मलसे ही तो बनाया हुआ घड़ा हो और उसमें मल ही रखा हो और ऐसे घड़े को धोकर कोई पवित्रता लाना चाहे तो यह कितनी मूढ़ता भरी बात है। तो ऐसे ही देखिये—यह शरीर मल बीज है, मलयोनि है और झरते हुए मल का घर है। मलसे ही तो शरीर बना। क्या सोना चांदीसे शरीर बना? अरे माता पिताके रज वीर्यसे, और और भी ऐसे ही आहारादिकसे ये सब शरीर की रचनायें हुई। तो पहले तो इनका कारण ही देखिये-गन्दा है, और फिर यह बनेगा क्या? यह मल ही बनेगा। मलकी ही योनि है। मलका ही उत्पादक है, और निरन्तर मल ही झरता रहता है। इस शरीरमें कोईसा भी हिस्सा ऐसा तो बताओ जो कुछ लोक में भी ठीक माना जाता हो। लोग चाम, खून, मांस, हड्डी, चर्बी और जो जो कुछ भी अन्दर है वह सब अशुचि है। ऐसे अपवित्र देहको नदीमें नहलवाकर जो तृप्त हो जाता कि मैने धर्म कर लिया, यह उसकी कितनी विपरीत बात है। जिसको अपने अमूर्त अविकार ज्ञानस्वरूपकी तो खबर नहीं, देहमें ही आपा मान रहे हैं और धर्म होगा, मोक्ष मिलेगा, इस आशासे नदियोंमें स्नान करनेमें धर्म मानते है तो भला बतलावो धर्म मार्गसे कितने विपरीत ख्याल है?

शरीरकी अशुचिताका और चित्रण—यह शरीर तो इतना अपवित्र है कि जिस शरीर पर कोई चीज लेप दें तो वह चीज भी कुछ गंदी मानी जाती। जैसे फूलमाला पहिन ली और मालूम पड़ गया कि इसकी पहिनी हुई है तो फिर उस मालाको कोई पहिनता नहीं है। शरीर पर तेल लगा लिया, अधिक लग गया तो अब वह अधिक लगा हुआ तैल पोंछकर कोई दूसरा व्यक्ति नहीं लगा सकता, किसी टपमें कोई स्नान कर ले तो उस स्नान किये हुए जलसे कोई दूसरा नहीं नहाना पसंद करता, शरीर पर किसीने चंदनका लेप किया हो तो उसे पोंछ कर कोई दूसरा नहीं लगाना पंसद करता। तो ऐसा अपवित्र यह शरीर है। और भी देखिये इस शरीरके मल। कानसे निकला हुआ मल मायने कनेऊ यह इतना गन्दा है कि कोई इसे छूना नहीं चाहता। अब उसके नीचे चलो तो मिली आँखं। आँख का कीचड़ कान के कनेऊसे भी अधिक गन्दा माना जाता। उसके नीचे है नाक। नाककी नाक उस आँखके कीचड़ से भी अधिक गंदी मानी जाती। और नीचे चलो तो मुखके कफ, लार आदिक उससे भी गंदे माने जाते, और नीचे चलो तो मलमूत्र और भी अधिक गंदे माने जाते। और फिर इस शरीरके भीतर देखते जाइये तो खून, मांस, मज्जा आदिक सब गंदी ही चीजें मिलेंगी। ऐसे इस महा अपवित्र शरीर पुतले को नहलवाकर मानना कि मैं धर्म कर रहा तो वह उनका कितना गलत ख्याल है।

देवादिविनयके लिए गृहस्थको नहाकर पूजा विधान करनेकी आवश्यकता होनेपर ज्ञानीकी रत्नत्रयभावमें ही धर्मत्वकी आस्था—गृहस्थीमें रहकर सामान्यतया नहाना सो तो ठीक है, यह कर्तव्य माना जाता। क्योंकि बिना नहाये मंदिर आकर पूजा पाठ करनेमें चित्त नहीं लगता। उसका कारण यह है कि जहां अनेक गंदी बातें करते रहते हैं अनेक पापके कार्य करते, भोग साधनोंके पाप करते, रागद्वेष मोहादिकके कितने ही पाप करते, तो समझिये कि जहां मन इतना अपवित्र हो गया है

वहां बिना नहाये धोये पूजा पाठ आदि धार्मिक कार्योंमें मन कैसे लग सकता है? इससे स्नान करना यह तो भगवानके विनयमें शामिल है। अब कोई स्नान कर लेनेको ही एक धर्म मान लें कि मैंने धर्म कर लिया तो यह तो उचित नहीं है ख्याल, पर भगवानकी पूजा पाठ आदि स्नान करके करना यह तो विनयमें शामिल है इसलिए गृहस्थीमें स्नान करना यह रोजका कर्त्तव्य है ताकि विनय पुर्वक और चित्तके समाधान पूर्वक धर्मसाधना कर सके, पर धर्म मानता तो आत्माके श्रद्धान ज्ञान और कर सके, पर धर्म मानना तो आत्माके श्रद्धान ज्ञान और आचरणमें हैं। दूसरा कोई धर्म नहीं है, मायने मोक्षका मार्ग अन्य नहीं है। सो यह लोकमूढ़ता के प्रकरणमें कह रहे हैं कि नदीमें स्नान करके धर्म मानना और उसके पर्व बनाना, उसका जलसा करना आदिक भीतर धर्मकी कल्पना करना यह तो लोकमूढ़ता कहलाती है। अरे आत्मन्! तू आत्मा है, अमूर्त है, कर्म उपाधिके वशसे तेरेमें विकार जगा है, तू अपवित्र बन रहा है तो अपने अमूर्त स्वरूपका ध्यान धर। अविकार स्वरूपसे रुचि कर तो ये तेरी बाह्य कल्पनायें, ये बाह्य विकार ये सब दूर हो जायेंगे। पर गन्दे शरीरको नहलाकर धर्म माननेकी बात बिल्कुल मूढ़ताकी है। जैसे रिवाज चलाना कि जब धुला कपड़ा किसे दूसरेसे छू गया तो वह कपड़ा अशुद्ध हो गया, उसे बदलकर दूसरा शुद्ध कपड़ा पहिनने पर शुद्धि बन पाती, ऐसा लोक व्यवहारमें मानते। तो ऐसा अपवित्र है यह शरीर कि जिसके छू जानेपर कपड़े तक अशुद्ध माने जाते। तो इसके नहानेमें धर्म मानना मूढ़ता है।

शरीरकी सजावटके अनुरागकी मूढ़ता—साथ ही एक बात और ध्यानमें रखें। इस शरीरसे प्रेम करना भी मूढ़ता है। इस शरीरको अनेक प्रकारके वस्त्रों तथा आभूषणोंसे सजाना और बड़ा खुश होना मैं कैसा सज गया, मैं कैसा शृंगारमें आ गया इससे मिथ्यात्व पुष्ट होता है। अरे यह शरीर सजानेके लिए नहीं मिला, किन्तु रत्नत्रय धर्मका पालन करनेके लिए मिला, ऐसा अपने चित्तमें निर्णय रखें। करना सब पड़ता हैं। बताओ कपड़े पहिनने पड़ते कि नहीं। कपड़े पहिनकर उनमें बड़ी छांट करना कि मेरी इस कटिंगकी कमीज हो, ऐसा कोट हो, ऐसे रंगका हो, नये फैशनका हो, उसको पहिनकर गौरव अनुभव करना कि मैं बहुत ठीक हूँ। यह सब मिथ्यात्वको पुष्ट करने वाली बात है। लग रहा होगा ठीक-ठीक मगर उसके लगाव रागमें बड़े ऐब भरे हैं। हां शरीरको थोड़ा बहुत सजाकर रखना भी पड़ता, बाल बढ़ गये तो कटाना भी पड़ता, कपड़े साफ स्वच्छ पहनने पड़ते, शरीर की भी सफाई व्यवहारमें रखनी पड़ती, यों साधारण रूपसे जितनी सफाई चाहिए वह तो ठीक है, पर इस शरीरको भारी सजाना इसे देखकर खुश होना यह तो मिथ्यात्वको पुष्ट करने वाली बात है। सात्विक ढंगसे रहना और धर्मधारणके लिए अपना उपयोग लगाना यह कर्त्तव्य होना चाहिए। और, धर्म क्या? ज्ञान ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वका ज्ञान होना यह धर्म है। जहां आत्मज्ञान नहीं वहां धर्म की गंध नहीं। उसका परिचय कीजिए। धन मिले, धन जुड़े इस बातको तो आप उदय पर छोड़िये। थोड़ा बहुत उद्यम तो करना ही पड़ेगा मगर उद्यसे क्या लाभ नहीं होता यदि पुण्यांदय नहीं है तो। सो अपने धर्मको सम्हालो उसके होते हुए पुण्य भी बनता है, उसके उदयमें साधन भी जुटते हैं, किन्तु कोई धर्मकी तो प्रभावना ही न करे और मात्र यह धन जोड़ लिया, इसको ऐसा कर दिया, इसी इसीमें ही अगर रात दिन चित्त उलझे तो समझो कि

उसका जीवन व्यर्थ ही गया। जीवन उसका सत्य है जो रत्नत्रय धर्मका पालन बनाये पर उसके खिलाफ लोक रीतियोंमें फंसा रहे तो वह तो लोकमूढ़ता स्पष्ट है।

व्यवहारमें लौकिक शुद्धियां करने पर भी ज्ञानीका रत्नत्रयभावसे आत्मशुद्धिका लक्ष्य—देखिये लौकिक पवित्रता भी करनी पड़ती है मगर उसमें आत्माका धर्म माना नहीं जा रहा। जब रह रहे हैं और अनेक अशुचि कार्य बन रहे हैं तो लौकिक शुचि चाहिए, पर उस लौकिक शुचिसे लोक व्यवहारमें ही एक मनकी समझावट बनती हैं और जब मन कुछ समाधानमें है तो धर्म कर सकता। एक बार कोई विद्वान 'गंगा स्नान' नामक विषयपर व्याख्यान दे रहा था। उससे जब अनेक कुछ दलीलें देते न बनी तो अन्तमें एक दलील यह पेशकी कि गंगा स्नान करनेसे शरीर हल्का हो जाता है। शरीरके हल्के होनेसे जब कोई पुरुष ध्यान करने बैठेगा तो उसका मन ध्यानमें लग जाता है। यों कितनी ही बातोंकी दलील पेश की जाय मगर यह समझो कि स्नान करना तो एक कर्त्तव्यमें शामिल हो गया, उससे कहीं धर्म नहीं हो जाता। जहां मोह ममताके प्रसंगोंके कारण बहुतसा बोझ लाद लिया तो उसका चित्त बदलनेके लिए कौनसा कार्य है ऐसा कि जिससे मुड़ जाय? तो वह है स्नान आप देख लीजिए—सब बैठे हैं, विधान होना है, पूजन होना है तो उस समय यदि आप स्नान करके आयेंगे तो आपके भावोंमें बड़ी विशुद्धि रहेगी और यदि स्नान नहीं किया है तो भावोंमें विशुद्धि न आयगी। स्नान करके एक मन समझावट बनी ओर उसके बाद धर्ममार्गमें लगे। तो लौकिक दृष्टिसे भी आवश्यकता तो है स्नानकी, पर उसको लोकमें ही आवश्यक समझना बस इतना अर्थ है लौकिक शुद्धिमें। लोकोत्तर शुद्धि, आत्मस्वरूपका ध्यान, मनन स्मरण, अनुभव ये लोकोत्तर शुद्धियां है। जहां जहां राग लगा द्वेष लगा, कषाय लगी है उन सबको दूर करना और अपने आपको विकाररहित अनुभव करना यह है लोकोत्तर शुद्धि।

संसरणरीतिको बदलकर मोक्षपद्धतिके मार्गपर लगनेका संदेश—थोड़ा सोचिये तो सही—जिस रंग ढंगसे संसारमें चले आये हैं, आज मनुष्यजीवनमें भी बनाये रहे जन्मे, बड़े हुए, धन कमानेकी कलायें सीखी, कमा रहे घरमें, मोहमें मुग्ध हो रहे बस इतना ही तो लक्ष्य है, ख्याल है, इससे आगेका ध्यान ही नहीं। जब कभी भगवानका नाम लेने लगते तो कहीं आत्मरुचिके कारण नहीं लेते किन्तु दुःखोंसे ऊबकर भगवानका नाम लेते बस यदि यही रफ्तार चलती रही तो बताओ इस जीवन में कल्याणका क्या उपाय किया? अब कुछ कदम उठाना चाहिए मोक्ष मार्गका, जिसका प्रथम उपाय है सम्यग्दर्शन लाभ। और उसके यत्नमें स्वाध्याय, अध्ययन सत्संगके तीन बातें चाहिए। सो कितनी ही उम्र हो जाय अपनेको इस कामके लिए बालक समझिये। अब हम शुरू करते हैं मोक्षमार्गकी पढ़ाई। एक प्रेक्टिकल तो ऐसे तत्त्वज्ञान द्वारा अपने आपमें ज्ञानकी वृत्ति करना और उसमें ही तृप्त रहना, बाह्य प्रसंगोंके लालच तृष्णा आदिसे दूर हो जाना, यह लक्ष्यमें बन जाय तो धर्म का मार्ग पा लेना कोई कठिन बात नहीं। वह तो अपनी चीज है। निजकी निजमें दुविधा ही क्या? कोई परकी चीज लेना चाहता हो तो उसमें कष्ट है। सो स्वाध्याय, सत्संग और अध्ययन द्वारा ज्ञानविकास कीजिए और उस ज्ञानमें तृप्त रहने का लक्ष्य बनाइये।

सम्यक्त्व और चारित्रसे आत्मशुद्धि—इस ग्रन्थमें सभीचीन धर्म कहने की प्रतिज्ञा की है। इसका नाम है रत्नकरण्ड। पूरा नाम इतना ही है, चूंकि इस रत्नकरण्डमें श्रावकाचारका अधिक वर्णन है इसलिए उस नामके आगे श्रावकाचार और बोलने लगते हैं। पूर्ण नाम है रत्नकरण्ड, याने यह ग्रन्थ स्वयं रत्नोंका पिटारा है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र यह ही धर्म है जिससे यह जीव संसारके दुःखों छूटकर मोक्षमें पंहुचते हैं। सम्यग्दर्शन क्या? आत्माका अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण जो स्वयं सहजस्वरूप है उस रूपमें अपना दर्शन करना, अपना परिचय करना, अपनेको मानना यह है सम्यग्दर्शन। मैं यह हूँ। अपने स्वरूपास्तित्व मात्रसे जो अपने में बात है उस ही को स्वीकार करने वाला पुरुष स्वयं आत्मचरणकी ओर बढ़ता है, विशुद्ध ज्ञान उसके बर्तता है और इस भीतरी प्रेरणाके कारण इसकी उस ओर ऐसी अभिमुखता होती है कि जो रूप लाद रखा है अनादिसे जो परिग्रह संग समागम लाद रखा है, जो आरम्भ परिग्रहकी समता करके बढ़ा रखा है उन सबमें हीनता, उनका त्याग, उनसे छुटकारा होता है। बस इस ही आरम्भ परिग्रहसे छुटकारा होनका नाम है अणुव्रत, महाव्रत आदिक। सो उन परिस्थितियोंमें रहकर यह जीव अपने स्वभावकी आराधनामें सफल होता है। जिसका व्यवहार धर्म ही गलत है, जो लोक मूढ़तामें रंगा हुआ है, जैसे नदीमें स्नान करना। स्नान कराना किसे? इस अशुचि शरीरको और उसमें एक सुना सुनी धर्म मानते हैं। धर्म क्या है? उसे मानना है यह बात नहीं बनती इसका वक्तव्य नहीं बनता किन्तु सुना सुनी धर्म होता है यह मान लिया। यद्यपि लौकिक शुद्धियां ८ हैं और वे की जाती हैं गृहस्थदशामें न करें तो मन पवित्र या पात्र नहीं रहता कि वह धर्म मार्गमें चले। लेकिन लौकिक शुद्धि तो साक्षात् हैं आत्माका दर्शन ज्ञान चारित्र यही है धर्म।

किन्हींकी लौकिक शुद्धि आवश्यक होकर भी लोकोत्तर शुद्धिमें ही धर्मत्व की मान्यता—लौकिक शुद्धियां ८ हैं—(१) कालशौच—समय गुजर गया तो अपने आप पवित्रता बन गई। जैसे किसी चटाई पर कोई महिला बैठी है, उस महिलाके तुरन्त उठनेके बाद उस समय चटाई पर कोई व्रती या मुनि बैठना पंसद नहीं करता और कुछ काल गुजरने पर फिर वही चटाई उनकी दृष्टिमें पवित्र बन जाती है। यह सब लोक व्यवहार है। व्यवहार रहते हुए व्यवहारके कार्य छोड़कर रहनेमें अनर्थ होगा। जितनी बाड़ बताया है शीन की बाड़, इनमें बचें और प्रवृत्तियां इनमें रहें, इन्हें करें, ये सब आत्माकी पात्रता बनाते हैं। एक संस्कार बनाते हैं और उस बीच सुरक्षित रहकर फिर अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टि द्वारा अपने आप में रमनेका पौरुष होना यह है वह तीक्ष्ण शस्त्र, जिसके बलसे कर्मोंका क्षय होता है। (२) दूसरी शुद्धि है अग्नि शौच। बर्तनोंको आगसे तपा लिया, बस मन ने मान लिया कि अब बर्तन शुद्ध हो गये, वे व्रती साधुजनोंके या शोध वालेके वे बर्तन काम आने लगे। तो यह अग्नि शौच शुद्धि करनेसे एक मन की ग्लानि मिट गई। तब देखिये और ढंगका संस्कार बन जाता है। अगर कोई इसीको ही धर्म मानले ऐसी छुवाछूत ऐसी शुद्धि, ऐसा फलाना वह एक व्यवहारमें पवित्रता है उसके बिना भी गुजारा नहीं हैं कि हम आगे बढ़ सकें लेकिन वही है धर्म ऐसी मान्यता रखना गलत है, वह तो फिर वहीं अटक जायगा आगे न बढ़ सकेगा। तो लोकशुद्धि आवश्यक है जिनको उन्हें आवश्यक है, पर दृष्टि विशुद्ध होनी चाहिये कि धर्म क्या चीज है, कहां हमें जाना है, कहां

हमें पहुंचना है और कहां हमें रमना है। (३) तीसरी शुद्धि भस्मशौच—राखसे शुद्ध कर लेना। जैसे जूठे बर्तनोंको राखसे मल लिया गया तो भस्म शुद्धि हो गई। अब उसे कोई पानीसे ही धो ले और उसमें ही खाने पीने लगे तो एक व्यवहारकी बाड़ बन जानेसे अन्य प्रकारकी स्वच्छंदता बढ़ने लगेगी। और मन भी गवाही देता है कि उसको राखसे मलकर शुद्ध कर लो। व्यवहारकी बात उपयोगी है मगर यही करते रहना यही धर्म है, यही ठीक है, उस शुद्ध शुद्धमें ही दृष्टि रहना और यह पता ही न रहना कि किसलिए हमें क्या करना था, तो वह आगे प्रगति नहीं कर सकता। लोकमूढ़ताकी बात कही जा रही है जो इन अनेक बातोंमें धर्म मानकर व्यवहारशुद्धि करना लोकमूढ़ता नहीं है। तब प्रकरण पाकर बतला रहे हैं कि व्यवहारशुद्धि आवश्यक होकर भी उस ही को कोई लक्ष्य मान ले तो वह तो वहीं रुक गया और उसका कुछ ठिकाना न रहा। (४) चौथी लौकिक शुद्धि है मृत्तिका शौच। अब इसीके अन्दर देख लीजिए। कोई शौच हो आया तो उसने हाथको साबुनसे धो लिया, दूसरे ने मिट्टीसे धो लिया, तीसरेने यों ही खाली पानीसे धो लिया, तो इनमें जिसने मिट्टीसे हाथ धोया उसका मन पूरा मान जायगा कि हमारे हाथ शुद्ध हो गए बाकीमें यह बात न बन पायगी। तो व्यवहारशुद्धि भी आवश्यक है, करना चाहिए पर उसको कोई यह मानले कि यही मेरा कर्तव्य है, यही मेरा धर्म है, इतने से ही वह संतुष्ट हो जाय तो यह आत्मकल्याण कराने वाली बात नहीं है।

लौकिकशुद्धिगत गोमयशुद्धिका प्रयोजन एवं लौकिक शुद्धिकी परिमत आवश्यकता— (५) एक शुद्धि है गोमयशुद्धि। मानलो किसी बच्चेने कहीं टट्टी कर दिया तो उस जगह की शुद्धि लोग गोबरसे करते हैं। अब देख लीजिए गोबर स्वयं पशुका विष्टा है और उससे लोग मनुष्यकी विष्टा वाली जगह को शुद्ध करते हैं और ऐसा करते हुए में लोगों का मन राजी रहता है और एक तरहसे उनकी वह शल्य भी मिट गई कि जो जगह खराब हो गई थी वह पवित्र हो गई। तो व्यवहारमें यह एक आवश्यक कार्य हो गया वाह्य शुद्धिका रखना, पर वास्तवमें आत्मकी शुद्धि तो आत्मदर्शन आत्मज्ञान ओर आत्मरमणसे है। इस जीवनमें अपनी भलाईका लक्ष्य होना चाहिए, दूसरे की भलाई हम कर नहीं सकते। वे परद्रव्य हैं, उनकी परिणति हम बना नहीं सकते, किन्तु जब तक राग है तब तक होगा सब कुछ, उपदेश भी किया जायगा, बोलचाल भी होगा और उसका आश्रय करके दूसरे लोग अपने कल्याणका काम भी बनायेंगे, यह सब कुछ होगा लेकिन अपने लिए तो कल्याणकारी दृढ़ भावना होना चाहिए। मुझे लोगोंको कुछ बताना है, मुझे अमुक बात का प्रचार करके रहना ही है, किसमें? ··· इस माया जालमें और उस ही में रहे और अपनेमें मंदकषाय या आत्माभिमुखिताकी बात न निभा सके तो यह जीवन काहे के लिए? आसानीसे दूसरोंका कुछ हो जाय वह बात अलग है मगर दूसरोंके लिए कमर कसकर रहनेका अर्थ है कि अपनी और से सिथिल हो गये। अपने लिए जो दृढ़ रहेगा उसके ही वातावरण ऐसा बनेगा कि इसका आश्रय कर लोग भी कल्याणमार्गमें लगेंगे। मुख्य बात तो अपनी-अपनी विचारो। मानलो कोई १०० आदमी यह निर्णय कर लें कि हमें विधान समारोह आदिक करके खूब धर्म का प्रचार करना है और वे उसी उसी में जुटे रहें तो बतावो उससे वे खुद धर्मात्मा बन गये क्या? एक भी नहीं धर्मात्मा बना और उनमेंसे अगर कोई दो चार लोग ही ऐसे हो जायें कि

जिनको आत्मदृष्टि, आत्मशान्ति, वही धुन, आत्मकल्याणकी भावना चले तो कमसे कम उन १०० में चार-पाँच लोग तो धर्मात्मा बने और उस बड़े बखेड़ेमें तो एक ही धर्मात्मा नहीं बन पाया। तो यह सोचना व्यर्थ है कि हम तो ढोल बाजोंसे धर्म का खूब प्रचार करेंगे। अगर यही बात सबके सब सोचलें और स्वयं कुछ धर्म न धारण करें, बाहर-बाहर के प्रचारमें लगे रहें तब तो यह समझो कि धर्म की रीति हट गई, किन्तु सहज ज्ञानस्वरूपका माहात्म्य जीवको समझमें आये यह है धर्म प्रचार। जिस जैन शासनके आश्रयसे संसार संकटोंसे छूट जाय वह बात लोगोंके चित्तमें आये तो परमार्थतः धर्मप्रचार वह है, पर जहां इतना पड़े हुए हैं, रह रहे हैं, फसें हैं वहां व्यवहारकी बातें भी सब करनी होती है तब जाकर वह पात्रता बनती है कि हम आगे भी बढ़ते हैं। तो व्यवहारमें शुद्धि भी बतायी गई है पर वास्तवमें आत्मशुद्धि तो आत्मस्मरणसे, आत्मध्यानसे होती है।

भूमिकानुसार बाह्यशुद्धिसे गुजरते हुए परमार्थशुद्धिमें विवेकीका प्रवेश—जैसे कहते हैं ना पूजा में "अपवित्रः पवित्रोवा सर्वावस्थां गतोपि वा, यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः" और अगर ऐसा करने लगें कि सोकर उठें, चलें मंदिरमे ऐसे ही अभिषेक पूजन करलें, तब तो प्रमाद है, वहां तो अपवित्र या पवित्रकी बात निभ सकती है मगर जहां रातदिन के भोग साधनोंमें रह रहे, गंदे वातावरणमें रह रहे वहां यह अपवित्र या पवित्रकी बात न चलेगी। वहां तो पवित्र होकर, शुद्धि करके ही पूजन अभिषेकके लिए जाना चाहिए। जैसे स्नान करके शुद्ध हो गए, अब पहलेके संस्कार छोड़ दिये, ऐसा मनमें संकल्प आये, यह तो प्रभुकी विनय है कि स्नान करके प्रभुकी पूजा अभिषेक करने आये। तो यह बात सब लोगोंके लिए अनिवार्य रूपसे कही है, इसमें बेहोशी न रहनी चाहिए।

जलशुद्धि व वायुशुद्धिकी प्रयोग्यता—(६) एक जलशुद्धि भी है। कितनी ही चीजें जलसे भी शुद्ध हो जाती हैं। जैसे कीचड़ लग गया तो उसे जलसे धो दिया, शुद्ध हो गया, जलसे नहा लिया, शुद्ध हो गया। तो यह शरीरकी शुद्धि भी किसी हद तक ठीक है। शरीरकी शुद्धि हुए बिना मनमें पवित्रता न आयगी, मगर इससे आगे बढ़कर विचारो कि स्नान कर लेनेसे कहीं खून, मांस, हड्डी आदिमें तो कोई परिर्वतन नहीं हो गया, वे तो ज्योंके त्यों अपवित्र हैं, मगर धर्मभावनाकी उत्कृष्टता होनेसे इस शरीरकी अशुचितामें भी परिवर्तन हो जाता है। अरहंत प्रभुका शरीर स्फटिक मणिकी तरह निर्दोष हो जाता है मगर इसही बाहरी विकल्पमें रहकर कोई निर्णय बनाले कि हम शुद्ध हो गये तो वह शुद्ध नहीं है। शरीर अशुचि हैं। इस अशुचि शरीरको कितना ही नहलवाया जाय पर शुद्ध न होगा फिर भी धर्मायतनमें शुद्धि आवश्यक बताया है। अब कोई इस वाह्य शुद्धिको ही धर्म समझले तो यह उसकी लोकमूढ़ता है। उस लोकमूढ़ताका आधार है परभाव मूढ़ता, सभी भावोंका आधार है परभाव मूढ़ता, देवमूढ़ता या पाखंड मूढ़ता। सबका बीज है परभाव मूढ़ता। परपदार्थमें मुग्ध हो गए और जिन परका लगाव करके भाव बनाये गये उन भावोंमें मुग्ध हो गये, यह बात तीन मूढ़तावोंमें पायी जाती है। (७) एक शुद्धि है वायुशुद्धि—कितनी ही चीजें वायुसे शुद्ध होजाती हैं। जैसे काठका कमण्डल जो त्यागी लोग रखा करते, यद्यपि उसीसे शौच जाते, स्नान करते, लोगोंकी दृष्टिसे वह अपवित्र जैसा हो जाता फिर भी उसे राखसे मलने अथवा अग्निमें तपानेकी जरूरत नहीं रहती, वह वायुसे ही शुद्ध हो जाता है।

ज्ञानशुद्धिकी विशेषता—कितनी ही शुद्धियां ज्ञानसे, कल्पनासे हो जाती हैं। तो ये सब शुद्धि हैं। अशुद्धताका संकल्प मिट गया ऐसी शुद्धि, ये सब चलती हैं लेकिन इन बातोंमें और इससे बढ़कर नदी स्नान समुद्र स्नान, उनका पर्व मनाना, समारोह मनाना यह सब तो लोक मूढ़ता कहलाती है। सम्यग्दृष्टि जीवके लोकमूढ़ता नहीं पायी जाती। पहले यह ही ध्यान दें—बालूक ढेर लगाना और पर्वतसे गिरकर मरण करके धर्म मानना और और कितनी ही बातें, बच्चोंको तकलीफ हुई तो चलो किसी देवताको मनायें, जिसमें व्यन्तरपनेकी मान्यता की उसे मनायें, कोई जंत्र मंत्र करवायें, ये सब बातें लोकमूढ़तामें शामिल हैं। ऐसा दृढ़ श्रद्धान हो कि मेरेको तो आत्मास्वरूपसे प्रयोजन है और आत्मस्वरूपका जिसके विकास हो और आत्मस्वरूपके विकासका जिसमें उपाय लिखा और आत्मस्वरूपके विकासमें जो प्रयत्न कर रहे हैं उनका प्रयोजन हैं, वे हुए देव, शास्त्र, गुरु और स्वयं हुआ अपना अंतस्तत्त्व। इसके अतिरिक्त मेरेको धार्मिक मामलेमें कोई दुःख नहीं है। हां दूकानमें बैठकर कुछ कमायी करनेसे मतलब है, ग्राहकोंसे मतलब है, लिखा पढ़ी करनी पड़ेगी, इन सबके बिना गृहस्थीमें रह कैसे सकेगे वे जिनमें इतनी हिम्मत नहीं हैं कि गृहस्थी त्यागकर निर्विकल्प होकर अपने रत्नत्रय धर्मकी आराधनामें सारे क्षण बितायें। जब गृहस्थीमें रहना पड़ रहा है तो गृहस्थोचित्त कार्य करने ही पड़ेंगे मगर सम्यग्दृष्ट का चित्त सावधान हैं, वह जानता है कि मुझे वास्तवमें करना क्या है। मानलो यहां खूब धन कमाते चले गये, करोड़ो अरबोंका वैभव जोड़ लिया, फिर भी आखिर होगा क्या उसका? वह सब छोड़कर जाना पड़ेगा। ये सब बाहरी बातें हैं, मानलो परिजनोंसे खूब प्रीति की, आशक्ति की और उनके मोहमोहमें ही सारी जिन्दगी गुजार दिया, पर अन्तमें लाभ क्या मिलेगा इस जीवको सो तो बताओ? लाभकी तो बात दूर रहो, जीवनभर जो मोहवासना बढ़ाया उससे बिकट पाप बंधेगा, जिसके फलमें वह दुर्गतियोंमें जायगा। तो इस जगतमें जो कुछ भी समागम मिले हैं उनमें आसक्त होनसे इस जीवको इस समय भी हाथ कुछ नहीं लगता और आगे भी उससे कुछ हाथ न लगेगा। ये बाह्य समागम सुख शान्तिके आधार नहीं बल्कि ये सब दुःखरूप हैं। सुख शान्ति तो मिलती है अपने ज्ञानसे, किसी पर वस्तुसे नहीं। हाँ परवस्तु आश्रय भूत हैं। किसको उपयोगमें लेकर किस तरहका ज्ञान बनायें जिससे किस तरह का सुख अथवा दुःख मिले, यह सब उसके ज्ञानपर निर्भर है।

सांसारिक सुखोंकी क्षोभरूपता—संसारके सुखोंमे तो वस्तुतः दुःख ही बसा हुआ है, सुख के साथ क्षोभ बराबर चल रहा है। क्षोभ रागसे भी होता द्वेषमें भी होता। द्वेष में क्षोभका पता जल्दी पड़ जाता, रागमें क्षोभका स्पष्ट पता नहीं पड़ पाता मगर सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो सब पता पड़ जाता है। जैसे एक उदाहरण लो—मानलो कोई भोजन कर रहा है, तो उस समय वह सुखका अनुभव कर रहा है, पर बताओ उस सुखकी स्थितिमें उसे क्षोभ है कि नहीं? है, क्योंकि वह एक कौर मुखमें रखे है, दूसरा हाथसे तोड़ रहा है और तीसरे कौरके लिए उसके विकल्प बन रहा कि इस कौरके बाद मुझे अमुक चीज खाना है। तो यहां आकुलता बिना खाने का सुख भी नहीं मिल रहा। तो ऐसे ही समझ लो कि संसारके सारे सुख क्षोभसे, आकुलतासे, दुःखसे भरे हुए हैं। अब यदि इन बाहरी पदार्थों को आश्रय बनाकर हम सुख मौजके लिए ही अपने जीवनका निर्णय बनायें तो यह कोई बुद्धिमानीकी बात नहीं

है। बाहरी पदार्थोंको अपने मनके अनुकूल परिणमाना, मनचाही व्यवस्था बनाना यह मेरे आत्माके आधीन बात नहीं है। ये सब बातें पुण्य पापके उदयके अनुसार चलती हैं। तो अपने आत्मस्वरूपकी दृष्टि करना, उसकी धुन बनाना, उसका संस्कार बनाना, उसे ही ध्यानमें रखना, यह बात आपके आधीन है। यद्यपि यह बात कठिन लग रही है इस कारण पराधीनसा चल रहा यह काम, क्योंकि कर्मके उदय, कर्मके संस्कार ऐसे बसे हैं कि वह काम बड़ा कठिन जंच रहा किन्तु किस पदार्थके आधीन है वह दृष्टि सो तो बताओ ? कोई विधिरूप अन्य पदार्थके आधीन हो आत्मदृष्टि, आत्मज्ञान, आत्ममनन तो बताओ ? केवल अपनेको करना है, अपनेमें अपनेसे होना है, भले ही आज वह मुस्किल है विषय वासनाओंका संस्कार होनेसे, पर उसके छोड़नेका यतन तो कीजिए। वह यत्न है ज्ञानदृष्टि। ज्ञानका सही स्वरूप क्या है वह अपने उपयोगमें समाया रहना चाहिए। विकृत रूपकी बात नहीं कह रहे, नैमित्तिक रूपकी बात नहीं कह रहे, मगर अपनी दृष्टि कहां लगाना, किसका ध्यान करना, इसको सोचना चाहिए।

ज्ञानबलसे निज स्वरूपास्तित्त्वके ग्रहणकी संभवता—भले ही आज आत्मा प्रकट रूपसे अकेला नहीं है, यह तीन प्रकारके पदार्थोंका मेल है और उसीसे यह पर्याय हुई है। इतना होनेपर भी सत्त्व तो सबका न्यारा-न्यारा है। मिले हुए इस ढंगमें भी हम ज्ञान द्वारा केवल अपने सत्त्वको जान नहीं सकते क्या? दूधमें घी प्रकट नहीं है आंखों से नहीं दिख सकता, अंगुलीसे उठाकर नहीं बता सकते कि यह है घी, यहां है घी, मगर उसकी चिकनाई देखकर ज्ञानके बलसे आप निशंक कह बैठते हैं कि इस किलोभर दूधमें एक छटांक घी है। तो ज्ञानमें वह कला है कि जो बात सामने प्रकट नहीं है उस बात को भी यह ज्ञान पकड़कर, खींचकर निकाल लेता है। आज हम किस स्थितिमें हैं इस ढगकी बात चल रही है। जो दशा आज हम आपकी चल रही वह तो चल ही रही, उसे मना तो नहीं किया जा सकता। विकार चल रहे, विभाव बन रहे, पर ज्ञानकी ऐसी महिमा है कि इस विकृत अवस्थामें भी हम स्वरूपास्तित्त्वको ज्ञानमें लेकर ज्ञान द्वारा परके स्वरूपास्तित्त्वसे पृथक् हो सकते हैं। जो चैतन्य अस्तित्त्वसे रचा है वह है जीव और जो पुद्गलके अस्तित्त्वसे रचा है वह है पुद्गल। हम यहां भेद कर लेते हैं तो इस ही ज्ञानदृष्टि को और सूक्ष्म करके हम अपने स्वरूपास्तित्त्वको समझें। अगर इस हालतमें हम केवलीको जान सकें और उस केवलीकी धुन बना सकें तो हम कभी केवल बन जायेंगे। पर इस हालतमें करना सब है। क्या क्या नहीं करना होता? चरणानुयोग शास्त्रमें जो बताया है उसको किए बिना गुजारा नहीं है, कोई कर ही नहीं सकता गुजारा, मगर ऐसे चरणानुयोगके अनुसार व्रत विधानके करने पर उनसे ही गुजारा होता। हम किसके बल पर आगे बढ़ रहे हैं वह है ज्ञानबल, ज्ञानदृष्टि। स्वरूपास्तित्त्व मात्रसे जो बात है उसका चलना, उसकी धुन, उसे ही अपनाना यह मैं हूँ, इस प्रकारके भीतरके ज्ञानको बसानेका माहात्म्य है कि हम आगे बढ़ते हैं। तो यही एक अपना कर्त्तव्य है कि व्यवहारचारित्र चरणानुयोगकी बातें, उनके अनुसार अपना जीवन गुजारते हुए भीतर में ज्ञानकी मुख्यता रखें। अपना ज्ञान बढ़ायें अपने आत्मस्वरूपका दर्शन करें उसका ही बार-बार अनुभव करें तो ये सारे रागद्वेषादिक विकार मेरेसे दूर हो जायेंगे।

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते॥ २३॥

आत्मकल्याणका सम्यक्त्वसे प्रारम्भ—इस जीवकी भलाई का प्रारम्भ सम्यक्त्वसे होता है। सम्यक्त्वमें आत्माके सहज स्वरूपका आत्मरूपसे अनुभव होता है। मैं क्या हूँ इसका उत्तर सम्यग्दृष्टिके यह है कि मैं सहज चैतन्य स्वभावमात्र हूँ। त्रिकाल अविनाशी अमूर्त ऐसे सहज चैतन्यस्वभावमें यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव होना यह है सम्यग्दृष्टि का परिणाम और मिथ्यादृष्टि सहज आत्मस्वरूपके विपरीत परभावमें या एक पदार्थमें यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस प्रकारका सम्वेदन करते हैं। यहाँ हम आप जितने लोग बैठे हैं ये सब प्रत्येक तीन चीजोंके पिण्ड हैं, तीनका समुदाय है—(१) जीव (२) शरीर और (३) कर्म। शरीर को तो स्पष्ट जान ही रहे हैं जिसमें ये सब बाधायें आ रहीं। और जीव भी अपने आप जान रहे, और आपके भीतर जो अनुभव चलते हैं उन्हें भी आप समझते हैं, और जीव जब ज्ञानस्वरूप है तो उसमें विकारका काम क्यों होता है? और हो तो रहा, तो उससे सिद्ध है कि जीवके साथ कोई एक चीज और लगी है जिसका निमित्त पाकर जीवमें रागद्वेष विकार चलते हैं। तो यह तीन चीजोंका पिण्डोला है। अब कल्याण इसमें है कि यह तीन चीजोंका पिण्डोला न रहे और केवल आत्मा ही आत्मा रहे! जीव, शरीर और कर्म ये तीनों पृथक्-पृथक् हो जायें। ऐसी स्थितिमें कल्याण है और सिद्ध भगवान कहते भी उसे हैं कि जहाँ केवल वही वही एक जीव अकेला रह जाय। तो एक बहुत मोटी सी बात यह है कि अपनेको अकेला अनुभव करें। मिला हुआ या समागम वाला अनुभव करना ये तो सब धोखेकी बातें हैं। अपनेको अकेला अनुभव कीजिए, अकेला निरखिये, अकेलेमें ही शान्त होइये। यह प्रकृति बनाइये और फिर परमार्थ अकेलापन भी निरखिये। मैं अमूर्त चैतन्यमात्र हूँ। यह इतना ही रहे, इसमें अन्य रागादिक विकार न आयें इसीको कहते हैं परमात्मस्वरूपका होना।

केवल सहजस्वरूपमात्रकी वृत्तिमें परमात्मत्व—आत्मा परमात्मा होता है। परमात्मा होनेके लिए आत्मामें कुछ चिपकाया नहीं जाता, किन्तु यह आत्मा केवल अकेला रह जाय बस इसीको कहते हैं परमात्मा हो जाना। कितना सुगम उपाय है भगवन्त होनेका, कितना सुगम सरल उपाय है जो मैं हूँ, एक अकेला सो यह ही मैं रह जाऊं, इसीको कहते हैं सिद्धभगवान होना। सो सिद्ध प्रभु होनेके लिए नई चीज आत्मामें नहीं लगानी है किन्तु आत्मा स्वयं परमात्मस्वरूप वाला है, इसको ढाकने जो वाले विकार हैं, कर्म हैं इनको दूर करना है, भगवान अपने आप प्रकट होगा, जैसे पाषाणकी मूर्ति बनाना है। मानो बाहुबलिकी मूर्ति बनवाया तो उसे मूर्तिको बनानेके लिए कोई नई चीज नहीं चिपकाना है उस पाषाणमें किन्तु मूर्ति का आवरण करने वाले जो अगल-बगलके पत्थर हैं उनको छेनी हथौड़ेसे हटाना है ऐसा ही किया जाता है मूर्ति बनाने के लिए केवल हटाया-हटाया ही जाता है चिपकाया कुछ नहीं जाता और उस हटानेके साधनसे हटते-हटते जब परभाव सब हट गये तो वह मूर्ति जो थी, जो वहांके अंग थे, जो वहांके पाषाण थे बस वे प्रकट हो गए। इसी तरहसे आत्माको परमात्मा होनेके लिए कोई नई चीज आत्मामें नहीं चिपकानी है किन्तु इस आत्माका आवरण करने वाले विषय कषाय कर्म आदिक

इनको हटाने-हटानेका ही काम है। हट-हटाकर सब हट जायेंगे तो वह स्वरूप जो था वह सब प्रकट हो गया।

स्वयंमें स्वयंको निहारनेका अनुरोध—भैया, अपनी दृष्टि कीजिए। मेरा मैं जिम्मेदार। मेरा मुझसे ही उत्थान, मैं ही अपनेको पतनमें ले जाता, इन सब बातोंमें निमित्त तो है, पर निमित्त परिणमाता नहीं हैं, पर उसके सान्निध्यमें विकार रूप परिणमन हो जाता है, तो मतलब अपना खुद जिम्मेदार है यह जीव। इसका कोई दूसरा जिम्मेदार नहीं है। खुदके लिए खुद ही महान है यह जीव। खुदका उत्थान करने वाला खुद है यह जीव। सो अपनेमें ही अपना सब कुछ निहारें। व्यर्थमें परद्रव्योंमें मोहभाव करके, लगाव करके, इस भवमें भी अपनेको दुःखी बना रहे हैं और आगे भी अपनेको दुःखी बनायेंगे। मोह करना कितना बेकार है। इससे पहले भवमें भी तो कुछ मिला होगा ना? वहां भी मोह किया था। पर क्या है वहां का आज साथ सो तो बताओ? जैसे पूर्वभवकी कुछ भी चीज आज आपके पास नहीं है इसी तरह इस भवकी भी बात संगति संग समागम आँखें मिच जानेपर क्या रहेगा साथ? कुछ नहीं। सब भिन्न द्रव्य हैं, पर उनमें लगाव ममता कर करके अपनेको कष्टमें डाला जा रहा है।

मूढ़तामें स्वयंकी सुधका अभाव—कभी राजा भोजका जमाना था वह कवीश्वरोंको एक-एक काव्य पर लाखोंका इनाम दे देता था। यह बात खूब फैल चुकी थी। तो एक बार चार देहातियोंने सोचा कि हम लोग भी कोई कविता बनाकर ले जायें और राजासे मनमाना इनाम पायें। अब वे पढ़े लिखे तो थे नहीं, गंवार थे। वे कविता बनाना क्या जानें, पर इनामके लालचमें चल दिये राजा भोजके पास। रास्तेमें जाते हुए चारों लोगोंने देखा कि एक जगह एक बुढ़िया रहटामें सूत कात रही थी और वह रहटा चनर-मनरकी आवाज करता हुआ भन्ना रहा था। सो वह दृश्य देखकर एक देहाती बोला मेरी कविता तो बन गई।··· सुनावो। चनर-मनर रहटा भन्नाव।··· बहुत ठीक। कुछ आगे बढ़ने पर क्या देखा कि एक तेलीका बैल खली भुस खा रहा था। तो उस दृश्यको देखकर दूसरा देहाती बोला—मेरी भी कविता बन गई। अच्छा सुनावो।··· तेलीका बैल खली भुस खाय।··· बहुत ठीक। कुछ और आगे बढ़ने पर क्या देखा कि कोई धुनिया अपने कंधे पर एक पींजना रखे हुए चला आ रहा था। वह पींजना बिल्कुल धनुषबाण जैसा लग रहा था, सो उसे देखकर तीसरा देहाती बोला—वहांसे आ गये तरकस बंद। अब तीनकी कविता तो बन गई, चौथेसे न बन पायी। उससे भी कविता बनानेको कहा पर उससे बनी नहीं। तो तीन देहाती बोले—हम लोगोंको जो इनाम मिलेगा उसेमें तुम्हारा हिस्सा न लगेगा, हम तीनों बांट लेंगे। तो वह चौथा देहाती बोला—हम इस तरहसे पहलेसे कविता न बनाकर रखेंगे। उसी मौके पर सहसा ही जो कविता बन जायगी उसीको सुना देगे। ठीक है। अब चौथे देहातीने क्या कविता बनायी सो जो हम कविताका चौथा चरण बोलें उसे चौथेकी कविता जानना। सो जब राजा भोजके दरबारमें वे पहुंचे तो द्वारपालसे बोले जावो राजा को खबर कर दो कि आज चार महाकवीश्वर आये हैं अपनी-अपनी कवितायें सुनानेके लिए। द्वारपालने राजाको खबर दिया तो राजाने आदर सहित उन्हें बुलवाया। और और भी अनेक विद्वान कवि वहां आये। सभीने अपनी-अपनी कवितायें सुनायीं। जब उन चारों देहातियोंका कविता सुनानेका नम्बर आया तो चारों खड़े हो गये

और बारी-बारीसे बोलने लगे, अब यहां ध्यान देना कि चौथे देहातीने अपनी क्या कविता सुनायी थी। ··· चनर-मनर रहटा भन्नाय। तेलीका बैल खली भुस खाय। वहांसे आ गए तरकस बंद। राजा भोज है मूसरचंद॥ अब इस कविता को सुनकर सभी लोग दंग रह गए। यह क्या कहा गया इस कवितामें? कोई खास कविता भी नहीं जचीं। खैर राजा भोजने वहां बैठे कुछ पंडितोंसे कहा कि आप लोग इनकी कविताका अर्थ लगाये अब क्या अर्थ लगायें यह किसी की समझमें न आया। वहां कोई एक विद्वान वृद्ध पंडित बैठा था वह खड़ा होकर बोला—हम बताते हैं इस कविता का अर्थ। यह कविता बहुत ऊंची है। इसमें बड़ा मर्म भरा है। पहले महाकवीश्वरने यह कहा था कि चनर-मनर रहटा भन्नाय, मायने यह जीव हम आप रात-दिन अपने जीवनमें चनर-मनर करने वाले रहटाकी भांति भन्नाते रहते हैं, दूसरे कवीश्वरने यह कहा कि तेलीका बैल खली भुस खाय, इसका अर्थ है कि जैसे तेलीका बैल रातदिन जुतता और रुखा-सूखा खली भुस खाकर अपना समय बिताता ऐसे ही हम आप रात-दिन दुनियावी कामोमें जुतते रहते जहां खाने-पीनेकी भी फुरसत नहीं। आरामसे बैठकर खा पी भी नहीं सकते। जल्दी- जल्दीमें कामसे आये और जो रूखा-सूखा मिल गया वह जल्दीसे खाकर फिर काममें लग गए। तीसरे कविने यह कहा कि "वहांसे आ गए तरकस बंद" इसके मायने हैं कि हम आपका सारा जीवन बीत गया बाहरी दंद फंदमें, अन्तिम समयमें काल (यमराज) आ गया याने मृत्यका समय निकट आ गया। अब चौथे कविने यह कहा कि राजा भोज है मूसरचंद, मायने दशा तो इस प्रकारकी है फिर भी ये राजा भोज इतने मूर्ख हैं कि जरा भी कुछ खबर नहीं। व्यर्थ ही बाहरी-बाहरी बातोंमें पड़कर अपना जीवन गुजार रहे हैं। इस प्रकारके मार्मिक अर्थको सुनकर सभीको भारी चेतावनी मिली। राजा भोज बड़ा प्रसन्न हुआ और उन चारों देहातियोंको भारी पुरस्कार देकर सहर्ष विदा किया।

संसरण व असंसरणकी अभिलष्यताकी छांट—अब आप विचारिये कि आपको इस संसारमें जन्म मरणके चक्कर लगाते रहना पसंद है या इससे छुटकारा पाना पसंद है। खूब विचार लीजिए। यदि संसारमें जन्म मरणके चक्कर लगाते रहाना ही पसंद है तो उसका उपाय यही है कि इस शरीरको आत्मारूपमें समझते रहो, याने इस शरीरमें ही आत्मीयता की बुद्धि बनाये रखो, जैसा कि अभी तक बनाते रहे, बस ये शरीर, ये जन्म मरण बराबर मिलते रहेंगे और यदि न चाहिये ये शरीर, न चाहिए संसारमें जन्म मरणका चक्र तो उसका उपाय यही है कि इस शरीरमें आत्मीयताकी बुद्धि न रहे, अपनी ऐसी दृष्टि रहे कि इस शरीरसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूँ। चैतन्यस्वरूप हूँ, यह शरीर रूप मैं नहीं हूँ इस प्रकारका बोध रहे, बस ये जनम मरणके संकट टल जायेंगे। सो अपनी जिन्दगी मानो आत्मकल्याणके लिए। खूब परिवार, धन वैभव आदिक बाह्य समागमोंका बढ़ाना यह जीवन कोई सारभूत जीवन नहीं है। ये सब चीजें तो भव-भवमें प्राप्त हुई। यह जीवन इसलिए है कि अपने आत्माका परिचय किया जाय। मैं वास्तवमें क्या हूँ। यह मैं हूँ ज्ञानस्वरूप। मैं हूँ आनन्दमय, सो अपने इस आत्मस्वरूपमें रमण करें, इसमें जीवनकी सफलता है। विषय कषायोंसे जीवन की सफलता नहीं है। तो यह सम्यक्त्व जिनके प्रकट हुआ है उनकी ८ अंगरूप स्थिति बनती है। यह पहले बताया था इसी ग्रन्थमें।

देवमूढ़तामें कल्याणकी असंभवता—आज सम्यक्त्वांगके विरुद्ध यह बता रहे हैं कि लोकमूढ़ता, देव मूढ़ता गुरु मूढ़ताके भाव करनेसे सम्यक्त्व नहीं रहता। देव मूढ़ताकी बात इस छंदमें कही है। इष्ट पदार्थोंकी आशा से मुझे धन मिले, मेरी मुकदमेमें विजय हो या पुत्रादिक हों, ऐसी आशा करके रागद्वेषसे मलिन देवतावोंकी उपासना करना देवमूढ़ता कहलाती है। इतना भीतर पक्का उत्साह रखें कि जब जो स्थिति आयगी उसीमें गुजारा कर लेंगे। मैं कोई आशा नहीं करता कि मेरेको ऐसी चीजोंकी प्राप्ति हो, क्योंकि सांसारिक चीजें जो मिलती हैं वे पुण्य पापके उदयसे मिलती है। संसारकी बातोंमें पुरुषार्थ गौण है पुण्यकी प्रधानता है, और मोक्षकी बातोमें पुरुषार्थकी प्रधानता है, अन्यथा बतलावो विदेशोंमें जो कितने ही लोग करोड़पति अरबपति मिलते वे कहां आज वर्तमान में कुछ दानपुण्य धर्म-कर्म कर रहे, पर उन्हें सारे सुख समागम मिल रहे हैं। वह सब उन्हें पूर्वकृत कर्मके उदयसे मिल रहा, आज वर्तमान में जो करनी कर रहे उसका फल आगे मिलेगा। तो किसी बाह्य सुख समागम की आशासे भगवानकी भक्ति न करें। भगवानकी भक्ति करके उसके एवजमें किसी भी बाहरी चीजकी वाञ्छा न करें। यही भाव रखें कि हे प्रभो जिस उपायको करके आप तिरे उसी उपायको करके मैं भी तिर जाऊं, संसारके आवागमनसे मुक्त हो जाऊं, बस यही मैं चाहता हूँ। इसके अतिरिक्त मुझे आपसे कुछ नहीं चाहिए। चाहे भगवानकी भक्ति करके या अन्य देवी देवताओंकी भक्ति करके यदि साँसारिक सुख साधनके पानेकी वाञ्छाकी जा रही है तो वह देवमूढ़ता कहलायेगी। चाहे कितनी ही मिन्नतें कर ली जावें किसी देवसे पर वह कुछ देने न आयगा। हाँ आपके ही पुण्यका उदय है तो वह चीज आपको थोड़ेसे ही प्रयाससे प्राप्त हो जायगी। भगवानकी भक्ति करके इन बाहरी बातोंकी ओर दृष्टि न रखें, दृष्टि रखें अपने आत्मस्वभावकी ओर। उसके फलमें अवश्य ही कोई ऐसे बानक बनेंगे कि सभी सांसारिक चीजें स्वयमेव ही प्राप्त होती रहेंगी और निकट कालमें ही मुक्ति प्राप्त होगी। अपना एक यह दृढ़ विश्वास रहे कि मैं आत्मा स्वयं आनन्दमय हूँ। मेरे में से ही वह आनन्दपर्याय प्रकट होती है, मेरे ही ज्ञानगुणमें से ज्ञानपरिणमन प्रकट होता है। मैं खुद ज्ञानानन्दस्वरूप हूं ऐसा जान कर इस निज तत्त्वमें ही अपने आपको विश्राम, आराममें ले जाना, और वहाँ ही रमाना, यह काम है जीवनमें करनेका।

देवमूढ़ताकी अनर्थकारिता—न जाने कितने ही कार्य धर्मबुद्धिसे लोग किया करते है। बड़े-बड़े ब्रत, तप आदि करते, बड़े-बड़े कष्ट सहते, बड़े-बड़े यज्ञ समारोह आदिक धार्मिक क्रियाकाण्ड करते। न जाने क्या-क्या करते? घरके किसी बड़ेके मर जानेमर लोग धर्म बुद्धिसे श्राद्ध करते, बड़े-बड़े खर्च करते। अरे जब तक वह जीवित रहा तब तक तो उसकी एक बात न पूछा और उसके न रहने पर बड़े खर्च करते तो यह तो धर्मका ढोंग कहलाया। उसके जीते जी यदि उस खर्च किये जाने वाले धनका १०० वां हिस्सा भी उस मरने वालेके लिये खर्च कर देता तो वह भला था। मरनेके बाद उसके पीछे कितना ही कुछ खर्च करना किस काम का? तो ऐसी कितनी ही देवमूढ़ताकी बातें हैं। इन सबका आधार क्या ? परभावमूढ़ता। परपदार्थोंमें मुग्ध हो रहे, आत्माकी महिमा नहीं जान पायी कि स्वयं भगवान आत्मा कैसा है? मेरा जो कुछ प्रकट होता है, वह मेरे में से प्रकट होता है, कहीं बाहर से प्रकट नहीं होता। कितने ही देवताओं की आराधना करलें मगर मेरा हित उन देवताओंकी आराधनासे नहीं

है। हम यहां अरहंत सिद्धकी आराधना क्यों करते हैं? वे भी तो परभाव हैं, उनकी आराधना इसलिए करते कि उनका स्वरूप और मेरा स्वरूप समान है और जो उपाय करके उन्होंने सुख पाया है, मोक्ष पाया है वह उपाय मैं भी बना सकता हूँ और मैं भी मोक्ष पा सकता हूँ, ऐसी समानताके कारण अरहंत सिद्ध भगवान की भक्ति की गई, पर देने वाला मुझको कोई दूसरा नहीं है। तीन चीजें होती हैं—(१) धर्म, (२) पुण्य और (३) पाप। इनमें पाप तो कहलाये हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदिक और पुण्य कहलाये दान, पुण्य, पूजा भक्ति आदिक और धर्म कहलाया, रागद्वेष न करके केवल ज्ञातादृष्टा रहना। सो पाप तो अत्यन्त हेय है, उन्हें तो कभी करना ही न चाहिए, और उन पापोंसे बचनेके लिए पुण्य बताया है। पुण्य भावसे योग्यता बनानेके बाद फिर धर्ममें लीन होनेके लिए पुण्य पाप अपने आप छूट जातें हैं। लक्ष्य होना चाहिए अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका वह जिनको प्रकट हो गया वे कहलाते हैं देव, पर रागीद्वेषी आत्माको देव मानना, उनकी आराधना करना यह सब देवमूढ़ता कहलाती है। सो सम्यग्दृष्टि जीव देवमूढ़तासे दूर रहता है।

ज्ञानदृष्टिमें आत्मप्रसन्नता—देखिये जीवको सबसे अधिक प्रिय चीज क्या है? लोग कहेंगे कि धन वैभव, कुटुम्ब परिजन, इज्जत प्रतिष्ठा आदिक, पर ये कोई वास्तविक प्रिय नहीं हैं। इस जीवको प्रिय है अपने आत्माका स्वरूप, आत्माका ज्ञान। आत्मा को आत्मा ही प्यारा होता है। मानलो किसी पर कोई संकट आ गया तो यह खुदकी जान बचायेगा और वही मानलो मुनि हो गया, सच्चा ज्ञानजग गया और उस स्थितिमें कोई प्राण भी ले तो वह प्राणोंकी परवाह नहीं करता किन्तु अपने ज्ञानकी सम्हाल करता है। तो इस जीवको सबसे अधिक प्रिय चीज है ज्ञान। इससे अपना एक निर्णय यही रहे कि हर स्थितियोंमें अपने ज्ञानकी सम्हाल बनाये रहें। पर पदार्थोंको असार समझकर उनसे उपेक्षा का भाव रखें।

यहां कोई भी बाह्य पदार्थ सुख दुःख का देने वाला नहीं है। मेरे ही ज्ञानकी सुखरूप अथवा दुःखरूप परिणतिसे सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। सो जब यह जान जायेंगे कि मैं तो केवल आत्मा हूँ और ये शरीरकर्म आदिक सब जड़ पुद्गल हैं। ये सब बाहरमें दिखने वाले समागम जड़ हैं, पर पदार्थ है किसी भी पर पदार्थसे मेरेमें कुछ न आयगा। मैं पर पदार्थोंमें कुछ नहीं करता, केवल ख्याल ही ख्याल करके विकल्प किया करते, तो उन पर पदार्थोंमें करने धरनेकी बुद्धि त्यागकर अपने को ज्ञानरूप अनुभव करें, अन्य कुछ न चाहिए। एक अकबर बीरबलका चुटकुला है कि एक दिन अकबर बादशाहने बीरबलको नीचा दिखानेके लिए कहा कि मंत्रिवर, आज मैंने रात्रिको ऐसा स्वप्न देखा कि हम तुम दोनों कहीं घूमने जा रहे थे, रास्तेमें दो गड्ढे मिले, एक गड्ढेमें भरा था गोबर विष्टा और एकमें भरी थी शक्कर सो तुम तो उस गोबर विष्टा वाले गड्ढेमें गिर गए और मैं गिर गया शक्कर वाले गड्ढेमें तो उसकी बात काटकर बीरबल बोला—महाराज मैंने भी ठीक ऐसा ही स्वप्न देखा जैसा कि आपने देखा, पर इससे अधिक एक बात और देखा कि आप हमको चाट रहे थे और हम आपको। अब बताओ—बीरबलने क्या चाटा? शक्कर, और अकबर बादशाहको क्या चटाया? ··· गोबर विष्टा। तो ऐसे ही समझलो कि यह गृहस्थीका निवास गोबर विष्टामें रहने जैसा जीवन है मगर अपनी दृष्टि

ज्ञानस्वभाव पर रहे तो स्वाद आयगा आत्मानुभवका। मानलो कोई घर गृहस्थी छोड़कर निर्ग्रन्थ हो जाय और चित्तमें गृहस्थी बसाये रहे तो उसे तो स्वाद आयगा गोबर विष्टाका याने गृहस्थीका, निर्ग्रन्थताके पदका स्वाद न आयगा। इसलिए अपनी दृष्टि निर्मल रखें, ज्ञानस्वभावको अपने लक्ष्यमें रखें कि यही मैं हूँ, यही मेरा सर्वस्व है, अन्य इस संसारमें मेरा कुछ नहीं हैं। जो जीव अपने सही स्वरूपको निरखता है, उसीको दृष्टिमें रखता है उसकी प्रतीतिसे रहता है उसके पवित्रता है और वह व्याकुल नहीं होता। व्याकुलतो तो मोहमें हुआ करती है। जहां किसी परपदार्थमें यह मैं हूँ, यह मेरा है इसको मैं यों कर सकता हूँ, यह मुझे यों सुख देगा आदिक कल्पनाऐं जगती हैं उन कल्पनाओंसे कष्ट होता है। आत्मा सीधाका सीधा जैसा का तैसा केवल जाननहार रहे तो उसमें कष्टका क्या काम? पर नहीं रहता इससे कष्ट आते हैं।

कष्टोंसे बचनेके लिए देवीदेवताओंसे याचनाकी व्यर्थता—मिथ्यात्वके उदयमें उन कष्टोंसे बचने के लिए ये संज्ञी जीव नाना देवीदेवताओंकी मनौती करते हैं—मेरा कष्ट ये बचाते हैं, पर जैसे यहां मनुष्योंमें किसी के पुण्यका उदय है तो पड़ोसी लोग भी उसके मददगार बन जाते हैं। मुख्य तो पुण्योदय है। ऐसे ही कदाचित पुण्योदयमें कोई देव भी मददगार बन जाय तो उसमें मुख्य तो पुण्योदय है। भले ही ऐसी अनेक घटनायें हुई हैं। उनमें एक सीताजी का ही दृष्टान्त ले लो। जब सीताजी को अग्निकुण्डमें प्रवेश करनेका विधान हो रहा था उस समय देव कहीं तीर्थंकरके समवशरणमें जा रहे थे। रास्तेमें उन्हें यह कौतूहल दिखा तो उनके मनमें आया कि कहां तो ऐसी शीलवती धर्मात्मा सीता और कहां यह भीषण अग्निकुण्ड, इससे सीता का जल जाना ठीक नहीं, यह विचार कर वहां थोडी देरको रुक गए और जब सीताने अग्निमें प्रवेश किया तो उन देवोंने अपनी मायासे जलका तालाब सा बना दिया और वहां कमल खिल गये तो यह घटना हो गई मगर इस घटनासे कहीं यह नियम तो नहीं बना कि शीलकी परीक्षाके लिए आप यों कहने लगें कि धरो आगपर हाथ। तो ऐसा नियम नहीं है कि जितने शीलवाँन हैं उन सबकी देवताओंने सहायताकी हो। सुकुमाल, सुकौशल, पांडव आदि अनेक शीलवान पुरुष हुए, पर किसने उनकी रक्षा की? जब वे अग्निमें जलाये गए, या गीदड़ीने उनका भक्षण किया तब कहां गये थे देवलोग? क्या ये देव उस समय न थे? तो वह तो अपने-अपने पुण्यके आधीन बात है। जब खुदके पुण्यका उदय होता है तो कोई न कोई बानक ऐसा बन जाता कि उसका वह संकट टल जाता, नहीं तो कोई यह नियम नहीं कि यह संकट टले ही टले। पंजाबकी एक घटना सुना है कि किसी पुरुषको अपनी महिला पर कुछ शंका हुई सो कहा कि हमको तुम्हारे चरित्रपर शंका है। तुम तो हमें परीक्षा देकर दिखाओ तब हमको तुम्हारे चरित्रपर विश्वास होगा। तो वह महिला बोली—करलो परीक्षा जो करना चाहो। सो पुरुष बोला—हम कुछ लोगोंको इकट्ठा करेंगे और उनके बीच तुम्हारे शील की परीक्षा ली जायगी। कडुवा तेल एक कढ़ाहीमें खूब अग्निसे तपाया जायगा। उस खौलते हुये तेलमें तुम्हें अपना हाथ डालना होगा। यदि वह हाथ न जलेगा तो समझ लेंगे कि तुम्हारा चरित्र ठीक है। तो वह महिला बोली—हां हां ठीक है ले लो परीक्षा। आखिर उस पुरुषने काफी लोगोंको इकट्ठा किया, कडुवा तेल एक कढ़ाहीमें खूब खौलाया। वहां दर्शकों की अपार भीड़ लग गई। इधर उस

महिलाने क्या किया कि पहले से ही नीमकी दो छोटी-छोटी टहनियां ले लिया और जब परीक्षाके समय उससे तेलमें हाथ डालनेको कहा गया तो झट उसने उस खौलते हुए तेलमें दोनों टहनियां डाला और दोनों हाथोमें एक-एक टहनी लेकर वहां उपस्थित लोगोंके ऊपर तेल छिड़कना शुरु कर किया। जब तेलके छीटेंसे लोग जलने लगे तो लोगोने वहांसे भागना शुरुकर दिया। किसीने कहा उस महिलासे—अरे यह क्या कर रही हो? तो महिला बोली हम भी तुम सबके शील की परीक्षा कर रही हैं। पहले तुम्हारे शील की परीक्षा करलें बादमें अपने शीलकी परीक्षा दें। तो भाई यह कोई निमय तो नहीं है कि संकटके समय किसी दूसरेसे रक्षा हो ही हो। हां जब खुदके पुण्यका उदय होता है तो उस समय दूसरे भी उसके रक्षक बन जाते हैं।

पुण्यविपाकमें सुख साधनोंका लाभ—यहां जो जो भी सुख समागम प्राप्त होते हैं वे सब पुण्यके उदय से प्राप्त होते हैं, उनका संचय करनेके लिए लोग तो बड़े-बड़े छल कपटके काम करते हैं, पर छल कपट करनेसे उनका लाभ ही हो यह कोई नियम नहीं। आखिर कर्म सबके साथ लगे हैं। खोटे कार्य करके कोई लाभ चाहे तो यह हो कैसे सकता? कदाचित खोटे कार्य करते हुए भी लाभकी बात दिख रही हो तो यह समझो कि वह सब पूर्वकृत पुण्यके उदय से मिल रहा, कहीं छल कपट करनेसे नहीं मिल रहा। तो यह सब निर्णय जानकर किसी देवी देवतासे कोई याचना न करना और यहाँ तक कि धर्म करते हुए सुदेवसे भी कोई याचना न करना। केवल यही अभिलाषा रखें कि हे प्रभो जैसे आपने ज्ञान पाकर संसार संकटोंसे मुक्ति प्राप्त की ऐसे ही हम भी अपना विशुद्ध ज्ञानप्रकाश पाकर इस ही ज्ञानमें रमकर संसारके संकटोंसे मुक्त होवें। यही भावना रखें प्रभुके दर्शन, पूजन, बंदन आदिमें।यदि देवी देवता कोई भी किसीका दुःख हर सकते होते तो आप बतलावो ऋषभदेव जिस समय मुनि हुए, उस समय ६ माह तक तो उन्होंने उपवास किया और फिर ६ माह तक अन्तराय हुए, उन्हे भोजन न मिला तो वहां देव कहां चले गये थे? अरे वे देव तो अविधज्ञानी होते वे देव तो भगवानके गर्भ कल्याणमें आयें, जन्म कल्याणकमें आयें, अब उस समय वे देव कहां चले गए थे? तो ये सब पुण्यधीन बातें हैं। यहां कोई देवी देवताके प्रति यह भाव न रखें कि ये हमारा इस प्रकारका काम कर देंगे। अरे करें या न करें ये सब बाहरी बातें हैं। धन वैभव हो तो हो, न हो तो न हो, आत्माका परिचयआत्माकी दृष्टि रहे तो समझो कि मेरे पास सारा वैभव है। सो प्रायः करके लोग मिथ्यादृष्टि देवोंमें मनौती अधिक करते हैं, देवी दहाड़ी, शातिला, न जाने क्या-क्या? तो जो स्वयं दुःखी हैं, अज्ञानी हैं उनसे किसी इष्टकी याचना करना, इसे कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा? सो ऐसे अनेक प्रकारके चाहे भगवानके सेवक कह कर भी देव देवताओंकी मनौती करे लेकिन वह देव नहीं। बस देव हैं तो एक वीतराग सर्वज्ञ प्रभु हैं।

देव और कुदेवके लक्षण व देवमूढ़ताका हेयपना—देवकी पहचान यह है कि जिसमें गुण तो पूरे हों और दोष जरा भी न हों बस वही भगवान है। एक कुञ्जी है। यह आत्मामें गुण क्या? ज्ञान और आनन्द। ये जिसके पूर्ण विकसित हुए हों। और दोष क्या? ये क्षुधा आदिक दोष जिसके रंच भी न हों। जिनकी भक्तिके प्रसादसे हमारे आत्माके स्वरूपकी खबर होती है। हम अपने समाधिभावको प्राप्त हो सकते हैं। यह प्रभुकी भक्तिका उपकार है। सो एक वीतराग सर्वज्ञदेवको

छोड़कर नानाप्रकारके रूपोंमें देवी देवता मानकर पूजना देवमूढ़ता है। अब देखिये—हनुमानजी मोक्ष गए, और हनुमानजी कामदेव थे, उन जैसा सुन्दर रूप उस जमानेमें किसीका न था और सर्व परिग्रह त्यागकर समाधिस्थ होकर मुक्त हो गए। सो हनुमानजीका पूजना बुरा तो नहीं है, ठीक है पूजें, मगर जिस रूपमें हुए हैं जिससे वीतराग और सर्वज्ञता होती उस रूपमें माने। पर लोगोंने क्या किया कि उनकी बंदर जैसी शक्ल बना दी. रागीद्वेषी बना दिया। जिसमें रागद्वेष हो वह देव नहीं। इसी तरहसे श्रीराम मर्यादा पुरुषोत्तम हुए, पद्मपुराणमें उनके नामसे स्वतत्र ग्रंथ भी बना और उनकी महिमा भी देखो तो श्रीराम भगवान बलभद्र हुए, वे जिनेन्द्र हुए, उनका पूजना तो भला है मगर जिस रूपमें रागद्वेष नहीं और सर्वज्ञता हो उस मार्गकी दृष्टि से निरखकर पूजिये। अब यह तो ठीक नही कि श्रीरामका मूर्ति बनाकर उन्हें वस्त्रादिकसे अलकृत कर दिया, मुकुट बांध दिया, हाथ में धनुषबाण पकड़ा दिया, और भी रागद्वेषकी बातें गढ़ दिया तो इस रूप में पूजना तो ठीक नहीं। वहां देवत्वकी बात कहां है। देवत्व तो वहां माना जाता जहां वीतरागता और सर्वज्ञता हो। अब कोई लोग तो वृक्षों में भी देवताकी कल्पना करके पूजते, कोई धज्जियां, डोरा, कपड़की चिट आदि बांधकर पीते, कहीं कुछ पत्थर पड़े हों तो वहां कंकड़ पत्थर डालकर उसमें देवत्वपानेकी बुद्धि मानकर पूजते। एक सन्यासी था। वह कहीं से भिक्षा मांगते हुए में एक लड्डू पा गया। लड्डू हाथ में लिए हुए जा रहा था। रास्ते में उसके हाथ से लड्डू छूटकर ऐसी जगह पर गिर गया जहां कुछ गोबर विष्टा पड़ा था, पर लालचवश उसे उठाकर पोंछकर खा लिया। अब खा तो लिया पर यह शंका बनी रही कि कहीं किसीने हमारी यह करतूत देख न लिया हो सो पोल ढ़ाकनेके लिए उस विष्टाके ऊपर कुछ फूल डाल दिया। अब वहां से आने-जाने वाले अनेक लोगोंने भी वहां पर फूल चढ़ाना शुरू कर दिया यह जानकर कि यहां तो कोई देव है। आखिर फूलोंका बड़ा भारी ढेर थोड़ी ही देर में लग गया। जब तो फुल्लादेवी कह कर उसे सभी लोग पूजने लगे। किसी विवेकी पुरुषके मनमें आया कि इन फूलोंको उठाकर देखना चाहिए कि आखिर वह देवी किस प्रकार की है। सो जब सारे फूल उठाये गए तो वहां मिला वही मैला। तो कितनी ही बातें ऐसी बन जाया करती है पर यह कोई देवका स्वरूप नहीं। देव वही है जिसमें वीतरागता और सर्वज्ञता हो। ये नदी स्नान, वृक्ष पूजने, कंकड़ पूजन आदि के काम सब देवमूढ़तासे सम्बंधित हैं। वास्तविक देव पूजन नहीं।

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनां।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्॥ २४॥

ज्ञानीको पाखण्डिमूढ़तारहितता—सम्यग्दृष्टि जीव जिन दोषों से रहित होता है उन दोषोंमें ये तीन महादोष हैं—(१) लोकमूढ़ता (२) देवमूढ़ता और (३) पाखण्ड मूढ़ता, सो इस छन्दमें पाखण्ड मूढ़ताका स्वरूप बताया जा रहा है। जो श्रद्धान और ज्ञानसे रहित पुरुष है और वह चाहता है कि मेरी लोकमें मान्यता हो सो नाना प्रकारके भेष धारणकर लोकमें अपनेको ऊँचा जताकर लोगोंसे अपनी पूजा, वंदना, सत्कार चाहता है। परिग्रह रखता, आरम्भ रखता, हिंसाके कार्योंमें प्रवृति करता, इन्द्रियके

विषयोंका अनुरागी है। खूब गप्पसप्पमें अपना समय बिताता है, अभिमानी भी है और अपनेको पूज्य धर्मात्मा कहानेका इच्छुक है, वह कहलाता है पाखण्डी जीव। उसकी सेवा करना, उसकी भक्तिमें रहना और अपनेको धर्मात्मा मानना यह पाखण्ड मूढ़ता है।

गुरुका लक्षण—गुरुका लक्षण क्या है? जो इन्द्रियके पञ्चेन्द्रियके विषयोंके आधीन न हो, हिंसा आदिक आरम्भों से रहित हो, कोई परिग्रह न रखता हो और जिसका काम ज्ञान ध्यान तपश्चरणमें रत रहना हो ऐसी धुन रखने वाला गुरु कहलाता है और इसके विपरीत जितने भेषधारी है वे सब कुगुरु या पाखण्डी कहलाते हैं। देखिये आत्माकी साधना किसी बाहरी पदार्थके द्वारा नहीं होती है। अपने ही ज्ञान द्वारा अपने आत्मा की साधना होती है। बाहरी चीजें रखनेकी कोई जरूरत नहीं। फिर किसलिए गटर माला रखना, किसलिए कमरमें रस्सी बांधना, किसलिए त्रिशूल, डमरु, लट्ठ आदि रखना, किसलिए देहमें भस्म रमाना, ये सब पाखण्डमूढ़ताकी बातें है। आत्माकी साधना के लिए बाहरी कुछ चीजोंकी जरूरत नहीं और रखे तो उसमें परिग्रहका दोष है। हां जैन शासनमें पिछी कमण्डल का रखना जो बताया गया है वह एक विवशतामें बताया है। इनका रखना आवश्यक हो मुनिको सो बात नहीं। कोई एक जगह खड़े होकर ध्यानस्थ रहे, बाहुबलिकी तरह तो वहां पिछी कमण्डलकी कोई जरूरत नहीं। कोई कहे कि यदि जमीन को खूब देखभाल कर चले तो वहां पिछी की क्या जरूरत? सो देखकर चले सो तो ठीक है मगर रास्तेमें कहीं धूप पड़ती, कहीं छाया पड़ती तो छाया में मुनि चल रहा हो और धूप आगई हो पास तो वह शरीरको पोंछकर धूपमें जायगा, क्योंकि ऐसा करने पर छायामें रहने वाले जीवोंको धूपमें कष्ट होगा, अथवा धूपमें जा रहे हों, अब छायामें चलना है तो शरीरको वहां पोंछकर चलेंगे क्योंकि धूपमें रहने वालें कीड़ोको छायाकी जगहमें पंहुचनेपर बाधा होगी। तो कोई चर्या करे, चले तो वहां पिछीकी जरूरत पड़ती है। और आहार चर्याके लिए जायगा तो उसे शौचकार्य भी करना पड़ेगा। अब शौचक्रिया के लिए कमण्डल भी रखना जरूरी हो गया। एक दो शास्त्र भी स्वाध्यायके लिए रखने पड़ते हैं क्योंकि ज्ञानसाधनोंमें वे भी सहायक है। तो ये पीछी कमण्डल और शास्त्र रखने पड़ते हैं मुनिकों। हां इन्हें शौकसे या इनको अपना मानकर वे इन्हें अपने पास नहीं रखते। तो आत्माकी साधना करने के लिए किसी अन्य चीजकी जरूरत नहीं। वहां तो ज्ञानकी जरुरत है। अपने स्वरूपको सोचिये कि मैं ज्ञानमात्र हूं अमूर्त हूं। ज्ञानज्ञानस्वरूप, अन्य कुछ नहीं, ऐसा अपने आपका चिन्तन करें। आत्मसाधना हुई।

हिंसारम्भादि दोषवानपुरुषोंकी गुरुत्वबुद्धिसे सेवा विनयमें पाखण्डिमूढता—बाहरी जो चीजें भेषमें बनायी जाती हैं उनका प्रयोजन शायद यह ही होता कि लोगों पर हमारी छाप पड़े, पर एक निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा है ऐसी जो कोई भेष साधुका नहीं माना गया। त्याग कर जो मुद्रा हुई वह है दिगम्बर मुद्रा। इसमें दोष नहीं और अन्य भेषमें रहने वले हिंसा आदिक आरम्भ करने वाले परिग्रही हिंसारम्भादि दोषवान हैं, उनकी मान्यता उनका पूजना यह सब पाखण्ड मूढ़ता है। लोग कुछ इस कारणसे अन्यजनोंके आकर्षण में रहते हैं कि ये तंत्र करते हैं, टोटका करते हैं, मंत्र करते हैं, तावीज देते हैं देखो अगर दिलमें पूर्ण शुद्धि रखना है तो एक ही निर्णय करना होगा कि मुझे किसी भी नाम, ताबीज या

जंत्रमंत्र वगैरहकी जरूरत नहीं, ये सब केवल मनके ख्याल हैं। न तो अन्य लोगों से लेना, न जैन साधुसंतों से लेना। आत्माका आभूषण तो ज्ञान है, रत्नत्रय है, उसमें लग जायें, वही शोभाहै। वही अपना उद्धार करने वाला है। दूसरा कौन क्या करेगा? किसी भी आशासे पाखण्डीजनोंका, देवोंका वैयावृत्ति, सत्कार ये ही मेरे सहायक हैं, इनसे ही मुझे मुक्ति मिलेगी ऐसा भाव न रखे। यदि ऐसा भाव रखेंगे तो इसे कहेंगे पाखण्डमूढ़ता।

पाखण्डि मूढताका एक उदाहरण—एक कथानक है कि कोई एक वेश्या थी, वह बहुत दिनोंसे खोटा काम करके ऊब गई थी। उसकी कुछ विरक्ति सी आयी सो सोचा कि मैंने जो ऐसे खोटे आचरणमें रहकर यह लाख दो लाखका धन कमाया है उसे किसी भले कामके लिए दान कर देना चाहिए। सो उसकी यह बात सुन लिया एक भांडने कि वेश्याने अपना सारा धन दान करना विचारा है सो वह पहले से ही सन्यासीका रूप बनाकर गंगा नदी के घाटपर जाकर बैठ गया साथमें एक चेला रख लिया। वहां पर बहुतसे सन्यासी और भी बैठे थे, वहीं अपना आसन जमाया। जब देखा कि वह वेश्या आ रही है तो झट बड़ी शान्त मुद्रामें ध्यान करता हुआ खूब तनकर बैठ गया। अब वेश्या बारी बारी से अनेक सन्यासियोंको देखती गई कि कौनसा सन्यासी पहुंचा हुआ है जो पहुंचा हुआ सन्यासी मिलेगा उसीको ही अपना लाख दो लाखका धन जो कि सोना चांदी आदिकके रूपमें है, वह दान कर दिया जायगा, ऐसा विचारकर वह सभी सन्यासियोंको देखती गई, पर उसे कोई सन्यासी भला न जंचा, कारण कि सभी गप्प सप्प वाले अथवा गांजा चरस आदि हांकने वाले दिखे। एक जगह उस सन्यासीको भी ध्यानस्थ मुद्रा में बैठा हुआ देखा जो कि भांडने अपना सन्यासीका रूप बना रखा था। उस सन्यासीको देखकर वेश्याने समझा कि पहुंचे हुए तो ये सन्यासी जी हैं। देखो कैसा ध्यानस्थ बैठे हुए हैं, वहां वेश्या कुछ ठहर गई। अब उस वेश्याको सामने आता हुआ देखकर उस सन्यासीने और भी अपना रूप पहुंचे हुए तपस्वीका बनाया। उसे देखकर वह वेश्या अत्यन्त प्रभावित हुई और निकट जाकर बोली—महाराज महाराज हमारी बिनती सुनो अब महाराज कुछ बोलते ही नहीं, और भी अधिक तनकर ध्यानस्थ मुद्रामें बैठ गए। जब वेश्याने कई बार निवेदन किया फिर भी उस सन्यासीकी आंखें न खुलीं। बहुत बहुत निवेदन करने पर जब सन्यासीने धीरेसे आंखें खोला तो वेश्या बोली—महाराज आज हम आपके दर्शन करके कृतार्थ हो गए। हमारा एक निवेदन स्वीकार कीजिए। ··· क्या है निवेदन ? ··· यही कि मेरे पास यह जो लाख दो लाखका धन है उसे आप स्वीकार कीजिए, मैं इसे आपको दान करना चाहती हूं, क्योंकि मैंने इसे बड़े खोटे आचरणसे कमाया। अब मेरे मनमें ग्लानि आयी है अपनी करतूतसे सो मैं इस धनको आपके लिए दान करती हूं। महाराज स्वीकार कीजिए। ··· नहीं नहीं, हमें न चाहिए। ··· नहीं नहीं यह तो आपको स्वीकार ही करना होगा। अच्छा तो रख दो। अब उस धनको अपने चेलेके द्वारा इस सन्यासीने अपने घरको भिजवा दिया। अब वह वेश्या बोली—महाराज हमारे ऊपर एक कृपा करें। यही कि मैं खीर बनाऊं और मेरे हाथसे वह खीर खाकर मेरे जीवनको आप कृतार्थ कर दें। बादमें मुझे कुछ आशीर्वाद दे दें ताकि मेरा कल्याण हो जावे। ··· ठीक है। अब वेश्याने

खीर बनाया और सन्यासीने खाया खीरको खानेके बाद वह सन्यासी बोला—गंगाजीके घाट पर खाई खीर अरु खांड। पापका धन पापहिं गया, तुम वेश्या हम भांड।"

पाखण्डिमूढ़ता त्यागकर शुद्धात्माराधनाका कर्तव्य—यहां पाखण्डमूढ़ताकी बात चल रही थी कि कोई गटरमाला पहने, हाथमें त्रिशूल ले, लाठी ले, शरीरमें भभूत रमाये, अपना डरावनारूप बनाये, कई तरहके शस्त्र धारण करे तो यह कोई साधुता का रूप नहीं। साधु तो निर्भय, निशंक, निष्परिग्रह होता है, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा सबको विश्वास उत्पन्न कराने वाली है। जो हथियार रखे उसमें समझो कि खुदमें कुछ कमजोरी है, भय है तब हथियार उसने रखा, या फिर किसीको भय दिखानेका उसका भाव रहता है, नहीं तो बताओ हथियार रखनेकी क्या जरूरत? और फिर जो आरम्भ परिग्रह रखते उनमें और और भी व्यसन आ जाते हैं जैसे जुवा खेलना, मद्य पीना, मांस खाना, आदिक। भांग, गांजा, चरस, बीड़ी, सिगरेट आदिक खाने पीनेकी बातें तो साधारण रूपसे उनमें चलने लगती हैं। अनेक जगह ऐसा भी देखने में आया कि जटाधारी सन्यासी जनोंकें बहुत बड़े भक्त होनेसे गंगा आदिक नदियोंमें बाल फटकारकर नहाने व उनका जूरा बांध देनेमें छोटी-छोटी मछलियां भी बालोंमें फंसकर मर जाती हैं। तो ऐसे पाखण्डी भेषधारी सन्यासियोंके प्रति सम्यग्दृष्टि जीवको आस्था नहीं होती। उसके तो वीतराग सर्वज्ञदेवके प्रति आस्था होती, आत्माकी कथनी करने वाले शास्त्रोंके प्रति श्रद्धा होती और जो सर्व कुछ त्यागकर आत्माकी धुन रखने वाले गुरु हैं उनके प्रति आस्था होती। वह जानता है कि मोक्षका मार्ग तो एक यही है, अन्य रूप इसका मार्ग नहीं है। तो ज्ञानी पुरुष न तो लोक प्रसिद्ध घटनाओं में मोहित होता है कि यह धर्म है और न वह कुदेवमें मोहित होता है कि यहां धर्म मिलेगा और न वह कुगुरुवोंमें मोहित होता है कि हमको यहां धर्म मिलेगा। ज्ञानी जीव तीनो तरहकी मूढ़तावोंसे दूर होकर अपने आपमें बसे हुए सहज परमात्मस्वरूपकी आराधनामें रहता है।

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलबुद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥ २५॥

सम्यग्दृष्टिके ज्ञानमदका अभाव—जिसने अपने सहज चैतन्यस्वरूपमात्र अंतस्तत्त्वका अनुभव किया है और ऐसे अनुभव पूर्वक सम्यग्दर्शन हुआ है उसकी प्रतीति निरन्तर विशुद्ध रहती है, इसी कारण उसके मद नहीं होता, ऐसे मदरहित बड़े गणधर आचार्यदेवने बताया है। मद आठ प्रकारके विषयको लेकर होता है, पहला मद है ज्ञानमद। यह बड़ा कठिन मद है, कोई भी पुरुष अपने आपको ज्ञानके रूपसे हल्का अनुभव नहीं करता कि मेरेको कम ज्ञान है। कभी कह भी दें मुखसे तो भी भीतर से ऐसा संस्कार रहता है कि मेरा जैसा बुद्धिमान कौन है? सो ज्ञानकी बात देखिये—जब यह जीव निगोद अवस्थामें रहा। कुछ रहा, हम रहे आप रहे और अवस्था पाया हो या न पाया हो उसका कोई खास निर्णय नहीं हैं क्योंकि कुछ जीव निगोदसे एकदम निकलकर मनुष्य भी हो जाते अथवा अन्य पर्याय ले लेते, तो हम आपने अन्य पर्यायें कितनी मलिन पा ली इस विषयमें कुछ नहीं कह सकते मगर यह जरूर कह सकते कि हम निगोद पर्यायमें अवश्य थे। तो उस निगोद दशामें अक्षरका अनन्तवां भाग

ज्ञान बताया है। कैसी-कैसी हीन दशायें हुई, एकेन्द्रिय जीव बने, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदिक भी हुए तो भी एकेन्द्रियकी अपेक्षा तो कुछ ज्ञानका विकास हुआ, पर हित अहितका विवेक करने वाला ज्ञान नहीं बढ़ा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक यही दशा रही। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हुए तो अन्य संज्ञियोंको देखो तो न कुछ जैसा ज्ञान, और मनुष्योंको देखो तो कितना ज्ञान है, कैसा ज्ञान है। प्रथम तो एक ज्ञानके सामने सब ज्ञान अत्यन्त छोटे हैं, फिर अपने ही पूज्य आचार्योंको देखो जिन्होंने बड़ी-बड़ी रचनायें कीं, तर्कशास्त्र करणानुयोग द्वादशांगवाणीका भी जिसमें अंश हो, गणधरोंको देख लो, उनके ज्ञानके आगे हम आप का ज्ञान क्या है, किन्तु जिनको आत्मज्ञान नहीं है उनको अपने पाये हुए ज्ञानपर घमण्ड होता। जिसके ज्ञानमद है उसके सम्यक्त्व कहां से है? वह तो एक बहुत बड़ा आवरण है।

वर्तमान परोक्ष ज्ञानकी निकृष्टता—अच्छा जो भी आपने ज्ञान पाया उसकी निकृष्टता देखिये—पहले तो यह ज्ञान इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ। यह एक साधनकी अपेक्षा कह रहे हैं। ज्ञानपर्याय तो अन्तरङ्ग हेतुरूप ज्ञान गुणसे ही प्रकट होती है मगर हम आपके यों हो क्यों नहीं गया? यदि आँखे ख़राब है तो रूप देखनेका ज्ञान क्यों नहीं हो रहा? बुखार होनेसे रसना इन्द्रिय बदल गई। गन्नेका रस भी कड़वा लगता है। तो इन्द्रिय ठीक हों तो हम आप लोगोंको ज्ञान बने, ऐसा तो पराधीन ज्ञान है और उस ज्ञानपर गर्व करते। दूसरी बात ज्ञानावरण कर्म जो लगे हुए हैं उनके क्षयोपशमके अनुरूप यह ज्ञान प्रकट होता है। जितना क्षयोपशम है उतना है ज्ञान। ज्ञानावरण कर्म जितना हटे उतना ज्ञान होता है। जिस ज्ञानपर लोग गर्व करते हैं उस ज्ञानकी बात बतायी जा रही है कि गर्व कारने लायक नहीं है स्थिति, पर जिसको आत्मज्ञान नहीं है वह उस ही ज्ञानपर घमंड करता है। फिर कुछ ज्ञान भी हुआ जैसा क्षयोपशम इन्द्रियजन्य होता हो पर उसका भी भरोसा तो नहीं। शरीरमें कोई रोग हो जाता कि यह ज्ञान भी इसी भवमें नहीं रह पाता। बुद्धि बिगड़ गई, वात पित्त, कफकी अधिकता हो गई, अटपट बकने लगे। जो ज्ञान पाया उस ज्ञानका भरोसा भी तो नहीं कि वह टिकेगा भी। इन्द्रियां नष्ट हो जाये तो ज्ञान भी नष्ट हो जाता, और इन्द्रियजन्य जो ज्ञानपर्याय बनी वह भी मिटेगी। ऐसे इस ज्ञानपर क्या गर्व करना।

कलहोंका मुख्य कारण ज्ञानमद—देखिये समाजमें धर्मके नाम पर जितनी भी लड़ाइयां होती हैं। उनका मूल आधार है ज्ञानका मद। आप खूब खोज कर विचार लो कि जैसा चाहा वैसा कोई नहीं प्रबंध किया। यह काम ऐसा क्यों नहीं हुआ कुछ भी कहा जाय बस वह बात न मानी जाय तो वहां विवाद खड़ा हो जाता है। और उसकी तो बात जाने दो, रास्तेमें चले जा रहे हैं और किसी जगहसे दो रास्ते फूटे हों और इन दोनोंको थोड़ी दूर जाने का फिर एक जगह वही रास्ता मिल जायगा, मगर जहांसे फूटा है, अपना साथी कहता है कि इस रास्तेसे चलो और खुद चले किसी दूसरे रास्तेसे तो उसमें मन खराब हो जाता। इसने मेरी बात नहीं माना ··· अरे ५ मिनट बाद तो उसी रास्तेसे आयेंगे। क्यों जरा-जरासी बातोंमें मद करते? इसने मेरी बात न मानी, मेरे कहे अनुसार क्यों न चला ···, अरे यह मद इस जीवको बरबाद करता है। अच्छा इस ज्ञानकी भी दुर्दशा देखिये जो पाया है। कितने ही लोग दूसरेके फंसानेके जाल बनाते, दूसरेके मारनेके अनेक साधन बनाते। उसमें अपनी कला मानते कि मैं

कलाकार हूँ। मैं इस इस तरहसे जाल रच लेता हूँ शस्त्र बना लेता हूँ। उसे अपने उसी ज्ञानपर गर्व है, कितने ही लोग कुछ कविता बना लेते, कवि सम्मेलनों में भाग लेते तो उन्हें देखा होगा कि हरएक कवि ऐसा सोचता कि मैं सबसे अधिक बुद्धिमान हूँ। यों ज्ञान के मदकी एक होड़ लग गई है, पर ऐसा ज्ञानमद इस जीवके लिए भला करने वाला नहीं है। अगर शुद्ध ज्ञानपाया है, कुछ आत्माके स्वरूपका परिचय मिला है तो वह तो इतना नम्र होगा कि उसका उपयोग उसकी बुद्धि अपने आत्माके ही अभिमुख हो जायगी। जैसे समुद्रसे ही तो पानी निकला जो कि बादलोंके रूपमें बना, गर्मीमें भाप बनी, बादल बने, बहुत दिन तक वह कड़ा-कड़ा रहा। समय पाकर वह पानी बरषा और बरष कर नीचे रास्तेसे चल-चलकर आखिर वह पानी समुद्रमें ही मिलता है, तो इसी तरह यह ज्ञान समुद्रमें से उस मिथ्यात्व आदिक आतपनके कारण यह कुछ ज्ञानजल यहां से उठा और यह बाहरमें ज्ञान घूमने लगा, गर्व करने लगा जगह-जगह भटकने लगा, अनेकों चीजोंकी टक्कर खाने लगा और कोई अच्छी लब्धि पाकर इसकी बुद्धि ठिकाने आये तो यह ही ज्ञान बरसाकर आत्माको छूकर नीचेके रास्तेसे चलकर अर्थात नम्रतासे रहकर ज्ञान सरोवरमें ही मिल जायगा। कठोरता बुरी चीज है।

मदमें हठ होनेके कारण अपमानादि अनेक आपदायें—किसी बात पर अड़ जाना यह खुदके लिए हानिकारक है। मदमें यही तो होता है। एक दम्पत्ति था, उसका दूसरा विवाह हुआ तो वह दूसरी स्त्री को बहुत चाहता था। और स्त्रीको भी गर्व हो गया कि मेरा पति मुझे बहुत चाहता है, पर सोचा कि मुझे परीक्षा लेना चाहिए कि मेरा पति मुझे वास्तवमें चाहता है या नहीं। तो परीक्षा लेनेके लिए वह पेट दर्द या सिर दर्दका बहाना करके लेट गई। देखिये ये दो बहाने पेट दर्द या सिर दर्दके ऐसे हैं कि कोई कितना ही सही-सही जानना चाहे तो वह जान न पायगा। बुखार हो तो वहां बहाना कहां से चलेगा। लोग थर्मामीटर लगा कर देख लेंगे, पर सिर दर्द या पेट दर्दका सही-सही पता कोई नहीं पा सकता। तो वह स्त्री पेटदर्द का बहाना करके पड़ गई। पति आया, उसे उदास देखकर पूछा कहो क्या बात है? ··· भारी पेट दर्द है। ··· कैसे ठीक होगा? अभी-अभी स्वप्नमें मुझे एक देवने बताया कि जो तुमसे भारी प्रेम करता हो वह अपनी मूछ मुड़ाकर सवेरा होते ही होते दर्शन दे तब तो प्राण बच सकते नहीं तो प्राण न बचेंगे। तो उस पुरुषने सोचा यह क्या कठिन बात है सो झटसे मूछ मुड़वा डालाऔर सवेरा होते ही होते दर्शन दे दिया, लो स्त्री चंगी हो गई। अब वह सबेरे चक्की पीसते समय रोज-रोज वही गीत गाये—'अपनी टेक चलाई, पतिके मूछ मुड़ाई' उस स्त्रीका रोज-रोज यही गीत सुनकर वह पुरुष बड़ा हैरान हुआ और समझ लिया कि इसको पेट दर्द न था, मुझको छकानेके लिए वह उसका बहाना था। खैर पुरुषके मनमें आया कि मुझे भी इसको किसी बहानेसे छकाना चाहिए। आखिर छकानेका उपाय मिल गया। क्या किया कि अपनी सुसरालको एक चिट्ठी लिखा कि तुम्हारी लड़की सख्त बीमार है उसके बचनेकी कोई आशा नहीं है। हां एक उपाय है उसके बचनेका। किसी देवने स्वप्नमें बताया है कि इसके माता-पिता, चाचा-चाची, भाई-बहिन आदि जो -जो भी इससे प्यार करते हों वे शीघ्र ही अपने मूछ-दाढ़ी, सिरके बाल बनवाकर सवेरा होते ही इसको दर्शन दें तो प्राण बचेंगे अन्यथा नहीं। अब क्या था। उस पत्रके मिलते ही उस स्त्रीके परिवारके सभी लोगोंने उसके

प्राणोंकी रक्षाके लिए अपने-अपने सिरके बाल, मूछ-दाढ़ी आदि बनवाकर चल दिये और सवेरा होते-होते उसके घर आकर खड़े हो गए। उस समय वह स्त्री अपना वही गीत गा रही थी—'अपनी टेक चलाई, पतिकी मूछ मुड़ाई।' सो वहां उस पुरुषने कहा—'पीछे देख लुगाई, मुंडनकी पल्टन आई।' सो ज्यों उसने पीछे की ओर देखा तो मारे शरम के गड़ गई। तो हठ कभी किसी के लिए अच्छी नहीं होती। यह हठ बनता है ज्ञानका मद आनेपर। जिसको ज्ञानका मद है उसका सारा उपयोग भ्रान्त बन जाता है, उसे आत्माके स्वरूपकी सुध लेनेका अवसर नहीं मिल पाता। ज्ञानका मद होने पर आत्मतत्त्वकी बात नहीं बैठ पाती।

ज्ञानीके पूजामदका अभाव—मुनियोंकी मुद्रा, चर्या देख लो, वहां मद का कोई काम नहीं रहता। जमीन ही जिनका आसन है, जमीन ही जिनका शैया है, जिनके शरीरमें कोई साज श्रंगार नहीं। मद का कोई अवसर नहीं, फिर भी यदि मद कर सकता तो ज्ञानका मद करेगा, पूज्यपनेका मद करेगा। सो वहां अज्ञान है। यदि उसे आत्मज्ञान होता है तो उसे यह मद कभी न हो सकता था। मद किस बात का? आज अगर पूज्य बने तो कलको रंक और निंद्य नहीं बन सकते क्या? अरे न जाने क्या से क्या स्थिति बन सकती? यहां काहे का मद करना? मदका परिणाम पापका बंध करता है और नम्र रहनेका परिणाम पुण्यका बंध करता है और आत्माको शान्तिका कारण है, और एक लौकिक दृष्टिसे भी विचार करें, लोग तो यह चाहते कि अन्य लोग हमारा आदर करें पर यह बात तब तक न बनेगी जब तक खुद भी दूसरोंको आदर न देंगे। तो पूज्यपना भी चाहिए तो उसका भी आधार नम्रता है। अगर लोगोंको, भक्तोंको यह बात चित्तमें आ जाय कि यह तो इस प्रकारका अभिमानी है तो उनके चित्तमें फिर पूज्यता नहीं रह सकती, और फिर यह ऐश्वर्य जिसके कारण पूज्यता बनी है वह भी विध्वंसशील है। आज है कल को रहे न रहे। फिर कहां पूज्यता रही? कलको जो प्रधानमन्त्री था आज उसे कोई पूछ नहीं रहा सो तो आप लोग आँखों देख ही रहे हैं। तो लो पूज्यपनेका क्या अर्थ है? और वास्तविक पूज्य जो हो जाता है उसके कोई विकल्प नहीं रहता। प्रभु परमात्मा पूज्य हैं, उनके कुछ विकल्प ही नहीं हैं। लोग बड़ा मानें तो न मानें तो, उनको क्या गर्ज पड़ी हैं। वे तो सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन। समस्त ज्ञेयोंको जानने वाले हैं तिसपर भी अपने आनन्द रसमें लीन हैं। तो जो वास्तविक पूज्य हैं उनके घमंड नहीं, जो पूज्यताका विचार कर घमंड करते हैं उनके वास्तविक पूज्यता नहीं।

ज्ञानीके कुलमदका अभाव—तीसरा मद है कुलमद ज्ञानी जीवको कुल का मद नहीं होता। देखिये लोकमें अच्छा कुल मिला है श्रावककुल मिला, जैनशासनके रहस्योंका जहां ज्ञान बना, ऐसी स्थितिमें उत्पन्न हुए, मगर ज्ञानी पुरुष जानता है कि आत्माके साथ इस कुल का सम्बंध नहीं है। आत्माका कुल तो चैतन्य है, लोग सोचते है कि हमारा घर कोई कुल चलाने वाला नहीं है सामने पति नहीं है, और पुत्रका भी यही अर्थ है—वंश पुनातिइति पुत्रः। जो वंश को पवित्र करता है उसका नाम है पुत्र। पर यह तो सोचो कि आपका वंश क्या है? क्या अग्रवाल, जायसवाल, खंडेलवाल, लमेचू, गोलालार गोलसिंगारे आदि ये सब आपके कुल हैं क्या? अरे आपके आत्माका कुल है चैतन्य। चैतन्यकुल पवित्र होना चाहिए। उसको पवित्र करने वाला कौन? यह मेरा खुद का आत्मा। तो यह मैं आत्मा

निर्मल परिणामोंसे रहूं तो मेरा चेतन कुल पवित्र होगा, शुद्ध होगा ओर यथार्थ अवस्थामें हो जायगा। पर यह गोत्रनाम कर्मके उदय से जो कुल मिला यह सब माया रूप है। ये कोई वास्तविक चीज नहीं। इसका मेरे आत्मसे कुछ सम्बंध नहीं। अच्छा है कुल जिसमें धर्मसमागम सुगम मिल गए हैं, लेकिन यथार्थ दृष्टिसे ज्ञानी सोच रहा है कि मेरे आत्माका इस शरीरके कुलसे कोई संम्बंध नहीं है। मेरा तो मेरे चैतन्यकुलसे सम्बंध है। ज्ञानीको कुलसम्बंधित मद उत्पन्न नहीं होता। बस जानन देखनहार रहता, कोई विकल्प तरंग नहीं होती, ऐसी जो उसकी सहज स्थिति है वही मेरा कुल है। यदि गौरव अनुभव करना है तो अपने चैतन्यकुलका ध्यान करके गौरव अनुभव कीजिए पर यह शरीर सम्बंधित कुल यह गर्वके लायक नहीं है। अच्छा देखिये—इस कुलका क्या भरोसा? वह अधिकसे अधिक इस भव तक मान लोगे, पर आगे अनन्तभवोंमें इस जीवने कैसे-कैसे कुल नहीं पाये और आगे भी क्या भरोसा? जहां राजा भी मरकर कीड़ा बन जाय वहां कुछ सोचना यह सब बेकार बात है।

कुलमदसे दुर्गतिका लाभ—एक कथानक आया है कि एक राजाने किसी मुनिराज से पूछा कि महाराज मैं मरकर क्या होऊंगा? तो मुनिराजने बताया कि तुम मरकर अपने ही घरके लैट्रिनमें विष्टाके कीड़ा बनोगे। वह बड़ा दुखी हुआ मुनिराज की इस प्रकार की बात सुनकर और घर आकर अपने लड़कोंसे कह दिया कि देखो मुझे एक मुनिराजने बताया है कि तुम अमुक दिन मरकर अपने ही घरके लैट्रिनमें विष्टाके कीड़ा बनोगे सो तुम लोग मेरे मर जाने पर उस लैट्रिनमें देखना, अगर उसमें विष्टा कीड़ा दिखे तो मार डालना, मुझे वैसी गंदी पर्याय में जीवित रहने से फायदा क्या? आखिर हुआ क्या कि जब वह राजा मरा और मरकर विष्टाका कीड़ा बना तो उसे मारनेके लिए उस राजाके लड़के पहुंचे, पर ज्यों ही लकड़ीसे मारना चाहा, त्यों ही वह कीड़ा अपनी जान बचाने के लिए उसी विष्टामें घुस गया, वे लड़के उस कीड़े को मारनेमें असमर्थ रहे। तो देखिये—निन्द्य पर्याय पाकर भी यह जीव उस ही में रहकर खुश रहता, वहां मरना नहीं चाहता तो यहां कुल का क्या मद करना? ज्ञानी पुरुष अपने कुल का मद नहीं करता। तो शोभा इस बातमें है कि हम अपने आपके सहजस्वरूपको सही-सही जान लें और अधिकाधिक दृष्टि उस आत्मस्वरूपमें ही लगाये रहें। बाकी इन सांसारिक बातों पर अधिक दृष्टि न दें। यहां कैसा ही कुछ हो। किसी भी बात का घमंड न हो। अपने आपकी और अभिमुख रहना यही अपना कर्त्तव्य है। और कर्त्तव्यसे चूके तो बस वहां सही-सही ठिकाना न मिल पायगा। गर्व करनेका फल बड़ा बुरा होता है। सूत्रजी में बताया है कि दूसरे की प्रसंशा करना और अपनी निन्दा करना, नम्रता का व्यवहार करना। गर्व न होना यह परिणाम उच्चगोत्रका बंध करता है और इससे उल्टा आचरण करनेमें याने परकी निन्दा करने, अपनी प्रसंशा करने, परके गुण ढाकने, अपनेमें गुण न हो फिर भी उन्हें उभाड़ने आदिके कार्योंसे नीच गोत्रका बंध होता है। मनुष्य हुए तो नीच कुलमें गए, नारकी हुए तो वे सब नीच होते ही हैं तिर्यञ्च नीच होते ही हैं तो अभिमानका फल अच्छा नहीं होता।

ज्ञानीके जातिमदका अभाव—जैसे कुल का मद होता है वैसे ही जातिका भी मद होता। जातिका मद मामाके कुलसे सम्बंध रखता है याने माता जहां उत्पन्न हुई है उसके कुल का सम्बंध है जातिसे। अभी देखो दो ही जगह का तो घमंड है लोगोंको। किसीको अपने पिताके कुल का घमंड

है तो किसीको अपने नाना मामाके कुलका घमंड है। मैं ऐसी नानी का नाती हूँ, मैं ऐसे महापुरुष का पोता हूँ। पुत्रके लड़के का नाम पोता कहलाता है और इस देशमें तो लड़कीके लड़केको भी पोता बोलते। इस देश में तो दोनोंको नाती कहते इसलिए कभी-कभी लोग यह नहीं समझ पाते कि कौनसे नाती को कहा गया। तो घमंड दोनों आश्रयोंसे हुआ करता है, तो जातिका भी एक मद होता, किन्तु ये कुल और जातिके घमंड ये सब देह कर्म का सम्बंध रखने वाली बातें हैं, इनसे आत्माका कुछ सम्बंध नहीं हाँ इतनी बात अवश्य है कि अच्छे कुलमें उत्पन्न हुआ जीव अच्छे परिणामोंको सुगमतया प्राप्त करने का साधन पाता है और नीचकुलमें उत्पन्न हुए को यह बात बहुत कठिन है कि उसे धर्मसाधनाका कोई अवसर मिल सके या ज्ञानादिकमें प्रगति हो सके। सो उच्च कुल पाया है तो घमन्ड के लिये नही पाया किन्तु आत्मज्ञान करके इसमें बढ़ें और अपने आत्मा में रमकर ही संतोष पायें ऐसा परिचय बनानेके लिए पाया, यह चित्तमें निर्णय होना चाहिए। तो ऐसे ज्ञान, पूजा, कुल, जातिके मदों को त्यागकर नम्रतासे आत्माके अभिमुख होकर अपनेको ज्ञानमात्रका अनुभव करना चाहियें मेरा शुद्ध कुल यह है अपनेको जितना ज्ञानस्वरूप निरखा जायगा उतना ही अपना चैतन्य कुल पवित्र बनेगा और विकसित होकर यह ज्ञान लोकालोकका जाननहार सर्वज्ञ हो जायगा। तो मद त्यागनेमें विकास है, पर मद करनेमें विकास नहीं। मद करनेका फल है अधोगतिमें जन्म होना इससे सर्व मद त्यागकर अपने आत्मस्वरूपके अभिमुख हों। यह ही विवेकी पुरुषका कर्तव्य है।

द्रव्य क्षेत्र काल भेदभाव व अभेदभावसे आत्माका परिचय—ज्ञानी पुरुषका मनन रहता है कि मैं समस्त परपदार्थोंसे निराला, शरीरसे निराला, कर्मोंसे निराला, कर्मोंके उदससे होने वाले प्रतिफलन से निराला ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व हूँ जो मैं सही हूँ, स्वयं हूँ, सहज हूँ उस ही रूप मानना। मानता है यह जीव, अन्य रूप कैसे मानेगा? जो बात यथार्थ दिख गई उसके विरुद्ध अब यह कैसे मान सकता? मैं अखण्ड चैतन्यपिण्ड हूँ। इसको समझके लिए अनेकों गुण बताये गए हैं, मुझमें ज्ञानगुण, दर्शन गुण, चारित्रगुण और आनन्दगुण आदिक अनन्त गुण है और पर्याय भी यद्यपि प्रति समय एक अखण्ड चलती है, पर समझने के लिए जितने गुणके भेद लिए गए उतने ही गुणकी पर्याय ज्ञानमें आयेंगी। इस आत्माका परिचय द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे होता है। द्रव्यसे तो पिण्डरूप द्रव्य होता। यह अनन्त गुण पर्यायोंका पिण्ड है। क्षेत्रसे आत्माका परिचय क्या होता? जैसा यह देहका आकार है उतने लम्बे चौडे क्षेत्रमें यह आत्मा विस्तृत है। यों देहाकार आत्माका परिचय होता है। यह इस समय किस पर्यायमें है। क्या अवस्था है, उस अवस्थामें परिचय होता है। कालसे क्रोधी है, मानी है, शान्त है, अशान्त है। और भावोंसे परिचय करनेमें दो प्रकार होते हैं—(१) भेदरूप भाव (२) अभेदरूप भाव। भेदरूप भावसे आत्माका यह परिचय मिलता है कि दर्शन आदिक अनन्त गुण आत्मामें हैं, पर अभेदभावसे मैं चैतन्यमात्र हूँ, प्रतिभास मात्र हूँ। एक अखण्ड अवक्तव्य प्रतिभास स्वरूपका बोध होता है। तो अब आप जान गये होंगे कि आत्माका परिचय ५ तरह से होता है। पर उन ५ तरहसे परिचय तो हुआ सबका मगर स्वानुभाव किस परिचयके बाद होता है यह परख करिये।

स्वानुभव प्रकृष्ट साधन अभेदभावसे आत्माका परिचय—पहले यह समझिये कि स्वानुभव

ज्ञानानुभव ये करीब अनर्थान्तर हैं। ज्ञानके अनुभवमें स्वानुभव होता है यहां। तो जब द्रव्यसे जान रहे हैं कि अनन्त गुणों का पिण्ड है। इसमें भूत, वर्तमान, भविष्य अनन्त पर्यायें हैं, तो ऐसा जाननेके समयमें चित्त व्यग्र हो रहा है। परिचय है मगर उसमें भी इसका संक्रमण परिवर्तन जाननेका एक विषय बदल बदलकर चलता जा रहा है। इस स्थितिमें स्वानुभव नहीं होता, मगर ऐसे परिचयके बिना भी स्वानुभव नहीं होता। क्षेत्रसे परिचय पाया। यह आत्मा देह के आकार इतने लम्बे चौड़े प्रदेशोंमें फैला हुआ है, परिचय तो बन गया, और ऐसा परिचय पाये बिना आगे प्रगति भी नहीं होती, मगर उस परिचयके कालमें स्वानुभव नहीं है, क्यों नहीं है कि अनुभव होता है ज्ञानसे और ज्ञानसे ज्ञान ही अनुभवमें आया तो बनेगा स्वानुभव पर यह तो आकार परिचयमें आ रहा है। कालसे परिचय किया। आत्मा अनन्त पर्यायोंको भोग चुका, वर्तमान यह पर्याय है आगे अनन्त पर्याय भोगेगा। कैसी पर्याय चल रही है यह सब ज्ञानमें आ रहा है। सो परिचय करना आवश्यक है, क्योंकि ऐसे परिचय बिना आगे प्रगति न होगी, पर इस परिचयके कालमें उसके विकल्प चल रहे हैं या स्थिर हो गए, अविकल्प हो गए, विकल्प चल रहे हैं, उस कालमें स्वानुभव नहीं हैं जब भेदभावसे देखा—इसमें अनन्त गुण हैं, त्रैकालिक शक्तियां हैं, सोचते जाइये, और ऐसे परिचयके बिना हम स्वानुभावके पात्र न बन सकेंगे फिर भी जब तक शक्तिभेदका चिन्तन बना है उस समयसे स्वानुभव नहीं है। इतने समग्र परिचयके बाद जब अभेद चैतन्यस्वरूप यह ज्ञानमात्र ज्ञानमें ही रहता हैतो चूंकि ज्ञाता ज्ञान हुआ ज्ञेय भी ज्ञान हुआ, ऐसा अभेद हो जाने पर वहां स्वानुभूति प्रकट होती है, इस तरहकी क्रियासे जिसने आत्माका दर्शन किया है वह सम्यग्दृष्टि पुरुष किसी भी वाह्य पदार्थको पाकर घंमड करेगा क्या? उनका घमंड नहीं होता।

ज्ञानीके बलमदका अभाव—एक मद बलका होता है। जो शरीरको बल मिला उस बलका घमंड और सोचता है ज्ञानी कि मेरे बल तो अनन्त है जिसे अनन्त चतुष्टय कहते। इतना सामर्थ्य है, पर वीर्यान्तराय कर्म का नहीं है क्षयोपशम अनेक प्रकृतियोंका उदय है विशेष उसका बल ढक गया, और जब मैं उकेन्द्रिय था दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदिक था तो कितना बलहीन था। लोगोंने कुचला, छीला, पकड़ा, बंधन किया, बलहीन थे। आज कुछ वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम मिलनेसे कुछ बल प्रकट हुआ है। यह बल पराधीन है, यह बल विकृत है यह मेरे स्वभावका बल नहीं है। देह बलसे क्या अपनेको बलवान समझना? अपनेसे अधिक बल तो पाड़ा, झोटा, गधा, घोड़ा वगैरहमें है। देहके बल का घमंड करें तो कम से कम गधेको देखकर तो घमंड चूर कर देना चाहिये। इस मामलेमें तो हमसे बढ़कर गधा है। गधा जितना बल तो नहीं है। तो देहके बल का क्या घमंड करना? हां एक मौका मिला है कि इस मनुष्यपर्यायमें देह बल भी प्रकट हुआ तो इस बल का सदुपयोग करो, दुरुपयोग मत करो। दुरुपयोग क्या है? किसीको पीटना, किसीका नुकसान करना, अन्याय अत्याचार करना, ये सब देहके बलके दुरुपयोग हैं। दुरुपयोग न करें, सदुपयोग करें। देहका बल प्रकट हुआ है तो व्रतमें तपश्चरणमें ध्यान, अध्ययन, स्वाध्यायमें इस बल का प्रयोग करके आत्मीय बलके साथ सन्धि करें। यह है इस बलका सदुपयोग। कितने ही लोग धर्मके नामपर, आजके तत्त्वज्ञानके नामपर व्रत, तपश्चरण आदि से ग्लानि करते, उनमें प्रमाद करते अथवा हो जायगा, होता ही है सहज होगा किसी भी नामपर

यह व्रत, तपश्चरण संयमरहित जीवन बिताया जा रहा है। अरे जहां बल प्रयोगसे दूकानके काम, भारके ढोनेके काम, कितने ही काम लगे रखे हैं, घरके काम, बोझ लादनेके काम, इतने काम लगा रखे हैं, तो इस बलसे अगर थोड़ा व्रत नियमका भी कामकिया जाय तो इसमें कौनसा बुरा हैं? एक बात कही जाती है कि पहले सम्यक्त्व उत्पन्न कर लो, बादमें व्रत करना चाहिए। सो बात तो ठीक है कि सम्यक्त्व के होने पर ही व्रत व्रत नाम पाता है, मगार इसका प्रमाद करनेसे बात क्या हो जाती है कि यह जीवन भर व्रत नहीं किया जा पाता। सम्यक्त्व हो लेने दो, तो इस तरहसे सम्यक्त्व हो ही नहीं पाता किसीके जिन्दगी भर। वास्तवमें सम्यक्त्व जो केवल ज्ञानगोचर है उसकी प्रमादीजन आड़ लेते हैं। इस बलके दुरुपयोगमें ही रहे तो जीवन तो ऐसा गुजर रहा है जैसे पहाड़से गिरती हुई नदी कभी वह ऊपर को नहीं वापिस होती, ऐसे ही जो जीवन गया वह कभी वापिस नहीं होता।

व्रत तपश्चरण आदि द्वारा देहबलका सदुपयोग करनेका अनुरोध—अब मान लो सम्यक्त्व नहीं हुआ और वह व्रत तपश्चरण कर रहा और एक के सम्यक्त्व भी न हो और व्रत तपश्चरणसे ग्लानि कर रहा तो इन दोनो में अपेक्षाकृत बतालाओ कि लाभमें कौन रहा? अज्ञानी दोनों हैं, सम्यक्त्व दोनोंमें नहीं हैं, किन्तु एक के सम्यक्त्व नहीं, और जो बाह्य व्रत हैं, जो कुछ उपयोगको अच्छे कार्योंमें थमाने वाले कार्य है उनसे भी प्रमाद कर रहा, उसकी क्या गति होगी? उत्तम गति न होगी और एक के सम्यक्त्व नहीं हैं फिर भी अपनी वर्तमान बुद्धिके अनुसार कषाय मंद कर रहा, धर्म कार्योंमें लग रहा, समयपर व्रत कर रहा तो उसके कमसे कम उत्तम गति तो होगी। जो प्रथा चली आयी है कि नियम रखना, व्रत रखना, तपश्चरण करना, इसके लिए यह बहाना न करें कि मैं पहले सम्यक्त्वको कर लू कि मेरे सम्यक्त्व हो गया है तब व्रत करुं, ऐसी उसमें प्रतीक्षा नहीं की जाती है। जब भी बुद्धि आये तब शक्तिके अनुसार व्रत, नियम तपश्चरण कीजिए। एक बात सोच सकते हैं कि सम्यक्त्व न होने पर वे व्रत व्रत तो न कहलायेंगे, जिसे पंचम गुणस्थान कहते हैं, न कहलायें, पर इस बलका कुछ सदुपयोग तो किया। यह देहका बल व्यर्थ ही यों जा रहा था प्रमाद करके अथवा संयमसे घृणा करके ऐसी बातें कलाके साथ बोलते कि जिसमें कुछ देहका संयम आदिक भी न करना पड़े और लोगोंमें हम ऊचें धर्मात्मा भी कहलायें।

आत्मलाभका उद्देश्य न होने पर ही अटपट व्यवहार—आजकल जो छूआछूत बढ़ी है जरा जरासी बातोंमें, अगर धोती किवाड़से छू गई तो अशुद्ध हो गई, बदलो आदिक जो एक सीमाको उल्लंघन करके छुवा-छूत बढ़ी है इसका इतिहास अगर खीचें तो क्या मिलेगा? हम तो यह अंदाज कर सके हैं कि पहले समयमें भरत चक्रवर्तीने विप्र वर्णकी स्थापनाकी थी और वे पूज्य थे, सचमुचमें अच्छे थे, व्रती होते थे, ज्ञानी होते थे और उनके द्वारा अन्य सब लोग धर्मका उपदेश सुनते थे। अच्छे आचरणमें लगते थे, किन्तु वे ऐसे बदले कि साधारण गृहस्थोंकी तरह उनमें प्रवृति हो गई, और भी गिरे तो उनके भाव ऐसे आ गये कि मद्य मांस खाने पीनेका भी मौज लेना चाहिए। अब बतलावो, जहां लोकमें इतना आदर है, पूज्यता है वहां ये गंदी चीजें कैसे इस्तेमाल की जायें? एक यह उनके सामने प्रश्न था पर उनकी बुद्धिने इस समस्याका हल कर लिया। कोई धर्मका रूप दे, यज्ञ करो, बकरे होमो, घोड़े होमो

और लोगोको विश्वास करा दे कि यह धर्मका कार्य हो रहा, सो धर्मके नाम पर हम बड़ेके बड़े कहलायेंगे और उसमें आसानीसे मांस मदिरा आदिक सबका लाभ हो जायगा। ठीक है हुआ, पर एक डर उनको बना रहा कि दूषित काम करने से लोग परख तो जायेंगे सब, तो ऊपरी ऊपरी बड़ी शुद्धि बढ़ाली और मानते कि हम बड़े पवित्र हैं। दक्षिण देशमें देखनेमें आया कि किन्हीं-किन्ही लोगोंके यहां चौकेकी बड़ी शुद्धि चलती है मगर चौकेमें भोजन किस चीज का? मांस मच्छीका। तो ऊपरी शुद्धि जितनी अधिक बढ़कर चलेगी उतनी-उतनी पोल ढकेगी पर इससे हितकी बात तो न बनेगी। इससे इस प्रणाली को बदलना होगा। देहमें जब बल मिला है तो प्रमादन करना। जितनी शक्ति हो उसके अनुसार उसे न छुपाकर व्रतमें, तपश्चरणमें जरूर लगाना। आजकल लोगों के चारित्रमें इतनी गिरावट आ गई कि रात्रि भोजन तक का त्याग नहीं करते बन रहा, हां कुछ लोग निभा रहे, पर एक नवयुवक वर्ग अथवा अन्य लोग जिनको उपदेश सुननेको मिलता नहीं, या अन्य प्रकारकी वार्ता मिलती है उनमें कुछ परसेन्ट लोग ही रात्रिभोजनके त्यागी मिलते हैं, कहीं-कहीं तो एक परसेन्ट भी रात्रि भोजनके त्यागी नहीं मिलते। उन्होंने अपनेको अत्यन्त कायर बना डाला है, जरा सा भी कष्ट नहीं सह सकते। अरे क्या है, दिनमें ही एक, दो या तीन बार भोजन कर लो, रात्रि भोजन का त्याग रखो। कहीं ऐसा नहीं है कि दिन ही दिनमें भोजन करें रात्रिमें न करें तो स्वास्थ्यमें फर्क पड़ जायगा। यहां तो लोग जान बूझकर उपवास करना ही नहीं चाहते, पर उपवास करनेसे कहीं स्वास्थ्यमें हानि नहीं होती, बल्कि स्वास्थ्य अच्छा रहता है। आज हम आपको कुछ शारीरिक बल मिला है तो उसका सदुपयोग करना चाहिए। दया करना, व्रत करना, नियम लेना यह है बलका सदुपयोग।

ज्ञानीके ऋद्धिमदका अभाव—एक मद है ऋद्धिमद—गृहस्थोंकी ऋद्धि है धन वैभव मुनिजनोंकी ऋद्धि और प्रकारकी होती है। तो जो धन वैभव पाया गृहस्थोंने उसमें मद आ जाना ऋद्धिमद है। कोई सोचे कि मेरे पास बड़ा धन वैभव है, अनेक लोग मेरे पास याचना करने आते है। बड़े-बड़े तपस्वीजनोंको हम आहार दिया करते हैं, उनका भी मुझसे ही काम चलता है यों कितनी ही बातें सोचकर उस ऐश्वर्यका मद करना यह ऋद्धिमद कहलाता है पर विचारो तो सही कि यह आत्मा कितना है अपने प्रदेशमात्र इसका वैभव क्या है? इसका जो स्वरूप है वही इसका वैभव है जो इसके साथ ही रहेगा, मरने पर भी न छूटेगा, वह हमारा वैभव है और जो छूट जायगा वह सब उधार लिया हुआ वैभव है। मांगा हुआ वैभव है। **जैसे**—यहां किसीसे उधार कोई चीज लेकर बर्तें, पहनें तो वह कुछ समय बाद देना पड़ता है। पहले समयमें विवाह बारातके समय पुरुष भी अनेक गहने मांगकर पहना करते थे गुंज गोप आदिक। तो बताओ जो मागे हुए पहना सो छूटेंगे कि नहीं? छूटेगें तो ऐसे ही पुण्यका मांगा हुआ सह वैभव है, उधार है, यह आपके गांठ की चीज नहीं है, यह भी छूटेगा, उसका क्या मद करना? एक सेठ था वृद्ध और उसके एक लड़का था नाबालिग ४-६ वर्षका। उसके पास करीब १० लाख की जायदाद थी। जब वह गुजरने लगा तो उसने अपनी सारी जायदाद को कोर्ट आफ वार्ट कर दिया याने सरकारके सुपुर्द कर दिया। अब सरकार उस जायदादकी सम्हाल करे और ५००) रुपये महावार सेठ के बालकको गुजारेके लिए देती रहे। उस बालककी सेवा के लिए एक नौकर रख दिया। जब वह

बालक कुछबड़ा हुआ तो सरकारके बड़े गुण गाये, वाह कितना अच्छी है सरकार जो मैं घर बैठे ५००) मासिक देती है, और किसी को तो नहीं देती। उस बालकको यह पता न था कि मेरी १० लाख की जायदाद सरकारने ले रखी है, धीरे-धीरे जब वह बालक १७-१८ साल का हुआ और यह जान लिया कि मेरी १० लाख की जायदाद सरकारने कोर्ट कर रखी है, उसके एवजमें ५००) रुपये महावार गुजारेके लिए दे रही है सो उसने झट सरकारको नोटिस दे दी कि अब मैं बालिग हो चुका हूँ, मुझे नहीं चाहिए ५००) मासिक मुझे मेरी दस लाख की सम्पत्ति दे दी जाय। लो मिल गई उसकी सारी सम्पत्ति तो ऐसे ही अनादि कालसे यह जीव नाबालिग बना चला आ रहा है' नाबालिक मायने अज्ञानी, सो इसका अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान जो वैभव है उसको इस कर्म सरकारने कोर्ट कर रखा है। निमित्त नैमित्तिक भावसे कर्मके विपाककालमें आत्मामें ये प्रकट नहीं हो पाते बदलेमें थोड़ी पुण्य सामग्री दे देता है, जैसे कुछ वैभव मिला, दूकान सम्पदा मिली, ऐसा कुछ योग लगा देता है। तो यह बड़े गुण गाता इस पुण्य सरकारके कि मुझको कितनी सुविधा दी, किन्तु जब यह बालिग हो जाता, ज्ञानी हो जाता तो सोचता है कि ओह मेरा अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द तो इस कर्म सरकारने कोर्ट कर रखा है और कदाचित थोड़ा-थोड़ा वैभव मिला तो मैं उसके गुण गाता हूँ, उस पुण्य सरकार ने हम पर बड़ी करुणा की है, ऐसा परिचय होते ही सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आत्मा अब उस पुण्य वैभवको ठुकरा देता है और अपने भाव व्यक्त करता है, बल प्रकट करता है कि मुझे न चाहिए यह पर वैभव। मेरे को तो मेरा अनन्त जो वैभव है ज्ञान दर्शन आनन्द शक्ति, बस यही चाहिए, सो जब वैभव को ठुकरा दिया अपने ज्ञान द्वारा और अपने में अपने अनन्त वैभवका ध्यान दिया, उसके स्रोतभूत ज्ञानानुभवका सहारा लिया तो इसके प्रतापसे उन कर्मोंकी निर्जरा होती हे, कर्मोंका ध्वंस होता है और इसको अपना अनन्त वैभव प्राप्त हो जाता है।

ऋद्धिमें संतुष्ट न होकर आत्मस्वरूपकी दृष्टिमें संतुष्ट हानेका कर्तव्य—देहमें जो बल मिला है उस बलसे संतुष्ट न होइये, ऐसे ही जो ऋद्धि वैभव मिला है उस वैभवसे संतुष्ट न होइये। एक बात और जानो। लोग कहते हैं कि पुण्य के उदयसे वैभव मिला तो उदयका अर्थ क्या कहलाता? सूर्यका उदय हुआ इसका अर्थ क्या कहलाया कि सूर्य निकला। निकलने का नाम उदय है। पुण्यके उदयसे वैभव मिला इसके मायने है कि पुण्यके निकलनेसे वैभव मिला। उदयमें होता ही यह है कि जो कर्म सत्तामें थे वे अब अलग होने लगे। तो जितना भी सुख मिलता वह पुण्यके निकलने से मिलता है अब पुण्यके निकलने का तांता लगा है, अब यह पुण्य कर्म निकला, अब दूसरा पुण्य कर्म निकला, यों पुण्यके निकलनेका तांता लगा रहता है १०-२० वर्ष तक धन वैभव भी बना रहता है। अब मानलो पुण्य तो निकलता रहे और नया पुण्य न आने दें तो क्या गति होगी? सो यह जानता कि ये सब पुण्य पापके उदयके फल हैं, इनमें मेरा कुछ नहीं है। मैं इनसे उपेक्षा करके अपने आपमें अपना जो अनन्त वैभव है बस उस पर दृष्टि दूं। और वैभव पर भी दृष्टि देनेसे वैभव नहीं मिलता, किन्तु अपनेको अकिञ्चन ज्ञानमात्र अनुभव करनेसे वह समस्त विकास बन जाता है। इसलिए एक ही छोटा सा उपाय है कि जब चाहे आप अपनी ओर दृष्टि करें और अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करें। प्रतिभास, ज्ञान, जानन जिसकी मूर्ति नहीं। अमूर्त ऐसा प्रतिभास मात्र हूँ। इसका अन्य कुछ नहीं है। यह अन्यका कुछ करता

नहीं है, अन्य किसीको भोगता नहीं है। सर्व व्यापार व्यवसाय खुद के खुदमें ही चलते हैं, ऐसा परसे निराला अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करना।

अन्तस्तत्त्वके रुचियाके चित्तमें मदका अनवकाश—जिस जीवने अपने आत्माके सत्तासिद्ध सहज स्वरूपका परिचय पाया उस परिचयके साथ होने वाले आत्मीय आनन्दका अनुभव किया उसको आत्मतत्त्वके सिवाय जगतका अन्य कोई पदार्थ रुचता नहीं, ऐसा पुरुष धन वैभवको पाकर क्या घमंड करेगा? कर्मोदय वश वह न निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो सकता, न निरन्तर आत्मध्यान का प्रयोग कर सकता और रहना उसे पड़ा श्रावक अवस्था में और वहां धन वैभव कमाना रखना भी आवश्यक है तो वहां यह खेद मानता है कि जैसे कीचड़में फंसा हुआ हाथी निकल नहीं पाता ऐसे ही यह मैं इस कीचड़ गृहस्थीमें फंसा हुआ हूं। उद्यम तो निकलने का है, पर स्थिति है ऐसी कि नहीं निकलता, उसका खेद मानता ही रहता है घमंड करने की तो गुंजाइस ही कहां है? ज्ञानी पुरुष अपने इस धन वैभवके समागममें लज्जा महसूस करता है। कहां तो मेरा ज्ञान अनन्त, दर्शन अनन्त, सौख्य अनन्त, पराधीन न हो ऐसे स्वभाव वाला और कहां इस स्वाधीन अविनाशी आत्मीय लक्ष्मी को छोड़कर इस बाहरी पौद्गलिक विभूतिको ग्रहण कर रहा हूं। इसमें वह लज्जा मानता है। तो ऐसे अंतस्तत्त्वका रुचिया ज्ञानी संत श्रावक धन वैभव के बीच रहकर धन, वैभव वैभवमें मद कैसे करेगा? उसे तो यह कलंक दिखता है। ज्ञानी पुरुषको वैभव और ऐश्वर्यका मद नहीं होता। किसी चीजमें घमंड करना यह सम्यग्दर्शनका दोष है। यह दोष बढ़-बढ़कर सम्यक्त्वका भी घात कर डालता है।

ज्ञानी जीवके तपोमदका अभाव—कभी यह जीव तपश्चरण करने लगा। मुनि हुआ तो उसे तपका मद नहीं होता। कैसी उस ज्ञानीकी अन्तः धुन है केवल सहज चैतन्यको प्रकट करनेकी उसकी दृष्टि ऐसी बनी रहती कि उस पर्यायमें तपश्चरण करता हुआ साधु तपमें मद नहीं करता। तीन तत्त्व होते हैं (१) पाप (२) पुण्य और (३) धर्म पाप तो खोटा परिणाम है, अशुभगतिमें ले जाने वाला है। अत्यन्त हेय है, पर पुण्यभाव हेय है, उसे अत्यन्त हेय नहीं कहा गया। प्रवचनसारमें श्री अमृतचन्द्र सूरिने इन तीन के सम्बंधमें यों विशेषण दिया अत्यन्तहेय अशुभभाव, हेय शुभ भाव, और अत्यन्त उपादेय शुद्ध भाव तो बीचका जो पुण्य भाव है, शुभ भाव है और आप सिद्ध होता है कि किसी अवस्थामें पूज्य है, किसी अवस्थामें हेय है पर उसे अत्यन्त हेय शब्दसे नहीं कहा गया। उससे हमें क्या शिक्षा मिलती है कि भाई पुण्यभावके द्वारा पापको विलीन करना, दूर करना और पुण्यभावसे सुरक्षित रहकर फिर अपने उस शुद्ध भावको प्रकट करते हुए पुण्यसे भी अतिक्रान्त होकर अपने स्वरूपमें रमना, इसे यों कहो कि जैसे कोई योद्धा युद्धमें लड़ने जाता है तो अपने साथ दो चीजें रखता है ढाल और तलवार, ढाल तो शत्रुका वार रोकने का काम करता है और तलवार शत्रुका संहार करने का काम करता है, ढाल और तलवार दोनोंके बिना योद्धा युद्धमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। उसी प्रकार से पुण्य भाव रूपी ढाल से पाप के आक्रमणका वार रोककर सुरक्षित होकर फिर शुद्धभावरूपी शस्त्रसे कर्म शत्रुका छेंदन करना, इस तरह की प्रक्रियामें जो चलता है वह सफल हो जाता है तो तपश्चरण व्रत संयम आदिक जो कुछ भी क्रियायें की जाती हैं, मन, वचन, काय तो अभी हैं ही, वे किसी न किसी ढगमें

लगेंगे, तो किस ढंगमें लगना वह सब संयममें बताया है, उस संयमके द्वारा अपने आपको सुरक्षित करते हैं ज्ञानीजन और उस सुरक्षित दशामें भीतर शुद्ध दृष्टि करके विकारको मूल से खत्म कर देते हैं।

ज्ञानीके तपश्चरणका प्रयोजन—ज्ञानीजन क्यों तपश्चरण करते हैं इसे बताया है समाधि तंत्रमें कि आराम-आराममें पाया हुआ ज्ञान कोई दुःख की परिस्थिति होने पर नष्ट हो जाता है। इस कारण मुनिजनों को अपनी शक्तिमाफिक दुःखसे अपने को जोड़ना चाहिए। दुःख मायने तपश्चरण आदिक, अनशन आदिकार्य उससे एक तो आत्मामें विशुद्धि जगती, दूसरे—कदाचित उदयवश एक दो दिन भोजन न मिल सका तो ऐसी अवस्था में वह धीरता रखना सीखगया, क्योंकि उपवास करनेकी उसने आदत बना लिया। तो वहां बताया गया कि तपश्चरण आदिकसे अवश्य ही अपनेको युक्त करना चाहिए और भी बात देखिये आज मन श्रेष्ठ मिला है, देह में बल भी है तो इस बलको इस देहको हम व्रत तप संयममें न लगाकर विषयोंमें, गप्पोंमें, कलहोंमें ऐसे ही अपने माने हुए आराममें ही लगायें तो उसे विवेक नहीं कहा जा सकता। वह तो पापकी ओर ही गया है इस कारण इस देहको तपश्चरणसे युक्त करना चाहिए, तो ज्ञानको शुद्ध बनाना चाहिए। तो तप करते हुए उनके मद नहीं होता कि मैंने ऐसा तप किया। किसी दूसरे का एहसान लादनेके लिए व्रत तप हैं क्या? थोड़ा सा भी व्रत तप करने वालोंको आजकल प्रायः करके जरा-जरासी बातमें गुस्सा आता है, उसका कारण क्या है कि वे कुछ व्रत तप करके ऐसा समझते हैं कि मैं इन लोगों पर एहसान लाद रहा हूँ। अरे एहसान क्या किया? संसारके दुःखोंको देखो अपने दुःखों को दूर करनेके लिए धर्म दृष्टिका प्रयास किया जा रहा है। ज्ञानीको तपश्चरण पर मद नहीं होता, अन्य तपस्वियों को देखकर अंतरंगमें प्रमोदभाव होता है, क्योंकि उनके चित्तमें है कि विषयोंसे हटकर तपश्चरणमें लगते हुए अपनेको सुरक्षित करके भीतरमें ज्ञान साधना की जा रही है, उसको देखकर वह पुरुष अपनेमें प्रमुदित होता है। ज्ञानी पुरुष को तपश्चरणका कभी घंमड नहीं होता।

ज्ञानीके रूपमदका अभाव—एक मद है रूपका मद, सुन्दरताका मद, ज्ञानी विचारता है कि मेरा स्वरूप मेरा स्वरूप तो चैतन्यमात्र है। उसमें यह शारीरिक सुन्दरता और रूपका वहां कोई सम्बंध नहीं है। मैं चैतन्यमात्र हूँ और कर्मकलंकके कारण यह शरीरका सम्बंध जुड़ा है सो यह तो उसके साथ कलंक लगा है। अब यह शरीर किन्हीं मोही जनोंके लिए सुन्दर रूप वाला जचें तो उनकी भावना है, उनकी ऐसी कल्पना है। किन्तु यह शरीर तो अपवित्र है सुन्दरताका क्या अर्थ? एक बात और जानो। कोई पुरुष या महिला शरीरमें कितना ही सुन्दर हो, गौरवर्णका हो, छवि हो कुछ भी हो लेकिन वह कषायमें रहा करे, घमंड बगराये जब चाहे इतराये, दूसरोंको धोखा दे लालच बढ़ा हो तो उसमें सुन्दरता न झलकेगी और कोई पुरुष चाहे रूपवान नहीं है मगर गम्भीर है, धीर है, एक मजबूत लक्ष्यकी पकड़ वाला है, धर्मदृष्टिका है, लोगोंके उपकारमें रहता है तो उसके चेहरे पर सुन्दरता झलकेगी, मनोज्ञ होगा, सबको प्रिय होगा। तो शरीरकी सुन्दरता का भी आधार रहा आत्माका भाव। जब वीतराग हो जाता है तो यह शरीर स्फटिक मणिके समान सुन्दर हो जाता है। भला बताओ कौन करने आया इस शरीरको निर्मल? उस वीतरागके भावोंने शरीरको निर्मल बनाया। १२वें गुणस्थानमें शरीरमें रहने वाले निगोदिया

जीव मरते हैं, १२वें गुणस्थानके अन्तमें शरीर निगोदिया रहित हो जाता है। १३वें गुणस्थानमें प्रवेश है वहां स्फटिकमणिकी तरह शरीर हो जाता है। कहते हैं कि अरहंत भगवानके शरीरकी छाया नहीं पड़ती। आप तो स्फटिकमणिकी मूर्ति हो उसे भी रखकर देख लो, उसकी छाया न पड़ेगी अच्छा उसे जाने दो, कोई कांचकी मूर्ति रख लीजिए, उसकी भी छाया न पड़ेगी। तो स्फटिक मणिकी तरह शुद्ध होना, शरीरकी छाया आदिकका न होना, ये बाहरी अतिशय भी अंतरंग अतिशयपर आधारित होते हैं। शरीरका मद, रूपका मद ज्ञानीके नहीं होता, यह कहा जा रहा है।

शरीररूपकी विनश्वरता व अविचारितरम्यता—क्या है रूप? क्षण-क्षणमें यह रूप विनश्वर है, सनत्कुमार चक्रीकी ही तो कथा है, उनका कामदेव जैसा रूप था, जिनकी सुन्दरताकी चर्चा स्वर्गोंमें भी चल उठी। जैसे यहां सभायें लगती हैं। कोई वक्ता बैठता है, श्रोता सुनते हैं स्वर्गोंमें भी यही सभायें रहती हैं। यहां तो लोगों को समय कम मिलता है, दुकान है काम धंधा है, वहां तो सब देव खाली रहते हैं उन्हें रोजगार करना नहीं पड़ता, खाने-पीनेका आरम्भ नहीं करना पड़ता। हजारों वर्षोंमें भूख लगती तो वहीं कंठसे अमृतझर जाता, तो उन देवोंकी सभा लगी हुई थी, वहां चर्चा आयी सनत् कुमार चक्रीके रूपकी तो उसे सुनकर एक देवके मनमें आया कि चलकर देखना चाहिए कि कैसा रूपवान है वह चक्री। तो तब वह देव पहुंचा देखने के लिए तो उस समय सनत्कुमार खाली लंगोट पहने हुए व्यायाम कसरत करके अखाड़े की धूलसे लथपथ शरीर होकर स्नान करनेके लिए कुंवेपर बैठे थे। उस समय उनकी छवि निराली थी। उस छवि को देखकर देवने कहा सचमुच सनत्कुमार चक्रीका रूप वैसा ही सुन्दर है जैसा कि स्वर्गोंमें सुना था। तो वहां उपस्थित कुछ लोग बोले अरे इस समय इनमें सुन्दरता कहां? जब नहा-धोकर राजसी वस्त्र पहिनकर सिंहासन पर बैठे होंगे उस समय इनका रूप देखना। आखिर देवको कौतूहल हुआ और जब सनत्कुमार चक्री राजसी वस्त्र धारणकर सिंहासन पर बैठे हुए थे उस समय फिर वह देव उन्हें देखने गया तो वहां देख कर माथा धुनने लगा और कहने लगा—अरे अब तो वह सुन्दरता नहीं रही जो पहले देखा था। तो लोग बोले—अरे यह क्या कह रहे? कैसे नहीं है वह सुन्दरता? तो देवने उनसे कहा पहले एक घड़ा पानी मंगावो और एक पतली सींक लावो तब हम इस बात को समझायेंगे। आखिर आगया एक घड़ा पानी और एक पतली सींक। देवने घड़ेमें सींक डाला और उससे एक दो बूंद पानी निकालकर बाहर डाल दिया और उनसे पूछा बताओ इस घड़ेमें से एक दो बूंद पानी निकल जानेपर घड़ेका पानी कुछ कम हुआ कि नहीं? तो सभी बोले-हाँ कम हुआ। तो फिर देव बोला—बस ऐसे ही रूप सौन्दर्य की बात हैं। यह शरीर क्षण प्रतिक्षण क्षीण होता जा रहा है, इसका रूप सौन्दर्य क्षण प्रतिक्षण कम होता जा रहा है। इस शरीरके रूप सौन्दर्यपर क्या घमंड करना। तो इस रूप सौन्दर्य का घमंड अज्ञानीजन ही किया करते हैं क्योंकि उन्होंने समझा कि यह शरीर मैं हूँ और मैं बड़ा सुन्दर हूँ। अरे इस हड्डी, चाम, मज्जा वाले शरीरको मैं मान रहा यह अज्ञानीजीव। उसे यह पता ही नहीं कि मेरे आत्मा का स्वरूप कैसा है। मेरा स्वरूप तो अतुल, अचिन्त्य ज्ञानानन्द वैभव वाला है, सबसे निराला ज्ञानमात्र है, जिसकी दृष्टि बननेपर संकट सब दूर हो जाते हैं।

आत्मस्वरूपका महत्त्व न आकंनेवाले पुरुषोंकी दुर्दशा—अहो, कहां तो यह मैं दर्शन

एक क्षण आत्माको रखना तो चाहिए। आखिर दिनभर श्रम करके थका हुआ मजदूर भी तो कुछ हाथ-पैर ढीले-ढाले करके जमीनमें लेटकर कुछ विश्राम कर लेता है, अपनी थकान दूर कर लेता है। तो विकल्पों की भारी थकान दूर करनेके लिए कुछ विश्राम तो लीजिए। वह विश्राम मिलेगा अपने आत्मस्वरूपके मननमें।

यदि पापनिरोधोऽन्यसंपदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसंपदा किं प्रयोजनम्॥ २७॥

मिथ्याभाव हटनेपर पापनिरोधकी सम्पत्तिकी प्राप्ति—यदि पापका निरोध हो गया है, पापभाव रुक चुका है, नहीं होता है तो अन्य सम्पत्तिसे क्या प्रयोजन है? मायने जरूरत ही क्या रही, वह तो स्वयं शान्त हो गया, स्वयं आनन्दमें आ गया और यदि पापका आश्रव चल रहा है तो अन्य सम्पत्तिसे क्या प्रयोजन है। पापभाव किये जा रहे हैं, उसका फल तो बड़ा विकट मिलेगा, और वर्तमानमें आकुलता ही चल रही है, उसे सम्पत्ति क्या लाभ दे सकती है? मुख्य बात यह ध्यानमें रखना कि मेरे पापका निरोध हो जाय, पापभाव मेरेमें मत हो, पापभावमें पहला तो है मिथ्यात्व, फिर लगावो हिंसा झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह, उन सबकी जड़ मिथ्याभाव है। जिसके मिथ्याभाव है उसके पापका आश्रव हुआ ही करेगा। मिथ्याभावके मायने क्या? जो मैं नहीं हूँ उसको मानना कि यह मैं हूँ पहली गल्ती यह है शरीर मैं नहीं हूँ और शरीर को निरखकर माने कि यह मैं हूँ यद्यपि आजकी पर्याय यह विभाव पर्याय है यह असमानजातीय द्रव्य व्यञ्जनर्याय है। यहां जीवको अलग धर दें शरीर को अलग धर दें ऐसा नहीं बनता। यहां ही सब संयुक्त हो रहा है फिर भी ज्ञानकलामें वह माहात्म्य है कि ऐसी मिली हुई हालतमें भी हम ज्ञानबलसे ज्ञानमात्र स्वरूपके मनने द्वारा हम आत्मतत्त्वका लक्षण भिन्न पहिचान सकते हैं, और देह अचेतन है, प्रकट है, तो देहमें आत्मबुद्धि होनेको मिथ्यात्व कहते हैं। जहां देहमें आत्मबुद्धि हो वहां परके देहोंमें भी ये परभावें ऐसी आत्मबुद्धि हुआ करती है और इन दोनों गल्तियोंके आधारपर नाते रिस्ते, शत्रु मित्र आदिक सारे व्यवहार चल उठते हैं। तो इस मिथ्याभावके कारण होता क्या है? जब शरीर को माना कि यह मैं हूँ तो शरीरये है पंञ्चेन्द्रिय आदिक। इन इन्द्रियों द्वारा होता है विषयों का ज्ञान तो यह विषयोंके भोगनेमें और विषयभोगके साधनोंमे एकदम जुटता है। और यह मानता है कि यही तो मेरा काम है। इस ही में तो मेरी महिमा है। इस ही से मेरा बड़प्पन है, बस बड़ी कठिनाईसे पाया था मनुष्यभव, और जैन शासनका मिलना तो बड़े ऊंचे पुण्योदयकी बात थी मगर वह सब बेकार कर दिया एक मिथ्याभावके कारण। सो पहले यह मनन बनायें कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, देह स्वरूप नहीं हूँ जब इस ज्ञानकी भावना बढ़ेगी तब परिपूर्ण एक निर्णय बन जावेगा कि मैं तो वह हूँ जिसे दूसरा कोई नहीं लखता। उस अमूर्त ज्ञानमात्र मुझ आत्माका दुनियामें क्या रखा है?

दृश्यमान जगतकी मायारूपता व अविश्वास्यता—यह दिखने वाला सारा जगत मायाजाल है। माया-माया तो हर एक कोई कहता, पर मायाका वास्तविक लक्षण क्या है, इसका उन्हें पता नहीं। अनेक द्रव्योंके संयोगसे बना हुआ ढांचा माया है। जो कुछ दिख रहा वह सब अनेक द्रव्योंके संयोगसे

बना हुआ ढांचा है, यह सब माया है, हम आप भी जो देख रहे वह सब भी माया है। यह भी जीव शरीर और कर्म इन तीन चीजोंके संयोग से बना हुआ ढांचा है। इस मायाका क्या विश्वास करना और मायाजालके लिए क्यों कमर कसना? मैं ऐसा ही करुंगा, ऐसी ही मिथ्या हठ न करना, अपने आपके स्वरूपकी चर्चा करिये अपने आपके स्वरूपकी ओर आइये तो अल्प प्रयास भी बने तो वहां भी कुछ शान्तिका अनुभव होता है। और भावना दृढ बने, अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि बने तो उसको विशेष शान्ति मिलेगी। बाह्य पदार्थोंमें दृष्टि बांधकर सुख शान्ति नहीं मिलती। एक बात यहां यह समझना कि जिन चीजोंसे हमें हटना है वे चीजें है क्या? इसका ब्योरा जाने बिना उनसे हटना कठिन होता है। मुझे क्या हटाना है? विकार रागद्वेषादिक जो भाव चलते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ भाव बनते हैं। अभिलाषा, इच्छा, प्रतीक्षाके भाव बनते हैं, इन विकारोंसे हमें हटना है। बात तो यह है सीधी। तो पहले यह तो समझें कि ये विकार बनते किस तरह हैं? और ये विकार बनते किसमें हैं? मुझ जीवमें बन रहे हैं। तो कोई भी पदार्थ हो, यदि अकेला है, एक है तो उसमें कभी विकार नहीं जगते। आप दुनियाके उदाहरण ले लो बहुत से। यदि किसी वस्तुमें विकार जगा तो समझिये कि उसके साथ कोई प्रतिकूल संयोग है, उसका निमित्त पाकर विकार जगा है। मेरे स्वभावमें विकार नहीं है, अर्थात् मैं विकार करनेका स्वभाव रखता हूँ ऐसी बात नहीं है। जैसे कि मैं जाननेका स्वभाव रखता हूँ, विकारका स्वभाव नहीं रखता और इस तरह भी समझ सकते कि ये विकार अस्थिर होते हैं, मिटते हैं, विषम हैं, स्वभाव तो ऐसा नहीं होता। मिटेगा, विषम होगा यह स्वभावका लक्षण नहीं हैं। क्रोध आया, मिटा, मान आया-मिटा, माया आया-मिटा, लोभ आया-मिटा, यों कितने ही विकार आते और मिटते, मगर ज्ञान सदा साथ चलता है। ज्ञानस्वभावकी बात तो और भी स्वभावरूपसे शाश्वत मालूम पड़ेगी।

जीवमें विकार जगनेके कारणोंका दिग्दर्शन—यहां तीन कारण समझिये- जो हम आपमें ये विकार जगते हैं। जिनमें खोटी प्रवृत्ति बन रही है वहां तीन कारण है। प्रथम तो उपादान कारण, जिसमें विकार परिणाम बना वह है यह जीव, दूसरा निमित्त कारण वह है उस प्रकृति का उदय और जगतके जितने ये पदार्थ है इन्हें निमित्त कहते तो हैं पर ये निमित्त कारण नहीं कहलाते, ये कहलाते है आश्रयभूत कारण। स्पष्ट ज्ञानके लिए ये शब्द रखो। आश्रभूत कारणके प्रति व्यवहार जरूर है निमित्त कहनेका, पर उनमें यदि भेद न समझा तो इस निमित्त कारणका उदाहरण देकर कि वेश्याको देखा मुनिमहाराजने और उनके विकारके भाव न जगे तो निमित्त कुछ तो न रहा। वह तो आश्रयभूत कारण है। निमित्तकारण तो मुनिमहाराजका उन कषायोंका क्षयोपशम है जिसके अनुसार उनके वैराग्यरूप भाव हुए। और वेश्याको निरखकर इसने व्यर्थ ही जीवन खोया, ऐसा भाव बन सकता है पर कामके भाव नहीं बन सकते। और कामी पुरुष देखता है तो उसको काम के भाव बनते हैं। तो वहां पर वेश्या आश्रय भूत है और निमित्त कारण उसके वेद आदिकका तीव्र उदय है। तो निमित्तमें और आश्रयभूत कारणमें अन्तर जानना। निमित्त कारण केवल कर्मप्रकृतिका उदय चलेगा विकारमें और आश्रय भूत कारण दुनिया भरके ये सारे विषय साधन हैं। तो जीव जब आश्रय भूत कारण पर दृष्टि गड़ाकर उन्हें अपनाकर उनका आश्रय लेकर विकार करता है वहां तो तीन कारण आ गये ना, सो वे व्यक्त विकार हैं और कभी ऐसा

होता है तो आश्रयभूत कारणका आलम्बन नहीं ले रहा। मानलो मंदिरमें बैठे पूजा कर रहे, जाप कर रहे, सामायिक कर रहे, स्वाध्याय कर रहे तोउस समय उन कषायों का उदय तो नहीं चल रहा। मगर सत्ता में बैठे हैं। हमारा उपयोग उन कषायके आश्रय भूत कारणोंमें नहीं हैं इसलिए वे अवयक्त होकर चले आ रहे हैं, पर फल जरूर मिलता है। तो तीन कारणोंकी बात जाने।

विकार मेटनेके लिए चरणानुयोगकी विधिसे आत्मनियन्त्रणकी उपयोगिता—आप विकार मिटानेके लिए क्या रचेंगे? तो चरणानुयोगके अनुसार आप यह उपाय रचेंगे कि इन आश्रयभूत कारणोंको हटावो। यद्यपि इन आश्रयभूत कारणोंको त्यागने पर भी यह नियम नहीं है कि भीतरकी कषाय दूर हो जाय, किन्तु जब तक बहुत समय तक नहीं रहते सामने, त्याग दिये जायें किसी भी प्रकारसे तो रही सही कषायोंमें फर्क आ जाता है एक बात, दूसरी बात-जिसके वैराग्य जगा है वह कैसे यह कर सकेगा कि इन विषयभोगके साधनोंको पकड़े रहे? यह न बन पायगा, वह त्याग देता है। तो आश्रयभूत कारणोंका त्याग करनेकी मुख्यता चरणानुयोगमें सब वर्णन है। किस-किस प्रकारसे व्रत करना, त्याग करना, कैसे-कैसे प्रतिभावोंमें बढ़ना। अच्छा तो इतने ही मात्रसे अभी मार्ग कल्याणका नहीं बना। वह सहायक रहा, पर उसके लिए क्या करना कि अविकार तो आत्मस्वरूप है उस स्वरूपके ध्यानमें अधिक रहना, जिसके प्रतापसे इन विकारोंमें अन्तर होगा, कर्मका क्षयोपशम भी होगा, पर इन बाह्य प्रसंगोंको त्यागकर अपनेको एक मात्र बनाकर, सुरक्षित रखकर अन्दरमें एक ज्ञानस्वभावकी उपासना करें और ऐसा भाव बने कि यह मैं आत्मा एक चैतन्यमात्र हूँ। स्वरूप दृष्टि करके भीतरमें स्वभावकी भावना बने, बढ़े वह है हमारा पौरुष, जिसके बलसे हम मोक्षमार्गमें आगे बढ़ते हैं। ऐसी बात जानकर ऐसा निर्णय करें कि मेरेमें जो विकार जगते हैं सो वे विकार क्या चीज हैं कि कर्मोंमें अनुभाग पड़ा है। उस कर्म प्रकृतिका उदय आया है, उसका प्रतिफलन आत्मउपयोगमें आया है और इसने अपनी सुध भूलकर उस आक्रमणके समयमें उस प्रतिफलनको अपनाया है और तब यह मैं क्रोधी हूँ, मानी हूँ, मायावी हूँ, लोभी हूँ, ऐसा भीतरमें अनुभव करता है। भेद विज्ञान करना किसी स्वभावमें और विभावमें, रुचि करना, भेद विज्ञान करना। ये धन वैभव मकान आदिक मैं नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं, ये प्रकट भिन्न हैं, जुदे क्षेत्रमें पड़े हैं, सब स्पष्ट मालूम होता है। हां मोही जीव ऐसे स्पष्ट भिन्न पदार्थोंमें भी लगाव रखते हैं कि ये मेरे हैं, इनसे ही मेरी महिमा है। उनके सम्पर्कमें रहकर अपने आपमें शानका अनुभव करता है, पर विवेक करना ही होगा। अनन्त भव प्राप्त किए विवेक बिना अनन्तभव गुजारा और अब तक जन्ममरण करते आये। यह सब भी उसी पुरानी पद्धतिमें बिता दिया तो इस-इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर क्या लाभ पाया? मान लो यहां से मरकर कुत्ता, बिल्ली, गधा, सूकर मुर्गा-मुर्गी आदि बन गए या कीट पतिंगा बन गए तो फिर आगे उठनेका मौका कैसे मिल पायगा? तो इस जीवनको भोग साधनोंमें बितानेसे कुछ हित नहीं है।

भोगसाधनप्रसंगोकी दुःखरूपता—ये भोग साधन साक्षात् दुःखरूप हैं। कोई सा भी भोग साधनका प्रसंग ले लीजिए, वहाँ शान्ति न मिलेगी। किसी भी भोगविषयके प्रसंगमें शान्ति नहीं है, हाँ सुख लिए हुए हैं। शान्ति और सुखमें अन्तर है। शब्दके अनुसार देखिये—ख मायने इन्द्रिय और सु

मायने सुहावना लगना, जो बात इन्द्रियको सुहाये वह है सुख और शान्ति मायने शमन। किसी भी प्रकारके कषायका क्षोभ जहां उदयमें नहीं है ऐसी स्थितिको कहते हैं शान्ति। तो जैसे दुख हेय है ऐसे ही सुख भी हेय है, यह बात जब तक ध्यानमें न आये तब तक इस चलती आ रही चक्र प्रवृतियोंमें अन्तर नहीं आ सकता। हम पाप हिंसा आदिक करते हैं तो मिथ्यात्वसे अज्ञानवश होकर करते हैं और उनमें प्रयोजन बनता है विषय भोगोंमें। अंदाज बनाओ—स्पर्शन इन्द्रिय के विषयोंको अनेक बार भोगा, संचय किया उस समय वहां सुख माना पर आज इस समय इतनी उम्र होनेपर भी आपके पास सुख जुड़ पाया है क्या? अरे जुड़नेकी बात तो दूर रही, उल्टे तृष्णा बढ़ गई ज्ञान बल खत्म हो गया। मनोबल,वचनबल, कायबल भी न रहा उल्टे हानि पायी, अच्छा रसना इन्द्रियके विषय सेवनमें बताओ खूब स्वादके लम्पटी होकर, सुख माना वह सुख कुछ अब तक जुड़ सका क्या? विषयोंके भोगनेमें विषयोंका बल घटता है। जैसे कि कामसेवनमें शरीरका बल जो एक मूल धातु है उसके बरबाद होनेमें ही सुख मानते हैं शारीरिक शक्ति खतम होती, मनोबल भी बिगड़ता, वचनबल भी बिगड़ता और उनमें मान रहा है यह जीव सुख। बरबादीमें सुख मान रहा है मूल बात है संसारी जीवकी यह हालत है और ऐसा अज्ञान छाया है कि उससे हटना नहीं चाहते। घ्राणेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय आदिक सभी की यह बात है। खूब सुगंधमें रमते जा रहे हैं पर इतने जीवनमें कितना सुगंधका सुख जोड़ लिया सो तो बताओ? रूपको देखकर आँखोंको कमजोर किया। सिनेमा देखकर रात-रात जागकर समय गंवाया अर्थात् मानसिक बल खोया, कौन सा लाभ मिला? राग रागनीके शब्द, यश प्रतिष्ठाके शद खूब सुन-सुन कर कौन सी बड़ी विभूति प्राप्त करली?

विषयोंमें रमणकर दुर्लभ नरजन्मको निरर्थक करने की दुश्चेष्टा—अहो ज्ञानमात्र आत्मन्! कुछ अपने आप पर करुणा करके विचार तो करो कि इन बाह्यइन्द्रियोंके साधनोंमें रमकर कौन सी अपनी उन्नति करते हो? कोई किसी का मददगार नहीं है। जो मोह और विश्वास लगाया है कि यह मेरा लड़का है इसको इतना ऊँचा बनाना है, यह मुझे आनन्द देगा, मेरे बुढ़ापेमें यह मेरा मददगार होगा ...। अरे आपका पुण्योदय है तो लड़के नहीं तो पड़ोसी मददगार बन जायेंगे या अन्य धर्मात्मा लोग मददगार बन जायेंगे, मगर उसमें कारण आपका पुण्य है। देखिये—पाप का उदय और पापभाव, इन दोनोंमें बहुत अन्तर है। पापका उदय इस जीवका बिगाड़ न करेगा मगर पापभावमें रहना यह जीवका बिगाड़ करेगा। बड़े-बड़े महापुरुष सुकुमाल सुकौशल आदि हुए जिनको गीदड़ीने चीथा, आगसे जलाये गए, शरीरको चाकूसे छीला गया, यों बड़े-बड़े कष्ट उन महापुरुषोंपर आये पर उस समय उनके पापभाव न था, पापकर्मका उदय था। पापभाव होनेके कारण पापके उदयकी स्थितिमें उनके विकासमें रंच भी बाधा न हुई। इसी तरह पुण्योदय और पुण्य इन दोनोंमें अन्तर है। पुण्योदय होनेपर भी कोई पुण्यात्मा रहे यह नियम तो नहीं। किसीके पास बड़ाठाट बाट है मगर वह मांसभक्षी है, शराबखोर है, पापी है, अन्यायी, दुराचारी है। तो देखिये—है तो वह पापात्मा मगर उसके पुण्यका उदय चल रहा है। तो यह ध्यानमें रखें कि जो भी स्थिति आयेगी उसीमें अपना गुजारा कर लूंगा, पर मैं अपने ज्ञानके बलसे सर्वत्र मार्ग निकालूंगा। अपने आपके सम्मुख होकर शान्ति पाऊंगा, ऐसी मेरे अन्दर कला है। उसका

प्रयोग मैं कर लूंगा। बाह्य पदार्थों पर मेरा कुछ अधिकार नहीं है, ये होते हैं पुण्य पापके उदयके अनुसार सो जैसा होता हो हो, बाह्यमें अपना उपयोग अधिक नहीं फंसाना है। हां गृहस्थीमें रह रहे तो कर्तव्य है दुकान धंधा काम काज आदिक करना, वहां तो लाभ हानिकी बातें चलती हैं मगर अपनी ज्ञानकलाको जागृत करें मैं सर्वत्रसही ढंगसे गुजारा कर सकता हूँ। उस पर विश्वास रखें, बाह्य भोग साधन भोगें, इन विषय प्रसंगोंमें प्रवृति न रखें, यह ही अपने आत्माकी दया है, अन्यथा जैसे अनेक जीवन खोये वैसे ही यह जीवन भी खो दिया जायगा तो यह भी उन्हीं अनन्त भवों में शामिल हो जायगा। एक एक करके जुड़-जुड़ कर तो अनन्त भव अब तक पाये और अनन्तकाल हैं तो हम किसी न किसी दशामें रहेंगे ही।

सहज निजस्वरूपके आश्रयसे ही शान्तिका लाभ—अब आप यह बताओ कि आप किस दशामें रहना चाहते? अगर शान्ति चाहिये तो शान्ति मिलती है। केवल स्व आत्माके आश्रयमें, पर पदार्थ के आश्रय में शान्ति नहीं मिलती और सिद्ध भगवान भी क्या हैं? केवल आत्मा ही आत्मा रह गए, शरीर और कर्मका वियोग हो गया, वही सिद्ध भगवान हैं जिनकी हम आराधना करते हैं। तो यह स्थिति यदि पाना है तो अभी भी अपनेमें अपने केवल स्वरूपको निरखिये कि मैं क्या हूँ कोई पिण्ड रूप मैं नहीं हूँ जो किसीके द्वारा कहींसे कहीं उठाया धरा जा सकूं। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। मेरे ये समस्त प्रदेश ज्ञानमय हैं। इसे बनाया किसने? स्वयं सत् हैं, पर अपने स्वरूप को भूलनेके कारण, परस्वरूपको अपनानेके कारण इस स्वयंका ज्ञान नहीं। यह विकार स्वयं नहीं हुआ, कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ। अगर यह बात स्वयं हुई होती निमित्तके बिना तो यह फिर कभी मिट ही नहीं सकता। जो बात निमित्तोदयक्षयोपशमादि बिना एक ही पदार्थके उस केवलसे ही बन रहा वह चीज कभी मिटती नहीं। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, सिद्ध भगवान उदाहरणमें देख लीजिए—जो केवल रह गया उसके परिणाम विकाररूप नहीं बनते। तो ये मुझमें जो विकार हैं तो ये भी नैमित्तिक हैं। ये भी परभाव हैं, ये मेरे नहीं हैं। निमित्तका परिचय करना निमित्त और नैमित्तिकसे हटनेके लिए होता है। कहीं उस निमित्त नैमित्तिकको सोचकर चर्चा करना उन पर बंधनेके लिए नहीं होता किन्तु निमित्तसे भी हटनेके लिए होता है। कैसे हटना? यह जानकर कि ये मेरे स्वभावभूत नहीं हैं, किन्तु परका निमित्त पाकर हुए हैं। परभाव हैं, ये मेरी वस्तु नहीं। खूब स्पष्ट जानते हैं लोग कि दर्पण में बाहरी पदार्थोंकी फोटो फोटो आती है। सब कोई समझते हैं कि ये द्रव्य स्वभावसे ही दर्पण में प्रतिबिम्बरूपसे दर्पण आने पर नहीं बने, वह तो दर्पणमें इस प्रकारकी योग्यता होती है कि उन वस्तुओंका प्रतिबिम्ब दर्पणमें आ जाता। वह प्रतिबिम्ब बाह्य पदार्थोंकी परिणति नहीं है किन्तु दर्पणकी उस रूप परिणति है क्योंकि बाह्यपदार्थ तो ज्योंका त्यों बाहर पड़े हैं, पर निमित्त नैमित्तिक भाव हैं ऐसा कि बाह्यपदार्थोंका सन्निधान पाकर दर्पण उनरूप परिणम गया। सब लोग जानते हैं और ऐसा बोलते भी हैं कि बाह्यपदार्थोंकी वह प्रतिबिम्बरूप परिणति नहीं है किन्तु दर्पणकी है तो ऐसे ही हमारे आत्माके उपयोगमें ये कर्मोदय का सन्निधान पाकर विकार बने हैं। ये विकार मेरे स्वभावके निकले हुए नहीं हैं। मेरा परिणमन होने पर भी स्वभावसे हुए

नहीं इसलिए उनकी उपेक्षा की जा सकती है। और अपने जाननमात्र ज्ञानस्वरूप स्वभावकी भावना बनाकर उनसे हटकर यहां लगा जा सकता है। यह ही तो पौरुष करना है।

अपनेको पर व परभावोंसे विविक्त परखनेका मुख्य कर्तव्य—अपनेको धन वैभव आदिकसे निराला, शरीरसे निराला, कर्मोंसे निराला और कर्मोदयजनित विकार से निराला ज्ञानमात्र स्वरूपमें निरखनेका अभ्यास करना चाहिये। यह ही अभ्यास जैसा हमारा सुदृढ़ होगा वैसा हम अंतस्तत्त्वके ध्यानमें बढ़ सकेंगे और व्यर्थका जो ये जंजाल है यह सब छूट जायगा। इसके लगावमें लाभ क्या मिलेगा? यह जीव अकेला ही मरकर जायगा। जैसे पापभाव किया है, जैसा बंध किया है वैसे कर्म भी इसके साथ जायेंगे। और वहां यह जीव वैसा फल पायगा। तो हम अनेक उपायोंये प्रभुभक्ति सामायिक, स्वाध्याय, आत्मचर्चा, सत्संग आदि सर्वकुछ समागम करके अपना सर्वस्व भी समर्पण करके जिसको माना है अपना सर्वस्व उसी को त्यागकर यदि मेरेको इस आत्मस्वरूपका प्रकाश मिलता है तो समझिये कि सब कुछ मिल गया और खोया कुछ नहीं। और एक आत्मस्वरूपका भान नहीं हो पाता है तो चाहे बड़ा राजपाट मिले, बड़े-बड़े वैभव मिलें पर कुछ नहीं पाया समझिये। इससे मिथ्यात्वको दूर कर हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहसे विरल होकर आत्मसाधनाके लक्ष्यसे आपने जीवनको बनायें तो इस जीवनकी सफलता है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥ २८॥

सम्यक्त्व तेजकी प्रसंशा—जो जीव सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न है वह चाहे चाण्डालके देहसे भी उत्पन्न हुआ हो तो भी गणधरदेव उसे देव कहते हैं। यहां देवके मायने अरहंत सिद्ध नहीं, देवके मायने स्वर्ग के देव नहीं, किन्तु अपने आपके स्वरूपमें रमण करनेका प्रयत्न करने वाला उच्च आत्मा। यद्यपि वह चाण्डाल है तो भी आत्मामें स्वरूपका प्रकाश है तो अन्तः वह विशुद्ध है। जैसे राखके भीतर अंगारा ऊपरसे कुछ नहीं विदित होता, भस्म है, पर उस अंगारेमें स्वयं जो तेज है वह तो है ही ऐसे ही चाण्डालके शरीरमें है वह सम्यग्दृष्टि आत्मा तो भी भीतरमें वह तो सही है, सम्यग्दृष्टि है। देह तो सभी मल मूत्रादिक महा अपवित्र चीजोंसे भरा हुआ है। उच्च कुल का जो देह है सो वह भी मलमूत्रादिकसे भरा है और नीचकुलका जो देह है सो वह भी मूत्रादिकसे भरा है। पूर्वभवमें उत्तम आचरणके प्रतापसे एक को उच्चकुल मिला है और नीच आचरण के प्रताप से एक को नीचकुल मिला है सो यद्यपि थोड़ा अन्तर है उच्च कुलमें और नीच कुलमें, पर वह अन्तर सम्यग्दर्शनके लिए कुछ अन्तर नहीं है। उच्च चारित्रपालनके लिए भले ही कुछ अन्तर आये पर दोनोंके सम्यक्त्वमें कोई अन्तर नहीं है। चाण्डालकी तो बात क्या चारों गतियोंके जीवोंको एक जैसा सम्यक्त्व हो सकता है। नरकगतिमें तो नीचगोत्रका ही उदय है पर सम्यक्त्व उन जीवोंको भी उत्पन्न होता हैं। सम्यक्त्वमें अपने सहज स्वरूपकी प्रतीति रहती है। मैं स्वयं वास्तवमें क्या हूँ, अपने सत्त्वसे मैं स्वयं क्या हूँ उस स्वरूपकी प्रतीति रहती है। मैं हूँ यह सहज ज्ञानस्वभावमात्र, जिसकी वृत्तिमें जानन चला करता है। देखिये जो जानन चल रहा है,

पदार्थ जाने जा रहे हैं, यह जानना भी इस ज्ञानीके लक्ष्यमें नहीं है। इतने मात्र मैं हूँ ऐसी उसकी प्रतीति नहीं है, किन्तु जानना कितने ही चलते रहें, उन जाननोंकी जो शक्ति है, स्वभाव है, स्वरूप है उस रूप आपने आपको अनुभवता है यह ज्ञानी।

सम्यग्दृष्टिका प्रथम परिचायक चिह्न संवेग—जिस जीवको सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है उसमें ८ गुण ऐसे प्रकट होते हैं जिनसे सम्यग्दृष्टिका परिचय बना करता है। उन ८ गुणोंमें १. प्रथम गुण है संवेग। सम्यग्दृष्टिका धर्म में अनुराग रहता है। मिथ्यादृष्टिका अनुराग बाह्य वैभवमें, स्त्री, पुत्रादिक परिजनोंमें, पञ्चेन्द्रियके विषयसाधनोंमें विषय भोगोंकी प्रीतिमें रहा करता है किन्तु सम्यग्दृष्टिका अनुराग धर्ममें रहता है। धर्ममें अनुराग, धर्मके साधनोंमें अनुराग, धर्मात्मा जीवोंमें अनुराग। जो जिसका इच्छुक होता है उसको उससे सम्बन्धित पदार्थोंमें अनुराग रहा करता है। चूंकि उस ज्ञानी जीवने आपने आत्माके धर्मको, सहजस्वरूपको अनुभवा है और उसमें अलौकिक आनन्द पाया है इसलिए उसकी धुन इस ही धर्मके प्रति रहा करती है। मैं अपने चैतन्यस्वभावमें ही उपयोग रखे रहूं, इस ही में संतोष पाऊं ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि जीवके होती है क्योंकि उसे स्वपरका भेद विज्ञान दृढ़ हुआ है। जगतमें सभी पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए हैं। घरमें जितने जीव पाये जाते हैं माता-पिता, स्त्रीपुत्रादिक वे सग आत्मा अपना-अपना सत्त्व लिए हुए हैं।एक के सत्त्व से दूसरेका सत्त्व अत्यन्त पृथक् हैं।

मुझ आत्मामें अन्य समस्त चेतन व अचेतन द्रव्योंका अत्यन्ताभाव—चार प्रकारके अभाव बताये गए हैं—(१) प्रागाभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अन्योन्याभाव और (४) अत्यन्ताभाव। (१) प्रागाभाव उसे कहते हैं कि जिसमें काम होना है उस कामके होनेसे पहले उसका अभाव हो। जैसे कोई घड़ा बना रहा तो घड़ा बननेसे पहले उसकी समस्त अवस्थावोंमें घड़ेका अभाव है। और अभाव दूसरेके सद्भाव रूप हुआ करता है। तो घड़ेका प्रागाभाव कहलाता है जो घड़ा बननेसे पूर्वकी सारी अवस्थायें हैं। (२) प्रध्वंसाभाव—घड़ेके नष्ट होनेपर घड़ेका अभाव हो गया, खपरियाँ बन गईं, फूट गया घड़ा तो खपरियाँ बन गई तो घड़े का विनाश होने पर जो घड़े का अभाव है वह खपरियों रूप पड़ता है इस कारण घड़ेका प्रध्वंसाभाव खपरियां है। (३) अन्योन्याभाव—जो पर्यायें आगे पीछे हो सकती हैं उनका एक समयमें एकका दूसरेमें अभाव है। जैसे पुद्गल स्कंध है, आज यह घड़ा बनता है तो यह पुद्गल स्कंध कभी कपड़ा बन सकता है। घड़ा फूट गया, खपरियां हो गई, चूरा हो गया, खेतमें गिर गया, कपास वहां बोया हुआ है तो वे चूराके परमाणु स्कंध उस कपासमें आ गए तो वे रूई रूप बन गए, उनसे कपड़ा बन गया, मगर जिस समय घट है उस समय वह कपड़ा नहीं है। घड़ेमें कपड़ेका अभाव है, कपड़ेमें घड़ेका अभाव है, पर कभी कपड़ा घड़ा बन सकता है और घड़ा कभी कपड़ा बन सकता है। कपड़ा सड़ गया मिट्टीमें मिल गया और उस मिट्टीका घड़ा बन गया। तो कभी कपड़ा घड़ाबन सकता मगर उस समय याने जिस समय कपड़ा है उस समय घड़ेका अभाव है यह कहलाता है अन्योन्याभाव। (४) अत्यन्ताभाव—एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें त्रिकालमें सद्भाव नहीं हो सकना यह कहलाता है अत्यन्ताभाव। तो अब आप समझ लीजिए कि आपके घरमें जितने जीव है वे सब परद्रव्य हैं। आप अलग द्रव्य हैं आपके घर के जीव अलग द्रव्य हैं। उनका आपसे क्या संबंध? जिन जीवोंमें

आपका चित्त बस रहा, जिन्हें आप अपना सर्वस्व समझ रहे, जिनसे आप अपना बड़प्पन मान रहे जिनसे आप भारी मोह कर रहे उनके प्रति जरा विवेक पूर्वक विचार तो करो, वे आपके कैसे क्या लग सकते हैं, जबकि अत्यन्ताभाव है। आपके आत्मामें उनका अत्यन्तभाव है। न वे आपमें थे, न अब हैं और न आपमें आगे आयेंगे। बिल्कुल जुदे प्रदेश हैं, आपके भिन्न प्रदेश, उनके भिन्न प्रदेश। आपका परिणमन निराला, उनका परिणमन निराला, फिर वे आपके कुछ कैसे हो सकते हैं? कुछ भी नहीं। उनका आपमें अत्यन्ताभाव है। तो ऐसे अत्यन्ताभाव वाले पदार्थोंमें मोह न जगे, सही ज्ञानप्रकाश बना रहे कि सब बिल्कुल जुदे-जुदे पदार्थ हैं। जैसे जगतके सब जीव मुझसे अत्यन्त जुदे हैं ऐसे ही जुदे खुदके घरके जीव हैं।

स्वपरभेदविज्ञान होनेपर मोक्षमार्गके प्रारम्भकी संभवता—देखिये मोक्षमार्ग और संसारका मौज ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते। संसारका मौज है विकृत, कर्मोदयसे उत्पन्न हुआ, कलंक, आपत्तियोंका घर, और आगे भी सदा धोखा, संसारमें रुलते रहना उसका फल है। तो संसार विषयोंका मौज यह भयंकर संगम है, उसकी यथार्थता जानकर मोक्षमार्गमें प्रीति होनी चाहिये। मोक्षमार्ग सर्वप्रथम स्वपर भेदविज्ञानसे प्रारम्भ होता है। स्व और परका यथार्थ स्वरूप जानें। स्व मायने क्या? पर मायने क्या? इसमें भी बहुत सावधनी बर्तनी है। वैसे सामान्यतया सीधा अर्थ है—स्व मायने मैं आत्मा और पर मायने ये बाहरमें रहने वाले धन वैभव स्त्री पुत्रादिक पदार्थ, पर स्व और परका इतना अर्थ समझ लेने भरसे काम नहीं चलता। जो बाह्य पदार्थ हैं, भिन्न प्रदेशी हैं, निराले हैं वे तो तीन कालमें भी मेरे हो नहीं सकते। जैसे धन वैभव, मकान, स्त्री, पुत्रादिक ये सब तो प्रकट भिन्न परपदार्थ हैं ही, इनका मुझमें अत्यन्ताभाव है। ये सब मेरे न कभी हुए, न आज मेरे हैं और न कभी मेरे हो सकेंगे। अब आगे देखिये—जो कर्म पहले बांधे हैं वे यद्यपि भिन्न अस्तित्व वाले हैं फिर भी आत्माके साथ बंधे हैं। यह सब निमित्त नैमित्तिक बंधन है, कहीं रस्सीकी तरह बंधना नहीं है कि जैसे एक रस्सीसे दूसरी रस्सीको बांध दिया जाय ऐसा बंधन नहीं है आत्मा और कर्मका। वे रह रहे हैं आत्माके ही क्षेत्रमें और भव छोड़ने पर ये कर्म आत्माके साथ जायेंगे। इतने पर भी जीवके साथ कर्मका पुद्गलकी तरह बंधन नहीं बना। निमित्त नैमित्तिककी प्रधानतासे बंधन बना।

परभावसे स्वकी विविक्तता—कर्म जो बंधे थे उनका जो उदयकाल आया, मायने कर्ममें जो अनुभाग है फलशक्ति है वह जब प्रकट हुई जो जीवमें प्रतिफलन हुआ, क्रोध प्रकृतिका उदय होनेपर जीवमें क्रोध आया और उस प्रतिविम्ब प्रतिफलन क्रोध छायाको इस उपयोगने अपनेमें मिला जुला माना मैं यह हूँ। जैसे दर्पणमें फोटो आया और दर्पण ही उस फोटो को अपना मान ले यद्यपि वह अचेतन मान नहीं सकता फिर भी एक अंदाजा करा रहे ऐसे ही मुझमें कर्म विपाकका प्रतिफलन हुआ और मैं उसे अपना लूं तो यह हुई कर्मप्रकृति। अब यह भिन्न प्रदेश वाला न रहा। ये आत्माके प्रदेशमें हैं रागद्वेष, लेकिन ये रागद्वेष परभाव हैं कयोंकि ये रागद्वेषके भाव मेरेमें मेरे स्वभावसे नहीं प्रकट हो पाते, ये कर्मोदयका सान्निध्य पाकर बना करते हैं। जैसे दर्पणमें हाथका फोटो आया तो जो दर्पण में फोटो आया है वह तो दर्पणकी चीज है, दर्पण की परिणति है मगर दर्पणमें अपने आप अपने ही

स्वभावसे नहीं आयी है उसकी परिणति। उसकी योग्यतासे फोटो आयी मगर सामने हाथका निमित्त पाकर आयी, इस करण फोटो परभाव है, इस बातको हर एक कोई जानता है और यह भी निर्दोष दर्पणमें से यदि फोटोको मिटाना है तो हाथको हटा दीजिए, वह फोटो मिट जायगी, ऐसे ही दर्पणकी तरह समझिये अपने आत्मा और हाथ आदिककी तरह समझिये उदयमें आये हुए कर्म। सो जैसा हाथमें आकार है उस अनुरूप दर्पणमें फोटो आ रही है। तो ऐसे ही उदय में आये हुए कर्मका जैसा विपाक है वैसा ही जीवमें वह विपाक झलका और जीवने मान लिया कि यह मैं हूँ, तो यह जो विभाव परिणति है यह यद्यपि भिन्न प्रदेश नहीं है तो भी औपाधिक होनेसे, निमित्त पाकर होनेसे ये परभाव कहलाते हैं। परभावोंको परमें शामिल करें, यह मैं स्व नहीं हूँ।

ज्ञानवृत्तियाँ और स्वभावका विवेक—अच्छा अब इससे और भीतर चलो रागद्वेषमोह, ये तो परभाव हैं, कलंक हैं, मगर जो भीतर ज्ञान जगता है, सब कुछ जाननाहोता है यह तो पर न होगा। यह तो मेरे ज्ञानकी परिणति है। सो यहां भी विचारें कि जो कुछ छुटपुट ज्ञान वहां बन रहा वह है यद्यपि आत्माके ज्ञानका परिणमन, किन्तु यह भी नैमित्तिक है। क्षायोपशमिक है। इस ज्ञानका आवरण करने वाले जो कर्म हैं उन कर्मोंका क्षयोपशम जैसा होता है उस अनुकूल थोड़ा प्रकट होता है। तो जो हम लोगोंमें ज्ञान बन रहा है वह ज्ञान क्षायोपशमिक है इसलिए वह मैं स्व नहीं हूँ। अब और भीतर चलो—यदि ये छुटपुट ज्ञान क्षायोपशिमक है और मैं स्व नहीं हूँ तो जब केवलज्ञान जगेगा, पूरा ज्ञान बनेगा तो वह पूरा ज्ञान तो कहलायगा, उसकी भी बात सोचिये—यदि केवलज्ञान स्व है तो केवलज्ञान होनेसे पहले स्व नहीं है यह समझना चाहिये, याने मेरी सत्ता ही न रही, मैं कुछ रहा ही नहीं तो केवलज्ञान भी स्व नहीं है, किन्तु केवलज्ञान एक स्वाभाविक पर्याय है। जैसा मैं स्व हूँ उसके अनुरूप परिणमन है। तो मैं स्व क्या हूँ कि जिस धतुसे, जिस तत्त्वसे ये सब ज्ञान प्रकट होते रहते हैं वह चैतन्यस्वभावमैं हूँ। वह चैतन्यस्वरूप स्व है और उसके अतिरिक्त सभी पर्याये गुण भेद सभी कल्पनायें ये सबपर हैं इस स्वका अनुभव किया है ज्ञानी जीवने। धन्य हैं वे क्षण जबकि बाहरी पर और परभावोंके विकल्पसे हटकर जीव परम विश्राममें आकर अपनेमें अपने सहज स्वभावकी अनुभूति करता है। यह है आत्मा का असली धन, जो कि इस जीवको संसारके संकटोंसे छुटायगा। तो सम्यक्त्व एक महान वैभव है।

स्वमें स्वकी घटनाके दर्शनका प्रभाव—भजनोंमें सम्यग्दर्शन की महिमा बहुत गायी जाती है। वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कैसे होता? वह कहीं खरीदनेसे न मिलेगा, शास्त्र ज्ञान करने मात्रसे भी नहीं मिलता। यद्यपि ज्ञान किये बिना ज्ञान नहीं आता, यह बात सही है मगर जो हम पढ़ते लिखते हैं, जो जानकारी बनाते हैं इतनेमात्र से सम्यक्त्व नहीं होता, किन्तु कुछ भीतरी प्रयोग करना पड़ता है तब सम्यक्त्व हुआ करता है। वह प्रयोग क्या है? जैसाका तैसा अपनेमें निरखनेका पौरुष करना, यह है वह पुरुषार्थ कि जिसके प्रतापसे सम्यक्त्व होता है। थोड़ा भी ज्ञान होनेपर अपने आप पर घटित किया जा रहा हो तो उस ज्ञानसे सम्यक्त्व जग जायगा। बहुत भी ज्ञान कर लिया हो व्याकरण, न्याय, साहित्य, छंद, ज्योतिष आदिक, अनेक विद्यायें जान लिया हो, पर अपने आपके स्वरूपको, अपने आपकी बातको अपने आप पर घटित नहीं किया जा सक रहा हो तो उस ज्ञानसे सम्यक्त्व नहीं होता। थोड़ा भी ज्ञान

हो मगर छल रहित हो, आत्मकल्याणकी भावना सहित हो तो वह कार्यकारी है। बहुत भी ज्ञान हो लेकिन छल सहित हो, दुनियाका मैं जानकार हूँ, पंडित हूँ ऐसा बतानेके भावसे ही वह ज्ञान किया गया हो तो ऐसे ज्ञानसे सम्यक्त्व उत्पन्न न होगा। जैसे किसी बुढ़ियां माँ के दो बेटे थे, उनमेंसे एक बेटेको कम दिखता था पर सही दिखता था और दूसरेको अधिक दिखता था पर पीला। अब बुढ़िया माँ ने एक ही वैद्यसे अपने दोनों बेटों का इलाज कराया। तो वैद्य ने दोनोंको एक ही औषधि पीनेके लिए बताया। चाँदीके गिलासमें मोतीभस्म दूधमें मिलाकर पीने के लिए बताया। तो जिस बेटेको थोड़ा दिखता था पर सही दिखता था उसने वह दवा पी लिया और अच्छा भी हो गया, पर अधिक और पीला-पीला दिखने वाले बेटेने वह दवा नहीं पिया। वह अपनी माँ पर बहुत झिल्लाया, ऐ माँ क्या मैं ही तेरा दुश्मन मिला, वह क्या पीतलके गिलासमें हड़ताल डालकर गायके मूत्रमें दवा पिला रही, इसे मैं नही पीता, ऐसा कहकर उसने दवा पीनेसे इन्कार कर दिया। फल यह हुआ कि उसका रोग ठीक न हो सका। तो ऐसे हीं समझलो कि किसीको चाहे थोड़ा ज्ञान हो, पर सही हो, अपने आपपर घटित किये जानेकी विधिसे हो तो वह सम्यक्त्व उत्पन्न होनेमें कारण बनता है और किसीको अधिक ज्ञान हो, पर उसका प्रयोजन मात्र बाहरी-बाहरी बातोंके लिए हो तो वह सम्यक्त्व उत्पन्न होनेमें कारण नहीं बनता। तो भाई जो कुछ हम सुनते हैं उसे अपने आपपर घटित करते जायें। एक अपने आपपर ही दृष्टि रहे। ज्ञानी जीवकी बाहरी अनेक दृष्टियां हटीं इस कारण उसे शान्तिका अनुभव होता है और बाहरी दृष्टि सब मिट जाये तो अपना आत्मा कहीं न भगेगा। स्वदृष्टि ही बनेगी और इस स्वदृष्टिके प्रतापसे अपने आपके सहजस्वरूपका अनुभव बनेगा। यह है सम्यक्त्व उत्पन्न होनेकी विधि। जिसके सम्यग्दर्शन हुआ है उस पुरुषको धर्ममें अनुराग रहता है। उसे अन्य कुछ नहीं सुहाता। ज्ञानी जीवके देहमें प्रीति नहीं होती, अन्य बाह्य समागमोंमें प्रीति नहीं होती, पर मेरा स्वभाव मेरेको दिखे, मेरा वह सामान्यप्रतिभास चैतन्यस्वरूप मेरे उपयोग में सदा बना रहे, यह धुन रहा करती है ज्ञानी जीवकी। तो सम्यग्दृष्टिकी पहिचानका प्रथम चिह्न है संवेग याने धर्ममें अनुराग।

ज्ञानीका परिचायक द्वितीय चिह्न निर्वेद—दूसरा चिह्न है निर्वेद अर्थात् वैराग्य इस संसारसे उसे वैराग्य रहता है। अरे यह संसार क्या है? चतुर्गतिमें परिभ्रमण करना, जन्ममरण करना, दुःखी होना, रागद्वेष करके आकुल व्याकुल होना, यह है संसार। ऐसे विकट संसारमें ज्ञानी जीवको वैराग्य रहता है। वह चाहता है कि इस संसारमें अब मैं रुलु नहीं, मैं अपने स्वरूपमें ही ठहर जाऊं, यों उसे इस शरीरसे भी वैराग्य है। यह शरीर कृतघ्न है, इसका हम चावसे पालन पोषण करें और यह अपवित्रता फैलाये, दुःखका कारण बने, तो यह शरीर प्रीति के लायक नहीं, इससे विरक्त रहते हैं ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव। इसी प्रकार भोगोंसे विरक्त रहते हैं ज्ञानी जीव। पंचेन्द्रिय विषय स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द इनके भोगनेमें उसे ग्लानि है, इनके भोगनेमें समय व्यर्थ खोया जा रहा। इससे आत्माको कोई लाभ नहीं मिलता बल्कि दुर्गतियोंमें उत्पन्न होना होता है। तो ज्ञानी जीवको संसार, शरीर भोगोंसे विरक्ति रहती है यह है इसकी दूसरी पहिचान।

सम्यग्दृष्टिका तृतीय परिचायक चिह्न आत्मनिन्दा—ज्ञानीकी तीसरी पहिचान है कि ज्ञानी

जीव आत्मनिन्दा करता है, अपनी कमियां निरखता है। मेरेमें कलंक है यह रागद्वेष यह परपदार्थोंका लगाव, यह मेरे लिए अहितकारी है, मेरेमें क्यों ये कषायें जगतीं, मेरा स्वरूप तो अविकार है। मेरेमें स्वयं अपने आप ये विकार नहीं हो सकते पर ये विकार बन रहे हैं। नैमित्तिक हैं, ये क्यों हो रहे हैं, ऐसी आत्मनिन्दा करता है ज्ञानी। इस आत्मनिन्दा के प्रसंगमें उन कषायभावोंसे जुदा होकर उपयोगमें केवल सहजज्ञानस्वभावको ही लिया तो इस जीवको वहां अलौकिक आनन्द जगता है। ज्ञानी जीवके गर्व नहीं रहता। जो ज्ञान पाया है वह कुछ नहीं पाया, क्योंकि वह जानता है कि केवल ज्ञान कितना विशाल ज्ञान है। उस केवलज्ञानके सामने यह मेरा आजका प्राप्त ज्ञान क्या कीमत रखता। ज्ञानी पुरुष जानता है कि द्वादशांगका ज्ञान कितना अद्भुत अलौकिक, अचिन्त्य ज्ञान है, उसके आगे मेरे इस थोड़ेसे ज्ञानकी क्या कीमत। मनः पर्ययज्ञान भी यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा बहुत कम ज्ञान है फिर भी उस मनः पर्यय ज्ञानके आगे मेरा ज्ञान कुछ नहीं है। अवधिज्ञानका कितना बड़ा विषय है, उसके आगे मेरा ज्ञान कुछ नहीं है। मैंने जो कुछ पाया है शरीरका रूप बल आदिक ये सब अत्यन्त बाहरी बातें हैं, पर उनका जो ज्ञान बनता है वह भी अत्यन्त अल्प है यों अपने दोष देखता है ज्ञानी, उनदोषोंको दूर करने का प्रयास करता है इस कारण सदैव वह अपनी निन्दामें रहता है। मैं कुछ नहीं हूँ, कैसे मैं आगे बढ़ूं, यों वह आत्मनिन्दा करता है, यह है सम्यग्दृष्टिकी पहिचान। जिसको सम्यक्त्व होता वह नियमसे मोक्ष जायगा, सो भाई हर एक उपायसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति करो जिससे अपने आत्माका उद्धार हो।

सम्यग्दृष्टिके वर्णित तीन चिह्नों पुनः स्मरण—सम्यग्दृष्टि जीवका कैसे परिचय हमें मिले उस प्रसंगकी बात चल रही है। अभी तक यह बताया गया कि सम्यग्दृष्टिको धर्ममें अनुराग होता है। समयग्दृष्टिको संसार, शरीर, भोगोंसे वैराग्य होता है और वह अपनी निन्दा बनाये रहता है, जानता है अपने अवगुणोंको देखता है। अपनेमें जो गुण प्रकट हुए उनपर दृष्टि नहीं रखता किन्तु जो अवगुण रह गए उनको निरख-निरखकर जैसे धुनिया छोटी-छोटी पूनीको लेकर धुनता है ऐसे ही ज्ञानी जीव सूक्ष्मसे सूक्ष्म विकारोंको निरख करके धुनता है। लोकमें जो धनिकजन हैं उनको जितना जो कुछ मिला है उसपर वे दृष्टि नहीं रखते, किन्तु जो नहीं मिला है या जितना कि मिलने की आशा है उसपर ही दृष्टि रखते हैं और यही कारण है कि उनको संतोष नहीं होता। जो धन मिला हुआ है उसपर दृष्टि डालें कि मेरे पास तो लाखोंकी अपेक्षा अधिक धन है, आजीविका ठीक-ठीक चल रही है, पर जो मिला है उसपर उनकी दृष्टि नहीं जाती जो धन नहीं मिला है उसपर दृष्टि जाती है। ऐसी ही बात परिजनोंके सम्बंधमें है। किसीके मानो ४-६ लड़के हैं, उनमें मानो एक लड़का गुजर जाय तो जो ५ अभी जीवित हैं उनपर दृष्टि नहीं रहती, एक उसमर जाने वाले पर दृष्टि रहती है। तो ऐसे ही जिसको जिसकी रुचि है उस ढंग से ही उसकी दृष्टि बनती है। सम्यग्ज्ञानी जीवको अपने आत्माको निर्दोष बनानेकी ओर दृष्टि है, सो जितने गुण प्रकट हुए हैं वे तो हुए हैं। उनको निरख करके वे संतोष पालें कि मैंने इतना विकास कर लिया। मेरे इतना ज्ञान जग गया, ऐसी दृष्टि नहीं रखते। जो हुआ सो हुआ पर जो दोष रह गए उन दोषोंपर दृष्टि है। मुझमें अन्य जीवोंके प्रति ईर्ष्याका क्यों भाव हुआ? दूसरे जीवोंके किसी काममें विघ्न डालनेका मेरेमें क्यों भाव होता? मैं दूसरे जीवोंको अपने स्वरूपके समान क्यों नहीं समझ पाता?

घरके लोगोंपर क्यों मेरी अधिक दृष्टि है? जबकि सर्व जीव समान हैं। या अपने अहिंसा सत्य आदिक व्रतोंमें दोष लगने पर उस दोषपर दृष्टि होती है। तो यह ज्ञानी जीव आत्मनिन्दा करता है, यह सम्यग्दृष्टिकी पहिचान है।

सम्यग्दृष्टिका चतुर्थ चिह्न गर्हा—चौथा चिह्न है गर्हा। गुरुके समक्ष, ज्ञानीके समक्ष अपने दोष प्रकट करना, उनके समक्ष अपनी निन्दा करना गर्हा कहलाता है। आत्मनिन्दासे गर्हा करना कठिन है। वह तो अपने आपमें निरखें कि मुझमें यह दोष है, यह कमी है, उस कमीको, दोषको किसी ज्ञानीके समक्ष कहना, तो उसको अपने दोषों को वचनोंसे बोलकर जाहिर करना इसमें अधिक साहसकी जरूरत है। और साहस क्या? ज्ञानीकी धुन। अगर ज्ञानस्वरूपकी धुन है तो यह साहस कोई बड़ी चीज नहीं है। वह सब कुछ करनेको तैयार है मुक्तिके प्रसंगमें। तो सम्यग्दृष्टिका चौथा चिह्न है गर्हा प्रथम तो दूसरेके समक्ष बड़े विनयपूर्वक बैठना ही बहुत कठिन हो गया है। जो ज्ञानी पुरुष है, जिसको अपने ज्ञानस्वरूपकी धुन लगी है उस ही में इतनी नम्रता आ सकती है कि विनय करनेमें संकोच न करें अन्यथा अक्सर थोड़ी भी कला आ जाय, थोड़ा भी ज्ञान जगे तो अज्ञानके कारण, मोह, रागके कारण वह अपनेको बहुत बड़ा मानने लगता है और जहां अपनेमें बड़प्पनका ख्याल आया वहां नम्रता, विनय हो ही नहीं सकती है, पर नम्रता, विनयके भाव न रहें और अपने पाये हुए ज्ञानपर गर्व हो, बड़प्पनका विकल्प रहता हो तो इसमें बिगाड़ किसका है? किसी दूसरेका बिगाड़ नहीं है। खुदकी ही प्रगति रुक गई। जैसे धनका लोभी धन अर्जनके लिए न जाने क्या-क्या कर डालता ऐसे ही ज्ञानका लोभी, ज्ञानका इच्छुक ज्ञानका धुनिया तत्त्वज्ञानी अपने स्वरूप विकासके लिए क्या-क्या नहीं कर सकता? सो नम्रता, विनय आना और गुरुके समक्ष बैठकर विधिपूर्वक अपने दोषोंको जाहिर करना यह है गर्हा।

सम्यग्दृष्टिका पंचम चिह्न उपशम—सम्यग्दृष्टिका ५वां चिह्न है उपशम। इसे प्रशम भी कहते हैं ज्ञानी जीवने अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपका परिचय किया है। मैं यह हूँ, मुझमें विकार नहीं है। स्वभावदृष्टि कह रहे हैं सब। स्वभावको निरखकर ज्ञानी सोच रहा है। इस मुझ सहजस्वभावमें विकारका क्या काम? यह अपने सत्त्वके कारण जो कुछ स्वभाव रख रहा है उसमें अन्य तत्त्वका प्रवेश नहीं है, ऐसा यह मैं अविकार स्वरूप हूँ। इसका मनन करने वाले ज्ञानीके कर्मविपाकवश कुछ विवशता है तो भी क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय उसके मंद रहती है। कषायके मंद होनेका मुख्य परीक्षण धर्मप्रसंगमें बताया गया है। क्रोध तो सभी जगह लोग करते हैं मगर धर्मप्रसंगमें, धर्मव्यवस्थामें, धर्मस्थानमें, धार्मिक व्यवस्थावोंमें यदि क्रोध तेज जगता है तो उसे बताया है कि उसके अनन्तानुबंधी क्रोध है। मान लो कोई रथयात्राका प्रबंध कर रहे तो उसमें पद-पद पर क्रोध करने की क्या बात? महावीर स्वामीकी परम्परासे चला आया है यह काम ठीक है कर लीजिए। जितना सहयोग बने सहयोग दीजिए, पर उनके प्रति पद-पद पर क्रोध करनेकी क्या बात? धर्म प्रसंगमें क्रोध आये तो उसे अनन्तानुबंधी क्रोध कहा है। घमंड भी प्राय: मनुष्योंके कुछ-कुछ अंशोंमें पाया जाता है। मगर धर्मके प्रसंगोमें मान करना, लोग जानें कि यह बड़े तपस्वी हैं, लोग समझें कि यह बड़े ज्ञानी हैं, बहुत धर्मात्मा हैं, इस तरह की आकांक्षायें रहें और धर्मके प्रसंगोंमें पद-पद पर मान जगा करे तो वह अनन्तानुबंधी मान कहलाता है। जैसे मानो

सभी लोग पूजामें खड़े होते है। कोई मान लो अभी तक रोज-रोज आगे खड़ा होता था, आज उसे किसी कारणसे पीछे खड़ा होना पड़ गया तो वह इसमें अपना अपमान महसूस करता है। कितने ही प्रसंग ऐसे होते हैं कि जहां मान उमड़ आया करता है। तो धार्मिक प्रंसगोंमें मान उत्पन्न होना यह बहुत तेज कषाय बतायी गई। मायाचारमाया भी प्राय: मनुष्योंसे नहीं छूटती है। घरमें, दुकानमें, किसी भी जगह मायाचारीकी बातें चलती हैं। मगर धर्मके प्रसंग में कोई मायाचारी करे तो वह बड़ी तेज माया कषाय कहलाती है। वे मायाचार क्या-क्या हैं, उसके कई रूपक बनते हैं। मानो कोई नहीं देख रहा तो उस समय तो जैसे चाहे टेढ़े-मेढ़े खड़े-खड़े धीरे-धीरे पूजा कर रहे थे या जाप, सामायिक आदि कर रहे थे। अब आ गया वहां कोई दर्शक तो उसे देखकर झट अटेन्सनमें आ गए, बड़ी शान्त मुद्रा बना लिया, बताओ यह मायाचारी भरी बात है कि नहीं? इस सम्बंधमें एक कथानक है कि किसी एक मुनिमहाराज ने किसी नगरमें चातुर्मास किया और चातुर्मास्य भर उपवास किया और चातुर्मास व्यतीत होते ही वहां से प्रस्थान कर गए। उनके चारमाहके उपवास की प्रसंशा चारों ओर फैल चुकी थी। उन्हीं दिनों उसी नगरमें कोई दूसरे मुनिराज पधारे। उनके दर्शनार्थ लोग आये, लोगोंने यह जाना कि यह वही मुनिराज हैं जिन्होंने चारमाहका उपवास किया, सो लोग उन मुनिराजकी बड़ी-बड़ी प्रशंसा करने लगे, धन्य है इन मुनिराजको जिन्होंने चारमाहका उपवास किया। अब इस प्रकार की झूठी प्रशंसा सुनकर उन मुनिराजने अपने मनमें हर्ष माना और उसे सुनकर चुप रह गए, सोचा कि मुफ्त ही प्रशंसा मिल रही है, ठीक है, मिलने दो। अरे उन्हें तो उस समय कुछ खेद होना चाहिये था और लोगोंसे स्पष्ट बता देना चाहिए था कि हम वह मुनि नहीं हैं, हम दूसरे हैं, पर मुफत की प्रशंसा लूटना चाहा। उसके फलमें उन मुनिको दुर्गति मिली। यह है धर्मके प्रसंगमें मान करनेका फल। ऐसे ही धर्मके प्रसंग में लोभ करना यह तीव्र लोभका स्थान है। लोभसे भी यहाँ कोई बचा नहीं है। घरके अथवा किसी भी धार्मिक काममें खर्च करनेकी सामर्थ्य होते हुए भी खर्च न कर सकना, उसे जोड़नेका भाव रखना यह तीव्र लोभ कषाय है। ज्ञानी जीवके तीव्र कषाय तो होती नहीं, उसकी चारों कषायों मंद रहती हैं। वह जानता है कि कषाय मेरी बैरी है। रागद्वेष भाव उठे, वह मेरे चैतन्यप्राणको मल-मलकर नष्ट कर देता है, मर्दन करता है, ऐसा निर्णय होनेके कारण ज्ञानी जीवके कषायें मंद होती हैं, यह ही उपशम गुण हैं और इसी के प्रतापसे कोई दूसरा पुरुष कैसी ही गाली दे जाय, कितना ही वह अपराध करे तो भी उस पर क्रोध भाव नहीं जगता।

सम्यग्दृष्टि का छठा चिह्न भक्ति—सम्यग्दृष्टिका छठा चिह्न है भक्ति। पंचपरमेष्ठीमें भक्ति होना। जो जिस मार्गमें है वह उस मार्गमें चलने वाले या उस मार्गके अग्रगामी लोगोंके प्रति प्रेम रखता। जैसे आप जिस रास्तेसे चलकर जा रहे हों उस रास्तेसे चलने वाला कोई मुसाफिर आपको मिल जाय तो आपको उसके प्रति प्रेम उमड़ता है, आप उससे दोस्ती करके भली प्रकार बातचीत करते हुए जाते हैं ऐसे ही जो मार्गमें चल रहे या उस मार्गसे चलकर जो अरहंत सिद्ध हुए उनके प्रति ज्ञानी जीवको भक्ति उमड़ती है, वह भक्ति उन परमेष्ठियोंके प्रति नहीं है किन्तु धर्मके प्रति है। दशलक्षण धर्मके धारकोंमें भक्ति, धर्मात्माजनोंमें, तपस्वीजनोंमें, उनके गुणोंके स्मरणके प्रसादसे भक्ति रहना, यह है समयग्दृष्टिका

भक्ति नामका गुण। ज्ञानी जीवके अटपट क्रियायें नहीं होतीं। विषयोंमें प्रवृत्ति, स्वच्छंदता, गप्पबाजीमें लगना आदिक बातें ज्ञानी पुरुषोंमें नहीं होतीं। जब उसने अपने ज्ञानस्वरूपकी उपलब्धिका लक्ष्य बनाया है तो उस लक्ष्यके अनुसार ही उसकी वृत्ति बनेगी। ज्ञानी जीवका यह छठा चिह्न है भक्ति।

सम्यग्दृष्टिका सप्तम चिह्न वात्सल्य—ज्ञानीका ७वां चिह्न है वात्सल्य, प्रेम। देखिये—धर्मका नाता एक बहुत बड़ा नाता होता है। घर गृहस्थीके नातेको ही जो नाता मानते हैं और धर्म नातेको गौण करते हैं उन पुरुषोंके अज्ञान है रुचि नहीं है। ज्ञानी जीवको धर्मका नाता मुख्य रहता है और परिजनोंका नाता गौण रहता है। यदि ऐसा नहीं है तो वह ज्ञानी नहीं है, सम्यग्दृष्टि नहीं है, धर्मका धुनिया नहीं है। तो सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्मके धारक धर्मात्माजनोंमें प्रीति करते हैं। जैसे द्ररिद्री पुरुषको धन देखकर बड़ा आनन्द उत्पन्न होता है ऐसे ही सम्यग्दृष्टि धर्मात्माजनों को देखकर अथवा धर्मके व्याख्यानकों सुनकर ज्ञानी पुरुषको अत्यन्त आनन्द प्रकट होता है ऐसे ही सम्यग्दृष्टि धर्मात्माजनोंको देखकर अथवा धर्मके व्याख्यानको सुनकर ज्ञानी पुरुषको अत्यन्त आनन्द प्रकट होता है। ज्ञानीको चाहिए स्वरूपविकास, ज्ञानविकास। उस स्वरूपविकासमें जो चलना चाहता है, जो चल रहे हैं, उन पुरुषों को देखकर उसे अत्यन्त वात्सल्य होता है। एक केवल धर्मका नाता है। अन्य बातोंमें वह सब एक गुजारेका साधन समझता और धर्मके नातेसे धर्मके धारणको वह अपना कर्तव्य समझता है। यह ही करना है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है, यह बुद्धि होती है ज्ञानीकी धर्मके प्रति और परिजनोंके प्रति ज्ञानीकी बुद्धि होती है कि यह एक मात्र साधन है। देखिये कितना अन्तर है ज्ञानीके मननमें। तो यह ज्ञानी पुरुषका चिन्ह है कि धर्मात्माजनों के प्रति उसके वात्सल्य होता है।

सम्यग्दृष्टिका अष्टम चिह्न अनुकम्पा—ज्ञानीका ८वां चिह्न है अनुकम्पा। ६ कायके जीवोंके प्रति दया करना अनुकम्पा है। दुःखी जीवोंको देखकर अपने परिणाम कंप जाना अनुकम्पा है। अनुकम्पा शब्दका अर्थ क्या है? उसमें अनु तो उपसर्ग है और कम्प धातु है। कम्प धातुका अर्थ है कंपना। और अनुका अर्थ है अनुसार। दुःखी जीवोंको देखकर उनके दुःखके अनुसार अपने आपका हृदय कंप जाना अनुकम्पा कहलाता है। देखा होगा कि कभी कोई दुःखी जीव कठिन दुःखीको देखता है तो उसका हृदय कंप जाता है, शरीरपर एक रोमाञ्च सा हो जाता है, यह है अनुकम्पा। ऐसा क्यों होता है? तो बात यह है कि वास्तवमें एक जीव किसी दूसरे जीवपर दया नहीं कर सकता। जितनी दया बनती है वह अपने आपमें सद्भावनाको निरखकर अपने पर दया बनती है। दुःखी जीवको देखा तो उस दुःखीको निरखकर खुदमें एक क्लेशका अनुभव होता है। ओह! कितने कष्टमें हैं यह। और जब कोई श्रावक उस दुःखीको कपड़ा या भोजन देता है तो क्या वह दूसरे दुःखीका दुःख मिटानेके लिए दे रहा है या अपना दुःख मिटानेके लिए? अरे एक जीव दूसरे जीवपर कोई प्रयोग ही नहीं कर सकता। उसने दूसरेको दुःखी देखकर जो अपनेमें दुःख उत्पन्न कर लिया था सो अब उसको अपना दुःख नहीं सहा जाता सो दुःखको दूर करनेके लिए वह भोजन, वस्त्रादिक देता है। वास्तविकता तो यह है और इसी प्रयोगसे वह अपना दुःख दूर कर पाता है। तो इस दयाका नाम अनुकम्पा रखा गया है, जिसका अर्थ है अनुसार कंप जाना। दूसरे जीवको दुःखी देखकर अपने परिणाम कम्पायमान होना, उसे देखकर जो

अपनेमें दुःख उत्पन्न होता उसका शान्तिके लिए उस दूसरे का दुःख जैसे मिटे उस प्रकार का परिणाम होना यह अनुकम्पा गुण कहलाता है।

ज्ञानीके उपलब्ध सहज कलाका प्रभाव—जिसके ज्ञान जगा, सम्यक्त्व हुआ उसके लिए सारा लोक कुटुम्ब बन गया। अब उस ज्ञानीके यह छटनी नहीं रहती कि मेरे घरके जितने लोग हैं वे मेरे कुटुम्बके हैं, बाकी गैर हैं। वसुधैव कुटुम्बकम्। उसने आत्मस्वरूपको सर्वत्र देखा है और वस्तुके स्वरूपका उसे पूर्ण निर्णय है। वह पुरुष कैसे किसी दूसरे जीवको अपना मान लेगा? हां गुजारेके लिए आवश्यक है श्रावकको इसलिए वह प्रीति व्यवहार करता है किन्तु धुन उसकी है धर्ममें। तो ऐसी धर्मकी प्रीतिके कारण सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवके ये ८ लक्षण प्रकट होते हैं। ज्ञानी जीवको एक कला ऐसी मिली है कि जिसके प्रसादसे अनेक कलायें स्वयमेव बन जाया करती हैं। किसीको कोई बहुत-बहुत सिखाये कि क्रोध करना बहुत बुरी चीज है, क्रोध न करना चाहिए, तो बताओ उसके यह बात निभ जायगी क्या? कि क्रोध न करें, ऐसे ही मान, माया, लोभ, अनर्थ, पाप आदिके त्यागका कोई बहुत-बहुत उपदेश दें कि तुम्हें ऐसा अनर्थ न करना चाहिए तो बताओ उससे अनर्थ रुक जायगा क्या? अरे वह बड़ी जबरदस्ती करके दबायेगा भी उस अनर्थको तो थोड़े समयको तो निभ जायगा, मगर भीतरमें अज्ञान बसा होनेसे किसी समय वह फिर अनर्थ कार्य करनेके लिए स्वच्छंद बन जाता है। जिस ज्ञानीके यह कला प्रकट हो जाय कि मेरे आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप अविकार है, मैं यह हूँ, ऐसी दृष्टि करके, ऐसे मननके द्वारा जो अपने आपमें आत्मबल प्रकट हुआ है वह सहज कला ऐसी प्रकट हुई है कि उसको सिखाना न पड़ेगा कि तुम क्रोध न करो, घमंड न करो। सभी कलायें उसमें स्वयमेव आ जायेंगी। उपदेश है किसलिए? ज्ञानीको भी उपदेश चलता है कि यह ज्ञान इस ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमें न रह सकें, लौकिक प्रयोजनसे बाह्य पदार्थोंमें लगाना पड़ता है तो वहां उसके विकार जगता है। तो उस बाधको मिटानेके लिए ज्ञानीको उपदेश है, मगर उसमें एक कला ऐसी प्रकट हुई कि उसको अनेक समस्यावोंका समाधान स्वयमेव हो जाता है।

प्रतिभालाभ होनेपर बुद्धिगतिके दृष्टान्तपूर्वक सहजज्ञानस्वभावप्रतीतिकला होनेपर अनेक समस्यावोंके समाधानकी सिद्धि—बुन्देलखण्डमें छतरपुर रियासतकी एक घटना है कि वहांका राजा गुजर गया। उसका बेटा अभी छोटा था, तो उसके राज्यको अंग्रेजोंके समयमें उनके एजेन्ट चलाते थे (जिस राज्यको चलानेवाला कोई न रहता था उसको अंग्रेजोंके एजेन्ट चलाते थे) जब वह राजा का बेटा २०-२१ वर्षका हुआ तो उस राजमाताने एजेन्टोंको लिखा कि मेरा बेटा बालिग हो चुका है मेरा राज्य उसे सौंप दिया जाय। तो एजेन्टों ने एक तिथि निश्चित किया कि पहले हम अमुक दिन उसके बेटेकी बुद्धिमानीकी परीक्षा लेंगे तब उसे राज्य दिया जा सकेगा। सो परीक्षा लेनेकी तिथिसे पूर्व राजमाताने अपने बेटेको दसों बातें सिखाया—बेटे अगर वे एजेन्ट तुमसे यों पूछें तो यों उत्तर देना ··· वहां वह राजपुत्र बोला—मां तुमने तो ये दसों बातें हमे सिखाया, पर इनमेंसे कोई भी बात न पूछा तो क्या करेंगे? तो वहां वह राजमाता अपने बेटेकी तर्कणायुक्त बात सुनकर अति प्रसन्न हुई और बोली—बेटे अब मैं समझ गई कि तुमसे जो चाहे पूछा जाय सबका उत्तर कुशलतापूर्वक देकर आवोगे। आखिर

हुआ क्या कि जब वह राजपुत्र परीक्षा देने पहुँचा तो एक एजेन्टने उससे पूछा तो कुछ नहीं और तेजीसे उसके दोनों हाथ अपने हाथोंसे पकड़ लिया, फिर पूछा—बोलो बेटे तुम अब मेरे आधीन बन गए, क्या करोगे ? तो वहां वह राजपुत्र बोला—अरे आप यह क्या कहते है मैं आपके आधीन बना या आप मेरे आधीन हो गए ? कैसे मैं आपके आधीन ? हाथ तो मैंने पकड़ रखा, पराधीन तो तुम हो ।...नहीं, नहीं, आपमेरे आधीन बने ।...कैसे ? ··· ऐसे कि देखो जब किसी कन्या का विवाह होता है तो भांवर पड़ते समय कन्या उस लड़केका एक हाथ पकड़ लेती है तो वह पति सारे जीवन भर कन्याके आधीन रहता है, आपने तो मेरे दोनों ही हाथ पकड़ लिए फिर क्यों न आप मेरे आधीन कहलाये ··· । राजपुत्रकी इस प्रकारकी तर्कणा भरी बात सुनकर वह एजेन्ट अति प्रसन्न हुआ और समझ लिया कि वास्तवमें वह राजपुत्र बुद्धिमान है । राज्य चलाने योग्य है । आखिर उस राजपुत्रको राज्य मिल गया । तो बात यहां यह कह रहे थे कि जिसके एक प्रतिभा होती है उसे अधिक नहीं समझाना पड़ता । ज्ञानी जीवमें सहज ही एक ऐसी कला प्रकट होती है कि जिससे अपने हितके बारेमें उसके ऐसा समर्थ पौरुष होता है कि क्रोधादिक कषायोंसे हटना, खोटे भावोंसे हटना आदि ये सब बातें उसके लिए अत्यन्त सुगम हो जाती हैं । तो सबसे बड़ा काम है जीवनमें यह कि अपने आपके अविकार सहज स्वभावका अनुभव कर लेना । बाकी सब काम बेकार हैं । हां परिस्थितिवश कार्य सभी करने होते हैं, पर वे सब बेकार समझिये । कोई लोग तो ये सब काम गुजारनेके लिए करते हैं कोई अज्ञानतावश लोकमें अपनी मान प्रतिष्ठा इज्जतके लिए, पर काम ये सब बेकार हैं । बाहरी काम हैं । एक अपने आपके अन्तः स्वरूपका निर्णय कर लेना यही वास्तविक काम है, जिसके प्रतापसे संसारके संकटोंसे सदाके लिए छूट जायेंगे ।

श्वापि देवोपि देवः श्वा, जायते धर्मकिल्विषात् ।
क्वापि नाम भवेदन्या, सम्यग्दर्शाच्छदीरिणाम् ॥ २९ ॥

धर्म और अधर्म के फलका उदाहरण—धर्मके प्रभावसे कुत्ता भी देव हो जाता है और पाप के प्रभावसे देव भी कुत्ता हो जाता है । संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव ही देवगतिमें उत्पन्न हो पाते हैं, उनमें भी नारकी देव गति में उत्पन्न नहीं होते । मनुष्य और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च ये ही देवगतिमें उत्पन्न होते हैं इस कारण यहां उदाहरण कुत्तेका दिया है । वैसे कुत्ता पशुवोंमें एक निन्द्य पशु माना जाता है । हर कोई कुत्तेको धुधकार देता है । तो धुधकारा जाने वाला कुत्ता भी यदि उसके धर्म है, सम्यक्त्व है, मंदकषाय है तो वह मर कर देव बन जाता है और देव भी पापके प्रतापसे कुत्ता बन जाता है । देवगतिके जीव मरकर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रियमें उत्पन्न नहीं होते । एकेन्द्रिय जीवोंमें पहले और दूसरे स्वर्गके देव भी उत्पन्न हो सकते हैं, उससे ऊपरके नहीं और १२वें स्वर्ग तकके देव तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय हो सकते हैं । तो देवगतिमें जन्म ले लिया, वहां पापके परिणाम रहें तो वह भी मरकर कुत्ता बन सकता है फिर जो विशिष्ट मनुष्यजन हों और धर्म धारण करते हों तो उनको कोई भी भले प्रकारकी सम्पदा प्राप्त हो जाती है, अहमिन्द्रपद प्राप्त हो जाता है । अहमिन्द्र होते हैं स्वर्गोंसे ऊपर । जिन ऊर्ध्वके विमानोंके स्थानोंमें इन्द्र सामानिक आदिक भेद नहीं होते, सभी देव समान होते हैं इसलिए वे अहमिन्द्र कहलाते

हैं। अहंइन्द्र, हर एक के ऐसा ही अनुभव है कि मैं इन्द्र हूँ, क्योंकि उन पर कोई आज्ञा करने वाला नहीं है। इसलिए सभी अहमिन्द्र कहलाते हैं। तो धर्मके प्रतापसे इन प्राणियोंको अहमिन्द्रादिक पद जैसी कोई भी सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है और धर्मके फलमें तो मोक्ष ही बताया गया है, पर धर्म करते हुए भी रागद्वेष होनेसे जो प्रवृत्ति होती है उसके फलमें वह स्वर्गादिक जायगा।

मिथ्यात्वकी अनर्थकारिता—यहां यह शिक्षा दी है कि मिथ्यात्व बड़ा अनर्थकारी है। अधर्म मायने मिथ्यात्व, अधर्ममें प्रधान मिथ्यात्व है। जहां आत्माका होश ही नहीं है, बाह्य पदार्थोंमें अहंकार और ममकार बसा है, उससे निराला कोई स्वतन्त्र मैं आत्मा हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, सबसे निराला हूँ। इसका भान न हो तो यह तो बहुत बड़ी विपत्ति है, क्योंकि संसारमें जितने भी कष्ट है सब मोहके हैं और अपने आत्माका यथार्थस्वरूप भानमें जो लेता रहे उसको कोई कष्ट ही नहीं। यह मेरा है, धन स्त्री पुत्रादिक मेरे हैं, इस प्रकार भीतरमें श्रद्धान बसा है तो उसके कारण स्वयं ही आकुलता होगी। आकुलता कहीं पुत्रादिककी प्रेरणासे नहीं मिलती किन्तु स्वयंके विकल्पसे मिलती है। जिस जीवके सम्यक्त्व है वह प्रत्येक स्थितिमें धैर्य रखें, क्षोभ न करें, वस्तुस्वरूपको ध्यानमें रखें तो उसको आकुलता न होगी। तो मिथ्यात्व महान अनर्थकारी है, इसके ही कारण चतुर्गतिमें परिभ्रमण करना पड़ता है। जो जीव अब तक संसारमें रुल रहे वे इस मिथ्यात्वके ही कारण रुल रहे। जैसे बाह्य चीजोंमें निमित्त नैमित्तिक योग होता है अग्नि पर रोटी सिकी, पानीमें शक्कर डाल दी गई तो वह घुल गई, तो जैसे बाह्य पदार्थोंमें निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था है ऐसे ही जीवके विकारोंमें निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था है। विकार हुआ, उसका निमित्त पाकर कर्म स्वयं बंध गए, कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन गई। अब बंधे हुए कर्मोंका उदयकाल आया तो उसके उदयका निमित्त पाकर जीवमें विकारभाव आ गया, यह स्पष्ट निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था है आत्मा तो स्वयं सहज ज्ञान स्वभावमात्र है। उसमें अपने आप न विकार है न कोई कष्ट है। पर इस जीवका कितना बड़ा अपराध है कि कर्म विपाककालमें जो इस उपयोग पर छाया आयी, प्रतिफलन हुआ, उस रूपजीव अपनेको स्वीकार कर लेता है। न करे स्वीकार तो किसीकी जबरदस्ती है क्या कि इसको विकार स्वीकार करना ही पड़ेगा, नहीं है जबरदस्ती, मगर वह उमंगसे विकारोंको स्वीकार करता है। यह ही मिथ्यात्व है। कर्मोदय आया, उसका प्रतिफलन हुआ, ज्ञानबलसे उनका ज्ञाता रहे तो वह मोक्षमार्गमें बढ़ जायगा। तो मिथ्यादर्शनके समान कोई विपत्ति नहीं।

विषयोंको हेय जानकर उनसे उपेक्षा करके सम्यक्त्वलाभ का यत्न करनेका अनुरोध—जो लोग कुछ धनिक होकर कुछ मौजके साधन पाकर गर्वमें आते हैं कि हमें सबकुछ मिला है, वे मनमाने विषय भोगोंमें स्वच्छंद आचरण करेंगे। बाहरी-बाहरी व्यवस्था प्रबंधोंमें रहेंगे, बाह्य पदार्थोंके संचयमें ही मौज मानेंगे तो उनको भविष्यमें बड़ा कष्ट भोगना पड़ेगा। तो इस जीवनमें एक यह ही छांट होनी चाहिये कि हे प्रभो, हे सहज परमात्म-तत्व मेरेमें मिथ्यात्व मत जगे, मेरे सहजस्वरूपकी सुध न छूटे, मैं अपने उपयोगमें अपने सहज चैतन्यस्वभावको निरखता रहूं तो वहां किसी प्रकारका कष्ट न आयगा और एक अपनी सुध छोड़ दूं तो सुध छोड़ना ही स्वयं कष्ट-रूप है। फिर वहां किसी भी बाह्य पदार्थका आलम्बन लेकर अपने को व्यर्थ दुःखी अनुभव करें। और यह सम्यग्दर्शन जहां कि अपने

सहज स्वरूपकी सुध रहती है। मैं चैतन्यमात्र हूं, अपनी सत्तासे परिपूर्ण हूं, किसी बाह्य पदार्थका मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूं। मेरेमें अपने आपमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य निरन्तर चलते रहते हैं, ऐसी अपने आपके स्वरूपकी सुध हो तो वहां किसी प्रकारका कष्ट नहीं है। अपनेको अपनेमें देखो, आनन्दमय अनुभवो, बस उसका मार्ग भला ही होता जायेगा और निकट कालमें वह समस्त संसारके संकटोंसे छुटकारा पा लेगा। इस कारण मानव जीवनमें एक सम्यक्त्व लाभका प्रयत्न बन गया है तो समझो कि हमने सर्व कुछ पा लिया, क्योंकि जहां कोई कष्ट न रहे वही तो वैभव कहलाता है। तो इस सम्यक्त्वके प्रतापसे सद्गति प्राप्त होती है, मोक्षमार्गका लाभ होता है और तपश्चरण करके मुक्ति प्राप्त होती है। इस कारण अधर्मसे हटना, धर्ममें लगना यह ही इस जीवनका उद्देश्य होना चाहिए।

भयाशा-स्नेह-लौभाच्च, कुदेवागमलिङ्गिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव, न कुर्य्युः शुद्धदृष्टयः॥ ३०॥

सम्यग्दृष्टिके भयवश कुदेवोंको प्रणाम विनय करनेके भावका अभाव—सम्यग्दर्शनकी महिमाका संकेत करके अब इस श्लोकमें यह कहा जा रहा है कि जो शुद्धदृष्टि वाला है, आत्माके सहजस्वभावका अनुभव कर चुकने वाला है ऐसा ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव भयसे, आशसे, स्नेहसे, लोभसे कुदेव, कुशास्त्र,कुगुरुको प्रणाम और विनय नहीं करते हैं। किन्हीं जीवोंको भय हो जाता है कि इन कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुवोंको, जिनको राजा मानता है, बड़े बड़े नेता मानते हैं उन्हें मैं न मानूं तो ये लोग मेरेको न जाने क्या-क्या तकलीफ देंगे। अथवा ये ही देव, ये ही गुरु कहीं मेरेको पीड़ा न पहुंचा दें, ऐसा उनको भय हो जाता है किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको भय नहीं होता, क्योंकि वह अपने अविकार स्वरूपको निरख चुका। यह अमूर्त ज्ञानमात्र अविकार स्वरूप सदा अपनी सत्तामें रहने वाला, जिसका कभी विनाश नहीं हो सकता, जिसका सब कुछ इस मुझपर ही निर्भर है, ऐसे ज्ञानानन्दका निधान निज आत्मस्वरूपका परिचय हुआ है। इस कारण वह किसी भी अन्य कुदेव आदिकको भयसे भी नमस्कार नहीं कर सकता। भय ही नहीं है इसके और फिर स्वरूपनिर्णय है कि कुदेवसे मेरेको क्या भय? कुदेव कहते किसे हैं? जो देव तो नहीं हैं किन्तु अपनेको देवरूपमें प्रसिद्ध करते हैं तो उसका नाम कुदेव है। वैसे कुदेव कोई चीज नहीं है। कोई भी जीव हो तो या तो वह देव होगा या देव न होगा, दो ही बातें हैं। कुदेवका मतलब क्या? देव तो नहीं है और उसे देव माने तो उसका नाम कुदेव पड़ता है। तो किसी भी व्यक्तिको कुदेव बनाने वाला कौन? भक्तजन, लौकिकजन और यदि वही व्यक्ति स्वयं अभिलाषा रखता है कि मैं देवकी तरह पूजा जाऊं तो उसने अपनी ओरसे अपनेको कुदेव कर डाला। तो भयसे ज्ञानी जीव कुदेवको प्रणाम और विनय नहीं करते। एक बात और ध्यानमें देनेकी है कि जिन्होंने वीतराग सर्वज्ञको देव माना है वे जैन लोग, वीतराग सर्वज्ञको देव मानने वाले भक्त लोग प्रभुकी स्थापना करके मूर्तिके समक्ष भी वंदन करते हैं, प्रणाम करते हैं। स्थापना किए जानेसे वे प्रभु हैं, ठीक हैं, उनका वंदन प्रणाम कीजिये। अब यदि उनके प्रति भी यह भय रहे कि यदि मैं इनको न मानूंगा, इनको न पूजूंगा तो ये मुझे नरक पहुंचा देंगे या मुझे निर्धन बना देंगे। इस तरहकी बात यहां

भी हो तो इस भक्तने उसे कुदेव बना डाला। वह स्वयं कुदेव तो नहीं है, वह अनन्त ज्ञानादिकका निधान है, प्रभु हैं मगर भक्तने जिस भावसे पूजा, जिस भावसे देखा उस भावमें उसकी दृष्टिमें वह सुदेव न रहा। तो किसी भी देवके प्रति भयसे प्रणाम विनय न हो। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जो वीतराग सर्वज्ञदेवमें भक्ति करता है वह भयसे नहीं करता किन्तु स्वरूपकी समता, मोक्षमार्ग का प्रकाश, उसके गुणोंका स्पष्ट निर्णय, उसकी अपने स्वभावसे समानता आदिकका परिचय होनेसे वह उनकी भक्ति करता है। शुद्ध दृष्टिवाला पुरुष भयके वश होकर कुदेवकी भक्ति नहीं करता।

आशासे भी कुदेवको प्रणाम विनय करनेकी ज्ञानीके असंभवता—ज्ञानीको ऐसी आशा नहीं होती कि इस कुदेवकी भक्तिसे मुझे धन लाभ होगा, मुकदमेमें विजय होगी···। किसी आशावश वह कुदेवका सत्कार नहीं करता। उसको स्पष्ट निर्णय है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको कुछ परिणति नहीं दे सकता। प्रथम तो संसारका समागम मेरे लिए अनर्थ है। अनन्त ज्ञानशक्तिके निधान इस आत्मा भगवानको यहांके समागमोंका लगाव बरबाद कर रहा है, इसका घात करता है। ज्ञानीजीव वस्तुस्वरूपको सही समझ रहा है। वह जानता है कि मेरेमें परपदार्थका विकल्प ही उत्पन्न होता है, कहीं दूसरे पदार्थका संग मेरेमें नही है। और जो कुछ समागम होता है वह पुण्यपापका फल है। ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है कि पुण्यका उदय आये तो ऐसे इष्ट समागम प्राप्त हो। अब यह निमित्त नैमित्तिक भावोंमें कोई कैसे विरोध कर सकेगा? होता है। उस योगको स्पष्ट जान भी नहीं पा रहा। मगर फल तो जान रहा तीर्थंकरप्रभुका जन्म हुआ और स्वर्गमें घंटा बजा, जहां जो कुछ शब्द हुआ, कहीं सिंहनाद हुआ, कहीं धपधप बजा, इन्द्रका आसन हिला, इन सबको कौन बजाने गया? कौन हिलाने गया? क्या उनके पुण्य परमाणु निकलकर उनमें टक्कर लगाने लगे? जो जहां है वहां ही है, पर कैसा निमित्त नैमित्तिक योग है कि तीर्थंकरका जन्म हुआ तो वहां ऐसे ऐसे अतिशय होने लगे। यहाँ पर जितने जो कुछ वैभव आपको प्राप्त होते हैं वे आपके वर्तमान विकल्पसे नहीं होते, वर्तमान परिणामसे नहीं होते, किन्तु पूर्वबद्ध पुण्यकर्मके उदयका निमित्त पाकर होते हैं। बहुत दूर इष्ट पदार्थ हों वे भी पुण्यके उदयमें निकट आ जाते हैं। आप स्वयं इष्ट पदार्थके निकट पहुंच जायें पुण्यके उदयमें, ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है। उसमें अपना क्या कर्तव्य है सो यह जिस तरहसे हम विधि बांध चुके हैं उस तरह से होगा। अब हमारा वर्तमान कर्तव्य तो यह है कि अपने परिणाम निर्मल रहें, अन्यथा पहले कमाये हुए कर्मके उदयमें तो ये कष्ट पा रहे हैं और अब भी परिणाम खोटा रखा जाय यह ही कष्ट पानेकी परम्परा बनी रहेगी। सो वर्तमान में अपने भावोंको स्वच्छ करनेका कर्तव्य है। और कुछ आशा या भय आदिक लेकर कुदेव आदिकको प्रणाम करना और उसमें अपना बचाव सोचना, सम्पन्नता सोचना यह बिल्कुल व्यामोह है। ज्ञानी जीव आशाके वश होकर भी कुदेवको प्रणाम नही करता। कुदेव कौन कहलाता? जो रागी द्वेषी हो, अल्पज्ञ हो और जिसको देवत्वकी प्रसिद्धि की गई हो वह कहलाता है कुदेव। एक ज्ञानप्रकाश, यही ज्ञानीकी दृष्टिमें रहता है। यह ही ज्ञानतेज यही प्रभु कहलाता है, ऐसा मेरा भी स्वभाव है, ऐसा मैं भी हो सकूंगा। यह नाता है प्रणाम विनय करनेका। न कि लौकिक पदार्थोंकी आशा करके कुदेवको प्रणाम करना, विनय करना आधार है। तब अपने आपमें अपनी बात घटाइये-अपने में क्या प्रकाश पा रहे हैं।

कहां अपनी दृष्टि बन रही है? अपने स्वभावको निरखिये और यह ही अनुभव कीजिए कि यह मैं आत्मतत्व हूं, अन्य रूप नहीं हूं, ऐसा दुर्लभ मानव जीवन पाकर, ऐसे जैन शासन, जैन देव, जैन शास्त्र, जैन गुरुमें भक्ति न जगे, बल्कि कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, कुधर्ममें भक्ति जगे तो बताओ यह मानव जीवन किसलिए पाया। देखिए सम्यक्त्व जब भी होगा सहज होगा। कोई कमर कसकर बैठे कि मैं इस समय सम्यक्त्व पैदा करता हूं तो यों सम्यक्त्व नहीं हुआ करता। सम्यक्त्वके जो उपाय हैं, उन उपायोंमें लगता रहे। सम्यक्त्व जब भी होगा तब सहज होगा। सम्यक्त्व प्राप्त होने का उपाय क्या है? सच्चे देव, शास्त्र, गुरुके प्रति आस्था होना और कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुके प्रति लगाव न रहना। ज्ञानी जीव आशाके वश होकर कुदेवको को प्रणाम विनय नहीं करता।

स्नेह एवं लोभके वश भी कुदेवोंको प्रणाम विनयादि करनेकी ज्ञानीके असंभवता—स्नेहके वश होकर कि ये हमारे कुलदेवता हैं। हमारे कुलमें इनकी पूजा होती चली आयी है अथवा ये मेरे पुरुखा हैं, ऐसे स्नेहसे भी कुदेवको ज्ञानी पुरुष प्रणाम नहीं करता। लोभके वश होकर भी ज्ञानी कुदेवको प्रणाम नहीं करता। मुझे इससे बड़ी प्राप्ति होगी, खूब धन लाभ होगा ऐसे ख्यालसे भी ज्ञानी जीव कुदेवको प्रणाम विनय नहीं करता। वास्तविकता यह है कि जिसने आत्मस्वरूपका परिचय पाया है उसकी दुनिया अलौकिक हो गई। उसे अब लोगोंसे मतलब न रहा। लोकमें मेरी प्रतिष्ठा हो, या लोगों के द्वारा मेरा अपमान हो, किसी भी बात से मेरे में कुछ असर नहीं होता, उन दूसरोंकी परिणतिका फल उन्हें प्राप्त होगा, मेरी परिणतिका फल मुझे प्राप्त होगा। तो ऐसा वस्तु-स्वातंत्र्य जानकर ज्ञानी जीवको परसे उपेक्षा हुई है, अपने आपमें धीरता हुई है, वह पुरुष लोभवश कुदेवको क्या नमस्कार करेगा?

भय आशा स्नेह लोभसे भी कुशास्त्रोंकी आराधनकी सम्यग्दृष्टिके असंभवता—कुशास्त्र जिनमें रागद्वेषभरी बातें लिखी हैं जिनमें पाप करनेकी प्रेरणा दी है ऐसे शास्त्र कुशास्त्र कहलाते हैं। हमारे कुलमें ये ये शास्त्र चले आये हैं, मैं अगर इनको न मानूं तो मेरे पर आपत्तियां आ सकती हैं। पाप बंधेगा, कष्ट आयगा, इसलिए इन कुशास्त्रोंको जो पुरुखोंसे चले आये हैं, पुजतें हैं, ऐसे भाव रखता है अज्ञानी मिथ्यादृष्टि। ज्ञानी जानता है कि किसी भी परद्रव्यकी उपासनासे मेरेको कुछ लाभ हानि नहीं, और परकी उपासना कोई कर ही नहीं सकता। जो भी उपासना करता है वह अपने आत्माकी उपासना करता है। आत्माका जैसा स्वरूप नहीं है उस स्वरूपकी उपासना करे तो वह मिथ्यात्व है और जैसा आत्माका स्वरूप है वैसी उपासना करे तो वह सम्यक्त्व है। शुद्ध दृष्टि वाला पुरुष कुशास्त्रके भयसे प्रणाम विनय नहीं करता, आशासे भी नहीं करता। इसमें अनेक मंत्र लिखे हैं, अनेक टोटका मंत्र चले हैं, इन शास्त्रोंकी विनय करें, इनके मंत्रोंकी साधना करेंगे तो लौकिक सम्पन्नता बढ़ेगी ऐसे भावोंसे भी ज्ञानी जीव कुशास्त्रको प्रणाम विनय नहीं करता। देखिये ज्ञानी जीवकी केवल एक ही अभिलाषा होती कि मैं कैसे विकारों से हटकर अपने सहज स्वभावमें लगूं। दूसरी अभिलाषा नहीं होती। चूंकि शरीर है, प्राणरक्षा भी आवश्यक है, यों जबरदस्ती मरण करनेसे संसारचक्र न छूटेगा, किन्तु यह जो भला जीवन है। इस जीवनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका सम्बंध बने तो यह संसारचक्र छूटेगा, इस कारण ज्ञानीके चित्तमें दूसरी अभिलाषा रंच भी नहीं है। आखिर कुछ ही वर्षों बाद मरण होगा,

यह शरीर जला दिया जायगा, जरा उस स्थितिको अपने ध्यानमें तो लावो। आखिर मरण नियमसे होगा, मरणके समय जो जो स्थितियां आती हैं उनपर विचार तो करो। एक नीतिशास्त्रमें बताया है कि अजरामखत्राज्ञों विद्यामर्थं च चिन्तयेत्। गृहीत इवकेशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्। याने लौकिक विद्या और धन इन दो की कमाई तो तब हो पाती है जबकि कोई अपनेको अजर अमर समझ रहा हो। यदि किसीके चित्तमें यह बात घर कर जाय कि मेरा तो कुछ ही समय बाद मरण होने वाला है तो उसको न धन कमाने में उत्साह रहेगा न लौकिक विद्यायें सीखनेमें। हां अगर किसीको अपने मरणके सम्बंधमें ध्यान बन जाय तो आत्मविद्या सीखने में जरुर उसकी रुचि बनेगी। मानलो किसीको फांसी लगने वाली है। उससे कोई कहे कि बोलो तुम क्या चीज खाना चाहते हो लड्डू, पेड़ा, बर्फी, रसगुल्ला वगैरह? तो वहतो यही कहेगा कि मुझे कुछ न चाहिये ऐसे ही जब किसीको अपनी मृत्यु का सही सही निर्णय हो जाता है तो उसे सांसारिक कोई भी समागम नहीं रुचता। जिसने अपनी मृत्युका सही सही निर्णय कर लिया वह पुरुष धर्मका आचरण करेगा। तो जिसने अपने स्वरूपका परिचय पाया वह कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु आदिक बाहरी बातोंके पूजन वंदनमें न लगेगा। भय, आशा, स्नेह, लोभसे यह सम्यग्दृष्टि जीव इन कुशास्त्रोंको प्रणाम विनय नहीं करता।

भयादि किसी कारणसे भी कुगुरुके प्रति आस्थाकी शुद्धदृष्टि आत्माके असंभवता— कुगुरु जो विषयोंकी आशाके आधीन हैं, जो आरम्भ परिग्रहमें लगा करते हैं, जिनके चित्तमें ज्ञान, ध्यान, तपश्चरणकी बातें नहीं आती हैं, जिनको लौकिक पुजापनेका भाव है वे पुरुष कुगुरु कहलाते हैं। ऐसे कुगुरुवोंको सम्यग्दृष्टि जीव भयसे भी प्रणाम विनय नहीं करता। हां मान लो कुछ परिस्थितिवश करना ही पड़े प्रणाम विनय किसीकी जबरदस्ती करने से तो उसके सम्यक्त्वमें दोष नहीं पैदा होने पाता। उसको स्वयं भीतरमें श्रद्धा नही है और न वह प्रणाम विनयकी वृत्ति से करता है। उसके दोष नहीं है। जैसे किसीने खाने पीनेकी कोई चीज त्याग रखी है और कोई दूसरा उसे जबरदस्ती खिला पिला दे तो उसका नियम भंग न कहलायगा। सब बात अपनी भावनापर निर्भर है, ज्ञानी जीव भयसे कुगुरुको नमन नहीं करता। कहीं राजागण मुझे प्राणदण्ड न दे दें, ऐसा भय ज्ञानी जीवको नहीं होता। ज्ञानीको भय किसका? लोग क्या कहेंगे? मुझको बुरा सोचेंगे या मुझसे लोग घृणा करेंगे तो यह सब उन्हींका उन्हींको भेंट होगा? मेरे पर उसका कुछ प्रभाव नहीं है। जिसका जैसा विचार होगा उसके अनुकूल कर्मका बन्धन चलता है। ज्ञानी पुरुष क्यों भय करे। क्यों वह कुगुरुको बंदन करे? उसे किसीका भी संकोच नहीं। वह केवल एक अपनेमें ज्ञानभावना बनाये हुए है। ज्ञानकी चर्चा, ज्ञानसे ही प्रसन्नता ऐसी जिसकी रुचि है वह ज्ञानी भयसे भी कुगुरुको नमस्कार नहीं करता। आशा भी नहीं रखता कि ये सन्यासीजी मेरेको कोई मंत्र देंगे या मेरे पर कृपा करेंगे कि मैं मालोमाल होऊं या जो भी चाहे, ऐसी श्रद्धा ज्ञानीके नहीं है। वह जानता है कि मुझे बाहरी वैभवसे भी प्रयोजन नहीं। मैं तो अपनेमें अपने स्वरूपको निरखता रहूं, इसके अतिरिक्त कुछ न चाहिए। ज्ञानी जीव कुगुरुसे कोई आशा नहीं रखता। स्नेह भी नहीं कि यह मेरा पड़ौसी है या इसको मेरे बाबा, पिता बड़े प्रेमसे रखते आये हैं या किसी तरहका स्नेह करके कुगुरुको प्रणाम बंदन ज्ञानी पुरुष नहीं करता। वह तो अपनेको अकिञ्चन मान रहा

है। मेरा कुछ नहीं है, मैं अन्य किसी रूप नहीं, मैं अपने स्वरूपमात्र हूं इस धुनमें रहने वाला पवित्र व्यक्ति लोभका भाव रखे यह नहीं हो सकता। कुगुरुको लोभवश भी वह प्रणाम विनय नहीं करता। धन मिले, रोग हटे, मुकदमेमें विजय मिले आदिक किसी भी प्रकारके लोभसे सम्यग्दृष्टि जीव कुगुरुको प्रणाम विनय नहीं करता।

ज्ञानीकी दृष्टिकी शुद्धता—देखिये लोकमें कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुका बड़ा ही प्रसार है। अच्छी चीज कम हुआ करती है, संसारका एक ऐसा प्राकृतिक नियम है। भले जीव जिन्होंने अपना ज्ञानप्रकाश पाया और उस ज्ञानभक्तिमें रहा करते हैं ऐसे जीव इने गिने हैं, दुर्लभ हैं, बड़ी कठिनाईसे मिलते हैं, शेष जीव तो विषय कषायोंके आधीन हैं। अब उनमें कोई देवत्वकी बुद्धि करें तो समझो कि उनके ज्ञानमें कमी है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवको एक-दम यह निर्णय है कि सब असार है, सब बेकार है। एक अपना स्वभाव स्वरूप परमार्थ है। परमार्थकी दृष्टिमें ही दुःखोंका क्षय है, कर्मोंका हटाव है, ऐसा निर्णय सम्यग्दृष्टि जीवके स्पष्ट बना हुआ है। वह किसी भयसे, आशासे, स्नेहसे, लोभसे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुका बंदन नहीं करता। थोड़ा लोक व्यवहारमें एक अड़चन सी आती है, जिसके लिए लोग प्रश्न करते है कि कई प्रसंग ऐसे होते है कि हम पड़ौसी लोगोंके साथ हैं और वे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुके बंदनमें भी चल रहे हैं, उनसे हमारे ताल्लुकात अच्छे हैं, हमारे उनसे बड़े काम बनते हैं तब फिर क्यों न उन जैसी क्रियायें करें? ऐसा एक प्रश्न होता है, तो भाई उनकी इस बात का उत्तर मेरे पास नहीं है। उसका उत्तर तो वे स्वयं ले लेंगे। ठीक है, परिस्थितिवश जो करना पड़ रहा सो तो कर रहे, पर यह बात निश्चित है कि जिसकी जैसी भावना है उसको वैसा फल मिलेगा। जिसे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुके प्रति आस्था है वह अज्ञानी है मिथ्यादृष्टि है, वह नियमसे संसारमें रुलेगा। और जिसे सच्चे देवशास्त्र गुरुके प्रति श्रद्धा है वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है, उसका संसार बंधन कटेगा। तो चाहे कैसी ही स्थितियां आयें सच्चे देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान रहे। इस सही श्रद्धानसे विचलित न हों। इसके प्रतापसे अपना सारा भविष्य उज्ज्वल बनेगा।

दर्शनं ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्, मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते॥ ३१॥

सम्यग्दर्शनकी मोक्षमार्गमें कर्णधाररूपता—सम्यग्दर्शनकी सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे भी विशेषतया आदरणीय रूपसे यों उपासना की गई है कि ज्ञान चरित्रके सम्यक् होनेका मूल सम्यग्दर्शन है, इसी कारण सम्यग्दर्शन मोक्षमार्गमें खेवटियाके समान है। आत्मविकासमें सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ये दो मूल साधन हैं। सम्यग्ज्ञान तो साथ लगा हुआ है। सम्यक्त्व साथ हुआ, सम्यग्ज्ञान कहलाया। चारित्र विशेष बढ़ा, ज्ञानका विकास बढ़ा, पर विकासका मूल है सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र। यह ही कारण है कि गुणस्थानमें इन दो की अवस्थायें ही बतायी गई हैं—सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र। यों समझिये कि जैसे नौका चलाने के लिए दो की आवश्यकता होती है, एक तो पीछे से कर्णधार चप्पू चलाता रहे और दूसरा—आगे से नाव खेने वाला नावको खेता रहे। इन दो के

बिना नाव इष्ट स्थान पर नहीं पहुंच सकती। अब यहां यह विचारो कि नाव खेने वाले का काम क्या है और चप्पू वाले का काम क्या है? खेने वालेका तो काम है नावको आगे बढ़ाना और चप्पू वाले कर्णधारका काम है दिशा देना। कर्णधार जैसा हुक्म देगा उस ओर को नाव चल पड़ेगी, ऐसे ही श्रद्धा जैसा हुक्म देगी आत्मा की गति उस ओर बढ़ जायगी। सम्यग्दर्शनको कर्णधार कहा है। सम्यग्दर्शन होते ही आत्मामें धैर्य हो जाता है। उसके चित्तमें उल्झन नहीं रहती। उसका एक ही निर्णय है कि सहज आत्मस्वभावको निरखना और इस ही में तृप्त रहना, यह ही एक कार्य है। उसके आकुलता नहीं जगती। भले ही चारित्रमोहकृत आकुलता है, पर मूलमें आकुलता नहीं रहती। तब ही तो बताया कि नारकी सम्यग्दृष्टि जीव नारककृत दुःख भोगता है फिर भी भीतर अनाकुल रहता है। देव सम्यग्दृष्टि जीव अनेक देवांगनाओं में रमता है फिर भी उनमें अनासक्त रहता है भरतचक्रवर्तीको घरमें वैरागी बताया। पर घरमें रहते तो विरक्त कैसे? विरक्त तो गृहत्याग पर ही कहलाता वास्तविक मायनेमें, किन्तु घरमें रहते हुए भी लौकिक सर्व बातोंसे उदास थे। उनको अपने अन्दरमें सहज स्वभावका प्रकाश जग गया था। मै यह हूं और मैं ज्ञानकी वृत्तिके सिवाय और कुछ कर सकता नहीं हूं। यह मैं ज्ञानकी वृत्तिको ही भोगता रहता हूं। इसके अतिरिक्त न मैं अन्य कुछ करता हूं न भोगता हूं।

अपनी वास्तविक शान्ति के लिये पौरुष करनेमें विवेकिता—देखिये—सभी मनुष्य अपनी शान्ति के लिए प्रयास करते हैं। सबका ध्येय एक है। मेरेको शान्ति मिले, दुःख न रहे। यही बात तो जैन शासन बता रहा है कि आपको सदा के लिए शान्ति मिले और कभी भी कष्ट न आये, उसका उपाय आपके आत्मामें खुद ही बसा हुआ है। वहां कुछ पराधीनता भी नहीं है, अपने स्वरूपको जानिये और अपने स्वरूपमें ही रमिये—क्या सम्बंध है आपका घरके परिजनोंके साथ, सही बात सोचिये—आपके पुत्र-पुत्री स्त्री भाई बंधु आदिक जो भी हैं उन जीवोंके साथ आप कहां चिपके हुए हैं, कहां लगे हुए हैं, कहां सम्बंध बना हुआ है, निरखिये ध्यान से, कुछ भी नहीं है। आप तो गुजारा करनेके लिए घरमें रह रहे हैं, इससे अधिक और कुछ प्रयोजन नहीं है आपका। गुजारा कर चुके, आगे चल दिया, कुछ भी मतलब सिद्ध होता हो मिले हुए समागमसे तो आप बताओ। कुछ बात नहीं है लेकिन परिजनों के पीछे ही अपना सारा उपयोग तन, मन, धन, प्राण, वचन आदि जो कुछ आपके पास हैं उनको ही समर्पित करते हैं और अपने को दैन्य अनुभव करते हैं। अपने आपमें क्या मंजूर है, कैसा निर्दोष है, कैसा ज्ञानानन्दस्वरूप है उसको नहीं निरखते और बाह्य दृष्टि करके बड़ा मौज मान रहे। ठीक है, भला पति है, भली पत्नी है, सब ठीक है, किन्तु परिणमन तो सबका अपने आपका अपनेमें है और जो भी भला हो रहा वह अपनी शान्ति सुखके लिए हो रहा। आपको कुछ भी देनेमें समर्थ दूसरा है ही नहीं, उस ओर तो दृष्टि नहीं। तो कुछ अपने आपको शान्ति चाहिए तो विवेक करना पड़ेगा अगर विवेक नहीं रखते तो संसारमें परिभ्रमण कर दुःख ही भोगते रहना पड़ेगा। आपका विवेक आपके हाथ है। अपने को निरखो सबसे निराला ज्ञानमात्र। इस अंतस्तत्त्वमें ही मग्न होनेकी भावना रखिये।

प्रवृत्तिके बीच रहकर भी निवृत्तिका आशय रखनेवाले ज्ञानीके परिचयके लिये एक पौराणिक उदाहरण—भरत चक्रवर्तीके निवृत्तिका ही भाव था राज्य करते हुए भी इसलिए उनको घरमें

वैरागी कहा जाता है। राजावोंसे बात कर रहे हैं, चित्त अपने आपके स्वरूपकी ओर लगा है। रानियोंके बीच बैठे विनोद कर रहे हैं उपयोग अपने आत्मस्वभावकी ओर खिंचा हुआ है। अरे ऐसा भी हो सकता है क्या? हां हो सकता है चारित्र मोहका मंदउदय होने पर ज्ञानीकी ऐसी ही वृत्ति होती है। एकबार किसी पुरुषने भरतचक्रीसे प्रश्न किया कि महाराज आप घरमें तो रह रहे, राजपाट सम्हाल रहे, फिर भी लोग आपको बैरागी क्यों कहते? तो वहां भरतचक्रवर्तीने उस तुरन्त कोई उत्तर न दिया, कहा कि फिर बतायेंगे। अब भरतचक्रवर्तीने क्या किया कि अपने यहां के कुछ सिपाहियोंसे समझा दिया कि देखो इस पुरुषको हम कुछ आदेश देंगे, तुम्हें भी इसका सिर उड़ाने का हुक्म देंगे, सो सिर तो न उड़ा देना, पर इस पुरुषको यह न मालूम होने पावे कि चक्रीने यों ही झूठमूठ सिर उड़ानेकी बात कहा है। यों सारी बात समझा दिया सिपाहियोंको। फिर उस पुरुषको हुक्म दिया कि देखो तुमको तेलसे भरा एक कटोरा दिया जायेगा, उस कटोरेको लेकर हमारे राज्यका सारा वैभव तुम्हें देखकर आना है, बादमें पूछेंगे कि कहां क्या देखा, और शर्त यह है कि इस तेलके कटोरेसे एक भी बूंद तेल कम न होने पावे, यदि तेल कम हुआ तो तुम्हारे साथ चलने वाले इन सिपाहियोंको हमारा आदेश है कि वे तुम्हारा सिर उड़ा देंगे। अब वह पुरुष विकट समस्यामें आ गया कि चक्रीका सारा वैभव देखना भी जरूरी है, नहीं तो पूछेगा तो क्या बतायेंगे और तेल पर निगाह रखना भी जरूरी है नहीं तो कम हो जाने पर गर्दन कटेगी। खैर चला वह पुरुष चक्रीका वैभव देखने घुड़साल, रानियों का अन्तःपुर, रत्नोंका भण्डार आदि सब देखा, पर निगाह बराबर तेल पर रही। सब वैभव देखकर वापिस आया। वापिस आने पर चक्रीने पूछा कि बताओ तुमने मेरा क्या क्या वैभव देखा? तो वह पुरुष बोला—महाराज देखनेको तो मैंने आपका सारा वैभव देखा पर मैं उस विषयमें बता कुछ नहीं सकता, क्योंकि निगाह मेरी कटोरेके तेल पर थी। तो वहां किसी मंत्री वगैरहने उस पुरुषसे कहा कि बस यही उत्तर तो चक्रीका है तुम्हारे उस प्रश्नका कि घर के बीच बैरागी कैसे? महाराज घर के बीच रहकर राज्यकी सब व्यवस्था करते हुए भी अपने ज्ञानस्वभावकी सुध से च्युत नहीं होते हैं। मंत्रीकी इस प्रकारकी बात सुनकर समझ लिया उस पुरुषने कि सचमुच भरत जी घरके बीच भी बैरागी हैं। अभी आप यहां भी देख लीजिए जब किसीका कोई इष्ट घरमें गुजर जाता है तो वह यद्यपि घर गृहस्थीके बीच रहकर सब काम करता है फिर भी ख्याल उसको अपने इष्टका बना रहता है। तो सम्यक्त्व जग जाने पर सम्यग्दृष्टि पुरुषकी यही स्थिति रहती है। तात्पर्य यह है कि रत्नत्रयमें सम्यग्दर्शन एक सोपान है इसलिए वह बहुत ही उत्कृष्ट तत्त्व है।

विद्यावृत्तस्य सम्भूति-स्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥ ३२॥

सम्यक्त्वके अभावमें ज्ञान और चरित्रकी संभूतिस्थिति वृद्धि आदिकी असंभवता— सम्यग्दर्शन क्यों इतना महत्वशाली है, आदरणीय है, उसकी सिद्धिमें यह श्लोक कहा गया है। ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्ति, ज्ञान और चारित्रका ठहराव, ज्ञान और चारित्रकी वृद्धि, ज्ञान और चारित्रके फलका उदय सम्यक्त्वके न होने पर नहीं हो सकता। जैसे कि बीज यदि नहीं है तो वृक्षकी उत्पत्ति,

वृक्षका ठहराव, वृक्षकी वृद्धि और वृक्षमें फलोंका लगना नहीं बन सकता। बीज ही नहीं हैं तो वृक्षमें अंकुर कैसे उत्पन्न होंगे? ऐसे ही सम्यक्त्व ही नहीं है तो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहां प्राप्त होंगे?

यथार्थज्ञान और सम्यग्ज्ञानका विश्लेषण—एक यहां जिज्ञासा हो सकती है कि सही ज्ञान न हो तो सम्यक्त्व कैसे बन जायगा? इसलिए सम्यक्त्वसे पहले सम्यग्ज्ञान बताना चाहिए। समाधानमें थोड़ा मनन करें। एक दृष्टान्त लो—जैसे किसीने मानो बाहुबलिकी मूर्ति को नहीं देखा श्रवणबेलगोलमें जो बनी है पर उसके बारेमें साहित्यसे, दूसरोंके कहनेसे या उसकी प्रतिमूर्तिरूप मंदिरमें जो बाहुबलिकी मूर्ति है उसके देखनेसे मूर्तिका सारा ज्ञान तो कर लिया, उसका फोटो भी भली भांति देखा और उसके शरीरके अंगोंकी लम्बाई, चौड़ाई आदि की भी पूरी जानकारी कर लिया, एक तो इस प्रकारका ज्ञान, और एक ऐसा ज्ञानकि वही व्यक्ति श्रवण बेलगोल पहुंचकर पहाड़पर चढ़कर साक्षात् रूपमें उस मूर्तिके दर्शन करे, तो बताओ इन दोनों प्रकार के ज्ञानोंमें कुछ फर्क है कि नहीं? है फर्क। क्या है वह फर्क कि एक तो था अनुभवरहित ज्ञान और एक हुआ अनुभव सहित ज्ञान। उस मूर्तिके देखनेसे पहले उस मूर्तिके बारे में बहुत कुछ ज्ञान करने पर भी वह ज्ञान अनुभवसहित न था उस विषयका और मूर्तिके निरखने पर साक्षात् देखा समझा तो वह ज्ञान हुआ बहुत प्रतीति सहित। ऐसे ही जिस जीवको सम्यक्त्व होता है उसे विपरीत ज्ञानके कारण नहीं होता। होता है सही ज्ञान। जैसा पदार्थ है,द्रव्य गुण पर्यायोंका स्वरूप है, जो जो कुछ यथार्थता है उस यथार्थता वाला ज्ञान जिसके है उसको ही सम्यक्त्व होगा। विपरीत ज्ञान वालेको सम्यक्त्व न होगा। लेकिन सम्यक्त्व होने पर वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यक्त्व होनेसे पहले वही सही ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है। उसमें अन्तर क्या आया कि सम्यक्त्व होने पर अनुभूति सहित ज्ञान बना और सम्यक्त्वसे पहले अनुभूतिरहित ज्ञान था। सो सम्यक्त्व उत्पन्न होने के लिए सही ज्ञान ही काम देगा। विपरीत ज्ञान काम न देगा। जैसा आत्मद्रव्य है, जैसा जैनशासनमें बताया है, जैसा गुरुजनोंने उपदिष्ट किया है उस विधिसे जानें। मैं चैतन्यपदार्थ हूं, मेरे में ज्ञानशक्ति, दर्शन शक्ति, चारित्र शक्ति, आनन्द शक्ति आदिक अनन्त शक्तियां हैं। हैं फिर भी यह मैं आत्मा कोई एक अखण्ड पदार्थ हूं और वह मैं निरन्तर परिणमता रहता हूं। मेरा सर्वस्व मैं ही हूं। मेरी करतूत बस उस चेतना की परिणतिभर है। जानने देखनेसे अतिरिक्त मेरी कुछ करतूत नहीं है कि मैं बाहरी किसी पदार्थको कुछ कर सकूं। ज्ञान जैसे बनता है उस माफिक ही अपनेमें मैं अपनेको भोगता रहता हूं। इससे अतिरिक्त बाहरमें मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है।

वर्तमान परिस्थितिमें आत्मनिरीक्षणका अनुरोध—अब ध्यानमें दीजिये कि घरमें रहने वाले जीवों पर आपकी किस तरहकी दृष्टि रहती है। ये मेरे ही तो हैं और मेरा इन्हींसे ही तो बड़प्पन है। ये ही तो मेरे सब कुछ हैं, और किसके हो जायेंगे? ऐसे तीव्र लगावके साथ यदि भीतरी आशय बना है तो इसे आप अपने पर बड़ी विपत्ति समझिये, क्योंकि उस प्रकारका कर्माश्रव होता है। वहां बंध है, उदयकालमें वैसा फल मिलेगा। संसार में जन्म मरण चलता रहता है। मानलो परिस्थितिवश घरमें रहना पड़ता है तो रहो पर श्रद्धामें यह बात रहे कि मैं तो चैतन्यमात्र हूं। मेरेमें एक तो मुझ चेतनाका परिणमन चलता है और मैं चेतनाको ही भोगता रहता हूं। इससे बाहर मेरा रंचमात्र भी किसीसे भी

सम्बन्ध नहीं, पर मैं अकेला ही रहूं, कोई परिग्रह न रखूं और आत्मसाधना ही करता रहूं, ऐसी स्थितिमें मैं अभी नहीं हूं अतएव घर में रहना आवश्यक हो गया। घरमें रहना तब ही ठीक बन पायगा जबकि सबके साथ प्रीतिका व्यवहार रहे। लो यों परिस्थितिवश करना आवश्यक हो गया, पर भीतरमें यथार्थ ज्ञानप्रकाश हो तो वह गृहस्थ घरमें रहता हुआ भी धर्म मार्गमें चल ही रहा है। मोक्ष मार्गमें चल ही रहा है। तो भाई अज्ञान, मोहको भयंकर विपत्ति मानो। किसी दूसरे जीवको अनिष्ट समझ कर और उसे देखकर ही भीतर दुःखी बने रहना यह कर्तव्य नहीं है किन्तु अपने ही अज्ञान और मोहको अपने बिगाड़ वाला शत्रु समझना। अज्ञान दूर होगा, मोह दूर होगा तो भीतरी ज्ञान प्रकाश होनेके कारण यह कृतार्थ हो जायगा। सम्यक्त्वकी महिमा को कह रहे हैं कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका अभ्युदय इस सम्यक्त्वके प्रतापसे होता है। जैसे कि बीजके प्रताप से अंकुर बनता है।

सम्यक्त्वके सद्भावमें सम्यक्चारित्रका विलास—सम्यक्चारित्रकी भी बात देखिये—अणुव्रत महाव्रत रूप चारित्र, यह तो सम्यक्त्वके बाद ही होता है, मगर सम्यक्त्व होते ही सम्यक्त्वाचरण तो हो ही जाता है जो कि स्वरूपाचरणका एक आंशिक प्रारम्भ है। जब अपने आत्माके सहज स्वरूपको जानो तो उसको जानते ही कितना ही क्षोभ मिटा, कषायें मिटीं, उद्वेग मिटा, धैर्य मिला, तो यह क्या चारित्रकी शकल नहीं है? है वह अणुव्रत से नीचे दर्जेका, मगर कुछ तो आत्मामें प्रभाव पड़ा ही है। तो ऐसा सम्यक्त्वाचरण रूप चारित्र यह है चारित्रका अंकुर। फिर वही बढ़ेगा तो अणुव्रत रूप, महाव्रत रूप, समाधिरूप यह बढ़ता चला जायगा। तो चारित्र की उत्पत्ति सम्यक्त्वके बिना नहीं हो सकती। इसी तरह स्थित बना रहे, ठहरा रहे, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इनका साधन वह सम्यग्दर्शन है, फिर यह बढ़ता रहे, आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टि दृढ़ रहे, यह भी सम्यक्त्वके होने पर ही तो सम्भव होता, सम्यक्त्वके अभावमें नहीं, और फिर सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका फल अनाकुलता, शान्ति, ये फल भी मिले तो सम्यक्त्व होने पर ही तो मिल सके। सम्यक्त्वके अभावमें सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी न उद्भूति है न अनाकुलता का अनुभव बन सकता है इस कारण सम्यक्त्व बहुत प्रधान है।

आत्ममननके कर्तव्यसे विमुख न होनेका कर्तव्य—भैया, थोड़ा चित्तमें बसाओ तो सही कि ये धन वैभव परिग्रह मेरे लिए बेकार हैं। इनके लगावमें, इनके संगममें, इनकी आशामें, तृष्णामें मेरेको मिलता कुछ नहीं है, बल्कि जो उसमें पाप कमाया उसका फल भोगनेको मिल गया सो आगे फल भोगना पड़ेगा। और मेरे स्वरूपका भान हो जाये, मैं सहज अपने सत्वसे किस रूप हूं? अमूर्त चैतन्यस्वरूप, आकाशवत निर्लेप निमित्त नैमित्तिक बंध हो गया है और उसको भी हमारी गल्ती ही बढ़ा रही है, पर स्वरूपको देखिये—स्वरूपमें विकार नहीं, स्वरूपमें कष्ट नहीं। जैसा सिद्धका स्वरूप वैसा मेरा स्वरूप। ज्ञानानन्दकी शक्ति वाला। ऐसे अपने स्वरूपमें कितनी पवित्रता है, कितनी उत्कृष्टता है उस ज्ञानस्वरूपको निहारो और उस ही रूप अपना अनुभव बनाइये। मैं यह हूं यह कोशिश करना है। करेंगे तो पार हो जायेंगे, न करेंगे तो संसारमें रुलेंगे। मैं ज्ञानमात्र हूं, अन्य रूप नहीं हूं। जो इसका नाम धरा गया फलाने चंद, फलाने लाल, या जो जो भी नाम रखे गये वे इस अमूर्त आत्माके नाम नहीं हैं। वे पिण्ड के नाम धरे गए। बोलने वाले तो लोग ही हैं। ये लोग जिसको देखें, जिसको देखकर

कहें नाम उसका। मैं अमुक लाल नहीं, अमुक चंद नहीं, अमुक कार्य वाला नहीं व्यापारी नहीं,सर्विस वाला नहीं, अमुकका बाप नहीं, अमुकका पुत्र नहीं, अमुकका अमुक नहीं। यह सब पिण्डके साथ व्यवहार है। मैं आत्मा तो इस देह देवालयमें विराजमान चेतनामात्र परमात्म पदार्थ हूं। ऐसे इस सहज परमात्मतत्त्वमें अपनी स्वीकारता आ जाय बस समझिये कि नियमसे वह मोक्ष जायगा। कभी भी जाय। अब वह संसारके समस्त संकटोंसे सदाके लिए मुक्त हो जायगा।

सम्यक्त्वका महत्व—संसार संकटोंसे छुटकारा पानेमें मूलतःमाहात्म्य सम्यक्त्वका है। इसी सम्बंधमें श्री गुणभद्राचार्यने कहा है—शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः। पूज्य महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंमुक्तम्। आत्मानुशासन ग्रंथमें कहा गया यह आर्याछन्द है, अभी तक श्लोकमें वर्णन था। संस्कृतमें श्लोकका राग दूसरा होता है, आर्याछन्दका राग दूसरा होता है। श्लोकमें ३२ अक्षर होते हैं, ८-८ अक्षरोंका एक-एक चरण होता है और उसमें ५वां अक्षर ह्रस्व और छठवां अक्षर दीर्घ, इतना ही उसमें नियंत्रण हैं, बाकी कैसी ही मात्रा कहीं हो, ३२ अक्षरोंमें राग बनना चाहिए। आर्याछन्दमें चार चरण होते हैं। प्रथम चरणमें १२ मात्रायें दूसरे चरणमें १८, तीसरे में १२ और चौथेमें १५ मात्रायें होती हैं। इस छन्दमें यह बताया गया है कि यदि सम्यग्दर्शन नहीं है तो कितनी ही मंद कषाय हो, कैसा ही ज्ञान हो, कितना ही चारित्र पालन करें और कितना ही तपश्चरण करें तो वह पत्थरकी तरह बोझमात्र है और यदि सम्यक्त्व है और उसके साथ थोड़ा भी मंदकषाय, ज्ञान, चारित्र और तप हो तो भी वह महामणिकी तरह महत्त्वशाली है। पत्थर अनेक होते हैं। मणि भी पत्थर है और छतोंपर डाले जाने वाले या नीचे बिछाने वाले पत्थर भी पत्थर हैं, मणिकी तो लाखों कीमत है और इन साधारण पत्थरोंका अति अल्प मूल्य है। तो जैसे लोकमें इन पत्थरोंका अधिक महत्त्व नहीं माना जाता और मणिका महत्त्व अधिक है ऐसे ही सम्यक्त्व के साथ यदि चारित्र आदिक हैं तो उनका महत्व अधिक है। और सम्यक्त्व के बिना यदि तपश्चरण आदिक हैं तो उनका महत्त्व नहीं है। यद्यपि सम्यक्त्व रहित पुरुषके भी तपश्चरण मंद कषाय आदिक हों तो उनका भी कुछ फल होता है। सद्गतिमें जन्म हो जाता है, पर मोक्षमार्ग नहीं बनता, इस दृष्टिसे यह कथन चल रहा है। सम्यग्दर्शन ही इस जीवका सर्वस्व है, परम कल्याण करने वाला है, ऐसे पवित्र अच्छे कुलमें जन्म पाकर एक ही धुन बनाना चाहिए मूलमें कि मेरेको मेरेमें बसे हुए सहज परमात्मस्वरूपका दर्शन हो, अनुभव हो, इसके अतिरिक्त कुछ न चाहिए। यह बात हम मुनियोंकी नहीं कह रहे, उनकी तो और ऊंची वृत्ति है, पर गृहस्थोंकी बात कह रहे कि एक ही धुन होनी चाहिए मौलिक कि मेरेको क्या चाहिए। मेरे आत्माके सहजस्वरूपका अनुभव चाहिए।

जीवनका मूल उद्देश्य सही होने पर जीवनकी सफलता—यद्यपि गृहस्थीमें रहकर अनेक कार्य करने पड़ते हैं, करना पड़ेगा। पर हर एकके मनमें कोई मौलिक अभिलाषा रहती है। ऊपरी इच्छायें भी चलती हैं, पर एक उद्देश्य वाली इच्छा भी साथ रहती है। उद्देश्य वाली यह इच्छा रहती है कि मेरे इतना वैभव हो जाय कि इस दुनियामें मैं प्रथम नम्बरमें कहलाऊं, यह उसके भीतर में मौलिक इच्छा रहती है, पर केवल इतनी ही इच्छा रहती क्या? क्या खाने पीने पहिनने ओढ़ने आदिकी इच्छा नहीं होती है? होती है, अनेक इच्छायें चलती हैं, पर एक इच्छा उसकी मौलिक है यह कि मेरे इतनी सम्पदा

बने, जो दुनियामें सिरमौर कहलाऊं। ऐसी ही बात कह रहे हैं कि वह मौलिक इच्छा हितकारी नहीं है। मान लो तीन लोकका वैभव भी जुड़ गया तो उससे आत्माको क्या मिल जायगा? क्या मरण समय सब कुछ छूट न जायगा? उस वैभवसे क्या लाभ पा लिया जायगा? तो मेरेको इतनी सम्पन्नता हो जाय कि मैं सर्वप्रथम कहलाऊं, यह इच्छा करना मूढ़ता भरी इच्छा है, किन्तु आदत तो है ऐसी कि प्रत्येक मनुष्य कोई एक इच्छा तो मौलिक रखता है, बाकी इच्छायें अनेक होती है वे गौण होती है, कुछ कालके लिए होती हैं, कुछ परिस्थितिमें होती हैं। ऐसी अनेक इच्छायें होना और एक मौलिक इच्छा होना ये दो बातें हर एक मनुष्य में पायी जाती हैं। तो गृहस्थको मौलिक इच्छा क्या करना चाहिए, यह बात कह रहे हैं। मौलिक अभिलाषा यह होनी चाहिए कि मेरेको मेरे आत्माके सहज स्वरूपका दर्शन हो, अनुभव हो, वही ध्यानमें रहे, मेरेको यह स्थिति चाहिए, अन्य कुछ न चाहिए, गौण इच्छायें चलती रहेंगी, पर उन बातों पर जो हम लौकिक बातें चाहते हैं उन पर मेरा कुछ अधिकार नहीं है। पूर्व जन्ममें कमाये हुए पुण्यके अनुसार यह संयोग मिला। आज कितनी ही कल्पनायें बनायें, कितना ही हम उस सम्पन्नताके लिए कोशिश करें, भाव बनायें, पर सफल नहीं होते। यद्यपि यहां भी कोशिश तो सभी करते हैं मगर कोशिश बनती हैं, सफल होते हैं, पुण्यके अनुसार। तो इन बाहरी बातोंमें हम मौलिक इच्छा न बनायें किन्तु मूल अभिलाषा यह रखें कि मेरे में वह ज्ञानप्रकाश प्रकट हो जिससे कि सदाके लिए संकटोंसे छूट जाऊं।

ज्ञानामृतके पानसे अमरत्वकी प्राप्ति—लोग ऐसा कहते हैं। कुछ कुछ पुस्तकोंमें लिखा रहता है कि अमर फल खानेसे अमर हो जाता है, पर यह तो बतलावो कि दुनियामें है क्या कोई ऐसा अमरफल है जिसके खानेसे से मनुष्य अमर हो जाय? असम्भव बात है। न कोई ऐसा अमरफल है और न अमरफल कोई खाया जाता। अरे वह अमरफल ही तो पहले अमर हो जाये। जिसको खाया गया उसका ही जब चूरा हो गया तो फिर वह दूसरेको क्या अमर करेगा? जगतमें कोई अमरफल नहीं है कि जिसके खानेसे यह जीव अमर हो जाय। या अमृत हो कोई ऐसा कि जिसके पीनेसे मनुष्य अमर हो जाय। न कोई अमृत है न कोई अमरफल है, पर है कुछ बात उसमें रहस्य की। अगर अमृत पीले कोई तो नियमसे वह अमर हो जायेगा, इस बातमें कोई संदेह नहीं, मगर वह अमृत क्या है जिसके पीने से यह अमर हो जाता है। वह अमृत है जो न मरे ऐसे तत्वका प्रकाश। मेरा आत्मस्वरूप स्वयं सत् है, परिपूर्ण है। जो सत् होता है उसका कभी विनाश हो नहीं सकता। मैं आत्मा चैतन्यसत् हूं। मेरा कभी विनाश हो ही नहीं सकता। भले ही जैसे कोई पुरुष इस घरमें रहा, दूसरे घरमें गया, तीसरे घरमें रहा, दसों घर बदले, मगर क्या वह मनुष्य वही नहीं है? ऐसे ही यह जीव अनेक शरीर बदले, मनुष्य हुआ, देव हुआ, कुछ भी हुआ, कितने ही शरीर बदले और कभी शरीरसे रहित हो जाय तो आत्मा तो वही है। शरीरके बदले जानेसे आत्माका नाश नहीं है, आत्माका मरण नही है। केवल शरीरके विकारको ही मरण कहा करते हैं, पर आत्माका मरण नहीं है। ऐसा अमूर्त स्वभावका, आत्मतत्त्वका ज्ञान जग जाय और उसी आत्मस्वरूपमें ध्यान जम जाय और वह अपनेको अविनाशी अनुभव करने लगेगा तो बतलावो इस अमृत तत्त्वके पान करने से यह अमर हो गया या नहीं? अमर तो यह था ही चाहे यह कितना ही

घबड़ाये, पर यह जीव अमर है। परन्तु इसे यदि अपने अमरपनका ख्याल नहीं है तो कहां अमर है? अपने उपयोगमें जब इसको अपने अमरपनका ख्याल आ जायगा तो यह जीव अमर कहलायगा।

अपनेपर अपना उत्तरदायित्व जानकर आत्मकल्याणका प्रयास करनेमें ही विवेक—भैया, जरा अपने कल्याणकी दृष्टिसे सोचिये तो परिवारके लोग मेरे आत्माको सुखी न कर सकेंगे। जगतकी कोई भी घटना मेरेको सुखी शान्त न कर देगी। जगतका एक अणु भी मेरा साथी नहीं है। एक भी कोई जीव मेरा साथी नहीं है। जैसे झंडा हवाके चलनेसे उलझता है, सुलझता है ऐसे ही यह जीव अपने ही भावोंसे उलझता और सुलझता है। हम अपने ही भावोंके द्वारा अपना उद्धार कर सकते हैं। दूसरा कोई भी मेरा उद्धार करनेमें समर्थ नहीं है। अपनी जिम्मेदारी अपनेमें समझिये तो सही, व्यर्थके विचार, अटपट विकार, अटपट विचार, इनसे लाभ क्या होगा? ऐसा ध्यानमें रखकर कुछ आत्मकल्याणकी अभिलाषा बढ़ाइये और आत्मकल्याणकी अभिलाषा जिसके होगी उसको अन्य सब बातें बेकार लगेंगी। यह है सम्यग्दर्शनकी महिमा। इसके प्रतापसे जीवन शान्त रहता है। जिन जीवोंके सम्यग्दर्शन है उनके सम्मुख अल्प भी हो उनका ज्ञान, थोड़ा भी हो उनका चारित्र और तप थोड़ा भी हो तो भी वह महत्वशाली है, और उसके प्रतापसे जितने भव शेष हैं संसारमें वे भव उत्तम मिलेंगे और अन्तमें कर्मोंसे, शरीरसे रहित होकर यह सिद्ध पद प्राप्त कर लेगा।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥ ३३॥

निर्मोह गृहस्थकी मोक्षमार्गस्थता—जो गृहस्थ मोहरहित है वह मोक्षमार्गमें स्थित है। जो मुनि मोहवान है वह मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है। क्या यह सम्भव हो सकमता कि निर्मोह होकर गृहस्थ गृहस्थीमें रहे? हां यह सम्भव है, पर यह सम्भव नहीं है कि रागरहित होकर कोई मनुष्य गृहस्थीमें रह सके। राग किए बिना कोई गृहस्थीमें नहीं रह सकता, पर मोह किए बिना भी गृहस्थीमें रहा जा सकता है क्योंकि निर्मोहताका सम्बंध है यथार्थ आशयसे। जहां वस्तुका सही ज्ञान है, प्रत्येक जीव निराला है, किसी जीवके साथ उसका कोई नाता नहीं है। उसका देह और कर्मसे भी सम्बंध नहीं है। सबका सत्त्व जुदा अपने आपमें है, ऐसा स्वतंत्र स्वरूपका ज्ञान हो गया, उसको अब किसी भी पर पदार्थमें आत्मस्वरूपका लगाव नहीं रहा। बस मोहरहित हो गया। मोहरहित होने पर भी जिसकी परिस्थिति ऐसी है कि ज्ञानमें रमनेकी दृढ़ता नहीं है वह पुरुष गृहस्थी बसायगा। वह जब घरमें रहेगा तो लोगोंसे प्रीति भी करेगा, प्रीति बिना घरमें न रह पायगा। दुर्वचन बोलकर कोई कैसे खुद शान्त रह सकेगा या दूसरा भी ठीक रह सकेगा? तो राग बिना गृहस्थीमें रहना नहीं बनता, पर मोह बिना गृहस्थीमें बहुत अच्छा रहना बनता है। मोही गृहस्थ उतने अच्छे ढंगसे घरमें नहीं रह सकता जितना अच्छे ढंगसे निर्मोही रह सकता, क्योंकि मोही गृहस्थकी छाप परिवारके लोगोंपर भीतरमें नहीं रहती। बच्चे लोग जान लेते हैं कि यह मेरा बाप मुझ पर इतना मोही है कि मरा जा रहा है, आसक्त है। तो उन बच्चों के चित्तमें स्वच्छंदता आ जायगी और जहां बच्चे जानें कि मेरे पिताजी निर्मोही हैं, इनको जगतकी किसी भी

चीजसे अनुराग नहीं है, इनके साथ रहकर अपनेको अच्छा व्यवहार रखना चाहिए, नहीं तो हमारे दुर्व्यवहारसे घबड़ाकर या विरक्त होकर यह किसी भी समय हमको छोड़ सकते हैं। क्योंकि इनका ज्ञानप्रकाश जगा हुआ है, ऐसी हृदयमें छाप रहती है परिजनोंपर और इसी सद्भावनाके कारण परिजन योग्य व्यवहार करेंगे।

सोदाहरण निर्मोह गृहस्थका गृहस्थीमें आदर्श निवास—जैसे भगवानकी भक्तिदो कारणोंसे की जाती है। एक तो इस कारणसे कि लोग मानते हैं कि भगवान ही हमें नरक भेजता, भगवान ही हमें सुखी दुःखी करता, भगवान ही हमें गरीब, धनिक बनाता, सो कहीं भगवान हमें दुःखमें न डाल दे, नरकमें न पटक दे इस डरसे या फिर इस आशासे कि भगवान मुझे स्वर्गके सुख देगा · · ·, यों एक तो इस भय या आशाके वश होकर लोग भगवानकी भक्ति करते हैं। भगवान भी उनके लिए क्या हैं? जिसको मान लिया सो भगवान। भगवानका स्वरूप उनको सही-सही ज्ञात नहीं है, पर होते हैं कुछ लोग ऐसे जो कि ईश्वरको कर्ता धर्तारूपमें मानकर उसकी आराधना किया करते हैं। तो उनकी भक्ति है भय और आशासे, लेकिन जिन्होंने भगवानको वीतराग और सर्वज्ञ जाना है धन्य है उनका पवित्र आत्मा जिनमें दोष रंच भी न रहे और गुण परिपूर्ण हो गए ऐसा भगवानके स्वरूपको जानने वाले अपने स्वरूपको भी जानते हैं कि मेरा जो असाधारण गुण है, जो चैतन्यस्वरूप है, उसका कार्य केवल चैतन्य मात्र है, रागद्वेष करना नहीं है। रागद्वेष होते हैं कर्मका सम्पर्क पाकर। मैं तो प्रभुकी तरह अविकार स्वभावी हूं। तो ऐसा जानने वाले पुरुष स्वरूप समताकी दृष्टिसे और स्वरूपके विकासकी दृष्टि से भगवनकी भक्ति करेंगे। तो आप जानें कि तत्त्वज्ञानी पुरुष भगवानके और अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानने वाले पुरुष प्रीतिसे भक्ति करेंगे, अनुरागसे भक्ति करेंगे, पर निर्दोष गुणसम्पन्नताकी दृष्टि न रखने वाले लौकिक पुरुष, केवल कर्ताधर्ता मानने वाले लौकिक पुरुष प्रभुकी भक्ति अनुरागसे नहीं कर सकते। वहां प्रतीति ही नहीं उमड़ सकती, वहां परम आल्हाद नहीं बन सकता जिससे भीतरमें उमंग बने, वहां तो डर और आशा ये दो हैं जिस कारण लोग भक्तिमें लगते हैं। तो जो यहां अंतर है वैसा ही अंतर निर्मोह गृहस्थ और मोही गृहस्थके प्रति परिजनोंकी प्रीतिमें है। परिजनोंकी प्रीति मोही गृहस्थके साथ सही अनुराग पूर्वक नहीं होती, आल्हादपूर्वक नहीं होती, पवित्र बुद्धिपूर्वक नहीं होती, पर निर्मोह गृहस्थकी प्रीति परिजनोंके प्रति आल्हादपूर्वक होती है, सत्कारपूर्वक होती है। ये पूज्य हैं, पवित्र हैं, ऐसी बुद्धि रखकर हुआ करती है।

गृहस्थ धर्म द्वारा भी यथोचित धर्मपालनकी संभवता—जो गृहस्थ निर्मोह होकर घरमें रहता है वह तो मोक्षमार्गमें स्थित है, किन्तु मुनिलिङ्ग भी धारण किया हो और उसके अनुकूल बड़े तपश्चरण भी कर रहा हो लेकिन वह मुनि मोही है तो वह मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है। इस कारण मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ हुआ करता है। देखिये इस बातका रंज न होना चाहिए कि हम गृहस्थीमें हैं, कीचड़में पड़े हैं, हम क्या धर्म साधना कर सकेंगे? धर्मसाधनाका अधिकार तो मुनिजनोंको है, ऐसा सोचकर शोक न करना चाहिए। कारण यह है कि प्रवृत्तिरूप धर्ममें धर्मके दो भेद बताये गए—(१) गृहस्थ धर्म और (२) मुनिधर्म। गृहस्थ भी तो कल्याणका पात्र है। वह रहे सही ढंगसे, मगर वह मोह करता

हुआ रह रहा है तो उसके गृहस्थधर्म है ही नहीं। वह तो अन्य तिर्यञ्चोंकी भांति मुग्ध प्राणी है। उसे धर्मका सवाल ही नहीं उठता। जैसे गाय भैंस आदिक जानवर मोही होते हैं, बच्चोंपर प्रीति करते हैं, उनमें आसक्त होते हैं और अपना ही अपना सोचते हैं, दूसरोंमें मानों जान ही नहीं, इस दृष्टिसे निरखा करते हैं तो जो वृत्ति पशुओं की है वही वृत्ति मोही मुनियों की हो गई, कोई अन्तर न आया, वहाँ धर्मका सवाल ही नहीं उठता, मगर जो सत्य प्रकाश पाये हुये हैं पर द्रव्यों में मोहसे रहित हैं, परिस्थितिवश घरमें रहना पड़ रहा है सो गृहस्थ धर्मका कर्तव्य भी निभाया जा रहा है। ऐसे सद्गृहस्थकी बात कह रहे हैं कि उनकी चर्यामें धर्मपालन बसा हुआ है, जिसके प्रसादसे उनका मोक्षमार्ग बराबर चल रहा है।

सद्गृहस्थकी आदर्शचर्याका दिग्दर्शन—सद्गृहस्थकी चर्या भी तो देखिये—सुबह जैसे उठे तो गृहस्थ सामायिक करते हैं। उस सामायिकमें सर्वविचार करते हैं कि मैं कौन हूं, कहांसे आया हूं, कहां जाऊंगा, मेरा क्या कर्तव्य है, मैं क्या करने लगा इन बातों पर दृष्टि देते हैं प्रातः काल। प्रभुका स्मरण करते हैं, आत्मस्वरूपका भान करते हैं। पहला काम तो सद्गृहस्थोंने यह किया। अब कोई कहे कि प्रातः उठते ही खाट पर बैठे-बैठे चाय पी रहे, अखबार पढ़ रहे या परिजनोंसे गप्पे मार रहे यह काम है गृहस्थोंका तो उनका यह कहना ठीक नहीं। सद्गृहस्थने प्रातःकाल उठते ही सबसे पहले धर्मका ही काम निभाया, दूसरा काम कुछ नहीं किया। उसकी चर्या देखिये—सद्गृहस्थको प्रातः काल उठते ही कुछ गृहस्थीके आवश्यक कार्य भी करने होते जैसे दूध लेने जाना या गाय भैंस दुहना आदिक मगर सब बातें देखिये कि प्रातः कालमें सब धर्मका ही काम चल रहा है। शौचादिक क्रियावोंसे निवृत्त होकर शीघ्र ही नहाना धोना, मंदिर जाना, पूजा, पाठ, जाप, स्वाध्याय आदि करना, ये सब उसके धर्मभावनाकी बातें चल रहीं। सद्गृहस्थकी चर्या बतला रहे। पूजन किया, स्वाध्याय किया, घर आये, घर आकर वह सद्गृहस्थ यह भावना करता है कि कोई अतिथि, त्यागीजन मिलें तो मैं उनको आहार कराकर आहार करूं। अब देखिये—यदि शुद्ध भोजन बन रहे हैं तब तो ये भाव कर सकेंगे, अशुद्ध भोजन बनाया, गोभी फूल, आलू वगैरह बनाया, बाजारका आटा लेकर बनाया तो ऐसा अशुद्ध आहार बनाकर कोई यह भाव कर सकेगा क्या कि मैं किसी त्यागी व्रतीको आहार कराकर आहार करूंगा? नहीं कर सकता। पर सद्गृहस्थ शुद्ध विधिसे आहार बनवाकर यह भावना करता है कि मैं किसी त्यागी व्रतीको आहार देकर भोजन करूंगा। भले ही कोई त्यागी व्रती न मिला फिर भी भावनाका फल तो उसने पा ही लिया। आजकल तो शुद्ध विधिसे आहार तैयार करानेका तो चलन ही खतम सा हो गया। खुद हाथसे आटा पीस नहीं सकते, कुवेंसे पानी भरकर नहीं ला सकते, मर्यादाकी चीजें नहीं रख सकते, जीवन इतना विलासी बन गया कि आचरणका कुछ ध्यान न रहा, भक्ष्य अभक्ष्य का कुछ विवेक न रहा, भला बतलावो जहां ऐसी वृत्ति बन गई वहां त्यागी व्रतीजनोंको शुद्ध आहार करानेका भाव कैसे बन सकता? सद्गृहस्थके अन्दर स्वच्छन्दताकी बातें नहीं होतीं। वह अपने आचरणको शुद्ध ढंगसे रखनेका बड़ा ध्यान रखता है। वह शुद्ध विधिसे आहार तैयार कराकर त्यागी व्रती जनोंको आहार देकर आहार लेनेकी भावना रख रहा तो भले ही आहार न हो सके किसी त्यागी व्रतीका, पर धर्म पालन उस

सद्गृहस्थके निरन्तर चल रहा है। अभी तक तो रहा धर्मपालनका व्यवहारिक पीरियेड, अब आ गया उसके धनार्जनका समय।

सद्गृहस्थकी धनार्जनादिके समय भी सही दृष्टि—सद्गृहस्थ धनार्जन करने जायगा, धनार्जन भी करेगा पर उसका भाव यह रहता है कि न्याय नीतिसे जितने धनका अर्जन होगा उसका कुछ हिस्सा गुजारेके लिए रहेगा, बाकी हिस्सा धर्मके कार्योंमें लगाऊंगा। यदि उसका यह भाव है तो समझोकि धनार्जन करते हुए भी उसके धर्मपालन चल रहा है। यदि धनार्जन करते समय मात्र उद्देश्य रहे अपने परिवारके गुजारेका, धर्मायतनोंमें खर्च करनेका भाव न रहे तो समझो कि वहां धर्मपालन नहीं हो रहा। सद्गृहस्थकी भावना रहती है धर्मायतनोंमें धनको खर्च करनेकी, इस कारण उसके निरन्तर धर्मपालन चल रहा है। तो ऐसा धर्मपालन करते हुए गृहस्थका जीवन धन्य है। वह आगे अवश्य ही उत्तम संग पायगा और जल्दी ही बड़ा कल्याण पायगा। तो यहां इस श्लोकमें बतला रहे कि जो निर्मोह गृहस्थ है वह मोक्षमार्गमें स्थित है और जो मोही मुनि है वह मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है। बाहर से तो यों लग रहा कि गृहस्थ बड़े कीचड़में पड़ा है, पर उसका अंतरंग आशय इतना विशुद्ध है, वह मोक्ष मार्ग में लगा हुआ है। किसी किसी मुनिका ऊपर से यह दिख रहा है कि यह बड़ा निर्लेप है, शुद्ध है। प्रभुका रूप है, पर अंतरंगमें वह कीचड़में फ़ंसा है, क्योंकि उसमें भीतरमें अज्ञान बसा है। तो ऐसे मोही मुनिकी बात कही जा रही है कि उस मुनिसे निर्मोह गृहस्थ श्रेष्ठ है, तो इस सद्गृहस्थको श्रेष्ठता मिली कैसे? इस सम्यक्त्वके प्रभावसे, इसलिए इस मनुष्य जीवनमें सम्यक्त्व पानेका पौरुष करना चाहिए।

सम्यक्त्व बिना शान्तिके सर्व उपायोंकी व्यर्थता जानकर सम्यक्त्वलाभका यत्न करनेका अनुरोध—सम्यक्त्वकी महिमामें यह बताया जा रहा है कि यदि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है, निर्मोह गृहस्थ है तो वह मोक्षमार्गमें लगा हुआ है। यदि सम्यग्दृष्टि नहीं है मुनि अर्थात् निर्मोह नहीं है मुनि तो वह मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है। निर्मोह कहो, ज्ञानी कहो, सबका एक अर्थ है। जिसके मोह नहीं रहता वही सम्यग्दृष्टि कहलाता है। राग और द्वेष तो रह जायेंगे पर सम्यग्दृष्टिके मोह रंच नहीं रहता। मोह कहते हैं बेहोशीको। जहां आत्माको होश है आत्माके स्वरूपका प्रकाश है वहां बेहोशी नहीं है अर्थात् मोह नहीं है। जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह ही पुरुष वास्तवमें भ्रष्ट है। कोई चारित्रसे भ्रष्ट हो गया, सम्यक्त्वसे भ्रष्ट नहीं है तो उसका उत्थान सम्भव है, वह पुनः चारित्र पा लेगा, पर जो सम्यक्त्वसे रहित है उसकी उन्नतिका कोई उपाय नहीं है। चाहे कोई कितने ही शास्त्र जानता हो, ११ अंग ९ पूर्व तकका जिसका अध्ययन हो गया हो वह भी यदि सम्यक्त्वसे रहित हैं तो वह आराधनासे रहित है। किसकी आराधना करेगा? ऐसा पुरुष संसारमें ही भ्रमण करता है। हजारों, लाखों, करोड़ों वर्षों तक भी यदि कोई तप कर रहा है, लेकिन है सम्यक्त्वसे रहित तो वह कभी रत्नत्रयका लाभ, सम्यग्ज्ञानका लाभ, केवल ज्ञानका लाभ पा नहीं सकता। चारित्रसे भ्रष्टको भ्रष्ट कहेंगे और सम्यक्त्वसे भ्रष्टको महाभ्रष्ट कहेंगे। भला जहां जड़ कट गई वहां कोई वृक्षका परिवार रह सकता है क्या? वृक्ष वृद्धिको प्राप्त हो सकता है क्या? नहीं, ऐसे ही जहां मोक्षमहलकी जड़ कट गई, सम्यक्त्व नहीं है वहां समाधिका लाभ, मुक्तिका लाभ कैसे प्राप्त हो सकता है? तो बहुत ध्यानसे अपने आपको इस संसारमें अकेला जानकर

अपनी दयाका भाव रखना चाहिए। मैं इस जगतमें अकेला ही दुःख सुख भोगने वाला हूं और अकेला ही मुक्त हो सकूंगा। सर्व स्थितियोंमें मैं अकेला हूं, मेरा साथी कोई दूसरा नहीं है। ये जो व्यर्थके राग प्रेम मोहादिके परिणाम बढ़ रहे हैं परिजनोंके साथ ये सब आपत्ति हैं, इनसे जीवके चैतन्यस्वरूपका घात हो रहा है। उनके लगावमें अपनेको अकेला जानें और अपने आपमें जैसे आपका कल्याण हो वह उपाय बनायें, उन उपायोंमें सर्वप्रथम उपाय है सम्यक्त्वका लाभ।

सम्यक्त्वलाभका उपाय वस्तुस्वरूपविज्ञान—सम्यक्त्व प्राप्तिके लिए मुख्यतया वस्तुकी स्वतंत्रताका ज्ञान करना होता है। मेरे आधीन दूसरा कुछ नहीं, किसी दूसरेके अधीन मैं कुछ नहीं। जहां विकार भी जगता है तो वहां भी कर्मका उदय उपस्थित भर है, वह कहीं अपनी परिणतिसे जीवको विकारी नहीं करता, किन्तु उसका निमित्त पाकर यह जीव अपनी परिणतिसे विकृत होता है। तो वहां भी स्वतंत्रता निरखिये, यदि कोई दूसरा मेरेको विकारी बनाता तो मेरा कुछ वश न चलता कि मैं उस विकारसे अलग होऊंगा, क्योंकि वह मुझसे बलवान हो गया जो मुझे विकारी बना देता, अब मैं उससे कैसे पेश पा सकता? पर ऐसा नहीं है कि कोई मुझे विकारी बना दे। विकार निमित्त है अन्यथा विकार मेरा स्वभाव बन जायगा। पर उपाधिके सन्निधान बिना जीवमें विकार नहीं बनते, यह बात निश्चित है। स्थिति वहां यह है कि कर्म उपाधिके सान्निध्यमें यह जीव अपनी परिणितिसे अपनेमें विकारभाव करता है। जहां वस्तुका यह स्वातंत्र्य भी जाना, विकारका निमित्त पाकर जाना वहां यह भव्य स्वभावके अभिमुख होकर अपने स्वरूपकी दृष्टि कर लेता है। यह जिन्होंने पाया उन्होंने सब कुछ पाया, बाकी तो बाह्यपदार्थोंकी तृष्णामें, अर्जनमें समय गंवाया तो वह बेकार ही गया। स्वभावदृष्टिमें जितना समय बीते उतना समय सफल है। और सम्यक्त्वका उपाय करना यह इस मनुष्यभवमें आवश्यक और प्रथम कर्तव्य है। अथवा यही एकमात्र काम है प्रारम्भमें कि मैं अपने सहजस्वरूपका दर्शन और अनुभव करुं।

सम्यक्त्वरहित व व्रतरहित होकर भी अपने पैरोंमें दूसरेको पड़नेदेनेका दुष्फल—जो जीव सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है और अपने मनमें सब जानता ही है, अथवा उद्दण्डताका भाव भी है और मानलो कोई भेष भी रख लिया धर्मात्मापनेका और यह आकांक्षा रही कि मैं दूसरोंसे नमस्कार चाहूं, दूसरा मेरे पैर छुवे तो ऐसा जीव परभवमें लूला, लंगड़ा, मूर्ख आदिक होकर दुर्दशाको प्राप्त होता है। सम्यक्त्वरहित पुरुषके पैरोंमें पड़ना अथवा सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको अपने पैरोंमें पड़ाना यह सब एक मोक्षमार्गकी प्रक्रियासे बाहर प्रक्रिया है। यहां यह जानना कि सम्यक्त्वका परिचय कौन करता है। अगर जानबूझकर समझमें आये कि इसके सम्यक्त्व नहीं है, इसने सम्यक्त्व किया है मोटे रूपसे समझमें आता है तो उसको ऐसी क्रिया न करना चाहिए किन्तु सम्यक्त्व के लाभके लिए प्रयास करना चाहिए। देखिये व्यवहार पद्धतिमें यह बात बहुत कही गई है कि जैन शासनमें ३ लिङ्ग ही उत्कृष्ट कहे गए हैं। तीन लिङ्ग ही पूज्य माने गए हैं। (१) एक तो मुनिका रूप। (२) दूसरा उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक ऐलकका रूप और (३) तीसरा अर्जिकाका रूप। चौथा लिङ्ग जैन दर्शनमें पूज्य नहीं बताया गया है। तो इन लिङ्गोंके सिवाय बाकी जो जीव हैं वे अपनेको सम्यग्दृष्टि घोषित करें और अपने पैरोंमें दूसरोंका सिर धरावें तो उनके बारेमें बताया गया है कि अन्य भवोंमें वे दुर्गतिके पात्र होते हैं। देखिये देह भी बंदनीक बन गया यदि उस

देहमें रत्नत्रयधारी आत्मा विराजमान है। बताते ना कि मुनिका स्वर्गवास हो गया, मृतक देह पड़ा हुआ है तो भी उसे अजीव मंगल कहा गया है। उसके प्रति कुछ थोड़ी बहुत एक आस्थाकी बुद्धि रहती है। आस्था तो आत्मामें थी मगर उसके प्रति भक्तिकी कुछ बात चित्तमें आती तो है। यद्यपि यह देह तो हाड़ मांसका पुञ्ज है, उसमें पूज्यताकी क्या बात, मगर उसमें गुण रत्नसे भूषित आत्मा बसा हुआ है इसलिए वह बंदनीक बताया गया है।

अपनी भलाईके लिये जीवनमें एकमात्र सम्यक्त्वलाभका आवश्यक कर्तव्य—सम्यग्दर्शन सम्यक्में सम्यक्के द्वारा सम्यग्दर्शन करना कल्याणका प्रथम सोपान है। समीचीन है मेरा आत्मस्वरूप, उसमें सम्यक्के द्वारा अर्थात् शुद्ध परिणामके द्वारा मन और इन्द्रियसे कुछ ज्ञान करके जहां मन और इन्द्रियका आलम्बन भी छूट जाता है, ऐसी अपनी ज्ञानानुभूति द्वारा उस सम्यक्स्वरूपका दर्शन अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। सम्यक्त्वकी महिमा जानकर अपनेमें एक ऐसा निर्णय बनावें कि मेरेको सम्यक्त्व लाभ हो, बाकी जो संग है, समागम है वह चाहे किसी भी दशाको प्राप्त हो, उससे मेरा क्या मतलब है? मेरा तो प्रयोजन मेरे आत्मासे है। मेरा सही आत्मस्वरूप मेरे ध्यानमें रहे तो मुझे कोई आकुलता नहीं है। जब अपने स्वरूपको भूलकर बाह्य पदार्थोंमें विश्वास जमाकर उनके अनुरागी बनते हैं तो वहां कष्ट होना प्राकृतिक बात है।

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥ ३४॥

देहधारी प्राणियोंको तीन लोक तीन कालमें सम्यक्त्वके समान श्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है और मिथ्यात्वके समान विपत्तिकारक अश्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है। कल्याण और अकल्याणमें लगनेका सर्व कुछ आधार अपने अन्दर है। बाहरी पदार्थोंसे कोई दुःखी नहीं होता। सुखी भी नहीं हो सकता, किन्तु बाह्य पदार्थोंके विषयमें अपने आपमें कल्पनायें बनाकर यह जीव और दुःखी होता है। तो कल्याण और अकल्याणका मूल कहां निकला? बाहर नहीं निकला, अपने आत्मामें ही। इस जीवका स्वरूप अमूर्त चैतन्यमात्र ज्ञान और आनन्दसे परिपूर्ण है, किन्तु आजकी यह दशा बन रही है कि ज्ञान भी नहीं पूरा है, अतिस्वल्प है और आनन्दका तो ठिकाना ही नहीं है। है ही नहीं। सुख और दुःख इन दोनोंमें चलते रहते हैं तो ऐसी जो स्थिति बनी है उस स्थितिका मूल कारण, साक्षात् कारण तो अपने आपके स्वरूपकी बेहोशी है जिसके कारण अनेक तरहकी कल्पायें उठती हैं, पर यह बेहोशी अनैमित्तिक नहीं है। मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय है जिसका निमित्त पाकर उसकी यह दशा बन रही है। बात बिल्कुल स्पष्ट है। मैं स्वभावसे बुरा नहीं हूं, किन्तु कर्मोदयका सन्निधान पाकर मैं बुरा परिणमन किया करता हूं। सो यदि मैं अपनी शक्तिको सम्हालूं तो उस कर्ममें भी अन्तर आ जायगा उन कर्मोंकी भी निर्जरा बनेगी और मैं कभी निकट कालमें ही उन कर्मोंसे भी छूट जाऊंगा। तो अपना पौरुष यह है कि हम निज सहज स्वभावकी दृष्टिका प्रयत्न करें। सम्यक्त्वके बराबर तीन लोक तीन कालमें कोई सारभूत बात नहीं है।

अपने भविष्यपर दृष्टिपात करनेका परिणाम—आखिर सोचिये—यह एक प्रश्न करते जाइये

कि फिर क्या होगा। पढ़ते हैं बच्चे लोग, स्कूलोंमें पढ़ जायेंगे, फिर क्या होगा? डिग्रीपास कर लेंगे, फिर क्या होगा? सर्विस पा लेंगे, या व्यापार पा लेंगे, फिर क्या होगा? परिवार बसेगा फिर क्या होगा? खूब सम्पदा जुड़ जायगी फिर क्या होगा? वृद्धि हो जायगी फिर क्या होगा? बस मरण हो जायगा, यहांसे कूंच करना पड़ेगा। सारे जीवन भर श्रम किया, मोहकी पुड़िया पूरी और अन्तमें इसे छोड़कर जाना ही पड़ा। अच्छा फिर क्या होगा? शरीर तो यहां ही छूट गया, इसे तो लोगोंने जला डाला। कोई उस मृत शरीरको १० मिनट भी रखना नहीं पसंद करता क्योंकि कुछ ही देरमें उस शरीरमें से बदबू निकलनेकी सम्भावना होती है। तो आप इस अपने शरीरको छूकर बोलो जिस शरीरको लोग जला देंगे, जो जलकर राख हो जायगा और जो मैं हूं, जिसका भीतरमें अहं अहंका बोध हो रहा है वह मैं यहांसे निकल जाऊंगा, निकलकर कहां जाऊंगा? जैसे मैंने जीवनमें पुण्य और पापकर्म किया उसके अनुसार मेरा नया जन्म होगा, फिर वहां वैसा फल भोगना पड़ेगा, इस कारण अपने भावोंको सही शुद्ध रखिये। एक निरन्तर प्रयास रखिये कि कभी भी किसी जीवपर ईर्ष्या विरोध करनेका, दुःखी करनेका भाव न रखिये, क्योंकि खोटे भाव रखे जानेका फल कोई दूसरा भोगने न आयगा। खुद ही कर्मके अनुसार दुःख भोगना पड़ेगा। इस कारण अन्तरंगमें तो आत्माके सही स्वरूपकी सुध रखिये, प्रवृत्तिमें अपने भावोंको निर्मल रखिये, स्वच्छ रखिये ताकि अपने मनसे, वचनसे किसीको अहित न हो। अपने भावोंको सही रखें तो आगे भी सद्गति मिलेगी, धर्मका प्रसंग मिलेगा, आत्मदृष्टि बनेगी, आत्मरमण कर सकेंगे, संकटोंसे छूट सकेंगे। यदि अपने भावोंको खोटा रखा तो उससे आपका काम बन ही जाय यह नियम नहीं है। किसीने भाव किया कि मैं अमुकको दुःखी कर डालूं तो उसके भाव करनेसे वह दुःखी हो जायगा, यह कोई संभव नहीं है। वह दुःखी होगा तो अपने किए हुए पापके उदयसे दुःखी होगा, आपके सोचनेसे दुःखी न होगा। तब फिर बुरा विचारना यह निरर्थक ही तो रहा। इससे कुछ लाभ मिला क्या? तो भावोंको सही रखना, अपने आत्माके स्वरूपकी सुध रखना, ऐसा यह जीवन गुजरे तब तो भला है और यदि यह जीवन अटपट रखनेमें, खोटी हठोंमें, विषयोंकी प्रीतिमें गुजरता है तो मनुष्यभव पाना न पाना समान सा रहा।

तीन लोकमें तीन कालमें सम्यक्त्वकी श्रेयस्करता—इस मनुष्यभवमें एक सम्यक्त्वका ही लाभ लूटिये। कितना काल व्यतीत हो गया? अनन्तकाल। कितना काल व्यतीत होगा? अनन्तकाल। यह लोक कितना बड़ा है? ३४३ घनराजू प्रमाण। उसमें यह त्रसनाली कितनी बड़ी है? १४ राजूप्रमाण। उसमें भी यह मध्यलोक कितना बड़ा है? तिर्यकलोक, एक राजू प्रमाण, चौड़ाईमें कम। इतने बड़े लोकमें, इतने अपरिमित कालमें सारी चीजोंपर दृष्टि डालकर देख लीजिए, कुछ भी सार न मिलेगा। सार है तो एक अपने आत्माका भाव, आत्माका उपयोग आत्माके स्वरूपको निरखें और आत्माके ही चैतन्यस्वरूपमें रम जाय, सदाके लिए शरीरोंका मिलना खतम हो जाय, कर्मका बन्धन समाप्त हो जाय तो इससे बढ़कर और आप क्या चाहते हैं? सदाके लिए कोई संकट न रहे यह चाहते हैं, तो उसका उपाय है सम्यग्दर्शन। उसके लिए अपना सर्वस्व समर्पित हो जाय तो भी कुछ गया नहीं आपका। सम्यक्त्व पाया तो समझिये आपने सर्वसमृद्धि प्राप्त कर लिया। इस सम्यक्त्वके प्रति, आत्माके सहज

भावके प्रति जिनकी धुन नहीं बनती उनपर क्या विपत्ति छायी हुई है कर्मोदयकी कि जिससे वह बेहोशीमें पड़ा हुआ है। बेहोशीको त्यागना है और अपने सहज स्वरूपका दर्शन करना है। इस लोकमें सम्यक्त्वके समान अन्य कुछ भी उपकार करने वाला नहीं है। देखिये—सम्यग्दर्शन जगने पर यदि संसारमें कुछ समय रहना भी पड़े तो भी इन्द्र, अहिमिन्द्र, बलभद्र, तीर्थंकर जैसी विशाल विभूतियां प्राप्त होंगी और फिर निकट कालमें ही मुक्ति भी प्राप्त होगी। खूब ध्यानमें लायें कि मेरा सम्यक्त्व यह ही मेरे लिए देव है, शरण है, मेरा सर्वस्व है। यह यदि है तो मेरेको कोई आकुलता नहीं है और मेरा आत्मा ही मेरी निगाहमें न रहा, बाहरी पदार्थ ही मेरे लिए सब कुछ कहलाये तो वहां आकुलता है, कर्मबन्धन है, संसारमें रुलना है। तो जानों कि सम्यक्त्वके समान इस जीवका श्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है और मिथ्यात्वके समान इस जीवका बुरा करने वाला जगतमें अन्य कुछ नहीं है।

सम्यग्दर्शन शुद्धा नारकतिर्यङ् नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुल विकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः॥ ३५॥

सम्यग्दृष्टिका दुर्भवोंमें अनुत्पाद—जो जीव सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हुआ है, सम्यग्दृष्टि है वह पुरुष मरण करके कहां कहां जन्म धारण नहीं कर सकता, उसका वर्णन इस आर्याछन्दमें कहा गया है। सम्यग्दृष्टि जीव नरकमें जन्म नहीं लेता, केवल एक अपवाद है कि जिसके क्षायिक सम्यक्त्व हो और उससे पहले नरकायुका बंध किया वह सम्यक्त्वमें मरकर प्रथम नरक तक जा सकता है। तो इस अपवादको छहढालामें स्पष्ट किया है। प्रथम नरक बिना षट्भू, पहले नरकको छोड़कर शेष ६ पृथ्वियोंमें सम्यग्दृष्टि पुरुषका जन्म नहीं होता। किसीको क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है और पहले नरकायुका बंध कर लिया तो उसके मरण समयमें क्षयोपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जायगा और वह तीसरे नरक तक जन्म ले सकता है। पर क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवका सम्यक्त्व छूटता ही नहीं, मरण भी सम्यक्त्वमें होगा और उसका पहले नरकसे नीचे गमन नहीं हो सकता। वहां जन्म नहीं होता। तो सम्यग्दृष्टि जीवका नरकमें जन्म नहीं होता, तिर्यञ्चमें भी जन्म नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वमें मरण करके तिर्यञ्चका कोई भी भव धारण नहीं कर पाते। अगर कोई तिर्यञ्च सम्यग्दृष्टि है तो वह भी मरण करके तिर्यञ्चमें जन्म न लेगा। सम्यग्दृष्टि जीव नपुंसक और स्त्री पर्यायमें जन्म नहीं लेता। भले ही कोई नुपंसक अपने जीवनमें सम्यक्त्व प्राप्त करले, भले ही कोई स्त्री अपने जीवनमें सम्यक्त्व प्राप्त करले पर सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वमें मरण कर उन भवोंमें उत्पन्न नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव खोटे कुलमें, खोटे अङ्ग वाले अर्थात् लंगड़े, लूले, बहिरे जैसे अङ्गों वाले क्षुद्र आयुमें उत्पन्न नहीं होता। उसके दरिद्रता भी नहीं होती।

सम्यग्दृष्टिके दरिद्रताकी अप्राप्ति—जिसके सम्यग्दर्शन हो, सम्यक्त्वमें मरण हो तो आगे भवमें जब उत्पन्न होगा तो सम्पन्न घरमें उत्पन्न होगा, और कोई दरिद्र घरमें हो, वहां सम्यग्दर्शन हो जाय तो दरिद्रता वहां नहीं रहती। दरिद्रता कहते किसे हैं, और धनवान होना कहते किसे हैं? आप उसकी कोई सीमा रख सकते हैं क्या? बताओ कितना धन हो तो धनिक कहलाये? सारे विश्वके धनिक लोग एक गोष्ठी करके यह निर्णय तो दे दें कि कितना धन हो जाये तो धनिक कहलाये। तो धनिक कहलानेकी

कोई सीमा नहीं होती। एक हजारपति लखपतिके आगे अपनेको निर्धन अनुभव करता, लखपति करोड़पतिके आगे अपनेको निर्धन अनुभव करता · · ·, यों अपनेसे अधिक धनिकोंके आगे लोग अपनेको गरीब अनुभव करते हैं। यह धन वैभव कितना ही हो जाय पर इससे अपना बड़प्पन न मानिये। सबसे बड़ा धन तो है संतोष धन। चाहे कैसी ही स्थिति हो, यदि संतोष धन है तो सब कुछ है, नहीं तो कुछ नहीं है। क्या साधारण स्थिति वाले लोगोंका गुजारा नहीं होता? क्या वे नहीं खाते पीते पहिनते ओढ़ते? अरे उनका भी सब गुजारा चल रहा है। साधारण रोटी कपड़ेके गुजारेके लिए कोई अधिक परिश्रम करनेकी जरूरत नहीं। अधिक परिश्रम करके धनका संचय तो लोग इस पर्यायबुद्धिके कारण करते हैं। मैं दुनिया में बड़ा कहलाऊं, सेठ साहूकार कहलाऊ · · ·, सेठका अर्थ है श्रेष्ठ पर रूढ़ि हो गई सेठ शब्द बोलनेकी। तो सम्यग्दृष्टि पुरुष जब अपना ही प्रकाश पाये हुए है, उसे किसी भी पर पदार्थके प्रति आशाका भाव नहीं रहा, फिर उसके लिए दरिद्रता क्या है? आत्मानुशासनमें बताया है कि निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम्। किं करोति विधिस्तेषां येषामाशा निराशता। निर्धनताको जिसने धन समझा याने मुनि महाराज, परिग्रह ही कोई धन नहीं, उस निर्धनताको ही अपना धन समझ रहे, संतोष है ना उन्हें, मृत्यु ही जिनके लिए जीवन बन गया, आत्मस्वरूपको समझने वाले पुरुषको मृत्यु क्या चीज हैं? जैसे कहीं बैठे हुए किसी पुरुषसे कहा गया कि आप यहां बैठ जाइये, तो वहांसे उठकर वह वहां बैठ गया, बताओ इससे उस पुरुषका क्या घट गया? ऐसे ही यह आत्मा अभी इस मनुष्य भवमें है, इस शरीर में न रहा अन्य नये शरीर के स्थान में पहुँच गया तो इस आत्मा का क्या घट गया? कुछ भी नहीं घटा। ज्ञानी पुरुषके लिए मृत्यु मृत्यु नहीं है, वह तो उसके लिए नया जीवन है। तो ऐसे जीवका कर्म अब क्या कर लेंगे? कर्म अधिकसे अधिक दो खोटी बातें कर सकते थे कि निर्धन बना दें या मरण करा दें, पर जो मरणमें प्रसन्न हैं, निर्धनतामें प्रसन्न हैं उन पर कर्म अपना क्या प्रभाव बनायेंगे? तो ऐसी दरिद्रताकी बात कही जा रही है कि जो अपने स्वभावको देखकर परमात्मस्वरूपकी तरह मान रहा, ज्ञानानन्दसे सम्पन्न समझ रहा उसे कैसे दरिद्र कहा जा सकता? जिसको अपने ज्ञानानन्द सम्पन्न आत्माकी सुध नहीं वह करोड़पति हो तो भी दरिद्र है और जिसको अपने ज्ञानानन्दस्वभावकी सुध है वह कैसी ही अवस्थामें हो तो भी सम्पन्न है। तो सम्यग्दृष्टि पुरुष ऐसी दुर्दशावोंमें जन्म नहीं लेता।

अविरतसम्यग्दृष्टि जीवके संवृत ४१ प्रकृतियोंमें मिथ्यात्वप्रत्ययक १६ प्रकृतियोंका नाम निर्देश—सम्यग्दृष्टि पुरुष चाहे व्रतरहित भी हो याने अविरत सम्यग्दृष्टि है उसके भी ४१ कर्म प्रकृतियोंका बंध नहीं होता। उन ४१ प्रकृतियोंमें कुछ तो है मिथ्यात्वके कारण बनने वाले और कुछ हैं अनन्तानुबंधी कषायके कारण बनने वाले। सम्यग्दृष्टि पुरुषके न मिथ्यात्वका उदय है न अनन्तानुबंधी कषायका उदय है, इस कारण इन प्रकृतियोंकी वजहसे बनने वाली कर्म प्रकृतियोंका सम्यग्दृष्टिके बंध नहीं होता। वे प्रकृतियाँ कौन हैं जो मिथ्यात्व प्रकृतिके कारण बंधती हैं? मिथ्यात्व। मिथ्यात्व प्रकृतिका बंध मिथ्यात्वके उदयसे ही सम्भव है। जब मिथ्यात्वका उदय नहीं रहता तो मिथ्यात्व प्रकृतिका बंध नहीं होता। इस सम्बन्धमें एक बात और समझ लीजिए कि जिस प्रकृतिका आगे उदय न आ सकेगा उसके बंधकी जरूरत क्या है? वे प्रकृतियाँ प्रायः नहीं बंधती। मिथ्यात्वके उदयमें ही हुंडक संस्थानका बंध होता है।

हुंडक संस्थान छठा संस्थान है। कीड़ा मकोड़ा एकेन्द्रिय पशु पक्षी इनमें हुंडक संस्थान ही तो पाया जाता है। इससे शरीरका आकार सुन्दर नहीं रहता, विडरूप रहता है। कैसा ही कितना फैला हो, कैसी शाखायें बन रहीं, कैसे लम्बे-लम्बे केंचुवे कैसा विडरूप आकार रहता है तो हुंडक संस्थानके उदयमें खोटा आकार रहता है। तो मिथ्यात्व प्रकृतिके न रहनेपर इसके हुंडक संस्थान नहीं रहता। नपुंसकवेद यह बहुत खोटा वेद है, इसमें बड़ा खोटा भाव होता है। नपुंसक वेद मिथ्यात्वके उदयमें होता है। मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व नहीं है इसलिए नपुंसक वेदका संवर है। उसके यह कर्मप्रकृति नहीं बंधती। असृपाटिका संहनन छठा संहनन है। यह हम आपके मौजूद है पंचमकालमें, और जो पशु पक्षी हैं उनके भी यह संहनन चल रहा है। यह संहनन बहुत दुर्बल संहनन है। थोड़ा सा भी झिटका लग जाय तो कहो शरीरकी हड्डी टूट जाय। वह मिथ्यात्वके उदयमें ही बंधता है। जिन जीवोंके मिथ्यात्वका उदय नहीं उनके ऐसा संहनन नहीं बनता। एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्मपना, अपर्याप्त, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय इन साधारण, प्रकृतियोंका संवर सम्यग्दृष्टिके होता है। इससे यह भी जानें कि सम्यग्दृष्टि पुरुष इन जगहोंमें उत्पन्न नहीं होता। उदय ही न आयगा। तो ऐसे सम्यग्दृष्टिके एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक प्रकृतियोंा संवर चलता है। नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरकायु आदिकका बंध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीवके मिथ्यात्व नहीं है सो इन प्रकृतियोंका संवर होता है। कर्म ८ बताये गए हैं और बिनतियोंमें लोग सुनते हैं, उन ८ कर्मोंके और भेद होनेसे १४८ कर्म प्रकृतियां हो जाती हैं। जीवके साथ ये प्रकृतियां बंधी रहती हैं। उनका उदय होता है और जीवको अनेक प्रकारकी वेदनायें होने लगती हैं। विकार हो जाते हैं। तो ये प्रकृतियाँ तो हम लोगोंके संसार संकटका कारण है, इनका क्षय हो तो मुक्ति मिले। तो इन कर्मोंका क्षय हो, कर्मोंका क्षय हो, ऐसी माला जपनेसे या मंत्र आदिक बोलनेसे या इनकी चर्चा करनेसे कर्मोंका क्षय न होगा किन्तु आत्माका अविकार स्वभाव यह मैं हूं, चैतन्यमात्र हूं, मैं अन्य कुछ नहीं हूं, इस प्रकारकी अनुभूतिके बलसे कर्मोंका क्षय अपने आप होता है।

अविरत सम्यग्दृष्टिके संवृत ४१ प्रकृतियोंमें अनन्तानुबन्धीकषाय प्रत्ययक २५ प्रकृतियोंका नाम निर्देश—सम्यग्दृष्टि जीवके उक्त १६ प्रकृतियोंका संवर है और अनन्तानुबंधी कषायके कारण जिन प्रकृतियोंका बंध होता है उनका भी संवर है। वे प्रकृतियों कौन हैं? तो अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, जहां अनन्तानुबंधी कषाय न रही ज्ञानी पुरुषके उसके यह कषाय क्यों बंधेगी? स्त्यानगृद्धि, निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला ये तीन नींदकी खोटी प्रकृतियाँ हैं। नींद आनेपर भी नींद आती रहे, इसकी प्रकृतिसे बहुत तेज नींद आये वह निद्रा निद्रा है। नींदमें ही लार बहे, अनेक प्रकारकी जहां अङ्गकी चेष्टायें होती रहे यह प्रचला प्रचला है। सोते हुएमें कोई बड़ा काम कर आये, काम करके फिर सो गए और जगनेपर उसका कुछ ख्याल ही न रहे। जो किया सोतेमें किया, जगनेपर उस किए हुएका कुछ पता ही न रहे, यह स्त्यानगृद्धि है। बचपनमें हमारे एक साथीने बताया था—जब हम सागर विद्यालयमें पढ़ते थे तबकी बात है तो उस साथीने मेरेसे बताया कि आज रात्रिको तुम १२ बजेके करीब उठकर मंदिरके द्वार तक जाकर मंदिरके किवाड़ खटखटा रहे थे। पूछा कि रात्रिमें तुम क्यों गए थे? तो मैंने कहा—कहां मैं गया था, मुझे तो कुछ नहीं मालूम। तो ऐसी स्थिति बन जाती

है स्त्यानगृद्धिमें। ये नींदकी तीन खोटी प्रकृतियां सम्यग्दृष्टि पुरुषके नहीं होतीं। इनका संबर होता है। और भी जो खोटी प्रकृतियां हैं—दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जक संस्थान, वामनसंस्थान, वज्रनाराचसंहनन, नाराच संहनन, अर्द्धनाराचसंहनन, कीलकसंहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्त्रीपना, नीचगोत्र, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चआयु, उद्योत, इनका भी सम्यग्दृष्टि पुरुषके संवर होता है।

सम्यग्दृष्टिके कर्मप्रकृतियोंके संवरके अनुसार फलित अर्थका प्रकाश—सम्यग्दृष्टि पुरुष केवल वज्रवृषभनाराचसंहनका बंध कर सकता है। इस प्रकृतिके उदयमें शरीरका आकार बड़ा सुन्दर होता है, जैसा कि तीर्थंकर महाराजका शरीर बताया, जिसकी हड्डी बज्र जैसी मजबूत होती हैं, इस संहननसे मोक्ष होता है, अन्य संहनन वाले पुरुषका मोक्ष नहीं होता, कारण यह है कि इतना ऊंचा ध्यान अन्य संहननमें नहीं बनता जिससे आत्मा आत्मामें ही मग्न हो सके। इसके अतिरिक्त अप्रशस्त विहायोगति, स्त्री वेद, नीच गोत्र, इन प्रकृतियोंका बंध सम्यग्दृष्टिके नहीं है और तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी और तिर्यञ्चायु इनका भी बंध नहीं है। इसीसे ही यह बात जानी जा सकती कि जब सम्यग्दृष्टिके इन प्रकृतियोंका बंध नहीं है, पहलेसे ही रुक गया तो तिर्यञ्चायुमें जानेका सवाल क्या? सो ही बात बतायी गई थी। सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नरकमें नहीं जाता। यदि कोई ऐसी स्थिति हो कि उस जीवने पहले नरकायु बांधा, बादमें क्षायिक सम्यक्त्व हो गया तो वह पहले नरकमें जा सकता, उससे नीचे नहीं, इसी प्रकार यदि किसी जीवने तिर्यञ्चायु, खोटी भी आयु बांधी पर सम्यग्दर्शन होने पर, क्षायिक सम्यक्त्व होने पर वह तिर्यञ्चमें तो जायगा मगर भोगभूमिया तिर्यञ्चमें उत्पन्न होगा, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि मनुष्य सम्यक्त्वमें मरकर कर्मभूमिया मनुष्य नहीं बनता। जैसे सम्यग्दृष्टि मनुष्य सम्यक्त्वमें मरकर विदेह क्षेत्रमें भी नही जा सकता। हां जितने जीव विदेह क्षेत्रमें जायेंगे ज्ञानी पुरुष, उनके मरणकालमें सम्यक्त्व न रहेगा। वहां जाकर ८ वर्ष बाद सम्यक्त्व हो जाय यह उनकी योग्यताकी बात है। हां तो किसी कर्मभूमिया सम्यग्दृष्टि मनुष्यने पहले मनुष्यायु बांध ली, बादमें क्षायिक सम्यक्त्व हुआ तो वह भोगभूमिया मनुष्य होगा। क्षायिक सम्यक्त्व क्षयोपशम सम्यक्त्वके बाद ही होता है। इन सब प्रकरणोंसे यह जानना कि सम्यग्दर्शन होनेपर फिर दुर्दशा नहीं होती।

सम्यग्दृष्टि जीवोंकी उदात्तता—वे पुरुष धन्य हैं जिन्होंने इस शरीरसे निराले अपने आपके आत्मामें उस सहज चैतन्यस्वभावका अनुभव किया है। मैं यह हूं, जिसको सम्यक्त्व हो जाता है वह इस शरीरके मान और अपमानके विकल्प नहीं करता। वह तो योग्य बात ही करेगा। अयोग्य बात कभी न करेगा। अयोग्य कार्य करनेमें तो अपमान होता ही है। अज्ञानी जीव ज्ञानी जीवको प्रायः भली निगाहसे नहीं देख सकते क्योंकि अज्ञानीकी प्रकृति है अज्ञानमें रमनेकी। तो अज्ञानमें रमने वाले योग उस अज्ञानीके नित्य हुआ करते हैं, इसलिए अज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें ज्ञानी पुरुष घृणाके योग्य होते है। और कहने भी लगते हैं कि ये लोग तो बेकार हैं, इनसे देशको क्या लाभ है? यदि ये खुद कमाने लगते तो देशका कुछ अंश तो ठीक होता ··· इस तरह बोलने लगते। तो अज्ञानीजन ज्ञानीजनोंका कभी सम्मान नहीं कर सकते, संसारमें अज्ञानियोंका समुदाय विशेष है, ज्ञानी तो बिरले ही होते हैं। तो

अज्ञानीजनोंके द्वारा किया गया अपमान ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पर कुछ प्रभाव नहीं उत्पन्न करता। वह तो अपने ज्ञानकी ही धुनमें रहा करता है। इसी तरह अज्ञानीजन या कोई भी पुरुष ज्ञानीका सम्मान भी करें तो समझो कि ज्ञानीने अपने धर्मका सम्मान किया है, किसी व्यक्तिका नहीं। और जिसका सम्मान होता वह सम्यग्दृष्टि जीव उससे प्रभावित नहीं होता। अपने देहके मान अपमानका ज्ञानी जीवको कोई असर नहीं होता। वह अपनी ही योग्य साधनामें रहा करता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि पुरुष चाहे क्रोध सहित हो तो भी दुर्दशाको प्राप्त नहीं होता।

ज्ञानीकी अन्तः निरापदता—देखिये कर्मबंध ज्ञानी सम्यग्दृष्टिके प्रायः पुण्य प्रकृतिका होता है। भले ही पूर्व पापके उदयसे ज्ञानी पुरुषको कोई उपसर्ग सहना पड़े पर चूंकि पाप प्रकृतिका बंध नहीं हो सकता इसलिए उसके अगले भवमें किसी प्रकारकी विपत्ति नहीं आ सकती। और जो आज वर्तमानमें विपत्ति आयी हो, जैसे सुकुमाल सुकौशल आदिकको गीदड़ीने चीथा तो भी उनके पूर्वकृत पापकर्मका उदय है। ज्ञानका दोष नहीं है, और ज्ञानके कारण उपसर्ग समय भी वे अपने आपके स्वरूपमें मग्न रहे। तो इस जगतमें सम्यग्दर्शनसे बढ़कर अन्य कुछ वैभव नहीं है। एक निर्णय हो जाय जिसका कि मेरा जीवन धर्मके लिए है, धर्मके लिए ही मेरा सर्वस्व है ऐसा जिसका निर्णय हो जाय उस पुरुषके पुण्य प्रकृतियोंका ही बंध होगा, पापप्रकृतियोंका बंध न चलेगा। यद्यपि जब तक संसारमें हैं तब तक पुण्यके साथ पाप भी चलते हैं मगर मुख्यतया उसके पुण्यका ही आश्रव होता है। जो भीतरमें मोक्षमार्गमें बढ़ रहा है उसके शुद्ध ज्ञान ध्यान बन रहा है। तो सम्यग्दर्शनकी अपूर्व महिमा है। एक इस भवमें जिस किसी भी उपायसे सम्यक्त्व उत्पन्न कर लिया तो समझो कि मैंने कुछ कमायीकी और भविष्यमें मैं सब संकटोंसे बच गया।

ओजस्ते जो विद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः॥ ३६॥

सम्यक्त्वसे पवित्र जीवोंके मानवतिलकताकी उद्भूति—जो आत्मा सम्यग्दर्शनसे पवित्र हो चुका है वह मनुष्यभवमें उत्पन्न हो तो कैसे प्रताप वाला होता है इसका वर्णन इस श्लोक में किया गया है। वह पुरुष मनुष्योंमें श्रेष्ठ है। महान पदवीके धारक जितने पुरुष हुए हैं वे सम्यक्त्वके प्रतापसे हुए। तीर्थंकर, इन्द्र, बलभद्र, तीर्थंकर आदि ये सब सम्यक्त्वके प्रतापसे हुए, और यहां तक कि नारायण भी चाहे नारायणके भवमें सम्यक्त्व न रहा और मिथ्याभावके कारण उनपर घटनायें घटीं और कुछ घटेंगी, लेकिन पूर्वभवमें सम्यग्दर्शन था और उस सम्यक्त्वके प्रतापसे स्वर्गमें उनका जन्म हुआ था और वे स्वर्गसे आकर नारायण हुए हैं। तीर्थंकर तो नरकसे भी आकर तीर्थंकर बन जायें, पर नारायण नरकसे आकर नहीं बनता। नारायण, स्वर्गसे आकर ही नारायण बनता है तब ही तो देखो नारायणकी कितनी महिमा लोकमें गायी जा रही है। वह आत्मा पहले सम्यग्दृष्टि था, पर नारायणके समय राज्य वैभवमें मस्त होकर एक भाव ऐसा बनाया कि वे तत्काल निर्वाणको न प्राप्त हुए, पर निकटकालमें ही वे निर्वाणको प्राप्त होंगे। तो ऐसी बड़ी बड़ी पदवियां सम्यक्त्वके प्रतापसे मिला करती हैं। ऐसे मनुष्य

जिनका पराक्रम अद्भुत हो, जिनका प्रताप अद्भुत हो ऐसे मनुष्यभवमें जन्म लेना यह सम्यग्दर्शनसे पवित्र पुरुषोंका कार्य है। जिनमें अतिशय विद्या है, अतिशय सुन्दरता है, उज्ज्वल यश है, वैभव आदिककी वृद्धि है, गुणोंमें वृद्धि है ऐसे बालक जब उत्पन्न होते हैं वे सब सम्यग्दृष्टि जीव थे पहले और उन्होंने धर्मकी आराधना की। उनके साथ शेष रहे रागके कारण जो पुण्यबंध हुआ उसका प्रताप है।

बड़प्पनका आधार समीचीन भाव—लोग चाहते हैं कि मैं बहुत बड़ा बनूं, मगर बहुत बड़ा बनना कोई संक्लेश करनेसे होगा क्या? अधीरतासे होगा क्या? बड़ा बनना यह शुभ और शुद्ध भावोंके प्रतापसे होगा। जीव भाव ही कर सकता है, और कुछ कार्य नहीं कर सकता। बाकी जो कार्य होते हैं वे सब ओटोमेटिक याने निमित्त नैमित्तिक योग पूर्वक होते हैं, परजीवकी करतूत है तो केवल अपने भाव करना। जब भाव ही जीव करता है तो अपने आपमें सोचिये कि अशुद्ध खोटे भाव करनेसे क्या लाभ है? उसका फल बुरा है। पापका बंध है, भविष्य अच्छा नहीं। इसलिए शुभ भाव ही करें। सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना रखिये। धर्मके प्रसारणके लिए अपनी उमंग रखिये—तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो, ऐसा अपने आपका प्रयत्न करें, जगतके जीवोंको तत्त्वज्ञान बने, उसका उपाय बनाइये। ऐसे शुभ और शुद्धभाव होते रहें तो आपका यह जीवन भी आनन्दमें गुजरेगा, पर कर्मका उदय विचित्र है। पापकर्मके उदयसे ही तो जीवकी दुर्गति होती है, दुःख होता है और जीव उन दुःखोंमें व्याकुल रहता है। ऐसे व्याकुल हृदयमें अच्छी बात समाना यह बहुत बड़े ज्ञानका ही प्रताप हो सकता है। अन्यथा दुर्दशामें उसके दुर्भाव ही हुआ करता है। प्रायः ऐसा ही अनादिसे चला आया, पर ज्ञानबल यदि हो तो पूर्व पापके उदयसे चाहे दुर्दशा हो, पर सही भाव आज हो तो आगे दुर्दशा न होगी। जब हम आप केवल भाव कर सकते हैं तो फिर ये खोटी भावनायें न बनायें, उत्तम भावनायें ही बनायें, उसके फलमें सारा भविष्य अच्छा जायगा। खुद ही खुदके कर्ता हैं, खुद ही खुदके भोक्ता हैं। कोई किसी दूसरेका मददगार नहीं। तो अपना भविष्य उज्ज्वल बने इसका उपाय यह है कि हम अपने भाव शुद्ध रखें। सब जीवोंके प्रति सुखी होनेकी भावना रहे। गुणीजनोंको देखकर हर्ष जग जावे, विपरीत चेष्टा वालोंमें माध्यस्थभाव हो, दुःखी जीवोंको देखकर दयाका भाव उमड़े, ऐसी वृत्ति यदि आपकी है, तो आप अपने पर दया कर रहे हैं, और यदि अशुभ परिणाम है, क्रूर परिणाम है, धर्मके विपरीत परिणाम चल रहे हैं तो यह अपने आपकी आप हिंसा कर रहे हैं, जिसका फल भविष्यमें खोटा ही भोगना पड़ेगा। जो जीव सम्यग्दर्शनसे पवित्र हैं वे सर्वत्र पूज्य हैं। वे वैभवसे युक्त होते हैं, महान्, पूज्यविशिष्ट कुलमें उनका जन्म होता है। वे चार पुरुषार्थोंके स्वामी होते हैं जिनके सम्यग्दर्शन हुआ है। जब कभी गृहस्थ दसों कामोंमें एक कामको अधिक लाभदायक समझता है तो बाकी उन ९ कामोंको गौणकर लाभदायक काममें ही अपना पूरा समय देता है। अब आप जरा अपने लाभदायक कार्योंमें समझो कौनसा कार्य लाभदायक है? क्या परिजनोंके पीछे मोही बने रहना लाभदायक है आपके आत्माके लिए? क्या धन वैभव आदिकमें तृष्णा करना लाभदायक है? क्या दुनियामें इसभवके देहकी इज्जत बना देना, यश प्रतिष्ठा पा लेना, यह लाभदायक है आत्माके लिए? अरे ये कोई आत्माके लिए लाभदायक नहीं, आत्माके लाभका साधन केवल अपना सहजस्वरूप है। मैं हूं। जब मैं हूं तो स्वयं ही पूरा हूं। कोई

भी है। कोई भी अस्तित्व अधूरा नहीं रहता। मैं हूं परिपूर्ण हूं जो मुझमें असाधारण गुण हैं उन गुणोंमें तन्मय हूं। मैं अमर हूं, मेरा कहीं विनाश नहीं है।

जगवैभवकी भवकी अविश्वास्यता अरम्यता—मैं आज यहां हूं, कलको न रहा यहां, किसी दूसरे भवमें चला गया तो मैं आत्मा तो वही हूं। इसको तो एक सराय जानें, एक धर्मशाला मानें। यहां अपना कुछ नहीं है। एक सन्यासी किसी नगरमें एक गलीसे जा रहा था। रास्ते उसे एक बड़ी हवेली दिखी। उस हवेलीके द्वार पर एक पहरेदार खड़ा था। तो सन्यासीने उस पहरेदारसे पूछा भाई मैं यह जानना चाहता हूं कि यह धर्मशाला किसकी है। तो पहरेदार बोला—महाराज यह धर्मशाला नहीं है, धर्मशाला तो इस गलीमें थोड़ी दूरी चलकर आगे है। यह तो अमुक सेठकी हवेली है। तो फिर सन्यासी बोला—भाई मैं तो यह पूछता हूं कि यह धर्मशाला किसकी है। तो पहरेदार उसके मनकी बात ठीक-ठीक न समझ सका सो फिर वही उत्तर दिया। इतनेमें ऊपरसे देखा उस मकान मालिकने, वह सन्यासीको देखकर नीचे आया और पूछा—महाराज आप क्या पूछ रहे हो? तो सन्यासी बोला—मैं यह जानना चाहता हूं कि यह धर्मशाला किसकी है? तो सेठ बोला—महाराज यह धर्मशाला नहीं है। धर्मशाला आगे है, यह तो आपकी हवेली है। हां यदि आप ठहरना चाहते हों तो इस हवेलीमें ठहर जाइये। तो सन्यासी बोला—भाई हमें ठहरना नहीं है। हम तो जानना भर चाहते है कि यह धर्मशाला किसकी है। तो सेठने फिर वही बात कही। आखिर सन्यासीने पूछा—बताओ इसको किसने बनवाया था? ··· मेरे बाबाने। ··· वह इसमें कितने वर्ष तक रहें? ··· महाराज वह तो पूरी बनवा भी न सके थे तभी मर गए थे। ··· फिर पूरी किसने बनवाया? ··· हमारे पिताजी ने। ··· वह इसमें कितने वर्ष रहे? ··· महाराज वह तो कुल ३ वर्ष रहे। ··· और आप इसमें कितने वर्ष रहेंगे? तो वहां वह सेठ निरुत्तर रह गया और ज्ञान जग गया कि सचमुच यह धर्मशाला है। सन्यासीजीने ठीक ही बताया। बल्कि धर्मशालामें तो ऐसा भी हो सकता कि यदि कोई १०-५ दिन ठहरना चाहे धर्मशालामें तो मंत्री या अध्यक्षसे मिन्नत करके और भी ठहर सकता है, पर यहां कोई कितनी ही मिन्नत करे एक दिन भी ठहरनेको नहीं मिल सकता। मरण हुए बाद इसमें कोई एक मिनट भी नहीं ठहर सकता। तो यह सारा जगत रमने योग्य नहीं, विश्वास किए जाने योग्य नहीं।

सहजपरमात्मतत्त्वकी विश्वास्यता—भैया! विश्वास कीजिए अपने आत्मामें बसे हुए परमात्मस्वरूप पर। वह मैं अमर हूं, अविकार हूं, वहां कोई कष्ट नहीं, मेरा स्वभाव ज्ञानानन्दसे परिपूर्ण है। मुझे अब जगतमें करनेको कुछ नहीं रहा। मैं अपने स्वरूपको ही निरखूं और इस ही में यहमैं उस ही की भावना कर करके निर्विकल्प होऊं। बस यह ही एक कर्त्तव्य शेष रह गया, बाकी तो इस अनन्त कालमें न जाने क्या-क्या उद्दण्डतायें बनाया, कितने ही अपने अधिकार बनाया, सब कार्य कर डाला, पर यह ही एक काम शेष रह गया कि मैं अपने आपको जानूं, अपने आपको मानूं और इस ही स्वरूपमें मग्न हो जाऊं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका धारण बस यह ही काम नहीं कर पाया जीवने, बाकी तो प्रत्येक प्रदेशपर अनन्त बार जन्मले चुके, कितने कितने परिवर्तन कर चुके, जो आज भोगते हैं वे अनेक बार भोगे जा चुके, ये सबके सब जूठे ही भोगे जा रहे हैं। सब काम अनेक बार हुए मगर

सम्यग्दर्शनका लाभ इस जीवको नहीं हुआ। तो एक जरा चित्तको स्वच्छ और स्थिर करके एक ही धुन बनालें कि अन्य कार्य जैसे हों सो हों पर मुझको तो अपने स्वरूपका अनुभव करके ही रहना है। उसके लिए चाहे कितना ही उत्सर्ग करना पड़े पर मैं अपने स्वरूपको जानूंगा और उसी स्वरूपमें रमूंगा। यह ही एकमात्र मेरा काम है।

अष्टगुणपुष्टि तुष्टाः दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि, चिरंरमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे॥ ३७॥

जिनेन्द्रभक्त सम्यग्दृष्टि जीवोंका देवभवमें ऐश्वर्य—जिनेन्द्रके भक्त सम्यग्दृष्टि जब स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं और ऐसे जिनेन्द्र भक्त जीव देवांगनाओंकी परिषदमें चिरकाल तक रमण करते हैं। यद्यपि यह कोई सम्यक्त्वका खास गुण नहीं है, प्रभाव नहीं है कि सांसारिक सुख मिले, मगर सम्यक्त्वके होते सन्ते जो अवशिष्ट रागादिक भाव रहते हैं उनका प्रभाव है यह। यों समझिये कि जैसे किसी बड़े मिनिस्टर या आफीसरके साथ कोई क्लर्क हो तो उस क्लर्कका भी बड़ा महत्त्व है और लोग उससे भी मिलनेका प्रयत्न करते हैं और उसके द्वारा वे कुछ अपना काम सिद्ध करना चाहते हैं, अथवा जैसे बड़े जजका क्लर्क। तो जैसे बड़े नेताओंके साथ, राज्याधिकारियोंके साथ रहने वाले सेवकका भी इतना प्रभाव होता है ऐसे ही सम्यग्दर्शनके साथ रहने वाले पुण्यभावका भी बड़ा प्रभाव है। यद्यपि पुण्यबंध मिथ्यादृष्टि भी करता है और सम्यग्दृष्टि भी करता है पर मिथ्यादृष्टियोंका पुण्य निरतिशय होता है और सम्यग्दृष्टियोंका पुण्य सातिशय होता है। जैन शासनमें हम आप लोग अपना जीवन बिता रहे हैं। तो इतनी दृढ़ता और निश्चितता तो होनी चाहिए कि मेरा जीवन सम्यक्त्वलाभके लिए है और यथोचित चारित्रपालनके लिए है। बाकी सारे दंदफंद सब मेरे लिए बेकार हैं। उनसे मेरे आत्माकी कुछ सिद्धि नहीं होती। व्यर्थके विकल्प होते, अन्य जीवोंपर आसक्ति, व्यामोह ये सब थोथे ऊल जलूल तथा अटपट चेष्टायें हैं। यह ही तो एक पौरुष करना है कि मेरा जीवन सम्यक्त्वलाभके लिए रहे। मोही जीवोंको अपने परिजन ही सर्वस्व दिखते हैं, धर्म या धर्मात्माजनोंके प्रति उनको अनुराग नहीं जगता, पर जो ज्ञानी पुरुष हैं उनके धर्म और धर्मात्मावोंपर अनुराग होता है, परिजनोंपर उनके अन्तः अनुराग नहीं होता, केवल एक गुजारेका साधन होनेसे परिजनोंसे उस प्रकारकी प्रीतिभर है। ऐसी जिनेन्द्रभक्त ज्ञानी जीवकी वृत्ति होती है।

ज्ञानी देवोंकी अणिमा ऋद्धि—ज्ञानी जीव ८ गुणोंकी पुष्टिसे पुष्ट रहते हैं। देवोंमें ८ गुण ऋद्धि वाले उनके जन्मतः होते हैं। (१) पहिला गुण है अणिमा, विक्रियासे अपने शरीरको कितना ही छोटा बनालें। छोटा बनाकर भी उनका वजन थोड़ा हो, ऐसी बात नहीं है। छोटा भी शरीर हो और बड़ा वजन हो जाय यह तो देवोंमें एक नैसर्गिक ऋद्धि है। श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नकुमार जो कि कितने ही वर्ष बाद अपने घर आये, उनको जन्मसे ही कोई देवता हर ले गया था और प्रद्युम्न दूसरे राजाके यहां रहे, वहां अनेक विद्यायें प्राप्त कीं। जब वे अपने घर आये तो बड़े पुरुष यों ही सीधे सादे अपने घर आ जायें यह बात तो उनसे नहीं बनती, उनका कोई ढंग होना चाहिए। तो उन्होंने अपनी विद्याका प्रताप

फैलाना शुरु किया, और जब वे राजद्वारके निकट पहुंचे तो अपना एक बहुत बड़ा शरीर धारण करके लेट गए। उनको उठाने के लिए बड़े बड़े बलवान आये पर कोई उठा न सके। बादमें छोटा शरीर बनाकर लेट गए फिर भी कोई लोग उसे उठा न सके। उस समय उनका बड़ा यश फैला और यह तथ्य प्रकट हुआ कि यह प्रद्युम्नकुमार हैं। इसका एक बड़ा कथानक है। जब मनुष्योंमें ऐसी बात देखनेको मिलती तब फिर देवताओंकी तो बात ही क्या है? उनमें तो ऋद्धियां स्वभावतः होती हैं। देखिये आज हम आप मनुष्य हैं। देवताओंकी बात सुनकर चित्तमें यह बात आती है कि मेरा भी जन्म देवगतिमें हो। जहां हजारों वर्ष तक भूख नहीं लगती और कभी भूख लगे तो उनके कंठसे अमृत झड़ जाता है। उनका है वैक्रियक शरीर, हम आप लोगोंका है औदारिक शरीर। कभी हम आप भी विश्रामसे बैठे हों तो थूकका गुटका कंठमें उतर जाता है, उस समय बड़ा आनन्द मालूम होता है। उन देवोंके हजारों वर्ष बाद कंठसे अमृत झड़ जाता, जिसकी जितनी आयु है उस अनुरूप सीमायें हैं, कठंसे अमृत झड़ जाता है और उनकी क्षुधा शान्त हो जाती है। वैक्रियक शरीर होनेसे रोगका भी काम नहीं, पसीनेका भी काम नहीं, ऐसा सुनकर आता होगा चित्तमें कि ऐसा ही देह मुझे मिले तो अच्छा है, लेकिन जिसको जो देह मिला है उस कालमें उसके लिए वह न कुछकी तरह रहता है। और मिले हुएको लोग कुछ अधिक संतोषप्रद महत्त्व नहीं देते। जैसे यहां जिसको जितना धन मिला है उसके चित्तमें यही बात रहती है कि मेरेको तो बहुत कम धन मिला है। ऐसा कोई नहीं मिलता जो यह मानता हो कि मेरे पास तो आवश्यकतासे अधिक धन है। ऐसे ही उन देवोंको भी वैक्रियक शरीर मिला है, देवांगनायें मिली हैं, ८ प्रकारकी ऋद्धियां मिली हैं फिर भी उन्हें संतोष नहीं होता। और लाभ कषाय तो देवोंके मनुष्योंसे अधिक बतायी गई है। तो जहां लोभ और तृष्णा आ गई वहां सुख सब खतम हो जाता है। हम लोग ऐसा सोचते हैं कि देवताओंको बड़ा सुख होता होगा मगर देवता लोग तृष्णावश दूसरोंकी ऋद्धियोंको देखकर अपनेमें कम जानकर भीतर दाहअग्निसे जलते रहते हैं। खैर यह तो है एक मोक्षमार्गकी दृष्टिसे बात मगर लौकिक प्रसंगोंमें स्वर्गमें उत्पन्न होना और ऐसी बड़ी ऋद्धि वाले देव होना एक बड़ी बात मानी गई है। यह पुण्यका फल बताया जा रहा है। वैसे जो सम्यग्दृष्टि देव होते हैं वे संतुष्ट रहते हैं। उनके संतोषका कारण है ज्ञानबल। तो उन देवोंकी पहली ऋद्धि है अणिमा। अपने शरीरको अत्यन्त छोटा बना देना।

ज्ञानी देवोंकी महिमा ऋद्धि—कैसा वह वैक्रियक शरीर है कि वह आपको आंखों दिख भी सकता और नहीं भी दिख सकता। शरीर देखनेमें बड़ा हो पर कहीं भींटके छोटे छिद्रमेंसे निकल जाय। यों न जाने क्या क्या उनकी ऋद्धियाँ हैं। यही तो सम्पन्नता है। तो वैक्रियक देव अपनी अणिमा ऋद्धिके कारण अपनेमें एक सुखका अनुभव करते हैं। जिसमें कलायें अधिक होतीं वह अपनी कलावोंसे शान्ति और सुख तो अनुभवता ही है। देवताओंमें एक महिमा ऋद्धि है बड़प्पन, बड़ा देह बना लेना। कहीं इतना बड़ा देह बनालें कि आपकी निगाह पूरे देहमें न पहुंच सके। कहीं आपको आंखें घुमानी पड़ें या गर्दन घुमानी पड़े। इतना बड़ा तो आकार हो शरीरका फिर भी कहीं दिखाई न पड़े। तो ये कलायें हैं ना, ये सब बातें बड़े पुण्य प्रतापसे प्राप्त होती हैं। भले ही सम्यग्दृष्टि जीव उन कलावोंका आदर नहीं

रखते, ये तो सांसारिक बातें हैं। इनसे आत्माका उद्धार नहीं है, मगर है तो पुण्यका फल। सम्यग्दृष्टि जीव कभी दुःखी नहीं रह सकता। चाहे किसी भी स्थितिमें हो, स्वर्गोंमें हो तो वहां भी उसको क्षोभ अधिक नहीं है। भला आप थोड़ा विचार तो कीजिए, यहां जो बड़े आचार्य हो गए—कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्राचार्य, धरसेनाचार्य, पुष्पदंत, भूतबलि, अकलंक देव आदिक बड़े बड़े दिग्गज आचार्य हुए, जिन्होंने बड़े-बड़े राजपाट ऐश आराम छोड़ा, विरक्त हुए, मुनि हुए उनके उपकारका बदला हम आप नहीं चुका सकते। हमारे पास कोई ऐसी कला नहीं कि हम उनके उपकारका बदला चुका सकें, जिन्होंने जिनवाणीका इतना उद्धार किया, युक्ति और आम्नायके अनुसार जिन्होंने वह तत्त्व दिखाया जिससे स्वपरका भेदविज्ञान जगे, मोह दूर हो, अपने आपके स्वरूपकी सुध मिले, उनके उपकारका बदला कोई किसी प्रकार चुका सकता है क्या? यदि उनके उपकारको कोई न माने तो वह तो एक बड़ा पाप करता है, कृतघ्न है संसारमें रुलने वाला है। हम अपने पूर्वाचार्योंका किसी भी उपायसे बदला नहीं चुका सकते। हां तो वे ऋषीजन जो कि इतना विरक्त थे और ज्ञानध्यानमें जो इतना अधिक रत रहे वे इस समय हम आपके बीच नहीं हैं फिर भी अंदाज तो होता है कि वे इस समय स्वर्गमें होंगे। अब स्वर्गमें जाकर ८वें स्वर्गसे ऊपर तो जा नहीं सकते इस पंचम कालमें, इतना ऊंचा संहनन नहीं है कि इससे ऊपरके स्वर्गोंमें उत्पन्न हो सकें, तो वे उन स्वर्गोंमें अब क्या कर रहे होंगे, इसका अंदाज तो करो। अरे वे बड़ी बड़ी देवांगनाओंके बीच बैठकर बड़ा गान तान सुन रहे होंगे, बीच बीच अपना सिर भी हिला रहे होंगे, राग रागनीके अनेक प्रसंगोंके बीच रह रहे होंगे। आखिर अब वे खोटे भव तो धारण कर न सकेंगे, पशु पक्षी, या दीन दरिद्र भिखारी मनुष्य बनें ऐसी बातें तो अब नहीं बनती तो उनको कैसा भव मिला करता है? यह भव बताया जाता है कि मनुष्य हो तो मनुष्योंमें उत्तम, देवमें हो तो देवोंमें भी महान् ऋद्धि वाले देव बनेंगे।

ज्ञानीदेवोंकी लघिमा व गरिमा ऋद्धि—एक ऋद्धि है लघिमा। शरीरको अत्यन्त हल्का बना लेना। शरीर चाहे कितना ही बड़ा हो पर उसे कहीं कोई फूलकी तरह उठाकर अंगुलीपर धरले। जैसे यहां आप हाथ पैर हिलायें यह कुछ करनेमें आपको अधिक श्रम नहीं करना पड़ता, ऐसे ही देवोंको इसमें कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती, भाव किये कि उसके अनुरूप विक्रिया हो गई। हर एककी विचित्र-विचित्र बातें हैं। गायकी पीठ पर मक्खी बैठ जाय तो गायको पूंछसे भी मक्खी भगानेकी जरूरत नहीं पड़ती, यो ही खाल हिल जाती है। हम आप लोग तो ऐसा न कर पायेंगे। सब जीवोंकी एक विचित्र-२ बात है। कर्मोदयसे स्वयं हो जाता है। देवताओंको अपने शरीरकी ऋद्धि विकसित करना हो तो उनको कोई चेष्टा नहीं करनी होती। इच्छा भरकी कि बस परिणमन भी वैसा ही चल उठा। यह ऋद्धि उन देवोंको प्राप्त है जिनकी धर्ममें रुचि है। एक ऋद्धि है गरिमा। कहो शरीरको अत्यन्त छोटा बना लें फिर भी इतना वजनदार कि उसे कोई योद्धा भी तिल भर न हटा सके। ऐसी ऋद्धि भी जिनेन्द्र देवके भक्तके प्रकट होती है।

ज्ञानी देवोंकी प्राप्ति और प्राकाम्य ऋद्धि—एक ऋद्धि है प्राप्ति। इसके फलमें चाहे कितनी ही दूर वस्तु हो पर वहीं बैठे-२ उस चीजकी प्राप्ति हो जाती है। एक ऋद्धि है प्राकाम्य, इसकी वजहसे

जैसा सुन्दर रूप चाहे वैसा बना लें। ऋद्धिके सम्बंधमें एक दृष्टांत आया है कि कोई एक सेठ था, वह विद्याधर था उसको यह ऋद्धि प्राप्त थी। उसने अष्टान्हिकाके दिनोंमें अपनी सेठानीसे कहा कि हम तो नन्दीश्वर द्वीपकी वंदना करने जायेंगे। तो सेठानीने कहा कि वहां तुम नहीं जा सकते। ··· क्यों? इसलिए कि मानुषोत्तर पर्वतसे आगे मनुष्योंकी गति नहीं है। ढाईद्वीप जिसे कहते, मानुषोत्तर पर्वतसे इधर ढाईद्वीप कहलाता, एक जम्बूद्वीप, उसे घेरकर लवण समुद्र, फिर उसे घेरकर धातकी खण्ड, उसे घेरकर कालोदधि इसे घेरकर पुष्करद्वीप इस द्वीपके ठीक बीचों बीच मानुषोत्तर पर्वत है, उसके आगे मनुष्योंकी गति नहीं है। यह सब सेठानीने समझाया पर सेठने न माना। आखिर उसके पास विद्या तो थी ही, चल दिया अपने विमानमें बैठकर। जैसे ही मानुषोत्तर पर्वतकी सीमा आयी उसके विमानमें ऐसी गहरी टक्कर लगी कि उसका विमान उलट गया और सेठका वहीं देहान्त हो गया। चूंकि उस समय उसके शुभ भाव थे, जिनेन्द्रदेवकी भक्तिमें प्रेम था इसलिए वह मरकर देव हुआ, और अन्तर्मुहूर्तमें ही जवान बनकर अवधिज्ञानसे पूर्वभवकी सब बात विचारकर एकदम उसका भाव हुआ कि नन्दीश्वर द्वीप वंदना करना चाहिए। अब देव होने पर तो वह जा ही सकता था। सो उसने नन्दीस्वर द्वीपकी वंदना किया और वंदना करनेके बाद उसके मनमें एक कौतूहल आया कि मैं अपने पूर्वभवकी सेठानीसे जाकर बता दूं कि मैं नन्दीश्वर द्वीपकी वन्दना करके आ गया। सो वह झट उस सेठका रूप रखकर सेठानीके पास पहुंचा। (देखिये यह सब काम कोई डेढ़ घंटेके अन्दर ही हो गया) हां तो सेठानीने उसे सेठ ही समझा पर जब वह बोला कि हम आ गए नन्दीश्वर द्वीपकी वंदना करके तो वहां सेठानीने उत्तर दिया कि आप झूठ कहते। यदि आप मनुष्य हैं तब तो आपकी नन्दीश्वर जानेकी बात झूठ है और यदि आपकी बात सच है तो आप मनुष्य नहीं हैं। आप तो देव हैं। तो वहां उस सेठने अपना असलीरूप प्रकट किया और सारा हाल बताया कि मैं मानुषोत्तरपर्वतमें विमान टकरा जानेसे मर गया, मरकर देव हुआ तब नन्दीश्वर द्वीपकी वन्दना कर सका। धन्य है तुम्हारे दृढ़ श्रद्धानको। तो बात यहां यह कह रहे थे कि प्राकाम्य ऋद्धिके प्रतापसे जैसा चाहे वैसा रूप रखले, यह तो देवताओंमें एक स्वाभाविक बात है। एक ऋद्धि होती है।

ज्ञानी देवोंकी ईशित्व व वशित्व ऋद्धि एवं महती विभूति—ईशित्वऋद्धि—इस ऋद्धिके प्रतापसे महान ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है। एक होती है वशित्वऋद्धि—इस ऋद्धिके प्रतापसे जिस चाहेको अपने वशमें कर लिया जाता है। इस वशित्वऋद्धिके कारण देव अपनी देवांगनाओंमें यथेष्ट रमण करते हैं। यह सब महिमा है सम्यग्दर्शनकी। वे देव सम्यग्दर्शनसे विशिष्ट हैं, उनकी बड़ी उत्कृष्ट शोभा है, उनके इन्द्रतुल्य वैभव हैं। न भी इन्द्र हो सकें तो भी सामानिक, लोकपाल आदिक ये भी बड़े वैभव वाले देव कहलाते हैं। सामानिक देव ऐसे रहते जैसे यहां किसी बड़े परिवारका कोई बड़ा बुजुर्ग आदमी। हुक्म चलेगा सब इन्द्रका, इन्द्रपर किसीका हुक्म नहीं चलता। सामानिक देवोंमें इन्द्रका जैसा सारा वैभव पाया जाता है, पर सब पर उनका हुक्म नहीं चलता। इन्द्रादिकके वैभव ये सब बातें सामानिक देवोंमें पायी जाती हैं। केवल हुक्म नहीं रहता। इन्द्र बने, सामानिक बने, त्रायस्त्रिंश बने। शायद ये त्रायस्त्रिंश ३३ ही होते होंगे तभी इनका नाम त्रायस्त्रिंश पड़ा। कोरम भी देखो, ११ का बन

गया तिगुना, बाहरी प्राकृतिक घटना। त्रायस्त्रिंश वे धर्मक्रियावोंमें संविधान, मंत्रणा देनेमें कुशल, बड़ी ऋद्धिवाले देव हैं। लोकपाल भी बड़े वैभव वाले होते हैं, ये मनुष्यभव धारण करके मोक्ष जाते हैं, लोकपालकी इतनी महिमा है। लोकपालका अर्थ है—जैसे यहांका कोतवाल। लोकपालका बड़ा पवित्र भाव है पर यहांके कोतवालका भाव पवित्र होता या नहीं होता, आप लोग ज्यादह समझते होंगे। अरे लोकपाल तो नगरके पिताकी तरह होता है। कोतवालको नगरवासियोंके प्रति बड़ा पवित्रभाव रखना चाहिए। जैसे घरका कोई बुजुर्ग, बच्चोंका पिता बच्चोंपर बड़ा पवित्रभाव रखता है ऐसा ही भाव नगरके कोतवालको नगरवासियोंके प्रति रखना चाहिए। कोतवालको बड़ा न्यायप्रिय होना चाहिए, पर वह तो अन्याय करने पर भी उतारू रहता है। खैर मनुष्य चाहे कैसा ही करें पर देवोंमें जो लोकपाल देव होतेवे बड़े न्यायप्रिय होते। तो जिनेन्द्रभक्त सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे ऐसे पुण्यवान होते कि जिनके समान ऋद्धि, वैभव, यश अन्य असंख्याते देवोंमें नहीं होता।

देवोंकी गणना व आयु—देखिये देवोंकी संख्या मनुष्य और नारकियोंसे भी अधिक है। तिर्यञ्चोंकी संख्याके बाद दूसरा नम्बर आता है देवोंका। देवोंकी बहुत अधिक संख्या है। अभी ये जो तारे दिखते हैं उनकी ही गिनती करना अशक्य है। ये तारे तो असंख्यात द्वीप समुद्रोंके ऊपर रह रहे हैं, एक-एक ताराके विमानमें अनेकों देवी देवता रहते हैं। यह तो एक ज्योतिषी देवोंकी बात है भवनवासी आदि फिर अन्य देव फिर वैमानिक देव। १६ स्वर्ग ९ ग्रेवेयक, ८ अनुदिश, ५ अनुत्तर यों देवोंकी संख्या बहुत अधिक है, वे बहुत बड़ी बड़ी ऋद्धि समृद्धि वाले हैं। ऐसे वैभव, ऋद्धि, आभरण इस जिनेन्द्रभक्त सम्यग्दृष्टि जीवको प्राप्त होते हैं। इनकी आयुसागरों पर्यन्तकी होती है। १० सागर २० सागर और सागर भी कितना? जिसकी हद हम नहीं मान पाते हैं, है जरूरहद जिसको बताया है कि मानलो कोई दो हजार कोशका लम्बा चौड़ा, गहरा गड्ढाहो। उसमें उत्तरकुरू भोग भूमिके बच्चे मेढ़ेके बारीक रोमके टुकड़े इतने छोटे छोटे उसमें ठसाठस भरे जायें कि जिनका दूसरा टुकड़ा कैंची आदिकसे न किया जा सके। फिर उन टुकड़ोंको प्रत्येक १०० वर्षमें एक टुकड़ा निकालें तो जितने कालमें वे सब रोमखण्ड निकल सकें उतने कालका नाम है व्यवहारपल्य। उससे असंख्यातगुना होता है उद्धारपल्य, उससे अनगिनते गुणा होता है अद्धापल्य, और एक करोड़ अद्धापल्यका एक करोड़ अद्धापल्यमें गुणा करनेसे जितना आये उसे कहते हैं एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य, ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यका एक सागर होता है। ऐसे १०-२० आदि सागर पर्यन्तवे देव अपसराओंके परिषदमें यथेष्ट प्रसन्न रहता करते हैं। यह बतलाया जा रहा है एक पुण्यका फल, ऐसा पाकर क्या करना चाहिए, यह उन सम्यग्दृष्टि देवोंकी अलग बात है, पर जो मिला है वह पुण्यका फल है। ऐसा पुण्य जिनेन्द्रभक्त सम्यग्दृष्टि जीव प्राप्त किया करते हैं।

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमियतयश्चक्रं।
वर्तयितुं प्रभवन्तिस्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः॥ ३८॥

सम्यग्दृष्टिके स्वर्गसे चयकर मनुष्यभवमें हुए चक्रीको प्राप्त नवनिधिमें कालनिधिका

निर्देश—सम्यग्दृष्टि जीव सागरोंपर्यन्त स्वर्गमें सुख भोगकर वहांसे आयु पूर्ण करके मनुष्यलोकमें आते हैं तो उनमें कितने ही चक्रवर्ती बनते हैं, इस श्लोकमें चक्रवर्तीका संकेत किया गया। चक्रवर्ती ९ निधि और १४ रत्नके स्वामी होते हैं, ये सम्पूर्ण भरत क्षेत्रके राजा होते हैं। जो कि ६ खण्डमें विभक्त हैं, इनमें मुख्य चक्ररत्न उत्पन्न होते हैं और उस चक्र रत्नके स्वामी होनेसे इन्हें चक्रवर्ती कहते हैं। जम्बूद्वीपके दक्षिण किनारे भरत क्षेत्र है जो ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन है। एक योजन २ हजार कोशका होता है, इतना विशाल क्षेत्र है जिसके बीचमें विजयार्द्ध पर्वत होनेसे छह खण्ड हो जाते हैं उन समस्त छह खण्डोंके ये अधिपति होते हैं। इनके ९ निधियां उत्पन्न होती हैं जिनके नाम और कार्य इस प्रकार हैं। (१) काल—इस काल निधिके द्वारा उनको अपने ऋतुके योग्य द्रव्य प्राप्त होते रहते हैं। जैसे यहां लोग एयर कंडीशन, कूलर, हीटर आदिक ऋतुवोंके अनुकूल रख लेते ऐसे ही जिन-जिन ऋतुवोंमें जो जो पदार्थ चाहिए उन ऋतुवोंके योग्य पदार्थ उन्हें इस कालनिधिसे प्राप्त होते हैं। यहां यह जानना कि चक्रवर्तियोंको जो निधियां उत्पन्न होती हैं उनकी रक्षा करने वाले, व्यवस्था करने वाले देवगण होते हैं। तीर्थंकरके बाद पुण्य वैभवका कोई स्वामी है तो ये चक्रवर्ती हैं। ये सब चक्रवर्ती स्वर्गसे आते हैं। ये सम्यग्दृष्टि होते हैं। भले ही चक्रवर्तीकालमें कोई चक्रवर्ती मिथ्यादृष्टि रह जाय और कितने ही चक्रवर्ती मोक्ष जाते हैं, कितने ही चक्रवर्ती पुनः ऊर्ध्वलोकमें जाते हैं, और कितने ही चक्रवर्ती तो नरक गए। जिसकी जैसी भावना होती उसके अनुसार वह फल पाता। कितने ही चक्रवर्तियोंने इतना विशाल चक्रवर्तीका वैभव पाया, यह बहुत बड़े पुण्यका फल है। भला बतलावो अपने ही नगरमें कोई एक चेयरमैन हो गया तो उसका ही लोग कितना बड़ा महत्त्व मानते हैं, फिर जो पूरे जिलेका नेता है, वह कितना बड़ा, फिर पूरे देशका नेता है वह कितना बड़ा, फिर पूरे विश्वका कोई अधिपति है वह कितना बड़ा, फिर कोई छह खण्डका अधिपति है वह कितना बड़ा, इसका विचार तो करो। ऐसा छह खण्डका अधिपति होना यह बहुत बड़े पुण्यका फल है। अब पुण्यके फलमें हर्षित न हों, पुण्यफल पाकर भरत चक्रवर्ती जैसे उन सबमें उदास रहे, यह उनका ज्ञानबलका काम था जो कि भविष्यके लिए उनको लाभदायक था, पर लोकमें चक्रवर्तीका वैभव वर्तमानमें बड़ा आनन्ददायक माना जाता है। ऐसा ऊंचा पुण्य सम्यग्दर्शन होनेपर ही प्राप्त हो पाता है। चक्रवर्ती पूर्वभवमें उस कालमें सम्यग्दृष्टि थे और उस सम्यक्त्वकालमें रहने वाले भक्तिराग आदिके कारण ऐसा विशेष पुण्यबंध हुआ कि उनको छह खण्डका वैभव प्राप्त हुआ।

चक्रीके महाकाल, पाण्डु, व मानवनिधिका निर्देश—चक्रवर्तीकी दूसरी निधि है महाकाल। इस निधिके द्वारा मनमाने भाजनवर्तन प्राप्त होते हैं। नहाने धोनेके लिए, रसोईगृह के लिए, अनाथालयके लिए तथा अन्य कार्योंके लिए जहां जितने बर्तन चाहिए वे सब इस निधिके प्रतापसे उन्हें प्राप्त होते हैं। भला बतलावो जिनके पुण्यके कारण देव उनके सेवक बनते उनका कितना विशाल पुण्य है। सो ऐसा विशाल पुण्य सम्यग्दर्शन होनेपर ही प्राप्त होता है। मिथ्यादृष्टिको ऐसा विशाल पुण्य नहीं प्राप्त होता। यद्यपि पुण्य मिथ्यादृष्टिको भी प्राप्त होता मगर इतना विशाल नहीं। मिथ्यादृष्टि जीवके इतना ऊंचा परिणाम कहां है? (३) चक्रवर्तीकी तीसरी निधि है पाण्डु। इस निधिके प्रतापसे धान्यादिककी

भारी उत्पत्ति होती है। अनाजकी समस्या वहां नहीं रहती, प्रजाजनोंमें बड़ा सुख बर्तता है। (४) चौथी निधि है मानव। इसके प्रतापसे सर्वप्रकारके आयुध याने शस्त्रादिककी प्राप्ति होती है।

चक्रवर्तीके शङ्ख, पद्म व नैसर्प निधिका निर्देश—(५) पांचवी निधि है शंख, जिसकी वजहसे वादित्य बाजोंकी प्राप्ति होती है। देखिये आत्माके भावोंको परिणाम। यह सब ठाठ किसका है? पुण्यका, और पुण्य बना कैसे है? आत्माके उच्च भावोंसे। जिन्हें अपने आपपर दया हो, अपने आपकी उन्नतिकी वाञ्छा हो उनका कर्तव्य है कि वे अपने भावोंको बिगड़ने न दें, भावोंको ऊंचा बनायें। किसी भी जीवके प्रति विरोधकी बात रंच भी चित्तमें न रहे, यह सबसे बड़ी भारी विशुद्धि है। अपना विरोधी कोई है ही नहीं। जो विरोधी है वह अपनी शान्तिके लिए अपना प्रयास करता है। जब मेरे प्रति कोई कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर वह मेरा विरोधी कैसे? यदि विरोध भावना जगती है तो वह उसका भाव है। उसकी योग्यता है, उसके लिए है, मेरे लिए नहीं। सब लोग अपने लिए सोचिये कि इस जगतमें मेरा कोई विरोधी नहीं, ऐसी एक सद्भावना बने। सब जीवोंमें उस सहज परमात्मतत्त्वके दर्शन हों, यह ही है उच्च भावना। हम भावनाके सिवाय अन्य कुछ नहीं कर पाते। अपने ही भाव सही बनायें रहें बस यह ही हमारा वैभव है, यह ही मेरा सर्वस्व है। (६) चक्रवर्तीकी छठी निधि है पद्म। इसके प्रतापसे मनमाने वस्त्रोंकी प्राप्ति होती है। राजघरानेको, सेवकोंको, सेनाको या जिस किसीको भी जितने वस्त्र चाहिए वे सब इस निधिके प्रतापसे प्राप्त होते हैं। (७) सातवीं निधि है नैसर्प, इस निधिके द्वारा हम्यभवनोंकी प्राप्ति होती है। देखिये तो सही, यह तो चक्रवर्तीकी बात है। श्रीरामचन्द्रजीको बनमें एक बार ऐसी जगह भी ठहरना पड़ा जहां कि कोई पुरुष तो था नहीं, सिर्फ एक स्त्री थी, तो वहां उस स्त्रीने उन्हें बड़े अपशब्द सुनाया। वहां लक्ष्मण तो उस स्त्री पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए, पर श्रीरामने लक्ष्मणको समझा बुझाकर शान्त कर दिया। वही श्रीराम जब जंगलमें जाकर ठहरे तो उनके पुण्य प्रतापसे वहां नगरी बस गई, जिसका नाम रखा गया रामनगर। उसी नगरीमें एक बार वह स्त्री भी पहुंची तो वहां श्रीरामने उसपर द्वेषभाव नहीं किया बल्कि क्षमाभाव रखा। देखिये—महापुरुष बड़े क्षमाशील हुआ करते हैं। यही गुण तो उनको बड़ा बनाता है। बड़े पुरुष छोटे लोगोंसे द्वेष नहीं रखते बल्कि उनके प्रति क्षमाभाव रखते। तो हम सदैव क्षमाशील रहें, किसी बातमें घमंड न आये, मायाचारीसे भरा हुआ हृदय न बनायें, लोभलालचकी बात अपने चित्तमें न बसायें, समय-समय पर अपनेमें एक त्याग वृत्ति रखें। क्रोधादिक चारों प्रकारकी कषायोंके दूर होते ही अपने भावोंमें एक उदात्तपना आता है। भाव ही अपना एक धन है, जिसके कारण हम इस लोकमें भी सुखी रह सकते और अन्य लोकमें भी। यहां चक्रवर्तीकी ऋद्धियां बतायी जा रही हैं कि सम्यग्दर्शनके प्रतापसे अविशिष्ट रागके कारण कितना विशिष्ट पुण्यबंध हुआ करता है जिसके फलमें ऐसा वैभव प्राप्त होता है।

चक्रीके पिङ्गल व नानारत्न निधिका वर्णन—(८) आठवीं निधि है पिङ्गल—इसके प्रतापसे बड़े-बड़े स्वर्ण रत्न आदिक जड़ित आभूषण प्राप्त होते हैं। (९) नवमी निधि है नानारत्न—इस निधिके प्रतापसे बड़े बड़े रत्नसमूहोंकी प्राप्ति होती है। अब देखिये यह सब वैभव कितना कूता जायगा? क्या करोड़ोंका, या अरब, खरब, नील आदिकका? अरे कुछ कह ही नहीं सकते। यह सब वैभव चक्रवर्तीके

सामने पड़ा है, पर उससे चक्रवर्तीके आत्माको क्या लाभ? ये सब बाहर पड़े हैं। पौद्गलिक ठाठ हैं, उनसे इस आत्माका कौनसा हित होता है? मगर वह सब पुण्य वैभव है जिसके प्रति लोग ललचाते रहते हैं। यहां ललचाया जाने योग्य कोई वस्तु नहीं है। इनका लालच ही तो इस जीवको संसारमें रूलाता है। हां देखिये यह भी एक विचित्र बात है कि ज्यों ज्यों वैभवकी चाह कम होती जाती हैं त्यों-त्यों वैभवकी वृद्धि होती रहती है। इस आने वाले वैभवको देखकर उसमें मस्त न हों। उसके प्रति निर्लेप रहें ऐसा भाव रहता है भव्यात्माका। चक्रवर्तीकी ये ९ निधियां होती हैं। इतना विशाल पुण्य सम्यग्दृष्टि जीवके बंध करता है, इतने पर भी पुण्यका जो फल प्राप्त होता है वह रमने योग्य नहीं है। जो इनमें रमा सो संसारमें रुला।

चक्रवर्तीके १४ रत्नोंमें ७ सजीवरत्नोंका निर्देश—चक्रववर्तीके १४ रत्न होते हैं, जिनमें ७ रत्न तो सजीव हैं और ७ रत्न अजीव है। (१) पहला रत्न है पवनंजय—इसके प्रतापसे पवनके समान उड़ने वाले अश्व (घोड़े) प्राप्त होते हैं। (२) दूसरा रत्न है विजयगिरि—इस रत्नके प्रतापसे विशाल बलशाली गज (हाथी) प्राप्त होते हैं। वैसे लोग तो सिंहको हाथीसे भी अधिक बलशाली बताते पर हाथीका बल और किस्मका है सिंहका बल और किस्मका। सिंहमें फुर्तीलापन होता है, हाथीमें गम्भीरता होती है। सिंहको लोग पंचमुख कहते हैं। उसके ५ मुख होते, कैसे कि एक मुख तो रहता ही, बाकी चार पंजे भी उसके मुखका जैसा ही काम करते हैं। वे पंजे दांतोंकी तरह तीक्ष्ण नुकीले होते हैं, इससे सिंह हाथीपर भी हमला कर बैठता। वैसे बलमें सिंह हाथीसे कम होता है। हाथी एक गम्भीर प्राणी है, उसमें बल बहुत अधिक होता है। (३) तीसरा रत्न है भद्रमुख। इसके प्रतापसे गृहपति ऐसा मिलता है कि जो राज्यकी सारी व्यवस्था बहुत सही बनाता है। बड़े घरके लोग राजागण या चक्रवर्ती ये स्वयं अपने घरकी व्यवस्थामें नहीं रहते, इनका तो एक विशाल कर्तव्य होता है। घरकी व्यवस्थाके लिए उनका एक सुपरिन्टेन्डेन्ट (गृहपति) होता है जो कि गृहकार्यकी व्यवस्था करनेमें बड़ा कुशल होता है। (४) चौथा रत्न है कामवृष्टि—इसकी वजहसे स्थपति याने कुशल कारीगरोंकी प्राप्ति होती है। ऐसे ऐसे कुशल कारीगर प्राप्त होते हैं जो कि लौकिक सब व्यवस्थायें तुरन्त बड़ी कुशलता पुर्वक कर देते हैं। (५) पांचवां रत्न है अयोध्य—इसके प्रतापसे ऐसा कुशल सेनापति प्राप्त होता है जो किसी दूसरेसे जीता नहीं जा सकता। जैसे भरत चक्रवर्तीके समयमें जो जय कुमार नामका सेनापति था उससे किसी कारणसे भरत चक्रवर्तीका पुत्र अर्द्धकीर्ति भिड़ गया था तो वह भी उससे हार गया था। वहां कोई वैतनिक सेनापति नहीं होता, स्वयं कोई बड़े राजघरानेका होता है और चक्रवर्तीका सेनापति बननेमें अपना महत्त्व समझकर वह सेनापति बनता है। तो वह सेनापति अयोध्य होता याने वह किसीके द्वारा युद्धमें जीता नहीं जा सकता। (६) छठा रत्न है सुभद्रा—इस रत्नके प्रतापसे सुभद्रा युवती याने कुशल सुभग पट्टरानीकी प्राप्ति होती है, उसमें इतना बल होता कि कहो रत्नोंका चूरा मुट्टीमें रत्न भरकर यों ही हाथसे मल देनेमें हो जाय और उस चूरासे चौक आदि पूर दे। इतना बल पट्टरानीमें होता है। पट्टरानीके अतिरिक्त अन्य ९६ हजार रानियाँ होती हैं। (७) सातवां रत्न है बुद्धि समुद्र—इस रत्नके प्रतापसे बड़ा

बुद्धिमान पुरोहित प्राप्त होता है जो सलाहकारका काम करे, मंत्रीके साथ बैठकर मंत्रणा करे, जो सब प्रकारके कार्योंकी बड़ी कुशलतापूर्वक व्यवस्था करे ऐसा पुरोहित प्राप्त होता है।

चक्रवर्तीके १४ रत्नोंमें ७ अजीव रत्नोंका निर्देश—उक्त ७ रत्न तो चक्रवर्तीके सजीव होते हैं, और ७ ही अजीव रत्न होते हैं। (१) पहला रत्न है छत्र, उसमें सूर्य जैसी प्रभा होती है। यह छत्ररत्न उनकी आयुधशालामें उत्पन्न होता है। (२) दूसरा रत्न है असि जिसका नाम है भद्रमुख, ऐसी तलवार प्राप्त होती जिसके धारण करनेसे वह सुभट किसी दूसरेके द्वारा जीता नहीं जाता सकता। (३) तीसरा रत्न है दण्ड। चक्रवर्तीके पहरेदार बड़े बलशाली होते हैं वे ऐसे प्रवद्धवेग वाले दण्ड धारण करते हैं कि जिनकी वजहसे शत्रु उनपर विजय नहीं पा सकते। (४) चौथा रत्न है चक्र—यह चक्रसुदर्शन ऐसा यंत्र होता कि यदि चक्रवर्ती किसी शत्रुका लक्ष्य करके उसे फेंक दे तो शत्रु उसके आधीन बन जाय। (५) पांचवां रत्न होता है काकिणी—इसके प्रतापसे शत्रुके हृदयमें ऐसा प्रभाव पड़ता कि उसमें चिन्ता व्याप जाती है जिससे वह पराजयको प्राप्त होता है। (६) छठा रत्न है चिन्तामणि—यह चिन्तामणि रत्न ऐसा अद्भुत होता है कि इसके प्रतापसे जो कुछ मनमें विचारा गया उस कामकी सिद्ध हो जाती है। (७) सातवां रत्न है चर्म—यह एक बड़ा मजबूत, विशाल पंडाल सा समझिये। इसका उपयोग चक्री कब करता है जबकि मानों वह चक्री अपनी विशाल सेना सहित कहीं जा रहा है। कहीं मानों मेघवर्षा तेज होने लगी या बिजली चमकने लगी, ऐसी कोई परिस्थिति आये तो उस समय उस चर्मरत्नका उपयोग होता है। वह ऊपर बड़ा विशाल अनेकों कोशों तक ऐसा ऊपर छा जाता है कि उनको फिर कोई प्रकारकी बाधायें नहीं होतीं। ऐसे १४ रत्न चक्रवर्तीको प्राप्त होते हैं। यह सब सम्यग्दर्शनके होते सन्ते शुभ भावोंका प्रताप है, जिसका सारे भरत क्षेत्रपर एकछत्र राज्य है। तो अब आप समझिये कि छह खण्डके अन्दर जो कुछ भी वैभव पड़ा है वह सब, उस चक्रवर्तीका है।

चक्रवर्तीके अन्य वैभवोंका दिग्दर्शन—चक्रवर्तीपर ३२ यक्ष चमर ढोरते हैं। एक-एक यक्षके बन्धु कुल साढ़े तीन करोड़ हैं। ऐसे ३२ यक्ष चक्रवर्तीपर चमर ढोरते हैं, एक-एक यक्षके बन्धुकुल साढ़े तीन करोड़ होते हैं। चक्री जब जाता है तो शंख ध्वनि होते मालूम पड़ता लोगोंको। शंख २४ होते हैं जो कि दक्षिणकी तरफ आवर्त किए हुए होते हैं। इनमें बड़ी ऊंची ध्वनि होती है जो ४८ कोश तक सुनाई देती है। अब यहां चक्रवर्तीका और भी वैभव देखिये—जैसे यहां मान लो किसी किसानका वैभव बताना है तो कहते कि इसके इतने हल चलते हैं, मानलो चार हल चलते, ५ हल चलते। जब उससे बड़े जमींदारका वैभव बताना है तो बताते कि इस जमींदारके २० हल चलते २५ हल चलते, जब उससे बड़े किसी राजाका वैभव बताना है तो कहते कि इस राजाके हजारों हल चलते, ऐसे ही चक्रवर्तीका वैभव बताना है तो कितने बताये जायेंगे? एक कोड़ा कोड़ी हल। याने एक करोड़में एक करोड़का गुणा करनेपर जितनी संख्या आवे उतने हल। देखिये इतने बड़े छह खण्डके राज्यमें एक कोड़ा-कोड़ी हल चलना असम्भव बात नहीं। चक्रवर्ती केवल भरतक्षेत्रमें ही होते हों सो बात नहीं, भरतक्षेत्रके चक्रवर्ती अलग है, ऐरावत क्षेत्रके अलग हैं और विदेह क्षेत्रके अलग हैं। जैसे बताया है कि १६० तीर्थंकर विदेह क्षेत्रमें एक साथ हो सकते हैं। वैसे बताया है २० तीर्थंकर, २० से कम तीर्थंकर

तो होंगे नहीं, पहले २० कह दिया है पर सभी नगरियोंमें जो वहांकी महानगरियां हैं वे बड़ी विशाल हैं, वहां एक-एक तीर्थंकर एक-एक नगरीमें हो सकता है। एक समयमें १६० तीर्थंकर हो सकते हैं, उसी समय ५ भरतमें ५ तीर्थंकर होते, ५ ऐरावतमें ५ तीर्थंकर होते, तो कोई समय ऐसा भी हो सकता है कि जिस समय ढाई द्वीपके अन्दर १७० तीर्थंकर विराजे हों। तो छह खण्डकी पृथ्वीपर जगह जगह उनके फार्म्स हैं, सब कुछ उनकी व्यवस्था है। तो चक्रवर्तीके एक कोड़ाकोड़ी हल होते हैं। उनका राज्य छह खण्डकी पृथ्वीपर है ना? वहां रमणीक १२ भेरी बजती हैं। उनकी ध्वनि इतनी तेज होती है कि ४८ कोश तक सुनाई देती है। चक्रवर्तीके पास गायें तीन करोड़ होती हैं। आखिर छह खण्डमें सर्वत्र उनके स्थान बने हैं, उनके गायें ३ करोड़ होती हैं। अब जरा चक्रवर्तीके बर्तनोंका अंदाज लगाइये—थालियां एक करोड़, जब केवल थालियां ही एक करोड़ होतीं तो फिर लोटा, कटोरी, गिलास, चम्मच आदि कितने होते होंगे इसका अंदाज तो लगाइये। देखिये कहां कहां होता है उस चक्रवर्तीका उपयोग। उसके पास ८४ लाख हाथी, ८४ लाख भद्ररथ, १८ करोड़ घोड़े, ८४ करोड़ वीरपुरुष, कई करोड़ विद्याधर, ८८ हजार म्लेच्छ राजा ३२ हजार मुकुटबद्ध राजा, ३२ हजार नाट्यशाला, ३२ हजार संगीतशाला, ४८ करोड़ पदाति सेना, ३२ हजार देश, ये सब वैभव होते हैं चक्रवर्तीके। ये सब वैभव जानकर हमें ललचानेकी शिक्षा नहीं लेना है। ये सब बाहर पड़े हुए पौद्गलिक पदार्थ हैं। उनसे चक्रीके आत्माका क्या भला होता? पर सम्यक्त्व होनेपर शुभ भाव होनेके कारण ऐसा विशाल पुण्यबंध होता है जो कि मिथ्यादृष्टियोंके नहीं हो सकता। ऐसे ये चक्री राजा जिनके राज्यमें ९६ करोड़ गांव थे, ७५ हजार नगर थे और १६ हजार छोटे-छोटे खेड़े थे, याने कितना विशाल उनका राज्य था जिनकी रक्षाकी जगह ५६ तो ऐसे अन्तर्द्वीप थे कि समुद्रके बीच टापू वगैरह जहां हर एकका जाना अशक्य है, और २८ हजार दुर्ग थे। देखिये सभी जगह छह खण्ड मौजूद था, सब जगहकी बराबर व्यवस्था बनी हुई थी। कहां कौन लोकपाल रहता है, किस राजाको कहां नियुक्त किया है, ऐसे विशाल वैभव वाले चक्रवर्ती इस सम्यक्त्वके प्रतापसे उन शुभ भावोंके कारण होते हैं। सम्यग्दर्शनका काम नहीं है वैभव दिलाना। वह तो मोक्षका मार्ग है, पर उसके होते हुए जो शुभ भाव हुए भक्ति आदिकके उन्हें इतना विशेष पुण्यका लाभ होता है।

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः॥ ३९॥

सम्यक्त्वकी महिमाके सम्बन्धमें गत वर्णनका संक्षिप्त स्मरण—सम्यग्दर्शनकी महिमाका प्रसंग चल रहा है। अब तक बताया गया कि जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध जीव हैं वे नरक, तिर्यञ्च, नपुंसक, स्त्री पर्याय, खोटे कुल वाले, विकृत अङ्ग वाले, अल्प आयु वाले और दरिद्र नहीं होते। कुछ अपवाद हैं—जिसने पहले नरकायुका बंध कर लिया हो और पीछे सम्यक्त्व प्राप्त हो और क्षायिक सम्यक्त्व हो जाय तो वह पहले नरक जायगा, नीचे नहीं, ऐसे ही जिसने पहले तिर्यञ्च आयु का बंध कर लिया हो और बादमें सम्यक्त्व हो, क्षायिक सम्यक्त्वहो तो वह भोग भूमि तिर्यञ्च होगा। ऐसे ही किसीने मनुष्यायुका पहले बंध कर लियाहो, पीछे सम्यक्त्व हो जाय, क्षायिक सम्यक्त्व हो जाय तो वह

भोगभूमिया मनुष्य होगा। इन तीन अपवादोंके सिवाय बाकी ये सब व्यवस्थित हैं। फिर बताया गया कि जो सम्यग्दर्शनसे पवित्र हैं वे मनुष्योंमें भी ऊंचे मनुष्य हैं। जिनका ओज, तेज, विद्या, शक्ति, यश, वैभव, कुल ऊंचा हुआ करता है, जो पुरुषार्थी होते हैं, बताया गया कि जो सम्यग्दृष्टि हैं, जिनेन्द्रभक्त हैं वे स्वर्गोंमें अच्छे देव होते हैं इसके बाद कहा गया कि सम्यग्दृष्टि पुरुष, जीव देव स्वर्गसे चलकर चक्रवर्ती होते हैं।

सम्यग्दृष्टियोंके तीर्थङ्कर होनेके वर्णनमें गर्भ व जन्मकल्याणकका निर्देशन—आज बतला रहे हैं कि सम्यग्दर्शनसे शुद्ध जीव तीर्थंकर हुआ करते हैं। तीर्थंकर शब्दका अर्थ है जो तीर्थको करे। धर्मतीर्थमें प्रवृत्ति करें उसका नाम तीर्थंकर है। १४८ कर्मोंकी प्रकृतियोंमें तीर्थंकर नामकी एक प्रकृति है। जिसका उदय तीर्थंकरके भवमें १३वें गुणस्थानके प्रारम्भमें हो जाता है मगर वे तीर्थंकर उस भवमें जन्मसे ही कहलाने लगते हैं, क्योंकि उनका पुण्य वैभव इतना विशाल है कि गर्भ जन्म तप कल्याणक तीर्थंकर होनेसे पहले भी होने लगते हैं। वास्तवमें तीर्थंकर १३वें गुणस्थानमें कहलायेंगे, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृतिका उदय १३वें गुणस्थानमें ही होता है। किन्तु जब पहलेसे इन्द्रको पता पड़ गया और पुण्य वैभव भी अनूठा है तो जैसे जिसे राजा होना होता है उसका लाड़ प्यार उसकी कुमार अवस्थासे ही चलने लगता है ऐसे ही जिसको तीर्थंकर होना है उसके गर्भमें आनेसे ६ माह पूर्वसेही रत्नोंकी वर्षा होने लगती है। ५६ कुमारियां, देवियां, ६ प्रकारकी महादेवियां वहां आकर माताके मनको बहलाती हैं और १५ महीने तक रत्नवर्षा होती रहती है। जब प्रभुका जन्म होता है तब जन्मकल्याणक मनाया जाता है। जन्म कल्याणकका लोकमें बड़ा प्रभाव समझा जाता है। आजकल भी जहां पंचकल्याणक होता है वहां जन्म कल्याणकमें जितनी भीड़ और उमंग जनतामें मिलती है, उतनी अन्य कल्याणकोंमें नहीं मिलती। तो लोगोंको जैसे अपना बालक होना यह प्रिय है तो ऐसी ही भावनाके कारण तीर्थंकरोंके जन्मके समयकी उमंग बहुत अधिक होती है। अब प्रभुका जन्म होता है तो अपने आप ही इन्द्रका आसन कम्पायमान होता है। स्वर्गमें भवनवासियोंके भवनमें, व्यन्तरोंमें, ज्योतिषियोंमें कहीं घंटा, कहीं भेरी, कहीं शंखके शब्द होने लगते हैं। कर्मप्रकृतिके उदयका निमित्त नैमित्तिक योग भी अथाह है, उसे कोई यों प्रकट नहीं बता सकता। कितनी ही बातें हैं। जैसे एक रेडियो ही बोलता है तो दिल्ली, लंदन या कहीं की भी बात आप सुन लीजिए। भले ही रेडियोके निर्माणकर्ता लोग जानते हैं कि कहाँ कैसे तार लगाना, क्या करना, पर उसका स्पष्ट परिचय उन तकको भी नहीं हो पाता। कहां शब्द होते हैं कैसे वे कैच करते हैं, किस ढंगसे आते हैं पर सामान्यतया जानते हैं। तो भला प्रभुका जब जन्म हुआ उस समयमें पुण्यविपाकका निमित्त पाकर ये घंटा घड़ियाल आदिक स्वयं बजने लगते हैं। यहां भी जिनका पुण्योदय होता है उनके पास वैभव सम्पदा कहां किस तरह आनेको है वे कुछ नहीं जानते। अपनी कल्पनायें करते हैं, पर सर्व योग अपने आप जुड़ते हैं।

पराधीन संयोगोंका विकल्प न कर स्वाधीन एकत्वनिश्चयगत अन्तस्तत्त्वकी उपासनाका कर्तव्य—यहां संसारमें जितने भी जीवोंको सुख दुःख लगे हुए हैं वे सब कर्मोदयानुसार चलते हैं। कर्तव्य तो अपना यह है कि कर्मोदयसे होने वाली बातोंको असार जानकर, कर्मोदयजन्य विकारको

असार जानकर इन सबसे उपेक्षा करना चाहिए और अपने स्वभावको सारभूत जानकर यह ही दृढ़ दृष्टि रखना चाहिए और मोक्षमार्गका ऐसा ऊंचा काम है। निशंक, धोखारहित कामकी जो आत्मस्वभावकी रुचि करके, सहज परमात्मस्वरूपकी भक्ति करके जो अपने मोक्ष मार्गकी साधनामें लगा है, उसका जब तक संसार शेष है तब तक अच्छे कुलमें जन्म होगा। यहां भी उसे आपत्ति नहीं सहनी पड़ती, तो मोक्षमार्ग तो चल ही रहा है। मुक्तिके मार्गमें वह बढ़ रहा है, इसलिए जीवनमें एक ही निर्णय बनाइये कि मुझे अपने आत्मामें बसे हुए सहज परमात्मस्वरूपकी उपासना करना मुख्य काम है। एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय, एक यह न रहे साथमें और बाकी आप सब क्रियायें करते रहें, वे धर्मके नामपर भी करते रहें, ऊंचे तपश्चरण भी करते रहें, पर एक मूल यह आत्मस्वभाव न जान पाया तो समझिये कि संसारकी ही वर्तना करने वाले हैं। संसार संकट मिटा सकने वाले नहीं है। इसलिए एक ही निर्णय हो। प्रधान कार्य एक मात्र यह ही है कि मैं अपने आत्मस्वभावको नजरमें रखूं, दृष्टिमें लूं। चैतन्यस्वभावमात्र, जिसकी दृष्टिमें आनेपर बाह्यविकल्प मिट जानेके कारण अलौकिक सहज आनन्द जगता है। कर्मोंका क्षय आनन्दके कारण हुआ करता है कष्ट से नहीं होता। पर वह आनन्द होना चाहिए आत्मीय सहज आनन्द। तो कर्मोंकी निर्जरा, कर्मोंका क्षय, आनन्दसे होता है, क्लेशसे नहीं होता क्लेश, संक्लेशमें तो ध्यान बिगड़ा हुआ होता है, पर जहां सहज आनन्दका अनुभव चल रहा हो वहां ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है कि कर्म अपने आप अपनी परिणतिसे झड़ने लगते हैं। जैसे यहां लोकमें स्पष्ट निमित्त नैमित्तिक योग दिखाई दे रहा है—अग्नि जलाया, तवा रखा, उस पर रोटी चढ़ाया तो रोटी सिक जायगी। कोई शंका नहीं करता, ऐसा ही योग है, जानते हैं और ऐसा ही पौरुष करते हैं। तो यहां भी ऐसा ही योग है कि जब हम अपने आपको सम्हालेंगे, अपना उपयोग सहज सहज चैतन्यस्वभाव दृष्टिमें रखेंगे, अनुभवेंगे कि यह हूं मैं, तो वहां जो एक सहज आनन्द जगता है उसके निमित्तसे ये कर्म अपने आप झड़ने लगते हैं। तो अपनेको करने योग्य काम केवल एक ही है। न कर्मपर दृष्टि देना है कि कर्म मेरे बैरी हैं, न बाहरी क्रियाकाण्डोंमें दृष्टि देना है, कि मैं ऐसा ही शरीर चलाऊं, ऐसे ही वचन बोलूं तो मेरे कर्म कटेंगे। होगा उसके सहज, मन, वचन, काय कहाँ जायेगे? जब लगे हुए है साथ? यदि शुद्ध दृष्टि बनेगी तो उसके अनुरूप मन, वचन, काय चलेंगे, पर मैं मन, वचन, कायको ऐसे चलाऊं और कर्म काटूं इन भावोंसे कर्म न कटेंगे।

कल्याणके मूल साधनभूत अन्तस्तत्त्व दृष्टिकी सुगमता व स्वाधीनताका दिग्दर्शन—भैया, हम आपको कितनी सुगमता है कि केवल एक ही कार्य करना है इसे। जो अपना सहजस्वरूप है उसको अनुभवना है कि मैं यह हूं दूसरा ख्याल ही न लाइये, और कोई झगड़ेकी जरूरत ही नहीं है। मैं आत्मा हूं, मैं अमर हूं, सदा रहूंगा, जैसा मुझमें भाव जगे वैसा ही मेरा भविष्य बनेगा। मैं खुद अपना ही अपना जिम्मेदार हूं। ऐसा भाव करके एक इस एकत्व निश्चयगत आत्माको निरखिये मैं क्या हूं। बस इसका सही उत्तर आ जायगा, कल्याण हो जायगा। जो भी तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने क्या किया था पूर्व भवमें? बस यह ही आत्मस्वभावकी साधनाकी थी। जितने भी जीव अब तक मोक्ष गए हैं उन्होंने क्या किया था? इस सहज आत्मस्वरूपकी उपासना की थी। अब आप देख लीजिए कि धर्मपालन बिना किसीका

ठीक-ठीक गुजारा न चलेगा। संसारमें नाना कुयोनियोंमें जन्ममरण होंगे और वह धर्म पालन कितना सुगम है और कितना अपनी दृष्टिके वश है कि जब ही दृष्टि निर्मल हुई, दृष्टिमें अपना आत्मस्वरूप हुआ, यह ही मैं हूं इस प्रकारका अनुभव जगा तो सारे काम जैसे होने हैं वे सब ओटोमेटिक ढंगसे होने लगेंगे। जैसे किसी बड़े मिलमें एक बटन ही नीचे किया कि सारे काम अपने आप चल रहे हैं। भले ही उनकी व्यवस्थामें बड़ा प्रयत्न पहले करना होता है मगर जब व्यवस्थित ढंग रहता है तब वहां सिर्फ एक बटन दबाया कि सारे काम होने लगे, तो ऐसे ही पहले तो तत्त्वका श्रद्धान करनेके लिए तत्त्वका परिचय करना, वस्तुका स्वरूप समझना ये सब बातें करनी होती हैं, पर जब व्यवस्थित ढंग बन जाता है तब केवल एक बटन ही नीचे करना होता है अर्थात् अपनी दृष्टिमें इस सहज आत्मस्वरूपको ही अनुभवना होता है। कर्म कैसे कटते? कट जाते हैं, विकार कैसे हटते? हट जाते हैं। संस्कार कैसे टलते? टल जाते हैं। आपका केवल एक ही काम है, मगर यह काम उस ही के होता है जिसका कि पवित्र चित्त हो, जिसका कि निर्मल आशय हो।

स्वभावदृष्टि पानेके पात्र जीवोंका अन्तरङ्ग आचरण—धर्म और धर्मसाधनोंके प्रति जिसकी अतिशय उमंग हो वह दृष्टिमात्रमें अपने स्वभावके अभिमुख हो जाता है। तो ऐसी स्वभाव अभिमुखता पानेके लिए अपना आचरण भला होना चाहिए, नहीं तो वह पात्रता न आयगी कि जहां आत्माके सहजस्वरूपका अनुभव बन सकता है। सदाचारमें किया, पर वे चार भावनायें हृदयंगम कर लीजिए। **(१) सब जीवोंमें मैत्री भावना रहे, किसी जीवमें कषाय न जगे, किसीके प्रति विरोधभाव न आये।** कषाय और विरोधभाव तो ये फाल्तूसे काम हैं। मैं अपने परमात्माका क्यों घात करुं? परमात्माका घात न हो और किसी जीवके प्रति विरोधभाव न रहे, सर्व जीवोंमें मैत्री भाव रहे। (२) दूसरी भावना यह रहे कि गुणीजनोंको देखकर हर्ष हो जाय। देखिये यह द्वितीय भावना जिसके नहीं है उसमें स्वानुभवकी पात्रता नहीं आ सकती। कोई भीतरका कलंक कषाय ही तो है, कोई अज्ञान भ्रम ही तो है जिससे गुणी जीवोंको देखकर हृदयमें प्रेम नहीं उत्पन्न होता, प्रमोद नहीं जगता, हर्ष नहीं होता। आप उसकी तुलना करें। घरके बच्चोंको निरखकर या विषय कषायोंमें लगाने वाले मित्रोंको निरखकर जैसे आप हर्ष और उमंग करते हैं, उससे भी कहीं अधिक उमंग गुणी जीवोंको देखकर होना चाहिए। यह अपने आप पर दया करनेकी बात कही जा रही। इससे न कहीं समूह पर एहसान है न गुणोंपर एहसान है, न कोई उलाहनेकी चीज है। यह तो अपने आपमें पात्रता कैसे आये और मैं स्वानुभवका अधिकारी कैसे बनूं ऐसी अपने आपकी दयाकी बात है। जितना तन, मन आदिक जो कुछ अर्पण आप किसी दूसरेके लिए कर सकते हैं उससे भी अधिक उमंग यदि धर्म और धर्मसाधनके प्रति हो तब समझिये कि हम इस स्वानुभवके अधिकारी हैं। गुणीजनोंमें प्रमोद भावना होनी चाहिए। (३) तीसरी भावना है दुःखी जीवोंको देखकर दया उमड़ जाना। जो दुःखी जीवोंको देखकर भी हर्ष मानता, खुश होता वह तो उसकी कठोरता है ही जो उपेक्षा कर जाता उसके भी कठोरता समझिये। सर्व जीवोंको अपने स्वरूपके समान निरखनेकी कला जिसमें नहीं आयी वह मोक्षमार्गका पात्र नहीं होता। दुःखी जनोंको देखकर दयाका भाव आये। (४) चौथी भावना है विपरीत वृत्तिवाले पुरुषोंको देखकर माध्यस्थ भावना

जगता। न राग न द्वेष, क्योंकि उद्दंडोंसे रागमें भी आपत्ति है, द्वेषमें भी आपत्ति है, उद्दंड पुरुषोंके प्रति प्रीति करे या विरोध करे, दोनोंमें संकट है अतएव माध्यस्थ भाव हो। जिसने जीवनमें ऐसी भावना पुष्ट की है उसको वह पात्रता मिलेगी कि वह तत्त्वज्ञानके बलसे इस सहज परमात्म तत्त्वकी दृष्टि कर सकता है।

तीर्थंकर प्रभुके जन्म व तप कल्याणकका दिग्दर्शन—जिन जीवोंने सहज परमात्मतत्त्वकी दृष्टिकी उन्होंने दर्शनविशुद्धि भावनाके प्रतापसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया और जिस भवमें तीर्थंकर होंगे उस भवमें उनके कल्याणक मनाये जाते हैं। हां जन्म कल्याणके समय इन्द्र देवतावोंके साथ बड़े समारोह ठाठसे उस नगरीमें आता है और वहां इन्द्राणी प्रसूति गृहमें जाकर मायामयी बालक सुलाकर उस बालकको ले आती है। इन्द्रके हाथमें वह इन्द्राणी उस तीर्थंकर बालकको देती है। उस समय जो उनके चरणोंमें चिह्न दिखाई देता है उस चिह्नकी प्रसिद्धि करते हैं, ध्वजायें बनाते हैं और मेरु पर्वतपर ले जाते हैं। कवि कहता है कि चूंकि तीर्थंकर बालकका प्रथम दर्शन इन्द्राणीको होता है और उस समय उसके निरखनेकी उमंगसे उसके बड़े ऊंचे भाव होते हैं। कितने ही तीर्थंकर बालकके दर्शन किया है इन्द्राणियोंने, वे इन्द्राणी भी पुरुषभव पाकर मनुष्य होकर मोक्ष चली जाती हैं। एक इन्द्रका जितना समय है स्वर्गमें उतने समयमें करोड़ों नहीं, अरब नहीं, नील महानीलकी संख्यासे इन्द्राणियां मुक्तहो जाया करती हैं, जन्म कल्याणक मनाया, क्षीर समुद्रके उस प्राकृतिक प्रासुक जलसे अभिषेक किया भक्तिगान करके उसी महलमें माता पिताको सौंपा और अपने-अपने स्थान चले गए। देखिये बताया है कि जन्मकल्याणकके समय स्वर्ग खाली हो जाता है। रहते थोड़े देव मगर बहुत देव यहीं आ जाते हैं इसलिए सब देवोंका आना कहा जाता है? उनका मूल शरीर नहीं आता, वैक्रियक शरीर यहां आता है, मूल शरीर तो वहीं रहता है। जन्म कल्याणकके बाद प्रभु गृहस्थीमें रहे, किन्हींका कैसा ही जीवन गया, आखिर एक समय ऐसा आता है कि उनके विरक्ति होती है और राजपाट सब त्यागकर वे वन जानेकी तैयारीमें हो जाते हैं। लौकांतिक देव जो कभी भी मध्यलोकमें नहीं आया करते, प्रभुके गर्भ, तप, ज्ञान, निर्वाण कल्याणकमें भी नहीं आ पाते, क्योंकि वे लौकांतिक देव द्वादशांगके पाठी हैं ब्रह्मर्षि हैं। ब्रह्मचारी हैं, वे सदा तत्त्वचिन्तनमें लगे रहते हैं, उनको उसीमें संतोष है, पर जिस समय तीर्थंकरको वैराग्य होता है, वैराग्यप्रिय होनेसे वहां सब आते हैं। तीर्थंकरके वैराग्यका समर्थन करके चले जाते हैं, वहां तप कल्याणक मनाया जाता है।

मनुष्यभवकी श्रेष्ठताका एक चित्रण—जिस समय इन्द्र पालकी सजाकर तीर्थंकर महाराजको उसमें बैठाकर ले जायेंगे उस प्रसंगमें एक कविकी भावनाके अनुसार एक झगड़ा विशेष हो जाता है, वह झगड़ा क्या है? मनुष्य और देवका। मनुष्य कहते हैं कि तीर्थंकर प्रभुको पालकीमें बैठालकर हमले जायेंगे, देव कहते हैं कि तुम्हारी क्या ताकत है? हमने तो गर्भ कल्याणक मनाया, जन्म कल्याणक मनाया, मनाते चले आये, तप आदिक भी मनाते हैं, तुममें क्या शक्ति है, इसका अधिकार तो हमको है। उस समय मनुष्य भी हठ कर गए बोले आप इसे नहीं छू सकते। पालकी ले जानेका ऐसा विवाद होनेपर एक दो प्रमुख पंच बनाये गए। दोनोंने अपने-अपने बयान दिये। बहुत कुछ सुननेके बाद पञ्चोंका न्याय होता है कि इस पालकीको वह ले जायगा जो भगवानकी तरह दीक्षा ले सके। यह

बात सुनकर वे देव बड़े अप्रसन्न हुए, अपना माथा धुनने लगे, और अपनी झोली फैलाकर मनुष्योंसे भिक्षा मांगने लगे कि हे मनुष्य, तुम मेरा सारा देवत्व ले लो, सारे वैभव ले लो और अपना मनुष्यत्व मुझे दे दो। भला बताओ यह मनुष्यत्व क्या भीख मांगनेसे मिलता है? नहीं, बड़ा दुर्लभ है यह मनुष्य भवका पाना। इस मनुष्यभवको पानेके लिए बड़े बड़े देव देवेन्द्र तरसते हैं। ऐसे दुर्लभ मानवजीवनको पाकर यदि विषय कषायोंमें इस मनुष्यपनेको खो दिया तो यह कोई विवेक नहीं है। यह तो महा मूढ़ता है। उसका कर्तव्य इस प्रकारका है कि जैसे किसीको बर्तन मलनेके लिए राख चाहिये थी तो उस राखको पानेके लिए चंदनकी लकड़ी जलावे। अरे चंदन तो एक मूल्यवान लकड़ी है, उसे राखके प्रयोजनके जलाना एक मूर्खता भरी बात है, ऐसे ही मनुष्यभव जो कि इतना दुर्लभ भव है कि जिसे पानेके लिए बड़े बड़े देव देवेन्द्रतरसे उसे पाकर विषय कषायोंमें गंवाना एक मूर्खता भरी बात है। तो अपने मनमें एक ऐसी दृढ़ता लाइये कि मेरा यह मानवजीवन विषय कषायोंके लिए नहीं है, किन्तु धर्मधारणके लिए है। धर्मात्मावोंकी प्रीतिके लिए धर्मसाधनाके अनुरागके लिए मेरा जीवन होगा, और मूलमें आत्मस्वभावकी दृष्टि करना ही लक्ष्य होगा।

तीर्थंकरोंके चरित्रपरिचयसे अपने लिए शिक्षण—तीर्थंकर प्रभुका तप कल्याणक भी ठाठसे मनता है। वे तपश्चरण मौन पूर्वक करते। उनको केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। केवलज्ञानके समय भी कल्याणक, समवशरणकी रचना, उनके दिव्योपदेशके कल्याणक, कुछ काल बाद और योगनिरोध बाद अयोग केवली होकर निर्वाणको प्राप्त होते हैं। वहां निर्वाण कल्याणक मनाया जाता है। तो ऐसे ये तीर्थंकर जिनके कल्याणक मनाये जायें, देव, राजा आदिक १०० इन्द्रोंके द्वारा जो पूज्य हों, ऐसे तीर्थंकर होते हैं सम्यग्दर्शनके प्रभावसे। सम्यग्दृष्टि जीव तो विशुद्ध भावनामें आते हैं। उनके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है। तो यह सम्यक्त्वकी महिमाका प्रकरण है। सम्यग्दर्शनके प्रभावसे इस आत्मामें कैसे कैसे अतिशय प्रकट होते हैं, वैसे आनन्दमें बढ़ते हैं, यह सब प्रसंग जानकर चित्तमें एक ही निर्णय करें कि इस जीवनमें मुझे सम्यक्त्वका लाभ करना है और बातें इस मुझ आत्माके लिए इस प्रकार हैं जैसे कि अनन्त भवोंमें ये बेकार बातें होती चली आयी हैं। सो भाई जिस धर्मके प्रतापसे तीर्थंकर आदिक मुक्त होते हैं वह धर्म हमारे लिए शरणहै। वह धर्म मेरेमें मेरे अन्तः विराजमान है, उसकी रुचि हो जाय तो कल्याणका मार्ग अवश्य ही मिलेगा।

शिवमजर मरुजमक्षय-मव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्।
काष्ठागतसुखविद्या-विभवं विमलं भजन्ति दर्शनाशरणाः॥ ४०॥

सम्यग्दृष्टिजीवके मोक्षपदका लाभ—सम्यग्दर्शनका शरण जिसको मिल चुका है अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव उस सम्यक्त्वके प्रतापसे इसही स्वभाव दृष्टिमें बढ़कर सम्यक्चारित्र पाकर सम्यक्चारित्रकी पूर्णतासे मोक्ष पदको प्राप्त करते हैं। वह मोक्षपद कैसा है? अनेक लोग ऐसा सोचने लगते हैं कि जितना संसारमें सुख है उससे कई गुना सुख मोक्षमें है, पर संसारका सुख है अन्य जातिका, क्षोभ वाला तो क्षोभ वाले सुखसे अनन्तगुना सुख है, इसका क्या अर्थ हुआ? सांसारिक सुखसे कई

गुना सुख है ऐसा न सोचना किन्तु उनका आनन्द विलक्षण जातिका है। इस सुखसे बिल्कुल विपरीत जाति है। केवल आत्मासे ही विशुद्ध आनन्द प्रकट होता है, जहां आकुलताका क्षोभका नाम नहीं है। प्रथम तो यह विचारें कि उस जीवके शरीर नहीं है, केवल ज्ञानपुञ्ज आत्मा। ज्ञानमात्र आत्मा जो ज्ञानमात्र आत्मा है उसके शरीरजन्य सुखका क्या काम है? आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, इसलिए परम आल्हाद पूर्ण निराकुलता, केवल ज्ञाता दृष्टा रहना, यह स्थिति होती है मोक्षमें। जहां पूर्ण निराकुलता है और ऐसी निराकुलता अनन्तकाल तक बर्तती रहेगी, ऐसा पद है मोक्ष।

अजर अरोग अक्षय अव्याबाध विशोक विभय अशङ्क. शिवपदका गुणगान—मोक्षपदमें जीर्णताका नाम नहीं है। आत्मामें कोई कमजोरी या जीर्णता नहीं आती इसलिए वह शिवपद अजर है, रोग रहित है। रोगका आधार है शरीर और शरीरसे अत्यन्त जुदा हो गया है, उस मोक्षमें रोगका क्या काम? वह शिवपद अनन्य है, अविनाशी है। जो अनन्त चतुष्टय प्रकट हुआ है, अनन्त ज्ञान, केवलज्ञान उसका कभी विनाश न होगा। समय समय प्रति समय केवलज्ञान केवलज्ञान रूपके परिणमन चलते रहेंगे, ऐसे ही अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द ये सदा बर्तते रहेंगे, ऐसा अक्षय है वह शिवपद। जिस मोक्षमें बाधाका नाम नहीं। बाधाका यहां कारण था शरीर, मन, अनेक शारीरिक कष्ट थे, अनेक मानसिक कष्ट थे, जहां शरीर न रहा, वहां मानसिक कष्टका भी काम नहीं, वह आत्मा है, ज्ञानमात्र है, परिपूर्ण सत् है वह शुद्ध विकास है, दोषका नाम नहीं, धर्मादिक द्रव्योंकी तरह अब वह पूर्ण शुद्ध अवस्था है। वहां बाधाका काम नहीं है, वह शिवपद शोकरहित है। शोकका भी कारण है तन, मन और वचन। तो वचनसे होने वाला जो कष्ट है वह मानसिक कष्टमें ही शामिल होता है और शरीरमें होने वाले कष्ट शारीरिक कष्ट हैं। तो जहां शरीर नहीं वहां शंकाका आधार कुछ रहा ही नहीं, मन नहीं तो शोकका आधार कुछ रहा ही नहीं। वह आत्मस्वरूप स्वयं सहज ज्ञान और आनन्दसे भरा हुआ है। जैसे यहां पुद्गल देखते हैं तो पुद्गल क्या? जो रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिण्ड हो, तो आत्माको बतलावो, आत्मा क्या? जो ज्ञान और आनन्दका पुञ्ज हो। आत्माका रहस्य बड़ा अद्भुत है, जिसकी दृष्टि आत्माके अंतस्तत्त्वपर पहुंच जाती है वह पुरुष धन्य है। आत्मा अमूर्त है, पर जैसे आकाश अमूर्त है किन्तु सत् है, प्रदेशवान है ऐसे ही आत्मा स्वयं सत् है, प्रदेशवान है और उसका असाधारण स्वरूप है ज्ञान और आनन्द। ऐसा ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा जहां शुद्ध हुआ है, अकेला रह रहा है वह परिपूर्ण विकसित है, वहां शोकका क्या काम? भय भी किस बातका? विकल्प ही कुछ नहीं है और अमूर्त आकाशमें आपत्ति क्या आती? जैसे लाठी मारी गई तो बताओ आकाशमें लगेगी क्या? आग जलाया तो आकाश जलेगा क्या? जैसे अमूर्त आकाशको किसी पर पदार्थसे कोई बाधा नहीं आती, ऐसे ही अमूर्त आत्माको किसी भी प्रकारसे कोई बाधा नहीं आती। वहां भयका कोई अवकाश ही नहीं, और फिर निर्विकल्प है। तो वह शिवपद भयरहित है और इसीप्रकार शंकारहित है।

शिवपद की काष्ठागतविद्याविभवता—इस शिवपदमें ज्ञान और आनन्दका वैभव उत्कृष्टसे भी उत्कृष्ट बन गया है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, पर ज्ञानावरण कर्मका उदय होनेपर यह ज्ञान कम हो जाता है। न्यायके ढंगसे विचार करें, जब ही आवरण हटता है तो वह ज्ञान बढ़ता है, तो एक ही नियम है कि

पर पदार्थके कारण जो चीज घटी और पर पदार्थके हटनेसे जो चीज बढ़ी वह वस्तु कभी किसीके एकदम उत्कृष्ट बढ़ी हुई भी होती है। सामान्यतया यह दृष्टि दें कि जो चीज घटती है वह घटकर कभी बिल्कुल भी मिटती है, जो चीज बढ़ती है वह बढ़-बढ़कर कभी भी पूर्ण बढ़ जाती है। अभी इसमें दोष आयेंगे, उन दोषोंका निराकरण करनेके लिए विशेषण आयगा, पर सामान्यतया अभी यह जानें कि जो चीज घटा करती है वह घट-घटकर एकदम घट सकती है। जैसे रागद्वेष विकारभाव ये घटा करते हैं। किसी जीवमें राग कम है किसीमें और कम है, तो कोई जीव ऐसे भी होंगे कि जिनमें राग बिल्कुल न रहेगा। दूसरी बात ज्ञानमें दिखती है कि इसका ज्ञान अधिक है, इसका ज्ञान और भी अधिक है तो कोई आत्मा ऐसा भी होता होगा जिसके पूर्ण अधिक परिपूर्ण ज्ञान हो गया? सामान्यतया एक युक्ति लगावो, पर इसमें एक आपत्ति आती है कि हम उल्टा फेरकर रोक लगा दें कि ज्ञान किसीमें कम है किसीमें बहुत कम है तो किसीमें बिल्कुल भी ज्ञान खत्म है। तथा किसीमें राग अधिक है किसीमें और अधिक है तो कोई ऐसा होता होगा कि जिसमें परिपूर्ण व सदा राग रहेगा। क्या ऐसा भी होता होगा कि जहां ज्ञान बिल्कुल न रहेगा? या राग सदाके लिए परिपूर्ण रहेगा। भैया, यह आपत्ति यों नहीं आती कि यहां यह समझना होगा कि आवरणके हटनेपर जो घटे वह कभी पूर्ण घट सकता है, आवरणके मिटनेपर जो बढ़े वह कभी पूर्ण बढ़ा हुआ हो सकता। ये दो विशेषण साथ लेनेसे यह समस्या ठीक बैठती है। आवरणके हटनेसे राग बढ़ता है क्या किसीके? आवरणके हटनेसे तो राग घटता है। इसलिए जब आवरण पूरा हट गया तो राग कहीं पूरा मिट गया। आवरणके हटनेसे ज्ञान बढ़ता है। तो जहां आवरण पूरा हट गया वहां ज्ञान पूरा हो गया। इस युक्तिसे आप यह जानें कि कोई आत्मा ऐसा है कि जहां ज्ञान परिपूर्ण हो जाता है। जहां ज्ञान परिपूर्ण है वहां लोक अलोक सब एक साथ स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं।

देखिये—ज्ञान तो है जानने वाला और सारे पदार्थ हैं विषयभूत। तो विषय और विषयी इन दोनोंके सम्बंधको देखा जाये तो कह सकते हैं कि भगवानके ज्ञान होनेका निमित्त कारण सारा विश्व है। है वह निमित्त कारण विषय रूपसे, पर यह कभी नहीं कहा जा सकता कि पदार्थोंके परिणमन होनेका निमित्त कारण भगवानका ज्ञान है। जैसे कि आसानीसे यह कह दिया जाता है कि भगवानने जाना सो हो गया याने भगवानने जाना इसलिए हो गया, यह कारण कार्य न बनेगा पर यह कारण कार्य तो बन जायगा विषयीके रूपसे कि चूंकि ऐसा होना था सो भगवानने जान लिया। तो भगवानका ज्ञान केवल ज्ञाता मात्र है। जो था, जो है, जो होगा वह सब भगवानके द्वारा ज्ञात है।

प्रभुकी उत्कृष्ट ज्ञान और आनन्दसे परिपूर्णता—कोई शंका कर सकता है कि तीन कालकी बात भगवान जानते हैं। यह बात कैसे समझें? अरे जो वर्तमानमें पड़ा होगा सो झलकेगा, भूत भविष्य कैसे ज्ञानमें आयगा? तो आप भगवानकी बात थोड़ी देरको छोड़ो, अपनी ही बात सम्हाल लीजिए, अपनेको किसी भी ढंगसे हो, भूत कालकी कुछ चीजोंका ज्ञान होता है या नहीं? कमसे कम इसी भवमें ५-७ वर्षकी उम्र तकका अबसे पहलेका बहुतसा ज्ञान चलता है। जो जो देखा जो जो परिचयमें आया उस सब विषयक ज्ञान चलता है। तो इसमें भी तो भूतकाल विषयक ज्ञान चलता है, भविष्यका

भी चलता है। चाहे वह सही निकले या नहीं, मगर कला है ऐसी कि भविष्यका जाने। किसके सही निकल आता है, तो भूत वर्तमान और भविष्य तीनों कालके पदार्थोंका ज्ञान प्रभुके होता है, सबका होता है। स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है? यों मोक्षपद उत्कृष्ट ज्ञानसे परिपूर्ण है। आनन्द भी वहां परिपूर्ण है, क्योंकि आनन्दके बाधक हैं अष्ट कर्म—चार घातियाकर्म, मोहनीयकर्म, वेदनीयकर्म, संसारके विषयोंका आश्रय लेना, ये सारीकी सारी बातें शिवपथमें नहीं है, इस कारण वहां सुखमें कोई बाधा नहीं है। जो सुख थोड़ा बहुत यहां मालूम होता है वह सुख क्या है? वह शान्तिकी वस्तु नहीं है, किन्तु कल्पनामें बड़ा दुःख न रहा उससे कुछ सुखका अनुभव किया जाता है। जैसे मानों किसीको १०५ डिग्री बुखार है, उतर कर रह गया १०१ डिग्री, अब उससे कोई पूछे कि भाई अब कैसी तबियत है? तो वह कहता है कि अब तो ठीक है। अरे ठीक कहां है? अभी तो १०१ डिग्री बुखार है, पर वह थोड़ा कम हो जानेसे मानता है कि ठीक है, तो ऐसी ही आप संसारकी सारी स्थितियोंमें परखलो कि जिसको हम सुख मानते हैं वह सुख नहीं है। है वास्तवमें दुःखरूप, पर अन्य दुःख कुछ कम हो गया इस कारण अपनेको सुखी मान लेते। वस्तुतः देखा जाय तो संसारके सभी सुख आकुलतासे भरे हैं। भले ही मोहके कारण उन आकुलतावोंपर दृष्टि नहीं डाल पाते। तो जहां इष्ट समागमका आश्रय नहीं, वेदनीय कर्म नहीं, मोहनीय नहीं, चार घातिया नहीं, अष्ट कर्म नहीं,शरीर नहीं, वहां पर सुख दुःखका क्या प्रसंग है। और सुख दुःखसे रहित जो अवस्था है वह अनन्त आनन्दरूप अवस्था है। तो वह शिवपद उत्कृष्ट ज्ञान और आनन्दसे भरा हुआ है।

जैन शासनका सर्वत्र प्रसार न हो सकनेके तीन कारणोंमें प्रथम कारणका निर्देश— युक्त्यनुशासनमें पूज्य समंतभद्राचार्यने प्रभुकी स्तुति करते हुए बताया है कि हे भगवान आपके गुण इतने अपार हैं कि कोई उनका वर्णन कर ही नहीं सकता है। हां हम अगर कुछ कह सकते हैं तो इतना ही कह पाते हैं कि भगवान काष्ठागत ज्ञान और आनन्द वाले हैं अर्थात् सर्वाधिक ज्ञान और आनन्दसे परिपूर्ण हैं। इतना ही हम बोल सकते हैं, इससे अधिक हम कुछ कह नहीं सकते। अब बात देखो कि कह तो सब डाला, इससे अधिक कहनेको क्या था? उत्कृष्ट ज्ञान और उत्कृष्ट आनन्दसे परिपूर्ण है। खैर यह तो स्तुतिकी बात है किन्तु वहां कोई मानो भगवानकी ओरसे वकील बोला कि यह तो बताओ कि जब स्तुतिमें बताया है कि हे प्रभु आप अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्दमय हो, और तुम्हारा शासन निर्मल है जीवोंको तार देने वाला है तो इतनी बड़ी अच्छी चीज है जैन शासन, किन्तु सारे विश्वमें इसका सर्वाधिक प्रचार क्यों नहीं है। याने सर्वत्र केवल एक शासन क्यों नहीं माना जा रहा है? तो उसका उत्तर श्री समंतभद्राचार्यने कहा है—कालः कलिर्वा कलुषाशयोवा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयोवा। त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः। अर्थात् हितकारी शासनका आधिपत्य सर्वत्र न होनेके क्या हैं कारण सो सुनो—तीन कारण हैं उसके। (१) प्रथम कारण तो यह है कि आजका काल पंचमकाल है, कलिकाल है। इस कलिकालमें लोगोंकी भावनायें खोटी होती हैं, धर्मके प्रतिकूल होती हैं विषय सुखोंमें प्रगतिकी भावना होती है, धार्मिक चीजोंमें विघ्न करनेमें संतोष माननेकी प्रकृति बनती है, ये सारी बातें कलिकालके दोषसे होती रहती हैं। सो प्रभु आपका यह शासन जो सर्वत्र नहीं फैल

पा रहा है उसका प्रथम कारण है कलिकाल। पंचमकालके अन्तसे जैन शासन तीर्थरूपमें नहीं रहनेका। वस्तुमें तो धर्म रहेगा पर तीर्थरूपमें न रहेगा। जैन शासनने बताया है कि वस्तु उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्त है। तो क्या वस्तुका धर्म भी मिट जायगा। जो पदार्थका धर्म है मेरा असाधरणस्वरूप है, आत्माका असाधारण चैतन्य स्वभाव है वह कभी नहीं मिटता। धर्म कभी खतम न होगा। धर्म है वस्तुका स्वभाव। धर्म है तो वस्तुमें, वस्तुका धर्म सदा रहेगा, पर उसके जानकार न रहेंगे और उस ज्ञानपर अमल करने वाले न रहेंगे, यह स्थिति बनेगी पंचमकालके अन्तमें। यह कहलाता है धर्मका विनाश। तो प्रभु आपका शासन जो एकाधिपति रूपमें जगतमें नहीं है उसका पहला कारण है कलिकाल।

जिन शासनका सर्वत्र आधिपत्य न होनेका दूसरा कारण है—श्रोतावोंका मलिन अभिप्राय होना। यद्यपि एक सभावोंके रूपसे प्रवचनके रूपसे श्रोता वक्ताका सम्बंध चलता रहेगा और सभी श्रोता मलिन आशय वाले हों ऐसा भी नहीं है। श्रोता और वक्ता हितकी इच्छा करने वाले भी होंगे मगर वे बहुत कम। बहुतसे श्रोताजन तो यही बात देखेंगे कि वक्ताकी कोई बात पकड़ें और श्रोतावोंके बीचवक्तासे कोई ऐसी चर्चा छेड़ दें कि जिससे श्रोताजन समझलें कि यह श्रोता तो बड़े जानकार हैं, अथवा कोई ऐसा प्रश्न छिड़ जाय कि जिसका उत्तर वक्ता न दे सके तो इससे हमारी महिमा जाहिर होगी या अन्य-अन्य प्रकारके अनेक भाव श्रोतावोंके बन सकते हैं। तो जब श्रोतावोंका आशय कलुषित है तो फिर जैन शासनकी प्रभावना बन कैसे सकेगी? तो दूसराकारण है—श्रोतावोंका कलुषित आशय। एक ऐसी कथा बड़ी प्रसिद्ध है कि एक राजाको एक पुरोहित प्रतिदिन कथा सुनाया करता था। एक दिन उस पुरोहितको किसी कामसे कहीं बाहर जाना पड़ा तो उसने अपने बेटेको शास्त्र सुनानेके लिए कह दिया। सो उस पुरोहितका बेटा उस दिन राजाको कथा सुना रहा था। उस कथामें एक प्रकरण ऐसाआ गया कि जो रत्ती भर भी मांस खावे वह नरक जायगा। अब राजा तो मांस बहुत खाता था सो उसको वह बात काफी खटकी। दूसरे दिन जब पुरोहित आया तो राजा नाराज होने लगा उस पुरोहित पर। तुमने कल कैसा कथा बांचनेवाला भेज दिया था, वह तो कुछ नहीं जानता। ··· अरे कैसे नहीं जानता महाराज? वह तो बनारसका पढ़ा हुआ है। काफी विद्वान है। अरे वह तो कह रहा था कि जो रत्ती भर भी मांस खावे वह नरक जायगा ···। तो राजाके मनकी बात समझ गया पुरोहित और बोला—हां उसने ठीक कहा था महाराज। ··· कैसे? ··· इस तरह कि उसने यही तो कहा था कि जो रत्ती भर मांस खावे वह नरक जायगा। उसने यह तो नहीं कहा कि जो बहुत अधिक मांस खाता हो वह नरक जायगा। तो इस प्रकारका अपने मन माफिक उत्तर सुनकर राजा उस पर बड़ा प्रसन्न हुआ। तो इस कालमें श्रोतावोंका मलिन आशय है। वे अपने मनपसंद बात सुनना चाहते हैं। यदि मनपसंद बात न हुई तो झट कह उठते कि यह प्रवचन तो बेकार है। इससे किसीको क्या लाभ?

वीरशासनका एकाधिपत्य न होनेके कारणोंमें तीसरा कारण—वीर शासनका एकाधिपत्य न होनेका तीसरा कारण है कि वक्ताओंको नयोंका ज्ञान नहीं है। अभी कल ही एक जिकर आया था ज्ञप्ति और निष्पत्तिका। चर्चामें था कि ज्ञप्तिकी दृष्टिसे वर्णन और तरह होता है और निष्पत्ति याने उत्पत्तिकी दृष्टिसे वर्णन और प्रकार होता है। जैसे एक दृष्टान्त लो—ऊपर पानी खूब बरषा और यहां

नीचे हम आप रह रहे, यहां पानीका बाढ़ आ गया तो जानकारीकी ओरसे तो यों कहा जायगा कि यह बाढ़ आयी है तो ऊपर पानी बरषा है। याने बाढ़ आना तो वर्षाकी ज्ञप्तिका कारण बन गया और पानी बरसना ज्ञप्तिमें कार्य बन गया। साधनसे साध्यका ज्ञान हुआ। साधन हुआ बाढ़का आना और साध्य हुआ पानीका बरसना। पर उत्पत्तिकी अपेक्षा देखिये तो यों बोला जायगा कि ऊपर पानी बरसता है यह तो है कारण और बाढ़ आयी यह है कार्य। अब कोई उत्पत्तिकी बात समझाना चाहे और ज्ञप्तिका प्रसंग छोड़कर उसमें बताये कि देखो जब बाढ़ आयी है तो पानी बरसता है, यह बात जाननेके लिए तो ठीक बैठती है मगर उत्पत्तिके लिए ठीक नहीं बैठती कि देखो बाढ़ आना कारण हुआ ना और पानी बरसना उसका कार्य हुआ। तो देखो एकदम उल्टी बात समझायी गई। जो बात ज्ञप्तिसे समझना था उस रूपमें उत्पत्ति बात समझा दी गई। तो वहां नयोंका ज्ञान नहीं है यह ही तो कहा जायगा द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है। अब कोई अनित्यकी बात कहे तो यही तो कहेगा कि पर्याय दृष्टिसे जीव अनित्य है। अगर पर्याय न हो तो जीवकी सत्ता नहीं रह सकती। पर्यायशून्य कोई द्रव्य नहीं होता। तो पर्यायदृष्टिसे जीव अनित्य है, द्रव्य दृष्टिसे नित्य है। अब इन नयोंका कोई परिचय न पाये और वक्ता बन जाय तो उससे जगह-जगह त्रुटि होगी। तो वक्ताजनोंको नयोंको ज्ञान न होनेसे जैन शासनकी प्रभावना नहीं हो पाती। ये तीन कारण हैं जिसकी वजहसे हे प्रभो आपके शासनका एकाधिपत्य रहे यह बात नहीं बन पाती।

काष्ठागतविद्या विभव एवं अमल शिवपदकी प्राप्तिका उपाय—तो देखिये—शिवपदकी बात कही जा रही है। वहां उत्कृष्ट तो ज्ञान है और उत्कृष्ट आनन्द है। ज्ञान और आनन्दका वैभव काष्टागत है, ऐसा वह शिवपद है, जहां कोई मल नहीं रहा। मल तीन प्रकारके होते हैं। (१) द्रव्यकर्म, (२) भावकर्म और (३) नोकर्म। द्रव्यकर्म तो ज्ञानावरणादिक अष्टकर्म हैं, वे न रहे मोक्षमें। भावकर्म हैं रागद्वेषादिक विकार। ये भी नहीं हैं मोक्ष में। नोकर्म कहलाता है शरीर, वह भी नहीं है मोक्षमें। इस कारणसे सिद्ध प्रभु अत्यन्त निर्मल कहलाते हैं, ऐसा अमल है वह शिवपद। अब उस मोक्षपदमें अन्दरकी बात देखिये—और यह भी सोचिये कि इन तीन मलोंको हटाया कैसे गया? इन मलोंकी बात चित्तमें रखकर मैं इनका नाश करूं, मैं इनको हटाऊं, ऐसा कहकर ये हटाये नहीं जा सकते। उनके हटानेका भी साधन स्वभावदृष्टि है। आत्माका जो असाधरण स्वभाव है, उस स्वभावकी दृष्टि करना यह ही है एक पौरुष जिस पौरुषके बलसे यह आत्मा मोक्षपद प्राप्त करता है। जो व्यवहारचारित्र है, अणुव्रत, महाव्रत, ऐसी प्रवृत्ति करना, ऐसा चलना, ऐसा निरखना आदिक जो भी स्वाध्याय आदिक व्यवहार धर्म हैं वे धर्म इस लिए करने पड़ते हैं कि इस जीवपर अशुभ विषयवासना हावी है, क्योंकि अनादिकालसे इनका संस्कार है, सो वे अशुभ विकार विदा हों, मेरेमें न आ सकें, शुद्धोपयोग तो अभी बन नहीं रहा, अशुभोपयोग और शुभोपयोगकी योग्यता है तो ये विकार हमपर हावी न बन जायें, उस अशुभोपयोगको टालनेका तत्काल सीधा सुगम उपाय शुभोपयोग है। उन व्यवहार धर्मोंसे हम अशुभोपयोगको टालते और शुद्धोपयोगके पात्र रहते हैं, उसी शुभोपयोगके प्रतापसे कभी शुभोपयोगकी सीमासे आगे बढ़कर शुद्धोपयोगमें भी पहुंच जायेंगे। तो यह एक स्वभावदृष्टिको दृढ़ बनानेके लिए ये शुभोपयोगके भी

प्रयत्न होते हैं और शुद्धोपयोगका पौरुष होता है। कार्य एक ही है हम आपको करनेका कि हम अपने स्वभावकी दृष्टि रखें, इस ही के प्रतापसे ये दर्शन ज्ञान चारित्रवान भव्य जीव मोक्ष पदको प्राप्त करते हैं।

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं, राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयं।
धर्मेंद्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं, लब्ध्वा शिवंच जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥४१॥

सम्यक्त्वके प्रतापसे लोकमें महिमायुक्त बनकर अन्तमें शिवपदका लाभ—जिनकी जिनेन्द्रदेवमें भक्ति है ऐसे भव्य जीव सम्यग्दृष्टि ज्ञानीपुरुष कैसे कैसे भव धारण करके ये मुक्तिको प्राप्त हुए यह वर्णन इस छंद में किया गया है। जैसे एक यह क्रम बताया गया है कि निगोदसे निकलकर यह जीव पृथ्वीकाय आदिकमें हुआ। वहांसे दो इन्द्रिय, फिर तीन इन्द्रिय, फिर चार इन्द्रिय फिर पञ्चेन्द्रियआदिक बताते हैं, तो ऐसा कोई नियम नहीं है कि निगोद सभी इसी क्रमसे उद्धार करते हैं, पर एक क्रम बताया है कि यदि ओटोमेटिक एकके बाद जो पास वाला विकास है उसे प्राप्त कर करके विकसित होगा तो इसढंगसे विकसित होगा, ऐसे ही यहां समझिये कि इस छंदमें सम्यग्दृष्टि जीवके उत्थानकी बात कही जा रही है, सो कोई ऐसा नियम नहीं है कि इसी ढंगसे ही उत्थान हर एक कोई करेगा। किन्तु कोई भव्य प्राणी अच्छेसे अच्छे ढंगसे लौकिक वैभवको प्राप्त होता हुआ निर्वाणको प्राप्त करे तो उसका चित्रण यहां किया गया है। वह सम्यग्दृष्टि भव्य इस मनुष्यभवसे चलकर स्वर्गलोकमें उत्पन्न होता है। जहां ऊंची शक्तियां सुख वैभव है ऐसे ऊंचे देवोंमें उत्पन्न होता है। इन्द्र होता है, देवेन्द्र समूहमें पूज्य होता है, यह सम्यग्दृष्टिकी एक पहली बात कही है। उन स्वर्गोंमें नाना प्रकारके सुख भोगते हुए भी अपने आत्माकी सुध बराबर बनाये रहता है। जब उस देवेन्द्रकी आयु पूर्ण होती है, महर्द्धिक देवकी आयुका क्षय होता है, नई आयुका उदय होगा मनुष्यका तो वह पृथ्वीपर आकर ३२ हजार राजावोंके मस्तिष्कसे पूज्य ऐसा चक्रवर्ती बनता है और चक्रवर्ती भवमें धर्मपालनकर अहिमिन्द्रलोककी महिमाको प्राप्त होते हैं। अहिमिन्द्र कहां रहते हैं? लोकके अन्तमें। जिसे अन्य लोग बैकुण्ठ कहा करते हैं वहांसे अहमिन्द्र प्रारम्भ होता है। उनका बैकुण्ठ किस प्रकारका है सो उनका उन जैसा अभिमत है पर बैकुण्ठ कहो, वैकण्ठ कहो या नवग्रैवयक कहो, शब्ददृष्टिसे दोनोंका एक अर्थ है। कंठ कहो, ग्रीवा कहो, इस कंठका ही नाम है। और लोककी रचनामें यह कंठ पड़ता है स्वर्गसे ऊपर, उनकी अहिमिन्द्रलोकमें उत्पत्ति होती है, तो मानों उन्होंने इस सारे लोको नीचा कर दिया। अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्द्धलोक, इनमें मध्यलोकसे ऊपर यह अहिमिन्द्रलोक है, वहां यह सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होता है। वहां वह आयुको पूर्ण करके मनुष्यलोकमें तीर्थंकर होता है जो धर्मेन्द्रचक्रका स्वामी है, तीर्थंकर तीर्थका करने वाला है, ऐसे उस तीर्थंकर पदको प्राप्त करके मोक्षको प्राप्त होता है, याने सम्यग्दृष्टि जीव खास ऊंचे भव पायगा तो इस क्रमकी बात कही गई है कि वह देवलोकमें गया, फिर चक्रवर्ती हुआ, फिर अहमिन्द्र लोक गया, फिर तीर्थंकर हुआ, इसने तीर्थंकर प्रकृतिका कहां बंध किया चक्रवर्ती पदमें। ऐसा ही ऊंचा धर्मध्यान दर्शन विशुद्धि हो तो तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कर अहिमिन्द्र लोक गया, वहांसे चलकर तीर्थंकर हुआ। जो तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कर लेता है। उसके प्रायः तीन भव होते हैं।

सम्यग्दृष्टिकी अध्यात्मप्रगति—यहां यह जानना कि उस सम्यग्दृष्टि जीवने दर्शनविशुद्धि भाव किया तत्त्वार्थश्रद्धान किया और अनन्तानुबंधीके अभावसे उसकी स्वरूपदृष्टि बनी। यह एक प्रताप जगता है सम्यक्त्वके अभ्युदयमें। अनन्तानुबंधी कषाय स्वरूपाचरणका घात करती है। अनन्तानुबंधी कषाय न रही तो स्वरूपाचरण प्रकट होता है। स्वरूपाचरण पूर्ण प्रकटनहीं हुआ यहां, कुछ अंशमें प्रकट हुआ है। पूर्ण स्वरूपाचरण तो कहलाता है स्वरूपमें मग्न हो जाना। यह स्वरूपाचरण तो उत्तम कषायरहित जीवोंके हुआ करता है, पर वही स्वरूपाचरण है, जिसकी श्रद्धा होनेसे, स्वरूपकी श्रद्धा होनेसे वह सम्यक्त्वाचरण रूप है। देखिये—स्वरूपाचरणको तो मान लीजिए एक विकास और कम जगह होना, अधिक जगह होना, उत्कृष्ट विकास होना, इन रीतियोंसे देखिये तो सम्यक्त्वाचरण रूप स्वरूपाचरण चौथे गुणस्थानमें होता है। अणुव्रतरूप स्वरूपाचरण ५वें गुणस्थानमें होता है। महाव्रतरूप स्वरूपाचरण छठवें सातवें गुणस्थानमें होता है। फिर स्वरूपरमण रूप स्वरूपाचरण श्रेणियोंमें है और स्वरूप मग्नतारूप स्वरूपाचरण कषायरहित जीवोंमें है। तो स्वरूपाचरण एक आधार मान लीजिए और उनके विकासके इस प्रकार विभाग बना लिये जायें तो कोई विवाद नहीं रहता। अब स्वरूपाचरण चौथे गुणस्थानसे होता, स्वरूपाचरण भगवानके होता, ऐसी बात लेकर जो विवाद उठ रहा है वह विवाद इस विकासके भेदसे जहां जिस भूमिकामें जितने अंशमें प्रकट है उतना स्वीकार करनेमें कोई विवाद नहीं है। तो चौथे गुणस्थानमें अभी अप्रत्याख्यानावरणका उदय है मायने देश चारित्रको घात करने वाले कषायका उदय है इस कारण अणुव्रत नहीं हो पाता। देश चारित्र नहीं हो पाता और प्रत्याख्यानावरणका उदय होनेसे सकल चारित्र नहीं होता फिर भी सम्यग्दृष्टि जीवके दृढ़ भेदविज्ञान है।

सम्यग्दृष्टिका तत्त्वचिन्तन—मैं क्या हूं, मैं अपने आपमें अमूर्त ज्ञानमात्र परिपूर्ण सत् सामान्य कारण समयसार हूं। चूंकि जो द्रव्य होते हैं वे परिणमे बिना रह नहीं सकते निरन्तर परिणमते रहेंगे, तो उसके परिणमनमें ये गुणस्थान हुए हैं। गुणस्थान परिणमनके निमित्त है, ऊंचे हुए तो वे विकासमें निमित्त हैं। तो यह विकास होता है, गुणस्थान होता है पर मैं स्वयं अपने आप सहज क्या हूं? तो वह हूं मैं एक सामान्यचैतन्यस्वरूप। वह मैं देहसे निराला हूं, देह मूर्तिक है मैं अमूर्त हूं। कर्मसे निराला हूँ, कर्म मूर्तिक पुद्गल हैं, मैं अमूर्त हूं, कर्मका उदय होनेपर जो विभाव जगते हैं उन विभावोंसे मैं निराला हूं, वे विभाव औपाधिक हैं, मैं सहजस्वभाव हूं ऐसा अपने आत्माके स्वरूपका जिसके दृढ़ भेद विज्ञान है, परिचय है और यह जीव अपने ज्ञानस्वरूपमें ही आत्मबुद्धि लिए हुए है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानतत्त्व हूं, ज्ञानी जीवके पर्यायमें आत्मबुद्धि स्वप्नमें भी नहीं होती, यह मुख्य बात है। यह भव, यह शरीर यह सब पर्याय है, इस पर्यायके प्रति यह मैं हूं, ऐसी श्रद्धा ज्ञानीके नहीं जगती। उसकी यह श्रद्धा होती कि इस शरीरसे निराला ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूं। ऐसा ज्ञानी पुरुष आत्महितके अर्थ चिन्तन करता है कि हे आत्मन ! तू भगवानके परमागमका शरण ग्रहण कर। वस्तुतः आत्माके सही सहज स्वभावका परिचय है। परिचय ही मात्र शरण है और वह परिचय मिलता है भगवानके आगमके अध्ययनसे। इस लिए हमको प्रभुका उपदेशही शरण है। यह जिनागम, परमागम ही शरण है। परमागमका ग्रहण कर उसका शरण लें और ज्ञानदृष्टिके द्वारा अपने अन्दर अवलोकन करें। यह स्पर्श रस, गंध, रूपमय शरीर तेरा

कुछ भी नहीं लगता यह पौद्गलिक है। कर्म भी पौद्गलिक हैं और क्रोध, मान माया, लोभादिक जो विकार तेरेमें उछलते हैं ये भी कर्मोदय जनित हैं, विकार हैं ये भी तेरे स्वरूप नहीं हैं। हर्ष घमंड जो कषायरूप प्रवर्तन ये भी कर्मजनित विकार हैं। ये तेरे स्वरूप नहीं हैं। "सर्वगतियोंमें रह गतिसे न्यारे, सर्व भावोंमें रह उनसे न्यारे।" तू जिस गतिमें रह रहा है उस गतिसे निराला है, तू जिन भावोंमें रह रहा है उन भावोंसे निराला है। यह पर्याय तेरा स्वरूप नहीं।

ज्ञानीके पर्यायबुद्धिका अभाव—जो अज्ञानी है वह ही ऐसा विकल्प रखता है कि मैं काला हूं, गोरा हूं, राजा हूं, रंक हूं आदिक। ज्ञानी जानता है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, गोरा नहीं, काला नहीं, राजा नहीं, रंक नहीं, व्यापारी नहीं गृहस्थ नहीं, मुनि नहीं, परिवार वाला नहीं, मैं तो स्वतंत्र सत् चैतन्यमात्र हूं। ये सब बातें हो तो रही हैं पर मैं नहीं हूं, कर्मोदयसे सब बातें हो रही हैं, अज्ञानीजनोंके ही विकल्प चलते हैं। मैं स्वामी हूं, सेवक हूं, बलवान हूं, कुरूप हूं, पुण्यवान हूं, पापी हूं आदिक अनेक तरहके विकल्प चलते है क्योंकि उसके पर्यायबुद्धि लगी है। पर ज्ञानी जीवके पर्यायबुद्धि नहीं है, इसलिए वह देहादिक सम्बंधी किसी भी पदार्थरूप अपनेको मानता नहीं है। परपदार्थोंके सम्बन्धसे भी मैं धनी हूं। न रहे सम्बन्धसंयोग निकट तो मैं निर्धन हूं आदिक विकल्प करता है। पर अत्यन्त प्रकट परवस्तुसे मेरा क्या सम्बंध है? मेरा तो औपाधिक भावोंसे भी मेरे स्वरूपका सम्बंध नहीं है। तो ज्ञानी जीवके यथार्थ भान रहता है। मैं पुरुष नहीं, मैं स्त्री नहीं, मैं ब्राह्मण नहीं, मैं क्षत्रिय नहीं, मैं वैश्य नहीं, मैं शूद्र नहीं, ये सब विकल्प शरीरके आधारमें जगते हैं। मेरे आधारमें तो मेरा सहज ज्ञानस्वरूप है। मैं इस रूप नहीं, धार्मिक प्रसंगोंमें अज्ञानी जानता कि मैं धर्मात्मा हूं, गुरु हूं, शिष्य हूं आदिक पर ज्ञानी जीवके यथार्थ प्रतीति है कि मैं केवल चैतन्यमात्र हूं। ये सारे कर्मोदयसे उत्पन्न हुए ठाठ हैं। मेरा स्वरूप है ज्ञानमात्र, मेरा काम है ज्ञाता दृष्टा रहना। ज्ञानी जीव साधु भी हो जाय तो भी उसकी यह दृढ़ प्रतीति है कि मैं साधु नहीं, मैं चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्व हूं, क्योंकि साधुपना पर्यायकी चीज है। पर्यायरूप यह आत्मा अपनेको मानता नहीं है। यह लोक मेरा नहीं है, देश मेरा नहीं, ग्राम मेरा नहीं, सब कर्मोदयकी बात है। कौन-कौन क्षेत्रमें कैसे कर्म उत्पन्न करता है। कर्म नहीं उत्पन्न करता, निमित्त नैमित्तिक योग है ऐसा कि जो जैसा कार्य होना होता है उस निमित्तको पाकर इस कर्मविपाकसे मैं किन-किन अवस्थावोंको प्राप्त होता हूँ? मिथ्यादृष्टि जीव परकृत पर्यायमें ममत्व मानता है, मिथ्यादृष्टि जीव अपनेको किस-किस प्रकसंकी, परसंसर्गकी स्थितियोंमें मानता है कि यह मैं हूं, इसीसे मेरा बड़प्पन है। इसीसे मेरा यश है। इसके साथ मेरी घटी है, वृद्धि है, इस प्रकार नींच ऊंच सब प्रकारके विकल्प करता है।

ज्ञानीकी संचेतना—ज्ञानी पुरुष अपने आपमें केवल ज्ञानमात्र तत्त्वको निरखता है। ज्ञानवृत्ति, इस कार्यको देखता है और ज्ञानके साथ आनन्द जुटा है सो उसका अनुभवन यह कर्मफल देखता है। ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफल चेतना, निश्चयसे तो ज्ञान चेतना है, ज्ञानमें ज्ञानका चेतना। पर उसके दो प्रतिफल बनते हैं—कर्म और कर्मफल चेतना जो ज्ञान द्वारा किया जा रहा है वह ज्ञानका कर्म है। और ज्ञानसे किये गये को जो भोगा जा रहाहै वह ज्ञानके कर्मका फल है। पौद्गलिककर्म, पौद्गलिक कर्मफल ये सब व्यवहारसे चेते गए हैं पर निश्चयः परमार्थतः क्या देखना—यह है वह परिणमता है

और अपनेको भोगता है, ऐसा अद्वैत अभेदरूप अपने आपको अन्तः स्वरूप निरखता है ज्ञानी। अज्ञानीजन परवस्तुवोंमें अपना संकल्प करके आर्तध्यान रौद्रध्यान इनमें ही व्याकुल रहते हैं, इष्टका वियोग हो तो उसके संयोगके लिए चिंतन चलता है, अनिष्टका संयोग हो तो उसके वियोगके लिए चिन्तन चलता है। वेदनासे दुर्ध्यान बना, आगेका निदान करके दुर्ध्यान बना। क्यों बना दुर्ध्यान कि उसने परवस्तुमें आत्मत्वका अनुभव किया। यहां एक बात और भी समझें कि मूलमें यह जीव विकारमें आत्मतत्त्व अनुभवता है। तो जहां जड़ ही खोटी है, भीतर विकारको ही आत्मस्वरूप मानता है तो उस आधारपर इन बाह्य पदार्थोंको भी आत्मा मानने लगा। तो जब यह पर तत्त्वोंमें आत्मत्व मान रहा तो कदाचित यह धर्ममार्गमें लगे, धर्ममार्ग तो नहीं पा सकता, पर व्यवहारमें जैसे लोग समझा करते हैं कि अब यह धर्ममार्गमें लगा, तो वहां समझता है कि मैं धर्मका अधिकारी हूं और कुछ जिनधर्मकी बात सीख ली जो अज्ञानी होनेके कारण उसमें नवीन नवीन अपने परिणाम बनाता है, अपनी नई नई युक्तियां खोजता है, लोगोंको भ्रम उपजाता है और अपने ज्ञानीपनेका अभिमान रखता है और फिर सूत्र विरुद्ध, आगमविरूद्ध अनेक कथनी करता है। जिनागमके प्रसादसे थोड़ा ज्ञान करता है, यह जानकर मिथ्यात्वके उदयमें जिनागमका कृतघ्न बन जाता है। उसका उपकार नहीं मानता और अपनी युक्तियां नवीन-नवीन बनाकर नई-नई बातें करता है किन्तु ज्ञानी जीव अपनेआपमें अपने ही तत्त्वको अनुभवता है। कितने ही अज्ञानी जीव जिनके पर्याय बुद्धि नहीं छूटी जो इस देहमें ही आपा मानते चले आ रहे हैं वे एक भावुकताके कारण सर्व बाह्य परिग्रहोंका त्याग कर दें, निर्ग्रन्थ दिगम्बरभेष धारण करलें और वे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुका सेवन त्याग दें, तिसपर भी यह मैं हूं, मैं मुनि हो गया हूं। मुझको इस तरह चलना चाहिए, ऐसा पर्यायमें आपा मानकर वे अपनेको कृतकृत्य मान लेते हैं और जगतके अन्य जीवोंकी निन्दा करते हैं। मैं अच्छा आचरण करता हूं, अन्य लोग मुझ जैसा आचरण नहीं कर सकते, इस तरह निन्दाकी दृष्टि रखते हुए अपने आपमें अपनी प्रशंसाका भाव रखते हुए मिथ्याभावमें वह जाते हैं, किन्तु जिन्होंने अन्दरमें स्वभाव और विभावका भेद पहिचाना वे विभावोंसे हटकर स्वभावमें रमते हैं। अज्ञानीजन दूसरोंके दोष देख देखकर उन दोषोंको दूसरोंसे बता बताकर अपनेमें मौज मानते हैं। जबकि सम्यग्दृष्टि जीव प्रत्येक जीवमें मूलमें उस स्वभावको निरखते हैं और ऐसा ध्यान रखते हैं कि मेरे इस आत्माका कोई विरोधी नहीं है। आत्मा तो स्वभावसे स्वरूपसे ज्ञानानन्दमय है। यह जो कुछ हुआ है यह सब उपाधिकृत हुआ है।

ज्ञानी और अज्ञानीके आशयमें महान् अन्तर—ज्ञानीकी दृष्टि सहज स्वभावपर रहा करती है और उसे ही वह आत्मतत्त्व मानता है। कितना अन्तर आ जाता है स्वरूपके निरखनेमें और स्वरूपसे बेसुध रहनेमें ही सारी पलट हो जाती है। सम्यग्दृष्टि जीवका व्यवहार मोक्षमार्गके अनुकूल बनता है तो अज्ञानी जीवका व्यवहार संसारमें रुलनेके अनुकूल बनता है। कदाचित् थोड़ासा कुछ अच्छा पा लिया तो वह धर्मकी बड़ी बातें भी करने लगता और वहां अनन्तानुबंधी मानका उदय भी आ जाता जिससे वह अपने आपको तो धर्मात्मा मानता है और अन्य जीवोंकी निन्दा करता हुआ उनको अधर्मी बताता है। बाहरमें अगर कुदेव आदिकको नमस्कार नहीं किया तो कुदेव आदिकको तो तिर्यञ्च भी

नहीं नमस्कार करते। इतने मात्रसे बड़प्पन नहीं बनता किन्तु अपनेमें सहज स्वरूपका अनुभव करनेसे महत्त्व बनेगा। मैं क्या हूं? सहज अपने आप सत्त्वके कारण, उसका उत्तर आना चाहिए। उसकी अनुभूति बने तो सम्यग्दृष्टि जीवको बनती है। वह प्रकट करता है। सर्व ओरसे पौरुष यही करने योग्य है कि मैं जगतके अन्य सब पदार्थोंसे, परभावोंसे निराला इस सहज ज्ञानमात्रको ही अनुभवूं कि यह मैं हूं। धर्मपालन करके यह ही तो परीक्षा करें कि मैं अपने चैतन्यस्वरूपको यह मैं हूं ऐसा मान पाया या नहीं, इसमें दृढ़ हो पाया अथवा नहीं। यदि नहीं हो पाये दृढ़, अपने स्वरूपको हम आप नहीं मान पाये तो अपनी त्रुटि समझना, आगे इसके लिए पौरुष करना, पर किसी थोड़ी सी धर्मक्रियामें संतुष्ट होकर जो अपनेको कृतकृत्य मान लेगा उसका तो आगे उद्धार ही नहीं है। तो भाई मिथ्यात्वभाव इस जीवके अनादिसे लगा हुआ है और वही ढंग अब भी चलाया तो इस भवके पानेका क्या फल मिला? तो अपने आप पर ही अब कुछ करुणा करके सोचना चाहिए। अपना संसारमें रुलना छुटाना ही चाहिए। भैया, अब संसारमें रुलना पंसद नहीं तो संसार है पर्यायमें आत्मबुद्धि। इसको तज दीजिए। मैं वह हूं जिसका पहचानने वाला यहां कोई नहीं है। ऐसे अपने अन्य लोगोंसे अपरिचित निज तत्त्वकी ओर आना हैं। यह जिसके बुद्धि आयी वही पुरुष धन्य है, महा भाग्यवान है, पूज्य है, पवित्र है और जगतके संकटोंसे छुटकारा हो सकता है तो इस ही स्वरूपकी आराधनासे हो सकता है।

प्रथम अध्यायमें सम्यक्त्वके स्वरूप और माहात्म्यका वर्णन—यह रत्नकरण्डका प्रथम अधिकार चल रहा है, जिसमें पूर्व संकल्पके अनुसार सम्यग्दर्शनका वर्णन किया जा रहा है। सम्यग्दर्शन, सच्चे आप्त, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरुका श्रद्धान करना, यदि यह बात आ गई तो उसको अपने आत्माका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण भी आ गया, क्योंकि देव क्या है? जैसा सहज स्वरूप है वैसा ही प्रकट हो जाना, बस यह ही देव है। शास्त्र क्या है? जैसा आत्माका सहज स्वरूप है उसके समझनेके लिए वैसा करना यह ही आगम है। गुरु क्या है कि जैसा आत्माका सहज स्वभाव है उसके विकासके लिए जो पौरुष करता है वह गुरु कहलाता है। तो जिन्होंने देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान किया उनको आत्मतत्त्वका सत्य श्रद्धान है ही। तब फलित बात यह है कि जो अपने आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपमें यह मैं हूं, ऐसा विश्वास रखता है, प्रतीति करता है वह जीव सम्यग्दृश्टि है। तो सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वकी क्या महिमा है, उस महिमाका यहां अन्तमें सब वर्णन चल रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव जितने भव संसारमें रहेगा उनमें अच्छे ढंसे रहेगा और अन्तमें समस्त भवोंको त्यागकर उनसे मुक्त होकर,अष्ट कर्मोंसे रहित होकर, विभाव और शरीरसे रहित होकर केवल ज्ञानपुञ्ज रहकर लोकके अग्रभागमें ठहरेगा और वहां अनन्तकाल तकके लिए सहज अनन्त आनन्द पायगा। यह सब सम्यक्त्वका प्रताप जानकर जीवनमें एक सम्यक्त्वका ही उद्यम हो, ऐसा अपना पौरुष होना चाहिए।

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।
निस्सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥ ४२॥

दुर्लभ मानवजीवनकी धर्मपालनसे ही सफलता—यह रत्नकरण्डका दूसरा अधिकार चल रहा

है। इसमें सम्यग्दर्शनके स्वरूपका वर्णन है। प्रथम अध्यायमें सम्यग्दर्शनका वर्णन है। जीवका भला सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र परिणाम हुए बिना हो ही नहीं सकता, इसके अतिरिक्त जो कुछ भी भाव बनाये जा रहे हैं विषयके कषायके, नामवरीके या अन्य अन्य, वे सब थोथे हैं, ऊल जलूल हैं व्यर्थके हैं, संसारके बढ़ाने वाले हैं। मनुष्यभव पाया जो कि एक बहुत दुर्लभ है संसारकी अन्य पर्यायोंको देखो, कितनी कितनी पर्यायें हैं। उन सबसे पार होकर मनुष्यभव मिल जाना उतना दुर्लभ है जैसे कि चिन्तामणिरत्न समुद्रमें डूब जाय उस एकको निकालना कठिन है। बड़ी जिम्मेदारीसे बात सोचना है, ऐसे दुर्लभ मनुष्यजन्म को पाकर, जैन शासनको पाकर हमें अपनेको क्या करना चाहिए? देखिये जो गृहस्थावस्थायें हैं उनकी आजीविका चलाये बिना काम चल ही न सकेगा। गृहस्थी है, कुटुम्ब है और गृहस्थी बसायी, क्योंकि मुनि होनेका, बिल्कुल एकाकी रहनेका सामर्थ्य नहीं है, इस कारण गृहस्थी बसायी है। जब गृहस्थी है तो आजीविका मुख्य समस्या है। यह तो करना ही होगा किन्तु आजीविकाका फल कब मिलेगा? जब तक जीवन है तब तक आरामसे रह लिया, सुख सुविधा बना ली, किन्तु यह सुख सुविधा आपको इस जीवनके बाद आगे कुछ काम न देगी। यह आत्मा अकेला ही जायगा। तो आगे जो आत्मा रहेगा वह किस ढंगमें रहे, कैसे रहे, इसकी जिम्मेदारी अपने भावों पर है, अपने भाव यहां निर्मल रहें, सबकी भलाई के रहें, अपने आपके स्वरूपको पहिचान कर अपनेमें संतुष्ट होनेके रहें तो अगला भव अच्छा मिलेगा। मुक्ति तो आजकल है नहीं, आगे धर्मके प्रसंग रहेंगे, भला हो जायगा।

आजीविका और धर्मपालनमें गौणता व मुख्यताका निर्णय—भैया, यह सोचिये कि गृहस्थजनोंको केवल दो ही काम हैं—एक तो है टेम्प्रेरी और एक है परमानेन्ट याने एक गौण और एक मुख्य। गौण तो है आजीविका और मुख्य है धर्मपालन। भले ही अनेक लोगोंके चित्तमें यह बात है कि आजीविका है—मुख्य और धर्मपालन है गौण, मगर ऐसा नहीं है। आजीविकाका फल आप कब तक पायेंगे? अधिकसे अधिक इस जीवन तक इस जीवनके बाद यहांकी सम्पत्तिसे कोई सम्बंन्ध नहीं। आगे काम देगा यहांका धर्मपालन। एक बात और समझिये, आगे ही काम देगा ऐसा ही क्यों कहें? वास्तविक रीतिसे आप धर्मपालन तो करें, यहां भी सुखी रहेंगे। और इस समय जो अनेक प्रकारके अनुकूल प्रतिकूल वातावरण होनेसे दिलको बेचैनी रहती हो, अनेक आरम्भादिकके विषयोंके कारण जो व्याकुलता रहती है वह बेचैनीको दूर करनेमें समर्थ वैभव नहीं है। वैभवके सम्पर्कसे ही तो बेचैनी हुई और वैभवसे ही उस बेचैनीको मिटा दिया जाय यह सम्भव नहीं। तो धर्मपालन से ही बेचैनी मिटती आज भी, अब भी। तो धर्मपालन एक ऐसा अद्भुत वैभव है कि इस भवमें भी आपको शान्ति दे और आगे भी शान्ति दे। तब जीवनका मुख्य उद्देश्य धर्म होना चाहिए।

मनुष्यका धनार्जनपर अनधिकार और धर्मपालनपर अधिकार—और भी सोचिये धनकी कमायी आपके भावोंपर आज निर्भर नहीं है, यह पूर्वकृत पुण्यके उदयपर निर्भर है। भले ही पूर्वमें जो पुण्य बंधा थ वह अच्छे भाव होनेसे बंधा था, तो यों भी कह सकते कि पूर्वभवके अच्छे भावोंका फल है जो आज वैभव समागम मिल सके, पर आजके भावोंका फल नहीं है कि आप धनको जोड़ सकें। कितना ही विचार करें, कितनी ही भावनायें बनायें, आजके भावोंसे आज धन मिले ऐसा कोई सम्बंध

नहीं। तो यह पूर्वकृत पुण्यका फल है, उस पर आपका अधिकार नहीं, जोर नहीं, छांट नहीं, पर धर्मपालनमें आपका आजसे ही अधिकार है। यह भी अन्तर जानें। इसी समय दृष्टि कीजिए अपने आत्माके सहज स्वरूपकी और तत्काल शान्ति लीजिए। धर्मपालनपर आपका आज अधिकार है पर धनार्जनपर आपका अधिकार नहीं है। पुण्य योगसे किसीका पौरुष काम दे देता है तो उसे यह न समझना चाहिए कि मैंने ऐसा पुरुषार्थ किया उससे धन आया। धन आया है पूर्व पुण्यके उदयसे। तो जब इतनी बात है कि धन सम्पदा इस जीवनके बाद काम नहीं देती और धर्मपालन इस जीवनके बाद भी काम दे देता है।

वैभवसम्पर्कसे हुई अशान्तिको दूर करनेका उपाय सम्यग्ज्ञान—और भी समझिये धन वैभवके संयोगसे बेचैनी हुआ करती है अनेक तरहकी। एक तो आगेकी तृष्णासे, दूसरे पाये हुएकी रक्षाकी चिन्तासे, तीसरे जो कल्पनामें मान लिया कि मुझको इसमें इतना लाभ है और वह न हो सके तो मेरे विचारसे आपको यही बेचैनी है। तो वैभवके सम्पर्कसे हुई बेचैनीको वैभवके द्वारा दूर नहीं किया जा सकता, उसे धर्मपालन ही दूर कर सकेगा। फिर तीसरी बात यह है कि धनार्जनपर आपका अधिकार नहीं, धर्म पालनपर आपका अधिकार है। ऐसी सब बात समझकर जीवनमें यह मुख्यता लाना चाहिए कि मुझे सही ढंमें धर्मपालन करना है। यों तो धर्मकी बात बचपनसे ही सब करते आ रहे, मन्दिर आये, समारोह हुए उनमें भाग लिया, विधान हुए, पूजन हुए, सब बातें धर्मके नामपर करते चले आये, पर वास्तविक यत्न क्या है, यह भी सहयोगी है, मगर सही ढंगमें धर्मपालन कहां होता, कैसे होता, वह बात समझना है, और उस ढंगसे आप अपने अन्दर गुप्त ही गुप्त विधिसे धर्मपालन करें, वह काम देगा और मोक्षके मार्गमें लगायगा तो उस धर्मकी बात कही जायगी। यहां प्रकरणमें यह बात जानना कि धर्मपालनका सम्बंध ज्ञानसे है। शारीरिक क्रियायें तो उस ज्ञानका फल हैं कि इस तरहकी सावधानीकी और जिनेन्द्र भक्तिकी चेष्टायें होती हैं, पर वास्तवमें धर्मपालन अपने आपके आत्मामें आत्माके सहजस्वरूपका दर्शन करनेसे होता है।

सम्यग्ज्ञानके साधन और उनकाधर्मपालनमें सहयोग—सम्यग्ज्ञानके ज्ञानके साधक ४ वेद हैं। (१) प्रथामानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग। इनका भली भांति थोड़ा अध्ययन होना चाहिए। ये चारों ही अनुयोग सम्यग्दर्शनके साधन हैं, कोई किसी विधिसे ज्ञान बनाता है कोई किसी विधिसे, मगर चारों ही अनुयोग सम्यग्ज्ञानके साधन हैं, तो सर्वप्रथम उन अनुयोगोंका वर्णन करनेके लिए सम्यग्ज्ञानका स्वरूप कह रहे हैं, पदार्थ जैसा है वैसा जानना सम्यग्ज्ञान है, न तो कम जाने न अधिक जाने, न उल्टा जाने, न संदेहसहित जाने, किन्तु सही निःसंदेह यथार्थ जाने उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सुख दुःख होना सब ज्ञानकी कलापर निर्भर है। कैसा ज्ञान बने कि सुख हो, कैसा ज्ञान बने कि दुःख हो, आप अनुभवसे विचारलें, सब कुछ आपकी ज्ञान कलापर निर्भर है। बाह्य वस्तुका प्रसंग हमारे सुख दुःखका कारण नहीं किन्तु हमारे सुख दुःख भाव बननेका आश्रय है। कारणमें और आश्रयमें फर्क है। सुख दुःखका कारण तो उस प्रकारका ज्ञान, उस प्रकारका उदय और आश्रय है। जिस पदार्थको हम दिल बसाकर सुख या दुःख पाते हैं वे पदार्थ आश्रयमात्र हैं। वे सुख दुःखके कारण नहीं। तो जब सब कुछ बात हमारे ज्ञानपर ही निर्भर है तो उस ज्ञानकी उपेक्षा न करना, अपने जीवनको शान्त गम्भीर

पवित्र बनायें, भविष्यमें संसारके संकटोंसे सदाके लिए छूट जायें, अगर ऐसा भाव है तो ज्ञानकी आराधना करें। दूसरा कोई उपाय नहीं है कि इस जीवको शान्ति मिल सके। अधिकसे अधिक लोकमें धनकी भावना चित्तमें विशेष रहती है उसका ही ख्याल, उसके ही अर्जनकी तरकीब, वही चित्तमें बसती रहती है। तो एक प्राकृतिक बात है कि ऐसा होता है, लेकिन यह तो सोचिये कि उन विकल्प विचारोंमें ही डूबे रहनेसे सिद्धि हुई क्या? और एक धर्मकी दिशामें बढ़े, धर्मपालनकी ओर रहे तो सारे कार्य स्वयमेव होते चले जायेंगे। बहुत पहलेके पुरुषोंकी बात छोड़ो, अपने ही कुटुम्बके दो चार लोगोंको ले लो जो कि अच्छे घरानेके लोग थे उनको धर्मसे कितनी प्रीति थी और धर्मपालनमें उनका कितना समय जाता था। उनके चित्तमें कितनी उदारता थी और सब कार्य आसानीसे चलता ही था।

धर्मपालनका महत्त्व समझकर धर्मपालनके लिये सर्व पौरुषकी आवश्यकता—भैया, अब कुछ चित्त बदलना होगा यह निर्णय रखना होगा कि धर्मपालन ही सारभूत कदम है दूसरा कोई भी कदम सारभूत नहीं है। बाकी तो गुजारा करनेके लिए काम है। उद्धारके लिए तो धर्म काम है, गुजारा भी चाहिए और उद्धार भी चाहिए। गुजारेमें तो कुछ घटा बढ़ी भी हो सकती है, कितनेसे ही गुजारेका काम कर लिया जाय, मगर उद्धारके काममें यह घटबढ़की बात न निभेगी कि ऐसा चलें इसमें भी उद्धार हो जायगा। इस तरह चलें तो इसमें भी उद्धारका काम हो जायगा। गुजारेके काममें तो सैकड़ों बातें निभ जायेंगी पर उद्धारके काममें ये दो बातें भी न निभेंगी। कोई चाहे लखपति हो, चाहे करोड़पति हो, चाहे हजारपति हो, चाहे रोज-रोज खोम्चा फेरकर रोज कमाकर उससे रोज-रोज खर्च कर लेता हो, गुजारा सबका चलेगा, पर उद्धार के ढ़ंग नहीं हो सकते। तब फिर गुजारे वाले साधनमें चित्त को अधिक क्या लगाना? वह तो सुगमतया होगा। पर उद्धार वाले काममें अनेक प्रकार नहीं हो सकते, वह तो एक ही विधिसे होगा, उसमें विशेष उपयोग देना चाहिए। उद्धारका प्रारम्भ है सम्यग्ज्ञानसे। वस्तुको यथार्थ जानियेगा कि मैं क्या हूं, शरीर क्या है। कुटुम्ब क्या हैं? ये बाहरमें दिखने वाले पदार्थ क्या हैं? इसके बारेमें यथार्थ परिचय तो होना चाहिए। यों तो स्वप्नमें भी सबकुछ देखता है। जैसे यहां दिख रहा ऐसे ही सारी बातें स्वप्नमें भी दिखा करती हैं, और स्वप्नमें भी ये दुःखी होना, सुखी होना आदिक सारी बातें निभ जाती हैं, तो उस ही ढंगसे जगतमें भी देखते रहें तो स्वप्नमें भी दुःख और सुख पानेकी अपेक्षा इस जगतमें हमने क्या विशेषता पायी और हम पर बीती हुई एक बातसे हमको तो यह निर्णय है कि कोई धर्मपालन स्वप्नमें भी कर सकता। जिसको धर्मपालन करनेकी धुन बनी है वह स्वप्नमें भी धर्मपालन किया करता है जिसे कहते हैं आत्माका दर्शन, आत्माकी दृष्टि। आत्माके गुणोंको निरखना, यह बात कोई स्वप्नमें भी कर सकता, एक धुन होनी चाहिए उसकी। तो पहली बात निर्णयमें यह रखें कि आजीविकासे भी अधिक महत्त्व है धर्मपालनका। सो आजीविकाके ही विकल्पोंमें निरन्तर बने रहना यह काम नहीं है।

धन वैभव यश कीर्तिकी आत्महितमें अप्रयोजकता—मान लो कदाचित् थोड़ा धन कम मिला तो लोग यह चिन्ता करते कि लोग मुझे क्या कहेंगे। अरे लोग तो क्या कहेंगे इस परसे आपने जीवन चलाया तो समझो कि आप धर्मसे बिल्कुल अलग हो गए। उनका क्या संकोच? धर्मपर अडिग

रहें तो चाहे निर्धनता आये तो उसमें भी प्रशंसा ही है लोगोंके और धर्मसे डिगकर यदि बड़े बड़े वैभवोंमें भी पले तो भी उसे शान्ति नहीं। और ऐसा कोई उपाय नहीं कि जिसको सब लोग भला कह सकें। है क्या कोई ऐसा काम कि जिसमें सारे लोग उसको कहने लगें कि उसने बड़ा अच्छा किया। कोई कितना ही अच्छा चल रहा है अपने जीवनमें उसे सभी लोग भला कह सकें ऐसा हो नहीं सकता। आप कहें कि जो बड़े बड़े तीर्थंकर हुए हैं उनको तो सब भला कहते तो भाई उन्हें भी सब लोग भला नहीं कहते। हां अधिक लोग भला कहने लगे मगर उनकी बुराई करने वाले, उनका विरोध करने वाले उन तीर्थंकरोंके जमानेमें भी रह आये। किसको आप ऐसा कहेंगे कि इसको सब भला कहने वाले हैं? देशके नेताओंमें भी आप देखलो, बड़ेसे बड़े नेता हुए, आजकल जैसे गांधीजी प्रसिद्ध हुए तो बताओ उनको सभी भला कहने वाले थे क्या? नहीं थे, उनका भी विरोध करने वाले थे, तभी तो उनको विरोधियोंने उन्हें जानसे मारा। यहां है कौन ऐसा जिसके सब समर्थक हों? तो इसका विकल्प छोड़ें कि हम अधिक धनी बनेंगे तो सब भला कह देंगे। धन आने दो पुण्योदयसे जैसा आता है पर उसमें ही रातदिन विकल्प लगाकर रहे आये तो धर्मसे विमुख हो जायेंगे। मुख्यता धर्मको दीजिए।

धर्मका आधार ज्ञान—धर्म मिलेगा ज्ञानसे और ज्ञान वही सम्यक् है जिसमें न कम जाने न अधिक जाने, न उल्टा जाने, न संदेह सहित जाने। जैसे एक आत्माके बारेमें अगर यह जान लिया कि जैसा मेरा ज्ञान बना है बस यह ही मैं आत्मा हूं, शास्त्रीय परिभाषामें मतिज्ञान कह लीजिए, बस यह ही मैं आत्मा हूं तो उसने भी कम जाना, वह भी एक अंश है आत्माका, मगर वह परिपूर्ण बात नहीं है। और किसीने यह जाना कि यह मैं आत्मा हूं देहको निरखकर, रूप रस वगैरहको देखकर तो उसने अधिक जान डाला। यह आत्मा नहीं है, यहां तक जान डाला। कोई आत्माको समझे कि यह तो एक उत्पन्न ही होता है कभी और कोई दिन आता है कि मिट ही जाता है तो उसने यह विपरीत जाना, और कोई यों ही संदेह किया करे कि आत्मा है या नहीं तो यह उसका संदेह हो गया। यह सही ज्ञान नहीं है। सम्यग्दर्शन वह है कि जिसमें वस्तुका यथार्थ स्वरूप समाया हो। जब तक वस्तुका यथार्थ ज्ञान न होगा तब तक आकुलता न मिटेगी। आकुलता है मोह और रागकी। खूब परख कर लो, रागमें प्रेम करनेमें शान्ति मिलेगी क्या किसीको? पर ज्ञानकी कमजोरी है ऐसी कि राग किए बिना नहीं रहा जाता, मोह किये बिना नहीं रहा जाता, पर ये उपाय शान्तिके नहीं हैं, अशान्तिके हैं।

प्रभुमार्ग पर चलनेकी भावनामें ही प्रभुदर्शनकी वास्तविकता—एक यह ही मोटी बात देखो आप मंदिरमें रोज प्रभु मूर्तिके सामने प्रभुके दर्शन करने, प्रभुका गुणगान करने क्यों आते हैं? किसी दिन न आयें ऐसा आपसे बनता नहीं, पहुंचना ही चाहिए, रोज ही आते, इसीलिए तो आते कि रागद्वेष मोहरहित आत्मामें हमारी दृष्टि जाय। प्रभु रागद्वेष मोहरहित हैं। जैसा उनका निजका स्वरूप है वैसा ही उनके प्रकट हुआ है इसी कारण आप यहां मंदिरमें आते हैं। तो मंदिरमें प्रभुके तो दर्शन करें और अपने आपके बारेमें यह निर्णय बनायें कि मेरेको कष्ट मोह और रागसे है, ये न होना चाहिये, यदि ऐसा निर्णय न बनाया तो भगवानके दर्शन क्या किये? फिर तो समझिये कि यदि यह उमंग नहीं जगती कि मेरेको मोह राग न चाहिए और फिर भी दर्शन करने आते हैं रोज तो उसका मतलब है कि आप

प्रभुके दर्शन करने नहीं आते। प्रभुका स्वरूप सही समझा हो तो प्रभुके दर्शन कहलायेंगे, वह तो यों समझ लीजिए जैसे अन्य लोग भी देवी देवता मानते हैं कि इनके प्रसादसे हमको सांसारिक सुख मिलेंगे, कुटुम्ब बढ़ेगा, अनेक अनेक सम्पन्नतायें होंगी जो जैसे अन्य जन देवताओंकी आराधना कर लते हैं ऐसे ही जिन मंदिरमें आकर वीतराग प्रभुकी आराधना कर ली। वहां यदि यह भाव नहीं आता कि हे प्रभु मेरा तो मोह रागका कलंक छूटे और मैं अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपका दर्शन करता रहूं। जो काम आपने किया सो ही मुझे चाहिए, अगर यह बात नहीं आती चित्तमें तो प्रभुदर्शनका क्या अर्थ? तो यह निर्णय करना है कि मेरेको जीवनमें केवल दोष मेरे मिटें और मेरे गुण ही मेरेमें विकसित हों, बस यह चाहिए। बाहरी कीचड़ पंक न चाहिए, क्योंकि बाहरी बातमें गुजारा करनेके सैकड़ों ढंग हैं, पर मेरा उद्धार हो। मुझे शान्ति मिले, इसका ढंग केवल एक ही है, दूसरा नहीं है, उस ही सम्यक्ज्ञानके विषयमें इस अध्यायमें वर्णन चलेगा।

आगमकी प्रामाणिकताका संकेत व आगमके अनुसार सम्यग्ज्ञानका लाभ पानेका अनुरोध—जो आगमके जानने वाले हैं गणधरदेव, श्रुतकेवली, उनको बताया है कि सच्चा ज्ञान वही है जो वस्तुके स्वरूपको यथार्थ जाने। जैन शासनमें जो आज शास्त्र उपलब्ध हैं उनकी परम्परा यों रही कि पहले तो साक्षात् तीर्थंकर थे, इस तीर्थमें महावीर भगवान थे। महावीर भगवानके समय साक्षात् उपदेश मिलते थे, दिव्यध्वनि खिरती थी, लोग अपनी-अपनी भाषामें समझते थे। भगवान महावीर स्वामीके निर्वाणके बाद गणधर देवसे, और और आचार्योंसे श्रुत केवलीसे भगवानका उपदेश प्राप्त होता रहा, जब ये श्रुतकेवली भी न रहे तो जो थोड़े बहुत अंग पूर्वके ज्ञाता थे उन आचार्योंसे मिलता रहा, ये सब बातें मौखिक चल रही थीं। जब एक अंगके एक देशके ही जाननहार रहे और थोड़ा ज्ञान सभी उपदेशोंका था तो उन आचार्योंने सोचा कि अब इस ज्ञानको लिपिबद्ध करना चाहिए, नहीं तो आगे परम्परा कैसे चलेगी, सो वे लिपिबद्ध हुए बस उन शास्त्रोंसे अन्य शास्त्र, उनसे अन्य शास्त्र बनते गए। तो आज जो पूर्वाचार्योंके शास्त्र हैं उनमें वह बात पायी जाती जो कि भगवान महावीरके समय साक्षात् उपदेशमें मिलती थी। उपदेश क्यों सुनते। शास्त्र क्यों पढ़ते? सबका एक ही उत्तर है कि मेरेको भेदविज्ञान जगे और अपने आत्माके स्वरूपमें मैं रमूं, इसके लिए है स्वाध्याय। बस दूसरा कोई प्रयोजन नहीं। तो सर्वप्रथम चाहिए भेद विज्ञान, जिनके बीचमें रह रहे हों उन सबसे निराला मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूं, यह ज्ञान बसाना है और इस ज्ञानके बसानेके लिए एक बार ज्ञान हो भी जाय तो भी जिन्दगी भर इस ही ज्ञानमें रमण करना है, अन्यथा वह विघट जायगा। मेरेमें यह ज्ञान जिसमें हो रहा है वह कोई वास्तविक चीज है, तो वह मैं हूं। केवल ज्ञानस्वरूप, प्रतिभास मात्र, वास्तविक सत् उसको इन बाहरी बातोंसे अलग करना है और उस ही में अपनी दृष्टि बनाये रहना इसके लिए है स्वाध्याय। स्वाध्यायसे तत्काल शान्ति भविष्यमें शान्ति, मोक्षमें पहुँचेंगे, मुक्तिमें पहुंचेंगे। तो स्वाध्याय और सत्संग इन दो बातोंसे विशेष प्रेम होना चाहिए। भीतरसे हृदयसे भलाईका साधन दूसरा नहीं है, ज्ञान है और ज्ञानके उपाय ये दो हैं मुख्य (१) स्वाध्याय करना और (२) सत्संग करना। सत्संग मिलनेसे तत्काल उपयोग हमारा स्वच्छ होता है, बदलता है, उमंग मिलती है, उत्साह मिलता है, प्रेरणा मिलती है और

ज्ञान भी मिलता है। स्वाध्याय करनेसे भी ज्ञान मिलता है पर उस स्वाध्यायके समय यह ध्यान आता है कि अमुक ऋषिके ये वचन हैं, तो उसमें भक्ति जगती है, हृदय स्वच्छ होता है, इस कारण स्वाध्याय सत्संग के प्रयोगसे ज्ञानवर्द्धन करना हैं, यह अपने जीवनका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

प्रथमानुयोग-मर्थ्या-ख्यानं, चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं, बोधति बोधः समीचीनः ॥ ४३ ॥

सम्यग्ज्ञानके साधनाप्रकारोंमें प्रथम प्रथमानुयोगका निर्देश—इससे पहली गाथामें यह बताया था कि न कम, न ज्यादह न विपरीत, न संदेहयुक्त ऐसा ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानमें प्रयोजन आत्माके सही स्वरूपका ज्ञान है, अन्यथा सम्यग्ज्ञान न कहलायगा। लौकिक दृष्टिसे तो कहलायगा, पर अलौकिक दृष्टिमें वह सम्यग्ज्ञान नहीं है जो अपने आत्माके स्वरूपका स्पर्श न करे, सबका प्रयोजन ११ अंग १४ पूर्व द्वादशाङ्ग जितने भी आगम है सबका प्रयोजन यह है कि आत्मा अपने सहज स्वरूपको जानले, मानले और उसमें रमले। तो ऐसी वृत्ति कैसे बन सकती है? उसका उपाय प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग इन चार प्रकारके अनुयोगों से ज्ञान करना है। प्रयोजन सबका यही मिलेगा कि अपने आपके स्वरूपको जानूं, मानूं और उसमें रमलूं, 'आऊं, उतरुं, रमलूं निजमें, समस्त आगमका प्रयोजन इतना ही है, पर उस तक कैसे पहुंचें, उसके उपायमें यह ४ अनुयोगों द्वारा उपदेश किया गया है। (१) पहला है प्रथमानुयोग। प्रथम पुरुषोंके लिए जानकारीका उपाय। प्रथम मायने बहुत-बहुत जो लोग धर्ममें आये हैं या धर्मकी बातको जाननेका भाव रखते हैं ऐसे पुरुषोंका कैसा विश्वास जमें कि हमें उस ज्ञानमें बढ़ना चाहिए। तो यों कहो कि कथा कहानी सबको प्रिय होती हैं, ऐसी एक आदत है तो कल्पित कहानी न कह कर उन पुरुषोंकी कहानी बताते हैं जिन धीर वीर पुरुषोंने धर्मपालन करके आत्मकल्याण किया। उन धीर-वीर पुरुषोंकी कहानी कहना यह बहुत आवश्यक है।

प्रथमानुयोगके स्वाध्यायकी उपयोगिताका दिग्दर्शन—आज जो कोई भी कुछ अधिक पढ़ लिखकर ऐसा कहा करते हैं कि प्रथमानुयोग क्यों पढ़ना, वह तो किस्सा कहानी है, उसमें तत्त्व क्या रखा है? तो वे ही सोचें कि उन्होंने भी सर्वप्रथम इन पुराण पुरुषोंके चरित्रका वाचन किया था कि नहीं। आज बड़े हो गए, ऊंची समझ आ गई तो कहने लगे कि कथाओंमें, प्रथमानुयोगमें क्या धरा है? अरे उन्होंने स्वयं प्रथमानुयोग पढ़ा था, उससे प्रेरणा मिली थी। तो प्रथानुयोग चार अनुयोगोंमें प्रथम अनुयोग है। अनुयोग कहो, वेद कहो, एक ही बात है। वेदका अर्थ है जिसके द्वारा ज्ञान बने सो वेद। सो यह प्रथम वेद कहा प्रथमानुयोगको, प्रथमानुयोगमें यथाख्यान है धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। इन चारों पुरुषार्थोंका वर्णन प्रथमानुयोगमें मिलता है। कैसे धर्मप्रवृत्ति करना, कैसे धन कमाना, कैसे राज्य करना, कैसे प्रजाजनोंका पालन करना, कैसे घरका बर्ताव रखना और फिर कैसे अपना हित करना, मोक्षका पुरुषार्थ बनाना, ये सब बातें इस प्रथमानुयोगमें मिलती हैं। और, इसमें चारित्र है एक-एक व्यक्तिका। त्रेशठशलाका पुरुषोंका वर्णन है, इस कारण कहलाता है यह पुराण। पुराण

पुरुषोंका इसमें कथन है और केवल एक-एक व्यक्तिका अलग-अलग जितना बना उतना चारित्र बताया है। इस कारण प्रथमानुयोग चारित्र है और वह पुण्यवर्द्धक है।

महापुरुषोंके चरित्रके परिचयसे आत्मप्रगतिकी प्रेरणा—जब कोई कथानक सुनते हैं जैसे कि इस तीर्थके लम्बे कालमें सर्वप्रथम आदिनाथ भगवान हुए, ऋषभनाथ, मरुदेवीके नन्दन, नाभिराजाके नन्दन, कैसा वह समय था कि तीसरेकालका अन्त हो रहा था, कल्पवृक्षका अन्त हो रहा था, लोग भूख प्यासकी बाधाको, ठंड गर्मीकी बाधाको दूर करनेमें किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए थे, क्या करना, जहां हाथी, शेर आदिक जानवर विरुद्ध होने लगे थे, तीसरे कालमें ऐसा न था, शेर रहें, पुरुष रहें, पास बने रहें, पर कोई बात न थी, मगर अब सिंह दहाड़ने लगे, कुत्ते गुर्राने लगे, ऐसी परिस्थिति थी, खाने पीनेका कोई उपाय समझमें न आ रहा था। उस समय ऋषभदेवने गृहस्थावस्थामें लोगोंको मार्ग बताया। अधिकार तो था नाभिराजाका बतानेका, क्योंकि वे १४वें कुलकर हुए। कुलकर ही सब व्यवस्था बनाते हैं, मगर जिस कुलकरके घरमें तीर्थंकर उत्पन्न हुए वे आगे-आगे बढ़े लोग आये नाभिराजाके पास और विनती करने लगे कि हम लोग भूखों मर रहे हैं, कोई उपाय हो तो बताओ। तो उन्होंने भेजा ऋषभदेवके पास, कहा कि जावों ऋषभदेवके पास, वे ही तुम्हारी समस्याका सब समाधान करेंगे? तो उन्होंने षट्कर्म रचनाका उपाय बताया, ६ आवश्यक कर्तव्य बताया और अवधिज्ञान तो था ही जन्मसे, सो सबकी योग्यता भी पहिचान ली, तो बताया कि देखो कुछ लोग कार्य करेंगे रक्षाका, शस्त्र चलाना सीखेंगे, दुष्टजन बाधा दें तो वहां रक्षा करेंगे, कुछको ये काम बताया, और कुछको बताया कि ये शिल्पकला करेंगे, और ये सेवा करेंगे, ऐसी तीन भागोंमें बांट कर दी, जिसके आधार पर बने—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। शूद्र घृणाकेयोग्य नहीं हैं वह तो मिलजुलकर सेवाकी बात बनी थी, पर कालान्तरमें मांस भक्षण, शराब खोरी, जीववध आदि अनेक खोटी बातें होने लगी थीं। तबसे अच्छे लोग उनसे दूर होने लगे। पर स्वयं देखो मनुष्य हैं, मनुष्यके नाते और एक जैसे कार्य चल सके उस बंटवारेके कालमें सब अपना अपना कार्य कर रहे थे, उनमें घृणाके योग्य कैसे थे, पर आचरण बिगड़नेसे वह कुल और जाति घृणाके योग्य मान ली गई। उस समय तो सब एक ढंगकी प्रजा थी, सब काम ठीक-ठीक चलता था। तो क्षत्रियोंको असिका काम दिया, वैश्योंको मसि कृषि, वाणिज्यका काम दिया और शिल्पी और सेवाका काम रहा शूद्रोंका। शूद्र शब्द कोई बुरे अर्थ वाला नहीं है। पर क्या करें, कोई बड़ा भी पुरुष हो और वह नीच काम करने लगे तो उसका नाम भी बदनाम हो जाता है। शुद्ध वातावरणमें त्रिवर्ण व्यवस्था ऋषभदेवने बनायी थी।

श्री ऋषभदेवके चारित्रसे शिक्षा—वे ऋषभदेव बहुत गृहस्थीका राज्य वैभव भोगनेके बीच जब उनकी राज्य सभामें नीलांजना नृत्य कर रही थी तो उस नृत्य करते हुएके बीचमें ही नीलाञ्जनाका मरण हो गया, उस समय इन्द्रके हुक्मसे तुरन्त ही दूसरी देवी उस रूपको धारणकर नृत्य करने लगी। इस रहस्यको अन्य दर्शक लोग नहीं समझ पाये क्योंकि उनका तुरन्तका काम हुआ कोई जान ही न सका कि एक,देवी मरी और दूसरी आयी। अरे नृत्ये करते-करते भी तो लोग बैठ जाते हैं कोई लेटकर भी नृत्य करते हैं, वहां तो तुरन्त काम हुआ, और लोग न समझ सके, पर ऋषभदेव जान गए सारा

रहस्य। उनको जन्मसे अवधिज्ञान था, सो उस घटनाको देखकर उनके वैराग्य जगा। बारह भावनाओंका चिन्तन किया। संसारकी असारता जाना, आत्मतत्त्वकी ओर विशेष दृष्टि दृढ़ की, विरक्त हुए, मौनपूर्वक तपश्चरण किया केवलज्ञान हुआ, केवलज्ञान होनेपर विशाल समवशरणकी रचना हुई, उनका दिव्योपदेश हुआ। देखिये कितने बड़े बड़े उपकार किया ऋषभ देवने। वे तो गृहस्थीके समयके उपकार थे। अब भगवान होनेके समयके जो उपकार हुए सो सुनो। अन्य लोग तो किसी किसी गृहस्थके द्वारा जनताका उपकार हुआ हो तो उसे भी वे भगवानका रूप दे देते हैं। तो गृहस्थीके समय तक ऋषभदेव भी भगवान न कहलाते थे, भले ही उन्होंने बहुत उपकार किया पर भगवान वे तब हुए जब उनको केवलज्ञान हुआ। भले ही व्यवहारमें लोग इस तरह बोलते कि भगवान ऋषभदेवका जन्म हुआ, तो वह द्रव्यनिक्षेपसे बात है। वास्तवमें भगवान कहलाते हैं केवल ज्ञान होनेपर। केवलज्ञान हुए बाद उन्होंने दिव्योपदेश दिया और अन्तमें निर्वाण पाया।

प्रथमानुयोगके स्वाध्यायमें भावसत्संगका लाभ—पुराणपुरुषोंकी कथा जानकर, चरित्र जानकर सुनने या बांचनेवालोंके परिणाममें क्या विषयसेवनकी प्रेरणा मिलेगी या धर्ममें लगनेकी प्रेरणा मिलेगी? धर्ममें ही लगनेकी प्रेरणा मिलेगी? यदि प्रथमानुयोगका पढ़ना व्यर्थ है तब तो फिर सत्संगका करना भी व्यर्थ कहलायगा। फिर क्यों कहा जाता है कि स्वाध्याय करो। सत्संग करो। यहां तो सत्संग साक्षात् होता है अमुक त्यागी मिला है, संत मिला है, पर ग्रन्थोंमें प्रथमानुयोगमें पढ़ते हुएमें स्मरण आता है ना उन ऋषियोंका, आचार्योंका तो उस ख्यालमें भी सत्संग चल रहा। जब किसी मुनिका, भगवानका या महापुरुषका चारित्र पढ़ रहे हैं तो वचनसे और हृदयसे वह सत्संग ही तो चल रहा। तो यह चारित्र वैराग्यवर्द्धक है। जो विषयकषायोंसे हटाये और अपने आत्माके स्वरूपकी ओर लगाये वह घटना भी पुण्यवर्द्धक है। यह जीव असहाय है, इसका दूसरा कोई मददगार नहीं है। पापका उदय आ जाय या कोई घटना घट जाय, दिमाग बिगड़ जाय, अधिक बीमार हो गए, मरणासन्न हो गए, निर्धन हो गए तो फिर उसका कौन मददगारहै? कौन उसकी सहायता करने आयगा? उसकी बड़ी-बड़ी चापलूसी, नम्रतायें, आदर विनय सब हो रहे। उसके असमर्थ हो जानेपर धर्मात्माजन तो भले ही उसकी मदद कर दें पर लौकिकजन, गृहस्थजन, अन्य-अन्य लोग उसके मददगार कोई न मिलेंगे। तो उस वक्त भी आपको जो लोग दिखते हैं कि यह मददगार हैं। यह हमारी ऐसी सेवा करता है। सुश्रुषा करता है। बड़े सुन्दर मीठे वचन बोलता है। हमारी आज्ञा भी मानता है वह सब आपके पुण्यका ठाठ है। आपसे उसका नाता नहीं है। ऐसे इस असार संसारमें इन बाहरी पुद्गल ढेरोंके ही चिन्तनमें, आश्रय लेनेमें जीवन खोया तो जैसे अनन्त कालका समय यों ही व्यर्थ गंवाया ऐसे ही यह जीवन भी व्यर्थ जा रहा है। धर्मपालनकी ओर विशेष दृष्टि दें। मानलो कदाचित कोई नाजुकस्थिति बनती है। लौकिक धन कम होता है तो वह जैसा होता हो होने दो, पर धर्मको न तजना। धर्मपालनके प्रतापसे ही पापरस दूर होगा। न धर्मपालन करे कोई और पापका उदय आता है तो दुर्दशा तो होगी, पर धर्मपालनसे तत्काल शान्ति मिलेगी। आगेके लिए आत्माका एक सही मार्ग मिलेगा। तो ये सब बड़े-बड़े पुरुषोंके चारित्र पुण्यबर्द्धक हैं। मानलो तत्त्वकी गहरी बातें कोई अधिक नहीं जानता और भगवान महावीर स्वामीकी जय, और

और बड़ी उमंगोंसे पुराण पुरुषोंका स्मरण कर रहा है और उनके जयवादमें उमंग ला रहा है तो पापबंधसे तो बचा, पुण्य कितना ही बंध रहा हो, मगर उसके अशुभभाव नहीं है। अशुभभाव कहलाते हैं विषयसेवन और कषायकी पकड़। ये अत्यन्त अशुद्धभाव हैं। तो धर्मके प्रसंगमें ऊपरी भी बात अगर मिली हो कोई और पुराण पुरुषोंके चरित्रकी बात सुन रहाहो कोई तो अशुभ भावोंसे तो बचा, पुण्यरसमें आ रहा। तो यह प्रथमानुयोग पुण्यवर्द्धक है। यह बोधिसमाधिका निधान है प्रथमानुयोग। बोधि मायने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति। और समाधि मायने जो रत्नत्रय पाया है उसको परिपूर्णतया निभाना इन दोनों उपायोंसे निभाना यह पुराण पुरुषोंका चारित्र है। तो इस चारित्रको यह सम्यग्ज्ञान सही बतलाता है। आत्माका बोध यह है।

श्रीरामके चरित्रके श्रवणसे आत्महितशिक्षण—श्रीराम भगवानका चरित्र आता है। उनकी सारी कहानीमें आप यह पायेंगे कि मुनि होनेसे पहले श्रीरामचन्द्रजीने कहीं सुख आराम नहीं पाया। और ऐसे ही महापुरुषोंका इतिहास बनता है जो धर्मपर अडिग रहे और सहर्ष दुःख सहते रहे, पर दुःखसे घबड़ाकर कभी दुःखमें पीड़ित नहीं हुए, ऐसे महापुरुषोंका ही तो लोग नाम लेते है। अज्ञानीजन तो यों कहेंगे कि कुछ विवेक न था, क्यों खामोखाका जानबूझकर दुःख बनाया, अरे आरामसे रहते घरमें तो उन्हें कौन मनाकर सकता था? पर देखिये उन महापुरुषोंको संसारके संघर्षोंमें ही आनन्द रहा। जैसे किसीको खूब काम करनेकी आदत है वह अगर ठाली बैठा रहे तो उसे आराम नहीं मिलता और यदि काममें लगा रहे तो वह चैन मानता है। यह तो लोग खुद समझते हैं। महापुरुष डन्लपके गद्दोंमें, आराम कुर्सीमें पड़े रहनेसे आराम नहीं मानते। वे तो अपना कर्तव्य निभानेमें और धर्म युक्त चर्या करनेमें चैन मानते हैं तो यह ही महापुरुषोंकी निशानी है। साधारणजन तो शरीरको बड़े आरामसे रखनेमें चैन समझते हैं पर महापुरुष जो जानते हैं कि यह शरीर जड़ है, अशुचि पदार्थोंका समूह है इसको ऐसा ही पड़ा रहने दो। दूसरोंके उपकारमें यदि इसे न लगाया तो यह बड़ी गंदी बात है। इस अशुचि शरीरकी भक्ति भगवानकी तरह समझकर कर रहे ये अज्ञानीजन। महापुरुष धर्मपालनके प्रसंगमें सर्व संघर्षोंको समतासे सहते हैं। उनमें वे विचलित नहीं होते। अपना चित्त अपने मूल उद्देश्यमें ही रखते। श्रीरामजी बलभद्रभगवान हुए केवल ज्ञानके बाद, पर हुए भगवान इसलिए उन्हें भगवान पहिलेसे बोलते हैं। कहीं ऐसा नहीं है कि श्रीरामका आत्मा भगवान था और उसने यहां आकर शरीर धारण किया हो। वह विशिष्ट पुण्यवान जीव थे किन्तु मुनि होनेसे पहले संकट ही सहे बचपनमें स्वयंबरके समय, राज्य देनके समय, जंगलमें सीताहरणके समय, युद्ध होते समय, भाईको मूर्छा आनेके समय, और जीत भी गए। और वापिस आ गए तो लोगोंने सीताको लानेकी प्रार्थनाकी सीता आयी उस समय और फिर अग्निकुण्डसे परीक्षा दो ऐसा बोलते समय और जिस समय आंखों देख रहे हैं श्रीराम कि निर्दोष सीता इस अग्निकुण्डमें कूद रही है तो उस समय क्या-क्या कष्टका वातावरण न था। सारी जिन्दगी उनकी लौकिक दृष्टिसे कष्टों कष्टोंमें ही गुजरी और श्रीरामको उसमें ही सन्तोष था, उसमें ही आनन्द था जब अग्निकुण्डमें सीताजी निर्दोष निकली। अग्निकुण्ड जलकुण्ड बन गया और वहां अत्यन्त विरक्त होकर सीता बनको चलने लगी। आर्यिका होने लगी, केशलोंच करने लगी। ऐसे प्रसंगमें श्रीरामचन्द्रजीने

सीताको कितना मनाया, माफी मांगी, मुझे क्षमा करो, तुम देवी हो लेकिन जिसका संसारसे चित्त हट हो गया और केवल एक ब्रह्मस्वरूपमें ही चित्त रम गया वह सीता अपने धर्मपालनमें लग गई। तो ऐसे संघर्षमय चरित्रको सुननेसे और इतने संघर्षोंमें भी अपने धर्मसे विचलित न होनेके साहसको देखकर पढ़ने वालोंके चित्तमें उस प्रकारकी उत्सुकता नहीं आती क्या? सत्संग और कहते किसे हैं? यह परोक्ष सत्संग है, ज्ञानके द्वारा सत्संग है। और यहां कोई महापुरुष आ जाये तो उनके साथ रहना यह साक्षात् सत्संग है। द्रव्यसत्संग है। और पुराण पुरुषोंके चरित्र सुनना यह भाव सत्संग है। द्रव्यसत्संगमें भी यदि भाव उज्ज्वल नहीं है तो वह सत्संग नहीं है और इन पुराण पुरुषोंके चरित्र सुनते समय सत्संग बराबर बन रहा है।

बोधिसमाधिनिधान प्रथमानुयोगके परिचयसे आत्मलाभकी विधिका दिग्दर्शन—यह प्रथमानुयोग बोधि और समाधिका निधान है। बड़े बड़े चक्रवर्तियोंके जिनके चरित्र हैं उनके बड़ी विभूतियां बताया है। समस्त भरत क्षेत्रपर उनका आधिपत्य रहा, इतने करोड़ हाथी, इतने घोड़े, इतने हल, इतनी सेना, सारा भरतक्षेत्र उस चक्रवर्तीका था, इतने वैभववान चक्रीके चक्रवर्तीके सामर्थ्यके समय भी उनको इस वैभवमें मौज नहीं मिला, न उन्होंने मौज माना और सहज परमात्मस्वरूपकी उपासनामें ही अपना जीवन बिताया। बताओ यह है चक्रवर्तीकी चर्या। ३२ हजार मुकुटबद्ध राजा जिनके चरणोंकी सेवा करें और उनको किसी बातमें मौज न आये, प्रसन्नता न आये। उनको प्रसन्नता मिली तो अपने धर्मपालनमें आत्मस्वभावके दर्शनमें प्रसन्नता मिली। तो बड़े बड़े पुरुषोंके ऐसे चारित्र पढ़कर क्या खुदके प्रति ऐसा ख्याल नहीं जगता कि अरे मैं कहां यहांकी छोटी छोटी बातोंमें विचलित होता रहता हूं। तृष्णावश रात दिन जड़ पौद्गलिक चिन्तनमें ही रहा करता हूं। अरे मेरेमें बसा हुआ यह सहजपरमात्मा मेरेको दृष्टिगत न हो और व्यर्थ बाह्य असार इन विभूतियोंमें ही अपना चित्त रमाऊं, यह कहां तक योग्य है? इस प्रकारका ख्याल न आयगा क्या? तो बताओ प्रथमानुयोगका स्वाध्याय उल्टी गैल बताता है या सीधी गैलमें मददगार है? उल्टी गैल तो नहीं बताता, सन्मार्गमें ही लगायगा। तो जो लोग थोड़ा सा भी बोलने लगते हैं, तत्त्वकी गप्पें हांकने लगते हैं उन्हें यह स्वच्छंदता आती है कि प्रथमानुयोगका क्या पढ़ना? उसमें तो किस्सा कहानी है। पर जिसको आत्मकल्याणकी धुन है। वह सब उपाय बनायगा कि मेरे आत्माको सन्मार्ग ही मिले, कुमार्ग न मिले। तो जैसे किसीको मानलो अमेरिका जाना है तो पहले कुछ अमेरिकाका वृत्तान्त समझना, अमेरिकाका चारित्र जानना, वहां कैसे गुजारा हो, वहांका भूगोल क्या है, जो लोग अमेरिका गये हैं उनका ध्यान होगा कि ये ये लोग गए हैं, ये सब बातें उसके ध्यानमें होंगी तब वह अमेरिकाकी यात्रा करता है। अगर ऐसी बात चित्तमें न हो तो कैसे कोई यात्रा करे? ऐसे ही जिसे मोक्ष जाना है वह पहले जो मोक्ष गए हैं उनका चरित्र जानता है सामान्यरूपसे कि इस तरहसे निर्वाण हुआ है इन लोगोंका, तब ही वह खुदके निर्वाणके लिए स्पष्ट मार्ग समझ पायगा। इस कारण यह प्रथमानुयोग जिसमें महापुरुषोंके चरित्र हैं इनका ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानके चार अनुयोग बताये थे, उनमें यह प्रथमानुयोगका वर्णन है।

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवेति करणानुयोगं च॥ ४४॥

प्रथमानुयोगके वर्णनके पश्चात् क्रम प्राप्त करणानुयोगके वर्णनका प्रारम्भ—यह दूसरा अध्याय सम्यग्ज्ञानके प्रकरणका चल रहा है। सम्यग्ज्ञानका लक्षण बताया था कि जो न कम जाने, न ज्यादह जाने न उल्टा जाने, न संदेहसहित जाने, ऐसे ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। फिर यह सम्यग्ज्ञान चार अनुयोगोंसे मिलेगा। भगवान जिनेन्द्रदेवकी दिव्यध्वनिसे प्रसारित ये चार अनुयोग हैं जिनका कि आचार्य परम्परासे अब तक बोध चला आया है और आज भी शास्त्रोंमें निबद्ध है उन अनुयोगोंका ज्ञान करें। वे अनुयोग चार प्रकारके बताये गए—(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग। पहिले प्रथमानुयोगका वर्णन किया गया था। उसका नाम प्रथमानुयोग क्यों पड़ा कि धर्ममार्गमें प्रवेश करने वालेको यह प्रथमानुयोग उत्साह पैदा करता है तब वह आगे बढ़ता है। इसी कारण इसका नाम प्रथमानुयोग है। जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंका पुराण पुरुषोंके चरित्रमें वर्णन किया है। कौन महापुरुष कैसे उत्पन्न हुवे कैसे जीवन चला, कैसे विरक्त हुए, कैसे निर्वाण पाया? उनके चरित्रके सुननेसे अपनेको भी धर्म मार्गमें लगनेकी प्रेरणा मिलती है। वास्तवमें तो हम आपको मात्र धर्म ही शरण है, दूसरा शरण नहीं है। एक वैज्ञानिक बात है अपने आत्माके सम्बंधमें जैसे कि बाहरी अमुक चीजका अमुकसे संयोग हुआ तो क्या अवस्था बनती है? अगर उस चीजमें से उस सयोगवाली चीजको हटा दिया जाय तो क्या अवस्था बनती है? यह ही तो वैज्ञानिक प्रयोग है, ऐसे ही अपने आत्मामें देखें—पर पदार्थोंका संयोग होनेसे आत्माकी क्या अवस्था बनती है? जीव है एक ज्ञानस्वरूप पदार्थ। जैसे बाहरी पुद्गलोंमें देखते हैं कि रूप है, रस है, गंध है, अमुक है ऐसे ही आत्मामें तो बताओ क्या है? वहां रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं तो क्या है? ज्ञानप्रतिभास चेतना। जैसे आकाश अमूर्त है और वस्तु है। आकाशमें चेतना नहीं, आत्मामें चेतना है, तो यह है ज्ञानमात्र पदार्थ। इस आत्माके साथ अन्य वस्तुवोंका संयोग कर लेनेसे आत्मा संसारमें दुःखी होता है, चारों गतियोंमें भ्रमण करता है।

दुःखोंका कारण अन्यसंयोग—कर्मका संयोग सबके साथ है मगर कर्मके बारेमें अन्य लोग बहुत कम जानते हैं। हां जैन शास्त्रोंमें कर्मके बारेमें इतना वर्णन आया है जितना कि सम्पूर्ण जैनागमका आधा। वह वास्तविक चीज है। जैसे शरीर है यह मोटा पुद्गल है वैसे ही कर्म है वह एक सूक्ष्म पुद्गल है, पर है वह अचेतन रूप, रस, गंध, स्पर्शवाला अत्यन्त सूक्ष्म। सो जीवके जब विकार जगता है तो वे कर्मपरमाणु कर्मरूप बन जाते हैं। एक तो उनका संयोग लगा है जीवके साथ। एक शरीरका संयोग लगा है जीवके साथ सो तो प्रकट मालूम हो रहा है। इन दोके लिए क्या करें? लगा है अभी, मगर यह जीव इनके अलावा धन, मकान, परिजन कुटुम्ब आदिक अनेक लोग इनका भी लगाव बना डालते हैं। सो जीवोंके साथ कितना परपदार्थोंका लगाव चल रहा है, उसके फलमें जीवकी आज क्या दशायें हैं। दुःखी हैं। धन बढ़ गया तो भी दुःख है, धन कम हो गया तो भी दुःख है, जिनके बालबच्चे

हैं वे भी दुःखी हैं, जिनके बालबच्चे नहीं हैं वे भी दुःख मानते। संसारकी कौनसी स्थिति है कि जिसमें शान्ति मिलती हो जीवको? पुत्र कुपूत हुआ तो भी दुःख मानते। सपूत हो गया तो भी दुःख मानते। बल्कि कुपूत होनेमें तो एक बार उससे मन हटा लिया और अगर वह उद्‌ण्डता करता है तो जाहिर कर दिया कि मेरा इससे कुछ मतलब नहीं, निवृत्त हो गए और यदि सपूत लड़का है तो उसके रागमें आकर जिन्दगी भर उसके पीछे रूलेगा, मैं इसे खूब धन जोड़कर धर जाऊं, इसको खूब पढ़ा लिखाकर होशियार कर दूं, इसको कोई कष्ट न होने दूं ··· यों कितने ही विकल्प उसके पीछे मचते हैं। नहीं है पुत्र तो मनमें उसकी आशा करके दुःख मानते है। अच्छा धन बढ़ गया तो भी दुःख मानते हैं, यह तो धनी लोग खुद अनुभव करते होंगे। कभी-कभी तो लोग ऐसा भी विचार कर डालते कि इससे तो हमारी ५० वर्ष पूर्वकी स्थिति अच्छी थी जब हम थोड़ा ही काम करते थे या थोड़ा ही धन था। यहां तक ख्याल कर डालते और यदि कम धन है तो उन धनिकोंको देखकर भीतर ही भीतर भुनते रहते, ··· हाय कैसा पापका उदय है कि मुझे अधिक धन न मिला।

कर्मके संयोग वियोगके परिणाम—अच्छा कर्मके संयोगकी बात देखो—पुण्य कर्मका उदय आया तो कौनसी विजय प्राप्त कर ली? पुण्यकर्मके उदयसे धन वैभव राज्यपाट, चलाबा, प्रभुता, हुकूमत ये ही तो मिलते हैं। इनके मिलनेसे कौनसी आत्माकी विजय हो गई? तो यह सब जितने संयोग हैं ये संयोग होनेसे आत्माकी बुरी दशा हो रही है। और संयोग न रहे, मानों कर्म हट गए जीवके, शरीर हट गया तो वह सिद्ध दशा हो गई। केवल ज्ञानज्योति आत्मा जिसके विकल्प नहीं, जिसके आरम्भ नहीं, जिसके रागद्वेष मोह नहीं, केवल ज्ञानसे समस्त विश्वको युगपत् जानते रहते हैं, वह है सिद्ध दशा। तो यह एक निर्णय बना लें कि जितना भी परपदार्थका सम्बंध है वह मेरे आत्माके अहितके लिए है। मानो एक भवमें किसीने प्रशंसा कर दी हम बड़े कहलायें, लोगोंने अच्छा माना, पर इस माननेसे मेरा गुजारा तो न चलेगा। मरण होगा, आगे क्या दशा होगी, उसमें कोई रक्षा करने वाला तो नहीं। इसलिए पुण्यानुसार जो आये उसमें ही व्यवस्था बनाना हमारा काम है और इसको मैं अधिक पा लूं ऐसी कल्पना लाना हमारा काम नहीं। यदि ऐसी धीरता है तो धर्ममें मन लगेगा। धर्ममें उत्साह होगा। सो पहले यह निर्णय बनाना चाहिए कि उदयानुसार जो होगा उसमें हम व्यवस्था बना लेंगे, हम आशा तृष्णामें अपना चित्त न डुलायेंगे। इतनी धीरता होती है सम्यग्दृष्टि जीवमें। तो ऐसे ज्ञानबलसे कुछ चिन्तन करें और पुराण पुरुषोंके चरित्रको सुनें तो उससे आपको बड़ी स्फूर्ति मिलती है। सो प्रथमानुयोगका वर्णन पहले किया था, आज करणानुयोगका वर्णन किया जा रहा है।

करणानुयोगमें कथित लोकरचनाका दिग्दर्शन—करणानुयोगके शास्त्रोंमें कौनसा विषय आता है? तो एक तो लोक और अलोककी रचना। लोक कितना बड़ा है जब यह ज्ञानमें आता है तो राग और मोह शिथिल हो जाता है और जगतमें प्रेम करनेकी उमंग नहीं रहती। कितना बड़ा है लोक? तो पहले यहींसे चलो। जहां हम आप बैठे हैं जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रके आर्यखण्डके जरासे हिस्सेमें। यह जम्बूद्वीप कितना बड़ा है? तो यह थालीकी तरह गोल है और एक किनारेसे दूसरे किनारे तक जिसे सलाका कहते वह एक योजन है। और एक लाख योजन होता है दो हजार कोशका और एक

कोश होता है करीब पौने तीन मीलका सही मायनेमें। यों तो कहीं सवा मीलका कोश मानते, कहीं दो मीलका, पर कोशका सही सही प्रमाण ३ मीलका होता है धनुषके प्रमाणसे। तो अब समझिये कि यह जम्बूद्वीप कितना बड़ा है? उसको घेरकर लवण समुद्र है जो एक तरफ दो लाख योजनका है। दूसरी तरफ भी ५ लाख योजनका है। मगर लवण समुद्रके आखिरी किनारेसे सामनेके लवण समुद्रका आखिरी किनारा नापा जाय तो २ लाख योजन पड़ेगा बीचका हिस्सा। फिर लवण समुद्रको घेरकर दूसरा द्वीप है वह एक तरफ है चार लाख योजन और दूसरी तरफ भी चार लोख योजन, उसको घेरकर है एक समुद्र। वह दूने विस्तार वाला है। फिर तीसरा द्वीप, चौथा द्वीप समुद्र, इस तरह अनगिनते द्वीप समुद्र हैं याने नील, शंख महाशंखकी तो बात ही क्या है। कई अंक प्रमाण, संख्यात बहुत बड़ा होता है। संख्यातकी भी गिनती नहीं, पर उससे भी आगे कितने अनगिनते द्वीप समुद्र हैं और वे एक दूसरेसे दूने-दूने विस्तार वाले हैं तो देखिये कितना विस्तार हो गया। इतना सारा विस्तार अभी समतलके हिसाबसे भी एक राजू नहीं है, फिर एक राजू चारों तरफ होवे जिसे घनराजू कहते, मोटा भी एक राजू, विस्तार भी एक राजू। इतनेको कहते हैं एक राजू। ऐसे ऐसे ३४३ घनराजू लोक है जिसको हम आप दो अंगुलके नक्शासे बना डालते हैं।

लोकरचनाके परिचयसे लाभ—इतने बड़े लोकमें कोई भी प्रदेश नहीं बचा जहां हम आप अनन्त बार पैदा न हुए हों, मरे न हों और इतने बड़े लोकके सामने आपकी नगरी। आपका देश तो उतना सा भाग है जैसे बड़े समुद्रमें से एक बूंद। तो इतने बड़े लोकमें जब मेरा कुछ नहीं तो फिर जरासी जगहमें जितना परिचय होता है उसकी क्यों ममता करना? सारी दुनियापर ध्यान दें तो जरासे क्षेत्रकी ममता दूर हो जायगी। यह भी क्या चीज रही। इस लोकसे परे है अलोक, जिसकी सीमा ही नहीं है अलोकके मध्य अवस्थित लोककी क्या क्या रचनायें हैं उनको देखो। जिस जगह हम बैठे हैं यह कहलाता है मध्यलोक और यह मध्यलोक १ हजार योजन तक तो नीचे चला गया और ९९ हजार योजन ऊपर तक चला गया, इसको मध्यलोक कहते हैं जो सूर्यचन्द्र तारे दिख रहे ये ऊर्द्ध लोकमें नहीं हैं, ये मध्यलोकमें हैं। तो अधोलोकमें ७ पृथ्वी हैं। पहली पृथ्वी तो यह ही है जिसपर हम आप बैठे हैं। यह पृथ्वी इतनी मोटी है कि जिसमें विभाग बड़े बड़े आये हैं। तो पहले विभागमें कुछ भवनवासी व्यन्तर रहते हैं, दूसरे विभागमें भी भवनवासी व्यन्तर रहते हैं और दूसरे भागमें नारकी रहते हैं, उससे नीचे बहुत आकाश हैं फिर दूसरी पृथ्वी लगी, उसमें दूसरे नारकी हैं, फिर ऐसा ही आकाश है, फिर पृथ्वी है, इस तरह नीचे ७ नरक हैं और ९९ हजार योजनसे ऊपर स्वर्ग हैं, फिर ग्रैवेयक है, अनुदिश है, अनुत्तर है, सबसे ऊपर सिद्धलोक है। लोककी रचना जरा स्पष्ट ज्ञानमें हो तो मिली हुई जगहमें ममता नहीं रहती। इसका क्या मूल्य है, कितने समयका रहना है और इससे क्या सम्बंध है? तो करणानुयोगमें लोक और अलोकका विभाग और रचना बतायी गई है।

करणानुयोगमें वर्णित कालरचनाका दिग्दर्शन—करणानुयोगमें कालका परिवर्तन बताया गया है। काल परिवर्तन सिर्फ भरत और ऐरावत क्षेत्रके आर्यखण्डमें होता है, थोड़ासा फर्क क्लेच्छ खण्डमें भी पड़ता है, पर मुख्य अन्तर आर्य खण्ड में है। जैसे हम आप इस भरत क्षेत्रके आर्यखण्डमें हैं तो क्या

काल परिवर्तन चलता है। आज पंचम काल है अवसर्पिणीका। अवसर्पिणी उसे कहते हैं जिसमें दिन प्रतिदिन बात घटती चली जाय। बल घटे, शरीर घटे, उम्र घटे, श्रद्धान घटे, धर्म घटे, यों ही सभी बातोंमें लगा लीजिए। जहां घटतीकी ओर सब बातें चलें उसे कहते हैं अवसर्पिणीकाल। और दूसरा होता है उत्सर्पिणीकाल। जिसमें शरीर बढ़े, बल बढ़े, आयु बढ़े, ज्ञान बढ़े ··· यों ही सब बातें बढ़तीकी ओर चलें उसे कहते हैं उत्सर्पिणीकाल। तो प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें ६-६ काल होते हैं जिनका संख्यासे आप ज्ञान करलें—पहला, दूसरा आदिक। तो आज यह पंचमकाल है। अवसर्पिणी काल है, इसके बाद छठा काल आयगा। उस छठे कालमें धर्म, अग्नि ये कुछ न मिलेगें। तब मनुष्य तो होंगे, तिर्यञ्च भी होंगे, पर सब मांसभक्षी होंगे। मनुष्य मनुष्यको मारकर खायेंगे। जैसे कि यहां एक तिर्यञ्च दूसरे तिर्यञ्चको मारकर खा लेता है, फिर तिर्यञ्चोंको मारकर खा जाना उनके लिए कोई कठिन बात नहीं। ऐसा ही आयगा छठाकाल जिसमें मनुष्य केवल एक हाथके लम्बे होंगे। इस छठे कालके बाद प्रलय होगा। ७-७ दिन ७ तरहकी खोटी वर्षा होगी—अग्नि वर्षा, तेज हवा चलना, तेज विष जैसी बरषा। मालूम पड़ता है कि आज जो बम हाइड्रोजन और रासायनिक चीजें, विष भरी चीजें जो तैयार हो रही है वे शायद प्रलयके ही साधन अभीसे बन रहे हैं। आखिर वे एक न एक दिन फूटेंगे। चाहे स्वयं फूटें चाहे किसीके फोड़नेसे? प्रलय बताया है छठे कालके अन्तमें पर उसके आसार अभीसे दिखने लगे।

छठे कालके अन्तमें प्रलयके बाद कालरचनाका दिग्दर्शन—इस प्रलयके बाद अवसर्पिणीकाल खतम हो जायगा फिर उत्सर्पिणीकाल लगेगा। तो उत्सर्पिणीकालमें पहला होगा छठा काल जिसमें इस छठे कालकी तरह ही बात होगी, मगर बढ़नेकी ओर होगी। शरीर बढ़ेगा, ज्ञान बढ़ेगा, बल बढ़ेगा, आयु बढ़ेगी, फिर आयगा पंचमकाल। जो इस कालकी तरह होगा। मगर यहां तो घटतीकी ओर है और उस पंचमकालमें बढ़तीकी ओर होगा। फिर होगा चौथा काल। जिसमें २४ तीर्थंकर होंगे, फिर आयगा तीसरा भोगभूमि, दूसरा आयगा भोगभूमि और पहला आयगा भोगभूमि। यहां उत्सर्पिणीकाल खतम हो जायगा फिर अवसर्पिणीकाल लगेगा तो पहला काल आयगा भोगभूमि, दूसरा भोगभूमि, तीसरा भोगभूमि, चौथे कालमें २४ तीर्थंकर होंगे, फिर वही पंचमकाल जैसा कि आज है। प्रश्न—भोगभूमि किसे कहते? उत्तर—भोगभूमिमें कुछ आजीविका चलानेके लिए खेती व्यापार, सेवा आदिक कार्य नहीं करने पड़ते। वहां ऐसे कल्पवृक्ष होते १० प्रकारके जिनसे कि आवश्यक सभी चीजें प्राप्त होती रहती हैं। वैसे हम यह नहीं बता सकते कि किस तरहके होते थे कल्पवृक्ष क्योंकि उन्हें आंखों देखा नहीं पर शास्त्रोंमें आयी हुई बात असत्य नहीं है। यहा भी तो देखनेमें आता कि अनेक वृक्ष ऐसे होते जिनके पत्ते स्वयं आभूषण जैसे होते। कभी देखा होगा कि बच्चे लोग नीमके गल्ले पहन लेते हैं तो वे भी आभूषण जैसे लगते। कीकरकी फली भी गोल मटोल आभूषण जैसी होती। वहां कुछ विशेष प्रकारके होते होंगे। तो ऐसे ही कितने ही आभूषण उन कल्पवृक्षोंसे प्राप्त होते हैं। वस्त्र वाले, बर्तन वाले, आभूषण वाले, बाजे वाले यों १० प्रकारके कल्पवृक्ष पाये जाते हैं जिनसे जो चाहे प्राप्त करलो। और वहां भूखकी वेदना भी बेर प्रमाण, आंवले प्रमाण हैं। किसीको तीन दिनमें,

दूसरे कालमें दो दिनमें, तीसरे कालमें एक दिनमें, इतनी भूख है। मतलब कि वहां ऐश आराम भोगके बड़े अच्छे साधन हैं। और कर्मभूमिमें ये सब बातें नहीं होती, वहां तो खेती, व्यापार, सेवा आदिक करके आजीविका चलाना होता हे। तो छह कालका स्वरूप जाननेसे यह बात ज्ञानमें आती है कि ऐसे उत्सर्पिणी अवसर्पिणी अनन्त बीत गए। इतने अनन्तकालमें यदि यह १००-५० वर्षका जीवन मिला है तो इसमें क्या ममत्व करना? तो कालका परिवर्तन जाननेसे भी मोह ममत्व दूर होता है।

करणानुयोगमें वर्णित चतुर्गतिभ्रमणका दिग्दर्शन—करणानुयोगमें तीसरी बात कही गई मुख्यतासे चार गतियोंमें परिभ्रमण। (१) नरक, (२) तिर्यञ्च, (३) मनुष्य और (४) देव। इनमें कैसा स्थान है, उनका कैसा भाव है। गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणा आदिक जो कुछ वर्णन आता है वह यह करणानुयोग सम्बंधी ही तो है। नरकगतिमें कैसे जन्म होता? जो मनुष्य बहुत आरम्भ और परिग्रहमें मूर्छा करता है वह नरकायुका बंध करता है और नरकायुमें गमन होता है। इस असार मायामयी संसारमें इन दिखने वाले लोगोंमें सबसे बड़ा कहलाऊं इस भावनाके बराबर मूढ़ता और कुछ नहीं है। आत्माका ज्ञान नहीं इस कारण इस ओर चित्त जाता है। कोई कल्पनासे बड़ा नहीं बनता। जिसकी योग्यता है, जिसका उदय है वह सहज बड़ा बनता है बड़ा बने तो क्या, न बने तो क्या, जिसको आत्माका बोध है वह अपने आत्माके स्वरूपके चिन्तनमें ही संतुष्ट रहता है। मैं यह हूं, जो पुण्य पापके अनुसार बीतेगी, मेरेमें मेरी व्यवस्था है। तिर्यञ्चगतिमें जन्म होता है मायाचार अधिक करनेसे। छल किया, कपट किया, चुगली की, निन्दा की, जिसके मनका पता ही न पड़े कि मनमें क्या है और कर क्या डाले। ऐसा जिसका भाव रहता है वह मनुष्य मरकर तिर्यञ्च होता है। जिसके शान्त परिणाम हैं, जो कषाय अधिक नहीं रखता, थोड़ा आरम्भ है। थोड़ा परिग्रह है ऐसा जीव मरकर मनुष्य होता है और व्रत, तप, संयम, शील इन सबके पालनसे यह देवगतिमें जन्म लेता है। तो इन चारों गतियोंमें जिस ढंगसे परिभ्रमण दूर होता है, जिन कारणोंसे परिभ्रमण होता है उनका वर्णन करणानुयोगके ग्रन्थोंमें है। सो यह करणानुयोग इस लोक अलोकके विभागको, काल और चतुर्गतिभ्रमण, जीवकी प्रति समयकी घटनाका वर्णन दर्पणकी तरह इसमें स्पष्ट झलकता है। सो यह करणानुयोग एक दूसरा वेद है। करणानुयोगमें जीवके परिणामका मुख्यतासे वर्णन है। सो करणानुयोगके स्वाध्यायमें बढ़ें, ज्ञानमें बढ़ें तो अपना उपयोग निर्मल रहेगा, धर्ममें आस्था बढ़ेगी, अपना आत्मा स्वच्छ होगा। जिससे इस वक्त भी सुख पायेंगे और भविष्यमें भी सुखी रहेंगे। इस कारण सम्यग्ज्ञान बनानेके लिए अपना पौरुष करें और ज्ञानमें सन्तुष्ट रहनेका अभ्यास बनायें।

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥ ४५॥

चरणानुयोगके वर्णनका प्रारम्भ—सम्यग्ज्ञानके प्रसंगमें प्रथमानुयोग और करणानुयोग इन दोका स्वरूप बताया गया है कि इस अनुयोगके शास्त्रोंमें किस विषयका वर्णन हुआ करता है। अब इस छंदमें चरणानुयोगका स्वरूप कहा जा रहा है कि चरणानुयोगके शास्त्रोंमें किन-किन विषयोंका वर्णन

किया जाता है। चरणानुयोगमें गृहस्थ और मुनियोंका चारित्र बताया गया है। कैसे उनके चारित्र उत्पन्न होता है? कैसे उनके चारित्रमें वृद्धि होती है, कैसे उस चारित्रकी सम्हालकी जानी चाहिए। तो सब चरणानुयोगके विषयको सम्यग्ज्ञान जानता है। जो चीज न हो और अब हो याने जो जिस ढंगकी बात नहीं है और अब हो रही तो यह जरूर है कि उसमें कोई निमित्त कारण होगा। अगर निमित्त कारण न हो तो वह पहलेसे ही क्यों न हुई, स्वभावतः क्यों न हुई? तो जो भी घटना नये ढंगमें होती है उस घटनाका कोई न कोई निमित्त कारण होता है। तो अब गृहस्थोंका चारित्र हो या मुनिका चारित्र हो तो उस घटनामें निमित्त क्या है? कषायका क्षयोपशम। जब तक कषायें रहती हैं तब तक चारित्र नहीं होता। कषायोंका और चारित्रका विरोध है। आत्मामें एक चारित्र नामका गुण है, उस गुणकी विकृत पर्याय है विकार, कषाय और स्वभाव पर्याय है चारित्र। तो सुना ही होगा, पढ़ा ही होगा कि अप्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम हो तो होता है गृहस्थका व्रत और प्रत्याख्यानावरण कषायका भी क्षयोपशम हो तो होता है मुनिका व्रत। तो चारित्रके उत्पन्न होनेमें निमित्त कारण तो कषायका क्षयोपशम है। उपादान कारण यह जीव खुद है। इसकी भावना बने, ज्ञान बने। उस प्रकारकी एक भावना हो कल्याणकी अभिलाषा हो तो इसका उपादान कारण खुद जीव है और आश्रयभूत कारण है परपदार्थोंका हटाव, सही लगाव, यह उसका आश्रयभूत कारण है। चारित्र नाम किसका है? आत्माका जो स्वभाव है चैतन्य सहजज्ञान, सहजदर्शन, बस उस ही में समाजाना, उसही के अनुरूप अवस्था बनाना इसे कहते हैं चारित्र। आत्मामें लीन होनेका नाम है चारित्र। लीन हो जाय यह तो है चारित्रमें परिपूर्णता मगर आंशिक चारित्र अणुव्रत और महाव्रत है।

सम्यक्त्व और सम्यक्चारित्रसे धर्मप्रगति—धर्मपालन दो बातोंमें है—(१) सम्यग्दर्शन पाना और (२) सम्यक्चारित्रका पालन करना। सम्यग्दर्शनमें एक वह प्रकाश है कि जिससे रास्ता दिख जाता है कि हमको इस रास्तेसे चलना है। शान्तिके लिए जगह-जगह बहुत भटके। क्या क्या उपाय अब तक नहीं किए। कहां कहां नहीं डोले। किस किसके आगे मोहवश कातरता नहीं की। पर इस जीवको शान्ति प्राप्त नहीं हुई। आखिर इस तरह कैसे शान्ति प्राप्त हो। शान्तिका तो मार्ग ही और है। किया जाना और बात है। शान्तिका मार्ग है अपने आत्मस्वरूपका दर्शन, ज्ञान और चारित्र। देखिये—स्वयं अपनेको क्या कष्ट है जीवको? एक यह बात ठान ले कोई कि मुझको किसी भी परपदार्थका विकल्प ही नहीं करना है। तो इतनी मात्र अगर उसकी प्रक्रिया बन सके तो वह शान्तिके सम्मुख हो जायगा। जैसे अचरजका एक भजन है—पानीमें मीन पियासी, मोहि सुन-सुन आवे हांसी। पानीमें रहने वाली मछली भी प्यासी है यह बात सुनकर हंसी आनी ही चाहिए क्योंकि मछली पर नीचे ऊपर चारों तरफ पड़ा है पानी फिर भी वह प्यासी ऐसे ही जीवका स्वरूप है ज्ञान और आनन्द। स्वरूप ही ज्ञानानन्द है। उस ज्ञानानन्दस्वरूपमें इसका सत्त्व है और फिर भी यह जीव ज्ञानको तरसता है और आनन्दको तरसता है। इस बात पर हंसी आती है, किसको? ··· ज्ञानीको। अज्ञानीजन क्यों हंसेंगे? उन्हें तो इस राजका पता ही नहीं है तो ज्ञान और आनन्द इस आत्माका स्वयं स्वभाव है इसलिए ज्ञान व आनन्दके लिए क्या तड़फना? कर्तव्य यह करना है कि जो हम ज्ञानानन्द स्वभावसे विमुख होकर किसी बाह्य पदार्थमें

लगाव रखकर व्याकुल होते रहते हैं तो हमको वह लगाव तोड़ना है, आनन्द अपने आप मिलेगा। सुख और दुःख बनाये जाते हैं, आनन्द नहीं बनाया जाता। आनन्द कहलाता है—जैसे भगवानके आनन्द है अपने स्वभावसे ही वह आनन्द है। वह तो आनन्द है और सुख है इन्द्रिय विषयोंका भोग करना, मौज मानना और दुःख तो बनाये जाते हैं बनावटी हैं और अकृत्रिम स्वाभाविक आनन्द होता है। तो हमारी बनावट छूट जाय तो आनन्द ही आनन्द है। यह बनावट बनी है पर पदार्थोंका राग करनेसे। तो गृहस्थीके चारित्रमें आश्रवभूत कारणका त्याग ही त्याग बताया है।

धर्माभिलाषी गृहस्थोंका आवश्यक कर्तव्य परिग्रह परिमाण—परिग्रहका परिमाण करना भी एक त्याग है। क्योंकि परिग्रहका परिमाण न हो तो तृष्णाकी अवस्था नहीं होती। भले ही शक्ति न होनेसे आज इतना ही सोचें कि २० लाखका धन हो जायगा फिर क्या जरूरत है? पर उसका यह सोचना ही सोचना रहेगा। कदाचित हो जायें २० लाख तो संतोष हो लेगा क्या? अरे वह आगे की सोचेगा। और परिग्रहका परिमाण होगा तो उसे संतोष होगा। जैन शासनमें जो बात मुख्य है कर्तव्यकी उसका अब रिवाज न रहा। मुख्य कर्तव्य है परिग्रहका परिमाण करना। सुख शान्तिकी जड़ है यह। कहीं प्रमाणमें यह नहीं है कि आप उतना ही परिमाण रखे कि तकलीफ पायें, रखें आप जो आज आवश्यकता है उससे दुगुना रख लीजिए। आज अब लोग यह भी सोचने लगे कि कुछ ऐसा भी समागम बन गया कि जिसने ३०—४० वर्ष पहले यह सोचा था कि १० हजार रूपया काफी होते हैं और उसमें तो कितनोंका ही गुजारा चल जाता था, परिमाण कर लिया १० हजारका। आज १० हजारमें क्या होता, गुजारा नहीं चलता, तो चाहे ऐसी बात वे मनमें रखलें कि वर्तमानके इन भावोंके समय इतना परिमाण है, भावोंमें बढ़ने घटनेके अनुसार हमारा परिमाण भी घट बढ़ जायगा, पर इतना परिमाण है। ऐसा एक नियम तो हो जाय, उसको फिर तृष्णा न सतायगी। रही यह बात कि लोग यह सोचेंगे कि फिर तो लोक हमारी अधिक इज्जत न रहेगी। क्योंकि परिग्रह ज्यादह बढ़ावेंगे नहीं, सम्पन्नता बड़ी कहलायगी नहीं तो फिर लोकमें हमारी मान्यता कैसे रहेगी, क्योंकि मान्यता तो अर्थके बलपर है, फिर न रहेगी, सो उसके विषयमें दो बातें सुनो—अगर लोगोंके द्वारा मान्यता पानेकी ही बात है चित्तमें तब तो फिर धर्मको एक ताक पर रख दीजिए और जो करना हो सो करिये। पहली बात तो यह है। दूसरी बात यह है कि परिमाण करने पर उसका इतना सात्विकभाव रहेगा कि उसके अन्दर भी जो लाभ है तो परोपकारमें अधिक जायगा और सालके अन्तमें परिमाणसे ज्यादह लाभ हो गया तो वह साराका सारा धन परोपकारमें देगा, तो बतलावों उसका नाम बढ़ेगा कि तृष्णा करने वालेका? तृष्णा करने वालेके मनमें वह उदारता नहीं आ सकती जो परिमाण करने वालेमें उदारता आ सकती। लौकिक इज्जतमें भी अन्तर नहीं, पारलौकिक काम तो अच्छा ही हो रहा है परिग्रहका परिमाण करनेसे। तो जिस गृहस्थको धर्मपालन करनेकी अभिलाषा है उसका सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह परिग्रहका परिमाण करे। परिमाण करने वालेको बड़े ऊंचे-ऊंचे धनिकोंको देखकर भीतरमें जलन तृष्णा नहीं होती। बल्कि उनपर दया आती है कि इन बेचारोंको शान्तिका मार्ग नहीं मालूम है। ये आत्माका स्वरूप नहीं जानते, सो

बाहर ही बाहर उपयोग फंसाकर व्याकुल हो रहे हैं। यह करुणाबुद्धि जगेगी। और जिसके परिमाण नहीं है उसके तृष्णा होनेके कारण बड़ोंको देखकर ईर्ष्या जगती है कि मैं क्यों न हो पाया ऐसा।

तृष्णा लोभसे उत्पन्न हुई व्यथाका देवगतिमें चित्रण और उससे शिक्षण—देवगतिमें मनुष्योंसे भी अधिक दुःख है। ऊंचे देवोंकी तो बात नहीं कहते, जैसे कि यहां ऊंचे मनुष्योंको दुःखी नहीं कहा जा सकता। मगर अधिकतर संख्यामें देवगतिके जीवोंमें दुःख अधिक है। आप लोग सोचते होंगे कि लोग तो देवगतिमें पैदा होनेके लिए तरसते हैं क्योंकि शरीर उनका अच्छा है, वैक्रियक है, भूख प्यासकी वहां बाधा नहीं है। कमायी करना नहीं पड़ता, सागरों पर्यन्तकी आयु है। उनके शरीरमें रोग नहीं होते, पसीना भी नहीं आता, हड्डी चाम भी नहीं है। जैसे यहां अनेक धातुवोंके खिलौने होते, मानलो कोई डन्लपका ही कोमल शरीर वाला खिलौना बना दे, ऐसा कोमल शरीर देवोंका होता। जहां सुख ही सुख है। एक से एक सुन्दर देवांगनायें और वे भी हजारोंकी संख्यामें, जहां चाहे घूमें, अवधि ज्ञान होनेसे कहीं की भी बात जानें और फिर भी यहां कहा जा रहा कि देवोमें सबसे अधिक दुःख है। हां दुःख है। काहेका दुःख है? मूर्खताका दुःख है। जब कोई देव अपनेसे अधिक ऐश्वर्य वाले देवको देखते हैं तो उसको उससे ईर्ष्या हो जाती, वह मन ही मन कुढ़ता है। वैसी स्थिति अगर मनुष्योंकी हो तो कहो हार्टफेल हो जानेकी नौबत आ जाय। देवोंके हार्टफेल नहीं होता, उन्हें ईर्ष्याका भारी दुःख है। देवगतिमें लोभकषायकी प्रबलता बतायी गई है, मनुष्यगतिमें मानकषायकी तीव्रता बतायी गयी है, जो लोग लोभ करते हैं, धनका बहुत बड़ा संग्रह करते हैं वे मुख्यतया लोभके कारण नहीं कर रहे किन्तु मानके कारण कर रहे हैं। मैं करोड़पति, अरबपति कहलाऊंगा, मेरी मानप्रतिष्ठा बढ़ेगी। इस भावसे लोग धनका संगह करते है। तो परिग्रहका परिमाण करना यह मूल बात है। जिसको अपना जीवन शान्तिमें रखना है उसका यह कर्तव्य है कि वह धनका परिमाण कर ले। अब परिमाण अपनी इच्छासे करे, चाहे अधिक करे चाहे कम, पर एक हद तो हो गई और उसमें करीब-करीब यह हिसाब भी रख लीजिए कि जैसे आजका गुजारा है। भाव है, उस स्थितिमें मेरा परिमाण है। देखिये आजसे ५० वर्ष पहले कौन जानता था कि ऐसी भी महंगाई हुआ करती है। दूध तो मुफ्त मिलता था, छांछ तो बेचा ही न जाता था। आजकल तो छांछ तक भी कहो ५० पैसे किलो मिले। तो आज भी चाहे ऐसी बात चित्तमें रखलो कि वर्तमान व्यवस्थाके अनुसार हमारा इतना परिमाण है, उसमें भी एक हद तो हो गई। तृष्णा उसके आगे न बढ़ेगी। तो पहला कर्तव्य है गृहस्थोंका कि वे परिग्रहका परिमाण करें, फिर उसके आगे उनका सबकुछ बढ़ता चला जायगा।

धर्माचरणका आधार अहिंसा व अहिंसाके पालनके लिए अपरिग्रहताका आदर—भैया, जानलो कि जगतमें जितने जीव हैं उन सब जीवोंका मेरे ही समान स्वरूप है, मेरेसे कोई कम नहीं है। जिस बातसे मुझे दुःख होता है उस बातसे दूसरोंको भी दुःख होता है। मेरेको जगतमें ऐसा क्या काम अटका है कि जो मेरे द्वारा दूसरोंको दुःख हो। यह भाव रहता है तो वह हिंसाका त्याग करता है, मायने अहिंसाका पालन करता है। तो अब जितना भी चारित्र है उस सबका आधार है अहिंसा। परिग्रहका परिमाण भी बताया तो उसका भी आधार है अहिंसा। और तृष्णामें दूसरेकी भी हिंसा हो सकती।

और खुदकी हिंसा तो हो ही रही है। एक बार कोई दूसरा जीव आपके द्वारा मर जाय तो चाहे उसमें हिंसा न हो, आपको हिंसाका पाप न लगे। यह भी सम्भव है मगर परिग्रहके लगावमें मूर्छाके होने पर तो निरन्तर हिंसा हो रही है। किसकी? आपके भगवान आत्माकी। अच्छा यह कैसे सम्भव है कि किसी जीवका प्राण चला जाय और हिंसा न हो? तो देखो कोई मुनिराज ईर्यासमितिसे चल रहे हों और फिर भी अचानक कोई कुन्थु जीव उनके पैरके नीचे आकर मर जाय, उन्हें पता ही न पड़े, तो उन्हें हिंसाका दोष नहीं लगता। क्योंकि उनके आशयमें जीव हिंसाका परिणाम नहीं हैं। तो एक बार यह तो सम्भव हो सकता भावपूर्वक हिंसा भी सम्भव नहीं है, हिंसाका उनके भाव नहीं है, प्रमाद नहीं है, सावधानी है और कदाचित हो तो एक बार वहां हिंसा न लगे यह तो सम्भव है मगर मूर्छामें, परिग्रहमें, लालसामें, तृष्णामें निरन्तर हिंसा हो रही है। किसकी? उस आत्मा भगवानकी। जितने भी चारित्र हैं वे सब अहिंसाके आधार पर हैं।

सद्गृहस्थकी अन्तश्चर्याका एक साधारण परिचय—चारित्रमें जब पड़ता है गृहस्थ तो जो बहुत बहुत सोचता है कि हमको यह खाना है। इस तरहसे रसोई बनाना है, तो इसका आधार क्या है? अहिंसा। अब जो यह बढ़ा रखा है कि धोती अगर किवाड़में लग गई तो वह अछूत हो गई यह तो है एक तरहका ऊधम। अरे शुद्धि तो साधरणतया होनी चाहिए मगर उसही का एक विस्तार बना लिया जाय और एक सीमासे अधिक तो वह तो कोई पद्धति नहीं है, मगर किसी जीवका जरा भी घात हो, हिंसा हो तो वह पद्धति ठीक नहीं है जैन शासनमें। आहारशुद्धि हिंसारहित होनी चाहिए, तब इस आधारपर प्रतिमायें बनीं। इसकी पहली प्रतिमा है, इसके मायने है कि उसके भाव देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिके रहते हैं। सर्व जीवोंके प्रति मित्रता रहती है, किसी जीवको दुःख न हो, यह साहब पहली प्रतिमा वाले हैं, ऐसा कहनेसे क्या परिचय मिला कि इनके चित्तमें देव, शास्त्र गुरुके प्रति बहुत भक्ति है। ये किसी भी जीवको दुःख उत्पन्न होना नहीं चाहते, यह है उसका परिचय पहली प्रतिमा वालेका। ये गुणोंको, गुणियोंको, ज्ञानियोंको, तपस्वीजनोंको देखकर ऐसा खुश रहा करते हैं जैसे कोई गृहस्थ घरके बाल बच्चोंको देखकर खुश रहता है। यह हम आपको किसका परिचय दे रहे हैं? पहली प्रतिमा वालेका। और किसी दूसरे दुःखी जीवको देखकर इनका हृदय भर जाता है और ये ऊट पटांग, ऊल जलूल अटपट बातोंमें अपना उपयोग नहीं दिया करते हैं। यह है परिचय पहली प्रतिमा वालेका, पर यह परिचय कौन पाता है? परिचय यह जाना जाता कि इसकी पहली प्रतिमा है और यह ऐसा खाते हैं, ऐसा शुद्ध आहार बनाते हैं। यह परिचय तो चलेगा कहने सुननेमें पर आन्तरिक परिचयकी बात कोई नहीं कहता। तो जिसका भीतरी भाव विशुद्ध है उससे ही हिंसाका परिहार बनता है।

चैतन्यस्वरूपकी सुध होनेपर सही वृत्तिकी शक्यता—केवल कोई कहे कि मेरी अमुक प्रतिमा है। मुझे यों खाना, यों करना और इसमें किसीने बाधा दी तो झट उसका हाथ पकड़कर झकझोर देना, धक्का दे देना, ऐसी अगर उसकी वृत्ति है, क्या सूझता नहीं है, मैं शुद्ध होकर खाना बना रहा या मैं शुद्ध-शुद्ध धोती पहिनकर पूजाको जा रहा हूं, तूने क्यों छू लिया, क्या तू अंधा है, ऐसा व्यवहार अगर कोई करने लगे तो समझो कि उसको पर्यायबुद्धि है, उसका आत्मा गंदा है। मानलो छू लिया, अशुद्ध

हो गए तो प्रतिबिम्बको नहीं छू सकते, हो सके तो दुबारा शुद्धि कर लो, न हो सके तो बैठे बैठे प्रभुका स्मरण कर लो पर भीतरमें कषाय जगना यह तो अपने आपको गंदा बना लेना है। किसका नाम धर्म है, किस धर्मका पालन किया जाना है। यह बात जब तक आत्माके चैतन्यस्वभावकी सुध न होगी तब तक चित्तमें नहीं रह सकती। प्रतिमावोंका वर्णन इस ग्रन्थमें खुद आयगा, पर सामान्यतया यह जानना कि जैसे-जैसे प्रतिमा बढ़ती है वैसे ही वैसे अहिंसा बढ़ रही। हिंसा घट रही है, किसकी? अपनी भी और परकी भी। अन्दरमें कषाय जगे तो समझो कि नियमसे हिंसा हुई। दूसरे जीवोंको पीटनेसे मारनेसे सामान्य पाप लगा, क्योंकि भीतरमें कषाय जगी। यों ही पीठ पर हाथ मारनेके कारण हिंसाका पाप नहीं लगा किन्तु भीतरमें कोई कषायभाव जगा जिसके कारण यह प्रवृत्ति हुई, उस कषायसे हिंसा लगी। तब ही जैन शासनमें अहिंसाका स्वरूप बताया है रागादिक भावोंका उत्पन्न न होना अहिंसा है और रागादिक भावोंका होना हिंसा है। अब चारित्रमें बढ़ रहा वह गृहस्थ, भोगोपभोगके साधन और भी कम कर दिया। तब ही यह अष्टमी चतुर्दशीको बिल्कुल ही त्याग कर देता, मंदिरमें ही बैठकर धर्मध्यान करता, उस दिन व्यापारका भी काम बंद रखता, यह सब उसके चारित्रमें है। और भी बढ़ा तो वह कमायी न करेगा, जो है उसीमें अपना गुजारा करेगा। और मानलो सब धन खतम हो गया तो परिग्रहका त्याग कर देगा। ऐसी उमंग होती है ज्ञानी पुरुषकी।

अज्ञानहठरहित दृढ़ सदाचारकी ज्ञानप्रकाशमें संभवता—अज्ञानीके चित्तमें यह रहता है कि यदि ऐसा कर लिया तो मेरा क्या हाल होगा? अगर ५० हजार हैं तो उसे बैंकमें जमा करा दूंगा, उसके ब्याजमात्रसे अपना गुजारा करूंगा, चाहे अकेला है। वृद्ध है पर वह जीते जी दान पुण्यके कार्यमें खर्च नहीं कर सकता। वह सोचता कि यदि इस पूंजीमें से कुछ खर्च कर दिया। तो इस तरहसे धीरे-धीरे सब धन खतम हो जायगा धन न रहने पर फिर मेरा क्या हाल होगा? ऐसा सोचता है अज्ञानी। पर ज्ञानी पुरुष करता है वह भी यह कार्य, पर उसके इस प्रकारका हठ नहीं रहता। वह तो जानता है कि ऐसा हो तो वह भी ठीक, जैसा हो वह भी ठीक। वह चारित्र पालते हुए भी चारित्रको हठके कारण नहीं करता किन्तु उसका चारित्र सहज पलता है। देखिये यह बड़े रहस्यकी बात कही जा रही है। यह बात झट समझमें न आयगी। जैसे मैं मुनि हूं। मुझे देख भालकर चलना चाहिए, मुझे जीव रक्षा करना ही चाहिए, यह तो मेरा काम है। ऐसा भीतरमें हठ पूर्वक अगर वह समितियोंका पालन करता है तो समझो कि वह साधु अभी चारित्रका रहस्य नहीं जानता। देखो सुननेमें ऐसा लगता होगा कि इसमें अपराध क्या? तो अपराध यह है कि उसके पर्यायमें आत्मबुद्धि है तब हठ बनी है। अगर आत्माके स्वरूपमें आत्मबुद्धि हो तो कार्य वही करेगा मगर सारा उपयोग इस ओर न रहेगा। उसका उपयोग रहेगा आत्मामें? और चारित्र यह बनेगा। तो एक तो वह कि जिसका उपयोग आत्मापर नहीं है, बाहरी क्रियाकाण्डों पर ही है उसका तो कहलायगा हठ पूर्वक चारित्र और जिसका आत्मस्वरूप पर ध्यान है और हो रहा वहीका वही उसका कहलायगा सहज भावसे चारित्र। तो इस तरह चारित्रका वर्णन चरणानुयोगमें चलता है।

ज्ञानीको ज्ञानीकी चर्या जाननेकी उमंग—सम्यग्ज्ञान चार प्रकारके शास्त्रोंको बताता है और

उनसे विदित होता है। प्रथमानुयोग जिसमें महापुरुषोंके चरित्रका वर्णन है। जिसको धर्मसे प्रेम है उसको धर्मात्मासे सर्वाधिक प्रेम होता है और उसकी तुलना करें कुटुम्बी और मित्रजनोंसे। कुटुम्बीजन मित्रजनोंमें उतना प्रेम नहीं है धर्म प्रेमीका जितना कि धर्मात्मासे प्रेम होता है। इसका कारण है कि वह कुटुम्बीजनोंको और मित्रोंको तो एक गुजारा कमेटी जानता है इससे अधिक उसका प्रयोजन नहीं है क्योंकि वे कुछ मददगार हैं क्या? हमारे दुःखमें, मरणमें, जन्ममें विकल्पमें सर्व जीव स्वतंत्र हैं, अपने-अपने कर्म लिए हुए हैं। उनके उदयानुसार उनको सुख दुःख होता है। कुछ सम्बंध नहीं है फिर भी घरमें रहना पड़ रहा है, क्योंकि इतनी सामर्थ्य नहीं कि सर्व परित्याग करके रह सकें। तो गुजारेके लिए साधन है खाली मगर धर्म और धर्मात्माजन ये अपने परमार्थके साधक हैं, सच्चे सहायक हैं। तो जीवका एक धर्म ही शरण है। धर्म क्या? अपने आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपमें यह मैं हूं, ऐसी दृष्टि होना अनुभव होना, यह है धर्म। कोई धर्म करके देखे तो सही, तत्काल शान्ति है। यह भी नहीं है कि उसका फल एक दिन बाद मिले। हां पुण्यका फल तो मिलेगा सैंकड़ों वर्ष बाद मगर धर्म जिस क्षण करे उसी क्षण उसका फल मिलता है। भ्रम हट गया, कल्पनामें विकल्प हट गए सत्य बात मिल गई। आनन्द हो गया, तो यह धर्मसाधन जिसने किया ऐसे महापुरुषोंका जो बड़े अनुरागसे चरित्र सुनता है उसका पापरस खतम होता है पुण्यरस बढ़ता है। धर्मका रास्ता मिलता है।

करणानुयोग और चरणानुयोगके अनुसार चर्यामें ज्ञानीकी उमंग—दूसरा अनुयोग बताया करणानुयोगमें लोककी रचनाका चित्रण बताया गया है। जिसने सारे लोककी रचनाका ज्ञान किया उसको पाये हुए थोड़ेसे क्षेत्रमें ममत्व नहीं रहता। कालका परिचय कितना अनादि अनन्तकाल है कोई समयकी आदि है क्या? कोई बता सकता है क्या कि इस दिनसे समय शुरू हुआ? अनादि अनन्त और उस कालमें होने वाली बात। इसका जिन्हें परिचय है उनको इस १०-२०-५० वर्षके समागममें मोह नहीं रहता। जिसने गतियोंके परिभ्रमणका परिचय पाया है, कैसे कैसे जीव किन-किन गतियोंमें घूमते रहते हैं। वह अपने भाव निर्मल रखेगा और खोटे भावोंमें उसका चित्त नहीं रमता। तीसरा अनुयोग है चरणानुयोग। इसमें गृहस्थ और मुनियोंके चारित्रका वर्णन है। कैसे इनका निर्दोष आचरण बने, कैसे उत्पन्न हों और वे दिन प्रतिदिन कैसे बढ़ते चले जायें, कैसी भावना रखें, कैसी दृष्टि रखें। कैसे मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करें जिससे अङ्गीकार किया हुआ चारित्र शुद्ध हो। बढ़ता चला जाय, जिसका वर्णन चरणानुयोगमें मिलेगा। और जो चारित्र धारण किया है उसकी रक्षा कैसे हो, कैसे निभायें, यह सब वर्णन चरणानुयोगमें है। मूल बात एक है, जिसको अपने आपके सत्त्वका, सहज स्वरूपका अनुभव बना—मैं यह हूं ज्ञानमात्र, ज्ञानघन, आनन्दमय, जिसको यह परिचयमें आया कि ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, इस पुरुषार्थके करनेसे अर्थात् जैसे ज्ञानमें दुनिया भरकी चीजें आ रही हैं ये न आयें, यह ही ज्ञानस्वरूप आये तो ज्ञान ज्ञानको जान रहा है। हमें और कुछ नहीं जानना, इस ही ज्ञानको जानना है। सो ज्ञानमें जब ज्ञानका स्वरूप आता है और उस वक्त जो सहज आनन्द प्राप्त होता है यह कला जिसने पायी उसके लिए सब सुगम है। कैसे बोलना, कैसे उठना, कैसा व्यवहार करना उसके लिए सब सुगम और सही बनता है। तो चारित्रकी उत्पत्ति, चारित्रकी वृद्धि, चारित्रकी रक्षाके साधनोंका उपायोंका

चरणानुयोगमें वर्णन है। यह रत्नकरण्ड मुख्यतया श्रावकोंके लिए रचा है समन्तभद्राचार्यने करुणा करके। फिर भी जब चारित्रका कोई वर्णन करे तो सबसे पहले मुनिका चारित्र एक दो मिनटमें कह देना ही चाहिए। अधिक अगर न कह सके, प्रसंग अगर श्रावकोंका है तो थोड़ा कह दें ताकि यह दृष्टि रहे कि श्रावकका जो चारित्र है वह पूर्ण नहीं है। संतोषके लायक नहीं है, किन्तु सर्व परित्याग करके केवल आत्मामें ही रमण हो वह चारित्र है वास्तवमें। तो इस ग्रन्थमें मुनिके चारित्रके सम्बंधमें संकेत दे देकर श्रावकोंके चारित्रका वर्णन किया जायगा। अब द्रव्यानुयोगका स्वरूप कहते हैं।

जीवाजीवसुतत्त्वे, पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः, श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ ४६ ॥

द्रव्यानुयोग में द्रव्योंके स्वतंत्र अस्तित्त्वका मुख्यपरिचयन—द्रव्यानुयोग नामका दीपक जीव अजीव तत्त्वका सही रूप दिखाता है, बंध मोक्ष इसका सही वर्णन करता है और भाव श्रुतज्ञानरूप प्रकाशको प्रकट करता है। द्रव्यानुयोगमें वस्तुका सही स्वरूप बताया गया है। जब आप एक-एक वस्तुको जान पायेंगे कि एक वस्तु इतनी होती है तब आपका सबका सही स्वरूप समझ पायेंगे। क्योंकि काम समूह करता है या एक करता है? एक-एक करता है तो उसका भी नाम धर दिया कि समूह काम करता है तो फिर अर्थक्रिया कहांसे निकली? समुदायमें से निकली। एक-एकमें से क्रिया नहीं निकली। तो सारे जगतका अगर स्वरूप जानना है तो केवल एक पदार्थका ही जानना होगा। एक पदार्थ कितना होता है? उतना जिसका कि दूसरा टुकड़ा न हो सके। एकका दूसरा टुकड़ा नहीं हो सकता। आधा, पौना, पाव कोई वस्तु नहीं है। फिर आप कहेंगे कि कहते तो सब हैं यह आधा है, यह पौना है, यह पाव है। तो भाई उन कहने वालोंके दिमागमें समूह है और उस समूहमेंसे आधा कहते हैं। एकका आधा नहीं कह सकते। जैसे १०० पैसेका रुपया है तो कहते हैं कि आधा रुपया याने वे कहते हैं कि १०० पैसेके आधे। तो वहां एकका आधा नहीं किया, जो १०० पैसेका समूह है उसका आधा किया। एकका आधा न किया जा सकता है न किया जा सकेगा। चित्तमें जो समूह बसाया है उसका आधा बताया करते हैं। एक परमाणु है उसका आधा परमाणु भी हो सकता है क्या? उसका आधा जीव हो सकता है क्या? जो एक है उसका आधा नहीं हुआ करता। और एककी पहिचान यह है कि जो परिमणन हो वह जितने पूरेमें होना ही पड़े उसे एक कहते हैं। क्रोध हो तो पूरे आत्मामें, दुःख हो तो पूरे आत्मामें। कहीं यह नहीं है कि आधे आत्मामें सुख हो रहा है और आधेमें दुःख हो रहा है। अव्वल तो आधा है नहीं आत्माका, मगर प्रदेश विस्तारसे आधा कह रहे हैं। ऐसे एक-एक द्रव्य एक-एक जीव स्वतंत्र सत् है।

विकारी जीवके साथ कर्मबन्धनकी सिद्धि व कर्मकी पौद्लिकता—देखिये जितने नये-नये काम होते हैं। जितने विषम काम होते हैं—विषमका अर्थ है कभी कुछ कभी कुछ। ये विषमकाम उस एक द्रव्यमें क्या अपने आप होते हैं? हो सकता है क्या? किसी भी एक पदार्थमें अपने आप अपने ही कारणसे भिन्न-भिन्न कार्य नहीं हो सकते, यह पक्का नियम है। तो मुझ जीवमें कभी क्रोध, कभी

मान, कभी माया, कभी सुख, कभी दुःख, आप परखलो विषम काम हो रहे हैं कि नहीं। भगवानके विषम काम नहीं है। केवल ज्ञान, केवल ज्ञान, केवल ज्ञान वही अनन्तकाल तक चलेगा। यहाँ हम आपमें कितना विषम काम होते हैं रागद्वेष विकार। तो जो विकारभाव होते हैं वे तब हो पाते हैं जब उस पदार्थके साथ कोई दूसरा पदार्थ भी लगा हुआ हो। कोई पदार्थ अगर विकार कर रहा है, उल्टा चल रहा है तो नियमसे उसके साथ उपाधि लगी है तब यह उल्टा चल रहा। कोई उपाधि न लगी हो और जीवके भाव नाना प्रकारके चलते जायें यह कभी नहीं हो सकता। वैज्ञानिकोंसे पूछो, युक्तिसे पूछो, अनुमानसे पूछो, अगर किसी पदार्थमें नाना तरहके विकार जग रहे हैं समझना उसके साथ कोई दूसरी वस्तु उपाधि लगी है अन्यथा विकार नहीं हो सकता। पानी गरम हुआ है तो नियमसे उसको कोई दूसरा विरुद्ध संग मिला है तब गरम हुआ। तो अपनी बात सोचिये कि मुझमें विकार होते या नहीं होते। रागद्वेष चल रहे ना, विकार, विचार, विकल्प, चिन्ता ये सब चल रहे ना? तो यह निश्चित है कि मेरे साथ कोई दूसरी उपाधि लगी है। उस उपाधिका नाम जैन शासनमें कर्म रखा गया है। अब नाम कुछ भी रख लो भाग्य, तकदीर आदि। कर्मके बारेमें अनेक लोग बात तो करते हैं पर वह कोई वस्तु है क्या? ऐसा नहीं दिखा पाते, केवल एक अंदाजा सा, कल्पना सी करते कि कोई एक रेखा होती है। कर्म क्या चीज है? तो मुखसे प्रायः सब लोग बोल जाते कर्म-कर्म, पर वह कर्म क्या वस्तु है, यह बात जैन शासनमें कही गई है। अत्यन्त सूक्ष्म मैटर, धूल पुद्गल जीवके साथ लगे हैं और वे लग कैसे जाते हैं? तो जो वे बारीक पुद्गल हैं धूल कर्मरज, इन दिखने वाले पुद्गलोंकी तरह पुद्गल हैं, जिसे हम कर्म कहते हैं, वे हैं सूक्ष्म और उनका कर्मत्वपरिणतिसे पहलेका सही नाम है कार्माणवर्गणा। वर्गणा कहते हैं परमाणुवोंके संगको। तो कार्माणजातिकी जो वर्गणायें लगी हैं जीवके साथ वे सब जगह ठसाठस भरी हैं। तो जीवके जब राग हो, विकार हो तो वे कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं और जीवके साथ बंध जाती हैं। कर्म वास्तविक वस्तु है, पौद्गलिक है, सूक्ष्म है। अगर कर्म साथ न होता तो जीवमें नाना विकार कैसे जगते?

जीवके विकारका निमित्त अन्वयव्यतिरेकी कर्मविपाक—आप कहेंगे कि विकार यों जगते हैं कि दुनियामें ये पदार्थ बहुत दिखते हैं तो जिस पदार्थका ख्याल होता है, जैसा निमित्त योग होता है, जैसा आश्रय मिलता है वैसे भाव बन जाते हैं। इसलिए तो प्रश्न है कि आपका उपयोग क्यों वहां गया? क्यों आपका वह आश्रय बना? तो आपका उपयोग बाहरी पदार्थोंमें जाता है यह तो फल है कार्य है मगर एक प्रेरणा मिली, एक क्षोभ हुआ, गड़बड़ाना हुआ उसका मूल निमित्त है कर्मका उदय। ये आसानीसे ज्ञानमें नहीं आ पाते, किन्तु उसकी घटना इस तरह है कि जैसा सिनेमामें पर्दे के सामने फिल्म चलाने वाला बैठता है फिल्म चलती है। जैसा फिल्म चलाता है वैसा ही चित्रण पर्दे पर आ जाता है, ऐसे ही जिस-जिस ढंका कर्म फिल्म चलता है। कर्मका उदय होता है वह चित्रण इस उपयोगमें ज्ञानमें आ जाता है और उस चित्रणके आते ही आत्मा धधकता है। बहकता है, अपनेको भूल जाता है और उस चित्रणको ही आत्मा मानने लगता है इसीको कहते हैं मिथ्यात्व और भ्रम। जहां अन्दरमें उस कर्मके चित्रणको माना कि यह मैं हूं तो उसकी सारी प्रक्रिया फिर बदल जाती है। विषयोंमें आसक्ति,

इष्ट अनिष्ट बुद्धि ये सब बातें आ जाती है। तो एक अनुमान प्रमाणसे निश्चित कर लीजिए कि मुझमें जब क्रोध, मान, माया, लोभादिक भिन्न-भिन्न तरहके विकार होते हैं तो विकारमें तो किसीको शक नहीं। सब जानते हैं कि मुझमें कषायोंके विकार चल रहे हैं। तो जब ये विकार मुझमें चल रहे हैं तो यह निर्णय करें कि इस जीवके साथ कोई दूसरी उपाधि लगी है तब यह विकार जग रहा। जैसे अग्निका संयोग पाकर पानी गरम हुआ, रोटी सिकी, तो कोई उपाधि साथ है। ऐसे ही मेरेमें जब विकार चल रहे हैं तो कोई उपाधि साथ है और उसी उपाधिका नाम है कर्म। यह नहीं कि हमारा ज्ञान पुत्र मित्र आदिकमें गया इसलिए राग हुआ। पुत्र मित्र आदिकमें राग क्यों गया इसका भी तो कारण बतलावो। बस इसका कारण है कि चूंकि जीव है अमूर्त, तो उसके साथ कोई सूक्ष्म उपाधि लगी है जिसका उदय होनेपर यह नाटक हो रहा है।

कर्ममें प्रकृति स्थिति प्रदेश व अनुभागके विभागका एक दृष्टान्त—वे कर्म क्या हैं, कितने हैं, कितनी स्थिति है, उनमें क्या शक्ति है? उनका बहुत विस्तारके साथ वर्णन जैन शासनमें पाया जाता है। जैसे भोजन किया, भोजन पेटमें गया। अब आप क्या करेंगे? जब तक थालीमें था तो आपने उसे तोड़ा, कौर बनाया, मुखमें डाला, चबाया, गुटक गए। अब आपका क्या वश उस भोजनमें जो पेटमें चला गया? उसे निकाल सकते क्या या उसे पेटके अन्दर अगल बगल कर सकते क्या? अब आपका काम खतम। अब अपने आप ही जठराग्निका निमित्त पाकर उस किए हुए भोजनमें (१) प्रकृति, (२) स्थिति, (३) पिण्ड और (४) शक्ति ये चार चीजें आ जाती हैं। प्रकृति कैसे आती कि अब भोजनका यह हिस्सा पसीना बनेगा, यह खून बनेगा, यह वीर्य बनेगा, यह हड्डी बन जायगा, यह मल बन जायगा, यह मूत्र बन जायगा, इस प्रकृतिको भीतरमें कौन करेगा? यह सब आटोमेटिक ढंगसे होगा। इसीको कहते निमित्त नैमित्तिक। अब जो इस ढंगकी जठराग्नि है, पाचन शक्ति है। जिस ढंगका देह है उसका फर्क होता है तो उस भोजनमें प्रकृति पड़ी है कि अमुक हिस्सा रस बनेगा। अमुक हिस्सा पसीना बनेगा, अमुक खून बनेगा ··· यह उसमें प्रकृति पड़ गई। स्थिति जो खून रूप बन जायगी वह १०-२० वर्ष रहेगी। जो हड्डी रूप बनेगी वह ४०-५० वर्ष रहेगी। जो पसीना रूप बनेगी वह दो चार घंटे रहेगी। जो मूत्र बनेगी वह ४-६ घंटे रहेगी। जो मल बनेगा वह १०-१२ घंटे रहेगा ··· यों उस भोजनके पिण्डमें जुदे-जुदे ढ़ंगकी जो स्थिति बनी उसमें आपने क्या किया? अब आपका क्या वश? बन रहा अपने आप, मगर उसमें जुदे-जुदे ढंगके विभाग पढ़ गए। और देखो यह ही बात कर्ममें पायी जाती। जो यहां हो रहा, जितना बड़ा पिण्ड होगा उसमें शक्ति न होगी, जितना छोटा पिण्ड होगा उसमें शक्ति अधिक होगी, यह भोजनकी बात कह रहे हैं। जैसे भोजनका हिस्सा वीर्य बना बहुत छोटा पिण्ड, मगर शक्ति सब धातुवोंसे अधिक है। खूनका हिस्सा अधिक बना मगर मलसे बहुत कम है। तो खूनमें वीर्यसे कर्म शक्ति है। मलसे अधिक शक्ति है और जो मल करते हैं उसमें पिण्ड तो होता बड़ा मगर ताकत कुछ नहीं। यह व्यवस्था किसने बनाया? सब ऑटोमेटिक ढंगसे यह व्यवस्था चल रही।

बंधते समय कर्माणवर्गणावोंमें प्रकृति स्थिति प्रदेश अनुभागका विभाजन—उक्त दृष्टान्तकी विधिकी तरह यह जीव कोई विकार परिणाम करता है तो इसने बस परिणामभर किया, इसके आगे

कुछ वश नहीं है। जैसे भोजन पेटमें गया अब आपका कुछ वश नहीं, ऐसे ही जीवने कषाय किया, बस अब आगे कुछ बात न करेगा यह। अपने आप ही इसके साथ लगी हुई कर्माण वर्गणायें कर्मरूप बन जायेंगी। और उनमें प्रकृति पड़ जायगी कि इतना हिस्सा इसके ज्ञानको रोकनेका निमित्त होगा, इतना हिस्सा इनका सम्यक्त्व रोकनेका कारण बनेगा। इतने कर्म इसके क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायोंके निमित्त बनेंगे। उन कर्मोंमें स्थिति बन गई कि ये कर्मपुञ्ज जीवके साथ हजार सागर रहेंगे, करोड़सागर रहेंगे। सागर होता है अनगिनते वर्षोंका। पिण्ड भी बन गया कि इतने सागर प्रमाण रहेगा और शक्ति भी बन गई कि इसमें इतनी डिग्री फल देनेकी शक्ति रहेगी। यह प्रकृति, स्थिति, पिण्ड और शक्ति ये सब ऑटोमेटिक ढंसे स्वयं निर्णीत हो जाते हैं। फिर जब इसकी स्थिति पड़ी हुई है तो ये कर्म निकलते हैं परिणामसे तो कर्मके निकलनेके समयका दृश्य बड़ा भयानक होता है। जैसे कोई दुष्ट मानो घरमें आ गया, आपने उसको ठहरनेको जगह दे दी। जब तक वह ठहरा है तब तक तो वह नरमाईसे ठहरेगा और नरमाईसे तो ठहरा मगर भीतरमें वह गुब्बारा भरता रहेगा। और जब वह भीतरसे निकलेगा तो ऐसी घटना बनाकर निकलेगा कि आप पछतायेंगे। ऐसे ही दुष्ट कर्म आत्माके साथ बंध गए तो जब तक आत्मामें रह रहे हैं तब तक उनसे तकलीफ नहीं है मगर जब वे आत्मासे बाहर निकलते हैं मायने उदय होता, सूर्यका उदय मायने सूर्यका निकलना कर्मका उदय होना मायने कर्मका निकलना। जिस समयये कर्म निकलते हैं तो इनमें अनुभाग फूटता है, विकृत रूप बनता है और उसका अक्स पड़ता है उस समय यह जीव घबरा जाता है। ऐसे इस जीवके साथ कर्म हैं और उनके उदयके अनुसार संसारमें समागम मिलते।

भावोंको सतत विशुद्ध रखनेकी आवश्यकताका कारण—अनेत्योग मिलनेका मूल निमित्त कारण है अपने कमाये हुए पुण्य पाप कर्मका उदय। इस कारण मनुष्योंको सदा सावधान रहना चाहिए। अपने भाव कभी खोटे न हों। किसी दूसरेके दान, लाभ भोग उपभोग वीर्यमें विघ्न न डालें, दूसरेकी ज्ञान साधनामें उमंग बनाये, सर्व जीवोंके प्रति सुखकी कामना करें, जितना बन सके दूसरोंके सुख शान्तिमें काम आये। किसीके दुःखी होनेकी हमारी भावना न हो, हमारे भाव निर्मल रहें तो अपनी रक्षा है। और हमारे भाव खोटे होंगे तो हमारी बरबादी है। कोई यह न सोचे कि मैं इस जगह एकान्तमें हूं तो जो चाहे मनमाने पाप करूं, कौन देखता है। जब कोई देख ही नही रहा तो निन्दा कहांसे होगी। ··· अरे ये कार्माण वर्गणामें तो आपके साथ लगी हैं, कैसे ही एकान्तमें आप गए, जैसा विकार हुआ। जैसा भाव हुआ उस प्रकारके कर्मरूप बन जायगा। कठिन प्रसंग तो यह ही है जीवके साथ। तो इन सब विडम्बनाओंको दूर करनेका एकमात्र उपाय यह है कि आप आरामसे, समतासे, धीरतासे अपने आपके स्वरूपमें ज्ञानले जायें और जानें स्वरूपको कि यह मैं अमूर्त रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित ज्ञानस्वरूप परमात्म पदार्थ हूं। मैं स्वयं सहज यह हूं, इसमें कष्टका नाम नहीं। हमारे स्वरूपमें परका प्रवेश नहीं, हमारा स्वरूप अधूरा नहीं, यह मैं आत्मतत्त्व हूं। आप सब लोग मंगलतंत्रमें तीन बातें पढ़ते हैं—मैं ज्ञानमात्र हूं। मेरे स्वरूपमें अन्यका प्रवेश नहीं। अतः निर्भार हूं आदि तो उनमें बड़ा रहस्य भरा है। और अपने अन्तः स्वरूपका दर्शन इसके मननके द्वारा होता है। अपने सहज स्वरूपको मान जायें कि मैं यह हूं फिर कष्टका कोई काम नहीं रहता।

रत्नकरण्ड प्रवचन द्वितीय भाग

मोहतिमिरापहरणे, दर्शनलाभादवाप्तसञ्ज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै, चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥ ४७॥

चारित्रपालनका अधिकारी—मोहरूपी अंधकारके नष्ट होनेपर सम्यग्दर्शनका लाभ होनेसे जिसने सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया है ऐसा साधु रागद्वेषकी निवृत्तिके लिए सम्यक्चारित्रको धारण करता है। इस छंदमें कितनी ही बातोंका तथ्य बताया गया है। चारित्रको साधु प्राप्त करता है, साधुता बिना, निरारम्भ निष्परिग्रह हुए बिना, अपने आपके स्वरूपका परिचय पाये बिना चारित्र नहीं पाया जा सकता। गृहस्थावस्थामें जो कुछ पाया जाता है धर्म, जो कुछ किया जाता है व्यावहारिक कर्म, आवश्यक बातें, उनका कितना असर है। बस जब कर रहे तब थोड़ा ध्यान है, बादमें उससे भी उल्टे चलने लगे, इसे कहते हैं गजस्नान। जैसे हाथी तालाबमें खूब नहाये सूंढमें पानी भर-भरकर पीठमें खूब डाले और बाहर आने पर अपनी आदतके अनुसार सूंढमें धूल भर-भरकर अपनी पीठमें डाले। ऐसे ही गृहस्थ किसी किसी प्रसंगमें धार्मिक कार्य करता है—मंदिर आया, स्वाध्याय किया, सत्संगमें बैठे, गुरुभक्ति की, अनेक कार्य किया और कुछ ही देर बाद चूँकि गृहस्थीका प्रसंग ही ऐसा है कि आजीविका बिना कार्य चल नही सकता है। सो अन्य बातें उपयोगमें चित्रित होने लगती हैं। तो चारित्र पालनका अधिकार साधुओंको है क्योंकि वे आत्मज्ञानी हैं। आरम्भ परिग्रहसे अत्यन्त दूर हैं। अच्छा तो साधुजन किसलिए चारित्र पालते हैं? रागद्वेषके बिल्कुल हटानेके लिए। यहां एक बात जानना कि चारित्र नाम है आत्माके स्वभावमें अपने उपयोगको रमाना यह कहलाता है चारित्र, जो कर्मोंके क्षयका हेतुभूत है। इसकी पात्रता आती है उनके, जिनके व्यवहार चारित्र होता है। गुप्ति समितिकी योग्य क्रियाओंसे आवश्यक कार्य करना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित आदिक जो व्यवहार चारित्र हैं उनके पालनहार इस निश्चय चारित्रका अधिकारी हो पाता है।

चारित्रपालनका प्रयोजन—चारित्र किसलिए है कि रागद्वेष बिल्कुल हट जायें। रागद्वेष क्यों हटावें कि रागद्वेष ही दुःख है, संसार है, कष्ट है। रागसे कष्ट होता है यह बात तो दूर की है, पर राग ही स्वयं कष्टरूप है। द्वेष करनेसे कष्ट होता है, यह बात तो दूरकी है पर द्वेष परिणाम होते ही तत्काल कष्टका अनुभव होता है क्योंकि रागद्वेष परिणाम अपने स्वभावसे विपरीत हैं। बाहरमें उपयोग बुलाने वाले हैं। सो जैसे मछली जलसे अलग हो जाय तो जैसे स्वयं ही तड़फती है उसे कोई तड़फाने वाला नहीं है ऐसे ही चूंकि वह अपने स्थानसे भ्रष्ट हो गया तो यह स्वयं ही तड़फता है, कष्टरूप होता है। तो चूँकि रागद्वेष ही संकट है सो उसकी निवृत्तिके लिए साधुजन चारित्र प्राप्त करते हैं। जिसके अन्दरमें यह निर्णय बन गया कि मुझे जगतके इन पौद्गलिक और मायामय संगोंसे कुछ प्रयोजन नहीं है।

मेरेको तो अपने आपके स्वरूपमें उपयोग चाहिए। बस मैं केवल अपने स्वरूपको ही निरखूँ, उस ही में अपना अनुभव करूं कि मैं यह हूं और जो वस्तु स्वभावसे हो रहा है, होता ही है उत्पाद निरन्तर, सो हो, मुझे अन्य कुछ बाधा नहीं है, पर जिनका वास्तवमें वस्तु स्वरूपका सही निर्णय हो गया तो उनको भीतरमें आकुलता नहीं है। आकुलता होती है बनावटसे, आनन्द होता है सहज। आनन्द होनेमें किसी बाह्य पदार्थकी अपेक्षा नहीं होती। अपेक्षा हो तो आनंद नहीं रहता, किन्तु सुख और दुःख पाने में बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा है। इन्द्रिय विषयोंसे सुख माना जाता है, उसका आश्रय है, उसका विकल्प है, परापेक्ष है। किसी प्रकारका कष्ट बनता है तो उसमें किसी परका आलम्बन है। किसी परका ख्याल करके ही तो यह दुःखी हो रहा है। परापेक्ष भाव सब कष्टरूप है। पर वास्तविक आत्मीय आनन्द यह केवल आत्माके आश्रयसे होता है। परका ध्यान आ जाय तो सहज आनन्द नहीं रह सकता, स्वलीनतामें आनन्दमय होना यह है चारित्रकी स्थिति। सम्यग्दर्शनसे तो जान लिया कि आनन्दका धाम यह आत्मा है और अनुभव करके पहचान लिया कि बाहरके किसी पदार्थमें आनन्द नहीं है और उनका लगाव व्यर्थ है। सब बाह्य पदार्थ विनश्वर हैं, नष्ट हो जायेंगे। सर्व बाह्यपदार्थ मुझसे अत्यन्त जुदे हैं, उनसे मुझमें आता क्या है? बाह्यपदार्थोंपर उपयोग किया तो चूँकि यह उपयोग अपनी जगहसे हट गया उपयोग मुखेन तो स्वस्थान भ्रष्ट होनेसे यह आकुलित होता ही है, इस कारण किसी भी पर और परभावसे मेरेको लगाव नहीं रखना है। ऐसा जिसका निर्णय हुआ है उसका यह ध्येय बन जाता है कि रागद्वेषको मूलसे हटाना ही है, इस ही में मेरा लाभ है। ऐसा जानकर पुरुष आरम्भ परिग्रहसे रहित होकर चारित्रको धारण करता है, जिसके ऐसा सम्यग्ज्ञान नहीं जगा वह चारित्र कैसे पा लेगा? बाह्य क्रियाकाण्ड उस ही के लिए मददगार है, सहायक है पात्र बनानेके लिए जिसने अपने सहज आत्मस्वरूपका अनुभव पाया कि मैं यह हूं अमूर्त ज्ञानमात्र बस इन दो विशेषणोंसे अपने आपका पौरुष बनायें स्वमें लीन होनेका।

आत्माके बन्धनका रूप व बन्धन मुक्तिका सुगम उपाय—यह आत्मा शरीरसे बंधता नहीं, कर्मसे बँधता नहीं पर निमित्त नैमित्तिक बंधन है। एक बंधना होता है ऐसा जैसा कि रस्सीसे रस्सी बांध ली। एक होता है कि जैसे गायको बांध दिया। कोई भी मनुष्य एक हाथमें गायका गला पकड़कर और दूसरे हाथमें रस्सी पकड़कर गलेसे रस्सी नहीं बांधता। बांध ही नहीं सकता, और कोई मान लो पहलवान हो, जोर लगाकर बांधना चाहे तो गाय जिन्दा नहीं रह सकती, मर जायगी। तो गायके गलेसे रस्सी कोई नहीं बांधता, रस्सीके एक छोरसे दूसरा छोर बांधता है। गाय निमित्त नैमित्तिक बंधनसे बंध जाती है। कहीं जा नहीं सकती, ऐसे ही शरीरसे शरीर बंधा, कर्मसे कर्म बंधा, यों डायरेक्ट नहीं बंध सकता कि इस अमूर्त आत्माको शरीरसे कर्मसे बांध दिया जाय। पर निमित्त नैमित्तिक बन्धन भी बड़ा विचित्र बन्धन है। वह इस तरहसे बांधेकी ही तरह है। जैसे किसी गायके एक दो दिन पहले ही बछड़ा हुआ है और उस गायको कहीं बाहरले जाना है तो लोग उस गायको रस्सीसे बांधकर नहीं ले जाते, उसके बछड़ेको गोदमें लेकर आगे आगे चलते जाते हैं। और गाय पीछे पीछे चलती जाती है। उस गायको किसी चीजसे बांधा नहीं फिर भी उसके आश्रय वाला बंधन ऐसा विकट है कि जहां बछड़ेको ले जावेगा वहां गाय अपने आप चली जायगी। तो निमित्त नैमित्तिक बंधन भी विकट बंधन होता है

फिर भी ऐसी स्थितिमें ज्ञानी संतजन केवल आत्माके सहज अमूर्त ज्ञानमात्र स्वरूपको निरखते हैं और इस निरखनेके अभ्याससे आटोमेटिक स्वयं ही निमित्त नैमित्तिक योगवश कर्म झड़ते हैं, और जो शेष राग रहा शुभ राग, उसका निमित्त पाकर पुण्यरस बढ़ता है, यह स्थिति स्वयं होने लगती है।

अपने भावोंकी निर्मलतापर अपना पवित्र होनहार—जीवका अधिकार भाव करने पर है। सर्व कुछ बात जीवके भावोंपर निर्भर है। लौकिक आनन्द जीवके भावोंपर निर्भर है। मोक्षका आनन्द जीवके भावोंपर निर्भर है। जिसको शरीर निरोग मिला, रूपवान मिला, आकर्षक मिला अथवा जिसको वाणी मनमोहक मिली, जिसका आज मन बड़ा पवित्र बना, जो सबका भला चाहता। दीन दुःखियों पर दया करता, ये सब बातें जो मिली हैं ये पूर्वमें जो शुभ भाव किए उसके प्रतापसे मिले हैं। धन भी खूब आये यह बात भी आत्माके भावोंपर निर्भर है, पर वर्तमान भाव पर नहीं। किन्तु पूर्वभाव शुभ किया था, जिनका निमित्त पाकर पुण्यबंध होता। आज उस उदय कालमें इष्ट समागम मिला। तो देखिये सर्वकुछ बात अपने भावोंपर निर्भर है। अतः भाव विशुद्ध होने चाहिए। सबकी भलाईकी हो, आत्मदृष्टि की हो। अपने आपको अकेला निरखिये, आपका कोई सहयोगी नहीं है, आपके परिणमनमें कोई योग दे सके, ऐसा न कभी हुआ, न कभी हो सकेगा। आप अकेले ही परिणमते हैं, अकेले ही अवस्था बनाते हैं इसलिए खुद खुदके ही जिम्मेदार हैं। ऐसा विश्वास रखना है। अपना कर्तव्य देखिये। जिस जीवने सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया है ऐसा साधु रागद्वेषके हटानेके लिए चारित्रको धारण करता है।

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानकी निष्पत्ति—सम्यक्त्वने मार्ग दिखाया, चारित्रने मार्गमें चला दिया, अब यह जीव अपने मंजिल पर पहुंच ही जायगा। मार्ग दिख जानेपर जितनी उमंग होती है भीतर चलनेके अभिमुख होते हैं। इतनी बात तो सम्यक्त्वाचरण हो ही गई है, किन्तु उसपर प्रयोग बने, यह सम्यक्चारित्रमें होता है जिसने सम्यग्ज्ञान पाया है वह साधु चारित्र पालता है। सम्यग्ज्ञान मिला कैसे? सम्यक्त्वके लाभसे। सम्यक्त्व कब पाया? सर्वसे निराले अमूर्त ज्ञानमात्र इस परमार्थ अंतस्तत्त्वकी दृष्टि रखकर इसके अभ्याससे जब ज्ञान इस ही ज्ञानमात्रको अनुभवने लगे, जानने लगे उस कालमें इसके सम्यक्त्व उत्पन्न होता। जिसके सम्यक्त्व उत्पन्न होता उसके सम्यक्त्वसे पहलेका ज्ञान झूठा न था, सही था फिर भी सम्यग्ज्ञान न था। जैसे जिसने जो देश नहीं देखा, मानो अमेरिका नहीं देखा। उसने पुस्तकोंसे पढ़कर, नक्शोंको देखकर, अमेरिका गए हुए पुरुषोंसे मुहजबानी सुनकर अमेरिकाका ज्ञान तो किया। वह ज्ञान सही है मगर अभी सम्यक् नहीं है, और वही पुरुष उस देशमें जाकर आंखों देखे वहांके नदी, पहाड़, महल, सड़कें आदि तो उसका वहां जो ज्ञान स्पष्ट बना है उसे मानलो लौकिक सम्यक्। जिसने श्रवण बेलगोल में बाहुबलिके दर्शन नहीं किया वह जान रहा सही सही पुस्तकोंसे पढ़कर या दर्शन कर चुकने वाले पुरुषोंसे सुनकर पर वही पुरुष जब वहां पहुंचकर साक्षात् रूपमें दर्शन करता है। सामने मूर्तिको निरखता है तो बताओ इन दोनों प्रकारके ज्ञानोंमें कुछ फर्क है कि नहीं? हां है फर्क। साक्षात् दर्शन करनेसे पूर्वका जो ज्ञानथा वह सही था पर अनुभवपूर्ण ज्ञान न था। सामने निरखनेसे बना अनुभवात्मक ज्ञान। अनुभवात्मक ज्ञानको ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं। अनुभवसे पहलेका ज्ञान सम्यक् नहीं है। जो पुरुष जीव अजीव आदिक तत्त्वोंका ज्ञान नहीं रखते। आत्माके स्वरूपकी

बात नहीं सुनते उन पुरुषोंके तो सम्यक्त्व दुर्लभ है, पर जिन्होंने ७ तत्त्वोंका ज्ञान किया, सही आत्माके स्वरूपकी बात समझी, जानी, उस ही सही ज्ञानके आधार पर तो आत्माकी उपासना करते हैं। उस उपासना को करते हुए में जिस समय ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, इसका परिचय बनता है वहां जगता है अपना अनुभवात्मक ज्ञान और ज्ञानानुभव होनेके बाद अब जो आत्माका ज्ञान है वह है सम्यग्ज्ञान। ज्ञानानुभवके साथ ही जो ज्ञान बना वह है सम्यग्ज्ञान। जैसे किसीने जो चीज नहीं खाया, मानो एक अनन्नास फल है जो बंगाल आसाम में अधिक होता, कभी कभी यहाँ भी बिकने आ जाता, तो जिसने उसको कभी नहीं खाया, उसे कोई कितना ही समझाये कि उसका ऐसा मीठा स्वाद होता है कितने ही उदाहरण दे देकर समझाये फिर भी उसको उस अनन्नास फलका सही-सही स्वाद अनुभवमें न आयगा। हां यदि वही फल उसे जरा सा चखा दिया जाय तो झट उसे उसका अनुभवपूर्ण ज्ञान हो जायगा। तो अनुभवसहित ज्ञानको ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यग्दर्शन जब उत्पन्न होता है तो वह अनुभव पूर्वक ही होता है। सम्यक्त्व हुए बाद फिर उसका अनुभव बहुत दिन तक न भी बने तो भी सम्यक्त्व रहता है प्रतीति रूपमें, पर अनुभव बिना सम्यग्दर्शन नहीं है।

निर्मोह स्थितिही सुखदाता—सम्यग्दर्शन प्राप्त कैसे होता है? मोहरूपी अंधकारके नष्ट होनेपर। जहां मोह बसा है वहां सम्यक्त्व नहीं है। मोह अज्ञान पड़ा है वहां सम्यक्त्वका क्या काम? मोह मिटाकर गृहस्थ धर्म रह सकता है। राग दूर करके घरमें न रह पायेंगे। मोह दूर करके घरमें रहने वाला गृहस्थ शानसे रहता है, गौरवसे रहता है। अनाकुल रहकर रहता है और मोही गृहस्थ घरमें व्याकुल होकर रहता है, अव्यवस्थित रहता है। तो मोह दूर करके घर रहनेमें आपका क्या बिगाड़ है? घर है आपका माना हुआ, वह कहीं जायगा नहीं। न भी मोह करें तो उसमें फर्क क्या पड़ता है। न किसी बच्चेको कोई तकलीफ होती, न किसीके बीचमें ही मृत्यु होती। आपके मोह न करनेसे नुकसान क्या होता है? आप भले प्रकार व्यवस्थित रहने लगें, अनाकुल रहने लगें, सद्गृहस्थ बनकर रहें, स्वयं किसीसे मोह न करें और परिजनोंको भी हितके मार्गमें लगायें, उन्हें समझायें कि देखो यहां किसीका कोई कुछ नहीं है, सर्व जीवोंकी सत्ता स्वतंत्र स्वतंत्र है। सर्वमें अपने भावोंके अनुसार कर्मबन्धन है, उसके अनुसार संसारके सुख दुःख प्राप्त होते हैं, सो ये भी न चाहिए। इन सब विकारोंसे हटकर अपने आपके सहज स्वरूपका मनन करनेमें कल्याण है। मोह न करो कोई किसीसे। ऐसा परिजनोंको समझायें तो देखिये कितना शुद्ध वातावरण होता है। शान्तिमय वातावरण होता है। सबको लाभ मिलेगा। पर मोह करनेसे, घबड़ानेसे, लगाव रखनेसे आकुलता, अव्यवस्था अशान्ति रहती, इस कारण तत्त्वज्ञान बढ़ायें जिससे मोहभाव न रहे। तो मोहरूपी अन्धकारके दूर होनेपर सम्यक्त्वका लाभ होता है। अच्छा तो मोह अन्धकार दूर हो इसके लिए क्या करना? जिसमें मोह रंच भी न रहा ऐसे वीतराग प्रभुके गुणोंका स्मरण करना। जिनके मोह नहीं है ऐसे गुरुजनोंका सत्संग करना, वीतराग सर्वज्ञ देव द्वारा प्रणीत आगमका अभ्यास करना, ये सब काम करने होते हैं।

देव शास्त्र गुरुकी आस्थाकी सम्यक्त्वोत्पादमें प्रयोजकता—यहां यहभी जानना है कि देव शास्त्र गुरुपर ही दृष्टि रखनेसे सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न होता। कोई ऐसा ही जानले कि ये भगवान ही मुझे सम्यक्त्व

देंगे, ये गुरु ही मुझे सम्यक्त्व देंगे, को यों सम्यक्त्व न मिलेगा, क्योंकि उसकी श्रद्धामें वह सम्यक्त्वका धाम सहज आत्मस्वरूप दृष्टिमें नहीं आया है तब फिर सम्यक्त्व कैसे मिलेगा? सारे विकल्प छूट कर जब यह सहज चैतन्य स्वरूपको ही ज्ञानमें लेगा तो सम्यक्त्व होगा, तो यहां कोई कहे कि जब अपने ही भगवान सहज आत्म स्वरूपकी दृष्टिके आश्रयसे सम्यक्त्व होता है तो फिर ये उपाय क्यों बताये जाते कि देव, शास्त्र, गुरुकी उपासना करो। सत्संग, स्वाध्याय, तत्त्वज्ञान, अध्ययन आदि इन उपायोंको क्यों बताया जाता है? तो भाई इन उपायोंको किये बिना वे शुभ भाव नहीं बन सकते हैं जिन शुभ भावोंके अनन्तर सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। अशुभ भावके बाद कभी भी सम्यक्त्व नहीं होता। एक भी दृष्टांत ऐसा नहीं है कि अशुभोपयोगके बाद ही सम्यक्त्व हुआ हो किसीको। जिन्हें कारण लब्धियाँ कहा करते, उनके पाये बिना सम्यक्त्व नहीं होता और ये उपलब्धियाँ शुभापयोगमें हैं। तो शुभोपयोगके ये सब साधन हैं। ये उपाय है, जानकर, समझकर और करनेका कर्तव्य क्या है कि जिससे सम्यक्त्व लाभ हो? आत्माके स्वरूपका ज्ञान करें, उसका मनन करें, उसका साधन है स्वाध्याय व अध्ययन और वीतराग सर्वज्ञ देवके गुणोंका स्मरण करना। आत्म स्वभावके इस स्वरूपको एक दृढ़ता पूर्वक समझिये, यही है जानबूझकर पौरुष करनेकी बात। फिर किसी क्षण बाल विकल्प छूटकर अपने आपमें अपना ज्ञानोपयोग आयेगा, रमेगा, सम्यक्त्व लाभ होगा। तो यह जो बाहरी भौतिक पौद्गलिक मायामय पदार्थ हैं इनको ही जो अपना हितकारी मानता है, सुखकारी मानता है। यह तो एक घोर अन्धकार है। सत्य परिचय रखिये और फिर गृहस्थीमें हैं तो उसके योग्य कार्य करिये। करना पड़ेगा मगर इसमें मेरा हित होगा, ऐसे मिथ्या आशयको निकालना होगा। मेरा हित ज्ञानानन्द निधान मेरे चैतन्य स्वरूपके आश्रयसे ही होगा, दूसरा कोई मेरा हित नहीं। तो ये सब बातें जिनके चित्तमें बसी हैं और इस ही आत्माकी धुन लगी है वे पुरुष इस आत्मतत्त्वके पानेके लिए सर्व कुछ त्याग कर देते हैं, निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु होते हैं और वे रागद्वेषकी निवृत्तिके लिए अपने आत्मस्वरूपमें रमनेका पौरुष करते हैं। इसीका नाम है सम्यक्चारित्र। जिसमें यह सम्यक्चारित्र संयम नहीं बन पाता वह गृहस्थ धर्ममें रहकर श्रावकके योग्य आचरण कर अपनी पात्रता बनाये रहता है।

रागद्वेष निवृत्तिहिंसादिनिवर्तना कृता भवति।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्॥ ४८॥

रागद्वेषादिकी निवृत्तिमें ही हिंसादिकी निवृत्ति—रत्नकरण्डका यह तीसरा अधिकार चल रहा है। इसमें सम्यक्चारित्र का वर्णन होगा। चारित्र क्या कहलाता है? हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोंसे निवृत्त हो जाना और अपने ज्ञान स्वभावमें उपयुक्त हो जाना वह सम्यक्चारित्र है। चारित्र एक है, निवृत्तिकी दृष्टिसे कथन है। एक प्रदेशकी दृष्टिसे कथन है। निवृत्तिकी ओरसे यह परिभाषा बनेगी। हिंसा आदिक ५ पापोंसे निवृत्त होना चाहिए। वृत्तिकी दृष्टिसे यह परिभाषा चलेगी कि आत्माके ज्ञानस्वभावमें उपयोगका स्थिर होना, लीन होना सम्यक्चारित्र है। इस छंदमें यह बतला रहे कि हिंसा आदिक ५ पापोंसे निवृत्त होना चाहिए। वृत्तिकी दृष्टिसे यह परिभाषा चलेगी कि आत्माके ज्ञानस्वभावमें

उपयोगका स्थिर होना, लीन होना सम्यक्चारित्र है, इस छंदमें यह बतला रहे कि हिंसा आदिक ५ पापोंकी निवृत्ति वहां हो जाती है जहां रागद्वेषकी निवृत्ति है। कोई भी जीव क्यों हिंसा करता है? रागद्वेषादिक विकार जगे हैं उनसे प्रेरित होकर हिंसा करता है। इसी प्रकार झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापोंकी भी यही बात है। क्यों करता है यह जीव पाप? भीतरमें रागद्वेष उठते हैं, उनकी पीड़ा नहीं सही जाती है और उस पीड़ाको शान्त होनेका उपाय यह जीव विषयोंमें प्रवृत्ति करना समझता है, विषयोंमें लगता है रागद्वेष न रहें तो फिर पापमें वह कैसे प्रवृत्ति करेगा? जैसे जिसको कोई अपेक्षा न हो वह राजाकी क्यों सेवा करेगा? राजाकी सेवामें अनेक अनर्थ हैं। हमेशा दिल सम्हालते रहनेसे राजा गुस्सा हो जाय तो अनर्थ और कैसे राजा प्रसन्न हो उस प्रकारकी चापलूसीकी बात सोच डालना, हर समयका डर। अनेक उसमें अनर्थ चलते हैं तो ऐसा एक अनर्थकी बात, कष्टकी बात कोई क्यों करता है कि उसके कोई रागद्वेष है। रागद्वेष आया है इसलिए जीव हिंसाकी चेष्टा करता है। रागद्वेष दूर हो गए तो फिर कोई क्या करेगा? ब्रह्म गुलाल एक ऋषि हुए हैं, जिनका कथानक यों है कि उनको भेष धारण करनेकी कला आती थी। कुछ विद्या भी थी कि जिसका भेष बनाया वही जंचे। राजा उसकी इस कलाको देखकर उनपर खूब प्रसन्न रहा करता था। जिसके कारण अन्य मंत्रीजन उनसे जलने लगे कि इसकी तो मेरेसे ज्यादा पूछ होने लगी। तो मंत्रियोंने सोचा कि ऐसा उपाय करें कि ब्रह्म गुलालसे छुटकारा ही हो जाय। क्या उपाय? राजासे यह कहा कि राजन आप ब्रह्मगुलालसे यह कहो कि सिंहका रूप रखकर दिखाये। कहा राजाने तो ब्रह्मगुलालने कहा—राजन् यह काम तो हम तब दिखा सकते जबकि हमसे मानो एक दो अपराध हो जायें तो माफ कर दिया जाय। राजाने कहा माफ। आखिर ब्रह्म गुलालने सिंहका रूप रखा, वहां राजाके लड़केने उस सिंहको कोई अपशब्द बोल दिया, मानो कुत्ता आया ऐसा बोला हो तो सिंहने पंजा मारकर उस लड़केको खत्म कर दिया। मंत्री लोग तो चाहते ही थे कि इस ब्रह्मगुलालसे कोई अपराध बन जाय और राजा इसको फांसी दे दे। हो सकता है कि इस उपायमें मंत्रियोंने राजाके पुत्रको पहलेसे ही सिखा दिया हो कि सिंहको देखकर तुम ऐसा बोल देना। पर राजा कैसे फांसी दे सके क्योंकि अपराध माफ कर चुका था। जब इस तरह भी मंत्रियोंकी चाल न चली तो एक उपाय उन्हें और सूझा।

राजासे कहा—राजन् इस बार ब्रह्म गुलालसे कहो कि वह मुनिका भेष धर कर दिखावे। कहा राजा ने, तो ब्रह्म गुलाल बोले—राजन् इस कामको करके तो दिखायेंगे पर अभी नहीं, छः महीनेकी मोहलत दीजिए उसकी तैयारीके लिए तब दिखायेंगे। ठीक है। अब छः माह तक ब्रह्मगुलालने खूब ध्यान मग्न तत्त्वचिंतन वैराग्य आदिसे पूरित अपना उपयोग कर लिया और छः माह बाद मुनि होकर राजदरबारके सामनेसे निकला। वहां राजाने बहुत-बहुत मिन्नतें की, अरे लौट आओ हमने तो सिर्फ दिल बहलानेके लिए भेष धरनेको कहा था, पर ब्रह्मगुलाल मुनि अब वापिस न हुए। मुनिभेष रखकर फिर बदला नहीं जा सकता। तो जब उसने ६ माह तैयारीकर ली कि मेरेमें कोई रागद्वेष न जगे, तो उनसे उनके पांचों पाप छूट गए। तो मुख्य बात है रागद्वेषकी निवृत्ति होना।

रागद्वेषादि भावसे सहजात्म प्रभुकी हिंसा—पांचों प्रकारके पाप रागद्वेषके वश होते हैं इस

कारण इनको पाप कहते हैं। किसी बाहरी द्रव्यचेष्टासे पाप नहीं लगता किन्तु उसका अनर्थ करनेका भाव है इसलिए उसे हिंसा लगती है। पाप जितने होते हैं वे भीतरके आशयसे होते हैं, बाहरी चेष्टाके कारण नहीं होते। तब कोई मानो कहे कि हम भीतरका आशय तो पवित्र बनाये रहेंगे और हमारे शरीरकी चेष्टा चलेगी, तो ऐसा नहीं होता। जैसे भीतरी भाग होता है उसके अनुसार चेष्टायें होती हैं। कोई अपवाद की चीज है ऐसी कि भाव भाव नहीं है और कोई चेष्टा या हिंसा हो जाय यह अपवादकी बात है, पर अक्सर यह होगा कि जैसी भीतरी हृदय होगा वैसी चेष्टायें बनेगी। वैसे वचन निकलेंगे, वैसी प्रवृत्ति होगी। तो मूल बात चारित्रकी यह है कि रागद्वेष दूर हो जाना। अच्छा जरा भीतर तो निहारो 'मेरेको दुःख पहुंचाने वाला कौन है' आप कहेंगे कि अमुक लोग, अमुक चीज, जड़का नाम बताया, किसी जीवका नाम बताया। तो यह तो निरखिये कि उस जड़से उस वस्तुसे दुःख निकलता है क्या? जो दुःख निकलकर मुझमें आया। किसी पदार्थसे दुःख नहीं होता, यह बिल्कुल निश्चित बात है—दुःख होता है आपकी विरुद्ध कल्पनासे। तो कितने ही दुःख हों, सर्व दुःखोंमें आप यही बात पायेंगे कि हमारे भीतर वस्तु स्वरूपके विरुद्ध कल्पनायें जगती हैं उससे हमको दुःख होता है।

दुर्लभ नरजन्ममें सहजात्मस्वरूपदर्शनकी कला पानेका महत्त्व—देखिये यह जीवन बड़ा दुर्लभ है जो हम आपको मिला है। इस जीवनमें यदि यह शौक लग जाय, यह अभिरुचि हो जाय, यह धुन बन जाय कि मुझको तो अधिक समय इस सहज आत्मस्वरूपके अनुभवमें लगना है, बाकी बातें बेकार हैं। अपने सहज स्वरूपके अनुभवमें अपना उपयोग लगायें तो उसके प्रतापसे जब तक संसारमें रहना शेष है तब तक वैभव राज्य या अन्य अन्य बातें ये मिलेंगी, मिलनी पड़ेंगी, पर इनकी भी चाह नहीं होती। ये होते हैं ऐसे। एक अपने घरके किसीको आप विलायत भेजें, अमेरिका भेज रहे तो कितना सुगम समारोह करके आप भेजते हैं, उससे बीसों आदमी आ आकर मिलेंगे, मोटरसे पहुँचाने जायेंगे, उसका तिलक करेंगे, उसे नारियल भेंट करेंगे, सगुन मनायेंगे, चूंकि दो-चार वर्षको वह जा रहा है ना इसलिए उसका सगुन समारोह मनाया और इतने ठाठसे वह जाता है वैभवके साथ। लोगोंकी प्रशंसाके साथ सुखपूर्वक जाता है। अनेक साधन उसे देते हैं। तो साल-दो सालको यहां ही कोई विलायत जाय तो कैसा ठाठ समारोह वैभव आरामके साथ जाता है। तो जो जीव सदाके लिए इस संसारसे विदा होगा मायने मोक्ष जायगा जो हमेशाके लिए निर्वाणको जा रहा है उसकी विदायगीके लिए अगर इन्द्र आकर निर्वाण कल्याणक मनाते, बड़े उत्सव समारोह मनाते तो उसमें कोई आश्चर्य है क्या? वे तो अनन्त कालके लिए विलायत जा रहे हैं, और वे जो जायेंगे तो क्या दुःख पूर्वक जायेंगे? बड़े सुख वैभव ठाटबाट इन सबके बीच रहकर जायेंगे। तो अपनी एक धारणा बनायें और निरखें कि मेरेको कर्तव्य और शरण केवल एक ही चीज है कि मेरा जो सहज आत्मस्वरूप है, अपनी सत्ताके ही कारण अपने आपमें जो मेरा स्वरूप है अमूर्त ज्ञानमात्र, इस स्वरूपमें मैं आत्मबुद्धि करूं कि मैं यह हूं और जो मैं चेतनमें चेतन इस तरहकी एक निरंतर वृत्ति बनती है, प्रतिभास बनता है, भीतर जो एक प्रतिभास चलता है वह मेरा काम है और ऐसे प्रतिभासनके समय जो मेरेको सहज आनन्द जग रहा है बस उसको भोगना मेरा काम है, इससे बाहर मेरा मतलब कुछ नहीं।

आत्मस्वरूपके दर्शनकी धुनमें ही आत्महितका निर्णय—भैया कुछ जा रहा है बाहर चित्त तो वह बेकार है और अपने लिये अनर्थ है। धुनमें यह बात समाये और इसीका लक्ष्य बने कि इस जीवनमें मेरेको सहज आत्मस्वरूपका अनुभव करना है, बाकी जगतकी अन्य बातों पर मेरा अधिकार भी नहीं है। हो जाय पुण्योदयसे अनुकूल और उस पुण्ययोगके अनुसार पुरुष पौरुष और प्रयत्न भी हो जाय तो भी अधिकार पूर्वक यह बात नहीं आयी है कि मैं अमुक पदार्थकी ऐसी घटना बना दूंगा। मेरा मेरे पर अधिकार है, मेरा मेरे पर वश है। इस कला की प्राप्ति करनेके लिए इतना ज्ञान प्रकाश चाहिए कि बाहरकी घटनाओंमें मान अपमान महसूस न करें, केवल एक ही बात है, आत्मकल्याणकी ही धुन है, यह बात चाहिए भीतर ऐसा करनेमें आपको किसी तरहका नुकसान नहीं है। जब तक रहेगा संसारमें तब तक ठाठसे रहेगा, निर्वाण पायेगा, अनन्त कालके लिए छुटकारा पायगा, इस कार्यके सिवाय दूसरा कोई बड़प्पनका कार्य नहीं है, बाकी सब मायाजाल है। कौनसा कार्य करना है? अपने आपके आत्मामें जो सहज ज्ञानस्वरूप है उस रूप अपनेको अनुभवना कि मैं यह हूं, बाकी क्या नहीं करना? अमुक चंद हूं, अमुकका पिता हूं, अमुकका पुत्र हूं ··· ये सब बातें माया जाल हैं, इनका विकल्प नहीं करना है। हां गृहस्थीमें है तो गृहस्थीके नाते कुछ कर्तव्य करने होते हैं मंदिर जाना, धर्म ध्यान करना, आजीविका सम्बंधी कार्य करना, ये सब तो होंगे मगर चित्तमें किसी समय यह बात तो बसना चाहिए कि मेरा हित केवल सहज आत्मस्वरूपके अनुभवमें है, अन्य बातोंमें मेरा हित नहीं है। अन्य बातें तो परिस्थितिके कारण करनी पड़ती हैं।

ज्ञानीके आत्महितके कार्यकी मुख्यता—अज्ञानीके और ज्ञानीके विचारमें कितना अन्तर होता है। अज्ञानीजन ऐसा सोचते कि आजीविकाके कामसे समय मिलेगा तो मन्दिर जाऊंगा। अरे इतनी भी फुरसत नहीं कि जिनवाणीके दो शब्द सुननेका भी मौका निकाल सकें। कह देंगे अजी फुरसत नहीं है क्या करें, मन्दिर नहीं पहुंच पाते। तो उनका इस प्रकारका बहाना करना ठीक नहीं। फुरसत सबको है पर व्यर्थके विकल्पके रोजगार बनाये जा रहे इससे फुरसत नहीं, अर्थ सम्बंधी रोजगारकी वजहसे फुरसत न हो सो बात नहीं। ज्ञानीजनोंको इतनी लगन होती कि मन्दिर दर्शन, स्वाध्याय, चर्चा, गुरुसेवा, मनन आदि करनेमें उनको उमंग होती। आजीविका सम्बंधी कार्योंके लिए तो उन्हें दुःखी होकर परिस्थितिवश जाना पड़ता है। इसमें तो उन्हें कष्ट मालूम देता। आत्माकी चर्चामें, मननमें ज्ञानीजनोंकी उमंग रहती इतना अन्तर रहता ज्ञानी और अज्ञानीके आशयमें। सारभूत काम केवल सहज आत्मस्वरूपका मनन है। सहज आत्मस्वरूपके मायने आत्मा है या नहीं पहले यह निर्णय करें। है, जिसमें हूं हूं की बात चल रही। वही तो मैं हूं। मेरा अस्तित्व है। ये दुःख सुख किसमें होते? है कोई पदार्थ कि मैं हूं। अब यह विचारें कि जो है, होता है वह अपने आप अपने स्वरूपसे है होता है। सदासे हूं तो यह मैं अपने आपके स्वरूपसे अपने ही सत्त्वसे। मैं क्या हूं? केवल चैतन्यस्वरूप। एक भीतर झलकता हुआ चैतन्यप्रकाश। जहां ज्ञान और आनन्दका ही अनुभव है। वह स्वरूप बस मैं यह हूं, ऐसा ही अपना ध्यान बनायें। बस यह ही उपाय है सहज आत्मस्वरूपके अनुभवका। अब आप सोच लीजिए कि जगतमें अभी तक कितने ही काम कर डाले मगर इस जीवने यह काम नहीं किया अब तक और

इस सहज आत्मस्वरूपका अनुभव पाये बिना यह कभी निर्वाण नहीं पा सकता, शान्ति नहीं पा सकता। कर्मोंसे छुटकारा नहीं हो सकता, शरीरसे छुटकारा नहीं हो सकता। तो वास्तवमें केवल एक ही काम है करनेका, दूसरा काम करना पड़े तो उसे यह समझिये कि परिस्थितिवश करना पड़ रहा है, पर करनेका काम तो यह है। इतनी ही बात चित्तमें हो तो उसकी धर्म मार्गमें प्रगति हो सकती है। हां तो अब देखिये—स्वरूप तो मेरा यह है केवल चैतन्य प्रकाश, इससे आगे नहीं है। आगे जो विकल्प चल रहे, विकार हो रहे, रागद्वेष हो रहे वे सब कर्मकी उपाधिकी छायामें हो रहे, केवल मेरे इस स्वरूपके कारण नहीं हो रहे। तो ये रागद्वेष ये ही कष्ट हैं। रागद्वेषके भाव न हों तो ये कष्ट मिट जायेंगे। तो रागद्वेषकी निवृत्ति ही हिंसा आदिक पापोंकी निवृत्ति कहलाती है।

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्॥ ४९॥

पापोंसे विरक्तिमें ही आत्माको महत्त्वका लाभ—पापभव आनेकी नालियां ये ५ हैं—(१) हिंसा, (२) झूठ, (३) चोरी, (४) कुशील और (५) परिग्रह। इनसे विरक्त होना सो सम्यग्ज्ञानीका चारित्र है। कोई यदि यह ही ठान ले कि मैं बिना प्रयोजन कोई अटपट काम न करूं तो भी इसके बहुतसे पापोंसे निवृत्ति हो जायगी। लोग तो बिना ही प्रयोजन कितने ही पाप करते रहते हैं। प्रयोजन क्या? आपको आजीविकाके परिणाम रहें यह ही एक लौकिक प्रयोजन है। पर बहुत देर तक गप्पें कर रहे, दूसरों की निन्दामें उमंग आ रही है, दूसरोंके दोष बतानेमें यह बड़े योद्धा की तरह बढ़ रहा है, दूसरेका बुरा विचार करनेके लिए कमर कसे है, दुनियामें मेरी बड़ाई हो, सबसे मैं प्रधान माना जाऊं, इसके विकल्पमें चित्त चल रहा है और दूसरे लोगोंको तुच्छ माना जा रहा है। ये सब बिना प्रयोजन अटपट काम हैं। कोई पुरुष स्वच्छंद रहकर, आराम मौजमें बसकर कोई संघर्ष न सहे, कोई संकट न सहे, किसी दूसरेके उपकारमें न आये, खुदगर्जी अधिक रखे और वह लोकमें बड़ा कहला सके, यह बड़ी कठिन बात है। अगर लौकिक बड़प्पन ही चाहे कोई तो वह परोपकार किए बिना, संघर्ष सहे बिना, न्यायनीति पर रहे बिना लोकमें भी बड़ा नहीं बन सकता। लोकमें जो बड़ा बनता है ना उड़दका उसकी ही बात देख तो, कितने-कितने संघर्ष सहनेके बाद वह बड़ा कहलाता है। खेतमें खड़ा है, पेड़ सूख गया, पहले तो उन्हें सुखाया, फिर उन पर बैल चलाया, फिर उनको चक्कीमें दला, याने कितने संघर्ष आये उड़द पर तब वह बड़ा कहला सका। शामको पानीमें भिगो दिया, रात भर फूले, सुबह उनको हाथसे मरोड़ा गया याने हाथसे उनकी खाल छुड़ा दी गई, फिर उन्हें सिलबट्टेमें पीसा और पीसकर उनमें नमक, मिर्च, मसाला भूनकर फिर उनकी शकल बिगाड़ा, फिर उनको खौलते हुए तेलमें डाला, जब वह फूल गया तो इतने पर भी उसका पीछा न छोड़ा, उसके पेटमें एक लकड़ी चुभोया यह देखनेके लिए कि कहीं कच्चा तो नहीं रह गया, फिर उसको कड़ाहीमें नमकीन पानीमें डाल दिया। देखिये कितने-कितने संघर्ष आये उस उड़द पर तब उसका बड़ा नाम पड़ा। और यहां देखो लोग मुफ्तमें मौजमें ही बड़ा कहलवाना चाहते। जरा सा भी कष्ट नहीं सह सकते फिर भी बड़ा कहला सकें यह कैसे हो सकता? लोकमें भी

बड़ा बन सकते मगर उसकी भी धुन क्यों हो? वह तो होगा स्वयं अपने आपकी स्वरूपदृष्टि करके अन्तः तो अपनी उपासना करिये और चूंकि जो ज्ञानी पुरुष हैं, भीतरमें अपनी उपासना कर रहे हैं उनसे मन, वचन, कायकी चेष्टा तो होगी ही ऐसी कि जिससे दूसरोंका भला हो, किसीका अपकार न हो।

स्वानुभूतिकलाकी प्राप्तिमें आत्मकर्तव्य पालनकी सुगमता—देखिये और बात तो सब जगह मिल जायगी दया, परोपकार, उपकार, जय-जय बोलना, जलूस निकालना आदि बातें तो सर्वत्र मिल जायेंगी मगर सहजआत्मस्वरूपका अनुभव बनाये इस बातकी शिक्षा देने वाला जैन शासन है, इसको पाकर यदि इस कामकी उमंग न बना सके तो जिसे कि कहते धिक्कार है इस जीवनको, ऐसे ही समझ लीजिए आप लोग कि धिक्कार है मेरे जीवनको। यदि अपने आपके स्वरूपमें बसे हुए भगवान सहज आत्मस्वरूपका परिचय न पा सके, इसकी धुन न बना सके, अपने आपका अनुभव न कर सके तो लोकमें जो कुछ भी हो रहा है उससे क्या फायदा? यदि एक यही काम कर लिया तो उससे सब पाप कर्म दूर हो जायेंगे। देखिये एक तो होता है सिखाये-सिखाये व्रत पालन और एक होता है भीतरके सहज आत्मस्वरूपके अनुभवकी कला जगनेका व्रत पालन। यदि अपने आपके स्वरूपके अनुभवकी कला किसीमें जग जाय तो फिर उसे अधिक उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं होती। स्वयं ही यह भगवान आत्मा सब निर्णय बना लेगा। तो अपने आपका एक निर्णय कीजिए, धुन बना लीजिए कि हमको तो इन रागद्वेष मोहादिक विकारोंसे हटना है, और इनसे हटनेके लिए तन लगे, मन लगे, धन लगे, वचन लगे, सर्वस्व अर्पित करनेको तैयार रहें। यदि इन रागद्वेष मोहादिक विकारोंसे हट गए तो समझो कि हमने सर्वस्व पाया।

सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम्।
अनगाराणां विकलं, सागाराणां ससङ्गानाम्॥ ५०॥

चारित्रके दो भेदोंमें प्रथम चारित्र सकलचारित्रके अधिकारी—चारित्र दो प्रकारका होता है—(१) सकल चारित्र और (२) विकल चारित्र। सकल मायने सम्पूर्ण और विकल मायने कुछ कम। सकल चारित्र तो होता है सर्व परिग्रहोंसे रहित साधुजनोंके और विकल चारित्र होता है परिग्रह सहित श्रावकजनोंके। श्रावकोंके पास परिग्रह न हो तो श्रावकोंकी चर्या नहीं चल सकती और साधुओंके पास परिग्रह हो तो साधुओंकी चर्या नहीं चल सकती। इस कारण श्रावकोंको तो बताया है सत्संग और साधुओंको बताया है निसंग। श्रावकोंको दूसरा नाम दिया है सागार याने अगार सहित, घर सहित। और साधुवोंका नाम है अनगार अर्थात् अगार रहित, घर रहित। सम्पूर्ण चारित्र क्या कि उपयोग आत्म स्वरूपमें भले प्रकार लीन बन सकें, सो यह उनके ही सम्भव है जिनके तिलतुष मात्र भी कुछ परिग्रह नहीं, क्योंकि एक पूर्ण रीतिसे आत्मा-आत्मामें समाये, ज्ञानमें ज्ञान समाये, यह तब ही सम्भव है जबकि किसी प्रकारका अंतरंगमें संकल्प न जगे, विकल्प न बने। विकल्प न बने उसका मुख्य साधन तो है तत्त्वज्ञान, आत्मपरिचय, आत्माकी धुन और बाह्य वातावरण चाहिए उसे ऐसा कि किसी भी पदार्थका विकल्प न आना। सर्वपरिग्रहोंसे रहित साधु हो तो केवल एक ही धुन होती है और यही धुन रहना

चाहिए कि मेरेको सहज भगवानके दर्शन, अनुभव बना रहे। आत्मका जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसमें ही उपयोग बना रहे अधिकाधिक। केवल यह ही काम है साधुजनोंका। समाज व्यवस्था या अन्य-अन्य प्रकारके कर्त्तव्य ये साधुजनोंके कर्त्तव्य नहीं किन्तु मेरे आत्माका मुझमें अनुभव बना करे, रहा करे, बस यह ही एक उनका काम है क्योंकि साधुपना हुआ करता है मोक्षमार्गके लिए, मैं निकट कालमें मुक्ति प्राप्त करूं, ऐसी जिसकी दृढ़ भावना बनी है वह निशंक होकर आत्मा आत्माकी ही दृष्टिमें रहेगा ऐसे साधुजनोंके सकल चारित्र होता है।

ससंग गृहस्थोंके विकल चारित्र नामक द्वितीय चारित्रकी संभवता—गृहस्थ जनोंके चूँकि भोजनका साधन तो धनार्जन है। पैसा पास होगा तो भोजनका साधन बना लेंगे। साधुवोंने तो आहार आदिककी आशाका ही त्याग कर दिया। जब कभी चर्याको निकले तो भक्तिपूर्वक जिसने बुलाया वहां आहार कर लिया। अब उनको धनार्जनकी जरूरत नहीं रही और इसी कारण वे सर्वथा निसंग रह पाते हैं मुख्य समस्या तो भोजनकी है। सो गृहस्थजनोंका काम धनार्जनके बिना न चलेगा। उन्होंने घर बसाया ही है इसलिए कि हम पूर्ण शील ब्रह्मचर्य धारण नहीं कर सकते तब अन्य पापोंमें तो न लगना—वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, अटपट विचार इनमें तो न लगना। इनसे तो बचना, इस भावसे उन्होंने विवाह किया कि मेरे अन्य पाप तो बच जायें। गृहस्थकी जो प्रवृत्ति है उसमें पापसे बचनेके लिए प्रवृत्ति है। पापमें लगनेके लिए नहीं। तो जब एक घर बसाया तो मकान भी चाहिए, कमायी भी चाहिए, इसके लिए गृहस्थजनोंका परिग्रह रखना आवश्यक हो जाता है। मगर ज्ञानी गृहस्थकी भीतरी मंशा यह है कि मैं कब परिग्रहसे विरक्त हो जाऊं और एक केवल निज आत्मतत्त्वके ध्यानमें रहूं। अगर यह भाव नहीं है गृहस्थका तो श्रावक नहीं, सद्गृहस्थ नहीं। जो परिग्रह रखा है वह पकड़नेके लिए नहीं रखा है। केवल गुजारेके लिए रखा है और लक्ष्य है गृहस्थका कि अविकार निसंग ज्ञानस्वभाव निज अंतस्तत्त्वमें मेरा उपयोग लीन होवे। यदि श्रावकजनोंका ऐसा नियंत्रण न हो, ६ आवश्यक कर्तव्योंका कार्य न हो तो ये गृहस्थ तो अत्यन्त उद्दण्ड और स्वच्छंद हो जायेंगे, फिर ये धर्मके पात्र ही नहीं रह सकते। तो गृहस्थजन ससंग रहते हैं और इसी कारण उनके सम्पूर्ण चारित्र नहीं बन सकता, फिर भी जितना चारित्र बन सकता है, उसमें भी जो उत्कृष्ट श्रावक हैं उनके और अधिक बन सकता है। जितना सम्भव है उतना चारित्र पालते हैं इस कारण गृहस्थोंके चारित्रका नाम है विकल चारित्र।

सद्गृहस्थकी न्यायमार्गानुसारिता—सद्गृहस्थ परिग्रहसहित तो है पर न्यायमार्गका उल्लंघन नहीं करता। गृहस्थकी यह तारीफ है। बड़ीसे बड़ी कुर्बानियां कर देगा, न्याय मार्गका उल्लंघन न करेगा। जो महापुरुषोंकी प्रशंसाकी जाती, श्रीरामको मर्यादापुरुषोत्तम कहा, और और भी सेठ और राजाओंके कथानक हैं। किस बातपर उनकी प्रशंसा है कि उन्होंने न्याय नीतिका उल्लंघन नहीं किया। जो न्याय नीतिका उल्लंघन कर दे उसमें और पशुमें अन्तर क्या रहा? न्याय मार्गको गृहस्थ कभी नहीं छोड़ता। ऐसे गृहस्थके विकल चारित्र होता है। श्रावक पापसे भयभीत रहता है। मेरेसे पाप मत बनो। लेकिन जहां अज्ञानका फैलाव होता वहां पापका डर नहीं रहता। पापका डर न रहा तो लोगोंने अपने नाम भी पाप धरा लिया। पापका अर्थ है पाप करने वाला। यहां तो लोग पापा नाम धराकर खुश

होते। सद्गृहस्थ पापसे भयभीत रहते हैं, देवद्रव्य, धार्मिक द्रव्यको तो छूनेमें भी पाप मानते। पहले जमानेके लोगोंमें यह बात थी कि अगर धर्मका पैसा गिनना पड़े तो उसे गिनकर रख दिया, बादमें हाथ जोड़ते थे। इतना पापका भय था। ब्लेक वगैरहके शब्द ही पहले कहां थे, सब न्याय मार्गके अनुसार चलते थे, शान्त वृत्तिसे रहते थे। आज कुछ समय है, कुछ मनकी स्वच्छंदता है जिसके कारण न्यायमार्ग बहुत कम रह गया है, पर जो सद्गृहस्थ हैं वे न्याय मार्गका उल्लंघन नहीं करते। उनहीके एक देश चारित्र होता है। गृहस्थ भी मोक्ष मार्गमें है, मुनि भी मोक्ष मार्गमें है, मुनि जरा आगे बढ़ा हुआ है, गृहस्थ कुछ पीछे-पीछे चल रहा है, पर कोई मुनि होकर आत्मदृष्टि न कर सके और गृहस्थजनों जैसा आराम चाहे तो वह मुनि मोक्ष मार्गमें नहीं है और गृहस्थ धन धान्य कुटुम्ब परिजन आदिके बीच रहकर भी उनसे हटना चाहता है और अपने एकाकी आत्मस्वरूपमें रमना चाहता है तो वह गृहस्थ मोक्षमार्गमें स्थित है। धर्म एक बहुत जिम्मेदारीके निभावकी चीज है। गृहस्थ धर्ममें रहकर कितने अंश धर्मपालन किया जा सकता है वह भी एक आदर्श बात है। वह गृहस्थका चारित्र इस ग्रन्थमें मुख्यतया बताया जायगा, उसीके सम्बंधमें एक संक्षेपसे उसका चारित्र अगले छंदमें कह रहे हैं।

गृहिणां त्रेधा तिष्ठ त्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम्।
पञ्चत्रिचतुर्भेदं, त्रयं यथासङ्ख्यमाख्यातम्॥ ५१॥

गृहस्थोंके अष्टमूलगुणका अनिवार्यतपना व बारह व्रतोंका पालन—गृहस्थोंका चारित्र अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत इन तीन प्रकारोंमें चलता है। ५ अणुव्रत होते हैं, तीन गुणव्रत हैं, और चार शिक्षाव्रत हैं। अणुव्रतका अर्थ है छोटा व्रत। गृहस्थ पूरी हिंसाका त्याग नहीं कर सकता मगर बहुत कुछ हिंसाका त्याग किया है। पूर्ण सत्य तो नहीं बोल पाता मगर उसने बहुत असत्यका त्याग किया है। पूरे रूपसे चोरीका त्याग तो नहीं बन पाता मगर लोकमें जनताको कष्ट देने वाली ऐसी चोरी गृहस्थ नहीं करता। पूर्ण ब्रह्मचर्यका निभाव तो गृहस्थके नहीं हो पाता फिर भी अपनी स्त्रीमात्रमें संतोष करके शेष समस्त परस्त्री वेश्या आदिक सर्वका पूर्ण रूपसे त्याग बना हुआ है। परिग्रहका त्याग तो नहीं कर पाता मगर परिग्रहके त्यागकी भावनायें हैं, और परिग्रहका परिमाण कर लेते हैं, इससे अधिक परिग्रह नहीं रखना, इस प्रकार गृहस्थ बारह व्रतोंका पालनहार होता है। चूँकि गृहस्थ गृहवास छोड़नेमें असमर्थ है और धर्मकी धुनमें बना हुआ है, सम्यग्ज्ञान है इस कारण वह इस परिस्थितिमें बारह व्रतोंका पालन करता है। गृहस्थके ८ तो मूल गुण कहलाते और १२ उत्तर गुण कहलाते, जिन मूल गुणोंके पाले बिना मुनि-मुनि नहीं रह सकता, उत्तर गुण पालनेमें चाहे न आयें, पर मूल गुण पूरे होने ही चाहिए। यदि ८ मूल गुण नहीं हैं तो वह श्रावक नहीं है, अन्य जनोंकी तरह वह भी साधारण लौकिक पुरुष है। उसके चाहे बारह व्रत न हो पायें किन्तु ८ मूल गुण तो अवश्य ही होने चाहिए। श्रावकके ये ८ मूल गुण हैं मद्य मांस मधुका त्याग, ५ उदम्बर फलोंका त्याग, ये ८ मूल गुण किसके लिए हैं? कोई शूद्र हैं, अन्य जन हैं, जो धर्म मार्गमें जरा भी नहीं आये हैं उनके लिए हैं ये ८ मूलगुण, और जो उच्च कुलमें उत्पन्न हुए हैं। जैन कुलमें जन्म लिया है उनके ८ मूल गुण और तरहके हैं। ये बहुत छोटे दर्जेके लिए हैं,

अथवा कहो घरमें बच्चा हुआ है, अबोध है तो ८ वर्षकी उम्र तक माता पिता पर उसके धर्मपालनका भार रहता है, ऐसोंके लिए कह दीजिए ८ मूल गुण, पर जो उच्च कुलमें जन्में हैं उनके लिए ८ मूल गुण ये हैं—मद्य, मांस, मधुका त्याग, उदम्बरका त्याग, जितने उदम्बर हैं उन सबको एकमें लिया है। चार ये हैं और चार हैं—देव दर्शन, रात्रि भोजनका त्याग, जल छानकर पीना और जीव दया करना। ये ८ मूल गुण हैं उनके लिए जो लोग अच्छे कुलमें उत्पन्न हुए।

श्रावकके आठ मूल गुणोंमें देवदर्शन, रात्रि भोजनत्याग व जलगालनका निर्देशन—देव दर्शनमें जहां मन्दिर हो वहां मन्दिरमें दर्शन करें। मन्दिर अधिक दूर हो, या हो ही नहीं, या कहीं बाहर परदेश गए हुए हैं वहां मन्दिर नहीं हो तो ध्यान करलें स्तुति विनती वगैरह करलें, जाप जपलें। इसमें ही देवदर्शनकी बात निभ जायगी। जहां हो मन्दिर निकट वहां मन्दिर आकर धर्मसाधना करें। रात्रि भोजन त्यागमें जल और औषधिके सिवाय बाकी कोई चीज़ रात्रिमें न लेना। उसमें यह विकल्प नहीं है कि हमारा काम नहीं चलता तो रात्रिमें दूध चाय रख लिया या अन्नकी चीज रात्रिमें न लें तो उसकी जगह किसमिस, काजू, बादाम, मिठाई आदि रख लें। अरे रात्रिको अगर कुछ लेना ही पड़े तो जल और औषधि रख लो। गुजारेके लिए यही काफी है। अब यदि किसीसे न बन पाये तो यह उनके मनकी बात है। जो जितना करता उतना ठीक है मगर हिसाबसे तो इसमें कम नहीं बताया गया। क्योंकि एक होती है प्यासकी वेदना, वह सही नहीं जा पाती तो उसके लिए जल बता दिया। एक होती है रोगोंकी पीड़ा नहीं सही जाती तो औषधि रख लो। अब और तीसरी चीजकी जरूरत क्या रही सो तो बताओ? दिन भर खा खाकर गुजारा न चलेगा क्या? चलेगा, तभी तो कोई तीसरी चीज नहीं बतायी गई। यह बात कह रहे हैं उनकी जो व्रती श्रावक नहीं हैं, उनकी, जो ८ मूलगुण धारें उनकी। जल छानकर पीना। जलमें ऐसे त्रस जीव भी होते हैं जो आपको आंखों न दिखें। दूसरी बात—दो मत हैं इस सम्बन्धमें कि दुहरे गाढ़े छन्नेसे छानने पर जल कायका जीव भी नहीं रहता, दूसरा मत है कि जलकायका जीव तो रहता है एकेन्द्रिय, पर अन्य त्रस जीव नहीं रहते। तो मानो दुहरे गाढ़े छन्नेसे छानने पर ४८ मिनटको ही अचित्त मान लिया जाय जल तो देखिये अहिंसाका कितना पालन हुआ। अथवा सूक्ष्म त्रस जीव न आ सकें तो अहिंसाका वहां भी पालन हुआ। पानी छनता नहीं है कभी। जैसे कोई कहे कि छन्नेसे छान लो, तो जैसे लोहेकी बहुत बारीक जाली आती है उस जालीसे घी छानते वैसे ही गाढ़े कपड़ेसे पानी छाना तो बताओ पानी छना क्या? नहीं छना। अरे यदि कोई गाढ़ेके सूखे छन्नेसे जल छानना चाहे तो न छनेगा। हां जब वह छन्ना पानीसे भीग जायगा, उस छन्नेके सब छिद्र पानीसे बन्द हो जायेंगे तब कहीं वह पानी उस छन्नेसे चू-चूकर गिरेगा। इस कारण जिन आचार्योंका यह मत है कि कपड़ेसे छानने पर उसमें जलकायका भी जीव नहीं रहता, यह भी ठीक हो सकता, अथवा जो चूसकर पानी निकला वहां सूक्ष्मसे सूक्ष्म त्रस जीव नहीं आ सकते, इसलिए बताया है गाढ़े छन्नेसे छानना। उसमें कोई यह शंका न करे कि अगर गाढ़े छन्नेसे छाना गया तो पानी कैसे निकलेगा? याद रहे, पानी कभी छिद्रोंसे नहीं निकलता, जब वह छन्ना भीग जाता तो उसमेंसे पानी चूकर निकलता है। तो जल छानकर पीना, यह ८ मूल गुणोंमें भी है। कभी किसी पानीमें यह दिखे कि इसमें तो त्रस जीव

दिखते ही नहीं, बिल्कुल साफ पानी है, जैसे हैण्डपाइपसे पानी निकाला गया तो वह यद्यपि देखनेमें साफ है फिर भी उसको छानकर पीनेकी आज्ञा है। चाहे कितना ही साफ जल हो फिर भी छानकर पीना यह ८ मूल गुणमें से है।

सद्गृहस्थकी सदयता व सदाचारके कारण विश्वासपात्रता—अष्ट मूलगुणोंमें एक है जीवदया। कोई राजा या बड़ा पुरुष कहे कि मैं आपको एक हजार रुपया दूंगा, तुम इस चींटीको मार दो, तो वह उस चींटीको नहीं मार सकता। जो अष्टमूल गुणधारी है। श्रावक है उसका हृदय ऐसा जीवदयासे भरा है कि क्लेशमें, लालचमें, किसी भी परिस्थितिमें जीवको नहीं मार सकता। एक जगहकी घटना है कि कुछ लोगोंने राजासे कहा—महाराज जैन लोग जीव हिंसा नहीं करते, तो राजाको उनकी परीक्षा करनेका विचार हुआ। उसे कोई जैन दिखा, वह कहीं जा रहा था तो उसे अपने पास बुलवाया। वहीं खड़ी थी कोई बकरी, तो राजा बोला—उस बकरीको यहां पकड़ लावो। फिर दिया छुरी और कहा कि अब इस बकरीका गर्दन छुरीसे काट दो, तो वह जैन बोला—महाराज यह काम तो हमसे नहीं हो सकता। राजाने बहुत-बहुत कहा पर वह जैन अपनी बात पर अत्यन्त दृढ़ रहा। उसकी दृढ़ता देखकर राजा बोला—हमने जो बात जैन लोगोंके सम्बन्धमें सुना था कि वे हिंसा नहीं करते तो यह बात बिल्कुल ठीक है। आज बहुतसे जैन लोग अपने आचरणसे गिर गए, जब जैसा मौका देखा तब तैसा कर डाला। पर था कभी एक ऐसा जमाना कि लोग जैनियोंपर बड़ा विश्वास करते थे। अगर किसी जैनने कहीं गवाही दे दिया तो उसकी बात सही मानकर निर्णय दे दिया जाता था। आज भी कुछ-कुछ तो विश्वास है जैनियों पर तभी तो बैंकोंके खजाञ्ची अधिकतर जैन लोग मिलते हैं, विश्वास लोगोंको अब बहुत कम हो गया। जैन लोग स्वयं अपने आचरणसे गिर गए, अपने आचरणमें उन्हें दृढ़ता नहीं रही फिर भी अन्य समूहसे आज भी अच्छे हैं। जैन लोग मांस, अंडा, शराब आदि नहीं खाते पीते। अधिकांश लोग तो अच्छे आचरण वाले अब भी मिलेंगे मगर पूर्ण रूपसे यह बात होती तो आज कितनी प्रभावना और प्रशंसा होती। आचरणमें दृढ़ता न होनेसे बड़ी अस्थिरता हो जाती है जीवन तो एक बारके खानेसे भी चल जाता है। दो बार खा लिया जाय अब कौनसी कमी रह गई जो रात्रिको खाना ही पड़े? अनेकों बार खाया, रात्रिमें खाया तो खा खाकर स्वास्थ्य बिगड़ गया, मन खराब हो गया, दृढ़ता न रही, मनका संकल्प भी लघु हो गया। तो जो अष्ट मूल गुण बतलाये गए हैं, जिनको अपना भला चाहिए उन्हें इन अष्ट मूल गुणोंका पूर्ण पालन करना चाहिए।

गृहस्थके बारह व्रतोंका प्रतिपादन—गृहस्थके अणुव्रत कहा गया है। पूर्ण त्याग नहीं बन सकता। और इस अणुव्रतकी रक्षाके लिए गुणव्रत बताये गए। गुणव्रत स्वतंत्र कोई मूल बात नहीं है। कोई कहे कि हम अणुव्रतका पालन तो न करेंगे और गुणव्रत धारण कर लेंगे सो ऐसा नहीं होता। जिसने अणुव्रत धारण किया है। ५ पापोंका एक देश त्याग किया है वे पापोंके त्यागके पूर्ण निभावके लिए इन तीन गुण व्रतोंका पालन करते हैं—(१) दिग्व्रत, (२) देशव्रत और (३) अनर्थ दण्डव्रत। यावज्जीव जाने आनेके व्यवहारका परिमाण कर लिया कि हजार मील तक चारों ओर सम्बन्ध रखेंगे। इससे आगे नहीं, तो उससे बाहरकी हिंसाका तो त्याग हो गया। फिर भी कुछ समयकी म्याद लेकर और थोड़ा

क्षेत्र रख लेते हैं। और निष्प्रयोजन जिन पापोंका त्याग नहीं हो पाता गृहस्थीमें उन पापोंको भी गृहस्थ नहीं करता, यह गुणव्रत है। और यह गृहस्थ मुनि धर्मकी शिक्षा पानेके लिए ४ शिक्षा व्रतोंको लेता है। गुण व्रतसे तो होता है अणुव्रतका पूर्ण पालन और शिक्षा व्रतसे होता है मुनि बननेका अभ्यास। जैसे तीन बार समता परिणाम करना, सामायिक करना मुनिको तो सदैव हो जाता है, उनके रागद्वेषका भाव ही नहीं होता, तो गृहस्थ सोचता है कि मैं ऐसा नहीं कर पाता तो दो समय तो करूँ। प्रोषधोपवास प्रौषधपूर्वक उपवास करना, यह सब आगे आयगा, वह सप्तमी, अष्टमी, नवमीको शामको कुछ नहीं लेता, एक ही बार लेगा, यह जघन्य प्रोषधोपवास है। अष्टमीको केवल पानीले यह मध्यम प्रोषधोपवास है और अष्टमीको कुछ न ले तो यह उत्तम प्रोषधोपवास है। यहां शिक्षा मिली है कि सप्तमी, अष्टमी और नवमीको तीनों दिन वह सद्गृहस्थ कुछ नहीं लेता, पर मुनि तो कभी भी दूसरी बार कुछ नहीं लेता, तो उस मुनिका अभ्यास गृहस्थ भी महीनेमें १२ दिन करता है। ऐसे ही भोगोपभोगके प्रकरणमें अतिथि संविभाग व्रतकी बात है।

प्राणातिपातवितथव्यवहारस्तेयकाममूर्च्छेभ्यः।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो, व्युपरमणमणुव्रतं भवति॥ ५२॥

पांच अणुव्रतोंमें अहिंसाणुव्रतका निर्देशन—इस श्लोकमें अणुव्रतका लक्षण कहा है। अणुव्रत पालन करो। यह सब मनुष्योंके लिए आवश्यक है अपनी शान्तिके लिए, देशके हितके लिए। उन व्रतोंका वर्णन इस आर्या छन्दमें किया है। स्थूलपापसे विरक्त होना अणुव्रत है। वे कौनसे पाप हैं? हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। हिंसाके मायने है प्राणोंका अतिघात। दूसरेके प्राणोंका घात हो, दिलको चोट पहुँचे, दुःख पहुंचे या मरण हो वह प्राणातिपात है। सो यह गृहस्थ श्रावक स्थूल प्राणघातसे विरक्त रहता है। यह संकल्पसे त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं करता। त्रस और स्थावर सभी संसारी जीवोंका घात रुक जाय यह बात मुनियोंसे सम्भव है। पर जिनको आजीविका लगी है अथवा नहाने धोनेके आरम्भ लगे हैं, घर गृहस्थीके भी कार्य लगे हैं वे विचार तो करेंगे, पर हिंसाका पूर्णतया त्याग सम्भव नहीं है। इसलिए मोटे पापोंसे, मोटी हिंसासे सद्गृहस्थ विरक्त रहा करता है। इसका विशेष वर्णन अणुव्रतका जब स्वरूप आयगा उसमें किया जायगा, पर मोटे रूपसे यह जानना कि संकल्पी हिंसाका त्याग होता है गृहस्थके। चार प्रकारकी हिंसा कही गई है—(१) संकल्पी, (२) उद्यमी, (३) आरम्भी और (४) विरोधी। हिंसा तो हिंसा ही है, चाहे किसी रोजिगारमें हिंसा हो, या आरम्भमें हिंसा हो या शत्रु अपना घात करने आया है उसका बचाव करनेमें हिंसा हो तो उस हिंसाका दोष गृहस्थको नहीं लगता ऐसा नहीं है। हिंसाका दोष तो लगेगा पर उस हिंसाके दोषका त्याग गृहस्थके नहीं है यह बात है। यदि यह हो जाय कि गृहस्थको संकल्पी हिंसासे ही हिंसा लगती है और अन्य हिंसायें नहीं लगती हैं तब तो गृहस्थ रहना ही अच्छा है। मुनि बनना बेकार है वहां रहे और चूक गए तो हिंसा लग जायगी। गृहस्थ रहे तो हिंसा तो न लगेगी (हंसी)। सो भाई ऐसी बात नहीं है। हिंसा तो जहां है वहां है ही, पर गृहस्थने सबका त्याग नहीं किया है। मुनिके चार हिंसाओंका त्याग है।

संकल्पसे हिंसा न करेगा, इसके मायने यह है कि कोई जबरदस्ती कर रहा हो या लोभ दे रहा हो कि तू इस जीवको मार, मैं तुझको इतना वैभव दूंगा। तो वह लोभके वश आदिकसे संकल्पतः हिंसा नहीं करता, पर कोई शत्रु, कोई डाकू एकदम ही चढ़ आया तलवार लेकर और इसके सामर्थ्य है तो यह तो अपने प्राण बचायगा और प्राण बचानेमें यह भी तलवार चलायगा और उस संघर्षमें वह डाकू या शत्रु मर गया तो वह तो विरोधी हिंसा है, संकल्पी हिंसा नहीं है। और विरोधी हिंसाका त्याग गृहस्थ कर नहीं पाया। तो गृहस्थके संकल्पी हिंसाका त्याग होनेसे और अन्य हिंसाओंका त्याग न हो पानेसे उसके मोटी हिंसाका त्याग कहा जायगा।

सत्याणुव्रतका निर्देशन—असत्यका त्याग, मोटे असत्यका त्याग। जिन वचनोंसे दूसरे प्राणियोंका घात हो जाय ऐसे असत्यका त्याग गृहस्थके रहता है। ज्ञानी पुरुषके ऐसा भाव रहता कि सर्वजीव सुखी हों। उसने अपने स्वरूपकी तरह सबका स्वरूप निरखा। सो सबके सुखी होनेकी भावना रहती है उसकी। और वहां भी मूलतः हितकी भावना है। इस जीवको अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि हो जाय तो यह संकटोंसे छूट जाय, ऐसी मूलमें दया उत्पन्न होती है। वैसे गृहस्थ है तो और भी उपाय बनाता। भूख है तो भोजन दिया, ठंडसे पीड़ित है तो कपड़ा दिया। और भी उपाय करता है मगर यह जानता है कि गृहस्थ दाताके एक भोजन मिल जानसे इसका संकट हमेशाको तो चलेगा नहीं, हमको तो आत्मदृष्टि बनेसो सदाके लिए संसार संकट छूट जायें, ऐसी मूलमें दया होती है सब जीवोंकी। गृहस्थ ऐसा असत्य न बोलेगा जिसमें दूसरे प्राणियोंका धर्म बिगड़े, अपना धर्म बिगड़े, दूसरेका अपवाद हो। जिनसे प्रीति होती है उनके प्रति तो भावना रहती है सबकी कि कोई ऐसी बात न बोलनेमें आये कि इसका अपयश हो जाय। तो ज्ञानी जीवको तो समस्त जीवोंमें समान प्रीति है इस कारण उसके यह भावना रहती कि मेरा कोई ऐसा वचन न निकले कि जिससे दूसरेका अपवाद हो जाय। एक घटना है एक गांवकी कि वहां एक जैन जमींदार था, वृद्ध था, उसकी बहू पीढ़ा मचियापर बैठी हुई चक्की पीस रही थी। मचिया होती है ना चार पायों वाली, बानोंसे बुनी हुई। तो उस समय उसको याद आया। उस बुड्ढेको ख्याल कि यह बहू सरमके मारे कहीं अपघात न कर ले, सो उसने समझदारीसे काम लिया। सो क्या कहा कि—अरे बढ़ईने पैसे तो पूरे लिये पर मचिया (पीढ़ा) ऐसी बना दी कि यह चीं ची कर जाती है। बहूने बात सुन लिया, उसके मनमें यह बात आयी कि ससुर साहब जी सही बात समझ नहीं पाये। देखिये समझ सब लिया था उस वृद्धने मगर उसको समझानेके लिए बड़ी बुद्धिमानीसे काम लिया। तो जिसको जिससे प्रीति होती है वह उसके प्रति ऐसे वचन व्यवहार करता है कि जिससे वह बात सब समझले और बुरा जरा भी न माने उसका अपवाद न हो। तो यही बात ज्ञानीकी सर्व जीवोंपर है, किसी भी जीवका मेरे वचनोंसे अपवाद न हो।

सद्वचनकलाकी महिमा—भैया, एक गुण होना चाहिए मनुष्यमें कि हमेशा दूसरोंके सत्कारके वचन बोले। सभ्यतापूर्ण वचन बोलें और उसका आदर होवे ऐसे वचन बोलें। आपके वचन मात्रसे यदि दूसरा कोई प्रसन्न हो जाता है तो यह आपको कितना लाभकी बात है। मनुष्य तो अपना धन भी देकर दूसरोंको प्रसन्न रखना चाहते और आपके केवल बोलने भरसे दूसरे खुश हो जायें तो इसमें तो

आपको उमंग रहनी चाहिए। आपमें अगर यह कला आगई तो फिर कभी विवाद, झगड़ा, कलह सम्भव ही नहीं है। तो जो जैन है, श्रावक है वह कभी ऐसे वचन न बोलेगा कि जिससे दूसरोंका अपवाद हो। जिन वचनोंसे कलह हो सके, दूसरोंके संक्लेश हो सके, भय आदिक हो सके ऐसे वचनोंका प्रयोग जैन नहीं कर सकते, सद्गृहस्थ नहीं कर सकते। यह ही है स्थूल मृषाका त्याग।

अभिमान न होनेसे ज्ञानी गृहस्थके सत्याणुव्रतके पालनकी सुगमता—दूसरोंको पीड़ा देने वाले वचन तब ही बोले जाते हैं जब अन्दरमें क्रोध हो, अभिमान हो और लोभ हो। क्रोध भी अभिमानके कारण आया करता है, इसी कारण सीधी बात कह लीजिए कि भीतर यदि अभिमान है या लोभ है तो खोटे वचन निकलेंगे। जिनको क्रोध आता है सो यों ही बिना वजह आता है क्या? उसके मनमें महत्त्वका फर्क आया ऐसा समझा तो क्रोध उमड़ता है या लोभके विषयमें कुछ फर्क आया, कोई धन घट रहा तो क्रोध आता है। तो मुख्य कारण है खोटे वचन निकलनेका अभिमान और लोभ। तो जिस ज्ञानी संतने अपना स्वरूप सहज चैतन्यमात्र जाना। यह पर्याय मैं हूं नहीं, है जरूर पर्याय पर यह मैं नहीं। मैं तो वह हूं जो कि अनादि अनन्त समानवृत्ति वाला हूं, चैतन्यमात्र। यह शरीर माया है, इस मायाको वह आत्मस्वरूप नहीं जानता इस कारण उसे किसी घटनामें अभिमान नहीं जगता। यदि कोई यह जाने कि यह भव, पर्याय, देह जो यह पिण्ड है सो यह मैं हूं तो जिसको मैं समझा है उसका महत्त्व तो अवश्य चाहेगा। जिस ज्ञानीने आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपको मैं समझा तो वह चैतन्यस्वरूपका महत्त्व चाहता है, इसका विकास हो। तो अज्ञानीने इस पर्यायको, इस देहको मैं समझा तो वह इसका महत्त्व चाहता। अब इसका महत्त्व हो नहीं रहा। लोग गुण गा नहीं रहे। इन लोगोंके बीच मेरा बड़प्पन नहीं आ रहा, या लोग ऐसे वचन बोल रहे जिनसे हल्कापन जाहिर हो गया तो वहां क्रोध आ गया। तो ज्ञानीको अभिमान नहीं होता क्योंकि उसने आत्माके सहज चैतन्य प्रकाशको आत्मा माना है। इस पर्यायको आत्मा नहीं माना। फिर अभिमानकी गुंजाइश कहां।

लोभ आसक्ति न होनेसे ज्ञानी गृहस्थके सत्याणुव्रतके पालनकी सुगमता—ज्ञानीके लोभकी भी गुंजाइश नहीं। चूँकि गृहस्थ है, परिस्थिति है, सब कुछ रखना पड़ता है, सम्हालना पड़ता है, अर्जन करना पड़ता है, लेकिन यदि कोई धार्मिक काम आ जाय तो उसमें फिर लोभ नहीं करता। एक घटना है ऐसी कि किसी जौहरीकी लड़की एक शहरमें किसी बड़े सेठके घर ब्याही गई। घी का बड़ा व्यापार था उस घर। एक दिन वह बहू ऊपरी मंजिल पर खड़ी थी, नीचे क्या देखा कि घीके कारखानेमें जहां घी अग्निमें तपाया जा रहा था वहीं सेठ बैठा था। अचानक ही कोई मक्खी उस घीकी कड़ाहीमें गिर गई तो सेठने क्या किया कि उस मक्खीको निकालकर अलग करना चाहा। पर उसमें कुछ घीके बूंद लगे हुए थे तो उनको कड़ाहीमें टपकाया। एक एक बूंद टपका लिया फिर मक्खीको बाहर फेंक दिया। इस दृष्यको देखकर सेठकी बहूको बड़ा गम हुआ, सोचा अरे कहां तो मैं जौहरीकी लड़की और कहां इस मक्खीचूसके घर ब्याही गई। उसे ही तो मक्खीचूस कहते जो मक्खीको चूस चूसकर घी निकाले। इस घटनाको देखकर बहूको भारी सिरदर्द हो गया। सेठने उसके उपचारके लिए अनेकों वैद्य, डाक्टर दिखाये पर फायदा न हुआ। एक बार पूछ बैठा वह सेठ—ऐ बहू, तुम सच बताओ

क्या है कोई ऐसा उपाय तुम्हारा सिरदर्द ठीक हो सकता हो? ··· हां है पिताजी। ··· कौनसा? ··· यही कि मेरे घर जब कभी मेरे सिरदर्द होता था तो मेरे सिरमें दो मुट्ठी कीमती रत्न पीसकर उनका लेप सिरमें किया जाता था तब ठीक होता था। तो वही एक उपाय मेरी समझमें आता ठीक होनेका। तो वहां सेठने झट खजाञ्चीको आदेश दिया कि दो मुट्ठी कीमती रत्न लावो, उन्हें पीसकर बहूके सिरमें लेप किया जायगा। आखिर आ गए दो मुट्ठी कीमती रत्न, शायद १ करोड़के तो होंगे ही, उनको सेठ सिलबट्टेमें पीसने ही वाला था कि झट बहू बोली—बस पिताजी रहने दो। इन्हें मत पीसो, मेरा सिरदर्द दूर हो गया। ··· कैसे दूर हो गया, अभी लेप तो हुआ नहीं? ··· हां लेप तो नहीं हुआ पर सिदर्द दूर हो गया। ··· कैसे? ··· ऐसे कि मेरे सिर दर्द हुआ था इस बातसे कि मैं कहां ऐसे जौहरीकी लड़की और कहां ऐसे मक्खीचूसके घर ब्याही गयी। पर जब देखा कि आप मेरा सिर दर्द दूर करनेके लिए करीब १ करोड़के रत्न पीसने जा रहे तो वहां मेरा वह भ्रम दूर हो गया कि सेठजी मक्खीचूस हैं। तो वहां सेठजी बोले—अरी बहू तू बड़ी भोली है। तू नहीं जानती कि धन किस तरहसे कमाया जाता। जब कमाना तो इस तरह कमाना और जब खर्च करना तो दिल खोलकर इस प्रकार खर्च करना। खैर यह तो उसकी कहानी है। बात यहां यह कह रहे थे कि जो असत्य बोला जाता है वह लोभवश बोला जाता है। तो ऐसा लोभ नहीं होता है सद्गृहस्थके। कोई धर्मका कार्य आये या किसीकी भलाईका कार्य आये तो उसमें भी लोभ करें। ऐसा लोभ गृहस्थके नहीं है और इसी कारण वह असत्य भी नहीं बोलता। तो ऐसा स्थूल असत्यका त्याग गृहस्थके है।

ज्ञानी गृहस्थका अचौर्याणुव्रत—स्थूल चोरीका त्याग। बिना दिए हुए दूसरेके धनको लोभसे छल करके ग्रहण करे वह स्थूलमें चोरी है। देखिये चोरीके विषयमें अनेक प्रश्न चलते हैं, पर कमसे कम इतना तो प्रत्येकको त्याग होना ही चाहिए कि दूसरेके धनको बिना दिए ग्रहण न करना। बिना दिएके मायने यह नहीं कि वह हाथसे दे रहा तो ग्रहण कर लिया। मनसे खुश होकर दे। प्रसन्नतासे न दे तो ग्रहण न करना। यों तो डाकू लोग भी बिना दिए धन नहीं लेते। वे तो घरके मालिकसे कहते कि इस धनको तू अपने हाथसे निकालकर दे। उनको कहीं यह भाव नहीं होता कि यदि इसके ही हाथसे निकलवाकर धन लिया तो चोरी न कहलायगी। है तो वह चोरी ही। तो चोरीकी सूक्ष्म बातें बहुत हैं। उनका विवेचन करनेका यहां प्रसंग नहीं है। उनके विषयमें आप सब जानते ही हैं। यहां चोरीके सम्बन्धमें स्थूलवार्ता कहते हैं कि इसका त्याग इतना तो अवश्य होना चाहिए कि बिना दिया दूसरेका धन ग्रहण न करें। ऐसा स्थूल चोरीका त्याग प्रत्येक सद्गृहस्थके हुआ करता है।

ज्ञानी गृहस्थका ब्रह्मचर्याणुव्रत व परिग्रहपरिमाणाणुव्रत—ब्रह्मचर्याणुव्रत। जिससे विवाह हुआ उसके सिवाय शेष स्त्रीजनोंमें, पुरुषजनोंमें कामकी अभिलाषाका त्याग होना। हृदयमें भावना ही न उठना, इसको कहते हैं ब्रह्मचर्याणुव्रत। कल एक चर्चा आयी थी कि पति और पत्नीका जोड़ा होता है। पतिका अर्थ है मालिक और पत्नीका अर्थ हुआ मालकिन। अब आप समझो कि इन दोनोंका घरमें एक साथ रहकर कैसा समान व्यवहार चलना चाहिए। यों समझो कि जैसे एक गाड़ीको ले जाने वाले दो बैल। तो जैसे पुरुषके सम्बंधमें कहा कि सद्गृहस्थ अपनी विवाहित पत्नीके सिवाय अन्य

समस्त स्त्रीजनोंके प्रति कामाभिलाषा नहीं रखता, ऐसे ही स्त्रियां भी अपने पतिके अतिरिक्त किसी भी पर पुरुषके प्रति कामाभिलाषा न रखें, वह है उनका ब्रह्मचर्याणुव्रत। चूँकि पूरा ब्रह्मचर्य तो नहीं निभा सकते इसलिए स्वदार संतोषवृत्तिसे रहना यह ब्रह्मचर्याणुव्रत है। ऐसे ही मूर्छाका स्थूल त्याग। जितना परिग्रह परिमाण बनाया उससे अधिक परिग्रहका त्याग होना यह स्थूल परिग्रहका त्याग है। ये पापकर्मके आश्रवके कारण हैं, इनका त्याग होना अणुव्रत है।

सङ्कल्पात्कृतकारित-मननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः, स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः॥ ५३॥

संकल्पपूर्वक मन, वचन, कायके करनेसे, करानेसे, अनुमोदनासे त्रस जीवोंका घात न होना सो यह अहिंसाणुव्रत है। स्थूल हिंसासे विरक्त होना अहिंसाणुव्रत कहलाता है। न तो खुद करता है हिंसा, न दूसरोंसे कराता है और न करते हुएकी अनुमोदना करता है। मानलो कहीं कोई सांप निकला उसको किसीने मार डाला तो वहां तमासा देखने वालोंकी भीड़ लग जाती है। अनेक लोग उस मारने वालेको शाबाशी भी देते हैं। तो देखो ऐसे लोगोंने हिंसाका पाप बांध लिया। करना, कराना और अनुमोदना करना इनमें पाप लगता है। तो मनसे, वचनसे, कायसे और कृतकारित अनुमोदनासे, नवकोटिसे हिंसाका त्याग गृहस्थके होता है। जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे युक्त हैं, ज्ञानी है, दयावान है, हिंसासे भयभीत हैं। हिंसाके त्यागके सम्मुख हैं। ऐसे ज्ञानी गृहस्थके चूँकि गृहस्थीमें रह रहा है सो एकेन्द्रिय जीवकी हिंसा तो उनसे टल नहीं पाती। अनेकोंबार खानसे मिट्टी लानी पड़ती है। पहले जमानेमें चौका पोतनेके लिए लोग सफेद मिट्टी लाकर चौका पोता करते थे। आजकल तो कलई चल गई। तो सभीको खानसे मिट्टी खोदकर लाना पड़ता था। तो वह पृथ्वीकायकी हिंसा ही तो हुई। ऊपरकी पड़ी हुई धूल मिट्टी तो अजीव है और खोदकर जो मिट्टी निकाली जाती है वहां पृथ्वीकायका जीव है एकेन्द्रियमें। उस हिंसाको गृहस्थ कैसे टालेगा? अग्नि भी जलायगा, हवा भी करता है, और फल साग वगैरह भी बिनारेगा। तो उसके एकेन्द्रियकी हिंसा नहीं टल पाती। इसलिए बताया है त्रसहिंसाको त्याग, वृथा थावर न संघारे। त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करके स्थावर जीवोंका भी संहार न करे, यह सद्गृहस्थका अहिंसाणुव्रत है। तो छहकायके जीवोंकी हिंसा गृहत्यागी मुनिवरोंके पलती है, क्योंकि वहां प्रत्याख्यानावरण कषाय भी न रही इसलिए सबसे ममता छूट गई। गृहस्थके नहीं छूट पाती। उनके प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय चल रहा है। तो गृहस्थके त्रस जीवोंकी संकल्पी हिंसाका त्याग रहता है। दयालु होता है गृहस्थ। जीव दया गृहस्थका मूल गुण बताया गया है, सो वह गृहस्थ अपने परिणामसे मारनेका संकल्प नहीं करता और संकल्पसे त्रस जीवोंका घात न करता है, न कराता है, उन उसकी प्रशंसा करता है। ऐसा उसका सर्व जीवोंमें विश्वास रूप परिणाम रहता है।

सहज ज्ञानस्वभावकी दृष्टिकी कलाका प्रताप—भैया, सारी करामात है उस कलाकी जिस कलासे भव्य आत्माने अपने सहज आत्मस्वरूपका अनुभव कर लिया है। अज्ञानीजनोंको तो इसमें आश्चर्य होता कि कोई छोटा बालक घर त्याग दे। साधु हो जाय या कोई छोटी उम्रका युवक, वह भी

सन्यास धारण करल तो लोगोंको ऐसा लगता कि कहीं इसका दिमाग तो नहीं खराब हो गया। उन्हें आश्चर्य होता, किन्तु जिन्होंने अपने सहज अनादि अनन्त चैतन्य प्रतिभासमात्र स्वरूपको पहिचान लिया और दृढ़तासे समझ लिया कि मैं यह हूं और इस चैतन्यकी जो सहज वृत्ति है बस वही मेरा कार्य है और उस चैतन्यकी सहज वृत्तिमें जो सहज आनन्द जगता है बस वही उसका अनुभव और भोगना है। इसके निर्णय सिवाय अन्य जगह मेरा कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। यह बात जिसके उपयोगमें दृढ़तासे बैठी हुई है उसके लिए सन्यास लेना, सर्वत्याग कर देना कोई आश्चर्यकी बात ही नहीं है। ऐसा तो होता ही है तो यही बात सद्गृहस्थने पायी मगर कुछ विपाक ऐसा चल रहा है, पूर्वबद्ध कर्मका उदय चल रहा है कि वह गृहत्याग करनेमें समर्थ नहीं है। पर घरमें रहनेकी आसक्ति भी नहीं है। वह सद्गृहस्थ त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करता है और यही उसका अहिंसाणुव्रत है।

सद्गृहस्थके संकल्पी हिंसाका त्याग—सम्यग्दृष्टि गृहस्थ घरमें रहता हुआ किस प्रकारके परिणामसे रहता है। अहिंसाणुव्रतके प्रसंगमें इस सम्बन्धकी वार्ता चल रही है। चूँकि इस गृहस्थने अपने आत्मस्वरूपको पहिचाना है और ऐसा ही आत्मस्वरूप सब जीवोंमें होता है अतः सबके प्रति मैत्रीभाव हो जाता है। किसी भी जीवको दुःख न हो ऐसी अभिलाषाको मैत्री कहते हैं। जब मैत्रीभाव है तो किसी जीवको मारनेका संकल्प कभी हो ही नहीं सकता है। अहिंसाणुव्रतका पालक यह गृहस्थ भी उसको मारनेका संकल्प नहीं रखता, जो दुष्ट हो, वैर, ईर्ष्या आदिकके कारण इसको मारने वाला हो या आजीविकापनमें बाधा डालता हो, ऐसे पुरुषको मारनेका भी इसके भाव नहीं रहता। वह चल रही है ज्ञानी गृहस्थकी बात। हां यदि कोई प्राण लेने ही आ गया है और एकदम सारा सर्वस्व लूटने ही आ गया है तो इसके विरोधी हिंसाका त्याग नहीं है। इसके ऐसी चेष्टा हो जाती है कि शस्त्र आदिक हो तो उससे उसका मुकाबला कर उसका निवारण करता है और उस निवारण करनेमें यदि आक्रामककी जान भी चली जाय तो भी वहां संकल्पी हिंसा नहीं होती। मैं इरादा करके किसीको मारूं, ऐसे भावसे नहीं मारा, किन्तु बचावमें ऐसी चेष्टा हुई है। संकल्पसे तो आक्रामकको भी मारना नहीं चाहता। यह सद्गृहस्थ कोई बहुत धन दे कि तुम इस कीड़ीको मार दो मैं तुमको इतने हजार रुपये इनाम दूंगा, तो भी उस कीड़ीको मारनेका संकल्प उसके नहीं होता। उसने जाना है कि सर्व संसार असार है। यहां तो गुजारा ही करनेके लिए गृहस्थीमें रह रहे हैं। मुख्य उद्देश्य तो धर्मपालन है, ऐसा जिसका लक्ष्य बन गया है वह ऐसी खोटी प्रवृत्तियां नहीं कर सकता।

कठिन परिस्थितियोंमें भी सद्गृहस्थके संकल्पी हिंसाके त्यागकी अविचलितता—देखिये अच्छे कुलमें उत्पन्न हुए हैं, बड़ा अच्छा शासन भी मिला है, समागम भी ठीक है। इस भवमें ऐसा दृढ़ निर्णय बना लीजिए कि मेरे परिणामोंमें धर्मधारण बने, इस ही में मेरा उत्थान है, कल्याण है और इस भवका प्रयोग धर्मपालनके लिए ही करें। यह वैभव नहीं रहनेका। जीवनमें ही भरोसा नहीं। मरने पर तो स्पष्ट जाहिर है कि कुछ साथ नहीं जाता। और जो सत् है वह कभी नष्ट होता नहीं। तो मैं रहूंगा आगे तो आगेकी भी सुध लीजिए कि मेरा भविष्य कैसा रहे। उसके लिए कर्तव्य है कि अपने आप स्वरूपमें अपनेको रमाकर संतोष करनेकी कोशिश कर लीजिए अन्यथा इस भवमें भी दुःखी रहेंगे और

आगे भी दुःखी रहेंगे। ज्ञानी गृहस्थ जिसने अपने आत्मस्वरूपका परिचय पाया है वह किसी भी जीवको मारनेका संकल्प नहीं करता। कभी ऐसी परिस्थिति आये या कोई बताये कि तुम्हारे यह कठिन रोग हो गया है तुम अमुक जीवको मारकर अपना रोग और आपत्ति दूर सकते हो? जैसे कि अनेक लोग देवी देवतावोंकी मनौती करके जीव हत्या करते हैं, तो इस तरहका कार्य ज्ञानी जीव नहीं करता। जो अज्ञानीजन हैं, जिन्हें वस्तुस्वरूपका कुछ पता ही नहीं है वे ही ऐसे हिंसात्मक कार्य करते हैं।

वस्तु स्वरूपका ज्ञान होनेपर हिंसा परिहारका सुगम निर्वाह—प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र सत् है, जब हर एकका अस्तित्व उस ही में है, प्रत्येकमें वस्तुत्व है, प्रत्येक पदार्थ अपने ही रूपसे रहते हैं दूसरे रूपसे नहीं, अपनेमें ही परिणमते हैं दूसरे रूपसे नहीं, जब ऐसा अस्तित्व सबका परस्पर भिन्न-भिन्न ही है तो एक दूसरेका क्या रहेगा? रही अपने आपके आत्माकी बात, तो जैसे यह भाव करता है वैसा कर्मबंध होता है, वैसा ही उदय होगा, वैसी ही घटना बनेगी। तो हमारा सब कुछ हमारे भावों पर निर्भर है, दूसरों पर निर्भर नहीं है। सत्यस्वरूप जानकर अपने आत्माकी करुणाकी जाय तो इसमें कल्याण है अन्यथा जीवन तो सबका ही चलता है। जैसे पशुपक्षी जी रहे वैसे ही ये मनुष्य भी जी रहे। आज जो लोकमें अपनी प्रशंसा और नामवरीकी बात सोची जा रही है वहतो सब मायारूप है और सब स्वार्थवश है, ये सब मिटजाने वाले हैं, इनमें चित्त न दीजिए। चित्त दीजिए धर्मपालनमें। और चूँकि गृहस्थी आजीविका बिना नहीं चलती तो यथोचित न्यायनीतिसे आजीविका करें, फिर जो कुछ होगा, प्रशंसा हो, नाम हो, जो कुछ भी हो, होता रहे, उससे आत्माका कुछ उत्थान नहीं। यह निर्णय बनाये रहें। भले ढंगसे चलेंगे तो आप ही का भला है, बुरे ढंगसे चलेंगे तो खुदका ही बुरा है। तो यह ज्ञानी गृहस्थ किसी भी स्थितिमें लोभवश किसी भी त्रस जीवका घात नहीं करता। देखिये—ज्ञानी गृहस्थका परिणाम, घरमें रह रहा है तो आरम्भ सब करना ही पड़ता है, आरम्भ किए बिना गुजारा तो नहीं चलनेका। मगर उस आरम्भमें भी जीव दयाके भावसे सही प्रवृत्ति रखता है और किसी भी प्रसंगमें आकर जीवघात नहीं करता।

सद्गृहस्थका यत्नाचार पूर्वक आरंभादिकमें प्रवर्तन—देखिये घरमें आरम्भ रोज करना पड़ता है, चूल्हा जलाना, चक्की पीसना, झाड़ूगोहारी करना, पानी भरना आदि तो वहां भी जीवदयाका भाव विशेष रहता है और दयापूर्वक प्रवृत्ति होती है। नौकर रखकर घरमें आरम्भके काम करना यह भी प्रमाद है। अगर वे काम खुद करें तो जीवदया पालते हुए तो करेंगे, अन्यथा क्या भरोसा? कितना ही समझा दिया जाय किसीको, पर उसके भावोंमें दया नहीं है तो वह नौकर घरमें आरम्भ कार्य करता हुआ क्या जीव दया पालते हुए काम करेगा? अरे उसे तो जल्दी-जल्दी पड़ेगी। तो जहां तक हो सके घरके, आरम्भके कार्योंमें सेवक, नौकर न रखे जायें। जिससे जैसा बने सो करे मगर गृहस्थके कर्त्तव्यमें बताया कि इन आरम्भके कामोंको खुद करलें, नौकरोंसे न करायें, क्योंकि खुद करेंगे तो जीव दया पालते हुए करेंगे, और इसके अतिरिक्त घरके अन्दर नौकरोंके रहनेसे अनेक आपत्तियां भी आती हैं। कभी कुछ चोरी भी हो जाती हैं तो जीव दयाकी दृष्टिसे चित्तमें यह भाव रहना चाहिए कि अधिकसे अधिक आवश्यक हो तो सेवक रखे जायें अन्यथा ये सब काम हमारे मिलजुलकर करनेके हैं ताकि जीवदया

पले। ये तो आजीविकासे सम्बन्धित कुछ आरम्भ कार्य नित्यके हैं, पर बीचमें अनेक आरम्भ और भी आ जाते हैं। जैसे पुत्र अथवा पुत्रीका विवाह करना, मकान बनवाना, लीपना पोतना आदिक काम भी कभी-कभी आते हैं, कभी रातको भी चलना होता हे, कभी बर्तन, काठ आदिकके धरने, उठाने,सेज बिछाने आदिकके कितने ही काम और भी करने पड़ते हैं, उनमें भी अपना यत्नाचार सही रहे जीव दयाका भाव रहे। जीव जीव सब समान हैं, यह बात चित्तमें आ जाय तो सब आसान है। तो जितने भी कार्य गृहस्थके घरमें रहकर करने पड़ते, कभी पंगत करना, प्रीतिभोज करना, गाड़ीपर सामान लादना, गाड़ी या घोड़ेपर चढ़कर चलना, गाय भैंस आदिक रखना, कितने ही काम करने पड़ते हैं किन्तु गृहस्थमें एक कला आयी है कि सब जीवोंमें चैतन्यस्वरूपको निहारता रहता है। इस नातेसे उसके लिए सब जीव अपने कुटुम्बके बराबर हो जाते हैं। कितने ही आंरभ कार्य करने होते तो त्रस हिंसाकी वहां भी सम्भावना तो हो सकती मगर संकल्पमें नहीं है त्रसघात। जब कोई मंदिर बनवायगा तो आखिर आरम्भ तो होगा ही। अनेक चीजोंके धरने उठानेमें अनेक जीवोंकी हिंसा भी सम्भव है, मगर संकल्पी हिंसाका पूर्णतया त्याग है, तो वहां भी वह यत्नाचार करेगा, पानी छानकर इसमें काम आये, गारा बने, वहां पर भी वह दृष्टि रखता है, सो कहते है कि इस गृहस्थका परिणाम जीवोंको मारनेका नहीं है, और जितने भी आरम्भ करता है घरके, आजीविकाके, धर्म साधनाके उनमें जीवोंके मारनेका तो प्रयोजन है ही नहीं और न आलस्य है। न प्रमाद है कि किसी जीवका घात हो।

गृहस्थधर्मकी धर्मसाधनामें उपयोगिता—देखिये—गृहस्थ धर्म भी एक धर्म है, जिसकी साधनामें यह जीव अपना मार्ग बना लेता है। पर वे और उस धर्मका आधार है आत्मस्वरूपका अनुभव। परभाव सब उसे असार दिख रहा। कोई समागम सारभूत नहीं है सब इस भगवान आत्माका घात करने वाले हैं। यहां जो भी इष्ट समागम मिले हैं रागकी अनेक बातें मिली है। तो उनको पाकर यह जीव खुश हो रहा है, मगर वह खुशी तो एक आगकी तरह है जिससे कि इस भगवान आत्माका यह चैतन्यप्राण जल रहा है। कभी अनिष्ट समागम मिल गए तो खेद मानता है, वह तो आग जंचती ही है। बाह्य पदार्थोंका लगाव इस भगवान आत्मापर प्रहार करनेवाला है। समता परिणाम हो तो आत्माकी रक्षा है। देखिये—काम सब करने पड़ रहे हैं यह स्थिति होती है गृहस्थकी, पर वहां भी अपनी सुध रहे। कोई अपनी धर्मसाधनामें रहे उसके प्रति यदि कोई कहे कि आत्मामें ही रमे तो जनताका, देशका कैसे उपकार होगा। जनताका उपकार करनेके लिए प्रयत्न करना ही चाहिए। सो सुनिये जब घरमें, समाजमें कोई रह रहा इसलिए बहुत सी बातें करनेमें आती ही हैं। पर एक बात यहां यह देखिये कि जनताका उपकार कोई कितना ही करना चाहे पर उसके चाहनेसे जनताका उपकार हो ही जाय सो बात नहीं, सामर्थ्य भी तो होनी चाहिए कि उसकी सहज चेष्टासे जनताका उपकार हो ही जाय। तो ऐसी सामर्थ्य उस जीवमें आयगी जिसको आत्मस्वरूपका परिचय होनेसे धर्मकी धुन लगी है और वहां पुण्यरस बढ़ रहा हे। उसमें ही वह बल आयगा कि जिसका सहज चेष्टासे लोगोंका उपकार होगा। और फिर परख भी लो कि जनताके उपकारके लिए ही जो जीवन समझता है उसके तो मिथ्याभाव है। यह मनुष्य जीवन आत्माके सम्यत्व, ज्ञान, चारित्रके पालनके लिए है। जरा लम्बे कालपर दृष्टि डालो और विस्तृत लोकपर

दृष्टि डालो जीवका सबकुछ उनके कर्मानुसार होता है। पुण्य हो उसमें कुछ भी सहायक हो जाता है। अगर इस मायामयी दुनियाके ख्यालमें ही रहे और आत्माकी दृष्टि भूल गए तो भविष्यमें आत्माका क्या गुजरेगा वह भी तो ध्यानमें लें।

सहज परमात्मतत्त्वके दर्शनमें ही शान्तिकी संभवता—भैया! खूब निर्णय करलें, शान्ति कहां मिलेगी? धन खूब बढ़ जाय तो शान्ति मिल जायगी क्या? इसको धनिक लोग खुद अनुभव कर रहे होंगे। धन जितना-जितना बढ़ा, उतना उतना शान्तिसे हाथ धोया। दुनियामें नाम कीर्ति बढ़ जायगी तो शान्ति मिल जायगी क्या? अरे आजके जो नेता लोग हैं वे ही जानते होंगे कि शान्ति मिलनी तो दूर रही, बल्कि अशान्ति और भी बढ़ गई। जगतका कौनसा समागम ऐसा है जिसमें आत्माको शान्ति मिल सकती हो? खूब सोचिये कि आत्माका परिचय हो गया, समस्त जगतसे निराला, समस्त परभावोंसे निराला अपने आत्माका परिचय मिल गया, अनुभव बना है ज्ञानानुभव हुआ है, एक आत्मीय सहज आनन्द जगा है तो उसके लिए यदि धनीकी स्थिति मिलती है तो वहां भी शान्ति, निर्धनकी स्थिति मिलती है तो वहां भी शान्ति। बड़ा नाम फैल रहा है उस स्थितिमें भी शान्ति अथवा कोई नहीं पूछ रहा है तो वहां भी शान्ति। तो शान्तिका आधार और कोई बाहरी बात नहीं है, किन्तु स्वच्छ चेतनामात्र भगवत्स्वरूप सर्वऋद्धिका स्थान परमपवित्र निजमें बसे हुए सहज परमात्माका दर्शन है। यह बात जिसे मिली वह सब स्थितियोंमें खुश रहता है। और आत्मस्वरूपका अनुभव जिसे नहीं हो पाया वह चाहे राजा बने, धनी बने, बड़ा यशस्वी बने, कैसी भी स्थिति पाये, पर उसको शान्ति नहीं है।

पारमार्थिक आनन्द पानेके उपायके प्रयोगकी आवश्यकता—भैया, एक वर्तमानका ही आनन्द ले लो। यदि भविष्यके बारेमें क्या होगा क्या न होगा ऐसा विकल्प चलता है तो बतलावो वर्तमानमें आप आनन्द चाहते हैं या नहीं। यदि चाहते हैं तो फिर वर्तमानका ही आनन्द लूट लो। अब यथार्थ पहिचान कर लीजिए कि वर्तमानका अनन्द हमें कैसे मिलेगा? जो कार्य लोग करते हैं विषय सेवनके, कषायोंके या और और भी आरम्भकी अनेक बातें तो उन सबके करते हुए उनको आनन्द मिला है क्या? मात्र मोहियोंने माना है कि आनन्द, पर वास्तविक आनन्द तो वह है कि जिसकी बदल न हो, और जिसके बाद फिर कष्ट न हो। यहां दो बातें समझ लीजिए संसारके सुख दुःखकी बदली चला करती है। किसीको सुख मिला है तो सुख ही सुख रहेगा सो बात नहीं, अथवा दुःख ही दुःख मिला है सो वह वैसा ही रहे सो बात नहीं। दुःखकी बात तो बराबर है संसारमें। वास्तवमें तो आनन्द नहीं है इन सब लगावोमें और फिर जो कल्पित सुख मिला है वह विनश्वर है। प्रयोग करके देख लीजिए। बाहरी पदार्थोंमें राग करके, प्रेम करके, आग्रह करके हम आनन्द पाते हैं या बाहरकी दुनियाको भूलकर केवल अपनेमें ज्ञानमात्र अमूर्त एक प्रकाशमान अपने आपको अनुभवनेमें आनन्द मिलता है। प्रयोग करके देख लीजिए—जैसे बाहरमें प्रयोग करते कि अमुक चीजके खानेमें सुख है या इसके खानेमें सुख है? दोनोंका स्वाद लेकर जाना जाता है कि अधिक स्वाद इसमें है। ऐसे ही प्रयोग करके तो देखो अगर दो मिनटको समस्त जगतके विकल्प छोड़कर और एक अपने आत्मामें बस गए तो आपका यह घर न मिट जायगा, यह गिर न पड़ेगा, कुटुम्बके लोग कहीं भाग न जायेंगे। आपकी यह

जायदाद कहीं खिसक न जायगी। वह सब आपको मिलेगा, उसमें घबड़ानेकी बात ही नही है, पर प्रयोग करके तो देखिये। बाहरी पदार्थोंके लगावका प्रयोग अनादिसे हम करते आये हैं। एक ऐसा भी तो दिल बनायें कि सारा जगत मायारूप है और उससे कुछ मिलता नहीं है मुझे। मरण समय तो एकदम स्पष्ट ही जान रहे हैं कि कुछ नहीं रहना है। जिनको मानते हैं कि यह मेरा पुत्र है, अमुक है, वे भी उतना ही भिन्न है जितना कि जगतके पशु पक्षी आदिक अन्य जीव भिन्न हैं। रंच सम्बंध नहीं है, वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है। तो जब सब मायामय है, असार है, मेरे हितका साधन नहीं है तो एक बार इन सबका विकल्प छोड़कर एक बड़े विश्रामके साथ बैठ जायें और ऐसे सत्यका आग्रह करें कि मैं तो बस सबका विकल्प छोड़कर बैठ गया। अपने आप ही सहज मुझे अपनेमें बसे हुए स्वरूपके भगवानके दर्शन मिलें तो मिलें, बस अन्यका विकल्प न करें। ऐसी बड़ी दृढ़ताके साथ परम विश्राम करके तो रहें। अपने आपका भी अनुभव कर लीजिए फिर देखिये कि अपने सहज स्वरूपके अनुभवका आनन्द मिलता है या नहीं। मिलेगा आनन्द और इस आनन्दकी स्थिरता रहेगी।

अपने स्वतंत्र अस्तित्वके आदरका परिणाम—देखिये जब कई चीजें मिली हुई होती हैं, तो बताओ उनका मिलाना सरल है कि अलग करना सरल है? लोग तो कहेंगे कि मिलाना सरल है पर परमार्थसे उत्तर यह है कि अलग होना सरल है। क्योंकि स्वरूप तो प्रत्येक पदार्थका स्वतंत्र स्वतंत्र है। पदार्थोंमें कहीं ऐसी बात नहीं पड़ी है कि चुम्बककी तरह वे सबको चिपकाते फिरते हैं। सब पदार्थ अपने अपनेमें ही सत् रहते है। तो प्रत्येक पदार्थका अलग होना सरल है और मिलना-जुलना यह कठिन है। मिलनेसे उन्हें पराधीनता है, अनेक अपेक्षायें हैं। इसे जानें युक्तिसे। जैसे हम आप सब जीव बैठे हैं तो ये शरीर, कर्म और जीव इन तीनके पिंडोला हैं, तीनों मिले जुले हैं फिर भी शरीर, कर्म और जीव इन तीनोंकी सत्ता तो न्यारी ही है। ये इस समय एक जगह रहकर भी अपने स्वरूपमें अपना-अपना ही अस्तित्व रख रहे हैं। तो यह मिलन हो रहा है एक बनावटके कारण। जो भावोंमें बनावट चलती, राग, द्वेष, मोह, होते, इस बनावटके कारण इनका मेल चल रहा है। पर यह बनावटका श्रम न किया जाय और जैसा उसका सहज स्वरूप है उसी प्रकार रहे तो वे सब बड़ी आसानीसे विघट जायेंगे। मिलावटमें तो एक कष्ट करना पड़ता है, इसको रागद्वेष मोहका कष्ट भोगना पड़ता है तब यह मिलावट चल रही है। तो जैसा मैं हूं वैसा ही अपने उपयोगमें रह जाऊं तो ये सब बिखर जायेंगे। तो बिखरा रहना, जुदा रहना यह वस्तुका स्वरूप है, मिलावट होना यह वस्तुका स्वरूप नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें सत्त्व रखे हुए है। तो यों समझिये कि जैसे किसी किवाड़में एक स्प्रिंग लगा दी जाती कि वह अपने आप बन्द है और जब तक हाथसे पकड़कर खींचे रहेंगे तब तक वह खुला है। जब तक परिश्रम कर रहे, कष्ट कर रहे तब तक वह खुला है, परिश्रम छोड़ दिया जाय तो वह बंद हो गया, ऐसे ही तब तक वह दुःख है, कष्ट है, आकुलता है, संक्लेश है, बनावट है, विकार है जब तक यह जबरदस्तीका मिलावट है और हम शान्त हो जायें, श्रम छोड़ दें, सहज ज्ञाताद्रष्टा रहें तो अलग रहना यह तो वस्तुका स्वरूप ही है, मेरा अस्तित्व मेरेमें ही है। वह मैं अकेला रह जाऊंगा, तो जब मैं अकेला

रह जाऊंगा उस समय निरन्तर आनन्द ही आनन्द मेरेमें चलता रहेगा। जब तक मिलावट है तब तक कष्ट चलता है और अकेला रह जाऊं तो वहां सहज आनन्द ही जगेगा।

अत्यन्त अकेले रहनेकी स्थितिका महत्त्व—अब बोलो अन्य सबसे अपना अलग हो जाना, सिद्ध भगवान हो जाना यह आपको इष्ट है या नहीं? अगर नहीं है इष्ट तो फिर मंदिर किसलिए आते? यहां आकर यदि यह भावना नहीं बनती कि प्रभु मुझे तो सिद्ध होना है, सिद्ध होनेसे पहले तो ये जगतके सारे संकट हैं। मेरेको वह दशा चाहिए कि जो मैं अपने अस्तित्त्वमें हूं उस ही अस्तित्त्वमात्र रह जाऊं। मैं तो अकेला ही रहना चाहता हूं, और इस अकेलेपनमें इस सिद्ध होनेकी स्थितिमें बस पूर्ण पवित्रता है धर्मादिक द्रव्योंकी तरह। अनन्त कालके लिए यह पवित्र ही रहेगा। तो जब अनन्तकाल तकमैं पवित्र ही रहूंगा, विकारसे जुदा हो जाऊंगा, केवल ज्ञातादृष्टा रहूंगा तो एक दो मिनटको तो उस ध्यान और समाधिमें एकाकीपनसे क्यों घबड़ायें? वह अकेलापन मुझे अनन्तकाल तक रहेगा और अनन्तकाल तक रहूंगा, सिद्ध भगवंत होऊंगा, तो फिर आज इस थोड़ेसे समयमें अपनेको अकेला अनुभव करनेमें क्यों घबड़ाये? अपनेमें अपनेको बस चैतन्यस्वरूपमात्र अकेला ही अनुभव करियेगा। ऐसा जिसने अपने चैतन्यस्वरूपका परिचय पाया है वह ज्ञानी गृहस्थ परिस्थितिवश रह रहा है गृहस्थीमें मगर वह किसीसे मोह नहीं करता और प्रवृत्ति करनी पड़ती है। तो जीवदयासे भरपूर होकर समस्त हिंसाबोंको टालकर अपनी चर्या बनाता है यह है सम्यग्दृष्टि गृहस्थकी चर्या।

अहिंसाकी धर्ममूर्तिता—धर्म एक अहिंसा है। अहिंसाका अर्थ है अपने परिणामोंमें विकार न आने देना। हिंसाका अर्थ है अपने परिणामोंमें विकार आ जाना। अन्यथा एक समस्या सामने आती है। इस लोकमें सब जगह जीव ठसाठस भरे हैं। जहां हम जानते हैं कि यह पोल है कुछ नहीं दिखता वहां पर भी अनन्तानन्त सूक्ष्म जीव भरे हैं। और फिर जितने आश्रय हैं वहां जीव हैं। औरकी तो बात क्या, अपना जो एक स्वयं शरीर है जिसमें बंधे पड़े हैं, इस शरीरमें ही अनेक जीव भरे पड़े हैं। मालिक तो मैं एक जीव हूं पर इसमें कोई त्रस, कोई स्थावर आदिक अनेक जीव भरे पड़े हैं। अगर बैठें तो जीव दब जायेंगे। जो इस शरीरमें पड़े हैं वे मर जायेंगे। तो हिंसा हो जायगी ना? तब फिर कोई मुनि हिंसासे न बच सकेगा। उपवास किया तो चूँकि पेटमें बहुत कीड़े ऐसे हैं कि जो आहार बिना नहीं रह सकते, उनको तो तकलीफ होगी। फिर तो उपवास करनेसे कितने ही जीवोंकी हिंसा हो जायगी। फिर कहां पली अहिंसा? तो ऐसी शंका करने वालोंके लिए उसका उत्तर एक ही है। अपने चित्तमें विकार आये तब तो हिंसा है। जैसे मुनि महाराज चार हाथ आगे जमीन देखकर ईर्या समितिसे विहार करते हैं और बड़े यत्नसहित विहार करते हुए भी कोई छोटा जीव पैर तले आ गया। मर गया तो उससे हिंसा तो नहीं बतलाया मुनिको। तो क्यों नहीं बतलाया कि मुनिके हृदयमें विकार न था, कोई संकल्प न था, प्रमाद न था इसलिए हिंसा न रही।

गृहस्थकी क्रियावोंकी यत्नाचार सहितता—गृहस्थ भी यत्नाचार पूर्वक आरम्भका कार्य करते हैं जैसे दिनमें ही झाड़ू बोहारी करना, बर्तन धोना, भोजन बनाना, पानी भरना आदि। तो इन सब क्रियावोंको यत्नपूर्वक गृहस्थ कर रहा है और उस यत्नपूर्वक करते हुएमें कोई जीव आ गया तो भी

उसके संकल्पी हिंसा न रहीं। चूंकि आरम्भ करना स्वयं हिंसा है तो आरम्भी हिंसाका तो त्यागी नहीं होता गृहस्थ, परसंकल्पी हिंसा गृहस्थके नहीं लगती आरम्भ करनेमें, रोजिगार करनेमें। हां प्रमादसे करे और मरते हैं तो मरने दो, ऐसी भी चित्तमें बात आये तो उसे हिंसा हो जायगी। गृहस्थकी सारी क्रियायें यत्नाचार सहित हैं। ईंधन अग्निमें डालेगा गृहस्थ तो देखभालकर, घुनी न हो। कोई जीव जंतु न हो, कितने ही लोग शोधके भ्रममें आकर लकड़ियोंको धोकर जलाते, इसलिए कि हमारे शोधमें फर्क न आये। यह तो उनकी एक ज्यादती है पर यह जरूर देखना चाहिए कि ईंधन घुना हुआ न हो, जीवजन्तु न हो, हिंसा न हो। ओखलीमें कूटना पड़े तो उसे साफ करना, जो अनाज पीसना हो उसे शोधना, पीसने झाड़ने आदिके काम दिनमें देखभाल कर करना। कहीं जीवकी विराधना न हो जाय, यह बात उसके चित्तमें बसी हुई है, इस कारण उसके संकल्पी हिंसा नहीं हैं।

प्रत्येक ज्ञानी श्रावककी स्वयोग्य चर्या—देखिये श्रावका व्रत, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चारों पाल सकते हैं। इन चारोंके ५ गुणस्थान हो सकते हैं। तो ये चारोंके काम जुदे हैं। जब यह वर्ण व्यवस्था हुई तो इन कार्योंके आधारपर हुई। आज उनके कार्य उनके पास न रहे, ब्राह्मण हैं तो वे भी दुकान धंधा करते हैं, वैश्य हैं तो वे भी उपदेश, भाषण करते, कोई सैनिक भी बन गया। क्षत्रिय भी अन्य-अन्य काम करने लगे, पर प्रारम्भमें सबकी व्यवस्था यही थी कि क्षत्रिय लोग रक्षाका कार्य करें, उनके हाथमें शस्त्र होते थे, दुष्टोंसे धर्मात्मावोंको बचाया करते थे ब्राह्मण लोग शिक्षा देने, धार्मिक विधि विधान कराने, धर्मोपदेश देने आदिके कार्य करते थे। उस समय प्राय: सभी लोग जैन शासनके भक्त थे, और उन्हीं जैनोंके ये चार विभाग थे। वैश्य व्यापारका काम करते थे, खेतीका भी और वाणिज्यका भी। और शूद्रजन शिल्पी और सेवाका कार्य करते थे। तो इन कार्योंको करते हुए सभीके सभी संकल्पी हिंसाके त्यागी थे। संक्लेशभाव करके लोभके वश होकर पापमयी आजीविका का उस समय कोई कार्य न करते थे।

ज्ञानी श्रावकोंकी आजीविकामें हिंसापरिहारक प्रवृत्ति—आज भी जिनको जैन शासनका श्रद्धान है वे न्यायनीतिके विरुद्ध कोई कार्य नहीं करते। जैसे क्षत्रिय कुलका धारक है तो वह दीनोंकी, अनाथोंकी रक्षा करता निर्बलोंको नहीं सताता, यह बात थी और अब भी हो सकती है। जो शस्त्ररहित पुरुष है उसको क्षत्रिय नहीं मारते। युद्धमें भी जो गिर जाय उसे नहीं मारते, जो पीठ फेरकर दीन होकर प्राण बचानेके लिए भगे, क्षत्रिय उसका पीछा नहीं करता। तो ऐसे कार्य करते हुए भी जैन शासनके भक्त न्यायनीतिको नहीं छोड़ते। किसीका धन लूटनेके लिए शस्त्र नहीं है, अभिमान या शत्रुतासे किसीको मारते न थे क्षत्रिय। देखिये जिसको ज्ञान है और श्रावक है उस क्षत्रियकी बात कही जा रही है। यदि शस्त्रसम्बंधी सेवा नहीं कर रहे क्षत्रिय, यदि वे प्रजाके स्वामी नहीं हैं तो बिना काम वे शस्त्र धारण नहीं करते। देखिये शस्त्र धारण करते ही भावोंमें कुछ खोटापन आ जाता है। हाथ पर बंदूक ले ली जाय तो देखो फिर उस लेने वालेकी मुद्रा कैसी बन जाती है। तो जिनको कोई शस्त्र सम्बंधी काम नहीं सौंपा गया, जो रक्षाके स्वामी नही, सेनामें नहीं, जो व्यवस्थाके जिम्मेदार नहीं वे हाथमें शस्त्र भी न लेते। और जिनके जिम्मे व्यवस्था है वे हाथमें शस्त्र लें तो उनके भाव खोटे नहीं होते, उनके भाव होते

अपना कर्त्तव्य निभानेके। तो क्षत्रिय शस्त्रधारी थे तो भी उनके संकल्पी हिंसाका भाव न था और जो वैश्य वर्णके थे वे कोई स्याही वाला काम करते थे लिखापढ़ीका, मुनीमगिरीका। तो उनके छल कपट नहीं था, सही लिखते थे, मालिकको धोखा नहीं देते थे। इस प्रकार सही आजीविका करते थे, क्योंकि उनके चित्तमें यह समाया था कि यह जीवन आत्माका धर्म पालनेके लिए है, बाह्य पदार्थोंका संग्रह करनेके लिए यह जीवन नहीं है। बाह्य पदार्थोंका संग्रह करले आखिर छोड़ना तो सब पड़ेगा। इसलिए यह भाव न रहना चाहिए कि मैं इतने धनका स्वामी बन जाऊं। आखिर वह स्वामी बननेसे लाभ क्या? समय आयगा, छोड़कर जाना पड़ेगा।

ज्ञानी श्रावकको कृषि कार्यमें भी संकल्पी हिंसाका अभाव—अनेकों बन्धु भी जो माली, जाट किसान आदिक कुलमें उत्पन्न हुए, जिनके और कोई आजीविका नहीं है, शिल्प नहीं जानते, सेवाकी ड्यूटी नहीं कर रहे, खेती करते हैं तो भी खेतीमें वे जीव दयाको नहीं छोड़ते। जो किसान श्रावक हैं वे खेतको जोतेंगे, कार्य करेंगे पर जितनी खेतीका परिमाण है या जितने खेत अपने पास हैं उनसे अधिक और भी बढ़ानेका परिणाम श्रावक किसानके नहीं होता, और वहां भी जितना बन सकता वह घटानेका प्रयत्न करता। वह अपने आपकी निन्दा ही करेगा कि मुझे यह कार्य परिस्थितिवश करना पड़ रहा है, इसमें अनेक जीवोंका विघात हो जाता है। यद्यपि उन जीवोंका घात करनेका मनमें रंच भी भाव नहीं है तो भी जानकारी तो है ही। तो वहां अपने भीतरमें निन्दा मानता रहता है यह श्रावक किसान खेतीमें कितना ही जल सींचना पड़ता नहरसे, कुवेंसे तो क्या वह जल छानकर सींचेगा? अरे इस तरहसे कहां सींच पायेगा। नहरसे नाली निकली है, उससे पानी जा रहा खेंतोंमें, मगर वह अपने पीनेके लिए बिना छना एक बूंद भी इस्तेमाल नहीं करता। उस किसानका संकल्पी हिंसाका त्याग रहता है और लोभके वश किसीने कहा कि हम तुमको इतने रुपये देंगे तुम वृक्षकी इन डालियोंको तोड़ दो तो वह नहीं तोड़ता। हां एक नौकरी हो, मजदूरी हो यह और बात है और एक अनर्थमें पाप करना यह और बात है। ऐसा वह लोभके वश भी न रहता। तो देखिये उस श्रावक किसानकी बात कि खेती करनेमें जीवघात होता है मगर एक भी जीवके मारनेका उसके संकल्प नहीं होता, और वह भीतर तो दयासे भरा हुआ है परिस्थिति ऐसी है कि पेट पालना होता है, अन्य कोई आजीविकाका कार्य नहीं है तो वह करता है मगर संकल्पी हिंसा उसमें रंच भी नहीं है।

भावोंपर हिंसा अहिंसाका निर्णय—कोई एक धनिक पुरुष जो सोना चांदीकी दुकान करता हो और देखनेमें तो यों लगेगा कि इसमें हिंसाका क्या काम, किन्तु भीतरमें अगर भाव यह है कि उसमें खोट अधिक मिला दें और यह ऐसा बिक जायगा तो बड़ा नफा होगा। तो देखो उसके भावोंमें हिंसा हो रही है। वहां तो हिंसा हो जायगी और संकल्पी हिंसा भी है कि दूसरेको धोखा देकर धन ऐंठ लूँ, मगर वह किसान श्रावक खेतमें इतनी हिंसा होते हुए भी वहां संकल्पी हिंसा नहीं चल रही। तो हिंसा और अहिंसाका निर्णय अपने भावोंसे चलता है, और जिस भावसे चलता है उसके अनुकूल प्रवृत्ति होती है, इसलिए द्रव्य हिंसाके आधारसे निर्णय दिया जाता है। जो पुरुष व्यापारका काम करता है वह न्यायपूर्वक व्यापार करता है। लोभ कषाय तो है ही मगर ऐसा तीव्र लोभ नहीं होता कि जो न्यायमार्गको

छोड़ सके। और उस व्यापारमें कितनी ही चेष्टायें करे मगर वह सब जगह अपनेमें निन्दा करता कि करना पड़ रहा है, ऐसी परिस्थिति है, पर मेरे करनेका काम तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रभाव है। ज्ञानी गृहस्थ वाणिज्यका कार्य करने वाला श्रावक उस वाणिज्यमें भी, व्यापारमें भी उसको घटानेकी बात सोचता है। बढ़ानेकी बात नहीं सोचता, क्योंकि उसका चित्त अपने आपके धर्ममें है। ऐसे ही जो शिल्पी अर्थात् सेवा करने वाले, शूद्र वर्णवाले हैं वे भी सर्व कार्य करते हुए भी आरम्भविषयक निन्दा करते, जिसे लोकमें कहते हैं कि करके भी नहीं करते। दयालुभावमें रहते हैं ये संकल्पी हिंसा नहीं करते। तो तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्यको अपने आत्माका बोध हुआ है और जान गया है कि शान्ति मिलेगी तो आत्मस्वरूपके अनुभवमें मिलेगी, किसी बाह्यपदार्थके लगावमें शान्ति न मिलेगी। ऐसे विवेकी पुरुषको जब घरमें ही रहना पड़ रहा है तो घरके कामोंको करते हुए भी आत्माकी ओर झुका रहता है और कभी संकल्पी हिंसा नहीं करते।

हिंसासे हिंसकका बिगाड़—हिंसा करनेसे किसका बिगाड़ है? किसी जीवको मारा, पीड़ा दी, अन्याय किया, दबाव डाला तो ऐसे परिणामसे हिंसा किसकी हुई? जिसने दूसरेको घात, दूसरेको दुःख दिया, दूसरेको दबाया, अन्यायके भाव किया उसने अपने चैतन्यप्राणका घात किया, इससे पापबंध हुआ, उसके उदयमें उसको दुःख भोगना पड़ेगा। संसारका सही स्वरूप जाननेका यही फल है कि मेरेमें दुर्भाव उत्पन्न न हो, किसी भी प्राणीका बिगाड़ करनेका भाव न आये, ऐसी चर्या होती है अहिंसाणुव्रतमें। कषाय और योगके वश द्रव्यप्राण और भावप्राणका घात होना हिंसा है। द्रव्यप्राण तो कहलाते हैं ये ऊपरके इन्द्रिय, शरीर, कान, नाक आदिक और भाव प्राण कहलाते हैं—इन्द्रिय द्वारा ज्ञान कर रहे ऐसे क्षयोपशम मन, वचन, कायकी चेष्टाकी शक्ति। ये सब भावप्राण कहलाते हैं। तो दूसरेका भावप्राण बिगाड़ना, द्रव्यप्राण बिगाड़ना यह कषाय और योगसे किया गया, तो चूँकि कषाय चित्तमें आयी इस लिए हिंसाका पाप लगा। आज जो जीव यहां सुखी नजर आ रहे उन्होंने पूर्वभवमें किसी जीवको सताया नहीं, सबके सुखी होनेकी भावना की। उससे जो पुण्य अर्जन हुआ, उसका फल है कि आज सुखसामग्री मिली। और जो लोग आज दुःखी नजर आ रहे हैं उन्होंने किसी अन्य जीवको बाधा दी, दुःखी किया उसका फल है कि आज ये दुःखी नजर आ रहे। किसी एक पुरुषने हमसे एक प्रश्न किया था कि महाराजजी बताओ, लोग तो कहते कि जीवोंका घात करना बुरा है मगर देखा तो यह जा रहा है कि ज्यों ज्यों जीवोंका घात किया जा रहा त्यों त्यों उनकी संख्यामें वृद्धि होती जा रही। तो इसमें हम जीवघातको बुरा कैसे कहें? तो वहां आधुनिक ढंगका दिलचस्प उत्तर दिया कि भाई जिन्हें वह जीव बनना था वे तो बनेंगे ही, साथ ही जो उन जीवोंकी हत्या करने वाले हैं, उनके मांसका भक्षण करने वाले हैं, उन्हें नाजायज सताने वाले हैं वे भी मर मरकर वही जीव बन रहे, इसलिए उन जीवोंकी वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। उत्तर सुनकर वह चुप रह गया।

अविकार चित्स्वभावकी दृष्टि करके कषायसे दूर होनेमें ही कल्याण—भाई सुखका मौलिक उपाय तो है अपने आत्माके सहज-स्वरूपका ज्ञान, और उस ही आधार पर चूँकि सब जीवोंको अपने समान समझ लिया इस कारण किसी जीवको सतानेका भाव न होना यह अहिंसा है। जिसने

अहिंसाणुव्रतका पालन किया वह श्रावक सद्गतिको प्राप्त होता है। धर्ममार्गको प्राप्त होता है और निकट कालमें निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर वह मुक्त हो जायगा। यह संसारमें रहना मौजके लिए न मानें। यहांकी मौजमें क्या रखा? एक कल्पना भर करली कि हम बड़े सुखमें है। मानलो यह जीवन आत्माकी उपासनाके लिए है। सर्व पदार्थोंसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र यह मैं आत्मा हूं। मेरा मैं ही जिम्मेदार हूं। मेरे भविष्यका बतानेवाला मैं स्वयं हूं। जैसे भाव करूंगा वैसा मेरा भविष्य बनेगा। तो अपनेमें विकारभाव न आने दें वह है अहिंसा और विकारभाव आये तो वह है हिंसा। कषाय जगी तो हिंसा हो गई। किसीके प्रति कषाय मत जगे, क्रोध मत आये, किसीको निरखकर घमंड मत करें, किसीसे मायाचार छल कपट यहांकी वहां भिड़ाना ये सब बातें न करें। इसीको तो कहते हैं दोगला और चौगला। दोगला वालेके तो दो गले समझो याने एकसे कुछ कहा दूसरेसे कुछ कहा और चौगला वालेके चार गले समझो, एकसे कुछ कहा, दूसरेसे कुछ कहा, तीसरेसे कुछ कहा, चौथेसे कुछ कहा यह चौगला कहलाया। चौगला कहो या चुगला कहो एक ही बात है। तो ऐसे चुगलखोर, मायाचारी करने वाला व्यक्ति निरन्तर भयशील रहता है अपनी वृत्ति साफ होनी चाहिए। दुनियामें मेरा यश चलेगा या न चलेगा यह कल्पना तो फोकटकी बात है। अरे एक अपने चैतन्यकुलको पवित्र बना लीजिए, यहांकी बाहरी बातोंमें क्या रखा है? और धर्मबुद्धिसे रहेंगे तो बाहरी बातें भी भली ही होंगी। और फिर कोई पापका ही उदय ऐसा आजाय कि धर्मभाव करते हुए भी लोकमें निन्दा चहे, अपयश चले तो चलने दो, उसका दया भाव करना? ज्ञानी जीव अपने भावोंको नहीं बिगाड़ता। मुख्य उसका यह ही लक्ष्य है।

हिंसा और अहिंसाका मूल लक्षण—हिंसा और अहिंसाका मूल लक्षण यह है कि जहां रागादिक भाव उत्पन्न हों वह तो हिंसा है और रागादिक भाव न उत्पन्न हों तो वह अहिंसा है। अब हिंसा अहिंसाका आपेक्षिक वर्णन भी रागद्वेषवश ऐसी वृत्ति बने कि जीवोंका प्राणघात किया तो वह तो बहुत बड़ी तीव्र हिंसा है। और किसी जीवको बचानेका भाव किया, राग हुआ, उसका बचाव बनाया तो इस क्रियामें राग तो हुआ मगर तीव्र राग न होनेसे वह अहिंसा है और सूक्ष्मरूपसे अगर देखें तो इतना भी विकल्प हो तो उसमें अपनी हिंसा है। मगर इसे हिंसाका रूप देनेसे जो बड़ी हिंसा है उसका तो ख्याल भूल जाता है और स्वच्छंद बन जाता है। इस कारण जीवदयाको धर्म कहा है। अगर राग रंच भी न हो, जीवदया तकका भी परिणाम न आये,विकल्प न आये, इतना वीतराग बने कोई तो वहां होती है पूर्ण अहिंसा। तो रागद्वेष आत्मामें प्रकट न हों, अबुद्धि पूर्वक जो चल रहे उसपर हमारा क्या वश? कर्मका उदय निरन्तर चल रहा है जीवके, पर आश्रयभूत कारण बनेगा तो वह विकार प्रकट होगा और आश्रयभूत कारण न बने तो वे विकार भीतर आये, कर्मका उदय होनेसे। पर विकार प्रकट नहीं हो सकते। तो इतना उपाय बुद्धिपूर्वक विकारको हटानेमें होता है वह अबुद्धिपूर्वक होने वाला विकार खुद हट जायगा और प्रकट हो या अप्रकट हो। सभी विकारोंके हटानेका उपाय है आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपमें यह मैं हूं ऐसा अनुभव करना। रागद्वेष न हो ऐसा ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी वृत्ति होना। मैं ज्ञानमात्र हूं, सबसे निराला हूं, किसी अन्यसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं। ऐसे सबसे निराले स्वतंत्र अंतस्तत्त्वमें जिसका उपयोग रमें उसके समाधिभावसे सारे विकार टल जाते हैं।

बुद्धिपूर्वक चेष्टा भावानुसार होनेके कारण द्रव्यहिंसामें हिंसाकी प्रसिद्धि तथा भाव अशुभ न होनेपर अबुद्धिपूर्वक घटनामें हिंसाका अप्रभाव—भैया भावसे ही हिंसा है भावसे ही अहिंसा है। इस कारण ईर्यासमितिसे चलने वाले मुनि यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले भव्यके चूँकि रागादिक भावोंका आवेश नहीं है इस कारण कदाचित बाहर किसी जीवका प्राण भी चला गया तो भी उनके हिंसा नहीं होती। ऐसी बात सुनकर कोई यह सोचे कि मैं जीवघात करता रहूंगा और भाव हिंसा करनेके न बनाऊंगा तो ऐसा कभी होता है क्या कि वह समझकर जीवघात करे और भावोंमें रागभाव न आने दे? ऐसा नहीं संभव है इसी कारण बाहरी हिंसा देखकर भावहिंसाका अनुमान बनता है मगर पाप लगा भाव हिंसासे। भाव हिंसा जो नहीं कर रहा। जीवके घातका परिणाम जो नहीं बना रहा उसका हाथ कैसे छूटेगा किसी जीवका घात करनेके लिए? तो मूलभाव अन्दरका है कि जीवघात करना हिंसा है और अपने ज्ञानमात्र स्वरूपमें संतुष्ट रहना, लीन रहना यह अहिंसा है। तो यह सद्गृहस्थ जिसने आत्म स्वरूपका परिचय पाया है उसकी बाह्य प्रवृत्तियां यत्नाचारपूर्वक होती हैं। श्रावक अवस्थामें अनेक आरम्भके कार्य करके भी यह गृहस्थ संकल्पी हिंसाका दोष नहीं करता और अपने हृदयको स्वच्छ रखता। सर्व जीवोंके प्रति सुखी होनेकी भावना निरन्तर बनाये रहता। ऐसे सद्गृहस्थ श्रावकके अहिंसाणुव्रतका पालन होता है।

विकारकी निवृत्तिमें अहिंसाधर्मका पालन—श्रावकके बारह व्रतोंमें अहिंसाणुव्रतका कथन चल रहा है। अहिंसा नाम है विकारके न होनेका। जीवमें रागद्वेष काम आदिक कोई विकार हुआ कि वहां हिंसा हो गयी। किसकी हिंसा हो गई? खुदकी। तो यदि कोई जीव रागादिकके वश है। प्रमाद सहित प्रवृत्ति करता है। उसका चलना उठना, बैठना, सोना, उसकी इस प्रवृत्तिमें चाहे कोई जीव न भी रहे तो भी उसकी निश्चित हिंसा ही है, क्योंकि परिणामोंमें विकार है। आत्माकी सुध नहीं, शरीरमें ममत्व है इसलिए अयत्नाचार है, उस जीवके हिंसाका बंध आगे-आगे चल रहा है अर्थात् हो रहा है। जो जीव कषाय सहित होगा, विकारभाव करेगा, किसीको मारनेका परिणाम करेगा तो पहले तो उसने अपने आपको ही मार लिया, पापबंध किया, अपनी सुधछोड़ी, आकुल व्याकुल हुआ, पश्चात् उसपर जीवकी द्रव्य हिंसा हो या न हो, यह तो उसके कर्मके आधीन है, पर बुरा विचारने वालेने अपने आपकी हिंसा कर ही ली। इससे अपने आपपर एक दया रखें कि किसी जीवके प्रति दुर्भाव न आये। सब जीव सुखी हों, किसीका बुरा न हो, ऐसा परिणाम रखिये अपनी रक्षा है इस परिणाममें। तो यह हिंसा त्यागने योग्य ही है। जैसे अहिंसाणुव्रतमें बताया है कि त्रसकी हिंसाका तो त्याग करना ही और बिना प्रयोजनस्थावरकी हिंसाका भी त्याग करना। यह प्रवृत्ति प्रत्येक गृहस्थको चाहिए ही। यदि कोई हिंसाका तो त्याग नहीं करता और चाहे कि हमसे हिंसा न हो तो भी उसके भावमें त्याग न होनेसे निरन्तर हिंसा ही चल रही है, क्योंकि कषायभाव बना है और इसी कारण उसके संस्कारमें बसा हुआ है। कोई सा भी मौका आगया तो हिंसा कर सकता है। या न भी करे तो यह दृढ़ता चित्तमें क्यों नही आती कि जीवोंकी हिंसा करना खोटी बात है उसका त्याग, नियम, प्रतिज्ञा होनी ही चाहिए। तो संकल्पी हिंसाके त्यागमें आपको जीवनमें क्या कष्ट पड़ेगा? किसी भी समय कोई दुःख आ ही नहीं सकता है। तो

प्रत्येक गृहस्थको संकल्पी हिंसाका तो नियमसे त्याग करना ही चाहिए। नहीं तो हिंसककी भांति उसके हिंसाका पाप लगता ही रहेगा।

हिंसायतनोंसे अलग रहने व स्वच्छन्द प्रवृत्ति न करनेकी शिक्षा—देखिये—वास्तविकता तो यह है कि छोटी हिंसा हो या बड़ी हिंसा हो। कोई भी हिंसा परवस्तुके कारण नहीं होती। होती है अपने परिणामसे। तो भी एक द्रव्यसे दूसरे द्रव्यमें न भला न बुरा, कोई परिणमन नहीं पहुंचता यह वस्तुका स्वरूप है। और इसी आधार पर देखिये कि जो हिंसा होती है उसका कारण कषायभाव है, परवस्तुके कारण हिंसा नहीं है। फिर भी कोई ऐसा सोचे कि जहां चाहे बैठो, उठो, रहो, जब परवस्तुके कारण हिंसा नहीं है तो हथियार लिए रहो, जहां हिंसा होती हो ऐसे स्थानपर खड़े रहो या जहां चाहे रहो, सो बात न करना चाहिए, क्योंकि ये हिंसाके आयतन हैं। उनके प्रसंगमें रहकर कभी खोटे परिणाम हो सकते हैं, सो यद्यपि किसी परवस्तुके कारण हिंसा नहीं होती, अपने ही भावोंसे, कषायोंसे हिंसा होती। तो भी परिणामोंकी निर्मलता रखनेके लिए हिंसाके साधनोंसे अलग रहना ही चाहिए। एक बात और भी ध्यान देने लायक है कि कुछ थोड़ा बहुत पढ़लिखकर मन चले लोग सब कहने लगते कि आत्मा तो अविकार है। वह तो अहिंसा स्वरूप ही है वह तो भगवान रूप है सो मेरेको कभी हिंसा लग ही नहीं सकती। मेरे भाव भी कषाय रहित हैं। सुन रखा है कि जीवका स्वरूप स्वभाव न प्रमत्त है न अप्रमत्त, न कषायसहित है, न कषायरहित है तो कषाय सहित तो स्वरूप है ही नहीं मेरा। मैं कषायसे रहित हूं, कषायसे दूर हूँ इसलिए मेरेको क्या हिंसा लगेगी? ऐसा जानकर यथेष्ट अपनी प्रवृत्ति करता रहता है। जहां चाहे जाता है। तो वह क्या कर रहा है? निश्चयसे तो जान नहीं रहा पर मनमें सोच रहा कि हम निश्चयका आश्रय कर रहे। निश्चयसे तो जीवका स्वभाव है विकाररहित। पर कोई अपनी हालत भी ऐसी मानले कि मैं विकार रहित हूं तो यह तो उसकी भूल है। वर्तमान अवस्था तो विकार सहित है मगर मेरा स्वरूप, मेरा स्वभाव अविकार है, ऐसा समझना चाहिए था। मगर पर्याय रूपमें भी मैं अविकार हूं ऐसा मानकर जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करता है वह तो अपना विनाश कर रहा। चारित्रका विनाश कर रहा तो उसके निरन्तर हिंसा ही हो रही। अज्ञान मिथ्यात्व तो उसके बराबर पड़ा हुआ है। यदि परिणाम रागद्वेष रहित हो गया तो फिर अभक्ष्य अयोग्य कार्योंमें क्यों लगता? धन परिग्रह आरम्भ आदिकमें कैसे प्रवृत्ति करता? तो जो हिंसासे विरक्त है वह हिंसाहोनेके कारणोंको दूरसे ही छोड़ेगा। तो यह ध्यान देना कि हम अपने परिणामोंमें हिंसासे विरक्त होना चाहते हैं। इस समय मैं विकाररहित नहीं हूं, स्वभाव अवश्य मेरा विकाररहित है।

भावके आधारपर हिंसा अहिंसाका निर्णय—हिंसाका मूल आधार ये जीवके रागादिक भाव बन रहे हैं तो उसकी हिंसा है और रागादिक भाव न हों तो वहां अहिंसा है। इसी आधारपर देखिये—जगतमें कैसी घटनायें चलती हैं। कोई पुरुष किसीकी हिंसा नहीं कर रहा मगर हिंसाका फल भोग रहा, कर्मबन्ध हो रहा, इसका उदाहरण—जैसे तलवार बनानेवाले लोहार, उनका काम केवल तलवार बनाना है, वे कहीं किसीको मारने नहीं जाते मगर बनाते हुएमें उसकी धार देखते हैं। हां इससे कट जायगा जीव, इस प्रकारके उसके संकल्प चलते हैं। तो इस कारण आयुध बनाने वालोंके निरन्तर हिंसा चलती

रहती है। और बाहरमें किसीकी हिंसा वह कर नहीं रहा। स्वयंभूरमण समुद्रमें एक बहुत बड़ा मत्स्य रहता है जिसकी लम्बाई एक हजार योजन, चौड़ाई ५०० योजन और मोटाई २५० योजन है। चार कोशका एक योजन। ऐसी अवगाहना सुनकर अचरज न करें या शंका न रखें, कारण यह है कि आप यहीं देखलो जो छोटी छोटी तलैया हैं उनमें मछली छोटी होती हैं, जो बड़े तालाब हैं उनमें मत्स्य बड़े मिलते हैं और आज भी जो बड़े समुद्र हैं उनमें सुना है कि मीलों लम्बी मछलियां होती हैं। अब जो स्वयंभूरमण समुद्र इतना बड़ा है कि जितना परिमाण उसका है उतने परिमाणमें असंख्यात द्वीप समुद्र आगए। तो इतने बड़े समुद्रमें एक मच्छ है, दूसरे वह सम्मूर्छनजन्म वाला है, बड़ा कूड़ा करकट पड़ा है, मिट्टीका ढेरसा लगा है या अन्य वस्तुवें मिली हैं बस वही मच्छरूप परिणम जाता है। इतनी बड़ी अवगाहनाका मच्छ स्वयंभूरमण समुद्रमें रहता है और वह मुँह बाये पड़ा रहता है, जिसके मुखमें हजारों मछलियां आती-जाती रहती हैं किन्तु उस महामत्स्यके कानमें, आंखमें एक तंदुलमत्स्य रहता है और होते हैं ये सब मन वाले, तो वह विचार करता है कि यह मत्स्य बड़ा मूर्ख है, मुख बाये पड़ा रहता है, इसके मुखमें हजारों मछलियां आती जाती रहती हैं तो भी उन्हें यह खाता नहीं है। इसकी जगहपर अगर मैं होता तो इनमेंसे एकको भी न बचने देता, ऐसा भाव बनाता है। अब देखिये हिंसा तो वह न कर सका किसी भी मछलीकी मगर महापापका बंध करता है।

भावोंके आधारपर हिंसा अहिंसाका निर्णय—देखिये यह प्रकरण कई दिनसे चल रहा है, इसमें ऊबनेकी बात यों नहीं कि समस्त धर्मपालन अहिंसाके आधार पर है और अपनेको प्रेरणा मिलनी चाहिए कि जब खोटे भाव होनेसे ही हिंसा होती है और उन खोटे भावोंसे लाभ कुछ नहीं मिलता, तो उन दुर्भावोंसे बचना चाहिए। और भी देखिये—दयालु पुरुष अथवा डॉक्टर समझ लीजिए। दयावश होकर दूसरेका आपरेशन कर रहा है, एक जीवन बचानेके लिए सारा प्रयत्न कर रहा है और कदाचित् उसी प्रयत्नमें वह रोगी मर जाय जो उस डॉक्टरको किसीने हिंसक नहीं कहा, और गृहस्थजन भी मंदिर बनवाते, अनेक धर्मायतन बनवाते तो आखिर बनवानेमें किसी न किसी रूपमें हिंसा तो चलती है, कहां तक जीवोंको बाधासे बचायें, किन्तु वहां परिणाम धर्मके हैं सो उनके करते हुए भी उनके बराबर पुण्यबंध चल रहा, क्योंकि यत्नाचारपूर्वक वे करते हैं। और भावोंमें केवल प्रभुकी भक्ति है। तो भावोंके अनुसार देखिये एकको हिंसा हो रही फिर भी हिंसाका बंध नहीं और एकको हिंसा नहीं हो रही फिर भी हिंसा है, पाप लग रहा। और भी देखिये—हिंसा तो करेगा अल्प और रागद्वेष अगर तीव्र है तो उसके उदयकालमें बड़ा फल पायगा। एक तुलना करो। राजाको किसीपर थोड़ा भी क्रोध आये तो वह जज चाहे दो चार तमाचे उसके जड़ सकता है और एक छोटा आदमी किसी कारणसे राजापर बैर बांधने लगे और इस भावमें आये कि मैं इस राजाको कभी मारूं चाहे एक दो ही थप्पड़ मारूं, तो उसको उसके मारनेका उपाय बनानेमें, संक्लेश करनेमें कई महीने निकल जाते हैं तब कहीं वह एक दो थप्पड़ मार पाता है। तो यहां विचार करो कि पापका बंध अधिक किसको हुआ? एक थप्पड़ मारने वालेको या बहुत···? राजाने मानो बहुत पीड़ा दी हो तो भी हृदयमें उसके कषायकी मंदता है, उतनी तीव्रता नहीं और एकने बड़ा तीव्र संक्लेश किया महीनों तब जाकर एक दो थप्पड़ मार सका। तो कोई अल्प

हिंसा कर पाता मगर पाप अधिक बांधा। तो बाहरी हिंसाके आधारपर हिंसाका निर्णय नहीं है किन्तु उस पुरुषके भावोंके आधारपर हिंसा और पापबंधका निर्णय हैं।

हिंसाफल भोगनेकी विचित्रताके परिचयसे भावहिंसामें ही हिंसापनेका निर्णय—ऐसी भी घटना बन जाती कि हिंसा तो कर पायेंगे बादमें और उस हिंसाका फल भोग लेगा पहले ही। जैसे एक मुनष्य किसीको जानसे मारनेका इरादा किए हुए है उसे महीनों गुजर गए। निरन्तर संक्लेश बना हुआ है तो जबसे वह हिंसाका भाव कर रहा, पाप बंध तो तब ही से चल रहा है। हिंसा कर पायगा ६ माह बाद और पापबंध किया उसने ६ माह पहले। तो उस एक बंधके थोड़े दिन बाद फल भी मिल सकेगा। तो हिंसा कर सका बादमें और उस हिंसाके भावके कारण फल भोग लिया उसने पहले। तो भावोंसे ही हिंसा चली तब ही तो यह घटना बनी। कोई तुरन्त उस हिंसाकाफल पाता, जैसे किसीको मार रहा और वह भी उसी प्रसंगमें मर गया। कोई बादमें फल पाता। किसीको मारा तो उस मारने वालेको किसी दूसरेने मारा। पर हिंसा सबकी उस ही समय लगती है जिस समय वह खोटे परिणाम करता है। और भी देखिये हिंसा करने वाला तो एक है और फल भोगने वाले अनेक हैं, ऐसी भी घटनायें होती हैं। जैसे किसी चोरको, हत्यारेको फांसी दी जा रही है तो फांसी देने वाला तो एक है—चाण्डाल या फांसीका हुक्म देने वाला राजा और तमाशा देखने वाले सैकड़ों हजारों लोगोंकी भीड़ लगी है वहां यदि उन सबने समर्थन कर दिया तो उन सबने पापका बंध किया। और कहो हिंसा करने वाले अनेक हैं और फल भोगेगा एक। जैसे एक घटना लो कि राजाने किसी बड़ी सेनाको मारनेका हुक्म दिया और सेना भिड़ गई है, सबका सफाया कर रही है। तो देखिये सीधे मारने वाले तो हैं हजारों लोग मगर उसका पाप मुख्य रूपसे लगेगा राजाको, जिसकी आज्ञासे वह हिंसा हुई। यद्यपि मारने वालोंके भी जितने अंशमें परिणाम थे उतने अंशोंमें बंध उनके हुआ, पर मुख्यता देखिये—वे सेनाके लोग तो अपना कर्तव्य निभा रहे हैं, पर जिसने आर्डर दिया पाप उसको लगा। तो ऐसा चूंकि भावोंके आधार पर ही हिंसा है तो उस हिंसा और अहिंसाके विषयमें अपेक्षासे निर्णय किया जाता है। पर जो एकान्तकी हठ करे कि बाहरमें किसीकी हिंसा हो वहां हिंसा है तो वह हिंसाके निर्णयको नहीं पा सकता।

अहिंसक होनेके अभिलाषियोंको जीवस्थान आदिके विज्ञानकी व तत्त्वज्ञानकी अनिवार्य आवश्यकता—जिनको हिंसासे विरक्त होना, है अहिंसक जीवन बनाना है उनका काम है कि तत्त्वज्ञान करें, अपने आत्माका स्वरूप पहिचानें और इसकी तरह सर्व जीवोंका स्वरूप जानें। और कहां-कहां जीव हुआ करते हैं, किस किस आधारमें जीव रहा करते हैं उन जीवसमासोंका भी ज्ञान होना चाहिए। कितने ही लोग ऐसा सोचने लगते हैं कि जो जान रहा है कि जीव यहां है और वह उसका घात करे। प्रमाद करे तभी तो हिंसा लगनी चाहिए। और जिसको पता ही नहीं है कि जलमें जीव है, जल खुद जीव है और वह अनछना जल पिया करे तो उसको हिंसा न लगना चाहिए। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं, पर बात यों नहीं है। अज्ञानका बड़ा पाप होता है। मिथ्यात्व और अज्ञानये सहयोगी चीजें है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोंका जो द्रव्यप्रवर्तन है अथवा उनका भाव है उससे भी अधिक मोह पाप मिथ्यात्वका होता है क्योंकि वहां आत्माकी सुध नहीं। जीवका ज्ञान नहीं। तो अज्ञान भावमें

कोई बच सके पापसे, यह बात नहीं है, किन्तु उसके तो निरन्तर पाप चल रहा है। बाह्य जीवोंकी हिंसा करने वाला तो जब हिंसा कर रहा, भाव कर रहा तब ही पाप है, लेकिन जिसके मिथ्यात्व अज्ञान बसा, मिथ्यात्व बसा उसके तो निरन्तर पापका बंध चलता है इसलिए तत्त्वज्ञान करना, जीवोंके रहनेके स्थान जानना और हिंसासे विरक्त रहना। तो यहां यह कहा जा रहा कि त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग तो पूर्णतया किया जाय, संकल्पी हिंसाका तो पूर्णतया त्याग किया जाय और बिना प्रयोजन स्थावरकी हिंसा न करें। ऐसी वृत्ति प्रत्येक गृहस्थकी होनी ही चाहिए और चलनेमें, उठने बैठनेमें, प्रवृत्ति करनेमें दयाभाव रखें तथा यत्नाचार किया जाय।

साधुताकी अतीव मोटी एक पहिचान—साधु लोकमें अनेक तरहके पाये जाते हैं। जैसे कि लोक व्यवहारमें कहा जाता है सन्यासीजन कपड़ा पहिनने वाले अथवा कैसे ही हों, जिन्हें लोग साधु कहते व्यवहारमें उन साधुवोंकी एक मोटी पहिचान बतला रहे कि इनमें थोड़ा बहुत साधुपना है या नहीं मोटी पहिचान यह है कि वे जूता पहने हुए न मिलेंगे। बहुत सीधी पहिचान बतला रहे। आप कहेंगे कि जूतेमें ही कौनसी बात हो गई? तो देखिये—जूता पहिनने वाले सन्यासीजन देख भालकर न चलेंगे। जीवोंकी रक्षा करते हुए न चलेंगे, उनके परिणाम इस ओर न आयेंगे और एक अभिमानभाव रहेगा, ऊंची दृष्टि करके चलेंगे, और आप सब जगह परख भी लीजिए, जो भी इन बाह्य भावोंकी ओर इतना आकर्षित है उसको आत्माकी सुध कहां है? वहां यत्नाचार नहीं है।

धर्मसाधनाके विचारसे नंगे पैर गमन करनेमें भलाई—यहां धर्मसाधनके प्रसंगमें जीवदयापर ध्यान दीजिए, समझ लीजिए कि मानो मंदिर पास है। रोज आप मन्दिर आते हैं और जूता पहिनकर मन्दिर जायें तो अपने परिणामोंमें दृष्टि दीजिए कि क्या आप जीव रक्षाका भाव रखते हुए चलेंगे? कमसे कम मन्दिर आने तक तो जीव रक्षाका परिणाम होना ही चाहिए। इतनी ही ईर्यासमिति सही, पर इसके अतिरिक्त और भी देखिये—जूता उतारकर नीचे रखकर दर्शन करने गए, अब नये जूते हैं तो बारबार उनका ख्याल बीच-बीचमें आयगा। एक बार अम्बालामें एक ब्राह्मण पंडितने शास्त्रसभामें कहा कि जो लोग जूता पहिनकर मंदिर जाते हैं वे एक बार तो भगवानको नमस्कार करते हैं और एक बार जूतोंको नमस्कार करते हैं। जैसे दर्शन करते हुएमें कहते हैं ना "त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वंमम देवदेव।" हे देव तुम्ही हमारी माता हो यह तो मानो भगवानके लिए कहा, और तुम्ही हमारे पिता हो यह मानो जूतोंके लिए हो गया। क्योंकि जूतेकी तरफ दृष्टि करके कहा ना। ऐसे ही भगवानके लिए तुम्ही हमारे बंधु हो, जूतोंके लिए और तुम्ही हमारे सखा हो ··· मानो वह भक्त एक बार तो भगवानको नमस्कार करता और एक बार जूतोंको। यह हालत होती है जूता पहिनकर मंदिर आनेमें। और फिर एक प्रभावनामें भी कमी आयी। नंगे पैर मन्दिरमें आते हुएमें देखने वाले लोग भी बहुत प्रभावित होंगे, वे भी कहेंगे कि देखो यह इतने बड़े आदमी होकर नंगे पैर जा रहे तो मन्दिर ही जा रहे होंगे। तो नंगे पैर चलना प्रभावनाकी दृष्टिसे भी उत्तम है। तो इसका ध्यान रखना चाहिए कि कोई जूता पहिनकर मन्दिर न आयें। हां किसीका मकान मानलो मंदिरसे ज्यादह दूर पड़ता है, जूते पहिनने ही पड़ जायें तो उनकी बात और है। मगर

मंदिरके निकट ही यदि घर है तो उन्हें अवश्य नंगे ही पैर मंदिर आना चाहिए। नंगे पैर आनेसे कमसे कम कंकड़ पत्थर, गोबर, मिट्टी या कीड़ा मकोड़ा आदिसे बचकर चलनेके बहाने दृष्टि नीचेकी ओर तो रहेगी। नीचेकी ओर दृष्टि रहनेसे जीवोंकी देखभाल कर तो चलेंगे। वहां जीव रक्षाकी बात बन जायगी। तो ऐसे अनेक कार्योंमें यत्नाचार रहना चाहिए जिससे जीव हिंसाका बचाव हो और अपनेको किसी भी प्रकार उसमें दोष न आये।

छेदनबन्धनपीड़नमतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च, स्थूलवधाद्व्युपरतेः पञ्च ॥ ५४ ॥

अहिंसाणुव्रतके पांच अतिचारोंमें प्रथम व द्वितीय अतिचारका निर्देश—श्रावकके अणुव्रतमें क्या-क्या दोष लगा करते हैं जिन दोषोंको टालना चाहिए।उन दोषोंका इस गाथामें वर्णन है। (१) पहला अतिचार है छेदन, मनुष्य तिर्यञ्चके कान, नाक आदिक छेदना यह छेदन नामक अतिचार है। भला बताओ पशुवोंकी नाक जो छेद डाली जाती है उसे वे पशु चाहते हैं क्या कि मेरी नाक छेदी जाय? अरे वे नहीं चाहते, उनके पीड़ा होती है। पर चूँकि बध नहीं किया, पीटा नहीं, थोड़े समयकी बात है इसलिए इसे अतिचारमें गिना है, अनाचारमें नहीं गिना पर यह अतिचार भी न करना चाहिए। मनुष्योंके भी किसी बातमें अंग छेद दे तो वह भी अतिचार है। अब एक प्रश्न आता है कि छोटी बच्चियोंके जो कान नाक छेदे जाते बारी, बाला आदिक पहननेके लिए सो वह कैसे रहेगा, अतिचार या अनाचार या निर्दोष? इसके अनुसार तो अतिचार ही है। क्या जरूरत पड़ी है कि कान, नाक छेदे जायें, पर एक शृङ्गारके लिए छेदे जाते हैं। और उस समय उस बच्चीको शायद उमंग भी नहीं होती कि मुझे छेदा जाय, तिस पर भी कुछ थोड़ा विचारणीय होता क्योंकि अनेक बच्चियां चाह करके भी छिदातीं, पर अंगोंके छेदनेमें अतिचार दोष हैं। (२) अहिंसाणुव्रतका दूसरा अतिचार है बांधना—लोग गाय, भैंस आदिकको बांध देते हैं तो उस बंधनमें भी उन्हें कष्ट होता है। पिंजड़ेमें तोता मैना आदिक चिड़ियोंको रोक देना यह बंधन अतिचार है। यहां थोड़ा इतना फर्क जानना कि मनुष्योंको बांध देना, उन्हें कारागारमें रोक देना यह तो अतिचार है ही पर थोड़ा गाय, भैंस आदिकके सम्बंधमें प्रश्न रह जाता है। उन्हें बांधे बिना तो नहीं सरता। बांधते ही हैं। उनका इतना ख्याल रखना कि दृढ़ बंधनसे न बांधना। बांधना तो गृहस्थको पड़ता ही है, पर ऐसा बंधन बांधना कि कोई उपद्रव आ जाय, सांप निकल आये या अग्नि लग जाय तो वह उस बंधनको तोड़कर अपने प्राण बचा सकता हो। ऐसे बन्धनको बांधनेकी तो विवशता है, पर दृढ़ बन्धनसे बांधनेमें दोष है, क्योंकि अग्नि आदिकके लग जाने पर उसका प्राणघात हो सकता है। एक घटना है सागरकी। उन दिनों हम वहीं पढ़ते थे, वहां एक सिंघई जी के घर एक बड़ा सुन्दर घोड़ा था, वह सभीको बड़ा प्यारा था। उसको एक बड़े अच्छे कमरेमें बांधा जाता था और बंधता था सांकलसे। समयकी बात कि एक बार वहां आग लग गई और वह घोड़ा वहीं जलकर मर गया। तो यह बंधन भी अहिंसाव्रतका अतिचार है।

अहिंसाणुव्रतका तृतीय व चतुर्थ अतिचार—तीसरा अतिचार है पीड़न—मनुष्य, तिर्यञ्च

आदिकको लात, तमाचा, लाठी आदिकसे पीड़ा देना यह पीड़न अतिचार है। देखते हैं कि बैल, झोंटा, घोड़ा आदिक पशु गाड़ीमें जुतते हैं। बड़ा बोझ उनपर लादा जाता फिर भी वे मारे पीटे जाते हैं। यह अहिंसाणुव्रती श्रावक भी यद्यपि गाड़ी बैल सब रखता है फिर भी उनका पीड़न नहीं करता। (४) चौथा अतिचार है अतिभारारोपण—मनुष्य और तिर्यञ्च पर अधिक बोझ लादना, गाड़ी आदिक पर अधिक बोझा लादना यह अतिभारारोपण नामका अतिचार है। जितनी सामर्थ्य है गाड़ीवान जानते हैं उससे भी कम लादना यह तो गृहस्थीमें निभ जायगा अहिंसाणुव्रतमें, पर उसपर अधिक बोझ लादना यह दोष है। (५) पांचवां अतिचार है अन्नपान निरोध। मनुष्य या तिर्यञ्चको खाने पीनेको रोक देना, समयपर न देना, समय लम्बा भूख प्यासमें बिताना यह अन्नपान निरोध नामका अतिचार है। जिस श्रावकने अहिंसाणुव्रत धारण किया है वह इन ५ अतिचारोंको टालता है।

अहिंसाणुव्रतकी पूरक प्रथम, द्वितीय व तृतीय भावना—अहिंसाणुव्रतको निर्दोष पालनेके लिए भावनायें उत्तम होनी ही चाहिए जिन भावनाओंके अभ्याससे यह अहिंसाव्रत भलीभांति पले। तो उसके लिए ५-५ भावनायें प्रत्येक व्रतकी बतायी गई हैं। सूत्रजीमें इसका सूत्र है और ये भावनायें श्रावकके लिए भी काम करती हैं और मुनि महाराजके महाव्रतके लिए भी काम करती हैं। भावना भानेसे व्रतोंमें दृढ़ता होती है, वीतरागतामें वृद्धि होती है, खोटे ध्यान दूर हो जाते हैं। आत्मानुभवकी अभिमुखता बनती है। भावना एक ऐसा वैभव है जीवका कि जिसके प्रसादसे ही यह अपने आपकी उन्नति कर लेता है। अहिंसाणुव्रतकी ५ भावनायें हैं जिनमें (१) पहली भावना है मनोगुप्ति। मनको वश करना, जहां मन स्वच्छंद है वहां हिंसाके भाव बन जाते हैं, प्रमाद हो जाता है व्रतोंमें शिथिलता हो जाती है। तो तत्त्वज्ञानके अभ्यासपर अपने मनको वशमें रखना, ऐसी भावना करना और ऐसे पौरुषका यत्न करनायह मनोगुप्ति भावना है। जब मन वश हो तब विकार न जगेगा। दूसरेके सतानेके भाव न होंगे। उसके अहिंसा होना सुगम है। अहिंसाव्रतकी दूसरी भावना है वचनगुप्ति। वचनको वश करना, मौन रखना यह अहिंसाणुव्रतका साधक है। जिन लोगोंको अधिक बोलनेकी आदत है उनके पद-पद पर ऐसे वचन निकलते हैं कि जिनसे शरम आये पछतावा आये, उपद्रव आये, दूसरोंकी नजरसे गिर जाय। जो कम बोलता है उसको भली-भांति सोचनेका मौका मिलता है और उसके जो भी वचन निकलेंगे वे प्रामाणिक सही निकलेंगे। अपनेको आपत्तिसे बचाने वाले निकलेंगे। इस कारण जिनके वचनगुप्ति है उनके अहिंसाव्रत भलीभांति पलता है। सो वचनको वश करना, कम बोलना ऐसी भावना अहिंसाणुव्रतकी साधक है। (३) तीसरी भावना है ईर्यासमिति—देखभालकर चलना, सर्व जीवोंका हित चिंतन रखते हुए चलना, अनेक प्रक्रियायें जो चेष्टायें करें गमनागमन करें उनमें सावधानी बरतें और सब जीवोंको अपने स्वरूपके समान निरखें। हरी बचाकर चलें, कीचड़ बचाकर चलें, चढ़ें उतरें देखभाल कर। अपने हाथ पैर फैलायें, पैर पसारें, पैर सिकोड़ें, सब कुछ देखभालकर करें। कोई मानलो नहीं गमनागमन कर रहा। बैठे ही बैठे पैर पसारना सिकोड़ना कर रहा और वह भी बिना देखे शोधे कर रहा, वहां भी जीव हिंसा सम्भव है और जहां प्रमाद है वहां तो जीव हिंसा है ही, चाहे दूसरे जीव मरें अथवा न मरें। तो ईर्यासमिति अहिंसा व्रतकी तीसरी भावना है।

अहिंसाव्रतकी पूरक चौथी व पांचवी भावना—अहिंसाव्रतकी चौथी भावना है आदान निक्षेपण समिति—श्रावकको तो अनेक वस्तुवें धरने उठानेका काम पड़ता है। साधुजनोंको पिछी कमण्डल शास्त्र ये धरने उठानेके काम होते हैं, अथवा अंग झाड़ना, देखकर बैठना, बस इतने ही उनके कार्य है। वह वहां सावधानी रखते हैं। श्रावकके कामोंकी गिनती नहीं है। अन्न, पान, कपड़ा, आसन, शैय्या, काठ पत्थर, बर्तन, आदिक अनेक प्रकारकी चीजें जो जो भी धरता उठाता है, घरमें है उनको यत्नसे उठाता। यत्नसे रखता, जिसमें जीवघात न हो ऐसा पौरुष करता, ऐसा भाव रखता। जिन क्रियावोंसे दूसरे जीवोंको संक्लेश न हो ऐसी प्रवृत्ति करता। कोई चीज घसीटना नहीं, उठाकर रखना, वजनदार हो तो किसी दूसरेको बुलवाकर उठा लेना, मिल जुलकर उठा लेना, पर घसीटनेसे यह सम्भव है कि किसी जीवका घात हो जाय। ऐसे यत्नाचार पूर्वक वस्तुवोंको धरना उठाना और ऐसी ही भावना बनाये रहना यह अहिंसा व्रतकी साधक भावना है। (५) पांचवी भावना है आलोकितपान भोजन—देखो शोधा हुआ ही भोजनपान करना यह कैसे निभे? दिनमें ही खाये पिये तो निभे। पहली बात, क्योंकि दिनके प्रकाशमें इस प्रकारका सामर्थ्य है कि वहां जीव जन्तुवोंको विकास नहीं होता। उजेलेमें खाना, आंखोंसे देखभालकर खाना, बराबर शोधकर खाना, धीरतासे कौर उठाकर खाये, हापड़ धूपड़ न करे, जल्दी-जल्दी न गुटके खाये, ये सब बातें यत्नाचारकी हैं। तब आलोकित भोजनपान बनता है। इसके अतिरिक्त भोजनकी शुद्धि हो। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी योग्यता अयोग्यताको जानने वाले पुरुष योग्य देखकर भोजनपान करते हैं। तो भोजनपानमें भी जीव हिंसाके बचानेका यत्न होना यह ५वीं भावना है। यह प्रकरण श्रावकके अहिंसाणु व्रतका है। जैसे सर्वपाप हिंसामें गर्भित हैं। झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह पाप बांधनेसे विकार ही तो बने और विकार ही हिंसा हैं। तो सभी पाप हिंसा ही कहलाते हैं, इसी प्रकार जितने भी व्रत शील हैं उनमें विकारसे हटना यह ही तो प्रयोजन है। इसीके लिए किए जाते हैं सो वे सब भी अहिंसामें ही गभित समझिये तो अहिंसाव्रत शीलोंका आधार है इसी कारण यह इतना लम्बा वर्णन चल रहा है।

हिंसा पापसे होनेवाली विपदावोंका निर्देश—जो अहिंसाणुव्रत नहीं पालता है, हिंसा करने वाला है वह कितना कष्ट और संकटमें रहता है यह बात देखी अनुभवी है और युक्तिसे सिद्ध है। हिंसा करने वाला जीव निरन्तर भयवान् रहता है। उसका दिल कमजोर हो जाता है। भले ही अनेक क्रूर लोग ऐसे हैं कि जो प्रकट रूपमें ऐसा महसूस न करें, पर उनके दिलमें कमजोरी आ ही जाती है। आखिर वे भी खुद जीव हैं और दूसरे जीवोंका घात करें तो वहां भी उनका दिल अन्दरमें गवाही सा नहीं देता पर कषाय मिथ्यात्व इतना तीव्र है कि वह उसमें अपना सुख और भला मानता है, पर हिंसा करने वाला भयवान रहता है। जब भारत और चीन या जापान आदि देशोंमें युद्ध हुआ तो वहां आप लोगोंने भी यह जाना होगा कि जिनकी सेना केवल मांस पर ही आधारित रहती थी और क्रूर चित्त था, अनेक हिंसायें करते थे उनमें इतनी शूरता न रही और जहां शाकाहारका अधिक प्रचार था ऐसे भारतकी सेनाने कैसी वीरतासे कार्य दिखाया, यह उस समयके समाचारोंसे आप लोगोंने जाना होगा। तो मांसभक्षी हिंसक पुरुष शूरवीर नहीं हो सकते। शाकाहारी दिल मजबूत होता है, शूरवीर होता है,

इसको तो आजके डॉक्टर भी बतायेंगे कि जो दूसरे जीवोंका मांस भक्षण करता है उसमें (१) एक तो दिल बलवान नहीं रहता, (२) दूसरे जिन जीवोंको मारा गया वे जीव अनेक भवपर्यन्त बैरके संस्कारसे बदला लेंगे, ऐसी अनेक पुराणोंमें बात है, और यहाँ भी बताते हैं कि कोई किसी सांपको छेड़ दे, दुःखी करे तो वह सांप बारह वर्ष तक उसे खोजकर उसके निकट पहुंचकर अपना बदला चुकाता है। तो ऐसी ही सभी जीवोंकी बात है कि वे बैर संस्कारके कारण भव भवमें दुःखी किया करते हैं। (३) तीसरी बात—वे बैर संस्कारसे तो दूसरोंको दुःखी करें सो तो ठीक है किन्तु उसके कुटुम्बीजन, मित्रजन भी उससे बैर मानते हैं। उसका प्राणघात करते हैं।यह तो मनुष्योंकी बात है, पर तिर्यञ्चोंमें भी उनके ऊपर जो लाठी, पत्थर, शस्त्र आदिक बरसाते हैं वे तिर्यञ्च भी उसे नहीं छोड़ते। कभी वही बैल, झोंटे अपने मालिककी भी जान ले लेते हैं। जब तक वे विवश हैं तब तक सहते रहते हैं मालिक द्वारा अपघात, पर जैसे ही उनको मौका मिलता कि वे अपने मालिक पर हमला कर देते हैं। अनेक दृष्टान्त ऐसे मिलते हैं। (४) चौथी बात—हिंसा करने वाले की जगतमें निन्दा रहती है, यह कसायी है, हत्यारा है, पापी है आदि। और उसकी प्रतीति कोई नहीं करता, क्योंकि उसका चित्त क्रूर हो गया है। सब सोचते हैं कि कहीं यह मेरे प्रतिपक्षी बरताव न कर डाले। (५) पांचवी बात—इस लोकमें राजा उसे दण्ड देता है। हाथ पैर छेद दे और उसका सर्वस्व हरण करले, और-और प्रकारके दण्ड दे, गधे पर बैठालकर नगरमें घुमाये, यों कितने ही दण्ड उसे इस भवमें भी भोगने पड़ते हैं। (६) छठवीं बात—जो दूसरेकी हत्या करता है उसको अनेक कुगतियोंमें बहुत कालतक परिभ्रमण करना पड़ता है। नरकोंके तो बहुत कठिन दुःख हैं। एक नारकी दूसरे नारकी को देखते ही जैसे एक कुत्ता दूसरे कुत्तेको देखकर आक्रमण करता है ऐसे ही वे भी आक्रमण करते हैं। वहां बंधुताका नाता नहीं चलता। मानलो पूर्व भवका कुटुम्बी ही नरकमें पहुंच गया हो तो वहां वह पिछली बातें उल्टे रूपमें सोचकर उसपर आक्रमण करता है। जैसे मां ने पूर्वभवमें अपने बेटेकी आंखोंमें सलाईसे अंजन लगाया था, सो लगाया तो था उसके भलेके लिए मगर वह नरकोंमें सोचता कि इसने मेरी आंखोंमें सलाई डालकर मेरी आंखें फोड़नेका, प्रयत्न किया था ··· यों उल्टा चिन्तन चलेगा। और जिस किसी भी नारकीने देखा, सब उसके लिए दुश्मन है और सभी पर आक्रमण होता है।

हिंसाभावसे स्वयंका घात—भैया, अनेक प्रकारके कष्ट उस हिंसाके कारण इस जीवको हुआ करते हैं, यह जानकर हिंसाका भाव छोड़ना चाहिए और दयाका भाव लाना चाहिए। दयाका भी क्या भाव है? सर्व जीवोंको अपने स्वरूपके समान निरखना है, समानताका भाव लाना है। जैसा मैं हूं वैसे ये हैं और इस समानताके भावके साथ उनकी सेवा करना, उनका दुःख दूर करना ये सद्गृहस्थके कर्तव्य होते हैं। जो श्रावक अहिंसा व्रतका पालन करते हैं उनकी चर्या शान्त, गम्भीर धीर होती है। प्रभु भक्तिमें उनका समय विशेष व्यतीत होता है और ऐसे ही मंद कषाय वाले मनुष्य मरकर सद्गतिमें जाते हैं, विदेह क्षेत्रमें पहुँचे तो वहां उसी भवमें मुनिव्रतकी साधना करके निर्वाण भी प्राप्त कर लेते हैं। तो देखिये किसीका बुरा सोचनेमें इस आत्माको कितना कष्ट होता है? जहां विकार भाव आया, दूसरेका अहित सोचनेकी बात मनमें आयी उसी समयसे यह निज भगवान आत्मा दुःखी होता है, दबता है,

इसका घात होता रहता है। शान्तिका भंग हो जाता है और दूसरेका हित विचारनेसे इसके मनमें उमंग रहती है। जो किसी सभामें या समूहमें किसी मनुष्यको गाली देने या निन्दा करनेका बड़ा विचार करे तो उसे किसीको खड़ा कर दिया जाय कि अब फलाने चंदजी आपका परिचय देते हैं तो प्रशंसाकी बात करनेमें उसे कितना कष्ट उठाना पड़ता है पहले तब कहीं वह निन्दा के वचन निकाल पाता है। और किसी की प्रशंसाके लिये किसी को खड़ा कर दिया जावे कि अब फलाने चंद्र जी आपका परिचय देते हैं तो प्रशंसाकी बात करने में उसे कितना सुखका अनुभव होता है। वह कष्ट नहीं अनुभव करता, पर किसी पुरुषकी निन्दा करनेके लिए कोई खड़ा हो जाय तो उसे बड़ा व्यग्र होना पड़ता। तो ऐसा कार्य क्यों किया जाय जिसमें खुदको दुःखी होना पड़े, भविष्य भी सारा बिगड़ जाय, ऐसे हिंसाके कार्यसे बचना और अहिंसक वृत्तिसे अपना निभाव करना।

आत्मस्वभावके अनुचिन्तनमें अहिंसाका विकास—अहिंसामें सर्व प्रधान बात तो यह है कि अपने आत्माके सहज स्वरूपको जानें कि मैं चैतन्यमात्र हूं। अपने उपयोगमें इस चैतन्यस्वरूपमात्रको बसायें, जो परमशुद्ध निश्चयनयका विषय है उस विषयको उपयोगमें लें और इस ढंगसे उपयोगमें लें कि वे विकल्प भी छूटकर यह शुद्धनयमें आये। शुद्धनयमें परमशुद्ध निश्चयनयका विषय तो आता है पर इस ढंगसे आयगा कि ये विकल्प भी मिट जायेंगे और आत्माका अनुभव करने लगेगा। तब तक इसका परमशुद्ध निश्चयनयका जो विकल्प है तब तक वह अनुभवमें नहीं उतरा हुआ है। यह विकल्प भी शान्त होता है तो वहां वह शुद्धनयका आलम्बन करता है। तो आत्मस्वभावका आलम्बन करनेसे अहिंसाव्रत भली भांति पलता है। कोई विकार ही नहीं है, पर जो इस अनुभवमें न हो तो वह क्या करें, किस तरहकी चेष्टायें करे उसका ही वर्णन चरणानुयोगमें चलता है। तो जैसे ५ भावनायें की गई थीं उनको चित्तमें रखें तो अहिंसाव्रतका पालन सुगम हो जाता है।

जैन शासनके भक्तोंके अहिंसाणुव्रतके पालनकी सुगमता—मन, वचन, काय, इनकी चेष्टा हिंसाका आधारभूत बनती हैं, सो स्वभाव चिन्तन द्वारा ऐसी निश्चलता लाना चाहिए कि मन, वचन, कायका हलन चलन न हो, अथवा अव्यक्त रहे बुद्धि पूर्वक न चले, और कभी चेष्टा करनी ही पड़े तो दूसरे जीवोंका घात न हो और कोई चेष्टा मुझसे ऐसी न बन जाय कि उससे मेरेको पछताना पड़े और मेरे पर ही कोई आपत्ति आ जाय। कोई बदला चुकानेका भाव करने लगे तो ऐसा अपना और दूसरोंकी दयाका भाव रखते हुए सद्गृहस्थ अपनी सारी चर्या अहिंसाके रूपसे व्यतीत करता है। जैन शासनमें रहने वाले लोगोंको तो यह बहुत ही सुगम है, मंदिर आते हैं तो देखिये वह कितना पवित्र स्थान, जहां हिंसाकी रंच भी बात नहीं दिखती, जहां फूल तकका भी प्रयोग नहीं, जहां सचित्त हरी तक भी नहीं चढ़ाई जाती, एकेन्द्रिय तककी हिंसा टाली जा रही है वह कितना पवित्र स्थान है और ऐसे जिन शासनके भक्तोंके घर भी देख लीजिए कैसा साफ शुद्ध हिंसारहित घर होते हैं, क्योंकि उनको यह शिक्षा दी जाती है कि घरमें कूड़ा करकट गंदगी न रहने पाये नहीं तो उसमें जीवोंकी उत्पत्ति हो जायगी। हिंसा बन जायगी। सो वे साफ घर रखते हैं। यों ही सारी बातें आप अहिंसा प्रधान पायेंगे। तो जैन शासनमें

अहिंसाका पालना तो बहुत ही सुगम है और अहिंसाके प्रतापसे इस भवमें भी शान्ति रहती है और अगला भव भी उत्तम बनेगा।

स्थूलमलीकं न वदति न परान्वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणं ॥ ५५ ॥

सत्याणुव्रतसे सम्बन्धित श्रावक व्यवहार—इस छंदमें सत्याणुव्रतका स्वरूप बताया गया है। जो स्थूल असत्य तो नहीं बोलता और दूसरेसे भी असत्य नहीं बुलवाता और जिस वचनसे अपने पर या दूसरे पुरुषपर आपत्ति आये ऐसा सत्य भी न कहना, उसे सज्जन पुरुष स्थूल झूठका त्याग कहते हैं। गृहस्थके सत्याणुव्रत होता है। क्रोध, मान, माया, लोभादिक किसी कारणवश ऐसे वचन न कहना जिससे दूसरेका घात हो जाय। दयासे भरा हुआ है यह ज्ञानी गृहस्थ इस कारण उसके वचन ऐसे न निकल सकेंगे जिन वचनोंके द्वारा दूसरेका घात हो सके। ऐसे भी वचन न बोल सकेगा ज्ञानी गृहस्थ जिन वचनोंसे दूसरोंका अपवाद अथवा उस पर कलंक लगे। प्रथम तो यह बात देखिये कि इन व्यर्थकी बातोंसे क्या प्रयोजन है? दूसरेका घात हो, अपवाद हो, नीचा देखना पड़े ऐसे वचन बोलनेकी अटकी क्या है। पर जिनके कषाय तीव्र हैं वे पुरुष अट्ट सट्ट बोला करते हैं। उनका चित्त दूषित है। कोई दूसरा जीव तड़फ रहा हो उसमें भी वे हर्ष मानते हैं। तो ऐसे पुरुषोंके लिए कहा है कि वह सब उनकी दुर्गतिकी निशानी है अपना भला व्यवहार रखना चाहिए। सद्गृहस्थ ऐसे भी वचन न बोलेगा जिनसे दूसरेका मिथ्या श्रद्धान हो, जो धर्मसे चिग जायें, जिनकी वृत्ति संयमसे शिथिल हो जाय। जैन शासनके भक्त अपने वचनोंपर ऐसा नियंत्रण रखते हैं कि वचन वही निकलें जिनको सुनकर दूसरोंको शान्ति मिले, हितके मार्गमें लगें, कहीं वे व्रत शीलसे भ्रष्ट न हो जायें ऐसे नियंत्रित वचन होते हैं सद्गृहस्थके।

ज्ञानी जनोंके सत्यव्यवहारका मूल आधार यथार्थ आत्मपरिचय—जो ज्ञानीजन हैं, जिन्होंने सब जीवोंमें अपने आपके स्वरूपके समान स्वरूप देखा है वे जानते हैं कि इस जीवका बिगाड़ है विषयोंकी प्रीतिसे। ५ इन्द्रियके विषय हैं पांच—(१) स्पर्श सुहा जाना, (२) रस सुहा जाना, (३) गंध सुहा जाना, (४) मनोहर रूप प्रिय लगना, और (५) राग भरे शब्द सुहा जाना। ये विषयोंके अनुराग कहलाते हैं। इन अनुरागोंसे यह जीव अपने आत्माकी सुधसे च्युत हो जाता है और बाह्य विषयोंमें लग जाता है। इससे इस भगवान आत्मापर विपत्ति होती है। सद्गृहस्थ ज्ञानी पुरुष ऐसे वचन न बोलेगा जिन वचनोंसे कलह बढ़ जाय अथवा दूसरेका विषयोंमें अनुराग बढ़ जाय। जैसे कि अनेक मित्र दूसरोंको समझाते हैं, ऐसा खावो, ऐसा बनावो, सनीमा देखो, और और भी गंदी बातें—यहां चलो, ऐसी बातें कहकर विषयोमें उन्हें फंसाते हैं, ये सब मोहियोंके कर्तव्य हैं। ज्ञानी गृहस्थ ऐसे सद्वचन बोलेगा कि जिससे विषयोंसे प्रीति हटकर यह धर्म मार्गमें लगे और अपने अन्दरमें वास्तविक शान्तिका अनुभव करें। सत्याणुव्रतमें सद्गृहस्थ कैसा वचन व्यवहार करता है उसकी यह चर्चा चल रही है। ऐसा वचन व्यवहार न करना चाहिए कि जिससे दूसरे लोग बड़े आरम्भमें फंस जायें। देखिये पुण्योदयसे वैभव मिलता है और अनेक साधन मिलते हैं, पुण्यरस है उसके पास अतएव उनकी व्यवस्था बनाना आसान

रहता है। पर कोई जानबूझकर तृष्णा बढ़ाकार जबरदस्ती बड़े आरम्भमें पड़ता है। तो चूँकि इतना पुण्य वैभव नहीं है सो वहां अनेक विपत्तियां आती हैं और अनेक दुःखोंका सामना करना पड़ता है। धर्म मार्गमें रहें और सहज जो बने उसकी व्यवस्था बनाइये, यह तो गृहस्थके लिए उचित बात है। मगर कोई ऐसे वचन सुनकर जिससे कि बड़े आरम्भमें फंस जाना, आरम्भमें उलझ जाना यह अपने समग्र जीवनको उल्झा देना है। सद्गृहस्थ ऐसे वचन न बोलेगा जो किसीको बड़े आरम्भमें फंसा दें। धर्मकी बातमें उसका उत्साह बने इस प्रकार का वचन बोलेगा गृहस्थ। गृहस्थकी वाणी प्रामाणिक होनी चाहिए तब ही वह ज्ञानी गृहस्थ कहलाता है। जो लोग रंच लोभके पीछे वचन बोल दें। अपनी प्रतीति खतम कर दें तो वह उनका ओछापन है और जीवनमें कभी सफल नहीं हो पाते। सद्गृहस्थ ज्ञानीके वचन प्रामाणिक होते हैं और किसीके लाभमें अन्तराय आये ऐसा वचन ज्ञानीका नहीं बनता।

सद्वचन बोलनेका आधार सर्वसुखभावना—सब जीवोंके लिए सुखकी भावना रखता है ज्ञानी। भला किसीको दुःख हो जाय तो उससे इस आत्माकी क्या उन्नति हो जाती है। किसीके दुःखी होनेकी भावना चित्तमें न रखना, चाहे किसीने कितना ही बिगाड़ किया हो उसके लिए भी दुःखी होनेकी भावना न करना। सही जानना आवश्यक है, सभी जीव अपने-अपने भावोंके अनुसार कर्मबंध करते हैं। उसका फल पाते हैं। उसमें मेरा अधिकार क्या है। मैं किसीको सुखी भी नहीं कर सकता और किसीको दुःखी भी नहीं कर सकता। मगर सुखी होनेकी भावनामें आत्माकी भलाई है। और किसीको दुःखी करनेकी भावनामें आत्माका अकल्याण है। गृहस्थजन कभी निन्द्य वचन न बोलेंगे और ऐसे सत्य वचन भी न बोलेंगे जिसके बोलनेसे दूसरेका घात हो जाय, बिगाड़ हो जाय।देखिये वचन बोलनेका उद्देश्य क्या है कि शान्ति मिले, भला हो, उन्नति हो, और कोई वचन ऐसा कदाचित् सत्य घटनाका भी हो कि यदि बोलनेसे दूसरेका घात होता है तो भी सत्य वचन न बोलेगा, कारण यह कि जीवकी भलाईका भाव भरा हुआ है गृहस्थके। जैसे एक दृष्टान्त दिया करते हैं कि कोई कसाई किसी गायको वध करनेके लिए ले जा रहा था, किसी तरहसे रास्तेमें वह गाय उससे छूट गई और जान बचाकर भगी। कुछ दूर निकल गई। अब वह लोगोंसे पूछता फिरे कि किधर गई। अब वहां किसी ऐसे व्यक्तिसे भी पूछा जिसने देखा था जाते हुए सो उसके मनमें आया कि यदि मैं इस जगह सही बोलता हूं तो इस गायकी हत्या हो रही है इसलिए उसने यही कहा कि मैंने तो नहीं देखा कि किधर गई। यहां उसका झूठ बोलनेका प्रयोजन नहीं है, प्रयोजन है जीव रक्षाका। तो ज्ञानीजन ऐसा सत्य भी नहीं बोलते कि जिसमें किसी जीवका घात हो। ये मर्मछेदी वचन भी नहीं बोलते जिनसे दूसरोंके हृदयमें चोट पहुंचे। जैसे की नीच कुल वाले लोगोंमें देखा होगा कि बड़ा खोटा वचन व्यवहार करते हैं, गाली गलौच करते हैं। जगह-जगह जो झगड़े होते हैं वे आखिर किस बातसे होते हैं? बस मर्मछेदी वचन बोलने पर लड़ाई झगड़े होते हैं।

सबके प्रति हितरूप प्रशंसात्मक शब्दके बोले जानेपर शान्तिके वातावरणका अभ्युदय—यदि सबके चित्तमें यह बात बैठ जाय कि दूसरेकी प्रशंसाके वचन बोलें तो देखो वहां कितना शान्त वातावरण हो जाता है। और अगर भीतर कषायकी गंदगी भरी है तो वहां बड़े खोटे गाली गलौचके

वचन व्यवहार होंगे। वैसे यहां गालीके जो शब्द प्रसिद्ध हैं उनमेंसे कोई भी शब्द खराब नहीं है। उन शब्दोंका अर्थ बहुत ऊंचा है। पर वह गुण जिसमें हो नहीं और उसे कह दिया जाय तो उसे खराब जैसा ही लगेगा। आप कोई भी शब्द गालीका ले लो, उसका अर्थ बड़ा ऊंचा निकलेगा। सर्वप्रथम गाली शब्दको ही ले लो, गालीका अर्थ गा ली, क्या गाली? यश कीर्ति, प्रशंसा। तो गाली शब्द स्वयं बड़ा ऊंचा है। जैसे कहते नापुंगा, लफंगा, उचक्का आदि, ये ही तो सब गालीके शब्द हैं। अब इनका अर्थ देखलो—पुँगा, पुँगा नाम है भगवानका। आप सब लोग भगवानको पुँगा बोलते ही है। अब कोई पुँगा अर्थात् भगवान तो है नहीं और उसे पुंगा कह दिया जायतो उसे गाली समझ लेंगे। लफंगाका अर्थ है लफ गये हैं अंग जिसके अर्थात् बहुत विनयशील। उच्चका शब्द जो बिगड़कर बना है उसका शुद्ध शब्द है उच्चकः, जिसका अर्थ है—सबसे ऊंचा, अर्थात् भगवान। अब ये सब गुण जिसमें पाये न जायें उसके लिए बोलें जायें तो उसे गाली जैसे लगेंगे। ऐसे ही गालीका कोई भी शब्द ले लो उसका अर्थ बड़ा ऊंचा है। अब एक शब्द गालीका बहुत प्रसिद्ध है—तेरी ऐसीकी तैसी हो जाय, तो इसका सही अर्थ क्या है, इसका अर्थ हमारी समझमें यह आया कि जैसा आत्माकी प्रकृति स्वभाव है वैसी परिणति हो जाय। अब वैसा हो पाता नहीं इसलिए उसे गाली जैसी लगती। मेरे ख्यालसे इस शब्दका अर्थ इस प्रकारसे शायद ही कोई समझता हो सभी लोग इस शब्दको सुनकर गाली समझते। तो गालीका कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जिसका खराब अर्थ हो, मगर चूँकि रूढ़ि हो गई ऐसी कि कह तो रहे अच्छी बात और मान रहा कोई बुरी बात, तो उसे भी न बोलना चाहिए। जिन वचनोंके बोलनेसे दूसरेको तकलीफ पड़े वे वचन क्यों बोले जायं? जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे हुए शास्त्रोंके अनुकूल ही वचन बोलना। ऐसे वचन बोलना कि जिससे न्यायरूपी आजीविका सिद्ध हो, यह सब सद्गृहस्थका सत्याणुव्रत है। अब सत्याणुव्रतमें कौनसे दोष याने अतिचार हैं जो गृहस्थको नहीं लगने चाहिए उनका वर्णन करते हैं।

परिवादरहोभ्याख्या पैशून्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पंच सत्यस्य॥ ५६॥

सत्याणुव्रतका प्रथम अतिचार परिवाद—सत्याणुव्रतके ५ अतिचार हैं। (१) पहला अतिचार है परिवाद, मिथ्या उपदेश करना। स्वर्ग और मोक्षका कारणभूत जो चारित्र है उसका अन्य प्रकार उपदेश देने लगना, यह है परिवाद नामका दोष। ऐसा भी होता है कि यह भी निभेगा, शिथिलताकी बात बताना अथवा जैसे जीवदया करना है तो यह आत्माका विकारभाव, मगर हिंसा, झूठ आदिक जितने बड़े विकार होते हैं उनसे हटे और जीवके स्वरूपपर दृष्टि गई और उस समय दयाका भाव आया तो यह तो इस भूमिकामें कर्तव्य है लेकिन चूँकि जीवोंकी दया करना, इसमें यह आत्मा स्वभावमें मग्न नहीं होता अतएव वह आत्मधर्म नहीं कहलाता है उसके बाबत एक साधारणतया ऐसा एकान्ततः प्रसिद्ध करना जिससे कि लोग विचलित भी हो जायेंगे तो ऐसे कोई जीवदयाकी उपयोगिता न बताकर एकान्तसे यह अधर्म है, पाप है, संसार है, विकार है ··· वर्णन करना यह तो एक परिवादका ढंग है। यहां तो

दृष्टिकी अपेक्षा देकर समझाइये कि भाई इस भूमिकामें ऐसा जीवदयाका भाव होना भला है और यह परम्परया उन्नतिका साधन है, पर जीवके जो स्वभाव मग्नताकी दशा है उसमें जीवदयाका भी विकल्प नहीं रहता है। वह शान्त निराकुल निर्विकल्प रहता है इसलिए निर्विकल्पकी स्थिति अत्यन्त उपादेय है। यों न समझाकर उसे किसी कषायवश जानकर बोलना यह परिवादका ढंग है। और ऐसे वचन जो कि संयम चारित्रमें बाधा डालें वे सब सत्याणुव्रतमें दोष हैं।

सत्याणुव्रतके रहोभ्याख्यान व पैशून्य नामके द्वितीय व तृतीय अतिचार—सत्याणुव्रतका दूसरा अतिचार है रहोभ्याख्यान। कोई भी स्त्री पुरुष एकान्तमें किसी रहस्यकी बात कर रहे हों, जिस बातको वे छिपाकर बोल रहे हों उसे किसीने कदाचित सुन लिया और यह फिर दुनियामें प्रकट करे तो यह सद्गृहस्थका कर्तव्य नहीं है। प्रथम बाततो यह समझिये कि धर्म करना और अपनी आजीविका गुजारेके लिए बनाये रहना, इन दो के अतिरिक्त आपको तीसरी बातकी क्या जरुरत पड़ी है? व्यर्थकी कलह करना, अथवा यहां वहांकी बातें सुनना, इन बातोंमें कोई लाभ नहीं है। ऐसा जिसका हृदय बन गया उसे कुछ नहीं समझाना पड़ता। उसका वचन व्यवहार सही ढंगसे ही निकलेगा। तीसरा अतिचार है पैशून्य, जिसे कहते है चुगली करना। दूसरेका दोष जानकर उसका बिगाड़ करनेके अर्थ किससे छुपकर कह देना यह पैशून्य अतिचार है। अरे एककी बात दूसरेसे बोल दिया तो इसमें खुदको भी हैरान किया और दूसरोंको भी हैरान किया, बताओ उसमें फायदा क्या निकला? तो यह पैशून्य सत्याणुव्रतका अतिचार है। चाहे दूसरेकी सही बात ही क्यों न हो पर उसको किसी दूसरेसे कहनेका प्रयोजन ही क्या पड़ा था। साथ ही यह भी कह देते कि देखो हमारी यह बात किसीसे कहना नहीं। पर यह तो बताओ कि जो बात आपके पेटमें नहीं रुक सकी उस बातको वह दूसरा अपने पेटमें रोक सके इसका आप ठेका ले सकते क्या? तो यह सत्याणुव्रतका अतिचार है।

सत्याणुव्रतके कूटलेखकरण व न्यासापहारिता नामके चतुर्थ व पञ्चम अतिचार—सत्याणुव्रतका चौथा अतिचार है कूटलेखकरण। दूसरेका बिना ही आचरण किया हुआ झूठा लेख लिख देना। देखिये है तो यह बहुत बड़ा दोष, मगर वह ऐसा सोच ही तो रहा, ओंठसे तो नहीं बोल रहा, मनमें ही तो बोल रहा, अरे यह तो बहुत बड़ा दोष है। अथवा कोई कुत्सित बात लिख देना कूटलेखकरण है। पांचवा अतिचार है न्यासापहारिता कोई मनुष्य किसीके पास धरोहर रख जाय मानलो ४ रत्न रख गया था और कुछ दिन बाद आकर कहे—भैया हमने जो तीन रत्न आपके पास धरोहर रखे थे उन्हें दे देना, और वह कहे हां हां, खुशीसे ले जाइये, अब यदि एक रत्नको वह न बतावे, याने यह न कहे कि आपने तो चार रत्न धरे थे और तीन ही रत्न उसे दे दे तो वह न्यासापहारितादोष है। अब कोई कहे कि उसने वहां कोई अपशब्द तो नहीं बोला, किसीका दिल दुःखाने वाला शब्द नहीं बोला फिर भी उसे दोष कैसे लगा? सो बात नहीं है। वहां भी दोष है। उस दोषका नाम है न्यासापहारिता दोष।

जिह्वा सदुपयोगकी मस्ती आश्यकताका सयुक्तिक कथन—देखिये—यहां इस जीवकी पहली स्थितिपर आप विचार करें, यह जीव सबसे पहले अनन्तकाल तक निगोदमें रहा, जैसे छहढालामें कहा है ना—"एक श्वांसमें अठदश बार, जन्म्यो मर्‌यो भर्‌यो दुःख भार।" निगोदजीव क्या होते हैं?

एकेन्द्रिय और साधारण वनस्पति। जो पकाने खानेमें हरी आये वह वनस्पति है, उनमें भी किसी किसीमें निगोद जीव भरे रहते हैं, पर निगोद जीवका शरीर सूक्ष्म होता है, और न कुछ जैसी उनकी दशा समझिये। उनको काहेका ज्ञान? निगोदमें रहकर हम आपका अनन्तकाल व्यतीत हुआ, और वहांसे निकले तो पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और प्रत्येक वनस्पति हुआ। वहां जिह्वाका संयोग न मिला। एकेन्द्रिय जीव उसे कहते हैं जिसमें सिर्फ एक ही इन्द्रिय हो, रसना न हो। और इन्द्रिय तो होगी ही क्या? तो बिना जिह्वाके इस जीवका एकेन्द्रिय स्थावरोंमें जन्म मरण चलता रहा। सुयोगसे दो इन्द्रिय जीव हुए, शंख कोड़ी इनमें रहने वाले जीव ये दो इन्द्रिय कहलाते हैं। तो दो इन्द्रियके जीभ तो मिली मगर उस जीभसे लाभ क्या? फिर कुछ और विकास किया तो तीन इन्द्रिय जीव हुए, फिर चार इन्द्रिय हुए, फिर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय हुए वहां भी जीभ तो मिली मगर उससे फायदा क्या? आपने देखा ही होगा कि ये गाय, बैल, भैंस या सिंह, व्याघ्र, हस्ती आदिक, पशु अनेक प्रकारकी बोलियां बोलते हैं मगर वे चें चें बांय बांय करते रहते, कोई भाषा रूपमें उसका बोल नहीं निकलता। तो उनकी उस वचन वर्गणासे बोल तो निकला मगर उसका कोई अर्थ नहीं निकलता। जब कुछ और विकास किया तो बड़ी मुश्किलमें यह मनुष्यपर्याय मिली। इसमें हम आप वचन बोलें, अपने हृदयकी बात दूसरेसे बता सकते, दूसरेके हृदयकी बात खुद समझ सकते, इसका साधन है वचन। ये वचन हम आपको बड़ी दुर्लभतासे प्राप्त हुए। यदि ऐसे दुर्लभ वचनोंको यों ही गमा दिया जाय बुरे वचन बोलकर, दूसरेकी पीड़ा वाले वचन बोलकर यदि इनको यों ही खो दिया जाय तो यह समझ लीजिए कि मानों ये कर्म यह कहते कि मैंने तुझे ऐसी जिह्वा दी, पर तुझे उसकी जरुरत न थी, तूने उस जिह्वाको पाकर उसका दुरुपयोग किया। तुझे उसकी जरूरत नहीं है तो अब आगे तुझे जिह्वा न मिलेगी, मायने फिरसे वही दुर्गति होगी।

अपनी रक्षा व स्वानुभवकी पात्रता बनाये रहनेमें सद्गृहस्थका वचन विषयक कर्तव्य— देखिये अपना शुद्ध मन करें, अच्छे वचन बोलें जिसमें अपनेको प्रसन्नता हो, हित मिले, यह तो जीवनमें लाभदायक है और मानो गुस्सा रहकर मन बिगाड़ लिया, ऐसी ही आदत बनाली तो उस समय या तो खोटे वचन बोलेगा या दूसरेसे मुख फेर लेगा, तो उसकी इस चेष्टासे न तो उसे खुद आनन्द मिलेगा और न उसके द्वारा किसी दूसरेको आनन्द मिलेगा। तो अपना वचन व्यवहार ऐसा रखिये कि जिससे खुदको भी आनन्द मिले और दूसरोंको भी। यह सद्गृहस्थका कर्तव्य है। एक नीतिमें कहा है—वचनेका दरिद्रता, याने वचन बोलनेमें क्यों दरिद्रताकी जाय? क्या प्रयोजन है। अरे भाई यदि कुछ धन खर्च करनेकी बात आ जाय तो उसमें तो कुछ सोचा विचारी भी करना, मगर मुफ्तमें मिले हुए इस वचन धनका तो सदुपयोग कर ही लेना चाहिए। अपना वचन व्यवहार ऐसा ही होना चाहिए कि जिसको सुनकर किसी दूसरेको पीड़ा न पहुंचे। खुदको भी आनन्द मिले और दूसरे भी आनन्द पावें, ऐसा अपना वचन व्यवहार रहे तो इसमें अपनी रक्षा है और निकट समय स्वानुभव पासके यह इसकी पात्रता रहती है।

सत्य व्रतके पालनके लिये कषायके यथोचित परिहारकी आवश्यकता—सत्याणुव्रतके विरुद्ध जो अपनी चर्या रखता है, झूठ बोलनेकी आदत, दूसरोंको सताये जाने वाले वचन बोलनेकी

आदत। जिनके निन्द्य वचन निकलते हैं उनका परभव बहुत खोटा होता है। मनुष्य हो तो नीच चाण्डाल, कषायी, गूंगा, बहिरा आदिक अनेक प्रकारकी दुर्दशायें पाता है, और जिनको सत्यका आदर है वे सत्य वचनके प्रभावसे इस भवमें भी आदर पाते हैं। उनका ज्ञान बढ़ता है और वे निकट कालमें ऋषिमुनि होकर भगवान भी होते हैं। तो सत्यका आदर रखना सदैव सुखकारी होता है। असत्य वचन बोलनेका कारण है प्रमत्तयोग, कषायभाव। जैसे जिस घड़ेमें दुर्गन्धकी चीज बसी है उस घड़ेके मुखसे क्या निकलेगा? दुर्गन्ध।ऐसे ही जिसके चित्तमें कषाय बसी है उसके मुखसे क्या निकलेगा? खोटे वचन। तो असत्यका कारण कषाय है और कषाय ही जीवको दुःखदायी है। सो मूलसे यह ही प्रयत्न करें कि ये कषायभाव न रहें। किसी पर क्रोध क्यों जगता? कोई चीजका लाभ होना या न होना यह तो कर्मके आधीन है पर दूसरेपर क्रोध क्यों किया जा रहा? क्रोध करके वर्तमानमें पाप बढ़ाया जा रहा। घमंड किस बात पर बगराया जा रहा जिससे कि खोटे वचन निकलें? इस जगतमें कौनसी ऐसी पदवी है जो इस जीवके लिए सारभूत हो? राजा महाराजा बन गए तो क्या, पंडित बन गए तो क्या, नेता भी हो गए तो क्या? करोड़पति हो गए तो क्या? यहांकी कोई बात सारभूत नहीं। ये सब दुःखरूप हैं। फिर किस बात पर घमंड करना जिससे कि दुर्वचन निकलें। मायाचारकी बात जब चित्तमें होती है तो दूसरेका चाहे घात हो, चाहे अपमान हो, ऐसे वचन निकला करते हैं। किसलिए मायाचारीकी जाय? कौन सी वस्तु ऐसी है जो पाने योग्य हो, जिससे भला हो, समस्त परवस्तुवें अत्यन्त भिन्न हैं। किसी भी अन्य वस्तुका मेरेसे कोई सम्बन्ध नहीं, फिर क्यों मायाचार करना? लोभ कषाय भी क्योंकी जाय? जो आज परिग्रह जुड़ा है, अव्वल तो वह अनर्थ है। जुड़ा है तो पुण्योदयसे जुड़ा है। आपने जो कभी पुण्य कार्य किया था, परोपकारमें धन लगाया था, उससे बंधा हुआ पुण्यकर्मका जो एक खजाना है उससे पता नहीं कब कहाँसे किस बहानेसे वह धन आ जायगा फिर लोभ किस बात पर करना? किसी दूसरेसे व्यापारादिकमें असत्य वचनका किसलिए प्रयोग करना? क्यों लोभ किया जाय? उदय है तो होगा, नहीं है तो कितना ही प्रयत्न करें नहीं होगा। तो कषायभाव चित्तमें न रहें तो असत्य वचन हटेंगे और सद्वचन निकलेंगे।

सत्यव्रत पालनके लिये क्रोध त्याग नामकी प्रथम भावना—गृहस्थके चूँकि भोगोपभोग आजीविका साथ लगी है इसलिए सदोष वचन होते हैं फिर भी वह न्यायमार्गके विरुद्ध दूसरोंको पीड़ा करने वाले वचन नहीं बोलता। उसके सत्याणुव्रत है। सत्यव्रतका सही पालन हो इसकी ५ भावनायें तत्त्वार्थ सूत्रमें कही गई हैं। उनमें (१) पहली भावना है क्रोधत्याग। जिसके क्रोधपर नियंत्रण है, त्याग है वह पुरुष सत्य वचन बोल पाता है। क्रोधमें कुछ न कुछ असत्य वचन निकल जायेंगे, क्योंकि दूसरेका बिगाड़ करनेका भाव है क्रोधमें। तो बिगाड़ वाले वचन बोलनेके लिए असत्यका भी प्रयोग होता है इसलिए मेरे क्रोध न जगे ऐसी भावना होना चाहिए। और ऐसा प्रयोग करे कि चित्तमें क्रोध न आये तो सत्यव्रतका निर्वाह हो सकता है। (२) दूसरी भावना है लोभ त्याग। लोभके वश असत्य वचन बोले जाते हैं। तो भेदविज्ञान करके स्वरूपकी समझ बनाकर चिन्तन करें किस वस्तुका लोभ करना? प्रत्येक पदार्थ मुझसे अत्यन्त जुदे हैं। और किसी भी परपदार्थसे मेरा कुछ भी हित नहीं है। किसका

लोभ करना जिससे कि असत्य वचन निकलें ? तो लोभ त्यागकी भावना रहेगी तो सत्य वचन निकलेंगे। ये क्रोध और लोभदो कषायें हैं असत्य वचनमें लगानेमें कारण। कभी कोई बाहरी ऐसा प्रसंग मिल जाय कि क्रोध उत्पन्न होने लगे तो वहां यह विचार करना चाहिए कि क्रोध करना मेरे स्वरूपमें तो नहीं है। पर परिणाम में आ रहा है। पर्यायमें क्रोधकी बात आनेका प्रसंग बन रहा है। तो इस समय मौन ही रहना श्रेष्ठ है। किसीका आपको पत्र मिले और जिसमें ऐसी बात लिखी हो कि आपको क्रोध जगे और उस समय आप उसका उत्तर लिखने लगें तो वहां आप अच्छे वचन न लिख सकेंगे। और उसका परिणाम यह होता है कि पीछे पछताना होता है। तो जो बुद्धिमान लोग हैं वे ऐसे पत्रका उत्तर तुरंत नहीं देते, समय टाल देते हैं। तो ऐसे ही सामने कोई क्रोधका प्रसंग आ जाय, दुर्वचन बोले तो उस समय तो मौन रहना ही श्रेष्ठ है, या आपका साहस हो तो उसके विपरीत अच्छे वचन बोलियेगा। गालीके अनुकूल उसके प्रतिकारात्मक वचन न बोलें। तो उस समय मौन रहना श्रेष्ठ है, क्योंकि मौन हो जायेंगे तो कलह न बढ़ेगी और कलह न बढ़ेगी तो उसका क्षमाभाव सही बना रहेगा। सो जब तक भीतर क्रोधभाव जगनेको है, जग रहा है तब तक मेरेको मौन रहना ही श्रेष्ठ है, ऐसा सद्गृहस्थ अपनेमें भावना रख रहा है।

सत्यव्रत पालनके लिए लोभत्याग, भीरुत्वत्याग व हास्यत्याग नामकी द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ भावना—लोभवश असत्य वचन निकला करते हैं जिसका परिणाम उसके लिए बुरा है। जगतमें उसके प्रति लोगोंकी प्रतीति बिगड़ती है, फिर सारे जीवन संताप सहना पड़ता है, ऐसे लोभका उसके त्याग है ताकि उसके सत्य व्रतमें बाधा न हो। ऐसा सद्गृहस्थ क्रोध त्याग और लोभ त्यागकी भावना रखता है। (३) तीसरा भाव गृहस्थका रहता है भावना रूपमें भीरुत्वत्याग, कायर न होना किसीसे भय न खाना, क्योंकि भय होनेपर असत्य वचन निकलते हैं, और असत्य वचनसे यह भव और परभव बिगड़ता है। यहां किस बातपर भयशील होना ? जो न्यायकी बात है, सही बात है, सर्व हितकारी है उसको निडर होकर बोल देना या उसमें बोलना न सही, पर भीतरमें भयशील तो न होना। क्योंकि उस भयमें जो वचन बोले जायेंगे वे असत्य हो सकते हैं। तो जो सत्य वचन बोला करते हैं वे भयके त्यागकी भावना रखते हैं। (४) चौथी भावना है हास्य त्याग। हंसी मजाक न करना। जैसे अनेक लोगोंकी आदत होती है दूसरोंकी मजाक करनेकी, हंसी दिल्लगी करनेकी। उन्हें आखिर बादमें बड़ा पछतावा करना पड़ता है, भले पुरुषोंके लिए यह बात योग्य नहीं है। तो वचन ऐसे बोलना कि जिसमें दूसरोंका भी हित हो और अपना भी। तो चूँकि हास्यमें सत्य वचन नहीं निकलते, भंग हो जाता है सत्यका। अतएव सत्याणुव्रती हास्यको दूरसे ही त्यागता है।

सत्यव्रत पालनके लिए अनुवीचिभाषणनामक पञ्चमी भावना—सत्यव्रतकी ५वीं भावना है अनुवीचि भाष्य। शास्त्र आगमके अनुसार ही बोलना आगमविरुद्ध बात न कहना। जैसे अनेक लोग कहते—अजी जमाना कैसा है देख लो विषयोंका लोभ है, अमुक है, तमुक है, नाना प्रकारकी बातें करते हैं, जैसे—क्या आलू प्याज आदि छोड़नेका पचड़ा लगा रखा है ? क्या रखा है रात्रिमें न खानेमें ? दुनिया बुद्धु ऊपरसे कहती है, ऐसी दलील देकर आगम विरुद्ध बात बोलना इसका पाप है, ऐसा आगम

विरुद्ध वचन कभी न बोलना चाहिए। जैसे अनेक लोग कह बैठते हैं कि जब तत्त्वार्थ सूत्रके तीसरे अध्यायपर चर्चा होती है तो उसमें अश्रद्धा जाहिर करते अजी कहां इतने असंख्यात द्वीप समुद्र? दुनिया तो इतनी सी है गैंद जैसी गोल···; इससे बाहर तो कुछ है ही नहीं, ऐसी चीज तो अब न रखना चाहिए। निकाल देना चाहिए। यों झट जीभ चला देते हैं, पर कोई यहां सर्वज्ञ है क्या जिसने सारी दुनिया छान ली है? ज्यों ज्यों मिलते जाते त्यों त्यों कहते जाते कि ये भी मिल गए, ये भी मिल गए। कभी जो पहले टापू न थे और आज मिले हुए हैं उनको आज मान रहे हैं कि ये भी हैं, पहले न मानते थे। देखिये—आज हुंडावर्पिणीकाल है, यह पंचमकाल चल रहा। भरत क्षेत्रके आर्य खण्डमें जमीनपर मलबा पड़ जाता है। और वह हजारों कोशका मलबा हो जायगा। तो उठता है ऐसा मैल जो एक पतली कील जैसा हो गया। सारी दुनिया कितनी है? मानो जैसे कीलपर होने वाली मुट्ठी, इतनी सारी दुनिया है। सारे लोकके आगे बस एक मुट्ठी बराबर दुनियां है। अब उसको चारों ओरसे घूम आवो वहीं पहुंच जावोगे। मगर यह उठे हुए मैलके ऊपर दुनियां है और उसके अतिरिक्त कितना विस्तार है वहां तक तो किसीकी गति ही नहीं है। तो मतलब यह है कि आगमके विरुद्ध कुछ भी वचन बोलना योग्य नहीं। वे यह नहीं महसूस करते कि अभी हमारी समझमें ठीक-ठीक आया नहीं है, जिनेन्द्र देव अन्यथा नहीं बोल सकते। ऋषी संतोंकी वाणी मिथ्या नहीं होती। इस रूपमें कोई प्रतीति तो करे नहीं और यथा तथा वचन बोलना यह है आगम विरुद्ध वचन। आगम विरुद्ध वचन बोलनेसे सत्याणुव्रतका पालन नहीं होता है।

असत्य वचनसे हानि और सत्यवचनके लाभ—सत्य वचनसे चिगे इससे इस लोकमें इस समय भी उसका बड़ा अनर्थ है, उसपर किसको विश्वास नहीं रहता। झूठ बोलने वालेके पास कोई बैठने भी नहीं आता, लेन-देनका व्यवहार भी नहीं करना चाहता। घरके लोग माता-पिता, स्त्री-पुत्र तक भी इसका विश्वास नहीं करते। और उससे डरते रहते हैं कि पता नहीं यह कब कैसा झूठ बोल दे। सो जिसने अपने वचन बिगाड़ा उसने सब कुछ बिगाड़ा। मनुष्यका धन क्या है जिससे दूसरोंको प्रतीति बने? वह है वचन। और वचन ही जिसका बिगड़ गया उसका सब कुछ बिगड़ गया। तो असत्य भाषणका बहुत बुरा फल यहां प्राप्त होता है। लोग घृणा करते, जीभ काट देते, दण्ड देते, लोग पिटाई कर देते। तो उसका जीवन एक व्यर्थ सा होता है और उसे खुद अपने अन्दर संतोष नहीं मिलता। असत्य वचनके कारण उसका दिल इतना कमजोर हो जाता है कि वह कभी अपने आपमें निराकुलता नही पा सकता। तो जिसमें इतना अनर्थ है, परभवमें भी दुर्गति है ऐसे असत्य वचनका त्याग करना और सत्यव्रतका संकल्प रखना जिसके फलमें इस भवमें भी यश, परभवमें भी स्वर्ग देवपना मिलेगा। अहिमिन्द्र बनेगा और मनुष्यभव पाकर मुक्त हो जायगा। तो सत्य वचनका आदर करना, उसमें मुख्य यह ध्यान रखना कि मेरे वचनके द्वारा किसी जीवका अहित न हो, बध न हो, पीड़ा न पहुंचे, ऐसे जो वचन बोलेगा वह जगतमें मान्य होता है तो गृहस्थके पञ्चाणुव्रतमें यह दूसरा अणुव्रत है सत्याणुव्रत।

निहितवा पतितवा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं ।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपापारमणं ॥ ५७ ॥

ज्ञानी गृहस्थके अचौर्याणुव्रतका परिचय—गृहस्थके अचौर्यव्रतका इस छंदमें कथन किया गया। किसी पुरुषका जमीनमें गड़ा हुआ धन या मंदिरमें घरमें किसी जगह रखा हुआ या कहीं भूल गया हो अथवा किसी दूसरेको अमानत सौंप गया हो, ऐसे किसी भी धनको जो न हरण करता है और न किसी दूसरेको देता है उसे कहते हैं अचौर्यव्रतका धारी श्रावक। परका धन उसके लिए विष है, त्याज्य है, आग्राह्य है। उसे उठानेको जी नहीं चाहता ज्ञानी गृहस्थका। वह स्वयं अपने ही धनको छोड़नेकी फिकरमें रहता है, अपने ही धनका त्याग करना चाहता है, क्योंकि उसे वह अपने लिए कलंक समझता है और आत्मसाधनामें बाधक जानता है। तो जो स्ववं ही परिग्रहको छोड़नेकी भावना रख रहा वह दूसरेके धनपर क्या अभिलाषा करेगा? कितनी ही घटनायें ऐसी होती हैं कि जिनमें दिखावट ईमानदारीके हिसाबसे सच्चाई लगेगी। मगर भावोमें खोटापन होनेसे वह सब चोरीमें शामिल होता है। मानलो कोई लेनदेन हो रहा है और वह हिसाबमें लिखनेमें चूक गया है मानो वापिस करने तो थे अधिक दाम और लिख दिया कम, अब इस बातको उसने समझ भी लिया कि हमने भूल कर दिया है फिर भी ग्राहकसे कहना—हां ठीक है, आपको पैसे पूरे मिल गए। आप जाइये तो उसकी यह बात चोरीमें शामिल हो गई। यों ही एक क्या, अनेकों घटनायें होती हैं। ऐसी कि जिनमें लगता है कि यह तो बड़ी ईमानदारीका काम कर रहा मगर लग रही वहां चोरी, वह जान भी रहा कि यह मैं गलत काम कर रहा, फिर भी उसके अन्दर खोटा भाव होनेसे वह उस गल्तीको प्रकट नहीं करता इससे उसमें चोरीका दोष लगता है। सद्गृहस्थ किसी भी प्रकारके धनका अपहरण नहीं करता।

ज्ञानीके आशयमें परधन धूल समान—एक बार दो व्रती दम्पती पुरुष स्त्री दोनों कहीं पैदल जा रहे थे। तो चलते हुएमें उनकी चालमें कुछ ऐसा फर्क आया कि स्त्री कुछ पीछे रह गई, पुरुष आगे बढ़ गया। एक जगह उस पुरुषने क्या देखा कि रास्तेमें २०-२५ मोहरें पड़ी हुई थीं, गिर गई होंगी किसीकी। तो उन्हें देखकर उस पुरुषके मनमें आया कि देखो यह धन पड़ा है, मेरी स्त्री पीछे आ रही है उसे कहीं ऐसा न हो कि इन स्वर्णकी मोहरोंको देखकर लालच आ जाय, क्योंकि स्त्रियोंको स्वर्णके आभूषण प्रिय होते हैं, सो यह सोचकर उसने उन मोहरोंपर धूल झोंकना शुरू किया, इतनेमें उसकी स्त्री भी आ गई और पूछा कि यह क्या कर रहे हैं आप? तो यहां वह पुरुष बोला—यहां पर कुछ स्वर्णकी मोहरें पड़ी हैं। इनपर मैं धूल झोंक रहा हूं इसलिए कि कहीं इन्हें देखकर तुम्हें लालच न आ जाय॥ सो वह स्त्री बोली—अरे चलो आगे बढ़ो, यह क्या धूलमें धूल झोंक रहे। देखो उस पुरुषके मनमें तो आया कि यह धन है और स्त्रीके मनमें आया कि यह धूल है। तो ऐसे ही यहांके समस्त बाह्य पदार्थोंको धूल समझें, उनसे इस आत्माका कुछ लाभ नहीं है, हां गुजारा चलानेके लिए जरूरी हैं सो उसका व्यवहार करना पड़ता है मगर इनके पीछे अपने चित्तको न डिगाना चाहिए।

अचौर्यके पालनमें प्रसन्नताका लाभ—आजकल लोग कितनी ही चीजोंमें मिलावट करके

बेचते। या ब्लेक मार्केटका काम करते तो यह सब चोरी है। जिनका मन स्वच्छ है वे यह समझ लेते हैं कि यह बात उचित है या अनुचित। मनुष्यकी तो बात क्या, पशु भी जानते हैं कि यह चोरीका बर्ताव है। जैसे देखा होगा कि कभी कोई कुत्ता रसोईमें घुसकर रोटी उठा लाता तो कैसा वह छिपकर, पूँछ दुबकाकर धीरेसे छिप छिपकर चलकर एकान्तमें बैठकर उस रोटीको खाता है। वह जानता है कि यह चोरीका काम है, और जब कभी आप उसको अपने हाथसे रोटी खिलायें तो कैसा खुश होकर पूंछ हिलाकर बड़ी विनय दिखाता हुआ, आपको नमस्कार सा करता हुआ या पीछेके दोनों पैरोंके पंजोंके बल पर खड़ा होकर आगेके दोनों पंजोंसे रोटी छीनता है, बड़ी किलोलें करता है, खुश होता है, वहां उसको इतनी समझ है कि यह तो ईमानदारीका काम है और वह चोरीका काम है। तो जो सद्गृहस्थ है ज्ञानी है वह खोटे परिणाम नहीं करता, क्योंकि खोटे परिणामका फल है पापबंध और उसके उदयकालमें इसकी दुर्गति है। तो सद्गृहस्थका व्यवहार चोरीके अंशोंसे भी रहित होता है।

चौरप्रयोग चौरार्था दान विलोपसदृशसन्मिश्राः।
हीनाधिक विनिमानं पंचास्तेये व्यतीपाताः॥ ५८॥

अचौर्याणुव्रतके पांच अतिचार—जो श्रावक अचौर्यव्रतके धारी हैं वे अपने व्रतोंमें दोष नहीं आने देते। वे दोष क्या हैं, इनका वर्णन इस छंदमें किया गया है। दोष व अतिचार एकार्थक हैं। अचौर्याणुव्रतका (१) पहला अतिचार है चौरप्रयोग याने कोई चोरीका उपाय बताना—जैसे इसके पीछेकी छत छोटी है, इसके घरमें जानेका ऊपरसे रास्ता है··· आदिक कुछ भी बात कहना, देखिये लगता तो ऐसा है कि यह कोई चोरी तो नहीं कर रहा, सिर्फ चोरी करनेका थोड़ासा भाव बना है, इसको अनाचारका दोष न लगना चाहिए, सिर्फ अतिचारका दोष लगना चाहिए पर कहते हैं कि भाई यह बात नहीं है। यह बहुत बड़ा दोष है। (२) दूसरा अतिचार है चौरार्थादान—चोरीमें कोई वस्तु लाये उसे ग्रहण करना, खरीद लेना, चाहे सही भावमें भी खरीदे फिर भी उसमें चोरीका दोष लग गया। जब वह चोरीका लाया हुआ है तो उसने चोरीके लिए प्रेरणा तो दी। एक ऐसी घटना बहुत प्रसिद्ध है कि एक बालकको बचपनसे ही चोरीकी आदत बन गई, वह कहींसे एक चाकू चुरा लाया, अपनी मांको दिया तो माँ ने उसे शाबासी दी। अब मांकी शाबासी मिलनेसे वह बालक स्वच्छंद बन गया और धीरे-धीरे बढ़-बढ़कर वह बहुत बड़ा डाकू बन गया। आखिर पुलिसके द्वारा पकड़ा गया और फांसीका आर्डर हुआ।

उस समय उससे पूछा गया कि इस मौके पर तुम क्या चाहते हो? तो उसने कहा कि मैं अपनी मांको देखना चाहता हूं। अब उस प्रसंगमें जब उसकी मां उससे मिलने आयी तो उसने एक चाकू लेकर उस मांकी नाक काट डाला। लोगोंने पूछा कि ऐसा तुमने क्यों किया? तो उसने बताया कि आज जो मेरी यह हालत हुई कि फांसी पर लटक रहा हूं उसमें कारण मेरी यह मां है। मैंने जब इसे शुरु-शुरुमें चाकू चुराकर दिया था तो इसने मुझे शाबासी दी थी। उससे मेरा हौंसला बढ़ता गया और आज इस स्थितिको प्राप्त हुआ। तो चोरीका माल रखना यह अतिचार है, बड़ा दोष है। अचौर्याणुव्रतका तीसरा अतिचार है ब्लेक करना, राजाज्ञाका उल्लंघन करना, न्याय छोड़कर अन्य रीतिसे वस्तुको ग्रहण

करना, राजाने जिसका निषेध किया हो उस चीजको ग्रहण करना यह अतिचार है। (४) चौथा अतिचार है सदृशसन्मिश्र जिसके कहते हैं मिलावट। चीजोंमें मेल मिलावट करना, जैसे कि एक असली तेलमें अनेक नकली तेल मिलाकर बेचना, यह अतिचार है। (५) पांचवा अतिचार है हीनाधिकविनिमान याने छोटे बड़े बांट तराजू रखना। माल खरीदते समय तो अधिक तोल वाले बांटका प्रयोग करना और बेचते समय कम तोल वाले बांटका प्रयोग करना। तो देखिये इसमें बहुत बड़ा दोष है, पर चूंकि थोड़ा यह भाव रख रहा कि मैं स्पष्ट चोरी न कर रहा इस कारण इसका नाम अतिचार रखा गया है।

अचौर्यव्रतपालनकी पूरक पांच भावनाओंमें शून्यागारावास व विमोचितावास नामकी प्रथम व द्वितीय भावना—गृहस्थके ५ अणुव्रतोंमें अचौर्याणुव्रतका प्रसंग चल रहा है। अचौर्याणुव्रतका पूर्णतया पालमहो, इसके लिए ५ भावनायें हैं। ये भावनायें मुनिजन भी भाते हैं और गृहस्थ भी भाते हैं। (१) पहली भावना है शून्यागार—ऐसी भावना होना कि मैं सूने घरमें रहूं। भरा पूरा घर है, अनेक धने वैभव है तो कहीं चित्त न चल जाय। यद्यपि गृहस्थ गृहस्थीमें है मगर भावना तो मुनिकी है, जिस गृहस्थके चित्तमें मुनिव्रतकी भावना नहीं है उसे श्रावक न कहा जायगा, चाहे वह कभी मुनिहो नहीं, जो ऊंचे पद हैं मुनि अर्जिका वगैरहके, वे चाहे जीवनमें इस पदमें न आयें, मगर उसकी चाह और भावना होती ही है कि मैं कब इस संगके जालसे छूटकर ऐसा अकेला रहूं और स्वानुभवके लिए खूब प्रयत्न करुं, स्वानुभवमें रहूं। उस ही की धुन रहे, यह भावना जिसके है वह गृहस्थ सद्गृहस्थ है तब ही तो श्रावकका दूसरा नाम है उपासक। सभी गृहस्थ उपासक कहलाते हैं। उपासकका अर्थ है—जो मुनिव्रतकी, जो आत्मानुभूतिकी उपासना करते हैं वे उपासक कहलाते हैं। तो सूने घरमें रहना यह भावना है अचौर्यव्रतकी, क्योंकि सूने घरमें निवासहोगा, कोई वस्तु ही न होगी, आश्रयभूत कारण ही न मिलेगा तो परिणाम गंदे न होंगे चोरी करनेके परिणाम न होंगे। (२) दूसरी भावना है विमोचितावास। जो घर किसीने छोड़ दिया हो, छूटा घर, जहांसे सब चीजें निकालकर गृहस्थ दूसरे नगरमें भाग गए ऐसे विमोचिता घरमें रहना। ठंडके दिन, बरसातके दिन, आखिर किसी स्थानमें रहता ही तो है मुनि। तो उनकी भावना है कि ऐसे स्थानमें रहूं जहां विकारका आश्रयभूत कारण ही न रहे।

अचौर्यव्रत पालनकी पूरक परोपरोधाकरण नामकी तृतीय भावना—तीसरी भावना है परोपरोधाकरण। दूसरोंको ठहरनेसे रोकना नहीं। जहां कोई मुनिराज बिराजे हैं उनको यह अधिकार नहीं है कि वे किसी दूसरेको ठहरनेसे रोकें। आप यहां न रहिये। वे पूछ सकते हैं कि आप यहां रहनेको हमें क्यों मना करते? वे तो यही समझेंगे कि इसके पास कोई धन दौलत परिग्रह होगा या इसमें कोई कपटकी बात होगी तभीतो यह दूसरेको ठहरनेसे रोकता? जिसके पास कुछ भी परिग्रह न होगा वह क्यों रोकेगा? इसलिए यहां बताया है कि दूसरोंको ठहरनेसे रोकना नहीं। गृहस्थ यों पायगा कि आखिर मुनिव्रत पाये बिना आत्माका गुजारातो होगा नहीं, यह बिल्कुल निश्चित बात है। इस भवमें न सही, किसी भवमें हों, निर्ग्रन्थ दिगम्बर सबका विकल्प तजकर केवल सहज चैतन्य स्वरूप आत्माकी धुन बनेतो मुक्तिका मार्ग बढ़ेगा अन्यथा नहीं। सो यह बात सबको करनी है। और यह भी देख लीजिए कि जब भी भला होगा, मुक्ति होगी तो यह बतलावो अनन्तकाल तक आप अकेले ही तो रहेंगे। केवल

ज्ञानपुञ्ज शरीर भी नहीं, कर्म भी नहीं, दूसरा कोई जीव भी इसका साथी नहीं। केवल अकेला ज्ञानपुञ्ज रहेगा अनन्तकाल तक। तो जिसको अनन्तकाल तक पूर्ण अकेला ही रहना है शुद्ध ज्ञानपुञ्ज रूपमें, तो यहां अकेले रहनेमें क्यों घबड़ाते? मार्ग तो वही है। यहां भी चाहे घरमें भरे पूरेमें रह रहे हैं, पर अपनेको अकेला ही निरखियेगा। मैं आत्मा ज्ञानमूर्ति केवल अपनेमें ही हूं। वस्तुत्वगुण क्या कहता है? अपने ही स्वरूपसे सत् होना, पररूपसे असत् होना यह प्रत्येक पदार्थमें धर्म है। मैं अपने स्वरूपमात्र हूं। दूसरा मेरा कुछ नहीं है, ऐसे अपने मुक्त आत्मस्वरूपमें निवास करना, यह कला जिसने पायी है बस महापुरुष, परम पुरुष वही है। ऐसा होनेकी भावना गृहस्थके रहती है, तो उस मुनि व्रतमें ये भावनायें साकार चलती हैं। किसी दूसरेको ठहरनेसे रोकना नहीं।

अचौर्यव्रतपालनकी पूरक भैक्ष्यशुद्धिनामकी चतुर्थ भावना—अचौर्यव्रतकी चौथी भावना है भैक्ष्यशुद्धि। आहार शुद्ध करना, निर्दोष अन्तराय टालकर करना। देखिये—इस भावनाका अधिक सम्बंध मुनि महाराजसे है, पर अचौर्यव्रतके प्रकरणमें क्यों यह कहा जा रहा कि वह श्रावक ही नहीं जो मुनि होनेकी भावना ही नहीं रखता। न हो सके मुनि जीवनमें यह बात अलग है पर गृहस्थोंमें मुनिव्रतकी भावना न होतो उनके परिणामोंमें उत्कर्षता नहीं आ सकती। और मुनिव्रतमें भैक्ष्यशुद्धि पूर्णतया चलती है। गृहस्थ दशामें यथासम्भव होना ही चाहिए। अच्छा इनका अचौर्यव्रतसे क्या सम्बंध है? तो देखिये—मुनि महाराज भिक्षा भोजन ले रहे हैं, अन्तराय कोई आ रहा और उसे वे टाल जायें तो बताओ चोरीका दोष है कि नहीं? कोई थोड़ा सा बाल निकल आया और उसे यों ही सरका दे तो बताओ चोरीका दोष है कि नहीं? भैक्ष्यशुद्धि न हो तो उसमें चोरीका दोष लगता है। अच्छा, मुनि महाराजकी बात तो ऊंची ही है पर गृहस्थमें भी देखिये जो गृहस्थ राजा, सेठ जिस तरह खाया करते हैं, थाल सजाकर आती है, प्रार्थनाकी जाती है—महाराज भोजन लीजिए तब भोजन लेते हैं, ऐसी जिनकी वृत्ति है वे यदि घरमें रखी हुई चीज भी कहींसे उठाकर खाये तो उठाते समय नियमसे जरा ध्यान जरा चोरी जैसा बन जाता, वैसे चीज घरकी है और उठाने खानेमें कोई दोषकी बात नहीं है मगर जिस प्रक्रियासे वह रोज खाया करता है उस प्रक्रियाके खिलाफ कहींसे कुछ उठाकर खानेमें चोरी जैसा दिल बन जाता है।

पदविरुद्ध प्रवृत्तिमें चोरीके दोषका एक लौकिक दृष्टान्त तथा अचौर्यव्रतकी पञ्चम भावना—एक राजा था सो वह अपने बगीचेमें अकेला ही घूमने गया हुआ था घूमते हुएमें उसने क्या देखा कि एक बड़ा सुन्दर सेव एक पेड़के नीचे पड़ा था पर गोबरसे भिड़ा था। उसे देखकर राजाको लालच आ गया, इधर उधर देखा कि कोई देख तो नहीं रहा, फिर उसे उठाया और रुमालसे पोंछकर खा लिया। अब खा तो लिया पर उसको यह शंका बराबर बनी रही कि कहीं इस तरहसे सेव खाते हुए हमें किसीने देखा तो नहीं। खैर जब वह दरबारमें पहुंचा तो वह समय था दो बजे दिनका। उस समयपर प्रतिदिन उस राजदरबारमें नृत्यगान हुआ करते थे। वहां नर्तकीने अपना नृत्य गायन करना प्रारम्भ कर दिया। ५-७ गीत गाये पर राजाने उसे कोई इनाम न दिया। एक बार नर्तकीने यह गीत गाया "कहि देहौ ललनकी बतिया ··· यह उसकी टेक थी। इस टेकको सुनकर राजाने यह भ्रम किया कि शायद इस नर्तकीने हमें बगीचेमें सेव खाते हुए देख लिया है तभी तो कह रही इस भरी सभामें

कि कहि देहौ ललनकी बतिया। सो इस टेकको सुनकर राजाने अपना एक आभूषण उतार कर दे दिया। उसका प्रयोजन यह था कि यह इस भरी सभामें मेरी बात न कहे, उधर उस नर्तकीने यह जाना कि राजा साहबको हमारा यह गीत बहुत पंसद आ रहा है सो कई बार वही टेक दुहराया। यहां तक कि राजाके पास पहुंचकर ५-७ बार वही गीत गाया—"कहि देहौं ललनकी बतिया ··· राजाने अपने ५-७ गहने जो पहन रखा था सब उतारकर दे दिया, नर्तकी फिर भी वही टेक दुहरावे, यह समझकर कि राजा साहबको हमारे इस गीतकी टेक ही बहुत पंसद आयी हैं, उधर राजाका गहने उतार कर देनेका प्रयोजन यही था इस भरी सभामें यह नर्तकी मेरी सेव खाने वाली बात न बोले। आखिर जब वह नर्तकी फिर भी वही टेक गाने लगी तो राजाको उसपर रोष जगा और बोल उठा—अरे कहदे जो कहनाहो, तेरे कहनेसे नहीं डरते। अधिकसे अधिक यहीतो कहेगी कि राजा साहबने बगीचेमें गोबरसे भरा सेब उठाकर खाया था। लो राजाकी चोरीकी बात प्रकट हो गई। तो यहां चोरीकी बात कह रहे। जिसकी जो विधि है उस विधिसे न खाये, उस विधिका उल्लंघन करे तो इसमें चोरीका दोष लगता है। अचौर्यव्रतकी पांचवीं भावना है साधर्मीजनोंसे विसम्वाद न करना। जिन्हें अचौर्यव्रतका पूर्णरूपेण पालन करना है उनकी यह भावना होती है कि साधर्मीजनोंके साथ हमारा विसम्वाद न बने। विसम्वादसे चोरीका सम्बंध बन जाता है।

कुतपके फलमें प्राप्त क्षणिक चोरीके लाभसे हानियां—चोरीके पापमें बड़ा दोष आता है, यह जन्म भी बुरा बनता है और भविष्य भी बुरा होता है। चोरी करने वालेका कोई विश्वास नहीं करता। पुत्र, पिता, सगा मित्र, राजा आदि कोई भी पासमें बैठने नहीं देते। और जिसको चोरीकी आदत हो जाती उसके हिंसाका परिणाम बन जाता है। अवसर पाये तो जानसे मार दे, चाकू मार दे। उसके चित्तमें किसी प्रकारका धर्म नहीं रहता। और यहां लोग पीटें, राजा दण्ड दे, अनेक प्रकारके यहां कष्ट सहने पड़ते, जेलखाना हो और मर जाय तो नारकादिक गतियोंमें जन्म होता। देखिये जो लोग भिखारी हैं अत्यन्त दरिद्र हैं, दुःखी हैं अथवा समझिये ऐसा ही कोई पाप किया या चोरी जैसा, दूसरेका धन हड़प करना, सों उस पापके फलमें ऐसी दुर्गति मिलती है। और जो धन हरण किया था, चोरीमें जो खूब धन मिल जाता है, क्योंकि कमाना तो कुछ पड़ता नहीं, बस गए और डाका डाल लिया, अथवा चोरी की, लाखोंका माल लूटातो आप यह कह सकते कि पुण्यके बिना तो धन नहीं मिलता, तो बताओ उस चोरके भी पुण्यका उदय है क्या? हां है तो उदय पुण्यका, जो उसने चाहा सो समागम मिला मगर वह कुतप वाला पुण्याश्रव है। पूर्व भवमें खोटी तपस्याकी तो उन कुतपोंके फलमें पुण्य तो थोड़ा आया मगर इस रूपमें आया कि चोरी डकैती आदिकके द्वारा प्राप्त हुआ जिसके फलमें उसे उसी जन्ममें कष्ट भोगना पड़े और मरकर दरिद्री होना पड़े।

परदृष्टि हटाकर निज सहज अन्तस्तत्त्वका आदर करनेका अनुरोध—हे आत्मन् भीतरी अपने स्वभावकी दृष्टि कीजिए। कहां तो आत्माका भगवान जैसा स्वरूप। जैसा अरहंत सिद्ध प्रभुका आत्मा है ज्ञानमय सहज आनदंमय, अपनी सत्तामात्र वही स्वरूपतो हमारा आपका सबका है। इस स्वरूपका आदर करना चाहिए जिसमें सर्व ऋद्धियां भरी पड़ी हुई हैं। सर्व अर्थ जिसमें सिद्ध होते हैं

उस सहज परमात्मा भगवानकी उपासनाको छोड़कर बाह्य पौद्गलिक ढेरोंमें चोरी जैसा परिणाम करे कोई तो यह उसके बड़ा पापका उदय है। और फिर रहना तो कुछ नहीं है पास, सब छूट जाता है, छूटेगा, अब भी छूटा हुआ ही है। कल्पनासे मान रखा कि मेरा है तो ऐसे अत्यन्त भिन्न पदार्थोंसे उसके संग्रहमें चोरी मायाचार आदिक जो पाप बनाया तो क्यों बनाये जाते हैं। ज्ञानी पुरुषमें इतनी दृढ़ता रहती है कि यह लक्ष्मी आनाहो आय, जानाहो जाय, उसके बिना मेरी कुछ अटकी नहीं है, क्योंकि मुझमें यह कला है कि जो भी स्थिति आयगी उसीमें हम अपनी व्यवस्था बना लेंगे, पर आत्मधर्मको, स्वभावदृष्टिको, धर्मपालनको मैं कभी न छोड़ सकूँगा। ऐसा स्वभावदृष्टि करने वाले सद्गृहस्थके अचौर्याणुव्रतका पालन होता है।

न च परदारान्गच्छति न परान्गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वादारसंतोषनामापि ॥ ५९ ॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतकी पवित्र रूपता—ब्रह्मचर्याणुव्रत इतना पवित्र व्रत है कि जिसके पालनेमें आत्माके अनेक अतिशय प्रकट होते हैं। यह गृहस्थका ब्रह्मचर्याणुव्रत कहा जा रहा है। परस्त्रीसे गमन न करना, न दूसरेको गमन कराना। इसको कहते हैं परदारनिवृत्ति अथवा स्वदार संतोष, अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रत। यह ज्ञानी गृहस्थ पापोंसे भयभीत है, इसको डर है तो पापका है, इष्ट वियोगसे डर नहीं, अनिष्ट संयोगसे डर नहीं। शरीरमें वेदनायें आयें उनसे डर नहीं। भले ही शरीरमें कोई कष्ट होनेपर नहीं सहा जाता मगर इसको ऐसा डर नहीं कि जिससे इसका मन स्खलितहो जाय। पाप कार्य क्यों करना? जितने भी जगमें संकट हैं वे सब पापके फल हैं। पापोंसे भयभीत पुरुष ब्रह्मचर्याणुव्रतका पालन करते हैं। देह क्या है? मूत्र, विष्टा, कीटका घर द्वार। "पागल हो गए कविराज" इस भजनमें आता है कि "अशुचितनको चंद्रमुख कहते न आयी लाज" पागलहो गए कविराज। याने जो कवि लोग वर्णन करते हैं शरीरके बड़े शृंगार और सुन्दरताका उनको इस अशुचि शरीरको चंद्रमुख कहते हुए लज्जा नहीं आती। "देह क्या है मूत्र, विष्टा, कीटका घर द्वार। मांस पिंड उजोज कूँ दें, हेमघट उनहार। पागल हो गए कविराज"··· इस तरह कहते हुए आगे यह कहा कि "एक तो स्वयमेव अंधा, जगत जीव समाज। आंखमें फिर राग धूली, डालते किह काज।" पागल हो गए कविराज। तो इस भजनमें यह बात आयी है कि यह शरीर समस्त मलोंका घर है। आप लोग देखते हैं ना कि म्यूनिसपलटीकी ओरसे कूड़ा, कचरा, विष्टा आदि भरनेको जो टीनका बड़ा डिब्बा रख देते हैं उसमें वे सब गंदी चीजें भरी रहती हैं तो उससे कम गंदा नहीं है यह शरीर। इस शरीरके भीतरकी गंदगीका जरा ध्यान तो कीजिए इसके अन्दर सब अपवित्र ही अपवित्र चीजें मिलेंगे। चाम, खून, पीप, मांस, मज्जा, मल, मूत्र, पसेव, नाक, थूक, खकार, कानकनेऊ आदि सभी चीजें महा अपवित्र भरी हैं, इतना तो अशुचि है यह शरीर, फिर भी कामीजनोंके कितना पापका उदय है कि वे इस शरीरमें आसक्त होते हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रतके विरोधक विकारमें व्यभिचार शब्दकी रुढ़िका कारण—देखिये—ब्रह्मचर्यका असली अर्थ क्या है? आत्मामें लीन होना, ब्रह्म मायने आत्मा उसमें चर्य मायने लीन होना

और ब्रह्मचर्यके खिलाफ क्या हुआ? व्यभिचार मायने आत्मा आत्मामें लीन न हो सके और बाहरी उपयोगका डोलना हो। तो अब आप बतलावो हिंसा व्यभिचार है कि नहीं? व्यभिचार है, क्योंकि उपयोग बाहर-बाहर ही डोलता रहता है वैसे झूठ, चोरी, वगैरह सभी पाप व्यभिचार हैं मगर केवल व्यभिचारका नाम चौथे पापमें क्यों रखा है? क्या हिंसा कुशील का व्यभिचार नहीं है? क्या आत्माका स्वभाव है हिंसा करनेका ? अरे ये सभी पाप व्यभिचार हैं, लेकिन चौथे पाप का ही नाम धरा गया कुशील या व्यभिचार तो उसका कारण यह है कि यह चौथा पाप इतना महान खोटा पाप है कि इस पापमें प्रवृत्ति करते हुएमें आत्माकी सुध कभी रह नहीं सकती। आप परिग्रहके बीच रह रहे, भोजन कर रहे, स्वाद ले रहे तो इसके बीच आत्माकी सुधहो सकती, पर व्यभिचार चौथा पापका नाम रखा है कुशील व्यभिचार। और भी देखिये—वीर्य नाम है आत्माकी शक्तिका। कहते हैं ना कि भगवान अरहंत अनन्त वीर्यके धनी हैं। चार अनन्त चतुष्टय बोलते हैं, उनमें एक अनन्त वीर्य भी है। तो वीर्य मायने बल, शक्ति। आत्माका बल, ज्ञानबल, ज्ञानका ज्ञानमें स्थिर होना यह आत्मवीर्य है। तो शरीरका बल है वह भी वीर्य है।

अपना बल खोकर कामी जनोंकी अशुचिरतिमें मौजकी मान्यता—देखिये कामीजन अपनी शक्तिको खोते हुए मौज मानते हैं, याने कितनी बेढव बात है। वहाँ तो हर समय खाना पीना अच्छा चाहते ताकि शरीर पुष्टहो जाय। घी, दूध, फल, रस तथा शिलाजीत जैसी चीजोंका सेवन इसलिए करते कि हमारा शरीर पुष्ट हो। मगर ब्रह्मचर्यका घातकर, अपने शरीरकी ताकतको खोकर ये व्यामुग्ध जीव उसमें मौज मानते हैं यह कितने गजबकी बात है। यदि मोक्षमार्ग पसंद है, संसारके संकटोंसे छुटकारा पाना है, आत्मामें लीन होनेका पौरुष बनाना है तो पहले लौकिक ब्रह्मचर्यका पालन करो। जो लौकिक ब्रह्मचर्यका पालन नहीं कर सकते वे अलौकिक ब्रह्मचर्यके अधिकारी नहींहो सकते। इसी ग्रन्थमें आगे आयगा कि यह शरीर कैसा है? मलका कारण है और मल इसका कार्य है। मलसे पैदा हुआ है मलको निकालता है और स्वयं मलस्वरूप है। रोम-रोमसे मल झड़ता है। दुर्गन्धित है, भयानक है, ऐसे शरीर पर थोड़ा यह चमड़ा ढका है। जो गंदगी है मांसकी, खूनकी, हड्डीकी उसपर यह चामचादर पड़ी है, यह चामचादर किसी भी रूपका हो उसे देखकर अज्ञानी कामी पुरुषतो आत्मसुध भूलकर गंदे विचार करता है और ज्ञानीजन स्पष्ट समझते हैं कि यह शरीर यह है। ऐसे साफ सुथरे सब बैठे हैं, मुख भी बड़ा साफ लग रहा और जरासी नाक कोई सूत दो सूत ही नाकसे बाहर निकल पड़े तो शरीरकी सारी शोभा धरी रह जाती है।

इस दुर्लभ नरदेहको व्रत शील सदाचारमें युक्त करके जीवन सफल बनानेका अनुरोध—तो यह शरीर मिला है इसको व्रतमें, शीलमें और धर्ममें, ज्ञानमें, तपश्चरणमें, संयमसाधनामें लगा डालें। आखिर यह शरीर एक न एक दिन नष्ट होगा, जला दिया जायगा, गाड़ दिया जायगा या छोड़ दिया जायगा, जो भी स्थिति बने ऐसे शरीरसे अगर संयम व्रत आदिकके कार्य बनाये जायें और अपने आत्माको शुद्ध भावोंमें रखा जाय तो इसमें आत्माका लाभ है और यदि मनचाहा खाना पीना रमना, विषयसेवन अनेक पाप इनमें शरीरको जुटाये जायेंतो इसका फल शरीरतो जड़ है, क्या भोगेगा। भोगना

स्थिति। वहां ज्ञानादिक गुणोंका विचार कर हमें अपने गुणोंकी याद आ जाती है, स्वरूपकी याद आ जाती है ओह यही है मेरा स्वरूप। मैं व्यर्थ ही यहां वहां भटकता फिरा, इस तरह वह अपने स्वरूपमें पहुंच जाता है और स्वरूपमें मग्नहो सकता है। हम आपकी आजकी स्थिति प्रभुभक्ति सिवाय, स्वाध्याय सिवाय, सत्संग सिवाय कोई उपाय नहीं है कि हम धर्म मार्गमें चल सकें, उस पर सच्चा ज्ञान रखते हुए हमारे ये तीनों काम चलें—प्रभुभक्ति, सत्संग और स्वाध्याय। तो हम आसानीसे सफल हो सकते हैं, और यदि यही पता न हो कि प्रभु क्या कहलाते हैं तो हम धर्मको प्राप्त न कर पायेंगे। भले ही किन्हीं वासनाओंसे, किसी भावनासे हम धर्मके कार्यमें लगे हैं। मन्दिरमें प्रभु पूजा आदिक सब सम्हालमें लगे हैं, मगर धर्म तो वह चीज कहलाती है जो मोक्षमें पहुंचा दे। तो मोक्षमें पहुंचा देने वाली कुञ्जी यदि नहीं मिली है तो उसे पालें, यदि वह कुञ्जी अपने पास रहेगी तो प्रभुभक्ति, स्वाध्याय आदिकसे हमारा स्पष्ट मार्ग बन जायगा।

प्रभुकी वीतरागताका आदर्श—प्रभु क्या है? जो मेरा स्वभाव है वैसा ही स्वभाव उनका है। उस स्वभावपर आवरण न रहे कर्म न रहे सो उनका स्वभाव एकदम पूरा प्रकट हो गया है। स्वभाव क्या है? ज्ञान स्वभाव। वह ज्ञानस्वभाव पूर्ण प्रकट हुआ है। लोकालोक सबके ज्ञाता हो रहे हैं, भगवान लोकालोकके सारे विश्वको जानते हैं इस कारण हम प्रभुको महत्त्व नहीं दे रहे, वहतो ऐसा होता ही है, पर प्रभु पर आवरण न रहा, दोष न रहे इसलिए उनको आकुलता रंच भी न रही, यह है महत्त्वकी बात। भगवान सारे लोकालोकको जानते हैं इस कारण हम अपने लिए आदर्श मानें सो बात नहीं है। यहां भी कोई थोड़ा जानता कोई बहुत। भगवानने सारे लोकालोकको जान लिया इस कारणसे भगवान हमारे लिए आदर्श नहीं, किन्तु भगवानमें दोष रंच भी नहीं रहे, जन्ममरण आदिक कष्टोंसे छूट गए, जो उनका सहज स्वभाव है वही प्रकट हो गया जिसके कारण अब जरा भी उनमें अपवित्रता नहीं है और रंच भी आकुलता नहीं है, और स्वभावमें लीन हो गए हैं इस कारण प्रभु आदर्श हैं। यद्यपि प्रभु सर्वज्ञ हैं, सबको जानते हैं मगर प्रभुकी सर्वज्ञताका गुणानुवाद करके हम क्या पालेंगे? हां प्रभुकी निर्दोषताका मनन करके हम पा लेंगे तो प्रभु वीतराग हैं और सर्वज्ञ हैं पर सारी महिमा वीतरागतासे है। सर्वज्ञतासे हम कोई उपाय वाली महिमा नहीं समझते। यद्यपि जो सर्वाधिक बड़ा होता वह सर्वज्ञ होता ही है, यह गुणका पूर्ण विकास है, मगर ज्ञान गुणका पूर्ण विकास होनेसे ही वे हमारे आदर्श हो गए हों सो मात्र यह कारण नहीं है, किन्तु वीतराग होनेसे, निर्दोष होनेसे, पवित्र होनेसे, निज आनन्दरसमें लीन होनेसे प्रभु हमारे लिए आदर्श हैं। एक बात और निहारो। किसी मुनष्यसे पूछो कि आप यह बतलावो कि आप क्या चाहते हैं? तो वह यह न कहेगा कि मैं सारे विश्वको जान लूँ, यह चाहता हूं, वह तो यह कहेगा कि मेरेमें कष्ट, आकुलता, क्षोभ आदि रंच भी न रहें, मुझे पूर्ण शान्ति मिले, यह चाहता हूं, वह तो यह कहेगा कि मेरेमें कष्ट, आकुलता, क्षोभ आदि रंच भी न रहें, मुझे पूर्ण शान्ति मिले, यह चाहता हूं। यदि कदाचित सारे लोकालोकको जाने बिना शान्ति मिल जाती होती तो कोई जरूरत न थी कि इतना बड़ा ज्ञान करलें। चाहिये तो शान्ति मगर जिन महान आत्माको शान्ति मिलती है वह सर्वज्ञ हो ही जाता है, उसके लिए क्या करें? वह अनिवारित बात है, मगर सर्वको जान लेनेसे प्रयोजन सिद्धहो

गया सो बात नहीं, किन्तु वीतरागता आ जानेसे, निराकुलताहो जानेसे प्रयोजन सिद्ध होता है, और यही कल्याण है कि मेरेमें आकुलता रंच मात्र न रहे।

मुक्तिकी प्राप्तिके उपायमें प्रारम्भिक पौरुष सम्यग्दर्शन—देखिये—जैसे लोकमें पुरुषार्थयोग मिलनेसे अनेक काम बन जाते हैं ऐसे ही नियमसे मुक्तिका पुरुषार्थ और योग करनेसे मुक्ति मिलेगी ही, कहीं भागेगी नहीं, मिलनी ही पड़ेगी मुक्ति, उसके अनुसार पुरुषार्थ होने दो। वह पौरुष क्या है? तो आचार्योंने स्पष्ट बताया—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनकी सम्पूर्णता होना मुक्तिका पुरुषार्थ है। सम्यग्दर्शन मेरा जो सहजस्वरूप है अपने आपकी सत्ताके कारण उस रूपमें अपनेको मान लिया जाय कि मैं यह हूं, यह सम्यग्दर्शनहो गया। मैं मनुष्य हूं ऐसा विश्वास मिथ्यात्व है, क्योंकि मनुष्य होना मेरा सहजस्वरूप नहीं है। मैं मनुष्यमात्र नहीं हूं, मनुष्यपना मिटे बादमें मैं मिट जाऊं, ऐसी बात नहीं है। इस मनुष्यदेहमें रहकर भी मैं इस देहसे निराला एक ज्ञानस्वरूप परम पदार्थ हूं। तो जो मैं अपने आप सहज हूं दूसरेके सम्बन्धके बिना, उस रूपमें अपनेको मान लीजिए कि मैं यह हूं। सम्यक्त्व हो गया। सम्यक्त्व हुए बिना कितने ही पौरुष कर लिए जायं, पर मोक्षका मार्ग नहीं मिलता। और मोक्षमार्ग अत्यन्त सुगम है, आप अपना सही विश्वास बना लीजिए।

सहजात्मस्वरूपके सिवाय अन्य भावोंमें आत्मत्वकी आस्थामें मिथ्यादर्शन—जो कुछ विश्वास आज लोग बना रहे हैं वे देखिये स्वरूपके खिलाफ हैं, इस कारण मिथ्यात्व हैं। मैं व्यापारी हूं, अमुक चंद हूं, अमुक लाल हूं, अमुक काम करनेवाला हूं अथवा मैं पुरुष हूं, स्त्री हूं, अमुकका पिता हूं, अमुकका पुत्र हूं अगर यह भीतरमें विश्वास पड़ा हुआ है कि मेरा ऐसा ही स्वरूप है, तो वह सब मिथ्यादर्शन है। यहाँ तक कि धर्मके नामपर भी यदि यह विश्वास पड़ा है कि मैं पुजारी हूं, मैं सद्गृहस्थ हूं, मैं मुनि हूं, यहां तक भी यदि इस देहमें आस्था चलती है तो वह भी मिथ्यादर्शन है। तब कैसा विश्वास होना चाहिए अपने बारेमें तब सम्यक्त्व कहलायेगा? मैं ज्ञानस्वरूप एक परम पदार्थ हूं। ये अवस्थायें आयी हैं, मैं जैन हुआ हूं, गृहस्थ हुआ हूं, व्रती हुआ हूं, त्यागी बना हूं, मुनि हुआ हूं, ये पर्यायें आयी हैं, पर इन पर्यायों मात्र मैं नहीं हूं। अगर मैं इन पर्यायों मात्र ही हूं तो फिर भगवान बननेका कोई उपाय न करना था, फिर इनको छोड़कर कैसे आगे बढ़ना होगा? तो अपने स्वरूपपर दृष्टि दीजिए। बड़े-बड़े मुनिजन अपने मुनिव्रतको पालते हुए भी उनके भीतरमें यह श्रद्धा बनी रहती है कि मैं मुनि नहीं हूं, किन्तु मैं ज्ञान स्वरूप परम पदार्थ हूं। यह पर्याय बीचमें आयी है जिसमेंसे गुजर मैं आत्माके धर्मका पालन करता हूं। तो बड़े-बड़े ऋषिराजजो अपनी अवस्थावोंसे उपयोग हटाकर ज्ञानस्वरूप आत्मामें उपयोगले जाते हैं। तो अब गृहस्थजनोंका क्या कर्तव्य है कि जो कुछ समागम हैं उन समस्त समागमोंको कर्मजनित जानें, मायाजाल जानें, उनमें अटकें नहीं और एक जो अपना सहज ज्ञानस्वरूप है, जिसको ब्रह्म कहते हैं उसका दर्शन करें उसमें लीन हों।

सहजात्मस्वरूपको अनुभवनेका अनुरोध—भैया, एक बार तो आत्मीय आनन्द पा लें, स्वानुभव करें, इसके लिए चाहे सारे तन, मन, धन, वचन, प्राण भी अर्पित करने पड़ें फिर भी एक बार आत्माके सहज ज्ञानस्वरूप का अनुभव तो जरूर हो जाना चाहिए। जिसको एक बार सम्यक्त्व हुआ उसका

सम्यक्त्व चाहे छूट भी जाय तो भी वह पुनः रत्नत्रय पायगा और मोक्ष जायगा। जो चीज अब तक नहीं पायी उसकी धुन बनाना चाहिए। संसारके वैभव अनेक बार प्राप्त कर लिए, आज कितना धन है, कितनी प्रतिष्ठा है, इससे अनगिनते गुने प्रतिष्ठा विभूति हम आपने अनेक बार प्राप्त की, पर उससे क्या काम बना? मरे फिर इन भवोंमें घूमते रहे। आज मौका है मुक्तिका उपाय बनानेका, अपने आत्माके स्वरूपकी पहिचानका। उसका उपाय है ज्ञानार्जन करना।

ज्ञानके प्रतिसातिशय भक्तिकी अद्भुत महिमा—देखिये, ज्ञानके प्रति बड़ी तीव्र भक्ति होनी चाहिए, तब केवलज्ञान का उपाय मिलेगा। और आत्माका सच्चा वैभव प्राप्त ज्ञान ही है जो हमारा रक्षक है वह ज्ञान ही है, अन्य कुछ नहीं है। तो इस ज्ञानस्वरूपकी भक्ति जितनी बने, अपूर्वकी जाय तो इस धारामें चलते-चलते हम निकट कालमें केवलज्ञान प्राप्त कर लेंगे और ज्ञानसे यदि विमुख रहे, कि ज्ञान कठिन चीज है, यह हमसे नहीं होता, तो साधारण रूपसे कोई कितने ही अन्य काम करले मगर ज्ञानकी उपेक्षा कर देनेसे तो उसे सही रास्ता न मिल पायगा। इसलिए ज्ञानार्जन अवश्य करना चाहिए। चाहे कितना ही कठिन विषयहो मानलो अस्वस्थ भी रहते, अधिक मेहनत नहीं कर सकते, फिर भी ज्ञानार्जन करनेके लिए निरन्तर उत्सुक रहना चाहिए। चूँकि ज्ञानस्वरूपमें रमना है इसलिए ज्ञानके प्रति बड़ी उमंग होनी चाहिए। वह ज्ञान क्या है? मेरा ही तो स्वरूप है ज्ञान। हम अपने आपके स्वरूपमें रम सकें यह कोई कठिन बात नहीं है। ज्ञानस्वरूप अपने आत्मामें संतोष पाना, बाहरमें किसी भी जीवके प्रति कुभाव न करना, ईर्ष्या, बैर विरोध न करना और अपने आपके स्वरूपको देखकर प्रसन्न रहना, अपने ही समान दूसरे जीवोंका स्वरूप निरखना, ये हैं अपनी प्रगतिके उपाय। बुरे भाव करके हम किसी दूसरेका बुरा नहीं करते। स्वयं अपना बुरा करते हैं। तुरंत कर्मबन्ध होते है, तुरन्त आकुलता भीतर जगती और भगवानकी वाणीकी श्रद्धा न होनेसे याने उनकी आज्ञा न माननेसे दर्शनमोह तकका बंधहो जाता। तो खोटेभाव मेरेमें कभी न जगें, देव, शास्त्र, गुरुके प्रति हमारी निष्कपट भक्ति बने, ऐसा अपने भीतरमें भाव रहे, पौरुष रहे और हमारी अनुरागी जीवाके जितना अनुराग पिताका बेटे पर होता है उससे अधिक अनुराग देव, शास्त्र गुरुके प्रति होता है।

देवशास्त्र गुरुके प्रति सातिशय भक्तिका कर्त्तव्य व परीक्षण—देखिये कुटुम्ब बच्चे आदिक ये हमारे रक्षक न बन पायेंगे, ये हमारी विपत्तिमें मददगार न होंगे। मरणके बाद हमारे प्रेमका संस्कार हमको दुर्गतिमें ही ले जायगा, मगर देव, शास्त्र, गुरुके प्रति जो अनुरागी होगा वह पुण्यरस बढ़ायेगा। पापरस घटायेगा। वर्तमानमें भी रक्षक है और मरणके बाद सुगति मिलेगी तो वहां यह रक्षक रहा। और आप तोलिये कि कुटुम्बीजन, मित्रगण ये आपके लिए प्रिय होने चाहिए या देव, शास्त्र, गुरु ये प्रेय होने चाहिए। किसीका भी प्रेम अपेक्षासे निरखा जाता है। मानलो आपके पास दो बेटे हों तो इस पर प्रेम अधिक है यह बात आपने कैसे जाना? अपेक्षासे। उस दूसरेकी अपेक्षा इस पर प्रेम अधिक है। ऐसे ही देव, शास्त्र गुरुमें आपकी भक्ति है यह कैसे जाना अपने कुटुम्बसे, अपने परिजन से कितना प्रेम है उससे अधिक प्रीति हो, अनुराग हो, भक्ति हो तो समझिये कि हमको देव, शास्त्र, गुरु में भक्ति है। साधारण भक्ति को भक्ति न कहेंगे किन्तु अन्य की अपेक्षा अधिक भक्ति हो तो उसे भक्ति कहेंगे। और

अनुराग का परीक्षण यह है कि जिस पर विशेष अनुराग है उसके लिये यह अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व अर्पित करने के लिये तैयार रहता है। यदि देव, शास्त्र, गुरु में विशेष भक्ति न जगे, कुटुम्बजनोंके प्रति ही भक्ति जगे तो समझो कि हम धर्म मार्गमें नहीं बढ़ पा रहे। यदि हमारी भक्ति सबसे अधिक प्रभुके स्वरूपमें, शास्त्रोंके ज्ञानमें, शास्त्रोंकी आज्ञा माननेमें, गुरुजनोंकी सेवामें है तो हम संसारसे पार हो सकेंगे। यदि उन देव, शास्त्र गुरुकी अपेक्षा कुटुम्बीजनोंमें हमारा प्रेम अधिक है तो समझो कि पार होनेका अभी उपाय नहीं प्राप्त कर पाया।

व्यवहार धर्मोंका प्रयोजन आत्मधर्मपालन—भैया, यथोचित सब व्यवहार धर्मोंके उपायसे हमें अपने आत्माके धर्म में आना है, इसीको कहते हैं ब्रह्मचर्य। अब जो ब्रह्मचर्यको चाहते हैं उनका कर्त्तव्य है कि शरीरके ब्रह्मचर्यका पालन करें। कोई मानलो शरीरसे ब्रह्मचर्य नहीं पाल रहा, कामासक्त है, विषयाभिलाषी है तो वह परमार्थ ब्रह्मचर्यके पालनका अधिकारी नहीं हो सकता, इसलिए संकल्पपूर्वक बड़ी दृढ़ताके साथ हमारा ब्रह्मचर्य व्रत पलना चाहिए। जो गृहस्थ ब्रह्मचर्य व्रतको दृढ़तासे पालेगा उसके वचन सब इस अनुकूल बनेंगे कि वह आत्माके वास्तविक धर्मका पालन कर सकता है। तो गृहस्थका ब्रह्मचर्याणुव्रत जहां समस्त स्त्रियोंका त्याग है और अपनी पत्नीमें संतुष्ट है उस गृहस्थकी धुन और दृष्टि अपने इस आत्मविकासपर रहा करती है। ऐसा शुद्ध सद्गृहस्थ ब्रह्मचर्याणुव्रतका पालन करता है।

अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीड़ाविटत्वविपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पंच व्यतीचाराः॥ ६०॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतके पांच अतिचार—जिन श्रावकोंने पञ्चअणुव्रतका धारण किया है वे श्रावक अपने ब्रह्मचर्यव्रतमें अतिचार भी नहीं लगाते। अतिचार कहते हैं दोषको। ऐसा दोष जिस दोषके रहते हुए व्रतका थोड़ा लगाव रहे पर दोष कहलाये। ऐसे दोष ५ होते हैं—(१) पहला अतिचार है अन्यविवाहाकरण। अपने पुत्र पुत्रीके सिवाय दूसरेकी पुत्र पुत्रियोंका रागी रोप करना, विवाह कराना यह अन्यविवाहाकरण नामका अतिचार है। सद्गृहस्थको यह शौक न रहेगा कि मैं यहां वहांके विवाह करवाऊं, ऐसा उसके राग न रहेगा, पर जो घरमें हैं पुत्र पुत्री आदिक उनका तो जुम्मा है ही। उनका वह सम्बंध बनाता है, पर अन्यका सम्बंध बनानेका राग नहीं रहता ऐसा होता है ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावक। यदि वह राग है तो ब्रह्मचर्याणुव्रतमें अतिचार है, कुछ थोड़ा सा राग है उस सम्बन्धमें इस कारण दोष है। (२) दूसरा दोष है अनङ्गक्रीड़ा। कामसेवनके अंगोंसे भिन्न अंगोंसे क्रीड़ा करना अनङ्ग क्रीड़ा दोष है। यह दोष भी ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावके नहीं होता। (३) तीसरा दोष है विटत्व—विटरूप धरना, पुरुषका, स्त्रीका स्वांग बनाकर उस तरहके मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करना यह अतिचार है। जो ब्रह्मचर्याणुव्रती है वह भेष स्वांग क्यों बनायेगा? और उस स्वांगके द्वारा अपने मन, वचन, कायकी चेष्टा क्यों करेगा? (४) चौथा अतिचार है अतिप्रसंग, मायने परस्त्रीका तो पूर्ण त्याग है ही श्रावकका, पर अपनी पत्नीसे भी काम विषयक तृष्णा होना यह ब्रह्मचर्याणुव्रतका अतिचार है, क्योंकि गृहस्थधर्म निभानेका प्रयोजन तो यह है कि चूँकि हम मुनि धर्मका पालन नहीं कर पाते तो इसलिए गृहस्थ धर्ममें रहकर ही बहुतसे

अपराधोंसे बचे रहेंगे, पर यदि कोई उसको विषयका साधन ही मानता है तो उसके लिए दोष है। (५) पांचवां दोष है इत्वरिकागमन—व्यभिचारी स्त्रीके घर जाना, उसको अपने घर बुलाना, उससे अपना लेन देनका सम्बंध रखना, परस्पर वार्ता करना, रूप शृंङ्गार देखना यह ब्रह्मचर्याणुव्रतका अतिचार है।

निरतिचार ब्रह्मचर्यके धारककी श्रेष्ठता—अतिचार कोई करता है तो उसकी स्वच्छन्दता होनेपर अनाचार बन जाया करता है। इसलिए श्रावक अतिचारसे भी दूर रहता है। श्रावकका ध्येय ब्रह्मचर्यकी परम रक्षा करना है। यह ब्रती देवोंके द्वारा भी पूज्य है। सो सद्गृहस्थ अपनी विवाहित स्त्रीके सिवाय अन्य स्त्रियोंको मां बहिन पुत्रीके समान निरखता है। और मां बहिन, पुत्री आदिकसे भी वार्ता एकान्त स्थानमें नहीं करता। यद्यपि लगता होगा ऐसा कि घरमें है, मां ही तो है, पुत्री ही तो है बहिन ही तो है। बात होती ही है मगर ब्रह्मचर्याणुव्रतका जिसने संकल्प किया वह सम्भावनाकी बातोंसे भी अलग रहता है। इसलिए एकान्तमें उनके समीप भी न बसे। अन्य स्त्रियोंसे मुख जोड़कर, आंखे जोड़कर वार्ता न करना, वैसे आंखें हैं, सब दिख जाता है मगर एक राग होना जो एक लक्ष्य बनाकर वार्ता करे तो वह अतिचार है। और यही प्रकृति प्रवृत्ति कभी बढ़-बढ़कर अनाचारका रूप धारण कर लेती है। शीलवान पुरुष ब्रह्मचर्याणुव्रती तो अन्य स्त्रियोंको देखकर अपने नेत्रोंको बंद कर लेते हैं या अपने किसी कार्यमें ही व्यस्त रहते हैं। ऐसे समस्त बाहरी दोषोंसे बचता हुआ सद्गृहस्थ ब्रह्मचर्याणुव्रतका पालन करता है।

ब्रह्मचर्यके निर्दोष पालनकी पूरक पञ्च भावनाओंमें आदिकी चार भावनायें—ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेके लिए ५ विशिष्ट भावनायें आचार्यों ने बताया है। (१) पहली भावना है स्त्रीराग कथाश्रवणत्याग—स्त्री विषयक राग सम्बंधी कथावोंके सुननेका त्याग होना। ऐसी कथायें भी न सुनेगा जिनमें रागका संम्बध हो। यह है ब्रह्मचर्याणुव्रतीकी पहली भावना। तो कहां श्रवण है पर उस श्रवणमें जैसे पौराणिक कथायें हैं, सीताजीकी कथा है या अन्य कोई कथायें, वे भी स्त्रीविषयक कथायें हैं मगर वे धार्मिक हैं और शीलव्रतका पोषण करने वाली कथायें हैं। इसलिए प्रत्येक कथाके सुननेका त्याग नहीं, किन्तु जिन कथावोंके सुननेसे रागभाव पैदा हो उनके सुनने का त्याग रहता है। (२) दूसरी भावना है तन मनोहारांग निरीक्षण त्याग। स्त्रियोंके सुन्दर अंगोंको देखनेका त्याग होना। मुख, हाथ पैर आदिक जो भी अंग, उनके देखनेका त्याग रहता है ब्रह्मचर्यके प्रेमीको। ऐसी प्रवृत्ति वह नही रखता कि जिसमें रागका एक द्वारमिल जाय जिससे कि वह हृदयमें पनप सके। (३) तीसरी भावना है भोगे हुए भोगोंकी याद न करना। पहले कालमें कोई भोग भोगे थे, ये भावनायें चूँकि गृहस्थमें भी चलती हैं और मुनियोंमें भी चलती हैं, पर साधारण भावनायें हैं इसलिए सब पर अर्थ लगेंगे। जो पहले भोग-भोगे उनका त्याग होनेपर अब उनका स्मरण तक भी नहीं करता है कि मैंने ऐसे भोग भोगा था क्योंकि उसके स्मरणमें पुनः रागकी भावना बन सकती है। इस कारण ब्रह्मचर्यव्रतका अनुरागी पूर्व भोगे हुए भोगोंका भी नहीं भोगता। (४) चौथी भावना है इष्टश्रेष्ठ रस त्याग। हृष्टपुष्ट कामोद्दीपन करने वाले भोजनका त्याग करना। जिससे एक कामवासना बने ऐसे रसीले चटपटे भोजनका त्याग होता है ब्रह्मचर्यव्रतके प्रेमीको। शरीरके लिए जितना आवश्यक है वह सब साधारण भोजन ही पूर्ति कर देता है मगर गरिष्ट या अन्य कोई ऊंची दवाइयोंके ऐसे प्रयोग ये ब्रह्मचर्यव्रतमें बाधक हुआ करते हैं।

ब्रह्मचर्यकी पूरक पञ्च भावनाओंमें अन्तिम भावना—(५) पांचवी भावना है स्वशरीर संस्कार त्याग। अपने शरीरका संस्कार त्याग देना, शरीरको बड़ा सजाकर रखना, अब गृहस्थमें भी यह भावना है और मुनिमें भी यह भावना है तो कोई गृहस्थ बड़े चटकीले कपड़े पहने और नई-नई डिजाइनें पसंद करे, इस तरहके अनेक शौक बनाये तो वह शरीरका संस्कार बनाना है, ये ब्रह्मचर्याणुव्रतमें बाधक है। वास्तविकता तो यह है कि यह श्रावक घरमें तो रह रहा है मगर चित्त इसका कल्याणकी ओर ही रहता है। जगतको इसने असार जान लिया। जगतके समागमोंमें आत्माका कोई कल्याण नहीं है, यह बात हृदयमें भली भांति बैठ गई। अब एक संस्कारका क्या भाव रहेगा? वैसे तो जो ज्ञानी है, शान्त है वह किसी भी प्रकार रहे कमीजके बटन खुले हैं तो परवाह नहीं, टोपी टेढ़ी है तो परवाह नहीं, कोई भी स्थितिहो, यदि ज्ञानी है, परोपकारी है तो उसकी वह स्थिति भी लोगोंको सुहा ही जायगी। गांधीजी की पोषाकके विषयमें सुना ही होगा। जब वह कुर्ता पहनते थे तो उनके कुर्ताके एक दो बटन खुले ही रहते थे, कैसी ही मुद्रामें रहते थे, मगर वे भी लोगोंके द्वारा आदरणीय बन गए। तो प्रसिद्धि, यश ये सब शान्ति और परोपकार पर निर्भर हैं। सो इसके लिए शान्ति परोपकार नहीं है, वे तो आत्माको विशुद्ध रखनेके लिए शान्ति और परोपकार है। तो जो आत्मकल्याणकी धुन रख रहे हैं ऐसे श्रावक अपने शरीरके संस्कारमें क्या अनुराग करेंगे। सो ब्रह्मचर्याणुव्रतको धारण करने वाले गृहस्थकी ये भावनायें रहती हैं।

इस लोक व परलोककी आपदाओंसे बचनेके लिए ब्रह्मचर्यव्रतकी अत्यावश्यकता—ब्रह्मचर्याणुव्रत क्यों आवश्यक है प्रत्येक गृहस्थको? इस ब्रह्मचर्यके विरुद्ध प्रवृत्ति करेगा तो वह गृहस्थ इस लोकमें भी दुःख पायगा और अगले भवमें भी दुःख पायगा। जो कुशील पुरुष है, जो नामसे उन्मत्त है। स्त्री विषयक रागकी वासनासे जिसकी बुद्धि ठगाई गई है वह विचार रहित कार्य और अकार्यको न जानने वाला मंद बुद्धि हो जाता है। कर्तव्य अकर्तव्यका वहां ध्यान नहीं रहता जिसके चित्तमें कामवासनाका घर बना हुआ है। वह पाप और पुण्यको कुछ नहीं देखता। पुण्यकी बात तो वहां होगी ही क्या? पापसे उसे डर ही नहीं रहता, क्योंकि बुद्धि उसकी भ्रष्ट हो गई है और काम वासनासे हृदय भर गया है। भला देखिये पशु भी आहार, निद्रा, भय, मैथुन इन चारों संज्ञावोंमें रहते हैं, यह मनुष्य भी यदि उसी प्रकार की प्रवृत्तियोंमें रहेतो मनुष्यमें और पशुमें क्या भेद रहा? बल्कि प्रकृति देखिये कि पशुवोंके तो अपने ऋतु और समयपर ही काम वासना बनती है किन्तु पुरुषोंके तो निरन्तर कामवासना रहा करती है। तो यह जन्म किसलिए पाया? तो इस लोकमें भी बड़ा दण्ड मिलता है। छोटे लोग भी पीट देते हैं। सर्वस्व हरण तकका भी दण्ड मिलता है और मरकर परलोकमें दुर्गति पाता है। तो भला ऐसे कुवासना खोटे भावोंसे आत्माका अकल्याण है। अपने आत्मस्वरूपको निरखिये। यह स्वयं अविकार स्वरूप है। जो अपनी सत्ताके कारण सहज स्वरूप है उसमें विकार रंच नहीं है। हां वैभाविक शक्ति है। उस अनादिसे अशुद्ध जीवका निमित्त पाकर विकार उत्पन्न करले, मगर स्वरूपमें विकार नहीं है। हम अपने स्वरूपका ही आदर करें और अपने स्वरूपमें ही लीन होनेका यत्न करें। इसके अतिरिक्त बाहरी प्रवृत्तियां तो इस जीवको भटकाने वाली हैं।

धनधन्यादिग्रन्थं परिमाप ततोऽधिकेषु निः स्पृहा।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥ ६१ ॥

श्रावकोंके परिग्रहपरिमाणकी महिमा—अब परिग्रह परिमाण अणुव्रत का स्वरूप कहा जा रहा है। देखिये गृहस्थकी सारी दशायें बदलने वाला निर्दोष और आत्मकल्याणमें लगाने वाला यह परिग्रह परिमाणाणुव्रत है। धन धान्यादिक परिग्रहोंका परिमाण कर लेना कि मैं इससे अधिक धन न रखूँगा। और इससे अधिककी वाञ्छा भी न करुंगा, यह परिग्रह परिमाणाणुव्रत है। परिग्रहका परिमाण उतना रखना जितनमें संतोष हो जैसी वर्तमान परिस्थिति है उससे कुछ अधिक भले ही हो मगर बहुत अधिक अतिक्रम न करना। जैसे कोई यों कहने लगे कि मैं दो हाथी रखूँगा, इतने घोड़े रखूँगा ··· तो परिमाण तो किया पर परिमाण सम्भव हुआ ही करना चाहिए। इसका नाम इच्छा परिमाण है। जिसके परिग्रह वर्तमानमें कम है मगर परिमाण अधिकका रखले तो इतना तो हो ही गया कि उससे अधिक परिग्रहकी भावना न रहे चित्तमें और इस कारणसे निर्दोष है और बुद्धिमें भी स्वच्छता आती है। परिग्रह यह समस्त पापोंका मूल है। खोटा ध्यान इसी परिग्रह भावनासे होता है। परिग्रह भावनासे तो त्यागी व्रती मुनियों पर भी संदेह होने लगता है। एक कथानक है ऐसा कि एक श्रावकके यहां मुनिराजने आहार किया। उस घर कहीं कोई रत्न रखा था, उसे किसी मुर्गीने खा लिया था पर घर वालों ने समझा कि मुनिराज उठा ले गए। अब वह गृहस्थ पहुंचा जंगलमें मुनिराजके पास और ऐसी-ऐसी चर्चायें उनसे करने लगा कि जिनमें यह भाव भरा था कि हे मुनिराज तुम मेरा रत्न घरसे चुरा लाये हो। आखिर बादमें एक योग ऐसा हुआ कि उस मुर्गीने उस रत्नको कय कर दिया, वहां वह रत्न पाकर अपनी भूलपर उस गृहस्थको भारी पछतावा हुआ। तो इस परिग्रहके लगावमें बड़े बड़े संदेह और दुर्भाव बन जाते हैं। किसी ने मानो बैंकमें कुछ रकम जमा कर रखा है तो उसके मनमें कभी-कभी ऐसा संदेहहो जाता कि कहीं यह बैंक फेल न हो जाय और हमारी रकम डूब जाय। तो इस प्रकारके संदेह उत्पन्न करने वाले परिग्रहसे तो विरक्त ही रहना चाहिए। और उसे अत्यन्ताभाव वाला निरखना चाहिए।

सहजात्मस्वरूपके अनुभवकी परमकलाकी महिमा—भेदविज्ञानसे, वस्तुस्वरूपके परिचयसे कौनसी ऐसी कला प्रकटहो जाती है जिससे यह जीव निशंक होकर मोक्षमार्गमें बढ़ता है। वह कला है वस्तुस्वरूपके परिचय की। देखिये बड़ी-बड़ी चर्चायें तो दूर रहीं, जो साधारण गुण बताये गए हैं वे सब द्रव्योंमें पाये जाते हैं, उन साधारण गुणोंकी दृष्टिसे ही एकदम भान हो जाता कि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ रंच भी सम्बंध नहीं है। तो साधारण गुण ६ बताये गये हैं—(१) अस्तित्व—याने पदार्थमें सत्ता बनी रहे। (२) वस्तुत्व—द्रव्य अपने स्वरूपसे सत् रहे, पर रूपसे असत् रहे, लो इसीने भेदविज्ञान जगा दिया। जब प्रत्येक पदार्थ अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् है तो अब सम्बंध क्या रहा? न एक द्रव्य दूसरेमें गया, न क्षेत्र, काल, भाव दूसरेमें गया। जो यह कहा जाता है कि अमुकका प्रभाव अमुक पर पड़ गया सो क्या यह सही बात है कि एकका प्रभाव दूसरेमें आ जाय? वस्तुस्वरूप यह है कि दूसरा इस ही योग्य था कि उसे देखकर वह अपनेमें ऐसा प्रभाव बना लेता है। प्रत्येक पदार्थ अपने

ही चतुष्टय में है, अपने ही द्रव्यसे है, अपने ही प्रदेशसे है, अपनी ही परिणतिमें है, अपने ही गुणोंमें है। एक का दूसरेके साथ रंच सम्बंध नहीं है। चाहे अन्य पदार्थ चेतन हों या अचेतन, यह जीव अनादिकालसे अब तक जो भ्रमता चला आया है उसका कारण है कि यह अपने सहज आत्मस्वरूपको नहीं पहिचान पाया। यह मैं एकत्वविभक्त हूं। समग्र अन्य पदार्थोंसे अत्यन्त जुदा हूं और अपने आपके एकत्वस्वरूपमें तन्मय ऐसा यह मैं सहज परमात्म पदार्थ हूं। ऐसे अनुभवसे सहज ही सकल कर्म संकट दूर हो जाते हैं।

विनश्वर समागमकी प्रीतिकी व्यर्थता—देखिये कुटुम्बमें स्त्री पुत्रादिकमें थोड़ी देरको राग दिया जा रहा है, जिन्दगीभर भी करे तो वह थोड़ी देरको ही तो कहलाया। अनन्त कालके सामने यह १००—५० वर्षका जीवन क्या गिनती रखता? पर इतने छोटेसे जीवनमें जो रागभाव किया उसका फल संसारकी इन कुयोनियोंमें भ्रमण करना होता है और फिर भला बतलावो इससे पहले भवमें कोई अधिक वर्ष तो नहीं गुजरे हैं। किसीके ४० वर्ष गुजरे किसीके ५० वर्ष गुजरे तो इससे पहले जो हम किसी पूर्वभवमें थे, वहां भी तो समुदाय होगा, समागम था, कुटुम्ब था। उस कुटुम्बमें अनुराग जो किया उस अनुरागके फलमें आज तक क्या सन्तोष मिल रहा? क्या सुख मिल रहा? तो जैसे पहलेके समागमोंसे मेरेको कोई शान्ति नहीं, सुख नहीं वैसे ही आज भी जो समागम पाया उस समागमसे भी कोई संतोष या सुख नहीं मिल सकता। तो वास्तवमें परिग्रह तो मूर्छा है। तो ये पदार्थ जायेंगे कहां? कहीं लोकसे बाहर तो न पहुंच जायेंगे। ये वहीं रह रहे हैं, बस उनको अपना लिया, उनमें राग किया, मूर्छा उनमें होने लगी, परिग्रह बन गया तो इस जीवका बाहरी पदार्थ तो कुछ है ही नही। कभी नहीं है। तीन कालमें भी कोई दूसरा पदार्थ मेरा कुछ न हो सकेगा। अत्यन्ताभाव है पर यह मोही आत्मा अपने आपके स्वरूपमें न टिककर चेतन अचेतन पदार्थोंमें अनुराग बनाता है, मोह बनाता है और उससे ही अपना बड़प्पन मानता है।

परिपूर्ण निःसंग एकत्वकी स्थितिमें परम आनन्दका स्थायित्व—इस प्राणीको यह खबर नहीं है कि जितना मैं अकेला होता जाऊंगा उतना ही मेरा बड़प्पन बढ़ता जायगा। स्वर्णकिट्टकालिमा मलोंसे मलिन है और वह स्वर्ण उन मैलोंमें घुलमिलकर रह रहा है और जब अग्नि ताप आदिकके द्वारा उसका मैल जल जाता है, दूर होता है। स्वर्ण अपनी अकेली अवस्थामें आता है तब उस स्वर्णका बड़प्पन बढ़ जाता है। यहां हम आप भी ये तीन चीजोंके पिंडोला दिख रहे हैं—(१) शरीर, (२) कर्म और (३) जीव। ये तीनों ही मिलकर रह रहे है तो उसका फल क्याहो रहा कि जीव भी बिगड़ रहा, कर्म भी बिगड़ रहे शरीर भी बिगड़ रहा। जो परमाणु आज शरीर रूपमें बने हुए हैं जब मैंने उन्हें ग्रहण न किया था तब वे कितनी अच्छी शकलमें थे, उनमें हाड़, मांस, लोहू आदिक थे क्या? अरे वे गंदी हालतमें न थे। पर उन परमाणुवोंको जैसे ही ग्रहण किया वैसे ही हड्डी, मांस, खून आदि नाना प्रकारकी अपवित्र चीजें बन जाती हैं। तो लो शरीर बिगड़ा कि नहीं बिगड़ा? इन तीनके मेल मिलापसे किसका भला है? किसकी सुन्दरता है? कर्मकी बात देखो—जब तक वे कार्माण वर्गणा रूपमें थे, उनको कर्मत्व न बनाया गया था। तब तक वे अनुभागसे रहित थे। जैसे ही अशुद्ध विकारका निमित्त पाकर वे कार्माण वर्गणायें कर्मरूप बनीं, उनमें अनुभाग आ गया और जैसे सनीमाके पर्दे पर जो कुछ भी चित्र

आप निरखते हैं वह फिल्मकी रंगाई कहो, गंदगी कहो, बस वही-वही झलकती रहती है। तो ऐसे ही मुझ आत्मामें जो विकार झलक रहे वह कर्मकी गंदगी ही झलक रही। कर्मरूप बंधेतो कर्ममें ऐसे अनुभागकी गंदगी आयी और जीवमें वह दिख ही रही है कितनी हालत बुरी है। यह अपने आपमें नहीं टिक पाता, निर्विकल्प नहीं हो पाता, शान्त नहीं रह पाता। तो इन तीनके मोहमें तीनों ही तो बिगड़ गए। अकेला हो जाय तो लो शरीरके परमाणु भी भीतर न रहे। शरीररूपताको छोड़कर जैसी शकल पहले थी उस शकलमें आ गए। यों वे भी ठीक रहे, अकर्मरूप हो गए, कार्माणवर्गणायें वे भी ठीक रहीं, और सबसे निराला अकेला यह चैतन्य स्वरूप हो गया, मायने सिद्ध भगवानहो गया तो यह भी अनन्तकालके लिए, सदा के लिए सब ठीक हो गया।

सर्वव्रत शील सद्ध्यानोंका आधार सहजात्मस्वरूप परिचय—अहो जो बात सदाके लिए भली मिल सकती है उसकी उपासना नहीं है, ऐसा प्रबल मैल छाया है, और जो अध्रुव है, भिन्न है, विपत्तियोंका धाम है ऐसे परपदार्थोंमें इस मोहीका उपयोग उल्झा हुआ है। सो जिसने अपने आत्माका यह स्वरूप जाना वह परिग्रहसे विरक्त रहता है और जिसके परिग्रहसे विरक्ति है वे ही परिमाण कर पाते हैं और उस परिग्रहके परिमाणको निभा लेते हैं, अन्यथा सम्यग्ज्ञान हुए बिना भावुकतामें कुछ भी व्रत ग्रहण कर लेनेपर वे निभ नहीं पाते, क्योंकि भीतर ज्ञान प्रकाश उतना हो नहीं सकता। इससे परिग्रहपरिमाण अहिंसाव्रत सभीका मूल है अपने आपके अविकार चैतन्यस्वरूपका अनुभव पा लेना और उस स्थितिमें सहज आनन्द जगेगा उसके अनुभवके बलसे स्पष्ट उसे जाहिर हो गया कि अन्य समस्त समागम मेरे लिए सारभूत नहीं। मैं अपने ही अनन्त ऋद्धिसम्पन्न इस चैतन्यस्वरूपमें ही मग्न रहूं। इस ही में मेरी पवित्रता है और सदाके लिए कल्याण है।

कषायके आश्रयभूत बाह्यपरिग्रहके त्यागसे शान्तिके उपायकी संभवता—इस जीवको कष्ट देने वाला कषायभाव है। भीतरमें जहां क्रोध, मान, माया, लोभादिक कोई कषाय जगी तो उस कषायसे यह भगवान आत्मा वहीं ही तप्त हो जाता है और ये जितने परिग्रह हैं अंतरंग परिग्रह बहिरङ्ग परिग्रह, चेतन परिग्रह अचेतन परिग्रह, ये सभी कषायभावको बढ़ानेके साधन हैं, इस कारण परिग्रहका त्याग करना बना। त्याग न बने तो परिमाण करना यह आत्मकल्याणके लिए लाभदायक है। एक प्रश्न है कि बतलावो कौनसा पुरुष है ऐसा जो स्त्रीजनोंके वशमें नहीं है? कौनसा पुरुष है काम विकारसे जिसका मन खण्डित नहीं हुआ है, कौनसा पुरुष है ऐसा जो इन्द्रियके द्वारा जीता नहीं गया? और कौनसा पुरुष है वह जो कषायसे संतप्त न हो? ये चार प्रश्न किये हैं इनका उत्तर एक है। जिसने अंतरंग और बहिरंग परिग्रहका त्याग किया। जो अन्तर बाह्य परिग्रहोंको ग्रहण नहीं करता वह पुरुष है, ऐसा जो स्त्रीजनोंके वश नहीं है, जिसका मन कामवासनासे खण्डित नहीं हुआ, जो इन्द्रियके द्वारा जीता नहीं गया, जिसे कषायोंने दबाया नहीं। वह पुरुष है जिसने कि अन्तरङ्ग बहिरङ्ग सर्व परिग्रहोंका त्याग किया। धर्मसाधनाकी सबकी अभिलाषा बनी है। मंदिर आते हैं, जल्दी नहायेंगे, स्वाध्याय करेंगे, अनेक कार्य करेंगे। सबके चित्तमें भाव है कि मैं धर्मसाधना करुं। मगर धर्मसाधनाकी मौलिक विधि, सिस्टेमेटिक विधि यह है कि पहले भीतरका वह ज्ञान प्रकाश पायें जिसमें अपनेका और परका सही-सही

बोध हो। यह तत्त्वज्ञान हुए बिना धर्मपालन हो ही नहीं सकता। धर्मके नामपर मंदकषाय है, उसके पुण्य हो जायगा, पर जिसे कहते हैं कि मोक्षमें लग गया, मोक्षमार्गमें आ गया, वह बात न हो पायगी जिसके स्वपर विवेक वाला तत्त्वज्ञान नहीं है। तो यहां इसी बातको देखिये कि यह मैं अमूर्त ज्ञानमात्र स्वयं स्व सहज ऋद्धि अतिशयोंसे सम्पन्न हूं, जिसका प्रभाव यह है कि यह दुःखी न रहे। वह सब कला मेरेमें है। ऐसा स्वरूप मेरेमें है और इसे छोड़कर मायने अपने सिवाय जगतमें जितने भी पदार्थ हैं चेतन अचेतन जितने भी समागम हैं ये समागम मेरे हितके काममें न आ पायेंगे, बल्कि इनमें लगाव, मन होनेसे मेरा बिगाड़ चल रहा है। यह बात खूब ध्यामें जमा लीजिए।

ममत्वत्याग बिना धर्मवत्सलताकी असंभवता—भैया ! मरते समय तो ध्यानमें आ ही जायगी यह बात, प्रायः आ ही जाती। जब जान रहे कि मैं जा रहा हूं, मर रहा हूं, यह धन, मकान, ये सब मेरे क्या कामके हैं। पड़े रहेंगे, मुझसे बिल्कुल भिन्न हैं। अज्ञानी होंगे तो संक्लेश करेंगे कि हाय यह सब छूटा जा रहा, ज्ञान होगा तो मरण समयमें विरक्ति बढ़ेगी। तो आखिर मरण समयमें यह बात कुछ ध्यानमें आयगी। भला है कि अपने जीवनमें ही यह बात समझ लीजिए। यदि यह स्पष्ट प्रकाश रहे कि ये चेतन अचेतन सभी पदार्थ मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, इस समय भी ये मेरे हितके काम नहीं है। बल्कि इनका ख्याल करके जो राग बन रहा है और द्वेष बन रहा है वह मेरे अहित में है। यह बात ध्यानमें जमी हो तो धर्मपालनकी बात बनेगी और परिग्रहकी तृष्णाका भाव चित्तमें है तो वहां धर्मपालनकी बात न बन सकेगी। दोउ काम नहीं होय सयाने। भोग विषय और मोक्षमें जाने॥ जैसे एक म्यानमें दो तलवार नहीं समा सकते ऐसे ही एक उपयोगमें परिग्रहकी तृष्णा बनी रहे, विषयोंकी तृष्णा बनी रहे और मोक्ष मार्ग भी चलता रहे। ये दो बातें कभी नहीं हो सकती हैं। चाहे एक म्यानमें दो तलवार जबरदस्ती करके डाल भी दी जायें यह तो सम्भव हो सकता क्योंकि म्यान कुछ बड़ी बन सकती, मगर मोक्षमार्गमें ये दोनों बातें एक साथ न चलेंगी कि इन्द्रिय विषयोंकी तृष्णा भी बनी रहे और मोक्षमार्ग भी चलता रहे। आखिर कितना सा जीवन है? यदि अपने भाव निर्मल बन सके तो इस भवमें भी सुखी रहेंगे और आगे भी सुखी रहेंगे। और यदि भाव बुरे रहे, दूसरेके अहितके रहे, दूसरोंपर कषायोंके रहे तो इस समयमें भी चित्त दुःखी रहेगा, और जो खोटा बंध किया उसके फलमें आगे भी दुःख मिलेगा।

विवेकबलसे आत्मसंबोधनमें बुद्धिमानी—भैया, विवेकी बनें। छोटे बच्चोंको तो खूब समझा लेते, देखो बेटा राजा बेटा बनो, राजा बेटा ऊधम नहीं करते, हठ नहीं करते, तुम तो राजा बेटा हो। अरे जरा अपने भी ऊपर इस उपयोगको समझालो कि ऊधम न करो, अन्य पदार्थोंकी ओर ही उपयोग लगाकर अपना जीवन मत खोवो, तुम तो भगवान स्वरूप हो। तुम्हारेमें तो बड़े ज्ञान और आनन्दका अतिशय पड़ा हुआ है। जरा समझा लो अपनेको। और न समझावोगे तो बरबाद कौन होगा? खुद ही तो बरबाद होगा। सो काम, स्त्री, तृष्णा इनके वश वही पुरुष हैं जो अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहोंको ग्रहण करता है, जो ग्रहण न करे वह निमित्ताधीन नहीं। जो लोभका त्यागकर निर्दोष रसायनसे निर्दोष हुआ है वह इस दुष्ट तृष्णाको खतम कर देता है। इस जीवको मथ-मथकर पीड़ित करने वाला कषाय

तृष्णा है परिग्रहकी तृष्णा, सो ऐसा जानकर श्रावकजन परिग्रह परिमाण करके रहें, जिसका उद्देश्य सही बना उसके तो चलेगा जीवनमें योग्य आचार और जिसने अपना उद्देश्य ही नहीं बनाया है सही उसका जीवन अटपट चलेगा और कभी शान्ति न मिल जायगी। जैसे नावको पतवारसे कितने ही लोग खेंवे तो उससे तो नाव आगे बढ़ती चली जायगी मगर नाव किस दिशामें जाय यह उस नावके पीछे रहने वाले कर्णधार पर निर्भर है। कर्णधारका नाम है दिशा देना। कर्णधार जिस दिशाका संकेत देगा नाव उस तरफ बढ़ जायगी। तो ऐसे ही समझ लो, यह जीव क्या-क्या पुरुषार्थ नहीं कर रहा, सभी उद्यम कर रहा, तेज उद्यमकर रहा, लड़ने वाले लड़ानेका उद्यम कर रहे, धनार्जन करने वाले धनार्जनका उद्यम कर रहे, और यहां वहां जिसको जो रुचता है वह उसका उद्यम कर रहा, सो चल तो रहा यह जीव बहुत तेज मगर सम्यग्दर्शनरूप कर्णधार जिसके पास है वह मोक्षमार्गमें तेज चल रहा और सम्यग्दर्शनका कर्णधार जिसके नहीं है वह अटपट तेज चल रहा है।

वैभवके लगावकी निपट बेहोशी—राजा भोज एक बहुत बड़ा ज्ञानप्रिय माना जाता था। ज्ञानकी बात सुननेपर मनमाना पुरस्कार दिया करता था। एक बार एक कविको बहुत दिनोंसे कुछ नहीं मिला, भूखों रहने लगा तो उसने सोचा कि अब क्या करूं, चोरी ही करना चाहिए। मगर छोटे लोगोंके यहां क्या चोरी करना, राजाके यहां ही चोरी करना चाहिए। सो एक दिन रात्रिके समय मौका पाकर वह राजाके भवनमें घुस गया। उसको छिपनेको कोई ठीक-ठीक जगह न मिली तो राजाके पलंगके नीचे ही छिप गया। राजा आया, शयन करने लगा। अब उसे नींद आये नहीं सो एक रचना करने बैठ गया। अपने वैभवका वर्णन उस रचनामें करने लगा। छन्दके तीन चरण तो बन गये, चौथा चरण नहीं बन पा रहा था, सो वे तीनों चरण बार-बार दुहरा रहा था, चौथा चरण उससे बने ही नहीं। वे तीन चरण इस प्रकार थे—

चेतोहराः युवतयः सहृदोऽनुकूलाः। सद्बन्धवा, प्रणतिगर्भगिरश्च भृत्याः। गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलाः तुरंगाः।

उन्हें सुनकर उस चोर कविसे न रहा गया और नीचेसे बोल उठा—सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति। अब राजाके तीन चरणोंमें तो यह लिखा था कि मेरे पास चित्तको हरने वाली इतनी स्त्रियां हैं, इतने घोड़े हिनहिनाते हैं, इतने हाथी गरजते हैं, इतने आज्ञाकारी नौकर हैं, सभी लोग हमारे बड़े आज्ञाकारी हैं। तो उस चोर कविने चौथे चरणमें यह कहा कि आँखें मिच जानेपर ये सब कुछ नहीं रहते हैं। तो उस चौथे चरणको सुनकर सहसा ही अवाक रह गया, (सोचकर) अरे यह कौन बोला (नीचे देखकर) अरे भाई तुम कौन हो? चोर (बाहर निकलकर) राजन मैं चोर हूं। ··· नहीं नहीं तुम चोर नहीं, तुम तो हमारे गुरु हो। हम अभी तक बहुत भूलमें थे। अपने प्राप्त वैभवको ही हम अपना सर्वस्व समझ रहे थे, पर तुमने मुझे सम्बोधा कि आंखें मिच जाने पर फिर ये अपने कुछ न रहेंगे। आखिर उस चोर कविने अपनी बात सुनाया, राजाने बड़ा पुरस्कार देकर विदा किया। तो उस चोर कवि की बात अपने ऊपर क्यों न घटावें। केवल बोलने सुननेके लिए यह बात नहीं है। भीतरमें अपनी अपनी बात सब निहारो, क्योंकि इस संसारमें खुदके खुद ही जिम्मेदार हैं। इन असार भिन्न सत्तावाले पदार्थोंके बारेमें, इन चेतन अचेतन पदार्थोंके विषयमें कल्पनायें, रागद्वेष, हठ, और आसक्ति चल रही है

क्या, इसका विचार तो करलें। अगर हठ और आसक्ति चल रही है तो समझो कि हम पर बहुत बड़ी विपत्ति छायी है, निकट कालमें ही बड़ा कष्ट मिलेगा।

बाह्य वैभव न होनेपर भी मूर्च्छाके कारण कष्टाक्रान्तता—जितने भी कष्टकारी कदम है उन सबका आधार है मूर्छा। मूर्छाको ही भगवानने परिग्रह बताया है। तब बाह्य परिग्रह चाहे कम हो, पर मूर्छा अधिक हो तो वह तो बड़ा परिग्रह कहा जायगा। जिसके बाह्यपरिग्रह अधिक है और मूर्छा अल्प है तो वह अल्प परिग्रह कहा जायगा। बाह्य परिग्रहसे रहित तो दीन दरिद्री भी हैं, पर उनके अन्तरङ्ग परिग्रह तो लगा है विकट। और ऐसे कितने ही मनुष्य हैं जो कि जन्मके बादसे ही मांगना शुरु कर देते हैं। ४–६ वर्षके बालक अब भी स्टेशनोंपर, बस अड्डोंपर मांगते हुए पाये जाते हैं। वें तो बेचारे फटे पुराने वस्त्र पहने रहते, कोई टूटा फूटा एल्मोनियम या टीनका बर्तन रखे रहते, मांगते खाते अपना समय बिताते हैं। पासमें एक पैसा नहीं। बड़े नग्न भी दिखाई पड़ते हैं दूसरोंके द्वारा अपमानजनक शब्द भी सुनकर हंस हंसकर टाल देते हैं लगता तो ऐसा है कि निष्परिग्रह तो वास्तवमें वे हैं, पर ऐसी बात नहीं है। उनके पास तो कुछ नहीं है, पर मूर्छा उनको इतनी होती कि वे दुनियाका सारा वैभव चाहते हैं अन्तरंग परिग्रह उनके साथ बड़ा तेज लगा है। तो उन्हें परिग्रहका महापाप लगता है, विषयोंकी बात देखो—कभी उन्होंने मिठाई विशेष नहीं खायी, बड़े अच्छे शौकके वस्त्र भी नहीं पहिना, जिनका न विवाह हुआ, न स्त्री, न बच्चे, न पेट भर खानेको ही मिला, सोना, रत्न, हीरा जवाहरात कभी देखा नहीं, धन वैभव जिनके पास कभी जमा हुआ नहीं, रहनेको जिनके पास कुटी तक नहीं, मगर भीतरमें उनकी ममता देखोतो विकट मूर्छा है, वहां इतने विकल्प चलते हैं कि आत्माके स्वरूपकी सुध लेनेका वहां अवकाश ही नही। सो बाह्य परिग्रहोंको परिग्रह कहा जाय, पाप कहा जाय तो भिखारियोंके पास तो कुछ नहीं है, तो क्या वे निष्परिग्रह हैं? धर्मात्मा हैं? नहीं।

बाह्य परिग्रहके लगावके रहते अन्तरङ्ग परिग्रह त्यागकी असंभवता—अच्छा, कोई यह पूछ सकता है कि अन्तरंग परिग्रहको ही जब परिग्रह माना जाता तो बाह्य परिग्रह कितना ही बना रहे उससे नुकसान क्या? तो उसका भी उत्तर खुद समझ लीजिए। बाह्य परिग्रह निकट है, सम्हालते, रखते हैं, तद्विषयक राग और आसक्ति है ना, ये ही मूर्छाके कारण बन जाते हैं। सो बाह्य परिग्रह मूर्छाका कारण हैं इसलिए त्यागने योग्य है और अन्तरङ्ग परिग्रह तो साक्षात् इस भगवान आत्माको मथता रहता है सो त्यागने योग्य है। दोनों ही परिग्रहोंका त्याग अहिंसा कहलाता है। मूर्छा साक्षात् हिंसा है। अनन्त ऐश्वर्य शक्तिवान भगवान आत्माको जो मथ डाले उस भावको तो हिंसा ही कहा जायगा। सो परिग्रहको सर्व अनर्थका कारण जानकर इसका परिमाण करना और परिमाणके बाहरके परिग्रहमें रंच भी आकांक्षा न होना यह श्रावकका मुख्य कर्तव्य है। धर्मपालनकी दिशा परिग्रह परिमाणके बाद मिलेगी। सो आज परिग्रह परिमाणके बाबत चर्चा तक भी नहीं चलती और धर्म करना, धर्म करना, इस नामपर उत्सव समारोह मंदिर पूजा, विधान यज्ञ आदिक सब कुछ चलते हैं। पर यह बात चित्तमें अभी तक भी नहीं प्रायः आज तक कि परिग्रहका परिमाण किए बिना ये सब बातें थोथी हैं, क्योंकि बाह्य पदार्थ विषयक तृष्णा संस्कार तो यहां बना है और इस संस्कार वाले हृदयमें धर्मकी बातका स्थान मिले यह कैसे हो

सकता है ? परिग्रहका परिमाण करने वालेके तृष्णाका संस्कार नहीं रहता। यद्यपि परिग्रह निकट है और उसकी व्यवस्था भी बनायी जा रही है, फिर भी परिमाण होनेसे वह तृष्णाका संस्कार न रहेगा, क्योंकि उसके बाहरी कोई आकांक्षा ही नहीं है।

परिग्रह परिमाणव्रती ज्ञानीके हृदयमें महारम्भी धनिकोंके प्रति दयाका भाव—बड़े-बड़े धनिकों को देखकर अज्ञानीको अचरज सा होता और कुछ यों लगता कि सुखी तो ये हैं क्योंकि उन बड़े धनिकोंकी मुख मुद्रा भी अच्छी है, उनके साथ दो तीन सिपाही भी चल रहे हैं। लोगोंके मिलनेका तांता भी चल रहा है। लगता है कि ये बड़ेसुखी होंगे, और इतना धन हो तब ही ठीक है। यह कल्पना अज्ञानियोंके हुआ करती है। ज्ञानीजन तो उस बड़े धनिकको देखकर दया करते हैं कि यह कितना अधिक दुःखी है। कितना अधिक परिग्रहमें इसका चित्त चलता रहता है। और अपने आत्मा भगवानके स्वरूपकी ओर आनेका इसे मौका ही नहीं रहता है। यह बड़े कष्टमें है। ज्ञानीको तो यों दया आयगी, लालच आनेकी बात तो बिल्कुल दूर है। बड़े पुरुषोंको देखकर ज्ञानीके चित्तमें लालच न आयगा, किन्तु दया आयगी, क्योंकि वह जानता है कि परिग्रहमें इसका इतना उपयोग फंसा है कि इसको अपने आत्मस्वरूपकी भी कुछ सुध नहीं है। तो परिग्रह परिमाणमें गुण परखिये—श्रावकके धर्मका मूल आधार परिग्रहका परिमाण है, तृष्णाका परिहार है। गृहस्थाचारमें रहे, वह चाहे थोड़ा परिग्रह रखे चाहे बहुत, पर परिमाण रहे तो उसको धर्मका प्रकाश मिलता है। परिग्रह बिना गृहस्थके पास परिग्रह न हो तो वह भी कौड़ीका नहीं। खुदका जीवन न चलेगा, ढंगसे रह न सकेगा, सो परिग्रह बिना काम तो नहीं चलता मगर परिग्रहके पीछे ही मरना और जीवन लगा देना, यह कौनसी बुद्धिमानी है ? हो रहा है जैसा उदय है, आ रहा है जैसा उदय है, घरमें रह रहे हैं सो पुरुषार्थ करनेकी बात है, कर रहे पर उस ही में अपना दिल बसाये रहना यह तो जीवको बेकार खो देना है। परिग्रहका परिमाण होना और पाये हुए परिग्रहसे भी विरक्त रहना यह ज्ञानी श्रावककी चर्या होती है। घर गृहस्थीमें अनेक घटनायें आती हैं और पद-पद पर फिर आये, खर्च करे, काम चलेगा। पर यह तो एक काम चलाऊकी ही बात चित्तमें रहनी चाहिए। उसके बारेमें और देख देखकर खुश होना। रखना जोड़ना, उसकी तृष्णा होना, यह तो अनर्थके लिए है। सो परिग्रहका परिमाण करना और रखे हुए परिग्रहमें भी विरक्त रहना।

बाह्य पदार्थोंसे उपयोग हटाकर सहजात्मस्वरूपमें उपयोग लगानेमें ही आत्मरक्षा—भैया, आखिर हैं तो बाह्य पदार्थ। इनसे इस मेरे आत्मामें कोई अतिशय प्रकट नहीं हो सकता सो भीतर एक निष्परिग्रह अपने स्वरूपका आलोकन तो करें। इस आत्माके साथ क्या चिपटा है ? आप अपने मकानसे चलकर यहां शास्त्रसभामें आये तो बताओ आपके साथ आपका घर, परिजन, धन दौलत कुछ चिपक आया है क्या ? अरे सब जहांके तहां पड़े हैं, आप अकेले यहां आये हैं, आपके साथ जो यह शरीर लगा है वह भी आपका नहीं है, आपसे अत्यन्त भिन्न है। भले ही एक क्षेत्रावगाह है मगर स्वरूप तो अत्यन्त जुदा है। सो इन जुदे पदार्थोंकी दृष्टिमें, इनके अनुरागमें भगवान आत्माकी बरबादी ही है, लाभ कुछ नहीं है। सो अपने आपको किसी समय निसंग तो परखिये—अमूर्त, ज्ञानमात्र आकाशवत् निर्लेप, किन्तु चेतन गुणसे अधिक यह मैं आत्मा अन्य किसी चीजको ग्रहण नहीं कर सकता हूं। केवल यहां

भाव बनाता रहता हूं। भावोंके सिवाय और कुछ काम नहीं कर पाता। तो बाह्य परिग्रह मेरा क्या है? कुछ भी नहीं। ऐसा एक बार दृष्य तो अन्दर समाये और सबसे निराला यह ज्ञानमात्र अमूर्त अंतस्तत्त्व दृष्टिमें आये तो एक ऐसा अलौकिक सहज आनन्द जगेगा कि जिसके अनुभवके बाद स्पष्ट निर्णय होगा कि किसी भी बाह्य पदार्थमें मेरा कुछ नहीं है। मैं अपने आपमें लीन होऊं तो मेरी रक्षा है। बाह्य पदार्थोंकी ओर उपयोग लगाऊं तो वहां मेरी बरबादी है।

परिग्रह परिमाणव्रती सद्गृहस्थकी ऋण न लेनेकी अर्थनीति—श्रावकके ५ अणुव्रतोंमें यह परिग्रह परिमाण अणुव्रतका वर्णन चल रहा है। परिग्रह परिमाण गृहस्थके लिए अतीव आवश्यक है। क्योंकि ऐसा किये बिना संतोष न रहेगा, धर्ममें मन न रहेगा और तब ही तो चित्तमें यह बात रहती है कि धर्मके लिए हमें समय कम है। समय कैसे कम है, पर परिग्रहका परिमाण न होनेसे तद्विषयक तृष्णाका संस्कार रहनेसे उसका विकल्पोंमें ही सारा समय जाता है। उन विकल्पोंके कारण धर्ममें चित्त नहीं जमता। तो परिग्रह परिमाण गृहस्थके लिए अतीव आवश्यक है। परिग्रह परिमाणकी भावना रखने वाले, परिग्रहका परिमाण करने वाले गृहस्थ अपनी अर्थ नीतिकी कलाका भली प्रकार ध्यान रखते हैं। कभी ऋण नहीं लेते। कर्ज लेकर अपनी आवश्यकताको पूर्ण नहीं करते, फिर कोई कहे कि आवश्यकता है तो क्या करें तो कौन कहता कि आवश्यकता है? जैसा चित्त बनाया वैसी अपनी आवश्यकता रह जाती है। इसका यकीन न आये तो अपनेसे गरीबोंकी ओर दृष्टि दो उनका कैसे गुजारा होता है? तो ऋण लेकर पीछे उसका भाव अधीर हो जाता है। उसके प्रति लोगोंकी प्रतीति नहीं रहती। सोचेंगे कि यह ऋण लेता है, इसके कुछ होगा नहीं। यह कर्जसे अपना गुजारा चलाता है, यों दीनता प्रकट हो जायगी। एक बार प्रतीति बिगड़ी पीछे आजीविकाका ढंग बनना भी कठिन हो जाता है, इस कारण यह कला जरूर गृहस्थोंको ध्यानमें रखना है कि आजीविकाके अनुकूल खर्च करें। किसी अन्य पुण्यवानको अधिक खर्च करते हुए देखकर अपनेमें यह तृष्णा नहीं करता। अपना खर्च अपनी आमदनीके अन्दर रखना अन्यथा यश धर्म और नीति तीनों ही खतम हो जायेंगे, न उसका धर्ममें चित्त रहेगा न यश रहेगा। और क्या करना? कुछ उसे मार्ग भी न सुहायेगा। इससे जीवनमें महान् कार्यतो धर्ममें उपयोग रखना समझियेगा। बाहरी बातें जैसे गुजरनी हों गुजरें। कोई कहे कि इससे तो लोकमें यश न फैलेगा? यश वाञ्छनीय तत्त्व नहीं है। यदि चाहते ही तो लोकमें यश फैलनेके अनेक उपाय हैं। धनसे यश नहीं फैला करता है। धन वाले भी यदि परोपकार न करें, धर्मके कार्योंमें न खर्च करें तो वहां यश कहां फैलता? यशके तो अनेक उपाय हैं तनसे, मनसे, वचनसे और धनसे दूसरोंका उपकार करनेमें यश फैलता है। अगर कर्ज लेकर या अपनी भीतरी नीति बिगाड़कर जीवन चलाया तो वह सारा जीवन अंधेरेमें रह जाता है। यदि यह जीवन उज्ज्वल रहे, भले ही एक मनुष्यभवमें थोड़ा खर्च कम करके रहें, भोगोपभोगके साधन न बनें और शान्त रहें तो यहां ही ऐसा पुण्यरस बढ़ेगा कि इस भवके बाद वह महान् ऋद्धिवाला देव भी हो जायगा। फिर खूब ऋद्धि सम्पन्न रहेगा तो अपने धर्मको कभी न बिगाड़ना, इसीमें ही बुद्धिमानी है।

परिग्रहपरिमाणव्रती सद्गृहस्थकी आयसे कम खर्च करनेकी अर्थनीति—अपनी आयसे

कम खर्च हो और अपना कुलवानपना रहे। यदि यह सही बात रहेगी तो धर्ममें उसका चित्त चलेगा। आवश्यकताकी बात दो ही तो हैं—तन ढाकनेको दो कपड़े, पेट भरनेको दो रोटियां। इतना साधन हर एकके सुलभ है। किन्तु जो और बात विशेष बढ़ा रखी है कि मुझे दुनियांमें यह दिखाना, ऐसी जो अनेक बनावट करते हैं वे विपत्तिके साधन हैं, अन्य बातें आपमें पुण्योदयके अनुकूल स्वयं होगी। एक बात यह है कि खर्च कम करना, सात्विक वृत्तिसे रहना। उदाहरणके लिए लीजिए। जो लोग बीड़ी पान आदिक पीने खानेमें रोज ८-१० रुपये खर्च कर डालते हैं वे यदि बीड़ी सिगरेट पान आदिका प्रयोग न करें तो लाभ भी है और फिजूल खर्चसे भी बच जायेंगे। अनेक खर्च फिजूलके ऐसे हैं जो व्यर्थके हैं, बुद्धिको बिगाड़ने वाले हैं। अरे आज सुयोगसे जैन शासन मिला है। सद्गृहस्थ हुए हैं तो अपना कर्तव्य है कि सात्त्विक वृत्तिसे रहकर धर्मकार्योंमें विशेष उपयोग लगायें।

अनुकूल बाह्य सामग्रियोंके सान्निध्यमें धर्मसाधनकी सुविधा—कोई कह सकता कि धर्म साधना तो आत्माके आधीन है अर्थ अर्जनकी समस्या अलग है। वह पूर्वकर्मके अधीन है या वर्तमान व्यापारके आधीन है। तो धर्मसाधना तो स्वयमेव बन जायेगी उसकी क्योंकि वह स्वाधीन है, फिर इतना जोर क्यों दिया जा रहा कि घरमें रहते हुए अर्थनीतिका सदाचार रखियेगा, जिससे कभी कर्जदार न बनें और विकल्प तरंग न बढ़ाने पड़ें, क्योंकि धर्म साधना तो खुदके आधीनकी बात है। समाधान, बात तो सही है, धर्मकी साधना आत्माके आश्रयसे होती है। लेकिन धर्मसाधना हो सके उसकी पात्रता तो पुण्य कर्मके उदयसे बनेगी। जैसे मनुष्य हुए, नीच, चाण्डाल, दरिद्री हुए तो वहां तो उसके अनुरूप भाव चलेंगे, संक्लेशके भाव रहेंगे, धर्मसाधनाकी पात्रता न हो पायगी, उत्तम कुलमें जन्म पाना, उत्तम कुलमें उत्पन्न होना, अच्छे देशमें होना, इन्द्रियां परिपूर्ण होना, शरीर रोग रहित हो, अच्छी संगति मिले, आजीविका स्थिरतासे हो ऐसी पुण्योदयजन्य बाह्य सामग्री जहां मिलती है वहां ही धर्मग्रहण और धर्मका सेवन बनता है। तो धर्मसेवन यद्यपि आत्माके ही आधीन है मगर ऐसा आत्माधीन धर्मका पालन उसके बनता है जिसके ऐसी बाह्य सामग्री है। अतः पुण्य करना, अर्थ नीति व्यवस्थित रखना यह गृहस्थजनोंका एक आवश्यक कार्य है।

सदाचारी मनुष्यकी आजीविकाकी सुविधा—जो मनुष्य सत्पात्र रहेगा, न्याय अन्यायका विवेक रखेगा, सबसे प्रिय वचन बोलेगा, दूसरेके धनपर निगाह न डालेगा, अन्य स्त्रियोंसे विमुख रहेगा, आलस्य और प्रमाद न करेगा, धीर रहेगा ऐसे पुरुषको आजीविका का लाभ होना सुगम है। अब भी देखा जाता है कि घरमें रहने वाला दुकानमें रहने वाला नौकर यदि ईमानदार है तो उसकी सब चाह करते हैं और उसकी आजीविका आदिका बहुत विशेष ध्यान रखते हैं और एक बार कोई बेईमानीसे वह धन हड़पले तो उस नौकरके प्रति लोगोंको प्रतीति नहीं रहती और धन भी उसके पास नहीं रह पाता क्योंकि फाल्तू अनाप सनाप बिना कमाये, बिना सदाचारके जो धन मिला है वह टिक नहीं पाता। जैसे विवाह करनेमें लोग दहेज अधिक मांग लेते हैं तो चूंकि उनको मुफ्त मिलता दूसरेका धन, दूसरेका दिल दुखाकर मिला तो वह धन उनके पास टिक नहीं पाता, ऐसे ही अटपट वृत्तिसे पाया हुआ धन टिकता नहीं है। और टिके या न टिके, उसका क्या ख्याल करना? जरा अपने आत्माका तो ध्यान रखो। मेरे परिणाम

सदैव निर्मल रहें ताकि मेरा भविष्य सुन्दर रहे। तो श्रावक पदमें भले प्रकार धर्म साधना करें, ऐसी भावना रखने वालेको परिग्रहका परिमाण अवश्य रखना चाहिए।

सद्गृहस्थका कुटुम्बीजनोंको संबोधनेका कर्तव्य—यहां एक समस्या सामने आ सकती है कि लोग जब समझाते हैं कि तुम अपना श्रद्धान सही रखो और अपने मनको समझालो। और अगर हम सात्विक वृत्तिसे रहने लगे, धर्म कार्योंमें चित्त लगाने लगें, तो फिर घरमें जो कुटुम्बीजन हैं माता-पिता वगैरह उनका क्या करेंगे? तो उसका उत्तर है कि तुम उन कुटुम्बीजनोंको समझावोगे कि देखो तुम लोगोंने पूर्व जन्ममें दान नहीं दिया, व्रतका पालन नहीं किया, भक्ष्य अभक्ष्यका विवेक नहीं रखा, अन्याय कुछ नहीं गिना, दूसरोंका धन हरा, तो उन पूर्व जन्मके पापकर्मों का उदय है जो अपनेको एक दरिद्रता प्राप्त हुई है, विशेष धन नहीं मिला है, मगर इसकी परवाह क्या करना? जितना अपनी आजीविकामें प्राप्त होता है उतनेमें ही गुजारा करके धैर्य रखना यह कर्त्तव्य है अन्यथा आगे भी दुःख सहने पड़ेंगे। इससे धर्ममें प्रीति करो। इस प्रकारसे कुटुम्बीजनोंको समझाना है। यदि दूसरे धनिकोंके आभरण शृंगार, आभूषण आदिक निरखकर उनका मौज, मोटर आदिक देखकर तुम भी आकांक्षा करोगे, भीतरमें मंथन मचावोगे तो मरकर तिर्यञ्च होना पड़ेगा, फिर क्या बीतेगी? इससे इस समय मनुष्य हैं, श्रेष्ठ मन मिला है, उत्तम समझ आ सकती है कि दुनियासे आंखे मींच लो और अपना जैसे भला होता हो वैसी प्रवृत्ति करो। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष निर्धन अवस्थामें कुटुम्बीजनोंको समझाता है और उन्हें भी धर्म मार्गमें लगाता है। और देखो जो आज स्थिति मिली है निर्धनपनेकी उस स्थितिमें जिन शासनका सहारा लेकर धर्ममें प्रीति लगाकर संतोषवृत्तिमें रहा जाय तो वहां तो ऐसी कर्मनिर्जरा होगी जैसी कि मुनिजन बड़े तपश्चरण करके कर्मनिर्जरा करते हैं। सो जिसे जो कुछ भाग्योदयसे प्राप्त हुआ उस ही के अन्दर व्यवस्था बनायें और परिग्रहका परिमाण रखें, ऐसे श्रावकजन इस भवमें भी प्रसन्न रहते हैं, निर्मल रहते हैं और भविष्यमें भी उनका आत्मा प्रसन्न रहेगा। ऐसी परिग्रह परिमाण व्रतकी बात कहकर अब उसके अतिचार बतलाते हैं जो दोष परिग्रह परिमाण व्रत वालेको न करना चाहिए।

अतिवाहना, तिसङ्ग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च, विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते॥ ६२॥

परिग्रहपरिमाणव्रतके पांच अतिचार—जिस श्रावकने परिग्रहका परिमाण किया है वह श्रावक इन अतिचारोंसे दूर रहता है। (१) पहला अतिचार है अतिवाहन। लोभके वश होकर गाड़ी बैल आदिक तिर्यञ्चोंको अथवा अपने सेवकोंको बहुत दूर तक मंजिल कराना, बोझा ढोना यह अतिवाहन अतिचार है। जो परिग्रहोंका परिमाण करके स्वयं संतुष्ट रहना चाहते हैं उनको अन्य जीवोंपर भी कुछ ध्यान देना चाहिए कि उनपर अधिक बोझा न लाद दें। न उनको अधिक दूर तक चलायें। जिसमें जितनी सामर्थ्य है उससे उतना ही काम लेना, उससे अधिक काम न लेना। अगर लेते हैं काम अधिक, बोझा लादते हैं अधिक, तो उसके परिग्रह परिमाणमें भी अतिचार आता है। यह बात यद्यपि अहिंसाणुव्रतके अतिचारमें तो थी ही किन्तु परिग्रह परिमाणमें भी यहां दोष आता है। परिग्रह परिमाण जैसा किया वैसा ही परिमाण

वह तो अन्तर्निहित है कि दूसरेसे अधिक कार्य न लेना, अधिक बोझा न लादना। (२) दूसरा दोष है अतिसंग्रह। परिमाण तो किया है उसका भंग नहीं कर रहा, पर बिना प्रयोजन अनेक चीजोंका संग्रह करते रहना यह परिग्रह परिमाणका दोष है। जैसे अनेक टूटे ताले पड़े हैं, पुराने टूटे पाटिया पड़े है, टूटे-फूटे कनस्तर पड़े हैं उन सबका संग्रह करते जा रहे, याकोई चीज खूब सस्ती देख लिया तो उसे खरीदकर भर लिया, यह भी दोष है, क्योंकि यह अनावश्यक संग्रह किया जा रहा है। ऐसा जो अनावश्यक संग्रह करता है वह पीछे उल्झनमें आता कि क्या करें, ये फेंके भी नहीं जाते, रखे भी नहीं जाते। (३) तीसरा अतिचार है विस्मय या जिन बड़ी वस्तुवोंको कभी देखा नहीं है उनको देखकर या सुनकर आश्चर्य करना यह परिग्रहपरिमाणका दोष है। अरे क्या आश्चर्य करना, पुद्गल है, स्कंध है, कैसा ही आगया, कैसा ही पड़ा है, उसमें क्या आश्चर्य करना? अगर आश्चर्य करते हैं तो उसमें दोष है। किसीका बड़ा ऐश्वर्य देखकर, वैभव देखकर अथवा बड़े ऊँचे ऊँचे पद देखकर उनका आश्चर्य करना यह भी दोष है। (४) चौथा अतिचार है परिमितपरिग्रह—परिग्रह परिमाणका भंग तो नहीं कर रहा पर रोजके कामोंमें या धर्मके कामोंमें लोभ कर रहा तो यह दोष है। (५) पांचवां दोष है अतिभारवाहन। शक्तिसे अधिक बोझा लाद देना इससे भी पशुवोंको बड़ा कष्ट होता है। अथवा बहुत बोझा लादा तो परिमाणका जो उद्देश्य था उस उद्देश्यमें कोई कलंक लगा। इस प्रकार इन ५ अतिचारोंसे रहित परिग्रह परिमाणका पालन करना है।

अपरिग्रहत्वसाधनाकी पांच भावनायें—परिग्रह परिमाण व्रतको पुष्ट करनेके लिए अपरिग्रहत्वकी ५ भावनायें होती हैं। वे ये हैं कि यदि कोई स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्णका विषय है, सुहावना है तो उसमें राग न करना। इस इष्ट विषयमें राग करनेके आधारपर ही तो परिग्रहका परिमाण खण्डित होता है। तो इष्ट विषयमें राग न करना चाहिए। यह बात तभी भली प्रकार निभेगी जिसने अपने निसंग चैतन्यस्वभावको माना कि यह मैं हूं, और उसका काम इस चैतन्य स्वभावकी वृत्तिका पाते रहना है। उसका भोग चैतन्य स्वभावके बर्तनेसे जो स्थिति बनती है उसका अनुभव करना है। इसके अतिरिक्त बाहर कहीं भी न मेरा स्वरूप है, न मेरी क्रिया है, न मेरा भोग है। इस प्रकारका जिनके स्पष्ट प्रकाश है वे ही पुरुष परिग्रह परिमाणको निर्दोष निभा पाते हैं। तो ५ इन्द्रियके इष्ट विषयोंमें राग न करना। राग न करनेकी भावना रखना, यह भावना है। और इसी प्रकार ५ इन्द्रियके विषय यदि अनिष्ट मिल जायें, अपनेको रुचे नहीं, तो उनको देखकर, उनको पाकर द्वेष न करना, द्वेष न उत्पन्न हो ऐसी भावना रखना, ऐसी ५ भावनाओंको जो रखता है उसके परिग्रहका परिमाण निभता है, क्योंकि यदि विषयोंमें राग बढ़ाया, द्वेष बढ़ाया तो वही बढ़कर, फूटकर परिग्रहके परिमाणको खण्डित कर देगा। इससे अपने आत्माको समझाना होगा। और इष्ट अनिष्ट विषयोंमें रागद्वेष न हो ऐसा अपने अन्दर भाव बनाना होगा। यों इन भावनाओंके प्रसादसे परिग्रहका परिहार भली प्रकार निभता है। इस तरह गृहस्थके ५ अणुव्रत कहा है। इन अणुव्रतोंका जो पालन करते हैं वे सद्गतिको प्राप्त करते हैं, उत्तम समागम पाते हैं, इसका वर्णन करते हैं।

पञ्चाणुव्रतनिधयो, निरतिक्रमाणाः फलन्ति सुरलोकम्।
यत्रावधिरष्टगुणा, दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते॥ ६३॥

अणुव्रती श्रावकको दिव्य शरीरका लाभ—गृहस्थकी निधि ५ अणुव्रत हैं, गृहस्थका धन और क्या है? सदाचार। जिसका सदाचार गया उसका सब गया, जिसका धन गया उसका कुछ नहीं गया, अब भी भले प्रकार रह सकेंगे। गुजारा तो बन ही जायगा। जिसका यश गया समझो उसका कुछ नहीं गया यश भी व्यर्थकी चीज है। मायावी लोगोंके द्वारा गायी हुई बात है, उसका कुछ नहीं गया, पर जिसका चारित्र गया, जो अपने श्रद्धान और चारित्रसे भ्रष्ट हो गया उसका सब कुछ गया। तो अपना सदाचार रहना, निरतिचार सदाचार बनना बहुत बड़ी भारी निधि है।सो जिनके ५ अणुव्रत खजाना है, निरतिचार उनका पालन है, ऐसे पुरुष सुरलोकको प्राप्त होते हैं, यह पुण्यका फल है। अब पुण्यके फलमें डिगे नहीं, यह उस समयका पुरुषार्थ है, मगर पुण्य प्रकृति जब बंधी है तो उसके उदय कालमें यह बात सब स्वयं सहज होती है। मनुष्य भी तो केवल अपने भाव सुधारता है और उसे कुछ ख्याल आया करता है, आगे जो कुछ होगा सही उचित वह स्वयं हो जायगा वैसे समागम मिलेंगे, पर बहुत बड़ी कमाई तो यह है कि अपने भाव न बिगड़ने पायें। सब जीवोंके सुखी रहनेकी भावना करें। किसी भी जीवके प्रति द्वेषकी बुद्धि न रखें। कदाचित कोई दुश्मनी भी रख रहा हो तो उसके कल्याणकी ही भावना रखना। कोई अपने पर उपद्रव भी कर रहा हो तो भी भीतरमें उसके हित और कल्याणकी ही भावना रखना। जो निर्मल भाव रखेगा उसका भविष्य अच्छा रहेगा। जो थोड़ेसे लोभके वश होकर अपने भाव बिगाड़कर जीवन चलायगा तो उसका भविष्य अंधेरेमें है। जो श्रावक निरतिचार ५ अणुव्रतका पालन करता है वह स्वर्ग लोकमें उत्पन्न होता है और उसके अष्ट ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं।

देवोंके शरीरका प्राकृतिक अतिशय—तपसे उत्पन्न होने वाली ऋद्धियां देवोंके नहीं हैं, किन्तु वह सब देवोंका एक स्वाभाविक गुण है। जिसको जैसा देह मिला है उस देहके माफिक गुण उसमें प्रकट हो जाते हैं। यहां भी तो देख लो बंदर लोग कहींसे कहीं चढ़ जाते हैं, उनके हाथ पैर इसी ढंगके होते कि मानों चारोंके चारों उनके हाथ हैं। जैसे आगेके हाथोंमें लोच होती वैसे ही पीछेके पैरोंमें भी लोच होती। तो शरीरके भेदसे अनेक भेद हैं, यह भी यहां देखा जा रहा है। स्वर्गमें जो देह मिलता है वह वैक्रियक देह है उस देहमें हाड़, मांस, खून आदि नहीं होते। और पौद्गलिक देह। जैसे यहां ही कोई डन्लपकी मूर्ति बना दी जाय अंदाजमें वैसा समझलो पता नहीं किस ढंगका होता होगा। वे अपने शरीरको दिखाना चाहें तो दिखा दें, न दिखाना चाहें तो अदृश्य हो जायें। ये अनेक गुण उस भवमें प्रकृत्या ही प्राप्त हैं उनको भूख प्यासकी वेदना नहीं होती, कभी हजारों वर्षों में भूख लगे तो उनके कंठसे अमृत झड़ जाता है। उनको कमानेकी आवश्यकता नहीं होती। उनका सारा जीवन खाली पड़ा है तो अब क्या करें? या तो भोगोंमें रमेंगे या धर्ममें। जो विवेकी देव होते हैं वे तो अपना सारा समय धर्मके कार्योंमें व्यतीत करते हैं और जो अविवेकी देव होते हैं विषयभोगोंमें या कुछ धर्मकार्योंमें भी भाग लेकर अपना समय बिताते हैं। वे अविवेकी देव भोगोंमें अधिक लगते हैं क्योंकि उनको भोग

साधनोंकी कमी नहीं रहती। तो ऐसा जहां दिव्य भव प्राप्त होता है कि वह सब पुण्यका प्रताप है और सद्गृहस्थके जो अणुव्रत हैं उन अणुव्रतोंका श्रद्धान करनेमें, उनका पालन करनेमें जो भावशुद्धि बनती है उससे जो पुण्यरस बढ़ता है उसका प्रताप है कि उनके अब अनेक सागरों पर्यन्त अनगिनते वर्षों पर्यन्त ऐसे आराममें गुजरेंगे, अब वहांका काम वहां करेंगे। ऐसी स्थिति पा लेने पर यदि धर्म कार्योंमें समय न दो तो उनका भव भी बेकार बन जायगा। जैसे यहां जिनको धन सम्पदा मिली है सो पूर्वकृत पुण्यके उदयसे मिली है। अब मिलनेके बाद एक बड़ी जिम्मेदारी यहां आ गई। यदि वह दूसरों पर अन्याय करता है, अत्याचार करता है तो वह दुर्गतिमें जायगा और पायी हुई सुविधा साधनका यदि वह सदुपयोग करता है, परोपकार दया दान आदि धर्म कार्योंमें यदि चित्त देता है तो यह भली गति पायगा। तो अब यह जिम्मेदारी नई इसके पास है आया है धन वैभव, मगर पूर्वमें जो पुण्य कार्य किया था उसके प्रसादसे धन सम्पदाको, इष्ट समागमोंको आना ही पड़ता है। सो जो पुरुष निरतिचार पञ्च अणुव्रतका पालन करते हैं वे सद्गतिको प्राप्त होते हैं और सुख साधनोंमें रहकर धर्मसाधना कर मोक्षमार्गमें बढ़ते हैं। इससे गृहस्थके अष्ट मूल गुणोंमें भी ५ अणुव्रत कहा और व्रत प्रतिमामें भी अणुव्रत कहा। इससे सिद्ध है कि साधारणतया पंच अणुव्रतोंका निर्वाह तो प्रत्येक श्रावकका होना ही चाहिए।

मातङ्गो धनदेवश्च वारिषेणस्तः परः।
नीली जयश्च संप्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमं॥ ६४॥

अहिंसाव्रतमें प्रसिद्ध यमपाल चाण्डालके व्रत परीक्षणके अवसरकी एक घटना— श्रावकोंके ५ अणुव्रतोंमें जो प्रसिद्ध हुए हैं उनका नाम निर्देश इस छंदमें किया गया है। अहिंसाणुव्रतमें यमपाल नामका चांडाल प्रसिद्ध हुआ है। पार्श्वनाथ भगवानकी जन्मभूमि काशीनगरीमें पाकशासन नामके राजा राज्य करते थे। राज्य व्यवस्था वहां भले प्रकार चलती थी। एक समय उनके राज्यमें हैजेकी बीमारी फैल गई। उस बीमारीके कारण प्रजाके लोगोंमें बड़ी आकुलता हो गई, तब उस रोगके निवारणके लिए राजाने व्रतसाधनाका प्रोग्राम बनाया। सब लोग अहिंसा व्रतका पालन करें। संसारमें जितने भी रोगादिक होते हैं वे सब पूर्वजन्मके पापके कारण होते हैं। सर्वपापोंमें हिंसा पाप प्रधान है। हिंसा पापका निवारणहो और अहिंसा धर्मका धारण हो तो यह हैजेका रोग दूर हो जायगा, ऐसा ध्यान रखकर राजाने अपने राज्यमें घोषणा करा दी कि अष्टान्हिकाके दिनोंमें कोई भी पुरुष जीवोंकी हिंसा न करे। उस नगरमें एक सेठ रहता था, उसके पुत्रका नाम था धर्म। नाम तो बड़ा अच्छा था पर वह बड़ा अधर्म करता था। जीव हिंसाका उसे बड़ा शौक हो गया था। मांस खानेकी उसकी इतनी बुरी आदत हो गई थी कि उसके बिना वह रह न सकता था। अष्टान्हिकाके दिनोंमें ही एक दिन वह राजाके बगीचेमें गया और वहांसे एक मेंढा मार लाया और उस मेढ़ेका कच्चा मांस खा गया। अब उसकी जो हड्डियां बचीं सो उसने एक गड्ढा खोदकर गाड़ दिया। जब उस मेढ़ेकी खोज की गई, कहीं मिले नहीं तो यह बात राजाके पास पहुंची। तो राजाने गुप्त रीतिसे पता लगानेके लिए गुप्तचरोंको भेजा। उधर बगीचेमें

मालीने वह सब कृत्य देख लिया था और वह रात्रिमें अपनी स्त्रीसे सेठके पुत्र धर्मकी सारी करतूत सुना रहा था, इसी बीच गुप्तचर वहांसे निकले और वह कहानी सुन ली। तब उन गुप्तचरोंने राजासे जाकर कहा कि उस मेढ़ेकी हत्या सेठके पुत्र धर्मने कर दी है। तब राजाने उसे कोतवालसे बुलवाया और उससे कहा कि देखो सेठके लड़के ने प्रथम तो जीव हत्याकी सो यह महापाप किया, दूसरे मेरी आज्ञा भंग की। जब सारे नगरमें घोषणा करा दी कि अष्टान्हिकाके दिनोंमें कोई जीवहत्या न करे फिर भी उसने जीव हत्या की। तो दूसरा कठिन अपराध राजाज्ञा भंग करनेका है। इस कारण उसे फांसी लगावो। राजा आज्ञा सुनकर उस कोतवालने उस सेठके पुत्रको तुरंत पकड़वाकर बुलाया और फांसीकी आज्ञा सुनायी, फांसी देनेका प्रबंध किया, वह दिन था चतुर्दशीका, फिर भी राजाज्ञा है, यह तो शासनकी व्यवस्था है।

चतुर्दशीके दिवस अहिंसाव्रतकी प्रतिज्ञा रखनेवाले यमपाल चाण्डालपर व्रत विरुद्ध क्रिया करनेके लिए सिपाहियोंका आक्रमण—चतुर्दशीके दिन उस सेठके धर्म नामक पुत्रको फांसीकी जगहपर ले जाया गया और यमपाल चाण्डालको बुलानेके लिए सिपाही भेज दिया क्योंकि फांसीका पूरा प्रबंध यमपाल चाण्डाल ही किया करता था। सिपाही लोग यमपाल चाण्डालके घर पहुंचे। उसने बाहरसे ही देख लिया कि आज कुछ सिपाही लोग आ रहे हैं और सुना भी है कि सेठके लड़केने मेढ़ेकी हत्या कर दी है तो उसको फांसीकी सजा हुई है, उसके लिये ये सिपाही आ रहे। उस यमपाल चाण्डालने चतुर्दशीको हिंसा न करनेका व्रत लिया था। अब वह दुविधामें पड़ गया कि मैं क्या उपाय करुं कि आज इस झंझटसे छूट जाऊं। आज मुझे हिंसा न करना पड़े। उसने एक मुनिराजके पास प्रतिज्ञा ली थी कि मैं चतुर्दशीके दिन जीवहिंसा न करुंगा, सो वह अपनी प्रतिज्ञापर अटल था। तो उसने अपनी स्त्रीसे कह दिया कि देखो ये सिपाही लोग मुझे लिवानेके लिए आ रहे हैं सो मैं तो घरमें कहीं छिप जाऊंगा और जैसे ही सिपाही द्वार पर आवें तो झट कह देना कि आज यमपाल घरपर नहीं हैं, कहीं बाहर गए हैं। आखिर सिपाही लोग जब द्वारपर आये और यमपालको पूछा तो उसकी स्त्रीने वही कहा जैसा कि यमपालने उसे समझाया था। अब वे सिपाही लोग यमपाल चाण्डालको न पाकर पछताकर कहने लगे कि यमपाल बड़ा भाग्यहीन है। आज सेठके पुत्र "धर्म" की फांसी होनी है और आज वह घर पर नहीं है। यदि यमपाल आज घर होता और फांसी लगाने चलता तो सेठके सब वस्त्र-आभूषण यमपालको मिल जाते। जैसा ही सिपाहियोंने यह वृतान्त बताया तो यमपालकी स्त्रीके मनमें लालच आ गया और वह इस दुविधामें पड़ गई कि यदि मैं पतिको बताये देती हूं तो पतिकी आज्ञाका भंग होता है और जो नहीं बतलाती हूं तो हजारों लाखोंका जो माल मिलनेको था वह न मिल पायगा, इस दुविधाके बाद उसने यह निर्णय किया कि पतितो पीछे राजी हो जायेंगे और घर धनसे भर जानेकी बात है सो आज इसलिए बता देना चाहिए, तो स्त्री धनके लोभमें हाथसे पतिकी ओर इसारा करके सिपाहियोंसे कहने लगी कि वे तो आज एक गांव गए हैं। उसने ऐसा इस कारण किया कि पति भी यह जाने कि इसने मेरी आज्ञाका भंग नहीं किया और सिपाही लोग उस इशारेके अनुसार घरके भीतर घुस जायं और यमपालको पकड़कर ले जायें, फांसी लगाये और लाखोंके

वस्त्राभूषण हमारे घर आयें। सिपाहियोंने स्त्रीका इशारा पाकर चाण्डालके घरमें प्रवेश किया और यमपालको पकड़कर फांसी देनेकी जगहपर ले गए।

यमपाल चाण्डालको अहिंसाव्रतके विरुद्ध क्रिया न करनेपर क्रूरमत्स्योंसे परिपूर्ण तालाबमें डालनेका दण्ड और धर्मप्रभावसे देवों द्वारा यमपालको सिंहासनपर बैठाना— यमपालको फांसीकी जगहपर पहुंचा दिया गया। यमपालसे राजा कहता है कि इस सेठपुत्रको फांसी लगावो तो वह वहां कहता है कि महाराज आज तो हमारा चतुर्दशीको हिंसा न करनेका व्रत है। और यह मुझसे न हो सकेगा कि आज मैं किसी जीवकी हिंसा करुं। मैं फांसी नहीं लगा सकता। जैसे ही राजाने चाण्डालका रूखा उत्तर सुना कि वह बड़े क्रोधमें आकर बोला कोतवालसे कि ऐ कोतवाल जावो इन दोनोंको (सेठपुत्रको और यमपाल चाण्डालको) तालाबमें डुबो दो, जिससे कि मगरमच्छ इन दोनोंको खा जायें। सो राजाकी आज्ञासे कोतवालने सेठपुत्र "धर्म" और यमपालको बड़े गहरे तालाबमें डुबो दिया। उस समय पापी सेठपुत्रको तो उन क्रूर मगरमच्छोंने खा डाला। मगर यमपालके पुण्य प्रतापसे इसी तालाबके बीच जल देवतावोंने रक्षा की। और स्वर्णके सिंहासनपर बैठा दिया। आखिर यह दृश्य देखकर सभीने उसका बड़ा सत्कार किया। सुन्दर वस्त्राभूषण पहनायें और गाजेबाजेके साथ उसके गुणोंका गान किया। तब नगरके लोगोंने उस यमपालको धन्यवाद दिया। जब राजाको यह मालूम हुआ कि मैंने उस अहिंसाव्रती यमपालको व्यर्थ ही दुःखी किया। उसकी तो देवोंने भी सहायता की तो वह अपने इस कृत्यपर बहुत पछताया और शीघ्र ही यमपालके पास जाकर अपने अपराधकी क्षमा मांगी। इस कथानकसे यह प्रेरणा मिली कि चाहे कैसी ही परिस्थिति आये अपने अहिंसाव्रतको न छोड़ें। चाहे ऐसी स्थितिमें प्राण जानेका भी अवसर आये तो प्राण गए बाद दूसरा भव मिलेगा किन्तु धर्म यदि गया तो भव भवमें दुर्गति होगी, इस कारण अहिंसा व्रतको दृढ़तासे पालना चाहिए।

सत्यव्रती धनदेवके साथ उसके मित्र जिनदेव द्वारा अन्याय—दूसरे सत्याणुव्रतमें धनदेव प्रसिद्ध हुए है। ये धनदेव पूर्वविदेह क्षेत्रके पुष्कलावती देशमें पुण्डरीकनी नगरीमें रहते थे। जम्बूद्वीपमें ठीक बीचोंबीच विदेह क्षेत्र है, जहांसे सदैव मुनिराज मोक्ष जाते रहते हैं। वहां कभी धर्मका अभाव नहीं होता और न वहां कुमतका प्रचार हैं, ऐसे जम्बूद्वीपमें दो विदेह हैं—पूर्वविदेह और पश्चिम विदेह। पूर्वविदेहमें ८ नगरी नदीके इस ओर हैं, ८ नगरी नदीके उस ओर हैं, ऐसे ही पश्चिम विदेहमें भी १६ नगरी हैं, इन ३२ नगरियोंमें से पुष्कलावती देशमें पुण्डरीकनी नगरीमें धनदेव नामके एक व्यक्ति रहते थे। उनके एक मित्रका नाम था जिनदेव। ये दोनों सलाहसे अपना-अपना व्यापार करते थे। इनमें धनदेव तो था सत्यवादी पर जिनदेव बेईमान था। एक दिन उन्होंने विदेशमें व्यापार करनेका ठहराव किया। और दोनोंमें यह तय हो गया कि व्यापारमें जो कुछ लाभ होगा उसका आधा-आधा हिस्सा दोनोंको मिलेगा। सो वहां वे व्यापार करने गये और कुछ ही दिनोंमें बहुतसा धन कमा लिया। जब बहुत धनका लाभ दिखा तो जिनदेवका चित्त चलायमान हो गया और धनदेवसे कहने लगा कि मैंने तो तुम्हें व्यापारमें हिस्सेदार नहीं बनाया था, मैने तो यह कह दिया था कि तुम्हारे श्रमके अनुसार तुमको धन दिया जायगा। सो जितना तुम्हारा श्रम है उसके अनुसार थोड़ा सा धन तुम्हें मिलेगा, आधा न

दिया जायगा। आखिर जिनदेव कुछ बलवान था वह थोड़ा धन देने लगा तो धनदेवने उसे लेनेसे इन्कार कर दिया और नगरीमें पंचोंके सामने यह झगड़ा रख दिया। वहां पंचोंने उस झगड़ेको निपटानेका प्रयत्न तो किया पर जिनदेवने पंचोंकी बात न मानी।

धनदेवकी सत्यव्रतके प्रतापसे विजय और सत्यधर्मकी प्रभावना—आखिर धनदेवने यह मामला राजाके पास भेजा। विनती कि हम दोनोंने यह ठहराव किया था कि व्यापारमें जो भी लाभ होगा उसको बराबर बराबर दो हिस्सोंमें बांटा जायगा पर इस जिनदेवने मेरा हिस्सा हड़पना चाहा है, मुझे उसमेंसे थोड़ा सा ही धन देना चाहता है। सो मैं इसका फैसला चाहता हूं। अब इस ठहरावमें कोई लिखत प्रमाण तो न था सो राजाको इसका निर्णय देनेमें बड़ी कठिनाई आयी। राजाने बहुत विचार किया कि कौनसा उपाय किया जाय कि जो सत्य बात विदित हो। तो राजाने उत्तर दिया कि देखो तुम दोनोंके हाथपर जलते हुए आगके अंगारे रखे जायेंगे और सत्यके प्रतापसे जिसके हाथ न जलेंगे उसकी बात सच मानी जायगी और धन उसको दिलाया जायगा। यह बात सुनकर जिनदेव बड़ी चिन्तामें पड़ गया। वह सोचने लगा कि मैंने धनदेवको आधा धन देनेका ठहराव किया था और अब मैं झूठ बोलूँगा तो मेरा हाथ जरूर जल जायगा। उस समय धनदेवके चेहरेपर एक बड़ी प्रसन्नता झलक रही थी। उसे विश्वास था कि मेरे हाथपर अंगारे रखे जायेंगे तो हाथ जलेंगे नहीं, क्योंकि घटना यथार्थ है। और मैं सत्यपर दृढ़ हूं। और जो मेरा ठहराव है वही मैं मांगता हूं। सो प्रभुकी कृपासे मेरी ही जीत होगी, मैं न जलूँगा। राजा उन दोनोंके चेहरेको ही देखकर सबकुछ समझ गया कि जिनदेव असत्यवादी है और यह धनदेव सही कह रहा है। पर राजाको इतनेसे संतोष न हुआ, जलते हुए अंगारे मंगाये और दोनोंके हाथपर अंगारे रख दिया। तो जो जिनदेव झूठा था उसने तो झट अग्निको फैंक दिया, उसे वह सह न सका और धनदेव आनन्दसे उन अंगारोंको लिए रहा, उसका मन मलिन न हुआ। यह वृतान्त देखकर राजाने धनदेवके हाथसे अंगारे हटवा दिये और वहां सभीने धनदेवकी सत्यताकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। राजाने सारा धन धनदेवको दिलाया, पर धनदेव अपना ही हिस्सा लेकर धर्मसाधनमें लग गया। इस प्रकारकी परीक्षामें पास होनेके बाद यह हाल सुनकर नगरके सब लोग आये। सभीने बड़ा आश्चर्य किया और धनदेवकी बड़ी प्रशंसा की। तभीसे नगरके लोग उस धनदेवको एक महात्मा सारिखे मानने लगे। सत्यकी सदा जय होती है। आजकल लोग सत्यपर शंका रखते हैं और सत्यसे विचलित होते हैं पर जो सत्यपर अडिग रहता है उसके इतना पुण्य बढ़ता है कि उसके प्रतापसे सर्व प्रभाव और सुविधायें उसमें जग जाती हैं। जो लोग ऐसा ध्यान रखते हैं कि धनका अर्जन, सर्व भोगोंकी प्राप्ति झूठ बोलनेसे ही होती है उन्हें इस कथानकसे यह शिक्षा लेना चाहिए और समझना चाहिए कि यदि ग्राहकोंको या लोगोंको यह पता पड़ जाय कि यह व्यापारमें झूठ बोलता है तो उसका व्यापार नहीं चल सकता। जब लोगोंको विश्वास हो जाता कि इसका व्यापार सच्चा है, यह झूठ नहीं बोलता तभी लोग उसके पास पहुँचते और उसका व्यापार चलता। बाहरी बातें कितनी ही कुछ आती हों पर अपने सत्य धर्मसे कभी न डिगना चाहिए।

अचौर्यव्रतके धारी श्री वारिषेण द्वारा धर्मप्रभाव—अचौर्य व्रतमें वारिषेणकुमार प्रसिद्ध हुए।

उनका वृतान्त इस प्रकार है कि पूर्व समयमें राजगृही नगरीमें राजा श्रेणिक रहते थे। उनके कई पुत्र थे, उनमेंसे एक पुत्रका नाम वारिषेण था, और उसी नगरमें एक विद्युत चोर रहता था, वह चोर वेश्यागामी था। उस नगरमें मगध सुन्दरी नामकी एक वेश्यासे उसकी प्रीति थी। चतुर्दशीकी रात्रिको जब वह चोर वेश्याके घर गया तो वेश्याने उससे कहा कि श्रीकीर्ति नामके सेठके यहां जो रत्नोंका हार है वह लाकर मुझे दीजिए। अब देखिये—प्रीतिमें आसक्त लोग तो सब कुछ पाप कर डालते हैं, आखिर वह चोर रातों ही रात गया और श्री कीर्तिके यहांसे वह रत्नोंका हार चुरा लाया। रत्नोंका हार तो चुरा लिया, पर वह इतना चमकदार था कि उसकी कांति कपड़ेमें भी न छुप सकी। सो जैसे ही वह चुराकर लिए जा रहा था कि नगर कोतवालने चमकता हुआ पदार्थ देखा और उस चोरका पीछा किया। चोर भी उस समय वेश्याके पास न जाकर भागते-भागते एक श्मशानमें पहुंच गया। उसी श्मशानमें राजा श्रेणिकके पुत्र वारिषेण ध्यान कर रहे थे। चोरने कोतवालसे अपनी जान बचानेके लिए वह हार वारिषेणके पास फेंक दिया और कहीं दूर जाकर छिप गया। जब वहां कोतवाल पहुंचा और वारिषेणके पास वह चमकता हुआ हार देखा तो समझ लिया कि यह वही चोर है जिसने इस हारको चुराया है और अब ध्यान करने बैठ गया है। आखिर वारिषेणकी यह घटना राजा श्रेणिकके सामने पेश की। कोतवालके कहनेसे राजा श्रेणिकने वारिषेणका मस्तक काट डालनेका दण्ड सुनाया। कोतवालको आज्ञा दी। कोतवालने चाण्डालको हुक्म दिया। तो जैसे ही चाण्डालने हाथमें तलवार लेकर वारिषेण पर प्रहार किया तो वारिषेणके पुण्य प्रतापसे वारिषेणके गलेमें पुष्पमाला बनकर उनके गलेमें पड़ गई। यह बड़ी अद्भुत घटना थी। उसी समयदेवता लोग आये, जय-जयके शब्द बोलने लगे। पुष्पोंकी वर्षाकी, किन्तु वहां वारिषेणने अपना ध्यान तनिक भी नहीं छोड़ा। इस घटनाका समाचार जब महाराजा श्रेणिकको मिला तो वे कुबुद्धि पर बहुत पछताये। आखिर वारिषेणके पास आकर बोले—मेरे अपराधको क्षमा करो और घर चलो। पर वह तो अब विरक्तकी ओर बढ़ रहे थे, उन्होंने संसारका चित्र देखा तो वहीं उन्होंने जिनदीक्षा ले ली और महान् तपश्चरण करके वे मोक्ष सिधारे। तो इस अचौर्य व्रतकी कथासे यह प्रेरणा मिलती है कि इस परधनको धूल समान समझकर उसकी रंच भी इच्छा न करें और अपने ज्ञानानन्द स्वभावको निरखकर सन्तुष्ट रहें। समस्त परभावसे हटकर परमार्थ सहजपरमात्मतत्त्वमें मग्न होना परमार्थ अचौर्य है, परमार्थ सत्य है, परमार्थ अहिंसा है।

ब्रह्मचर्याणुव्रतमें सुदृढ़ नीलीका धोकेमें सागरदत्तके साथ पाणिग्रहण—श्रावकका चौथा अणुव्रत है ब्रह्मचर्याणुव्रत। ब्रह्मचर्य एक परमतप है जिसके कारण मन, वचन, कायका बल प्रकट होता है, भावोंमें विशुद्धि बढ़ती है और मोक्षमार्ग उसके लिए सुगम हो जाता है। ब्रह्मचर्य व्रतमें नीलीबाईकी प्रसिद्धि अधिक है। एक नगरमें जिनदत्त सेठ रहता था और उन सेठके इकलौती कन्याका नाम नीली बाई था। नीली बाई बहुत सुन्दर गुणवान विद्यावान थी। उसी नगरमें एक वैश्य रहता था, जिसका नाम समुद्रदत्त था। यह समुद्रदत्त मिथ्यादृष्टि था, उसके सागरदत्त नामका एक पुत्र था। एक दिन वह नीली जिन मंदिरमें पूजा करके सामायिक कर रही थी। वहां अचानक ही सागरदत्त अपने एक मित्रके साथ घूमता हुआ आ गया तो उस नीलीकी सुन्दरता देखकर मुग्ध हो गया। वह सागरदत्त घर तो आया पर

उसको चिन्ता नीलीसे शादी करनेकी लग गई और उस कामावेशमें खानपान भी छोड़ दिया, निद्रा भी उड़ गई। यह बात सागरदत्तके पिताको मालूम हुई तो उसने सागरदत्तको बहुत समझाया कि नीली का पिता जैन धर्मावलम्बी है, वह जैन धर्मका अनुयायी किसी अन्यको अपनी पुत्री कैसे दे सकेगा? लेकिन सागरदत्त अपनी हठ पर रहा, तब वहां यह विचार किया गया कि हम और यह पुत्र दोनों दिखाऊ रूपसे जैन व्रत लें और जिन मंदिर रोज जाने लगें। सो वे जिनमंदिरमें जाने लगे, दर्शन पूजा स्वाध्याय आदिक करने लगे। अब सभी लोगोंको उनके जैन बन जानेका पूरा विश्वास हो गया। उस समय यह सेठ जिनदत्त ने धोखेमें आकर कि यह तो बहुत श्रद्धालु जैन है नीलीका विवाह सागरदत्तके साथ कर दिया।

पतिव्रता धर्मवत्सला नीलीपर कुटुम्बकी ओरसे कठिन उपद्रव—नीलीके विवाहोपरान्त कुछही दिनोंमें समुद्रदत्त पिता और सागरदत्त पुत्र दोनोंने जैन शासनको छोड़कर अन्य धर्म जिसमें थे उसीको मानने लगे। और उस नीलीको उसके पिताके घर भी आना-जाना बंद करा दिया। उधर नीलीका पिता दोनोंकी दिखावटी करतूतसे बहुत पछताने लगा, पर अब क्या किया जा सकता था? खैर नीलीने अपना धैर्य न छोड़ा। वह जैन धर्मका पालन करती थी। नित्यप्रति अरहंतदेवकी भक्ति किया करती थी अब तो उसको और भी श्रद्धा बढ़ गई। और कितने ही उपद्रव आये पर उसने अपने धर्मको नहीं छोड़ा। सागरदत्तने और उसके पिताने नीलीको बहुत समझाया कि तुम जैन धर्मको छोड़ दो और हमारे बौद्ध धर्मको अंगीकार कर लो, पर नीलीने रंच भी स्वीकार न किया। एक बार समुद्र दत्तने सोचा कि यह मेरे समझानेसे तो मानती नहीं, इसको अपने बौद्ध साधुवोंसे समझानेका हमें उपाय करना चाहिए। यह सोचकर कि साधुवोंका कहना अवश्य मान जायेगी। तो उसने अपने घर बौद्ध साधवोंको अपने घर आहार करानेके लिए नीलीसे कहा। अब नीलीको श्रद्धा तो उन पर थी नहीं फिर भी उन्हें अपने घर आहार करनेके लिए बुलवाया, कमरेमें आदरसे बैठवाया और क्या किया कि अपनी दासीके द्वारा उन बौद्ध साधुवोंकी जूती मंगवाया और उनको छिपाकर एक स्थानमें रखवा दिया। बादमें भोजनोपरान्त उन्होंने पूछा कि मेरी जूती कहां? सो नीलीने कहा—महाराज आप तो अन्तर्यामी कहलाते हैं, आप स्वयं अपनी जूतीका पता लगा लें। लेकिन वे कहां पता लगा सकते थे? आखिर नीलीने बताया कि आपकी जूती तो आपके ही पीछेके कमरेमें है। मुड़कर देखा जूती वहां मौजूद थीं। खैर वे साधु लज्जित होकर चले गए लेकिन यह मामला अब तो और भी अधिक बढ़ गया। जब अपने साधुवों का अपमान देखा तो समुद्रदत्त और उसके घरके सब लोग नीलीके पूरे शत्रु बन गए। और यहां तक कि उसकी ननद ने उसको कुशीलका भी दोष लगाया। उस कुशीलके दोषका अपयश सुनकर नीलीको बड़ा खेद हुआ। वह नीली अपने पर हुए सारे आक्रमणोंको तो सहती गई पर कुशीलका कलंक उससे न सहा गया।

शीलव्रतके प्रभावसे नीलीका संकटहरण व बड़ी धर्मप्रभावना—दूसरे दिन वह जिनमंदिर गई और प्रभुके समक्ष खड़ी होकर हाथ जोड़कर बिनती करने लगी और संकल्प किया कि हे नाथ जब तक यह कलंक मेरा न हटेगा तब तक मैं अन्न जल ग्रहण न करुंगी। उसके उपवास शुरु हो गए। उस नगरकी देवीको जब यह हाल विदित हुआ तो उसने स्वयं नीलीके पास आकर उसे धैर्य बंधया और

उस ही रात राजा और मंत्रीको ऐसा स्वप्न दिया कि शहरके दरवाजे बंद हैं, किसीके खोलनेपर नहीं खुल रहे, तो यह वाणी हुई कि ये किवाड़ इस तरह न खुलेंगे। किसी शीलवती स्त्रीके पैर लगेंगे तब किवाड़ खुल सकेंगे। सबेरा हुआ और देखा कि मुख्य फाटक बंद है। नगरके बाहरका आना-जाना सब बंद हो गया तब सब लोग दुःखी होने लगे। तब राजाने रात्रिके स्वप्नको याद किया और शहर की सब स्त्रियोंको बुलाया। हर एक से किवाड़ खुलवाया पर वे किवाड़ किसीसे न खुले। अन्तमें नीलीके पैरका अंगूठा लगनेसे सब दरवाजे खुल गए। यह दृश्य देखकर राजाने व सभी नागरिकोंने नीलीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसका बड़ा सम्मान किया। और इस घटनासे पवित्र ब्रह्मचर्य व्रतकी बड़ी महिमा प्रकट हुई। जो ब्रह्मचर्य के धारक व्रती पुरुष हैं सो ब्रह्मचर्यके प्रतापसे उनके आत्माका आन्तरिक बल वृद्धिको प्राप्त होता है। साथ ही ऐसे दुर्द्धर ब्रह्मचर्य व्रतके धारणके प्रतापसे शुभ रागांशके कारण विशिष्ट पुण्यका बंध होता है, पापरस नष्ट होता है। जिससे ऐसा अतिशय और देवोंकी सहायता उन्हें प्राप्त होती है।

परिग्रहपरिमाणव्रती संतोषी जयकुमारका वृत्तान्त—श्रावकके ५ अणुव्रतमें ५वां अणुव्रत है परिग्रह परिमाणअणुव्रत। परिग्रहका परिमाण करना यह श्रावकोंका मुख्य कर्त्तव्य है, जिनके परिग्रहका परिमाण नहीं होता उनके लालसा तृष्णा बहुत अधिक बढ़ जाती है और उनका जीवन क्लेशमें व्यतीत होता है। इस परिग्रह परिमाण व्रतमें जयकुमारकी प्रसिद्धि बहुत अधिक है। यह जयकुमारकी कथा उस समयकी है जबकि हस्तिनापुरमें सोमराजा राज्य करते थे। सोमराजाके पुत्रका नाम जयकुमार था वह जयकुमार बहुत संतोषी धर्मात्मा पुरुष था और उसकी स्त्री सुलोचना थी। एक दिन राजपुत्र जयकुमार और उनकी स्त्री सुलोचना इन दोनोंने एक विद्याधर और विद्याधरीको विमानपर बैठकर जाते देखा। उस दृश्यको देखते ही इन दोनोंको पूर्वभवका स्मरणहो गया। उस स्मृतिमें ये दोनों ही बेहोश हो गए। थोड़े समय बाद जब वे सचेत हुए तो पूर्व जन्मकी सिद्ध की हुई विद्या उनके पास आयी और प्रकट होकर कहने लगी कि आप जो आज्ञा देंगे सो हम करेंगी जब इसको पूर्वजन्मकी विद्या सिद्ध हुई तो ये दोनों जयकुमार और सुलोचना कैलाश पर्वतकी वंदना करने गए। वहां भरत राजाके बनवाये हुए अनेक जिनमंदिर थे। उनकी पूजा कर रहे थे।

संतोषप्रिय राजपुत्र जयकुमारकी देव द्वारा परीक्षा—उस समय स्वर्गमें इन्द्रकी सभामे शास्त्र व्याख्यान हो रहा था और इन्द्र परिग्रह परिमाणकी चर्चा करते हुए जय कुमारकी बड़ी प्रशंसा कर रहा था कि इस समय मध्यलोकमें राजपुत्र जयकुमार परिग्रह परिमाणके पूरे दृढ़ प्रतिज्ञ हैं। इस वृतान्तको सुनकर एक रतिप्रभ नामके देवताको यह इच्छा हुई कि मैं जयकुमारके इस परिग्रह परिमाणव्रतकी परीक्षा करुंगा। सो वह रतिप्रभदेव चला। जिस समय जयकुमार और सुलोचना प्रभु पूजा करके बहुत दूर-दूर बैठे हुए थे, धर्मध्यानके समय बहुत दूर-दूर बैठना उचित होता है उसी नीतिके अनुसार वे दूर-दूर बैठे हुए थे तो वहां वह रतिप्रभ देव स्त्रीका रूप धरकर और साथ ही चार देवांगनायें लेकर जयकुमारके पास पहुंचा और वह देव कहने लगा कि आपकी स्त्री सुलोचनाके विवाहके समय जिस नमि विद्याधरने आपसे लड़ाई की थी उसकी मैं स्त्री हूं, स्वरूपा मेरा नाम है। मुझे अनेक प्रकारकी विद्यायें सिद्ध हैं, मैं

आपके रूपमें मुग्ध होकर आपके पास आयी हूं। मैं आपके रूपके सामने अपने पतिको भी छोड़कर आयी हूं। आप मुझे अंगीकार करें तो मैं अपनी सारी विद्यायें और राज्य आपको सौंपनेके लिए तैयार हूं। पहले यह घटना हुई थी। जब सुलोचनाका स्वयंबर था तो अनेक राजपुत्र वहां आये थे, जिसमें सुलोचनाने जयकुमारको वरण किया था, उस समय अनेक राजपुत्र रुष्ट होकर लड़ाई ठानने लगे थे। तो वहां नमि विद्याधरने जयकुमारसे लड़ाई की थी। उस नमि विद्याधरकी स्त्री बनकर वह रतिप्रभदेव कह रहा था, यों वह अनेक विद्यावोंका प्रलोभन दे रहा था।

राजपुत्र जयकुमारकी संतोष परीक्षामें उत्तीर्णता—उक्त सब बात सुनकर जयकुमारने उत्तर दिया कि यह तो कभी भी सम्भव नहीं, और ऐसा रूप व ऐसी विद्या मुझे नहीं चाहिए। मैंनेजो ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाणका व्रत लिया है उस अपने व्रतको मैं कभी भी नहीं छोड़ सकता। और तेरा जैसा सुन्दर रूप है यदि तू ऐसी शीलवती होती तो कितना अच्छा था, यह तो स्वर्णमें सुगंध होने जैसी बात होती। तुमने मनुष्य जैसा देह पाया, राज घरानेके अच्छे साधन पाये और अपने आत्माके कल्याणमें उपयोगें नहीं जाता यह जानकर मुझे दुःख होता है। सो तू अब भी पतिव्रत धर्मको धारण कर। प्रभुकी पूजा स्वाध्याय आदिकमें लीन हो, ऐसा जयकुमारने बहुत समझाया, पश्चात् अपनी सामायिकमें जुट गया। विधिपूर्वक सामायिक क्रिया करके वह ध्यानमें लीन हो गया। उस समय वह बनावटीदेव, रतिप्रभ, जिसने स्त्रीका रूप धारण किया था जयकुमारको ध्यानसे डिगानेके लिए अनेक उपद्रव करने लगा। बड़े सुरीले सुन्दर गान तान करने लगा। फिर बड़े अटपट रूप दिखाने लगा। किन्तु वह धीर वीर जयकुमारके मनको जरा भी विचलित न कर सका।

संतोषी राजपुत्र जयकुमारका देव द्वारा सत्कार—अन्तमें हार मानकर उस रति प्रभ देवने अपना सही रूप दिखाया और संतुष्ट होकर कहने लगा कि हे जयकुमार धन्यहो तुम्हारा संतोष। तुम्हारे मनकी स्थिरता देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता है। मैं मनुष्य नहीं हूं। मैं स्वर्गका देव हूं, मेरा नाम रतिप्रभ है। स्वर्गमें इन्द्र महाराजने आपकी जैसी महिमा बतायी थी वैसा ही आपमें पाया। इस प्रकार रतिप्रभने जयकुमारकी बड़ी प्रंशसा की। बड़े आदरके साथ अनेक कपड़े गहने आभूषण आदि भेंट देकर वह स्वर्गको चला गया। यहां ये तृष्णारहित ब्रह्मचर्यके धनी जय कुमार अपनी स्त्री सुलोचना सहित कई दिन तक कैलाश पर्वत पर रहे और प्रतिदिन भगवानकी पूजा वंदना की। उसके पश्चात् अपने घर आये और कुछ दिन रहकर वे गृहस्थीकी सम्हाल करते रहे। गृहस्थीके सुख भोगे, पश्चात् मुनि हुए। मुनि होकर जयकुमारने बहुत तप धारण किया फिर मोक्ष सिधारे। रानी सुलोचनाने भी श्रावकके व्रत धारण किए और समाधिपूर्वक मरण करके स्वर्ग गई। इस कथाका तात्पर्य यह है कि जैसे वह जयकुमार विद्याके और राज्यके लोभमें न आया और अपने धर्ममें दृढ़ रहा इसी प्रकार हम आपको भी धर्ममें दृढ़ रहना चाहिए। जो पुरुष अपना जीवन संतोषसे बिताता है और कारण पाकर सर्वसे विरक्त होकर आत्मानुभवमें अधिक समय लगता है वह अन्तमें निर्वाणपदको प्राप्त होता है। इस कथानकसे हम आपको शिक्षा यह लेना है कि हमेशा परिग्रहसे विरक्त रहें। तृष्णासे दूर रहें और परिग्रहमें संतोष रखें।

धनश्रीसत्यघोषौ च तापसारक्षकामपि।
उपाख्येयास्तथा श्मश्रु नवनीतो यथाक्रमम्॥ ६५॥

हिंसापापमें प्रसिद्ध धनश्रीका दुराचरण—श्रावकके ५ पापोंका त्याग रहता है, वे पांचों ही पाप संसारमें भटकाने वाले हैं। अनेक दुर्गतियोंके कारण हैं। उन सब पापोंमें प्रसिद्ध है हिंसा। जिनका हिंसामें चित्त रहता है उनके सदैव पापका बंध चलता है जिसके फलमें मरणकर दुर्गति ही पाते हैं। हिंसा पापमें धन श्री की बड़ी प्रसिद्धि हुई है। बहुत पहलेकी कथा है कि एक नगरमें धनपाल सेठ रहते थे। उनकी स्त्रीका नाम धनश्री था। वह धन श्री दुष्ट स्वभावकी थी और उसके मनमें निरन्तर हिंसा ही रुचती थी। सेठ धनपालने उस धनश्रीको बहुत सम्बोधन किया धर्म वृत्तिसे रहना, पतिव्रतका पालन करना, पतिकी आज्ञा मानना, जीवोंकी दया पालना। सत्य बोलना आदिक अनेक शिक्षायें समय समयपर दिया करता था परन्तु धनश्रीने उसकी एक भी बात न मानी। तो जहां प्रकृति भिन्न हो वहां पति पत्नीकी प्रकृत्या नहीं पटती, फिर जो दुष्टा हिंसा चित्त वाली हो तो उस सेठानीकी सेठसे बिल्कुल ही वृत्ति न मिलती थी। तो धनश्रीके द्वारा सेठ धनपालको कोई आराम न था। कुछ दिन बाद धनश्रीके एक लड़का और एक लड़की ये दो संतान हुईं। लड़केका नाम गुणपाल था और लड़कीका नाम सुन्दरी था। संतान होनेके पहले ही सेठ सेठानीने अपने पास एक लड़का रख रखा था। जब बहुत दिन तक संतान न हुए तो यह सोचकर कि इस परिवारका, इस धनका कोई उत्तराधिकारी तो हो। सो एक लड़का गोद ले लिया था, उसका नाम था कुण्डल। उस कुण्डलको वे सेठ सेठानी पुत्रके समान मानते थे। कुछ दिन बाद सेठ धनपालका तो देहान्त हो गया और वह कुण्डल लड़का जवान हुआ। उस दुष्ट धनश्रीका उस कुण्डलसे अपने पतिका नाता लग गया। पति तो गुजर गया था और यह कुण्डल रखा हुआ लड़का था तो उस नातेसे यद्यपि वह धनश्रीका ही लड़का कहलाया, पर वह धनश्री उस कुण्डलसे स्नेह करने लगी और कुशील सेवन करने लगी। सो ऐसी स्वतंत्रता मिलने पर उस धनश्रीकी कुटिलताका ठिकाना न रहा।

हिंसाप्रिय धनश्रीकी बधकारक प्रवृत्ति—अब धनश्रीका पुत्र गुणपाल बड़ा हुआ तो वह पापिनी धनश्री सोचने लगी कि अब यह लड़का बड़ा हो गया है और यह भलाई बुराई समझने लगा है, यह मेरी और कुण्डलकी दोस्तीमें विघ्न डालेगा यह मेरे लिए कांटा बन गया है। उस कुशीलके बेगमें धनश्रीको अपना ही गुणपाल लड़का कांटा लगने लगा? सो सोचा कि इस कांटेको निकालना चाहिए, अर्थात् किसी प्रकारसे इस गुणपालको मार डालना चाहिए। तब रात्रिको धनश्री उस कुण्डलसे कहने लगी कि देखो आज सवेरे ही गुणपालको गाय चराने जंगल भेजूँगी और तुम हथियार लेकर पीछे-पीछे चले जाना और जंगलमें उसे मार डालना। जब तुम गुणपालको मार डालोगे तब ही हम तुम ठीक आनन्दसे रह पायेंगे। कुण्डलने भी धनश्रीकी यह सलाह मान ली क्योंकि कुण्डलको गुणपालसे क्या स्नेह? लेकिन यह सब वार्ता गुणपालकी बहिन सुन्दरीने सुन लिया। जब वार्ता हो रही थी तो सुन्दरी छिपे-छिपे सब बात सुन रही थी। तो उसने अपने भाई गुणपालको सावधान कर दिया और रातमें जो मंत्रणा हुई थी वह सब भी अपने भाईको सुना दी। तब गुणपाल बोला—बहिन तूने बड़ा अच्छा किया

जो मुझे सावधान किया। आगे भी जो बात समय-समय पर हो वह भी हमें बता दिया करना। जब कुण्डल मेरे मारनेके उपायमें है तो मैं ही कुण्डलको मार डालनेका उपाय करुंगा। प्रातः काल होने वाला था तब धनश्रीने गुणपालसे कहा कि बेटा गुणपाल आज कुण्डलको ज्वर हा गया है इसलिए तुम पशु चराने जावोगे। गुणपालको सब वृतान्त मालूम था ही। वह जंगलमें तो चला गया पर एक तलवार अपने कपड़ेमें छिपाकर चला और उसने जंगलमें पहुंचने पर अपने कपड़े उतार दिये और एक ठूठको वे कपड़े पहना दिया और स्वयं एक झाड़ीमें तलवार लेकर छिप गया। पीछेसे जब कुण्डल आया तो उस ठूठको गुणपाल समझकर कुल्हाड़ेका भारी प्रहार किया, जिससे उस ठूठके टुकड़े-टुकड़ेहो गए। यह दृश्य देखकर कुण्डल आश्चर्यमें पड़ गया और बड़ा घबड़ाया कि यह क्या हुआ। वह कुछ ऐसा सोच ही रहा था कि पीछसे गुणपालने आकर तलवारसे कुण्डलके टुकड़े कर डाले। देखो वह कुण्डल गुणपालको मारना चाहता था पर खुद गुणपालके ही हाथसे मारा गया।

हिंसापापप्रिय धनश्रीकी हिंसावृत्ति और उसका परिणाम दुर्दशा दुर्मरण व दुर्गति—अब वह गुणपाल लौटकर घर आया, उसके कपड़ोंपर खूनके धब्बे दिखाई दिए, पर कुण्डलके न दिखने पर धनश्रीने पूछा कि कुण्डल कहां है? तो पहलेतो चुप रहा, फिर साहस करके बोला कि इस तलवारसे पूछो कि कुण्डल कहां है। धनश्री सब बात समझ गई कि कुण्डल मार डाला गया। उसी समय तत्काल धनश्रीने गुणपालके हाथसे तलवार छुड़ाकर गुणपालकी हत्या कर दी। यह दृश्य गुणपालकी बहिन सुन्दरी देख रही थी कि मेरी ही मांने मेरे प्रिय भाई की हत्या कर दी सो वह भी मूसल लेकर धनश्रीको मारने दौड़ी। धनश्री और सुन्दरीके बीच मारा-मारी हो रही थी कि वह समाचार नगरमें सब जगह फैल गया। राजाके पास भी इसकी खबर गई तो राजाने उस धनश्रीको हत्यारिनी पापिनी जानकर सेवकोंको आज्ञा दी कि इस धनश्रीके नाक-कान काट लो, फिर इसे गधे पर बैठाकर नगरमें फिरावो और फिर इसे प्राणदण्ड दे दो। सेवकोंने राजाज्ञासे वैसा ही किया। धनश्री खोटे ध्यानसे मरकर नरक गई। तो हिंसा पापके फलमें जीवोंको धनश्रीके समान दोनों ही जन्मोंमें दुःख भोगना पड़ता है। यह हिंसा पाप सर्वथा ही छोड़ने योग्य है।

श्रीभूतका सत्यताकी दुहाई सत्यघोष नाम प्रसिद्ध करवाना—श्रावकने दूसरे पाप झूठका त्याग किया है। असत्य पापके कारण लोगोंको प्रतीति नहीं रहती, स्वयंका उपयोग कलुषित रहता है, वह धर्मका पात्र नहीं रहता। झूठ बोलने वाले लोग प्रायः मायाचारका आश्रय लेते हैं जिससे उनका पुण्य निरन्तर कुटिल रहता है इस पापमें सत्यघोष प्रसिद्ध हुआ है। इसी भरत क्षेत्रमें सिंहपुर नगर था जहां राजा सिंहसेन राज्य करता था, उनकी रानीका नाम रामदत्ता था, उसी नगरमें एक पुरोहित रहता था जिसका नाम श्रीभूत था। श्रीभूत बहुत ही धोखा देने वाला और धोखा देकर अनेकोंका धन हड़पनेका प्रयत्न रखता था। उसने लोगोंको धोखा देने के लिए अपने जनेऊमें एक छोटा चाकू बांध रखा था और उसे दिखाकर लोगोंसे कहता कि मेरे सत्यव्रतका नियम है। यदि भूलसे झूठ बोल जाऊं तो मैं इस चाकूके द्वारा अपनी जीभ काट लूँगा इसलिए मैंने यह चाकू जनेऊमें लटका रखा है। और इसी प्रसंगको लेकर उसने अपना नाम सत्यघोष प्रसिद्ध कर रखा था। नगरके लोग उसपर बड़ा विश्वास

करते थे। अनेक लोग उसके यहां अपना धन धरोहरके रूपमें रखने आते थे। लेकिन वह सत्यघोष किसी किसीकी धरोहर तो वापिस कर देता था और कई लोगोंकी धरोहर हड़प लेता था। वह यदि कहीं फरियाद भी करे तो नगरके लोग उल्टा उसे ही झूठा कहते थे। यदि कोई लोग राजाके पास जाकर इस सत्यघोषकी नालिस भी करते थे तो भी राजाके चित्तमें सत्यघोषने इतना प्रभाव जमा रखा था और विश्वास बना रखा था कि जिससे राजा किसीकी भी न सुनता था।

सत्यघोषके पास समुद्रदत्तके पांच महामूल्यके रत्न फंस जाना—एक बार पद्मखण्ड नगरमें रहने वाला समुद्रदत्त व्यापारके कामसे सिंहपुर नगरमें आया। उसकी इच्छा विदेश जाकर व्यापार करनेकी थी। सो उस समुद्रदत्तने सोचा कि हम बहुत दूर विदेश व्यापार करनेके लिए जा रहे हैं, यदि वहां कुछ टोटा पड़ जाय या जहाज आदिक डूब जाय तो यहां का रखा हुआ धन तो काम आ जायगा। इस कारण जो उसके पास ५ रत्न थे उन्हें सत्य घोषके पास जमा करने गया और बड़े विनयसे उसके यहां ५ रत्न रख दिया यह समुद्रदत्त अब रत्नद्वीपमें वहां बहुत दिन तक रहा। अच्छा व्यापार चला और धन कमाया तब वह लौटकर आ रहा था तो उसका जहाज टकरा गया और फट गया जिससे उसके साथी और सारा धन समुद्रमें डूब गया। अब वह बेचारा समुद्रदत्त जहाजके टूटे हुए किसी काठके टुकड़ेके सहारे तैरता हुआ बड़ी कठिनाईसे उस समुद्रके किनारे आ सका और वह समुद्रदत्त सीधा सत्यघोषके पास गया, यह सोचकर कि सत्यघोषके यहां मेरे ५ रत्न रखे हैं उन्हें लूँगा, और पुनः व्यापार करके अपना दरिद्रय मिटाऊंगा इधर सत्यघोषने समुद्रदत्तके जहाजके डूबनेकी बात पहले ही सुन रखी थी और अब समुद्रदत्तको आते देखातो सत्यघोषने समझ लिया कि यह अपने रत्न अवश्य मांगेगा। अब सत्यघोषने एक मायाजाल रचा, वह पहलेसे ही अपने पासके बैठने वाले लोगोंसे कहने लगा कि आज कुछ असगुन होने वाला है। देखो वहा कोई भिखारीसा आ रहा जान पड़ता है यह वही मनुष्य है जिसका कि कल जहाज डूब गया सुना था। अब यह धन डूब जानसे अवश्य पागल हो गया होगा। और यह न जाने किससे क्या कह बैठेगा? इतनेमें समुद्रदत्त आ ही गया और सत्यघोषको नमस्कार कर बड़े विनयसे अपने पांचों रत्न मांगने लगा। तब सत्यघोषने पास बैठे हुए लोगोंसे कहा कि देखा जी जो मैंने अभी कहा था वह बात यथार्थ सत्य निकली। सत्यघोषने समुद्रदत्तको उत्तर दिया कि भाई तू कौन है, कहांका रहने वाला है। मैं तो तुझे पहचानता भी नहीं हूं और तुम क्या कर रहे हो? तुम्हारा चित्त ठीक भी है या नहीं। तेरे पास रत्न आये भी कहांसे ? और फिर मेरे पास रखनेका सवाल ही क्या? मालूम होता है कि तेरा धन डूब जानेसे तू पागल हो गया है। यदि तेरे पास रत्न भी थे तो और किसीके यहां भूल आया होगा, यहां तू कैसे मांगने आया? सत्यघोषने समुद्रदत्तको अनेक भली बुरी बातें कहीं और खूब उसे डाट लगायी, और इतना ही नहीं, उसने अपने नौकरोंके हाथ राजाके पास भेज दिया और यह कहलाकर भेजा कि यह भिखारी हमें बिना कारण कष्ट देता है, आप इसका प्रबंध करदें। अब राजा सिंहसेन इस झूठे सत्यघोषको सच्चा सत्यघोष जान रहे थे इस कारण उन्होंने उस बेचारे समुद्रदत्तकी एक भी बात न सुनी और उसे झूठा घोषित करके निकलवा दिया।

समुद्रदत्त व सत्यघोषके मामलेका निर्णय करानेका रानी द्वारा प्रयास—अब वह बेचारा

समुद्रदत्त उस पापी सत्यघोषके द्वारा ठगा जानेसे सचमुच पागल जैसा हो गया। वह नगरमें बाजारमें जहां भी जाता वहां यह कहता रहता था कि सत्यघोष मेरे ५ रत्न नहीं देता। कोई उसकी बात सच न माने? अब तो नगरके लोग उसे पागल कहने लगे। वह समुद्रदत्त दिन भर नगरमें रोता हुआ घूमता रहता था और रात्रिको राजाके महलके पीछे एक पेड़पर चढ़कर रोज पुकारा करता था कि सत्यघोषके पासमैं ५ रत्न जमा कर गया था, वह नहीं देता। ऐसा चिल्लाते चिल्लाते ६ महीना हो गए। एक दिन महारानी रामदत्ताने राजासे कहा कि आप सत्यघोषकी मायामें न भूल जायें इस बेचारे समुद्रदत्तका ठीक-ठीक न्याय करो। राजाने रानीके कहनेसे समुद्रदत्तको बुलवाया तो उसने सच बात राजासे कह सुनाया। राजाने रानीसे कहा कि मालूम तो ऐसा पड़ता है कि समुद्रदत्त सच कह रहा है, पर इसका भेद खुलनेका कोई उपाय नहीं सूझ रहा। रानीने कुछ देर सोचा और कहा कि हम इसका उपाय करेंगी।

रानी द्वारा सत्यघोषकी बेईमानी व मायाका प्रकट करना—दूसरे दिन रानीने सत्यघोषको महलमें बुलवाया और चौपड़ खेलनेको कहा तो सत्यघोष रानीका कहना न टाल सका और चौपड़ खेलने लगा। रानीने पहले ही बाजीमें सत्यघोषकी अंगूठी जीत ली और भीतर उसे खेल खिलाती रही और चुपचाप दासीको बुलाकर कहा कि सत्यघोषके घर जावो और उसकी स्त्रीसे कहो कि सत्यघोषने तुम्हारे पास अपनी यह निशानी भेजी है और समुद्रदत्तके रत्न मंगवाये हैं। दासी सत्यघोषके घर गई और अंगूठी दिखाकर पांचों रत्न मंगवानेकी बात कही तो पुरोहितनने दासीको उत्तर दिया कि यह अंगूठी उन जैसी मालूम तो पड़ती है पर पूरा विश्वास नहीं कि यह उन्हींकी अंगूठी है। दासी लौटकर रानीके पास आयी इस बीच रानीने सत्यघोषकी चाकू और जनेऊ भी जीत लिया था। जब पुरोहितनका उत्तर रानीने सुना तो रानीने इस बार जनेऊ और चाकू दासीको देकर फिर सत्यघोषके घर भेजा। दासी पहुंची और सत्यघोषकी स्त्रीके हाथमें चाकू और जनेऊ देकर कहा—लो यह उनकी निशानी, क्या अभी भी आपको कुछ संदेह है? फौरन पांचों रत्न दे दीजिए, तुरन्त इसी समय मंगाया है। तो पुरोहितनको पूरा विश्वास हो गया और उसने पांचों रत्न दासीको दे दिया, दासीने वे रत्न लेजाकर रानीको दे दिया। अब रानीने प्रसन्न होकर खेल समाप्त कर दिया और पुरोहित जी अपने घर पहुंचे। रानीने रत्न राजाके सामने रख दिया।

असत्यवादी सत्यघोषको कठिन दण्ड—महाराजने सिपाही भेजकर सत्यघोषको पकड़ बुलवाया। सत्यघोष भी सब जान गया और अपनेको अभागा और दण्ड पाने योग्य समझने लगा। राजाने कुछ अपने रत्न उन पांचों रत्नोंमें मिलाकर समुद्रदत्तको बुलाकर कहा कि इन रत्नोंमें से अपने रत्नोंकी पहिचान कर लो। समुद्रदत्तने अपने पांचों ही रत्न छांट लिए, सत्यघोषकी गुंडागर्दी राजाकी समझमें आ गई और मंत्रियोंकी सलाहसे सत्यघोषको तीन दण्ड सुनाये। एक तो यह दण्ड कि थाली भर गोबर खाये, या फिर हमारे मल्लके ३२ घूँसे सहे या फिर अपना सारा धन राजाको दे दे। अब सत्यघोषने सबसे पहले थालीभर गोबर खाना मंजूर किया, जब खाने लगा तो दो चार ग्रास भी न खा सका। फिर मल्लके ३२ घूँसे सहना स्वीकार किया, पर एक ही घूँसा लगनेपर वह अधमरा हो गया, फिर विवश होकर उसे सब धन देना पड़ा। तो देखिये सत्यघोषने इस तरहसे तीनों ही दण्ड भोगे और

थोड़े ही दिनोंमें खोटे भावोंसे मरकर वह कुगतिमें गया। झूठ बोलनेका परिणाम बहुत बुरा होता है। मनुष्यको चाहिए कि कोई परिस्थिति ऐसी आये कि थोड़ा नुकसान भी होता हो तो भले ही सहले पर उसे बचानेके लिए भी झूठ न बोले।

तापसीके भेषमें चोरकी मायाचारी—श्रावकने तीसरे चोरी पापका भी त्याग किया है। चोरी करने वालेका कभी भी समाधान चित्त नहीं रहता, निरन्तर शंकित रहता है और इस शंकासे उनका रहना बैठना सबकुछ असमंजसरूप होता है। चोरीके पापमें एक साधु भेषधारी चोर प्रसिद्ध हुआ है। पूर्वकालमें कौसम्बी नगरीमें सिंहरथ राज्य करता था, वह न्यायप्रिय था, उसी नगरमें एक चोर रहता था। उसका क्या कार्य था कि साधुके भेषमें रहता था और एक बड़े पेड़की डालसे छींका बांध रखा था और उसमें बैठ जाता था, लोग उसके पास आते थे तो वह यह कहता था कि दूसरेकी वस्तुकी तो बात क्या, मैं तो धरती तकको भी नहीं छूता हूं। सदा छींके पर अधर लटका रहता था। दिनभर वह उसी तरहसे डालपर रहता था पर रात्रिको वह बस्तीमें जाकर चोरी किया करता था। उसके साधुभेषके कारण, मीठे उपदेशके कारण लोगोंको उसपर बड़ा विश्वास जम गया। वह चोरीका धन एक पास हीमें खोद रखे कुवेंमें डाल देता था और नीचे-नीचे दूर तक गुफा बना रखी थी जिसमें उसकी स्त्री भोजन तैयार करके उसे खिलाती थी। जब नगरमें बहुतसी चोरियां हो चुकी और पता न लगे तो राजाने थानेदारको बुलवाया और बड़ी डाट लगायी, थानेदार पता लगाता फिरे पर अन्तमें हार मानकर चिन्तामें बैठ गया।

एक ब्राह्मण द्वारा ढोंगी साधुवोंके ढोंगकी सूचक कथाका कथन—वहां एक भिखारी ब्राह्मण आया और खानेको कुछ भोजन थानेदारसे मांगा। तो वहां थानेदार ने नाराज होकर कहा कि तुम्हें खानेको पड़ी है यहां तो जानकी आफत आ रही है। तो वहां ब्राह्मणने थानेदारसे उदासीका कारण पूछा तो थानेदारने अपना सारा हाल उससे कह सुनाया। तो उस ब्राह्मणने वहां कुछ सोचकर कहा कि चोरी करने वाला तो वही मनुष्यहो सकता है जिसने अपनी सच्चाईकी बड़ी प्रसिद्धि कर रखी हो, जिन्होंने अपनी बड़ाईकी बड़ी प्रसिद्धि कर रखा हो और उसका बड़ा ढोंग फैल रहा हो, ऐसे लोग बड़े ठग निकलते हैं। तब थानेदार बोला कि यहां तो एक साधु पास ही में रहता है जो बड़ा संतोषी है, उसपर मुझे रंच भी संदेह नहीं। उसे तो नगरवासी लोग महात्मा मानते हैं। तो वह ब्राह्मण बोला कि आप उसकी सच्चाईका पता तो लगाइये। देखो हम (ब्राह्मण) अपने ऊपर बीती हुई एक घटना सुनाते हैं, सुनो हमारी स्त्रीने अपनेको बड़ी सती प्रसिद्ध कर रखा था, जब वह बच्चेको दूध पिलाती थी तो बच्चेको अपने पूरे स्तन निकाल कर दूध न पिलाती थी, सारे स्तनको कपड़ेसे ढांके रहती थी सिर्फ स्तनकी काली घुँडी बच्चेके मुखमें डाल देती थी। जब कोई पूछता कि ऐसा क्यों करती? तो वह कहती थी कि यह बच्चा भी पर पुरुष है। उसे यदि मैं अपने स्तन छुवाती हूं तो उसमें मेरे सतीत्वमें दोष आता है। इस प्रकारकी बड़ी सती बनती थी। एक दिन मैंने अपनी आंखों से दूसरेके साथ व्यभिचार करते देखा तभीसे मैं उससे विरक्त होकर तीर्थ यात्राको निकल पड़ा हूं। मैं भिखारी न था, बड़ा सम्पन्न था। बहुतसा सोना मेरे पास था। मैंने उस सोनेको एक पोली लाठीके अन्दर भरवाकर उसका मुख बंद कर रखा था और उस लाठीको मैं हमेशा अपने हाथमें रखता था। एक दिनकी घटना कि यात्रा करते हुएमें

हमको एक जगह एक लड़का मिल गया, अब वह भी हमारे साथ रहने लगा। साथ रहते हुएमें कुछ दिनोंमें हमको उसपर विश्वास हो गया। एक दिन हम और वह लड़का दोनों एक कुम्हारके यहां शामको ठहर गए, सुबह वहांसे आगे बढ़ गए। कुछ दूर जाकर वह लड़का मेरेसे बोला—अरे रे रे बड़ा गजब हो गया, मैं हूं चोरीका त्यागी और यह कुम्हारके घरका तिनका मेरे देहमें चिपक कर चला आया, मैं उसे वापिस करके आऊंगा। आखिर वापिस करने गया तबसे उस बालकपर मुझे बड़ा विश्वास हो गया। फिर एक दिनकी बात कि मेरे पास भोजन न था सो उस लड़केसे एक जगहसे भोजन लानेको कहा तो वह लड़का बोला कि भोजन लेकर लौटते-लौटते रात हो जायगी इसलिए रातको कुत्ते आदिकसे बचनेके लिए यह लाठी मुझेदे दीजिए। सो मैंने विश्वासमें आकर वह लाठी उसे दे दी। पर वह लाठी लेकर अभी तक लौटकर नहीं आया। मैंने उसका बड़ा पता लगाया पर वह कहीं न मिला। तो ऐसे कितने ही ढोंगी लोग होते हैं जो अपनी सच्चाईकी बड़ी प्रसिद्धि करते हैं मगर वे चोर और दगाबाज होते हैं।

ब्राह्मण द्वारा तापसी चोरकी मायाचारी व चोरीका प्रकाशन—अच्छा थानेदार साहब मैं ही आज रातको उस साधुकी परीक्षा करुंगा। अब वह ब्राह्मण रात होते ही उस तापसीके आश्रमपर पहुंचा, तापसीके चेलोंने टोका कि तू कौन है? तो ब्राह्मण बड़े दीनताभरे शब्दोंमें बोला कि मैं एक मुसाफिर हूं, मुझे रातको सूझता नहीं है, यहीं कहीं किसी कोनेमें रातभर पड़े रहेंगे और सवेरा होते ही यहांसे चले जायेंगे। यह समाचार उन चेलोंने तापसीको दिया तो तापसी बोला—कोई बात नहीं, अंधा है, पड़ा रहने दो रातभर किसी कोनेमें, उससे अपना कुछ बिगड़ता नहीं। तो एक जगह कोनेमें उसे पड़े रहनेकी आज्ञा दे दिया। वह पड़ा-पड़ा सब हाल छुप छुपकर देखता रहा कि यहां ये लोग क्या करते हैं। सो आधी रात बीतते ही तापसी अपने चेलों सहित नगर गया, वहांसे बहुत धन चुराकर लाये, पासके कुवेंमें सब धन जमा किया, और पासकी गुफामें रहने वाली उसकी स्त्रीने भोजन बनाकर खिलाया, यह सब दृश्य उस ब्राह्मणने रातको देखा। बस अब क्या था, सवेरा होते ही वह ब्राह्मण उस थानेदारके पास पहुंचा और सारा हाल कह सुनाया। थानेदारने राजाको भी खबर कर दिया, आखिरवह तापसी चेलों सहित पकड़ा गया, सारा माल बरामद हुआ। चेलोंको तो जेल करवा दिया और उस तापसीको फांसीका हुक्म दे दिया जिससे वह मरकर नरक गया। तो चोरी करना बड़ा पाप है। चोरी करने वाले लोग न इस भवमें सुखसे रह पाते और न वे परभव ही सुधार पाते, इस कारण सज्जन पुरुष चोरीके पापका त्याग करते हैं। श्रावकजन कुशीलका भी त्याग करते हैं। जिसके ब्रह्मचर्य नहीं उसका तन, मन, धन, वचन सबकुछ हीन हो जाता है और धर्ममें उसका चित्त नहीं रह पाता।

कुशील पापसे कुशील यमदण्डकी दुर्दशा—कुशील पापमें एक कोतवाल प्रसिद्ध हुआ है। नासिक नगरमें एक कनकरथ राजा रहता था, उसी नगरमें एक कोतवाल था जिसका नाम था यमदण्ड। यमदण्डकी माताका नाम वसुन्धरा था। वह वसुन्धरा छोटी उमरमें ही विधवा हो गई थी और वह व्यभिचारिणी भी अधिक हो गई। एक दिन यमदण्ड तो रात्रिमें चौकसी करने चला गया, उधर वसुन्धरा (कोतवालकी मां) अपने ही लड़के यमदण्डकी स्त्रीसे उसके सब गहने लेकर अपने यारको देनेके लिए

चली गई। जिस समय यारके बताये हुए ठिकानेपर वह जा रही थी उस समय यमदंडने रातको ही देख लिया। कि यह कोई स्त्री है जो कहीं जा रही है सो उसने उसका पीछा किया। दोनों ही एक दूसरेको न पहिचान सके। जब उस ठिकाने पर वह स्त्री पहुंची तो वहीं यमदण्ड भी पहुंच गया, उस वसुन्धराने उसे समझा कि यह मेरा वही यार है और उस यमदण्ड कोतवालने समझा कि यह तो कोई व्यभिचारिणी स्त्री है। आखिर वसुन्धराके साथ उस कोतवालने व्यभिचार भी किया और वसुन्धराने उसको सब गहने भी दे दिया पर दोनों एक दूसरेको पहचान न सके। घर आनेपर कोतवालने वे गहने अपनी स्त्रीको दे दिया, तो स्त्रीने पूछा कि मेरे ये गहनेतो सासजी याने तुम्हारी माताजी हमसे मांगकर ले गई थीं ये तुम्हारे हाथ कैसे लगे? तो यमदण्ड कोतवाल निरुत्तर रह गया और सब बात समझ गया। आखिर उसको वसुन्धराके साथ कामसेवन करनेका चस्का लग गया। लुके छिपे वह रोज-रोज कामसेवन करता रहा। देखिये विषयवासनामें पड़कर यह मनुष्य अंधा हो जाता है उसके लिए क्या माता, क्या बहिन, क्या पुत्री, उसे कुछ सुध बुध नहीं रहती। अब उस कोतवालकी स्त्रीको शंका तो उसी समय हो गई, बादमें भी स्त्रियोंमें कुछ उसकी चर्चा चली, यहां तक कि महाराजा कनकरथके पास भी यह खबर पहुंची कि यमदण्ड कोतवाल अपनी माताके साथ व्यभिचार करता है। तो पहले तो उसे विश्वास न हुआ इस बात पर फिर भी उसका पक्का पता लगानेके लिए उसने सिपाहियोंको भेजा। सिपाही रात्रिमें इसकी खोजको निकले और यमदण्ड वाला सब समाचार राजाको स्पष्ट दिखा दिया। राजाने उस पापी यमदण्डको कठोर दण्ड दिया जिससे वह थोड़े ही दिनोंमें मरकर नरक गया। तो सारांश यह है कि चाहे कोई पुरुष हो अथवा स्त्री हो, जिस किसीको भी व्यभिचारका चस्का लग जाता है वह माता, बहिन, पुत्री आदि कुछ नहीं गिनता, सबके साथ पाप करने लगता है। जिस पापके कारण इस भवमें घोर दुःख उठाना पड़ता है और परभवमें कुगतिमें जाना होता है। इस कारण शान्ति सुख चाहने वाले पुरुषोंको ब्रह्मचर्यमें दृढ़ रहना चाहिए और जो गृहस्थ श्रावकजन हैं उनको अपनी स्त्री और पतिमें ही संतोष रखना चाहिए। जो गृहस्थीमें रहकर भी ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हैं उनका मन प्रसन्न रहता है और आत्मतत्त्वको निरखकर अनेक बार अद्भुत आनन्दका अनुभव करनेका अवसर मिलता रहता है।

परिग्रहपापमें तृष्णावृद्धिमें प्रसिद्ध लुब्धदत्तका प्रारम्भिक परिचय—आत्माकी रक्षा अपने आपके सहजस्वरूपके मननमें है। मैं वास्तवमें क्या हूं। दूसरेकी मददके बिना शरीर और कर्मके सम्बन्धके बिना अपने आपकी सत्तासे मैं एक ज्ञाताद्रष्टा पदार्थ हूं। सो इस ज्ञानानन्द स्वभावमें अपनी आस्था रखना यह ही आत्मरक्षाका उपाय है। जितने भी धर्मपालन हैं वे सब इसही आत्मस्वरूपकी स्मृतिके लिए हैं। इस वास्तविक धर्मसाधनमें बाधक हैं तो बाह्य विषय साधनोंका संग, परिग्रहका लगाव। तब इस जीवको सिद्ध भगवान होनेमें ही कल्याण है, और वहां ही यह रहेगा अकेला केवल पुज्ज, ऐसी स्थिति पानेके लिए यहां भी केवल सहज आत्मस्वरूपकी दृष्टि करनी होगी और इसके लिए जो बाधक हैं बाह्य परिग्रह उनका परित्याग करना होगा। गृहस्थावस्थामें परिग्रहका परिमाण करना होगा। जिसके परिमाण नहीं है, परिग्रहकी तृष्णा है उसका जीवन सारा कष्टमें व्यतीत होता है। परिग्रह पापमें एक लुब्धदत्त प्रसिद्ध हुआ है, बहुत पुरानी घटना है—अयोध्या नगरीमें एक भवदत्त नामका सेठ

था, उसके लड़केका नाम था लुब्धदत्त। वह लोभी विशेष था। धन कमानेके लिए वह परदेश गया। धन तो कमाया बहुत मगर रास्तेमें जहाजमें आ रहा था कि वहां लुटेरोंने सारा धन छीन लिया और इसके पास कुछ भी न रहा। आया अपने गांव। जब कुछ भी न रहा, पूर्ण निर्धन हो गया तो जैसा चाहे काम करे। एक बार किसीके घर उसने छांछ पिया तो छांछ पीनेके बाद जो उसने मूंछपर हाथ फेरा तो कुछ मक्खनके कण हाथमें आ गए। उसने सोचा कि यह रोजगार अच्छा है। रोज-रोज २५—३० जनोंके यहां छांछ पीने जायेंगे और मूंछपर हाथ फेरकर जो घी जुड़ेगा उस घीको जोड़कर रखूँगा। जब कुछ पूँजी न रही तब बैठे-बैठे क्या करे? लोभ प्राकृतिक था। सो इस तरहसे वह मक्खनको जोड़ने लगा। धीरे-धीरे उसका नाम भी स्मश्रुनवनीत याने मूंछ मक्खन पड़ गया। दो चार सालमें ही उसके पास काफी मक्खन जुड़ गया। एक बड़े मिट्टीके घड़ेमें वह मक्खन अपने घरमें झौंपड़ीमें छींके पर टांगे रखता था। उसके नीचे आग जलती रहती थी ठंडसे बचनेके लिए।

लुब्धदत्तकी तृष्णाकी बाढ़—एक दिन चारपाई पर लेटा हुआ था पड़े-पड़े उसे ख्याल आया कि मेरे पास तो अब काफी घी जुड़ गया है। इसको मैं कल बाजारमें बेचूँगा और जो नफा आयगा उससे बकरी खरीदूँगा। फिर बकरी बेचकर गाय खरीदूँगा, फिर उसे बेचकर भैंस खरीदूँगा। फिर बैल खरीदूँगा, खेती खरीदूँगा, फिर महल बनवाऊंगा, फिर विवाह भी कर लूँगा, बच्चे होंगे। कोई बच्चा जब मुझे भोजनके लिए बुलाने आयगा कि चलो मांने भोजनके लिए बुलाया है तो मैं कहूंगा कि मैं अभी नहीं जाता, फिर दुबारा कहेगा तो कहूंगा कि अभी नहीं जाता। और यदि तिबारा कहेगा यों लात मारकर कहूंगा कि अभी नहीं जाता लो उसकी वह लात सचमुच ही मानो मारनेके लिए उठ गई और वह घीके उबलेमें लग गई। उबला छींकेसे नीचे गिर गया, नीचे जलती हुई आग पर पड़ गया। आगपर घीका उबला गिरनेसे सारा घी जल गया, आग तेज बढ़ी, झौंपड़ी जलने लगी। अब तो वह स्मश्रुनवनीत (मूछमक्खन) बहुत घबड़ाया और चिल्लाकर झौंपड़ीसे बाहर भग गया यह चिल्लाता हुआ कि अरे दौड़ो भाइयों मेरा मकान जल गया, मेरी गाय, बैल, भैंस, स्त्री, बच्चे तथा अन्य सब सम्पत्ति जल गई ··· उसकी इस प्रकार की आवाज सुनकर लोग जुड़े। सब आश्चर्यमें पड़ गए कि यह क्या बक रहा है। अभी तो भीख मांगता था, आज इस तरहसे बोल रहा। तो लोगोंने उससे कहा—अरे कहां तेरा कुछ जल गया? तेरे पास तो कुछ भी नहीं है। तो उसने अपनी सारी कथा सुनाया। तो वहां लोगोंने यही कहा कि तेरा कुछ जला तो नहीं। था ही कहां तेरे पास कुछ, वह तो तेरी एक कल्पनाकी बात थी। तो वहां मानों कोई विवेकी पुरुष बोला कि आप लोग भी तो यही कर रहे। आपका है कहीं कुछ नहीं, केवल कल्पनासे आप उन्हें अपना समझ रहे और उनके नष्ट होनेपर दुःखी हो रहे।

तत्त्वज्ञानसे ही उद्धारकी संभवता—अरे जरा स्वरूप दृष्टिसे तो निहारो, सत्त्व सबका पृथक-पृथक है। एकका दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता है। ममत्व करना, लगाव रखना यह ही तो कष्ट दे रहा है। सो परिग्रह नाम बाह्य पदार्थका ही नहीं है, वे तो एक सब आश्रयभूत हैं। पर परिग्रह नाम है मूर्छाका। ममत्व परिणाम करना। सो यह मूर्छा केवल धन की ही नहीं है धनकी भी मूर्छा, यशकी भी मूर्छा, नामबरीकी भी मूर्छा और धर्मके नामपर जो मैं चाहता हूं वही होता, इनका चाहा कुछ नहीं होता, इस

प्रकारकी बात चले तो उसके भी मूर्छा है। इस जीवको दुःख देने वाला है तो यह मूर्छाका परिणाम है। जिसके मूर्छा नहीं है उसके बाहरी पदार्थ रहते हुए भी परिग्रह नहीं है वैसे तो अन्तरङ्ग बहिरङ्ग परिग्रह जब तक रागांश हैं कहां जायेंगे मगर ममत्वके हटते ही श्रद्धामें वह निष्परिग्रह हो गया। जगतमें मेरा कहीं कुछ नहीं है, मेरा सर्वस्व मेरा स्वरूप है। रहता तो स्वरूपके साथ है, मरण करके जायगा तो साथ कौन जाएगा? कौन साथ रहेगा? मेरा स्वरूप, मेरा भाव, मेरी करनी, सो यदि मेरा भाव और करनी बिगड़ गई, ममता रूप हुई, दूसरोंको सताने रूप हुई तो उससे जो पापकर्मका बन्ध होगा उसका फल कोई दूसरा न भोगेगा। खुदको ही भोगना पड़ता है। तो जिसको संतोषसे रहना है धर्म साधना करके जीवन सफल करना है उनका कर्त्तव्य है कि वे अपने परिग्रहका परिमाण करलें। मैं १० लाखका करुंगा १५ लाखका करुंगा, जो वर्तमान स्थिति है उससे दुगुना कर लिया पर परिमाण कर लेनेसे उस म्यादके बाहर तृष्णा न जगे, और जितना परिमाण किया उतना पूरा हो जाय और व्यापार करनेमें यदि अधिक लाभ हो जाय तो परिमाणसे अधिक हुए धन को परोपकारमें लगायें, धर्ममें लगायें तो उसका यश भी है और धर्मपालन भी है। तो वास्तविक कर्त्तव्य है कि परिग्रहका परिमाणतो नियमसे रखें और उसमें ही संतुष्ट रहें।

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकं।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥ ६६॥

श्रावकके अष्टमूलगुण—श्रावकके ५ अणुव्रतोंका वर्णन करके कहना तो चाहिए गुणव्रत और शिक्षाव्रत। क्योंकि बारह व्रतोंका यह प्रकरण है। फिर भी पञ्चाणुव्रतके वर्णनके बाद श्रावकोंके अष्टमूल गुणका वर्णन इस श्लोकमें किया है। इसमें सिर्फ इतना प्रसंगका सम्बंध है कि श्रावकोंके ८ मूल गुणोमें तीन तो हैं मद्य, मांस, मधुका त्याग और ५ हैं अणुव्रतका पालन, इस प्रकार ८ बताये गए हैं। तो चूँकि मूल गुणोंमें भी अणुव्रतका सम्बंध रखा है इस कारण बीचमें ही ८ मूल गुणोंका वर्णन किया है। साथ ही यह भी जान जायें कि अष्टमूल गुणोंके पालन बिना पंच अणुव्रतका पालन न बन सकेगा। इस कारण भी ८ मूल गुणोंका वर्णन किया जा रहा है। श्रावकोंके मूल गुण अर्थात् जिनके बिना श्रावक कहलानेका हकदार नहीं वे मूल गुण ८ हैं। जैन कुलमें उत्पन्न हुए और अपनेको जैन कहलाने वाले लोग इस तरफ ध्यान दें कि यह तो बहुत साधारण कुल परम्पराका आचरण है। जिसके खिलाफ यदि बच्चे युवक कोई अपनी प्रवृत्ति कर रहे हों तो यह उनके लिए कलंक है।

मद्यमांस मधुके दोषोंका संक्षिप्त परिचय—मद्य पीना, मांस वाले होटलमें जाकर आहार करना अथवा मधु सेवन करना, ऐसे प्रवृत्ति अगर आ जाती है तो यह उस घरके लिए कलंक है, क्योंकि इन मूल गुणोंके बिना वह घर श्रावकका घर नहीं कहला सकता। मद्य ऐसी गंदी वस्तु है कि जिसका सेवन करनेसे परिणाम मोहित हो जाते, बेहोश हो जाते, हित अहितकी सावधानी नहीं रहती और हिंसा उसमें भी चल रही है यह अच्छे कुल वाले के लिए रंच भी शोभा नहीं देता। मांस दो इन्द्रिय आदिक जीवोंके घात करनेसे उत्पन्न होता है। कितना गंदा पदार्थ है। एक तो प्राणीका घात हुआ, दूसरे उसका कलेवर

शरीर वह खाया जा रहा है। यह बड़े अज्ञानका माहात्म्य है कि जिसके मांस भक्षणके बारेमें कुछ भी आकांक्षा जगे। मधु तो मुधमक्खियोंकी कय है, साथ ही उनकी विष्टा भी रहती है। और उसमें निरन्तर जीवोंकी उत्पत्ति भी चलती है। कोई कहे कि इस तरहसे छत्तें बनाये किसी कोठरीमें या बक्समें और वे मक्खियां उड़ जायें तब उन्हें निचोड़कर मधु निकाल लें तो उसमें दोष नहीं, ऐसा कोई कहे तो वह अयुक्त बात है। उनका जो उगाल है वह स्वयं मांस सहित है। जीवोंकी उत्पत्ति होती है। और फिर वह मक्खीका उगाल है। जैसे मनुष्योंका उगाल होना कफ कहलाता ऐसे ही वह मक्खियोंका उगाल है। भले ही वह मीठा हो तो मनुष्योंका कय भी तो कुत्तोंके लिए मीठा लगता। उस मीठा लगनेसे क्या होता? तो मधुभक्षणमें भी दोष है।

अष्ट मूलगुणके पांच अणुव्रतोंका संक्षिप्त परिचय—मूलगुणमें ५ अणुव्रत निरतिचार नहीं हैं, यहां पर सामान्यतया हैं। ८ मूल गुणोंमें त्रस जीवकी हिंसाका त्याग यह अहिंसा है श्रावकके मूलगुणमें। किसीको क्लेश उपजाने वाले वचन, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रका घात करने वाले वचन जिनमें दूसरेका या अपना श्रद्धान ज्ञान आचरण बिगड़े ऐसे वचन न बोलना। यह है गृहस्थके मूल गुणोंका सत्य व्रत। बिना दिए हुए किसीकी धरी गड़ी भूली चीजको न ग्रहण करना यह है मूल गुणका अचौर्य, परस्त्रीमें रागका त्याग होना यह है मूल गुणका ब्रह्मचर्य और न्यायसे उत्पन्न परिग्रहमें ही परिमाण करके अधिक परिमाणका त्याग। श्रावकके मूल गुणके अणुव्रतमें और व्रतियोंके अणुव्रतमें निर्दोष पालन और निर्दोष पालन न होना यह ही अन्तर है। तो ये हैं मूल गुण श्रावकके जो बिल्कुल मौलिक बात है, इसके विरुद्ध प्रवृत्ति घरमें न हो सके ऐसा विशेष ध्यान देना चाहिए। कोईसा भी ऐब छोटा हो तो वह बड़े ऐबोंकी जड़ बन जाता है। जैसे एक बीड़ी सिगरेटका ही पीना यह छोटा ऐब माना जाता पर जब अधिकता हो जायगी तब और नशेके लिए इच्छा होती है अन्य वस्तुकी और फिर वह आधारके बिना विरुद्ध सी जंचती। भले ही आजके अफसर या नेता लोग, या धनिक लोग ऐसे हो गए जो कि उन बीड़ी सिगरेट वगैरहके पान करनेमें अपना बड़प्पन सा समझते हैं और कलाके साथ पीते हैं पर ये अवगुण हैं और इन छोटे अवगुणोंके आधारपर धीरे-धीरे बड़े अवगुण भी आ जाते हैं, इसलिए छोटे अवगुण भी न हों। बहुत पूर्व समयमें जैन लोग बीड़ी सिगरेट वगैरह नशीली चीजोंका प्रयोग नहीं करते थे, इस बातको आजके बड़ी अवस्था वाले लोग जानते भी होंगे।

जघन्यविधिके अष्ट मूलगुण—ग्रन्थोंमें कहीं अष्ट मूलगुण इस प्रकार भी आते हैं कि मद्य मांस मधुका त्याग और ५ उदम्बर फलोंका त्याग। ५ उदम्बर फल मांसमें ही गर्भित हो जाते हैं क्योंकि ये जितने भी उदम्बर फल हैं इनमें कीड़ा पंखी बहुत अधिक रहते हैं, इनके भक्षणमें मांसका दोष है फिर भी साक्षात् ऊपरसे मांस नही लगता और कुछ वनस्पति मालूम होती है, इस कारणसे छोटे लोगोंके लिए ५ उदम्बरको अलगसे ग्रहण किया है। जो चाण्डाल हैं। जो कषायकी ही वृत्तिमें रहा करते हैं। ऐसे छोटे लोगोंके लिए ये ८ मूल गुण बताये गए हैं। अब यदि कोई जैन भी छोटा मूलगुण पालन न कर सके तो यह तो एक जैन नाम धराकर लज्जाकी बात होनी चाहिए। मद्य पीने लगा तो यह जीव धर्मको बिल्कुल ही भूल जाता है और निशंक होकर हिंसाका आचरण कर लेता है। पागल बना,

विषयोंमें आसक्ति उत्पन्न करे। काम वासनाको विशेष जागृत करे, ऐसे मद्य मांस चरस आदिक सभी ये मद्य पानमें गर्भित हैं। कैसा एक विषयका संस्कार है कि यदि कोई विषय भोगनेके अयोग्य हो गया तो भी लालसा बनी है तो अनेक औषधियां खाकर या भंग आदिक पीकर यह लालसा रखता है कि मैं विषय सेवनके लायक रहूं और विषय भोगूं, इसी आधार पर यह भंग नशा आदिकका प्रसार बढ़ा हुआ है। जिन जीवोंका भविष्य खोटा है उनके कुबुद्धियां ही उत्पन्न होंगी।

सदाचार संस्कारकी प्रथमतः आवश्यकता—जैन शासनकी चरणानुयोग प्रक्रियाके अनुसार छोटे बालकोंको सप्त व्यसनका त्याग, अष्टमूलगुणका पालन करानेकी पद्धति थी, वह बहुत उद्धार वाली पद्धति थी। देव दर्शन करना, थोड़ा सत्संगमें बैठना यह बालकोंके लिए बहुत जरुरी है, लोग सोचते हैं कि अभी बच्चे हैं। इनके खेलनेके दिन हैं, उनकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते किन्तु बचपनसे ही यदि सत्संग देवदर्शन आदिककी आदत रहे तो उसके खोटे कामोंमें बुद्धि न जायेगी। जब वे धर्मसे अलग रहते हैं और उनका संग खोटा रहता है तो उनकी बुद्धि बिगड़ती है और बिगड़नेके बाद बिगड़ बिगड़कर बहुत कठिन हो जाती है। तो यह प्रयत्न करना चाहिए कि छोटे बच्चे भी देवदर्शन करें। सप्त व्यसन छोड़ें, अष्ट मूलगुणोंका पालन करें। जैसी कि प्रक्रिया बतायी गई, हेयका त्याग करें, उपादेयका ग्रहण करें तो उनका संस्कार भला रहेगा और वह बड़ी अवस्था तक भी सही रहेगा। बड़े पुरुष तो मदिरा की धार देख लें तो भोजनका भी त्याग कर देते हैं। अगर मदिराका स्पर्श हो जाय तो पूरा नहाते हैं, वस्त्र भी धोते हैं। मद्यपायी उन्मत्त पुरुष स्त्रीको कभी माता या पुत्री भी बोल देता या कभी माता या पुत्रीको स्त्री बोल देता, तथा और और भी जितने दोष हैं—हिंसा, क्रोध, मान, माया, लोभ सभी उस मद्य पायी जीवके हो जाया करते हैं इसलिए मद्यका दूरसे ही त्याग करना, छूना ही नहीं और मद्य पायीका संग न करना, मद्यका व्यवसाय भी न करना।

मांसकी अपवित्रता, त्रसघातजातता—मांस चाहे वह कच्चा हो चाहे पका हो उसमें निरन्तर जीव उत्पन्न होते रहते हैं। औरकी तो बात क्या, पक रहे की हालतमें भी जीव उत्पन्न होते रहते हैं इसलिए कोई लोग इस मांस शब्दको मुखसे नहीं बोलते थे। बूढ़े पुराने लोग जान रहे होंगे, अगर कोई मांस खाता था तो उसके सम्बंधमें चर्चा यों करते थे कि वह तो गंदी चीज खाता है, वह तो मिट्टी खाता है। वे मांस शब्दको मुखसे बोलनेमें भी लज्जा मानते थे। अब चूँकि मांसका बहुत प्रसार चल रहा आज इस देशमें, कुछ ही परसेन्ट लोग ऐसे मिलेंगे जो मांसभक्षी नहीं होंगे। तो जब इतना प्रसार चल गया और जब बारबार उनको समझानेका या उनके बात करनेका अवसर हुआ तो अब तो वक्ता लोग भी उपदेशमें मांस शब्दका उच्चारण करने लगे उपदेशोंमें भी, पर पहले तो यह शब्द बोला ही न जाता था, बोलनेमें बुरा लगता था। लोगोंको अचरज होता था कि ये लोग कैसे मांसको खा लेते हैं। ऐसा यह मांस बहुत निन्दनीय वस्तु है। मांसभक्षीके दया नहीं उत्पन्न हो सकती। क्रूर हो जाता है, और शूरता भी नष्ट हो जाती है। जो सेना मांसभक्षी अधिक है उसमें वास्तविक शूरता नहीं रहती, यह आजके लोग मानने लगे और शाकाहारी सेना शूरवीर होती है। आज भारतकी सेनाका जो लोगोंके चित्तमें प्रभाव है उसका भी आधार यह ही है कि भले ही वे कोई मांस खाते हों, पर बहुतसे लोग ऐसे भी हैं

जो नहीं खाते। कुछ लोग सेनामें ऐसे भी हैं जो मांसका अधिक प्रयोग नहीं करते तो उनमें शूरता उन सेनाओंकी अपेक्षा अधिक है।

मांसभक्षणकी अभिलाषा होते ही दयाकी निवृत्ति—जो मांसभक्षी हैं उनके हृदयमें जीवोंके प्रति दया नहीं होती। जिनके दया नहीं वे चाहे कितना ही धर्मके नामपर अनेक बातें करें, पर उनको सुगति नहीं मिल सकती। कितने ही लोग मांसके इतने प्रेमी हो गये कि यदि वे बड़े वर्णके थे, मांस खानेमें लाज आती थी, मांस खानेकी इच्छा हो गई तो क्या जाल रचा कि उन बड़े लोगोंने कि एक धर्मका रूप दे दिया। यज्ञ हो रहा है, अश्वमेध यज्ञ चल रहा है, नरमेध यज्ञ चल रहा है, जिसका मांस खानेका भाव हो उसीके नामपर यज्ञका नाम रख दिया। लोग हाथ जोड़कर घोड़ा लाने लगे, घोड़ोंका यज्ञ कराया, मनुष्योंका भी यज्ञ करा दिया। ताजा मांस मिल गया, अच्छी तरह प्रसाद मानकर खाया, यह आधार है पशुवोंके होमनेकी एक रचना निकलनेका और आज भी अनेक लोग देवी देवताके नामपर बलि करते हैं। यह पाप है, महापाप है, देवता मांस नहीं खाते। देवतावोंके कंठसे अमृत झरता, उनका वैक्रियक शरीर है, मगर खुद मांसके लोलुपी हैं और व्यवहारमें प्रतिष्ठा भी बनाये रखना है तो एक रूपक दे दिया कि देवताओंको बलि चढ़ावो और वह ऐसा धीरे-धीरे घर कर गया कि कोई कष्ट आये किसीके तो वह देवताको बलि बोल देता है, सोचो कितना अधर्मकी बात है। ऐसे लोगोंके चित्तमें आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपका कहां ध्यान बनेगा।

मधुकी अभक्ष्यता—मधु, मक्खियोंका कय है, भील चाण्डालोंका जूठा है, वे खाते रहते हैं और उसीमें से बेचनेको ले आते हैं। त्रस जीवोंकी जहां उत्पत्ति है उस मधुके बारेमें जिन लोगोंका बहुत बड़प्पन था, जिनके मधुका त्याग था। कैसे खायें, तो प्रारम्भमें उस मधुके खानेके लिए एक विधि निकल गई। उसे पंचामृतमें से लेने लग गए और अपने माने हुए देवतावोंका प्रसाद रूपमें लेने लगे। अरे मधु (शहद) का एक कण भी औषधिका नाम लेकर भी ग्रहण करे रोगको दूर करनेके लिए भक्षण करे तो वह भी दुर्गतिका ही कारण है। उसकी खोटी अवस्था बनेगी। प्रथम तो लोगोंको अपने बुखार आदिक रोग होने पर यह विश्वास रखना चाहिए कि यह शरीर मलीन है। इसमें अपथ्य सेवन करनेसे ये रोग हुए हैं, तो अपथ्यका त्याग कर दें, भोजनका त्याग कर दें, रोगका अपने आप शमन हो जायगा। कोई रोग ऐसा हो कि गर्मी बढ़ जाय तो गर्म जल लेते रहें रोगमें, रोगका अपने आप शमन हो जायगा। बड़े डॉक्टरोंकी दवाइयां करके भी आखिर १०-१५ दिन तो ठीक होनेमें लग ही जाते हैं, और एक दवा भी न करे और अपथ्यका परिहार करे तो भी १०-१५ दिनमें वह ठीक हो जायगा। दवा न लेगा तो मौलिक ढंगसे ठीक हो जायगा। दवा करनेसे तो वह रोग दब जायगा या उल्टा भी पड़ सकता है। पशु पक्षी बीमार होते हैं, पड़े रहते हैं तो कुछ दिनमें ठीक हो जाते हैं तो पहली बात तो यह है फिर दूसरी बात यदि औषधिसेवन करना पड़े तो थोड़े दिन विशेष भले ही लग जायें मगर शुद्ध निर्दोष आयुर्वेदमें बतायी गई जड़ी बूटी आदिकी औषधियोंका उपचार करना चाहिए। जो इन जड़ी बूटियोंका प्रभाव है वह मांस आदिकका प्रभाव नहीं है। जड़ी बूटी आदि औषधिके सेवनसे मौलिक ढंगसे रोग

ठीक हो जायगा। इतना विरक्ति होनी ही चाहिए कि अपने शरीरको निरोग जल्दी करनेके लिए मधुमांसका भक्षण न करें।

आत्मकरुणा करके दुराचारसे निवृत्त होकर परमब्रह्मस्वभावमें लगनेका अनुरोध—भैया, अपने आपके बारेमें अनादि अनन्त सत्ताका विचार करना चाहिए। मैं क्या उतना ही हूं जितना कि मैं मनुष्य रहूंगा? मैं वास्तविक सत् चेतनात्मक पदार्थ हूं। इस शरीरके छूटनेके बाद भी जिसमें मैं हूं मैं हूं का बोध चल रहा है वह जीव परमपदार्थ रहेगा। उसका विनाश नहीं होता, फिर अगला भव कैसे बनेगा? कोई बनानेसे बनेगा क्या? इस भवमें जैसे परिणाम किया उसके अनुसार जैसा कर्मबन्ध हुआ उसके उदयके अनुसार परिणाम बनेगा। आज मनुष्य हैं, मरने के बाद एकदम कीड़ा बन सकते हैं। भला अन्य जीवोंको तो देखिये—बताओ इन पशु पक्षी कीड़ा मकोड़ोंका क्या जीवन है? इनको कोई तत्त्वज्ञानका साधन ही नही। अपने मनकी बात दूसरेको बता सकते नहीं, ऐसा भव धरना क्या तुम्हें पसंद है? अगर खोटे भव धारण करना, खोटी गतिमें जन्म लेना यदि यह पंसद है तो उसका उपाय तो बहुत सुगम बन रहा। हिंसा, झूठ चोरी, कुशील, परिग्रह, मधु, मद्य, मांसका भक्षण बस यह ही उसका उपाय है कि दुर्गतियोंमें जन्म लेता जाय। तो अपने दयाकी दृष्टिसे कुछ अपना चिन्तन करना चाहिए। धर्म पर्व इसीलिए आते हैं कि उन दिनोंमें आत्महितका विशेष चिन्तन करना चाहिए। दूसरोंके लिए ही जो नाना तरहके पाप किए जाते हैं वे भी निश्चयतः यह खुद अपने लिए करता है। अपने गिरनेके लिए गड्ढा खोदता है। तो कितने दिनोंका यह जीवन है? समागममें आये हुए लोग कितने दिनों तक साथ देने वाले हैं? आखिर यह जीव अकेला ही है। जीवनमें भी कोई साथ नहीं दे सकता।

अपनेको बाह्य जीवादिकी ओरसे अशरण निहारनेमें धर्म रुचिकी उद्भूति—एक राजा जंगलमें जा रहा था तो वहां उसे एक जवान, सुन्दर, हृष्टपुष्ट मुनिराज दिखे। राजा मुनिराजके पास बैठ गया। राजाको उनके प्रति करुणा हुई—कैसा सुन्दर, कैसा हृष्टपुष्ट, कैसा कांतिमान यह युवक बैठा है। बिल्कुल नंगा है, अकेला बैठा है, इसका कोई रक्षक नहीं, यह सब सोचता हुआ राजा पूछता है—कहो भाई आप कौन हैं? तो वह मुनि बोले—मैं अनाथ मुनि हूं। तो राजा बोला—अच्छा अब आजसे अपनेको अनाथ न बोलना, मैं आपना नाथ बनता हूं। अब आपको कोई कष्ट न रहेगा, खूब आरामसे, आनन्दसे जीवन गुजारो, और यहांसे उठकर हमारे महलोमें चलो। तो मुनिराज बोले—आप कौन हैं? तो फिर राजा बोला—आप कुछ चिन्ता न करें, आप ऐसा न समझें कि कोई मामूली आदमी होगा जो हमको बहका रहा, अरे हम इस नगरीके राजा हैं। हमारे पास बड़ा ठाठ है, बड़े सुख साधन हैं, आपकी सब प्रकारकी व्यवस्था हम कर देंगे, आरामसे जिन्दगी बिताना। चिन्ता करनेकी कोई बात नहीं। तो मुनि बोले कि ऐसा ही तो मैं भी था। फिर आप अपनेको अनाथ क्यों कहते? ··· राजन एक बार मेरे सिरमें भयंकर दर्द उत्पन्न हुआ, पर मेरे उस दर्दको क्या तो परिजन, क्या तो मित्रजन, क्या तो नाते रिस्तेदार, बड़ा बड़ा प्यार दिखाने वाले लोग कोई मेरे उस दुःखको बांट न सके। वहां मेरी समझमें आया कि सचमुच मैं अनाथ हूं, मेरा कोई नाथ नहीं, कोई रक्षक नहीं। बस वहींसे मुझे वैराग्य जग गया कि मेरा कुछ नहीं है। इतनी सी बात सुनकर राजाका ज्ञान जग गया, श्रद्धासे उसके सामने सिर

झुक गया और चरणोंमें लोटकर बोला—महाराज आज तो मेरा जीवन आपके दर्शन पाकर सफल हो गया। वास्तवमें मैं भी आप जैसा ही अनाथ हूं। आपका मेरे लिए बड़ा उपकार हुआ। मैं आपके इस उपकारका बदला चुकानेमें असमर्थ हूं, यह कहकर राजा वापिस हो गया। तो जरा अपने आपके प्रति भी तो कुछ विचार करें कि हम भी इस जगतमें अनाथ हैं कि नहीं। यहां कौन मदद कर देगा, कौन मेरा नाथ बन सकेगा, जो कुछ भी मुझपर बीतती है वह खुदको ही भोगना पड़ता है कोई दूसरा किसीका सुख दुःख बांट नहीं सकता।

परमार्थ अहिंसाकी आस्थामें शान्तिमार्गकी प्राप्ति—दूसरे प्राणियोंका जो घात करते हैं उनके महापापका उदय है। जो गर्दनोंपर हथियार भरा हाथ डालने लगता है वह बड़ी विपत्तिमें हैं, और अपने जीवनमें भी सोचिये कि यदि आपके किसी विचारसे, आपके किसी वचनके बोलनेसे, आपके किसी कायकी चेष्टासे यदि दूसरेके दिलको आघात पहुँचे अथवा दूसरेका अनर्थ हो जाय तो इसमें आपको क्या मिल गया? अपना शुद्ध ध्येय बनावे जीवनमें। चाहे कोई भी स्थिति हो, यदि कुछ धनका समागम मिलातो वहां भी भावोंकी सम्हाल बनाये रहें, नहीं तो धोखा हो जायगा। आज अगर कुछ निर्धनताकी स्थिति मिली तो अपने भाव सम्हालें, नहीं तो और परिस्थिति बिगड़ेगी। भावोंमें निर्मलता हो यह ही अपना वास्तविक धन है और कोई मेरी रक्षा कर सकने वाला नहीं है, ऐसा अपने अन्दरमें निर्णय बनाइये, समझिये, निश्चय कीजिए। जीवघात वाले पदार्थोंका त्याग करें, अहिंसामें कल्याण समझें। अपनेको भी संक्लेश न हो, दूसरेको भी संक्लेश न हो एतदर्थ पापोंसे बचना और अपनेमें अन्तः प्रकाशमान कारण समयसार स्वरूप परमब्रह्मकी उपासना करना। ऐसा जीवन चले तो यह जीवन कृतार्थ होगा।

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च, भोगोपभोग-परिमाणं।
अनुवृंहणाद् गुणाना—माख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः॥ ६७॥

गुणव्रतके भेद—इस ग्रन्थमें पहले तो सम्यग्दर्शनका वृतान्त चला था क्योंकि सम्यग्दृष्टि हुए बिना व्रत पालन वास्तविक व्रतपालन नहीं कहलाता। सम्यग्दर्शन एक स्वरूपफल आदिकके वर्णनके बाद सम्यग्ज्ञानका वर्णन चला। यद्यपि ज्ञान सभी सम्यक्त्वसे पहले भी रहते हैं, पर अनुभवरहित होनेके कारण उसे सम्यग्ज्ञान न कहा करते थे। सम्यक्व हुए बाद वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इसके पश्चात् सम्यक्चारित्रका वर्णन किया गया, जिसके दो भेद हैं—(१) देशचारित्र और (२) सकल चारित्र। देशचारित्रमें ५ अणुव्रतका वर्णन चल रहा था और अभी बीचमें इससे पूर्व ही श्रावकके अष्टमूल गुणोंका वर्णन हुआ, अब बारह व्रत रूप देश चारित्रमें से ५ अणुव्रतके वर्णनके बाद गुणव्रतका वर्णन किया जा रहा है। आदि पुरुष गणधरदेव गुणव्रत तीन प्रकारके बतलाते हैं—(१) दिग्व्रत (२) अनर्थ दंडव्रत और (३) भोगोपभोग परिमाण। यहां देशव्रत न कहकर भोगोपभोग परिमाण व्रत कहा है। अनेक ग्रंथोंमें दिग्व्रत, देशव्रत अनर्थदण्डव्रत ऐसे तीन भेद किए गए। दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण—ये तीन प्रकार बताये गए। परस्पर कोई विरोधकी बात नहीं है। सबका ध्येय यह है कि अणुव्रतकी दृढ़ता रहे इस कारण ये गुणव्रत कहे जा रहे हैं। दिग्व्रत नाम है दसों दिशाओंमें गमन

करनेकी मर्यादा कर लेनेका, देशव्रत जो यहां नहीं कहा गया वह दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर और भी मर्यादा कर लेना यह दिग्व्रतका और पूरक ही है। विरोधक नहीं है, अतएव वह दिग्व्रतका ही एक अंग समझिये। अनर्थदण्ड उसे कहते हैं कि बिना प्रयोजन पापकार्योंका आरम्भ करना उसका त्याग अनर्थदण्डव्रतमें होता है। भोगोपभोग परिमाण—भोग और उपभोग की वस्तुवोंका परिमाण कर लेना भोगोपभोग परिमाण है। अब इसके आगे स्वयं आचार्यदेव वर्णन करेंगे, पर यहां इतना समझ लेना कि यह अणुव्रतके भावोंको बढ़ाता है, गुणित कर देता है, इस कारण इसे गुणव्रत कहते हैं। अब इन तीन गुणव्रतोंमें प्रथम गुणव्रतका स्वरूप कह रहे हैं।

दिग्वलयं परिगणितं, कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति सङ्कल्पो दिग्व्रत-मामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै॥ ६८॥

दिग्व्रतका स्वरूप—दसों दिशावोंमें प्रमाण करके इससे बाहर मैं न जाऊंगा, ऐसे संकल्पको दिग्व्रत कहते हैं। इस दिग्व्रतके कर लेनेसे उस सीमाके बाहर रंच भी पापका दोष नहीं आता। संकल्प ही न रहा, वहांका सम्बंध ही न रखा इसलिए रंच भी पापकी निवृत्तिके लिए यह दिग्व्रत १२ व्रतोंमें बताया गया है। ये १२ व्रत सद् गृहस्थके हैं, गृहस्थीका कार्य आजीविकाके बिना न चल सकेगा, अनेक कार्य हैं, अवसर हैं, रोग आदिक हों, समाजके कार्य, देशके कार्य, धर्मप्रभावनाके कार्य सभीमें सद्गृहस्थको योग देना होगा सो वह धन बिना नहीं बन सकता, अतएव धनार्जन करनेकी ड्यूटी भी है, व्यापारके लिए यत्र तत्र जाना पड़ता है। तो सारे विश्वके संकल्पका पाप न रहा, इस कारण वह दिशावोंकी मर्यादा कर लेता है, इससे बाहर न जाऊंगा, इससे बाहर व्यापार भी न करुंगा, पत्र भी न डालूँगा। जितनी दिग्व्रतकी सीमा ली है उससे बाहर सम्बंध न रखूँगा। इस सम्बंधमें एक समस्या जरुर आ खड़ी होती है कि फिर अखबार पढ़ूँ या न पढ़ूँ क्योंकि अखबारमें तो रूस, अमेरिका वगैरह सभी देशोंके समाचार होते हैं? तो इस प्रश्नका हल जो जिस दृष्टिसे करे, पर अखबार पढ़नेमें तो एक ज्ञान ही किया। अगर वहांके बारेंमें रागद्वेषका भाव लाये और सोचे कि उसकी हार क्यों हो रही, उसकी जीत होनी चाहिए, इस प्रकारके परिणाम आते हैं तब तो दिग्व्रतके प्रयोजनका उसने पालन नहीं किया और वृत्तान्त जान लिया तो या तो जैन शास्त्रमें सारे विश्वका वृतान्त लिखा है। स्वर्गों में क्या रचना, अमुक जगह क्या रचना, तो इसका प्रयोजन यह है कि परिणामोंमें संक्लेश न आये, रागद्वेष न जगे, उस सीमासे बाहरके क्षेत्रका आधार लेकर यह इस दिग्व्रतका प्रयोजन है। हां तो अब यह दिग्व्रती अपनी मर्यादा किए क्षेत्रसे बाहर व्यवहार नहीं करता, यह सब किया गया है लोभकषायके लिए और अहिंसा या धर्मवृद्धिके लिए। यह अब श्रावक मरण पर्यन्त दसों दिशावोंमें मर्यादा किए हुए क्षेत्रसे बाहर न जायगा, न किसीको बुलायगा, न किसीको भेजेगा, न वहांकी कोई वस्तु मंगायगा। एक समस्या यह भी सामने आयी कि वहां बाहर की वस्तुवें तो न मंगायेंगे मगर यहां जो बाहरकी वस्तुवें दिखती हैं उन्हें खरीदेंगे या नहीं? तो इसका उत्तर यह है कि उसमें इस बातका ध्यान रहे कि कहीं बाहर भेजनेके उद्देश्यसे उन्हें न खरीदे। इस प्रकारका व्यापार वह न कर सकेगा कि किसी भी चीजको अपनी रखी हुई सीमासे बाहर भेजे या

बाहरसे मंगाये, जिसने एक अपने देशकी सीमा रखी। अब दसों दिशाओंका परिमाण किस ढंगसे किया जाता है उसके सम्बंधमें कहते हैं।

मकराकरसरिदटवी-गिरिजनपदयोजनानि मर्यादाः।
प्राहुर्दिशां दशानां, प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि॥ ६९॥

दिग्व्रतमें आजीवन गमनागमनादिकी सीमा लेनेकी विधिके कुछ उदाहरण—दसों दिशाओंकी मर्यादा करनेके लिए जो प्रसिद्ध चीज हो दूर पर उसका नाम लेकर मर्यादा बनती है, जैसे मैं अमुक समुद्रसे बाहर न जाऊंगा, या समुद्रकी इस सीमाका न उल्लंघन करुंगा, इस प्रकारकी एक प्रतिज्ञा बनती है। दूसरे यदि कोई ऐसी सीमा करने लायक चीज न हो जिसका नाम ले सके तो वह योजन कोश दूरकी मर्यादा लेकर भी कर सकता कि मैं हजार योजनसे बाहर न जाऊँगा। ऐसी मर्यादा किए हुए क्षेत्रसे बाहर गमनागमन न करुंगा। समुद्र आदिक लोकमें विख्यात हैं इस कारण उनका नाम लेकर प्रायः दिशावोंकी मर्यादा किया है। दिशायें कोई वस्तु नहीं होतीं। पर हमारी कल्पनामें है ना यह बात कि पूरब यह है, पश्चिम यह है, उत्तर यह है और दक्षिण यह है। जिधर सूर्य निकलता उधर मुख करके खड़े हों तो पूरब की ओर मुख है। पीठ पीछे पश्चिम है, दाहिने हाथकी ओर दक्षिण है और बायें हाथकी ओर उत्तर है। जैसे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल पदार्थ हैं ऐसा कोई दिशा पदार्थ नहीं होता। अन्य दार्शनिकोंने तो दिशाको पदार्थ माना है पर उस ओरके जो आकाश प्रदेश हैं उन्हींमें हम दिशावोंकी कल्पना करते हैं। सो उस आधारपर यह बात तो आ गई कि पूरबमें यहां तक जाना, पश्चिममें यहां तक जाना, उत्तरमें यहां तक जाना और दक्षिणमें यहां तक जाना, और इतना ही नहीं, ऊपर नीचेके क्षेत्रोंमें भी मर्यादा चलती है। पर्वत पर कितना ऊपर चढ़ना, नीचे कहां तक जाना, जैसे कुवां बावड़ी आदि किसी जगह उतरे बाहरमें गमन न करना दिग्व्रत है। दसों दिशाओंकी जो मर्यादा कर लेता है और उससे बाहर अपना व्यापार सम्बंध नहीं रखता उसके क्या परिणाम रहते हैं और क्या फल प्राप्त होता है यह बात बतलाते हैं।

अवधेर्वहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयतां।
पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते॥ ७०॥

दिग्व्रतके पालक सद्गृहस्थके सीमाबाह्यक्षेत्रके लिए महाव्रतत्त्वकी कल्पना—दिग्व्रत धारण करनेसे याने मर्यादा चारों ओरकी बनाकर उसके भीतर ही अपना संकल्प बनाये रहनेसे चूँकि बाहरमें इसका कोई संकल्प न रहा, व्यवहार न रहा, आना जाना न रहा तो ऐसे दिग्व्रतको धारण करने वाले पुरुषोंके यह अणुव्रत वहांके लिए महाव्रतको प्राप्त हो जाता है। अर्थात् सर्व प्रकारकी हिंसाका त्याग हो गया इस क्षेत्रसे बाहरके क्षेत्रमें। और इस प्रकार असत्य झूठ आदिक सभी पापोंका पूर्णरूपसे त्याग है उस क्षेत्रमें तो ऐसा दिग्व्रत धारण करने वाले पुरुषके यह अणुव्रत चूँकि बाहर अणुमात्र भी पाप नहीं है इसलिए महाव्रतपनेको प्राप्त होता है। यद्यपि बाहर न आना जाना यह दिग्व्रत ही कहलायगा

अणुव्रतका ही पूरक कहलायगा मगर उस क्षेत्रके लिए तो यह महाव्रत जैसी परिणति बनती है। ऐसी बात सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि बाहरी क्षेत्रमें महाव्रतकी परिणति कर रहे सो दबकर क्यों कह रहे, बाहरके क्षेत्रोंमें तो वह महान् व्रती है ऐसा क्यों नहीं कहते? उसके उत्तरमें कहते हैं कि—

प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरण मोहपरिणामाः।
सत्त्वेन दुरवधारा, महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते॥ ७१॥

गृहस्थके दिग्व्रतसीमासे बाहर क्षेत्रके लिए सीधा महाव्रत न माना जानेका कारण— कषायें २५ प्रकारकी बतायी गई हैं जिनमें अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ तो सम्यक्त्वका घात करती हैं, अप्रत्याख्यानावरण देश संयमका घात करती हैं और प्रत्याख्यानावरण कषाय महाव्रतका घात करती हैं। इस श्रावकके प्रत्याख्यानावरण कषायका अभाव नहीं हुआ है। प्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम होनेसे इसके संयमासंयमका अभाव प्रकट है, किन्तु जब प्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम हो जाय तो महाव्रत होवेगा। पर इस सद्गृहस्थके प्रत्याख्यानावरण कषाय बराबर बनी है, हां मंद हो। तो प्रत्याख्यानावरण कषायके मंद होनेसे महाव्रत तो नहीं कहा जा सकता। है तो प्रत्याख्यानावरण कषाय पर इस क्षेत्रसे बाहर इसका कोई सम्बंध नहीं चल रहा इस कारणसे महाव्रतकी कल्पना समानता अथवा एक क्षेत्रमें रखी गई है। साक्षात् महाव्रत न कहलायगा, पर उनका अणुव्रत बाहरके क्षेत्रके लिए महाव्रतके लिए कल्पना की जाता है। जिसके चारित्रमोहके कर्मके मंद उदयका परिणाम है संज्वलन कषायरूप ही मात्र कषाय है, प्रत्यक्ष न रही उसके महाव्रत कहलाता है, पर गृहस्थ देशव्रतीके प्रत्यक्षका उदय विद्यमान है इस कारण संज्वलन कषायका मंद उदय होनेसे परिणामोंमें तो विशुद्धि है वह महाव्रत गृहस्थके न कहलायगा। हां बाह्य क्षेत्रमें समस्त पापोंका त्याग हुआ है सो महाव्रतकी कल्पना ही की जा सकी है। महाव्रत तो वास्तवमें प्रत्याख्यानावरण कषायके न रहनेसे ही कहलायगा। महाव्रत किस प्रकार होता है इस सम्बंधमें वर्णन है।

पञ्चानां पापानां, हिंसादीनां मनोवचः कायैः।
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम्॥ ७२॥

महाव्रतका स्वरूप—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोंका मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदनासे त्याग होनेका नाम महाव्रत है। यह महान व्रत है, इस कारण महाव्रत कहलाता है। यह महान कार्यके लिए व्रत है, इस कारण महाव्रत है। यह महंत पुरुषोंके द्वारा ही धारण किया जा सकता है इस कारण महाव्रत है। पापका नवकोटिसे त्याग होना न मनसे करे, न मनसे कराये न मनसे अनुमोदना करे, न वचनसे पाप करे, न वचनसे कराये न वचनसे अनुमोदना करे, पापको न शरीरसे करे, न शरीरसे कराये न शरीरसे अनुमोदना करे नवकोटिसे त्याग होनेमें उसके विशुद्धि जगती है। जैसे कि साधुजनोंके उद्दिष्ट त्याग होता है। इस विषयमें लोग ऐसी शंका रखते हैं कि जो आहार बनता है तो वह साधुवोंके ख्यालसे बनता है—मुझे आहार देना है, तो गृहस्थ साधुके ख्यालसे बनाये यह गृहस्थकी बात है पर

मुनिके चित्तमें यदि यह बात आये कि वहां भोजन बन रहा, ठीक बन रहा। वहां थोड़ा संकेत करें या शरीरसे कुछ चेष्टा दिखाये तो उस मुनिको उद्दिष्टका दोष है। पर उस आहारके विषयमें पता तक भी नहीं है कि कहां हो रहा, न मनसे करना कराना अनुमोदना, न वचनसे करना कराना अनुमोदना, न शरीरसे करना कराना अनुमोदना, तो ऐसी स्थितिमें नवकोटिसे विशुद्धि हुई। उसके कारण उनके उद्दिष्ट दोष नहीं कहा गया है, यह बात है मुनिकी ओरसे। अब एक साधारणतया देखें तो उद्दिष्टका प्रयोजन है कि गृहस्थको तकलीफ न हो। मूल प्रयोजन यह है कि उद्दिष्टका, तो गृहस्थ तकलीफ करके कर रहा है यह किसी तरह विदित हो तो वह आहार नहीं लिया जाता, पर गृहस्थ तो एक प्रसन्न होकर चित्तमें उमंग लाकर करता है सो उसके अतिथिसम्विभाग व्रत बनता, उद्दिष्ट नहीं बनता। अतिथिसम्विभाग व्रत रखना गृहस्थका एक नियम है, अर्थात् मैं अतिथिको भोजन कराकर फिर भोजन करुंगा। रोज-रोज तो ऐसा नहीं करता था, पर आज मुनिराज पधारे हैं, अवसर मिला है तो आज उसका संकल्प बन गया कि मैं मुनिको आहार देकर आहार करुंगा। वह अतिथि सम्विभागमें रहा। अब यह बात कि दुनियाकी खटखटबाजीसे तो बचे तो भाई भोजन तो घरमें बनता ही, भूखे तो न रह सकते थे मगर शुद्ध विधिसे बना लिया तो उसमें कमसे कम बहुत सी हिंसासे तो बचे। तो जैसे उद्दिष्ट त्यागमें मुनिजनोंको बताया है कि नवकोटि विशुद्ध आहार न हो तो मुनि मनसे, वचनसे, कायसे न करेगा, न करायगा और न अनुमोदना करेगा। तो वह वहां दोष वाला नहीं कहलाता तो नवकोटिसे विशुद्ध होनेमें बड़ी विशुद्धि हुआ करती है। तो यह भी पंच पापोंका त्याग मुनिराजके नवकोटिसे हुआ है इस कारण वहां रंचमात्र भी पाप नहीं लगता, अब दिग्व्रतके ५ अतिचार कहे जाते हैं।

ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यगव्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।
विस्मरणं दिग्विरते रत्याशाः पञ्च मन्यन्ते॥ ७३॥

दिग्व्रतके पांच अतिचार—दिग्व्रत जिस श्रावकने धारण किया है मायने दसों दिशावोंमें मर्यादा कर ली कि इससे बाहर मेरा सम्बंध नहीं है उस गृहस्थको क्या न करना चाहिए जिससे कि निर्दोष दिग्व्रत रहे इन अतिचारोंका वर्णन इस गाथामें है। जितनी दिशावोंकी मर्यादा की है उस मर्यादाके भीतर अज्ञानवश या प्रमादवश ऊपर चढ़ जाना यह ऊर्द्धव्यतिक्रम नामका अतिचार है। जानकर नहीं चढ़ा किन्तु कैसे भी चढ़ जाय तो वह अतिचार है। कभी मर्यादासे बाहर बावड़ी आदिक नीचेकी जगहमें उतर जाय तो वह अधः अतिक्रम अतिचार है। ऐसे ही चारों दिशावोंमें किसी जगहमें मर्यादाके क्षेत्रसे बढ़ जाय अज्ञानवश या अंदाज न रहा तो वह है तिर्यक् व्यतिक्रम अतिचार। अथवा क्षेत्र बढ़ा लेना। जितनी मर्यादा की थी उससे आगेके क्षेत्रमें वृद्धि सोच लेना कि अब हमारी इस तरह मर्यादा चलेगी सो सोच सकते हैं आप कि क्यों अनाचार हो गया, मगर वहां इतना मनमें भाव रखे कि पूरबका तो घटा लेवे और पश्चिमका जरा बढ़ा लेवे, इस तरहका भाव रखकर अगर किया तो वह अतिचार कहलायगा। ५वां अतिचार है कि दिग्व्रतमें जो मर्यादा की है उस मर्यादाको भूल जाय तो यह है विस्मरण नामका अतिचार। ये ५ दिग्व्रतके अतिचार हैं। इनमें मुख्य बात तो अणुव्रतकी बतायी जा

रही है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोंका स्थूल त्याग कर देना मायने एक देश त्याग होना यह अणुव्रत कहलाता है, पर ये अणुव्रत पक्के रहें और इन अणुव्रतोंमें वृद्धि हो इसलिए दिग्व्रत ये बताये गए हैं क्योंकि अणुव्रत कोई एक दर्जेका नहीं होता। जो ११ प्रतिमावोंमें बताया गया है वे अणुव्रतके उत्कर्षके ही तो दर्जे हैं। अर्जिका भी अणुव्रतमें है, वह महाव्रती नहीं कहलाती। उसे जो उपचारसे महाव्रती कहा है सो इसको लोग बड़ी प्रशंसाके रूपमें देखते हैं पर वह प्रशंसार्थ नहीं है, किन्तु उसकी शक्तिकी हीनताका द्योतन करने वाला है। वह इससे आगे बढ़ नहीं सकती, सो उसका महाव्रत वही समझ लीजिए। महाव्रती तो केवल निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि कहलाता है। तो पहली प्रतिमासे लेकर ११वीं प्रतिमा तक ऐलक और अर्जिका ये अणुव्रतके उत्कर्ष हैं और अन्तमें तो इतना उत्कर्ष हो जाता है कि जो महाव्रतकी तरह मालूम होता है। अणुव्रत हैं ये सब, किन्तु एक बात जरुर ध्यानमें रखना कि जैन धर्ममें बन्दन, नमस्कार करने योग्य तीन लिंग कहे गए हैं।(१) मुनिराज (२) ११ प्रतिमाधारी क्षुल्लक ऐलक उत्कृष्ट श्रावक और (३) अर्जिका। ये तीन लिंगके सिवाय बाकी और नीचे नीचेके जो अणुव्रत हैं वे त्रिलिंग बुद्धिसे नमस्कार किये जाने या पूजे जानेके योग्य नहीं हैं। इसलिए अधिक आदर होता ११ प्रतिमाधारी क्षुल्लक, ऐलक और अर्जिकाका व अर्जिका और मुनिको एक समान मानकर कोई पूजे तो उसमें अधिक दोष तो नहीं आया मगर एक भीतरके परिणामोंकी बात कर रहे कि वहां अणुव्रतकी मुख्यता है। महाव्रतका सद्भाव वहां नहीं बताया गया। इस प्रकार तीन गुणव्रतमें से प्रथम गुणव्रतका वर्णन समाप्त हुआ।

अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः॥ ७४॥

अनर्थदण्डव्रतका स्वरूप—इससे पहले दिग्व्रतका स्वरूप कहा गया था। जीवन पर्यन्त दसों दिशावोंमें जाने-आने व्यवहार करनेकी सीमा लेकर उससे बाहर न आना, न जाना, न व्यवहार करना सो दिग्व्रत है। दिग्व्रत इसलिए किया गया था कि सारे विश्वके क्षेत्रका पाप न लगे, अब उस दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर भी सही प्रवृत्ति होनी चाहिए। किसी भी प्रकारका अनर्थ दण्ड न होना चाहिए जिसमें अपनी आजीविकाका प्रयोजन नहीं और भी कोई उचित व्यवहारका प्रयोजन नहीं फिर भी पापके कार्य करना यह अनर्थ दण्ड कहलाता है। ऐसी प्रवृत्ति उस दिग्व्रतकी सीमाके भीतर भी न होना चाहिए। इस ही का नाम है अनर्थ दण्ड व्रत। व्यर्थ मन चलाना, व्यर्थ वचन बोलना, व्यर्थ शरीरकी प्रवृत्ति करना यह सब अनर्थ दण्ड है, उनसे विरक्त होना, इसको अनर्थ दण्ड व्रत कहते हैं। गणधर देवने अनर्थ दण्डका यह स्वरूप कहा, वह दण्डधर नहीं है। अर्थात् मन, वचन, कायकी बुरी चेष्टाकी प्रवृत्ति वाला नहीं है, ऐसा गणधर देवने अनर्थ दण्डसे विरक्त होनेका उपदेश किया है। गृहस्थका प्रयोजन क्या है? आजीविका चलाना, धर्मका पालन करना, अधिकसे अधिक इसके साथ दो बातें और लगा लीजिए एक तो इन्द्रियके विषयका सेवन होना, चूँकि गृहस्थ इतनी कमजोर हालतमें है कि वह इन्द्रिय विषयके भोगसे अलग नहीं हो पाता। दूसरे लोकमें यश कीर्ति रहना, तो अधिकसे अधिक इन चार बातोंमें कोई सम्बंध नहीं

है जिसका, ऐसे व्यर्थके कार्योंको करना अनर्थ दण्ड है और इसमें प्रयोजन भी हो फिर भी जिसमें त्रस जीवोंकी हिंसा हो वह श्रावक करता ही नहीं समस्त अनर्थदण्डोंका त्याग करना अनर्थदण्डव्रत है अब अनर्थ दण्डके प्रकार बतलाते हैं।

पापोपदेश हिंसादानापध्यानदुःश्रुतीपञ्च।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥ ७५ ॥

अनर्थदण्डके पञ्च प्रकारोंका निर्देश—पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुश्रुति और प्रमादचर्या ये ५ अनर्थ दण्ड हैं। इनका लक्षण आगे स्वयं आचार्यदेव छंदोंमें कह रहे फिर भी थोड़ा संकेत समझना। (१) पापोपदेश—जिस उपदेशमें पापोंकी बात आये उसका नाम है पापोपदेश। जैसे भैसे पंजाबसे खरीदे और मध्य प्रदेशमें ले जाकर अच्छी कीमतमें बेचें तो यह तो तिर्यञ्चोंको क्लेश कराने वाली बात है। यह अनर्थ दण्ड है, अथवा कोई हिंसा करनेकी बात बोले वह पापोपदेश है। (२) हिंसादान जिन चीजोंसे हिंसा होती है उसका दान करना हिंसा दान कहलाता है। (३) अपध्यान—खोटा ध्यान, दूसरेका बुरा विचार करना यह अपध्यान है। (४) दुश्रुत—खोटा सुनना जिसमें स्त्रीराग बढ़े या रौद्र परिणाम होवे वे सब दुश्रुतियां हैं। (५) प्रमादचर्या—आलस्यमें प्रमादसे या कषायसे ऐसी प्रवृत्ति करना कि जिसमें जीवका बध हो ये ५ अनर्थदण्ड कहलाते हैं। अनर्थ कहते हैं निष्प्रयोजन, जिनमें धर्मका या आजीविकाका कुछ प्रयोजन ही नहीं है और उनका विचार कर रहे हैं, वचनसे यहां वहां बोल रहे हैं या शरीरकी चेष्टायें कर रहे हैं ये सब अनर्थके काम कहलाते हैं। और दण्डका अर्थ क्या है? मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करना। जहां प्रतिक्रमण आदिकमें ये शब्द आते हैं कि तीन दण्डोंको छोड़ों मायने मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तिको छोड़ो। इसका नाम दण्ड क्यों रख दिया? यह स्वयं दण्ड है। जिस समय कोई जीव अशुभ सोचता है, बोलता है, चेष्टा करता है, तत्काल वह दुःखी होता है। वह दुःख नहीं सहा गया कषायका इसीलिए तो अशुभ चेष्टायें करता है, फिर अशुभ चेष्टावोंके करनेसे जो पापका बंध होता है उसको आगे दण्ड भोगना पड़ता है। इस कारण अशुभ मन, वचन कायकी प्रवृत्तिका नाम दण्ड रखा गया है। इन ५ अनर्थदण्डोंसे जो विरक्त रहे, वह अनर्थ दण्ड व्रत है। अब पापोपदेश नामक अनर्थदण्डका स्वरूप कहते हैं।

तिर्यक्क्लेशवणिज्या हिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्।
प्रसवः कथाप्रसङ्गःस्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥ ७६ ॥

पापोपदेशनामक अनर्थदण्डका स्वरूप—ऐसे पाप कार्यका उपदेश करना जिसमें तिर्यञ्चोंको क्लेश उत्पन्न हो, वाणिज्यमें, बेचने खरीदनेमें कोई हिंसा उत्पन्न हो, अन्य भी कोई हिंसाके कार्य अथवा आरम्भके कार्य या ठगनेकी ही बातें, इनका उपदेश करनासो पापोपदेश अनर्थ दण्ड है। जैसे समझाते कि भाई इस प्रकार पशुओंको मारो, दृढ़तासे बांधो, मर्मस्थानमें पीड़ा करो, गाड़ीमें बैल जुत रहे हैं, चलते नहीं हैं तो बताना कि इस मर्मस्थानमें डंडा मारा जाय तो वह खूब चलता है आदिक स्वच्छंदताके

उपदेश करना, बहुत बोझलादनेका उपदेश करना, बैलोंको नपुंसक बनाना, जिसे कहते बधिया करना, उनकी नाक छेदकर नकेल डालना। तोता मैना, आदिक पक्षियोंको पिंजड़ेमें रोकने आदिकके उपदेश हैं, जिनमें तिर्यञ्चोंको क्लेश हो उसे पापोपदेश कहते हैं। सद्गृहस्थ श्रावक तोता मैना कबूतर आदिक पक्षी न पालेगा। कौन व्यर्थमें सिरदर्द मोल ले? कभी कोई खा गया, बिल्लीने पकड़ लिया और उनसे प्रयोजन क्या है? कोई आजीविका चलती है क्या? या धर्मसाधनामें मदद देते हैं क्या? ऐसे काम न करें और ऐसी बातोंका उपदेश भी न करें। यदि उपदेश करें तो वह अनर्थ दण्ड है, ऐसे वाणिज्यका उपदेश न करें जिसमें हिंसाका पाप हो, ६ कायके जीवोंकी विराधना हो वह सब हिंसा उपदेश है। यदि सद्गृहस्थ सदाचारसे रहित अभिलाषा करता है तो उसके कितने ही काम छूट जायेंगे जैसे लोहेका व्यापार या भंग तम्बाकू आदिकका व्यापार या गल्लेका भी व्यापार, ऐसे कितने ही व्यापार हैं जो हिन्दी ग्रन्थोंमें लिखे हैं, जहां कुछ चरणानुयोगका प्रकरण है वहां लिखा है कि वे सब काम छूट जायेंगे। कोई सोचे कि तब तो थोड़ेसे ही काम रह गए करनेको। निर्दोष वृत्तिसे चलानेकी बात अगर सोचें तब तो छूट ही जायेगे, पर आज यह भावना कम रह गई। यह तो मामूली बात रह गई। अब इसमें कुछ दोषकी बात चित्तमें आती भी नहीं है, बहुत साधारण है, लेकिन मिलेटरीमें मांस देनेका ठेका देना, ऐसे-ऐसे प्रयोग भी अब करने लगे जिसके समक्ष ये कुछ भी चीज नहीं है। तो यह भले ही कुछ समयका परिवर्तन है फिर भी एकदम स्वच्छंद तो न होना चाहिए कि जैसे मांसका शराबका जिससे सम्बंध हो, ऐसा व्यापार करना आदिक बातें तो करता भी नहीं सद्गृहस्थ, न दूसरोंको उपदेश देता है, इसके अतिरिक्त ऐसे बाग बनाओ, ऐसे खेत जोतो, इस तरह प्रक्रिया बनावो यह पापके कार्यका उपदेश यह सब पापोपदेश है, या छल कपट करनेकी नीति बताना—तुम यों कहो, तुम यों करो, इस तरहकी प्रवृत्ति करना यह सब पापोपदेश कहलाता हैं ऐसे अनेक प्रकारके पापरूप कथनका उपदेश करना पापोपदेश नामका अनर्थ दण्ड व्रत है। अब हिंसादान नामक अनर्थ दण्डव्रतका वर्णन करते हैं।

परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गशृङ्खलादीनाम्।
वधहेतूनां दानं, हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥ ७७ ॥

हिंसादान नामके अनर्थदण्डका स्वरूप—जो हथियार जीववधके कारणभूत हैं उनका देना हिंसादान कहलाता है। बरछी, तलवार, कुदाली, आग, विष आदिक जो पदार्थ दूसरेके वधके कारणभूत हैं उनका दान करना, होते होंगे कोई ऐसे अज्ञानी मूर्ख दानी जो ऐसी चीजोंका भी दान करें, कि लेते जावो हमारे पाससे जितना चाहो, यह सब अनर्थ दण्ड है। और पाप करनेकी बात जाने दीजिए। कोई अगर मांगे और यह अंदाज हो जाय कि यह किसी क्रोधमें है और असमयमें मांग रहा तो जो घर गृहस्थीके काम आते हैं चाकू, आग, खुरपा, आदिक, इनको भी नहीं देता है। जिससे हिंसा उत्पन्न हो ऐसी वस्तु अन्यको देवे तो वह हिंसा दान नामका अनर्थ दण्ड है। अब वैसे ही विचारो किसीने मांगा कि फावड़ा देना, तो सोचो तो सही कि वह उस फावड़ेसे क्या करेगा? वह गीली जमीन खोदेगा, कितने ही कीड़ोंका उसमें घात होगा। तो गृहस्थको यद्यपि अपने भाई चारामें पड़ोसमें प्रेमियोंसे न

निभेगा कि वह न दे, क्योंकि वह दूसरेको न देगा तो दूसरा भी कौन उसे देगा? तो चाहे न निभे, किन्तु यह ध्यान रखना है कि जिस चाहेको न देना। काम क्या होगा उससे? वह जानता है कि जो साधर्मी जन हैं, दयालु हैं, हिंसासे डरते हैं और मांग लिया उन्होंने तो उसे विश्वास है कि ये जीव वध न करेंगे, पर जो जीव बधसे डरते नहीं वहां तो एक ऐसी छोटी चीजको भी नहीं देता। देता है तो वह हिंसादान नामका अनर्थ दण्ड है, फिर ऐसी चीजको बेचना नहीं। देखो यदि बहुत निर्दोष व्यापारकी बात कही जाय तो कहनेको क्या रह जाएगा? दो चार चीजें मुश्किलसे रह पायेंगी। जैसे कपड़ेकी दुकान या सर्राफा। और यदि बहुत बारीकीसे देखेंतो न नमककी दूकान कर पायेंगे न गुड़की। कितनी ही बातें ऐसी हैं कि जो निर्दोष विधिसे चले तो सब व्यापार छूटता है, थोड़े रह जायेंगे, मगर जो साक्षात् बहुत बुरे हैं उनसे बचना ही चाहिए। तो ऐसी चीजोंका बेचना हिंसादान अनर्थ दण्ड है। अथवा भाड़ेपर फावड़ा, कुदाली आदिक उठाना, यह काम भी न करना। यदि करे तो वह हिंसादान अनर्थ दण्ड है। अब कोई कहे कि ये तो जो बारह व्रत पालें उनकी बात कह रहे, हां बात ठीक है मगर जैन कुलमें उत्पन्न होनेके नाते नहीं भी बारह व्रत पाल रहे याने अव्रती हैं तो भी चित्त गवाही देता हो सो तो सोचो—जिसमें हिंसा होती हो ऐसी वस्तुवोंको देने, बेचने, भाड़ा देने आदिकको चित्त नहीं चाहता, तो अव्रतियोंको भी जहां तक हो बचना ही चाहिए। पर व्रती श्रावक तो इस कामको करेंगे ही नहीं। अब अपध्यान नामक अनर्थ दण्ड कहते हैं।

बधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं, शासति जिनशासने विशदाः॥ ७८॥

अपध्यान नामके अनर्थदण्डका स्वरूप—अपध्यान बहुत बड़ा पाप है। जैन शासनके तत्त्वको जानने वाले जिन धर्मकी उपासना करने वाले श्रावक जैन अपध्यानकी बातको बसाये रहते हैं। वासना बनाये रहें यह बहुत एक सोचकी बात है। अपध्यानमें क्या चिन्तन चलता है? दूसरेका बध होना, बंधन होना, छेदन होना, किसी पुरुषको कष्ट पहुंचे, इसका अपमान हो, ये बातें सोचना यह अपध्यान है, क्यों सोची जाती हैं? रागसे या द्वेषसे। रागसे तो यों समझिये कि हमें किसी मित्रसे राग है और उस मित्रका किसी दूसरेसे द्वेष है तो उसके बारेमें खोटा सोचने लगना यह रागवश ही खोटा सोचा गया। जिसका खोटा सोचा गया उससे सीधा द्वेष नहीं है, पर वह मित्रका बैरी है इसलिए मित्रके रागवश बुरा विचार कर लेता, द्वेषसे बुरा विचार करता। नहीं सुहाता कोई या अपने यशका राग है तब दूसरेका द्वेष होने लगा, तो रागसे द्वेषसे किसी भी दूसरे जीवका बध बंधन सोचना, अपमान सोचना यह सब अपध्यान है। जरा अपने इस सहज स्वरूपके दर्शन करके निरखिये तो चित्तमें ऐसा कार्य करनेसे फायदा क्या मिलता है? जो होता है सो होने दो, तुम तो सहज ज्ञानस्वरूप हो। बस देखते जानते रहो, सबके ज्ञाता द्रष्टा बनो, इससे गृहस्थके धर्मपालनमें और आजीविकाके कार्यमें फर्क नहीं आता, ऐसी अटपट बाहरी बातोंमें अपना दिल जोड़ना, अपध्यान करना, खोटा चिन्तन करना यह शोभाकी बात नहीं है, बड़प्पनकी भी बात नहीं है। इतना उदारचित्त होना चाहिए कि सब जीवोंके प्रति सुखी होनेकी भावना रहे। जब

कभी धर्मका व्याख्यान करना पड़े तब बात यह ही तो सब बोलेंगे। सो करनी भी ऐसी ही करें उसी प्रकार करें जिस तरह हम मित्रोंमें या भरी सभामें बोल सकते, उस तरहका अपना व्यवहार भी बनायें।

अपध्यानसे हटकर सद्ध्यानमें रहनेका कर्त्तव्य—भैया, जो बुरी बात है उसे सभामें कोई बोल नहीं सकता। प्रयोग करके देखलो, हां अगर उद्दण्ड पापी गुंडोंकी ही सभा हो कोई तो वहां जैसा चाहे कोई बोल ले, मगर धर्मसभा एक अच्छी समाजकी सभा है और उसमें किसीको खड़ा किया जाय कि यह बोलेंगे तो मनमें चाहे पापकी बात हो, पर वह मुखसे बोल नहीं सकता। जो बात मुखसे नहीं बोली जा सकती वह बात क्या करने लायक है? वह इतनी गंदी बात है कि मुखसे बोले नहीं हिंसाकी, झूठकी, चोरीकी, कुशीलकी, तृष्णाकी, लोभकी, परिग्रहकी। तो ऐसी बातोंका दूसरेके लिए क्यों खोटा ध्यान करना? स्वयंभूरमण समुद्रमें एक बहुत बड़ा मच्छ रहता है जो मुँह बाये पड़ा रहता है, उसके मुखमें हजारों मच्छियाँ आती-जाती रहती हैं फिर भी वह मुँह बाये पड़ा रहता है और उस ही के कानमें या आंखमें एक छोटासा तंदुल मत्स्य होता है वह उस दृश्यको देखकर अपना माथा धुनता है, करम ठोकता है, सोचता है कि यह महामच्छ तो बड़ा बेवकूफ है। यह मुँह बाये पड़ा रहता है और हजारों मछलियां इसके मुखमें आती-जाती किलोलें करती रहती हैं, यदि मैं इसकी जगह होता तो एक भी मछली बचने न देता। अब देखिये इस प्रकारका खोटा ध्यान करनेके फलमें वह तंदुल मत्स्य मरकर ७वें नरकमें जन्म लेता। तो जब धर्मके लिए हम आपका सारा प्रसंग है तो चित्तको इतना स्वच्छ और उदार क्यों नहीं बना पाते कि किसी भी मनुष्यके बंध बंधनका, बंरबादीका, अपयशका, अपमानका मैं कभी भी चिन्तन न करुं। ऐसा दिल बनाना चाहिए नहीं तो यह अपध्यान नामका बहुत बड़ा अनर्थदण्ड लगता रहेगा, लाभकी बात कुछ नहीं है और मोहपापमें डूब जायगा, यह है अपध्यान।

अपध्यानके दुश्चिन्तनोंके उदाहरण—यह अपध्यानी पुरुष रागद्वेष ऐसे परिणाममें चिन्तवन करता है कि इसका लड़का मर जाय, स्त्री मर जाय, इसे बड़ा बुरा दण्ड मिले, इसके नाक, कान छिद जायें, आजीविका नष्ट हो, इन्द्रियां नष्ट हों, इसका लोकमें अपमान हो आदिक। सब जीवोंमें सहज परमात्मस्वरूपकी निरख क्यों नहीं करते? यह मनुष्यभव बारबार मिलेगा क्या? और मानों जो भी काम किये जा रहे हैं उनसे आत्माको कोई लाभ पहुंचता है क्या? बड़े ठाठकी हवेली बना ली जाय तो उससे आपके आत्माको क्या लाभ मिला? उसमेंसे शान्ति निकली क्या? बहुत बड़ा परिवार गोष्ठी, पार्टी खूब बनाली जाय तो बताओ उसमें आपने हैरानी पाया या कुछ शान्ति? व्यर्थकी अटपट बातें, यहां वहांकी गप्प सप्प। बुरा सोचना, इसमें कोई लाभ पाया है क्या? देखो कोई किसी दूसरेके बारेमें बुराईकी बात कहता है तो कानमें धीरेसे कहता है, याने मुखसे जोरसे भी नहीं बोलता है। जैसे कि कुत्तेने यदि रोटी चुराया तो वह छिपकर पूँछ दबाकर आवाज न करके चुरायगा। तो चोरी-चोरी दूसरेकी बुरी बात कहनी पड़ती है, तो एक इसीसे ही अंदाज लगावो कि जो बात हम दूसरेसे ऐसा सोचकर कहें कि दूसरा कोई सुन न ले, चोरा चारी कहें तो समझ लीजिए कि बात स्वयं की भी अनर्थके लिए है। व्यर्थमें अपध्यान न करना।

अविकार चिद्ब्रह्मकी आराधनाके प्रसादसे अपध्यानसे पूर्णतया हटनेका अनुरोध—भैया,

खुले साहस यह विश्वास आप रख रहे ना कि कभी तो हम मोक्ष जायेंगे। कभी तो हम परमात्मा बनेंगे, तो वहां क्या होता है? एक शुद्ध गुण विकास। तो उसका सेम्पुल अभीसे क्यों नहीं करते? थोड़ा अपनेमें स्वच्छता लायें, गुण विकास करें, यह काम करना प्रारम्भ तो करदें। अगर एकदम हम बुरे-बुरे ही रहे और हम सोचें कि किसी दिन हम परमात्मा बन जायेंगे तो ऐसा हो सकता क्या? नहीं हो सकता। लो अपने आपमें इतना तो निर्णय करें कि मुझको अपध्यान नहीं करना। कहा तो गया यह अनर्थ दण्ड मगर यह तो साक्षात् बहुत बड़ा पाप है। ऐसे अनर्थ दण्डोंसे विरक्त होना अनर्थ दण्डव्रत है। अब यहां देखिये—अकिञ्चितकर कहा है समयसारमें, अनर्थक्रियाकारी भी कहा है, ये दोनों शब्द रख लेना। जैसा मैं दूसरेके बारेमें सोचता हूं क्या मेरे सोचनेसे वह काम होता है? नहीं होता, मेरा सोचना प्रवृत्ति है। कुछ भी पर्याय हो वह मेरे प्रदेशमें ही होगी, मेरे प्रदेशसे बाहर नहीं हो सकती। बुरा सोचना अपध्यान करना, यह मेरेमें ही तो समायगा। सोचें कि इस पर आपत्ति आ जाय तो आपके सोचनेसे वह आपत्तिमें आ गया क्या? कदाचित आपत्तिमें भी आ जाय आपकी खोटी करनेसे तो उस करनीसे आपत्तिमें नहीं आया वह किन्तु उस काल उसके भी पापका उदय था इसलिए आपत्तिमें आ गया, पर आपके सोचनेसे आपत्तिमें नहीं आता। तो अनर्थ क्रियाकारी मायने सोचनेका जो काम है वह काम वहां नहीं हुआ और इसीलिए अकिञ्चितकर जो आपने दूसरेके बारेमें सोचा कि दुःखी करुं, यह आपत्ति डालूँ तो इस सोचनेसे नहीं हुआ वहां इस कारण आपका सोचना अकिञ्चितकर है। कोई लाभ देने वाला नहीं है, फिर क्यों दूसरेके बारेमें कुछ भी विचार करें। मेरा जैसा भाव, मेरी जैसी चेष्टा वह मेरे लिए है, उसके बारेमें भी अपने मनको हैरान करुं तो यह चेष्टा मेरे लिए है। ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर इस अपध्यान नामके खोटे पापसे बचना ही चाहिए।

आरम्भसङ्गसाहस-मिथ्यात्वद्वेषरागमदनैः।
चेतः कलुषयतां श्रुति-रवधीनां दुःश्रु तिर्भवति॥ ७९॥

दुःश्रुतिनामक अनर्थदण्डके लक्षण—दुःश्रुति नामक अनर्थ दण्ड व्रतका इस छंदमें स्वरूप बताया गया है। दुश्रुतका अर्थ है खोटा सुनना, दुः मायने बुरा श्रुत मायने सुनना, जो वचन चित्तको कलुषित करें ऐसे वचनोंका सुनना दुश्रुति नामक अनर्थ दण्ड है। जो आरम्भके वचन हों—असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और जो परिग्रह सम्बंधी बातें हो या ऐसा कथनक हो जिसमें आश्चर्यकारी वीर लोगोंके कर्तव्य बताये गए अथवा मिथ्यात्वकी बातें हों, मिथ्या मतकी वार्ताहो। यज्ञ करना आदिक विरुद्ध अर्थोंका प्रतिपादन करने वाले शास्त्र हों, रागद्वेष बढ़ाने वाले वचन हों तो ऐसा चित्तको कलुषित करने वाले शास्त्र हों अथवा लौकिक वार्ता हो उनको सुनना दुःश्रुति नामका अनर्थदण्ड है। जिसने यह निर्णय कर लिया कि मेरेको दो बातोंसे प्रयोजन है, मुख्य तो है धर्मपालन। मैं अपने स्वभावको निरखूँ और स्वभावमें यह मैं हूं, ऐसा अपने आपका अनुभव बनाऊं यह तो है मुख्य काम, दूसरा है गौण काम आजीविकाका इन दो से सम्बंध है, वे वचन तो सुनने ही पड़ेंगे, मगर जिनका इन दो से सम्बंध नहीं है और व्यर्थ है, पाप कार्योंकी जिसमें प्रेरणा भी है ऐसे वचनोंको सुनना दुश्रुति है यह वह ज्ञानी स्वयं ही

जानता है। अपना ही चित्त अपनेको गवाही दे देता कि यह बात अनर्थ दण्ड है अथवा नही। जो मोह बढ़ायें, रागद्वेष बढ़ायें, पदार्थका विपरीत स्वरूप ग्रहण करायें ऐसे शास्त्रोंको सुनना यह दुःश्रुति नामक अनर्थ दण्ड है। लोकमें भी जो विकथा वाली बातें हैं मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदिक कामवासनाके उत्पादन करने वाले उनका सुनना भी दुःश्रुति है, जिनका वैराग्य ही प्रयोजन हो ऐसे शास्त्र तो शास्त्र हैं, पर जिनका प्रयोजन मन बहलावा या राग बढ़ाना या भगवानके नामपर ही भक्ति सी समझ लीजिए, पर हो रागकी ही बातें हों तो ऐसे सब वचन दुःश्रुतिमें आते हैं।

आत्मस्वभावके अनुभवसे रहित जीवोंके जीवनकी अन्धकारमयता—जिनको अपने आत्माके सहज स्वभावका पता नहीं वे बिल्कुल अंधेरेमें हैं। चाहे वे लौकिक हिसाबसे जैन मतके मानने वाले हों चाहे अन्य मतके मानने वाले हों, जिनको अपने सहज स्वभावका परिचय नहीं है वे अंधेरेमें हैं। उनका जो भी कर्त्तव्य बनेगा कर्म बनेंगे वे मोहसे मिले हुए हैं, अतएव कर्मबन्धके ही कारण बनते हैं, मुक्तिका कारण नहीं बन पाते। जीवनमें सबसे प्रधान कार्य है अपने आत्माके सहज स्वभावका अनुभव बनाना। इसके लिए चाहिए तत्त्वज्ञान, स्वाध्याय, सत्संग। अब विषयवासना अनादिसे लगी है। इनका दिल नहीं चाहता कि सत्संगमें या तत्त्वज्ञानके वातावरणमें रहें। उन्हें वही रुचता है जैसा कि संसारमें अनादि कालसे रहते आये, इसलिए इनको कठिन मालूम होता है वास्तविक धर्मका करना। बाकी आत्मपरिचयके बिना जो भी कार्य किए जा रहे हैं उनका प्रयोजन तो बस इतना है कि कुटुम्ब खुश रहे, आजीविका खूब बने। जैसे-जैसे धनकी वृद्धि होती वैसे ही वैसे प्रभुभक्तिमें भी उनका मन लगता, इस ख्यालसे कि प्रभुभक्तिकी वजहसे ही हमको यह लक्ष्मी मिल रही और मिलती रहेगी। पर जरा सोचिये तो सही कि वह प्रभुभक्ति मोक्ष मार्गमें ले जाने वाली है या बाह्य विषयोंमें ही उपयोग दृढ़ कराने वाली है। जितना करते हैं चलो वह भी ठीक है मगर मुक्तिकी अभिलाषासे जो प्रभुभक्ति है आत्मस्वभावका परिचय करके जो प्रभुभक्ति बनती है उसमें तो दोनों ही काम हो रहे हैं। सम्पन्नता भी रहेगी और मोक्षमार्ग भी चलेगा। केवल एक बाह्य सांसारिक प्रयोजन लेकर प्रभु भक्ति करें तो उसमें इसका ठेका न रहा कि सम्पन्नता रहे किन्तु पापभाव चल रहा है। कोई सोचता होगा कि वाह भगवानकी भक्ति कर रहे, उसमें कैसे पापभाव? अरे शरीरमें ही तो यह क्रिया बन रही। भीतरसे तो देखोकि संसार के भोगोपभोग साधनों के प्रति कितनी आसक्ति चल रही है और उस आसक्तिके फलमें पुण्य बंधेगा कि पाप। भले ही वह मंदिरमें बैठा है। पूजा पढ रहा मगर संसार बढ़ाने वाले भोगोपभोगमें आसक्त है और उसी ध्यानसे पूजन दर्शन वगैरह है तो यह बतलावो कि मंदिरमें उसे पापका बंध हो रहा या पुण्यका? पुण्य होता है तो अल्प, पाप होता है तो अधिक। कर्म यह नहीं निरखते कि यह मंदिरमें बैठा है इसलिए पाप न बंधना चाहिए। वहां तो निमित्त नैमित्तिक योग है, यह उपयोग आस्था किसमें रख रहा? वहां वास्तवमें आस्था भगवानमें नहीं है, किन्तु संसारकी भोगोपभोग सामग्री प्राप्त करनेमें है। खूब परीक्षा करके देख लीजिए। जहां आस्था होगी उसकी प्रकारका बंध चलेगा। तो जब इतनी तक बात है कि खुद अगर रागकी प्रधानता रख रहे हैं तो वहां ही अनर्थ है, फिर जो शास्त्र ऐसे हैं कि जिनमें रागकी प्रेरणा बसी हुई है, बस भगवानके गुण गाये जा रहे हैं तो यहीं तक कि मक्खन

चुराया, अनेक सखियोंको छेड़ा, महिलावोंमें रहे, इतने शिकार खेले, या अमुकका वध किया, यों ही कितनी ही बातें भगवानका नाम लेकर लोग बोलते हैं और समझते हैं कि हमने गुण गा लिया, पर वहां भगवानके गुण एक भी गाये गए क्या? भगवानका गुण तो है वीतरागता और सर्वज्ञता, इसकी अगर महिमा गाये तब तो समझिये कि भगवानके गुण गाये अन्यथा वह तो अपने पापभावोंमें ही चल रहा। यह सब ऐसी वाणी सुनना दुश्रुति अनर्थदण्ड बतलाया। खोटी कथा, खोटी चेष्टाकी बात सुननेका त्याग इस व्रती श्रावकके रहता है, अब प्रमादचर्या अनर्थदण्डका स्वरूप कहते हैं।

क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम्।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्या प्रभाषन्ते॥ ८०॥

प्रमादचर्यानामक अनर्थदण्डके लक्षण—ऐसे काम करना जिनमें न अपनी आजीविकासे सम्बंध है, न धर्मपालन से सम्बंध है और व्यर्थका आरम्भ है, पापका जिसमें सम्बंध है, ऐसे कार्योंको करना प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड है। जैसे पृथ्वी खोदनेका ही शौक चल गया बिना काम पृथ्वी खोद रहे हैं, पत्थर आदिक फोड़नेका आरम्भ कर रहे हैं, जलको फाल्तू बहाते, बहुत-बहुत बखेरते, घंटों साबुन लगाकर नहाते, बाल्टियों पानी बहाते, ये सब प्रमादचर्याकी बातें हैं। ऐसा क्या यह शरीर रत्न जवाहरातसा बन रहा जिसको इतना अधिक नहलवाया जा रहा है और फिर बहुत देर तक नहलवाना, नहाते हुएमें बड़ा मौज मानना ये सब प्रमादचर्याकी बातें हैं। प्रमादचर्याकी क्या थोड़ी बात है? पद पदपर प्रमादचर्या चल रही है मनुष्योंके, जिनसे कुछ प्रयोजन नहीं, शौक बढ़ रहा, राग बढ़ रहा, बिना प्रयोजन अग्नि बढ़ा रहे हैं, पटाके फोड़ रहे हैं, यह सब प्रमादचर्या है। हिंसा हो रही है, क्या प्रयोजन पड़ा है? एक सीधी सी कुञ्जी है कि जिससे आपको आजीविकामें मदद न मिले अथवा धर्म पालनमें मदद न मिले या कहो कि सामाजिक पारिवारिक जीवन भले प्रकार जिए उसमें मदद नहीं तो ऐसी बातें जितनी भी करें वह सब प्रमादचर्या है। वनस्पतियोंका छेदना बिना प्रयोजन चल रहा है। रास्तेमें छोटे-छोटे पेड़ लगे उनकी पत्तियां तोड़ते जाते हैं, वह आदत पड़ी है ना? अगर किसी घास पुराल पर विराजे हुए त्यागीके पास बैठ गए तो वहां भी घासके तिनके तोड़ते रहते, इस प्रकारकी एक आदत पड़ी है लोगोंको। तो यह सब प्रमादचर्या वाली बातें है। व्यर्थका आरम्भ, हिंसाजनक कार्य, बिना प्रयोजन अधिक गमन करना, गमन कराना, प्रयोजनवश तो कराता है श्रावक, आखिर पापसे वह कहां तक हट सकेगा? हर जगह पापकी क्रिया कुछ न कुछ करनी ही पड़ रही है, क्योंकि घरमें बस रहे, एकेन्द्रिय जीवकी हिंसा टाल नहीं सकते। आजीविका किए बिना काम नहीं चलता तो पाप कार्योंमें लगना पड़ता है गृहस्थोंको तो कम से कम इतना तो करें कि जिन कामोंसे कुछ हमें प्रयोजन ही नहीं है ऐसे अनर्थके पाप न करें। ऐसा रोजिगार करना जैसे ईंटोंका भट्टा लग रहा, जो कार्य अत्यन्त निषिद्ध था वह कार्य किया जाता है और उसका खेद भी नहीं मानते। तो ये तो सब आजीविकाके कारण होनेपर भी यदि खोटे वाणिज्योंको करे, आरम्भको करे तो वह भी व्रती श्रावकके योग्य नहीं है।

द्यूतक्रीड़ामें महान् अनर्थदण्ड—भैया कितने ही ऐसे कार्य हैं कि अव्रती श्रावकके भी योग्य

नहीं हैं, उन कार्योंके करते हुए वे सम्यग्दृष्टि भी न कहला सकेंगे। तो ऐसी अनेक प्रकारकी जो अनर्थ क्रियायें हैं उनमें प्रधान है जुवा खेलना, यह बहुत बुरा व्यसन है। इसमें बुद्धि बिगड़ जाय, बड़े पाप करनेमें कारण बन जाय, धर्म कार्योंमें मन न लगे, वह अनर्थदण्ड है, प्रमादचर्या है, उससे भी अधिक अनर्थ है। हार जीतकी दृष्टि जहां रहती है वहां परिणामोंमें कितनी व्यग्रता रहेगी। हारे तो खेद मानता, जीत जाय तो अभिमान करता, और फिर चलो हार जीत थोड़ी हुए बिना खेल नहीं बनता। कबड्डीका खेल, गुल्ली डंडेका खेल या फुटबाल, बालीबाल वगैरहके खेल इनमें भी हार जीत होती। मगर इनमें धन सम्बंधी हार जीत नहीं होती, इनमें स्वास्थ्यका प्रयोजन है, तासका शतरंज वगैरहके खेलमें बतावो स्वास्थ्यका क्या सम्बंध? बल्कि इनमें तो स्वास्थ्य बिगड़ता है। पर खाली बैठे हैं, खेल रहे हैं, मन बहला रहे हैं। अरे जिसमें जुवाका व्यसन लग गया वह धीरे-धीरे अपना बहुत बड़ा रूपक बना लेता है। अभी तो देखनेमें ऐसा लग रहा कि क्या है, बच्चे हैं, तास खेल रहे, मन बहला रहे, पर धीरे-धीरे बढ़ बढ़कर यह ही अनर्थका कारण बन जाता है। हारे तो बुरा, जीते तो बुरा। तो जुवा समस्त व्यसनोंमें प्रधान व्यसन हैं, समस्त पापोंका वह संकेत साधन है, जुवा खेलने वालेमें अन्तमें सब पाप आ जाते हैं। जिसमें जुवा खेलनेकी आदत है वह धन जुड़ जाने पर फिर उसे परोपकारमें नहीं लगाता, उसमें शराब खोरी, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन आदिकी अनेक बातें आ जाती हैं। क्योंकि सदाचारका एक बांध टूट गया तो कुछ भी करनेमें उसे हिचक नहीं हो पाती और कहो वह अपना घर भी दांवपर लगा दे। बाल बच्चे भी कहो दांवपर लगा दे, यों कितने ही अनर्थ वह कर लेता है, उसके परिणामोंमें बड़ी निर्दयता आ जाती है, दूसरोंको घात भी विचार कर लेता है। और जुवामें मानलो धन हार गया तो वह चोरी करेगा, वह बड़ा व्यग्र रहता है।

व्यसनोंसे स्वयं बचना व अपने परिजनोंको बचाना—भाई आप सबकी जिम्मेदारी है कि आपके बाल बच्चोंको भी सत्संग बना रहे, कुसंग न बनने पाये, तो जुवा खेलना महा अनर्थ दण्ड है। ऐसा भला मनुष्य जीवन पाया और खोटी-खोटी बातोंको चित्तमें स्थान दे तो यह अपना जीवन खोना है। थोड़ा समझमें आये, थोड़ा यहां सीखें, तत्त्वज्ञानमें प्रवेश करें तो थोड़े-थोड़ेके बाद बहुत ज्ञान बन जाता है। जो आज कोई विद्वान है क्या वह पैदा होते ही विद्वान बन गया था? अरे उसने बचपनसे ही कुछ अध्ययन किया। तत्त्वज्ञानकी रुचि भई, पढ़ता गया, ज्यों ज्यों समय बढ़ता गया त्यों-त्यों उसका ज्ञान भी बढ़ता गया। तो बस एक ही ध्यान रखना चाहिए कि मुझे ज्ञान प्राप्त करना है। कल्याणकी भावना हो तो निर्णय बनाइये कि बाहरी बात तो पुण्य पापके अनुकूल बनेगी, जो होगा उसीमें काम बन सकता। यदि उदय ठीक है तो बिना विचारे सबकुछ प्राप्त हो जाता। उसका ज्यादह क्या सोचना? वह उद्देश्य नहीं है जीवनमें, जीवनका उद्देश्य है तत्त्वज्ञान होना, इस ओर लगिये तो आपके सब अनर्थ छूट जायेंगे। मैं किस योग्य कि जुवां खेलूं या अमुक कार्य करुं, और थोड़ा यह देख लीजिए। जैसे मानलो कोई पढ़ाता है और उसके पास आप घरसे पढ़ने आते हैं और बगलमें पुस्तक दाबे हुए आते हैं तो जहांसे आपने पुस्तक दबाया और घर से चले वहींसे आप अपनेको बालकवत् विद्यार्थी अनुभव करते हैं ना, तो इतना अनुभव आते ही आपका कितना भार दूर हो जाता है, फिर भला तत्त्वज्ञान पा

लेनेपर कितना भार कम हो जाता है इसका कुछ अंदाज तो करलो। तो बस एक जिसमें अपने ज्ञानस्वरूपकी धुन बने वह काम करें, जो अन्य अनर्थके जुवा आदिक काम हैं, जिनमें असभ्यता भी है और अनेक प्रकारका दुसंग भी है वह सब त्यागने योग्य है। अब अनर्थ दण्ड व्रतके ५ अतिचार बताते हैं।

कन्दर्पकौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च।
असमीक्ष्याचाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः ॥ ८१ ॥

अनर्थदण्डव्रतके पांच अतिचारोंमें प्रथम कन्दर्पनामक अतिचार—अनर्थदण्ड विरतिके ये ५ अतिचार हैं, दोष हैं, व्रती श्रावक इन दोषोंको नहीं करता। (१) पहला है कंदर्प—रागभावकी अधिकतासे हास्य मिश्रित भंड वचन बोलना कन्दर्प नामक अतिचार है, जिसमें हंसी बसी हो, दुर्भाव बसा हो ऐसे भंड वचन बोलना जो भले पुरुषोंके सुनने लायक भी नहीं हैं वे सब कन्दर्प अतिचार कहलाते हैं। गालीके शब्द जो प्रसिद्ध हैं इकहरे इकहरे खैर उनका इतिहास अलग है, वे वास्तवमें गाली नहीं हैं, किन्तु प्रशंसाके शब्द हैं। अब जिसके लिए वे शब्द बोले गए वह उतना योग्य नहीं इसलिए वे शब्द गाली रूप समझ लिए गए। आजकल तो लोग गालीके बड़े-बड़े वाक्य भी बोलते हैं, जिनमें माँ, बहिन, बेटी आदिके प्रति गंदी-गंदी बातें भरी होती हैं। तो व्रती जनोंको या अव्रती श्रावकजनोंको भी ऐसे बचन न बोलना चाहिए। जैसे—मानलो एक भाईने अपने ही भाईको बहिनकी गाली दी तो उसका अर्थ क्या हुआ कि उसने अपनी ही बहिनको गाली दी, पर इसका भी उसे विवेक नहीं। पशुवोंको भी लोग गाली देते तो कभी कभी ऐसा भी बोलते कि तेरा मालिक मर जाय, अब बताओ मालिक खुद बने बैठे हैं और गाली दे रहे। पर उन्हें यह पता नहीं कि यह गाली तो हम पर लग रही। तो जब रागभाव बढ़ा, हंसीकी बात हुई तो ऐसे वचन निकलते कि वह कुछ सोचना ही नहीं कि इसका क्या अर्थ है। और जहां फिर हास्य भरे हुए वचन हों, जैसे पहले समयमें विवाह शादीके मौकेपर ऐसे ही हास्य मिश्रित वचन बोला करते थे, आज तो इतनी फुरसत नहीं है कि तीन-तीन दिनका समय विवाहमें दें, घंटा दो घंटेका विवाह रह गया, तो उसमें मौका कहां मिलता कि हास्य भरी बातें बोले। मगर जिनकी बड़ी उम्र है वे जानते हैं कि पहले जमानेमें ५-५ दिनकी बारात रहती थी, तो दिन भर वे और क्या करते रहते थे? हां थोड़ा सुबह या दोपहरके समय विधान सभाका भी काम करते थे और बाकी समय जैसा जिसे भावे वैसा हंसीकी बातें करते थे, यह सब कन्दर्प है।

अनर्थदण्डव्रत के कौत्कुच्य व मौखर्य नामके अतिचार—दूसरा अतिचार है कौत्कुच्य। तीव्र रागके उदयसे हास्यरूप वचन तो है ही पर शरीरकी भी चेष्टा करते थे हाथसे कुछ बुरा इशारा करना या आंखें मटकाना आदिक, कितनी ही कायकी चेष्टायें करें यह कौत्कुच्य नामका अतिचार है। तीसरा अतिचार है मौखर्य बिना प्रयोजन असार बकवाद करना मौखर्य है। कितने ही लोगोंकी आदत होती कि वे बुरे बोल बोलते हैं, बकवाद करते हैं, उनका तन भी खराब, मन भी खराब और वचन भी खराब होते हैं। उन्हें पीछे पछताना पड़ता है और दुनियाकी दृष्टिमें वे गिर भी जाते हैं। बुरा बोलनेकी आदत

बढ़िया नहीं होती। समझे, सुने, अर्थ लगाये, उसकी पूर्वापर बात विचारे, अगर वहां किसीका हित होता हो तो थोड़े वचन बोल देना यह तो ठीक है मगर बहुत बकवाद करना यह मौखर्य है। उचित नहीं है।

अनर्थदण्ड व्रतके असमीक्ष्याधिकरण नामक अतिचार—चौथा अतिचार है असमीक्ष्याधिकरण बिना विचार किए, विवेक किए, मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करना यह अनर्थदण्डका अतिचार है। कुछ प्रयोजन ही नहीं फिर भी मन, वचन, कायकी चेष्टा बढ़ा रहे, बना रहे यह अनर्थ दण्डका अतिचार है। जैसे रागद्वेष वर्द्धक कवितायें बनाना, देखा होगा कि कविसम्मेलनोंमें ऐसी-ऐसी गंदी कवितायें सुननेको मिलती जो कामवासना बढ़ाती हैं, कव्वालियां भी बहुत सी ऐसी ही होतीं। ये सब अनर्थदण्डव्रतके अतिचार हैं, रागद्वेषवर्द्धक छंद शास्त्रका चिन्तन करना ऐसा मन खोटी प्रवृत्ति वाला कहलाता है। पापकी कथा करके दूसरे मन, वचन, कायको बिगाड़ने वाली वाणी कहना यह वचनका असमीक्ष्याधिकरण है। कुछ प्रयोजन नहीं पर गमन कर रहे, बिना प्रयोजन जहां चाहे बैठना दौड़ना, पटकना फैंकना, जो चाहे चीज जहां चाहे ढकेलना। पत्ता पुष्प आदिकका छेदन करना, किसीको विष देना, शस्त्र देना, कोई चीज छोटी भी है तो भी उसे घसीटकर ही उठाना, कोई बहुत बड़ी चीज है और मानलो नहीं है उस समय कोई दूसरा साथी सहयोगी तो कभी मानलो थोड़ा सरका लिया, देख लिया, चीटियां नहीं हैं यद्यपि वह भी दोष है मगर ऐसी आदत बन जाना कि छोटी भी चीज हो तो उसे भी सरका देना, जैसे थाली धरी है, दूर है तो उसको उठाकर धरनेकी आदत न हो तो उसे भी सरका देना, यह तो बिना प्रयोजन कायकी चेष्टा है ; यह कायका असमीक्ष्याधिकरण है।

अनर्थदण्ड व्रतके अतिसंग्रहनामक अतिचार—पांचवा अतिचार है अतिप्रसाधन—जितने भोगोपभोगके साधनोंसे निर्वाह हो जाय उससे अधिक बिना प्रयोजन संग्रह करे तो वह अतिसंग्रह अतिचार है। जैसे २०-३० ताले पड़ें हैं, टूटी फूटी जो कुछ घरमें चीजें पुरानी हो गई उनको रखते जा रहे, बाजार गए, सस्ती चीजें मिली तो उन्हें खरीदकर भर रहे, चाहे वे जिन्दगीभर काम न आयें मगर एक शौक होता है ऐसी व्यर्थकी चीजोंका संग्रह करनेका। खैर बच्चे लोग भी ऐसा खेल खेलते कि माचिसके खोलोंका संग्रह करते, उनमें कंकड़ या इमलीके बीज भरते और उनका खेल खेलते तो कमसे कम उनका यह तो प्रयोजन होता कि उनसे खेल खेलना और दिल बहलाना, पर इन बड़े लोगोंका तो कुछ प्रयोजन ही समझमें नहीं आता। व्यर्थ ही ऐसी हजारों चीजोंका संग्रह करते जो कुछ काम नहीं आती, फायदा जिनसे कुछ नहीं, बल्कि उनके खरीदनेमें हजारों रुपयेका नुकसान होता है।

विचित्र अनर्थदण्ड—गुजरातमें एक काम सुननेमें आया कि कहीं कहीं कुछ ऐसा रिवाज है कि किसी किसी अवसर पर स्त्रियोंके केश गूँथे जाते हैं, जिसे कहते हैं, जूड़ा चोटी करना, तो बताते हैं कि वे पांच-पांच सौ रुपये तकके जूड़े गूँथे जाते हैं, पता नहीं उनमें क्या खास बात है? है तो यह फिजूलका ही काम। ऐसे कामोंको तो अनर्थ दण्ड कहेंगे। अरे क्या प्रयोजन पड़ा है केवल जूड़ाचोटी करनेका ५००) खर्च करनेका? न उसका आजीविकासे सम्बंध न धर्मसाधनासे। उसके सम्बंधमें क्या अधिक विचार करना कि ऐसे केश सम्हालना, ऐसा जूड़ा चोटी करना। कपड़ोंके सम्बंधमें भी ऐसी ही बात है। क्या उसका विशेष ध्यान देना कि ऐसी डिजाइनके चाहिए, ऐसा ऐसा कलर चाहिए, ऐसा फैशन चाहिए

··· अरे ये सब व्यर्थके खर्चकी बातें हैं और इनसे रागद्वेष भी बढ़ता है तो ऐसे अनर्थ दण्डोंसे यह व्रती श्रावक दूर रहता है। और देखिये जिन बच्चों का भवितव्य अच्छा है वे अधिक शौक शृंगारमें नहीं पड़ते, सीधे सादे वस्त्र पहनते, क्या रखा है फिजूलके शौक शृंगारमें? आजकल देखनेमें आता कि बहुतसे लड़का लड़की अपने अंगूठेका नाखून रखा लेता शोभाके लिए, कोई-कोई तो चार-पांच अंगुलियोंमें भी नाखून रखा लेते, यह कैसा फिजूलका काम है कि जिससे कुछ लाभ नहीं बल्कि सारी हानि ही हानि है। आखिर है तो वह नाखून मल ही। उससे क्या शोभा मानना, कहीं लिहाफ चद्दर आदिमें फंस जाय तो वह भी फट जाय या स्वयंको बड़ी पीड़ा पहुँचे। क्या लाभ उनसे? ऐसा भी तो नहीं है कि किसीसे लड़ते समय वह चाकू जैसा काम कर सके। जिनमें कुछ काम काज नहीं करना। बैठे रहते फाल्तू वे ही इस तरहका शौक करते। जो लोग अपनी पांचों अंगुलियोंके नाखून बढ़ा लेते उन्हें तो पंचानन कहना चाहिए। पंचानन कहते हैं सिंहको। जैसे सिंहके पंजे बड़े पैने होते, वे अपने पंजोंके द्वारा दूसरे जीवोंका घात कर सकते ऐसे ही ये भी दूसरोंको अपने तेज नाखूनोंसे कष्ट दे सकते और स्वयं भी कष्ट उठां सकते। तो कुछ फायदा नहीं इस प्रकारके व्यर्थके कामोंसे। ये सब धर्म विरुद्ध काम हैं, इनका तो त्याग कर ही देना चाहिए।

अक्षर्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमणाम्।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये॥ ८२॥

भोगोपभोगपरिमाणव्रतका वर्णन—श्रावकके १२ व्रत यहां बताये जा रहे हैं। इनमें ५ अणुव्रतका कथन पहले हो चुका। उन अणुव्रतोंके पोषण करने वाले पूरण करने वाले तीन गुणव्रत कहे जा रहे हैं, जिनमें (१) पहला गुणव्रत है दिग्व्रत। दिग्व्रतमें दसों दिशावोंके गमनागमन व्यवहार करनेके क्षेत्रकी सीमा किया, फिर उस सीमाके अन्दर ही कोई अनर्थ दण्ड न हो, जैसे कोई सोचे कि हमने जितनी सीमा ली है उसके भीतर हम कैसा ही कुछ भी करें, तो जैन शासनका यह हुक्म नहीं है। उस सीमाके अन्दर भी अनर्थदण्ड न कर सकेगा। निष्प्रयोजन पापारम्भ न कर पायगा। अब इसी प्रकार भोगोपभोग परिमाण व्रतकी बात कही जा रही है कि उस सीमाके अन्दर उसे भोग और उपभोगका परिमाण भी रखना होगा। ५ इन्द्रियके विषयोंका जो राग है उस रागकी आसक्ति घटानके लिए भोगोपभोग परिमाण किया जाता है। संसारी जीवके इन्द्रियके विषयमें अतीव अनुराग अनादिसे चला आया है, जिस रागके कारण व्रत संयम दया क्षमा आदिक कोई गुण नहीं ठहर पाते। तो अब यह दुर्लभ मानवजन्म पाया, जैन शासनका सुयोग पाया और आत्म करुणा करके गृहस्थने अणुव्रतका धारण किया सो अब यह ५ पापोंसे उत्पन्न हुए अन्यायके विषयमें प्रीति नहीं कर रहा और फिर यह न्यायके विषयोंमें भी तीव्र राग नहीं कर रहा। ५ इन्द्रियके विषयोंको अन्यायसे भोगे हड़पे यह तो व्रती श्रावकके सम्भव ही नहीं है, पर न्याय अनुकूल जो विषय प्राप्त हुए हैं गृहस्थीकी नीति के अनुसार उनमें एक तीव्र राग नहीं रखता तो उन विषयोंका राग कम करनेके लिए जिसका प्रयोजन नहीं पड़ा सो इन्द्रिय विषयोंमें भी वह सीमामें लगता है। भोग और उपभोगमें परिमाण करता है। इन्द्रियके विषयोंमें निरर्गल प्रवृत्ति नहीं करता, इस ही का

नाम है भोगोपभोग परिमाण ये सब व्रत आश्रवके कारण भी होते, सम्वरके कारण भी होते। जितने अंशोंमें राग है उतने अंशोंमें आश्रव चल रहा है, पर इन पापोंसे विरक्ति रूप जो परिणाम है उस परिणामसे तो सम्वर ही चलता है। अब भोग और उपभोग दोनोंका परिमाण बताया गया तो भोग मायने क्या और उपभोग मायने क्या? इस बातको स्पष्ट करते हैं।

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगोभुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसन-प्रभृतिःपञ्चेन्द्रियो विषयः॥ ८३॥

भोग और उपभोगके पदार्थोंका विश्लेषण—जो एक बार भोग करके छोड़ने ही योग्य होता है उसे तो कहते है भोग और भोग करके फिर भी भोगने योग्य होवे उसे कहते हैं उपभोग। अर्थात् जो एक बार ही भोगनेमें आ सकें ऐसी वस्तुवोंको कहते हैं भोग और जो अनेकबार भोगनेमें आये उसे कहते हैं उपभोग। जैसे भोजन एक बार खा लिया तो क्या उसे फिर खाया जा सकता? जैसे जलसे स्नान किया तो स्नान किए गए जलसे कोई नहा सकता है क्या? नहीं नहा सकता, ऐसे ही जो चीज एक बार भोग ली उसे दुबारा न भोगना यह है भोग। जैसे तेल मालिश एक बार शरीरमें किया, अधिक अगर तेल लग गया तो उस तेलसे कोई दूसरा भी मालिश कर लेगा क्या? अरे खुद भी न करेगा। अगर अधिक तेल लग गया तो इसको थोड़ा पौंछ कर कटोरीमें रख लें, कल फिर इसे लगायेंगे ऐसा भी कोई करना पसंद करता क्या? कोई नहीं पसंद करता। फूलमाला किसीने एक बार पहिन लिया हो तो उसे दुबारा कोई पहनना पंसद नहीं करता। ऐसे ही उपभोग बार-बार भोगनेमें आये—जैसे वस्त्र। वही कमीज कल पहिनकर आये, वही आज पहने हैं। पहनते जावो जब तक जी चाहे, ऐसे ही चारपाई तखत, चश्मा आदिक अनेक चीजें हैं जो बारबार काममें आ रही है, उनका नाम है उपभोग। जो एक बार ही भोगनेमें आये फिर भोगने योग्य न रहे ऐसे तो भोग हैं जैसे भोजन, चंदनका लेप, फूलकी माला, इतर लगाना और जैसे गहने, वस्त्र, स्त्री, आसन, पलंग, घर, बगीचा, चित्राम आदिक ये बारबार भोगनेमें आते हैं। तो ये उपभोग कहलाते हैं।

भोग व उपभोगके परिमाणकी प्रक्रिया—भोग व उपभोगका परिमाण व्रती श्रावकके होता है परिमाण होनेसे राग घट जाता है, बस इतना ही तक विकल्प रहा। इसी व्रतके आधार पर हरी का त्याग किया जाता। जैसे ५० हरी रख ली जीवनभरके लिए, २५ रख ली, १० रख ली तो उससे यह होता है कि शेष जो लाखों करोड़ों जातिकी वनस्पतियां है उनकी हिंसाका दोष नहीं आया। बस १०-२० हरीके सिवाय बाकी सबका त्याग हो गया, पर उन सबका नाम लेकर हो तब है। कोई कहे कि जिन्दगीभर मैं १० हरी खाऊंगा और उनका नाम न लें तो उन १० में सब आ गए। तो हरीका नाम लेकर जो त्याग करनेकी पद्धति है वह भोगमें ही प्रमाण किये जा रहे हैं, ऐसे ही उपभोगका परिमाण करें, इतने वस्त्र रखेंगे, इतने बर्तन रखेंगे, उसका परिमाण होता है। यद्यपि सहज वृत्तिसे लोग ज्यादह नहीं रखते बर्तन आदिक, जितनी आवश्यकता है उतने ही रखते, आवश्यकता नहीं है सो नहीं रख रहे। प्रायः हो रहा है सब घर, पर जिसके नियम नहीं है, परिमाण नहीं है वह किसी भी वस्तुको देखकर मन

चला सकता है और ला भी सकता है, उसके चित्तमें एक नियंत्रण नहीं है कि इतनेसे ही मेरा सम्बंध रहेगा। अन्यसे मतलब नहीं। तो ये सब भोगोपभोग परिमाण व्रत हैं। इन भोगोपभोगका परिमाण रखना। अब यह बतला रहे हैं कि परिमाण करने वाला जीव अभक्ष्य चीजोंका कभी सेवन नहीं करता, उनके बारेमें यावज्जीव त्याग करता है, सो तीन श्लोकोंमें बतला रहे हैं।

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रंपिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं, जिनचरणौ शरणमुपायातैः॥ ८४॥
अल्पफलबहुविधाता-न्मूलकमार्द्राणि श्रृङ्गवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम्॥ ८५॥
यदनिष्टं तद् व्रतये-द्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति॥ ८६॥

आजीवन त्यागने योग्य अभक्ष्य पदार्थ—कौन-कौनसे पदार्थ अभक्ष्य हैं जिनका यावज्जीव त्याग करना चाहिए? उनमेंसे (१) प्रथम है त्रसघात। जिन पदार्थोंके सेवन करनेसे त्रस जीवोंका घात हो वे पदार्थ सदाके लिए त्याग करना चाहिए। जिन्होंने जिनेन्द्र भगवानके चरणोंका शरण लिया है, आत्माकी उन्नतिकी अभिलाषा है ऐसे पुरुषोंको त्रसहिंसाके त्यागके वास्ते मद्य, मांस, मधुका सर्वथा त्याग करना चाहिए। मद्यमें हिंसा है और बेहोशी भी है। जो मद्यपायी हैं उनका चित्त ठिकाने नहीं रहता। इन तीन श्लोकोंमें ४ बातें तो स्पष्ट कही गई हैं। त्रसघात, बहुघात, अनिष्ट और अनुपसेव्य। किन्तु अभक्ष्य होते हैं ५ प्रकारके, एक प्रमादकारक और है, सो जहां मद्यका वर्णन किया उस उपलक्षणसे प्रमादकारक अनेक चीजोंका ग्रहण कर लेना चाहिए। कोई अधिक बेहोशी लानेवाला पदार्थ है, कोई थोड़ा है, जैसे मद्यसे थोड़ा कम बेहोशी लाने वाले पदार्थ होंगे। भंग, गांजा, चरस, अफीम वगैरह। उनसे कम तम्बाकू होगी, उससे कम चाय वगैरहमें होगी। अब इनमें कितना कम और कितना अधिक नशा है इसका हमें सही पता नहीं आप लोग खुद समझते होंगे।

त्रसघात अभक्ष्य—मांस—इसके विषयमें सबको भली प्रकार श्रद्धा है कि यह अभक्ष्य, देखनेमें भी बुरा लगता है, छूनेमें भी डर लगता है, निरन्तर उसमें जीव पैदा होते रहते हैं। कच्चा हो मांस तो, पक्का हो तो ऐसी त्रसघात वाली चीज तो जीवनपर्यन्त त्याग ही देना चाहिए। उसमें परिमाण नहीं होता। तीसरा है मधु। मधु भी अभक्ष्य है, उसमें भी निरन्तर जीव पैदा होते रहते हैं। कोई कहे कि हम बक्समें मधु तैयार करेंगे, मक्षी पाल लेंगे, तो कुछ भी करें पर मधु स्वयं त्रस जीवोंके घातका स्थान है। आखिर कय, (उगाल) ही तो है। जैसे किसी मनुष्यको कय हो जाय तो उसमें जीवजन्तुवोंकी उत्पत्ति हो जाती ऐसे ही यह मधु मक्खियोंकी कय है। इसमें निरन्तर जीव उत्पन्न होते, और इसके अतिरिक्त मधु छत्ताको निचोड़नेमें मधुमक्खीके बच्चे ही कितने मर जाते हैं। यह भी सर्वथा त्यागने योग्य है, ये तो कहलाये त्रस घात। ये सबसे कठिन अभक्ष्य हैं, इनका प्रयोग करने वाले तो जैन नहीं कहला सकते।

बहुघात अभक्ष्य—दूसरा अभक्ष्य है बहुघात याने जिन फलोंमें अनन्त निगोद जीव बस रहे हैं,

एक फलके खानेसे अनन्त एकेन्द्रिय जीवोंका घात होवे, वह बहुघात अभक्ष्य कहलाता। जैसे कंदमूल, अदरख, शृंगबेल, मक्खन, फूल, केतकी, केवड़ा आदिक, ये सब बहुघातमें शामिल हैं। इनके सेवनका फल तो थोड़ा है, जरा देरका स्वाद ले लिया कुछ मौज माना, पर क्या है—घाटी नीचे माटी। कौर पेटमें चला जानेके बाद फिर उसका स्वाद रखा है क्या? तो जितनी देर जीभपर वस्तु है उतनी देरको स्वाद आया, इतना तो फल है जैसा कि लौकिकजन मानते हैं। और विघात कितना है? बालका जो अग्रभाग है याने सूईकी नोक बराबर जगहमें अनन्त निगोद जीव बसे हैं उन फलोंमें बहुघात वाले फल हैं। तो घात कितना एकेन्द्रियका हुआ? यद्यपि वहां मांसका दोष तो नहीं आया, क्योंकि एकेन्द्रिय जीवोंमें मांस नहीं होता। पर अनन्त एकेन्द्रियका तो घात हुआ। तो जीवोंकी उत्पत्ति योनि स्थान आदिका ज्ञान रखने वाला श्रावक है। वह ऐसी वस्तुवोंका भक्षण न करेगा जिसमें बहुतसे एकेन्द्रियका भी घात हो।

अनिष्ट अभक्ष्य—चौथा अभक्ष्य है अनिष्ट। जो पदार्थ है तो भक्ष्य, बल्कि अठपहरे घी का बनाया हो, मर्यादाका हो, ऐसे कोई भी पकवान या मावाके पेड़े आदिक हैं तो शुद्ध मगर किसीको तेज बुखार हो तो वे उसके लिए अभक्ष्य हैं, याने उन्हें न खाना चाहिए। उस कालमें ऐसे पदार्थ भी अभक्ष्य कहलाते हैं, और क्यों अभक्ष्य हैं कोई पूछे तो उसका उत्तर है कि रोग बढ़ेगा। तो बढ़ेगा रोग पर उससे पदार्थ अभक्ष्य कैसे हो गया? तो पदार्थ अभक्ष्य यों हो गया कि ऐसा रोग बढ़ेमें इस तरहकी चीज न खाना चाहिए। वैद्य लोग मना करते हैं और फिर भी यह खाता है तो आसक्ति अधिक कहलायी, इतनी बात तो माननी ही पड़ेगी। और जहां आसक्ति अधिक है, राग अधिक है वहां पापका बंध है इस कारण अनिष्ट वस्तु भक्ष्य नहीं होती। कितने ही लोग जैसे बुखारमें पड़े हैं और लोग मना करते हैं कि भाई उड़दकी दालके बड़े या मंगौड़ी पकौड़ी न खाना चाहिए, और रोगीकी खाट जहां बिछी है मानलो वहां हो पासमें ही रसोईघर और वहां वे सब चीजें धरी हों तो वह रोगी सबसे आंख बचाकर चोरीसे उठाकर खाता है, क्योंकि वह अनिष्ट चीज है। उसे सबके सामने खानेमें कुछ चित्त नहीं चाहता कि लोग क्या कहेंगे। यह बड़ा हठी है, ऐसी अनिष्ट चीज खाता है, तो चोरीसे खा लेता है। तो इन सब बातोंसे आप जानें कि भले ही वे भक्ष्य पदार्थ हैं शुद्ध ही मगर जिसको वे अनिष्ट हैं उसके लिए अभक्ष्य है।

अनुपसेव्य अभक्ष्य—५वां अभक्ष्य है अनुपसेव्य। जो चीज भले ही ठीक हो, हिंसा भी न हो मगर भले पुरुषके द्वारा सेवन करने योग्य न हो तो उसे खाये तो वह अनुपसेव्यका भक्षण कहलाया। जैसे मूत्र, लार। जैसे मुखसे लार निकली और जरा सी नीचे आयी और उसीको पोंछकर चाट ली। चाटता नहीं है कोई, कोई कहे कि लारमें क्या दोष है? न त्रस जीवोंकी हिंसा है न बहुतसे एकेन्द्रियकी हिंसा है। भले ही देर तक तत्काल गिरी उसमें क्या दोष है? अरे भाई अनुपसेव्य है। यों तो गधीका दूध भी है, उसके पी लेनेमें क्या दोष है? इसमें कौनसा दोष लग गया? त्रस जीवोंका घात हुआ कि एकेन्द्रियका घात हुआ? मगर अनुपसेव्य है। हाथीके दांतसे छुई हुई चीज। शंखसे, बालसे छुई हुई चीज भोजनके लिए छूने योग्य नहीं है, ऐसे ही मूत्र, मल, कफ उच्छिष्ट भोजन ये सेवने योग्य नहीं है। अब जूठा भोजन किसे कहेंगे? जो दूसरा न खा सके। एक थालीमें अब तो सब लोग खाने लगे और उसीमें हर एक चीज उठा उठाकर खाते हैं कई कई लोग, फिर भी वहां इतना विवेक करना चाहिए कि

जो चीज ऐसी है कि जिसको खाया जाय और मुखमें अंगुली पहुंचे और उसका कुछ हिस्सा उठानेसे भोजनमें लग जाय वह तो नियमसे अन्यके खाने योग्य नहीं है। भले ही कुछ चीजें साफ सुथरी अलग-अलग धरी हैं उनमेंसे उठाकर खा लिया, थाल एक है तो नहीं है उच्छिष्ट मगर जिसमें मुखसे, लारसे, किसी चीजका जरा भी सम्बंध हो जाय वह चीज न खाना चाहिए, और चम्मचसे खानेकी पद्धति जो आजकल चली वह तो बिल्कुल ठीक नहीं। चम्मचसे खानेमें एक तो चम्मज मुखके अन्दर गया, उसका सम्बंध लारसे हुआ, व चम्मचमें भी कुछ अंश जूठेका चिपका रहा, सो खिचड़ी या चावल दाल जो भी खा रहे उसके अन्दर वह चम्मच गई तो वह तो बिल्कुल अशुद्ध हो गया, फिर भी लोग एक थालीमें बैठकर चम्मचोंसे खाते रहते, पता नहीं उन्हें खाते हुएमें ग्लानि क्यों नहीं आती। अच्छा आप अगर कहें कि अंगुलीमें भी ऐसा ही होता है तो अंगुलियोंसे जो उच्छिष्ट होता है वह एक अपना अंग है हाथ का अवयव है। और अशक्य है हाथका अलग करना। यह भी तो विचारा जाता है कि शक्यानुष्ठान और अशक्यानुष्ठान। वे तो विरुद्ध चीजे हैं। उसे तो बचाया जा सकता है, पर यह हाथका अंग है, इसे नहीं बचाया जा सकता फिर भी जैसा जो करता हो ठीक है पर है वह उच्छिष्ट। और ऐसा उच्छिष्ट स्वयंका स्वयंके लिए तो वर्जनीय नहीं हो पाता है, मगर दूसरोंके लिए वह त्याज्य है यह बात मुख्य लेना है।

किसीके छूनेसे भी अनुपसेव्य हो जाता है आपके टिफिन बाक्ससे या भोजनसे कोई अस्पृश्यका, चाण्डालका हाथ लग गया, अब आप यह बतलावो कि उसमें त्रसघात हो गया क्या, या एकेन्द्रियका घात हो गया क्या? यहां घातकी बात नहीं है। पर वह अनुपसेव्य हो गया। भले पुरुषके सेवने योग्य नहीं रहा। इसी अनुपसेव्यके आधारपर यह छुवाछूत बढ़ी, उस भोजनमें। अब आप देखिये—यदि महिलाका कोई धोतीका छोर किवाड़से लग गया तो झट भोजन त्याग देते, ऐसे भी कोई तेज व्रती पड़ें हैं। भला बताओ उसमें अभक्ष्यकी कौनसी बात आयी? अभक्ष्य तो ५ तरहके हैं, उन्हें ५ में की बात बोलना चाहिए तब तो कहा जा सकता कि हां भक्षण करने योग्य वह भोजन नहीं, मगर वह अनुपसेव्य कैसे? तो ऐसा अनुपसेव्य माना जाता कि कोई ऐसा आदमी छू ले या किसी बाहरी वस्तुका संयोग हो जाय तो वह अनुपसेव्य होता है। कोई बहुत बढ़-बढ़कर अनुपसेव्यकी संज्ञा दे देना यह बात न निभेगी। जो उचित है वह निभना चाहिए एक होता है अनुपसेव्य। जैसे कुत्ता बिल्ली आदिकसे छू गया या किसी मांसभक्षीने बनाया, शराब पीने वालेने बनाया, ऐसा भोजन यह लोकनिन्द्य है और यह अनुपसेव्य कहलाता है। तो ये ५ प्रकारके अभक्ष्य हैं जिनका सेवन न करना चाहिए, और इसके पालनके लिए कुछ और भी विवेक करना होगा।

अभक्ष्यसे बचनेके लिए कुछ विवेकपूर्ण कार्य—अन्न आदिक घरमें थोड़े रखना। बहुत अगर रखा कि भाई साल भरको इकट्ठे रख लिए जायें और उसकी सावधानी न रख सके, उसमें घुन लग जाय तो फिर उसे आप क्या करेंगे? दूसरोंको दे देंगे या कहीं फेंक देंगे। सो थोड़ेसे ले आये, जब निपट गए तो दुबारा ले आये, माह दो माहका रख लिया, फिर ले आये। इस प्रकारसे तो उसका चल जायगा, और अगर विवेकपूर्वक कोई सालभर भी रखे तो उसमें नीमकी पत्तियां डालकर या कोई पाउडर

डालकर या पारा मिली मिट्टी डालकर इस तरहसे भी कोई सालभर गेहूं रख सकता, फिर भी कमसे कम रखे तो वह अभक्ष्य त्यागका पालन कर सकता है। भोजनकी जो मर्यादा बतायी गई है उस मर्यादामें उसे खा लेना चाहिए, उससे बाहर न खाना चाहिए। जैसे रोटी दाल, साग खिचड़ी वगैरहकी जो म्याद बतायी गई उससे बाहर न खाना चाहिए। बासी खाना खानेका निषेध है। बासी खानेमें स्वादका भी अन्तर पड़ जाता है। अभक्ष्यकी निशानी यह है कि जो असली स्वाद होना चाहिए वह बिगड़ जाता है। ऐसा रस चलित पदार्थ न खाना चाहिए। जैसे सबकी म्याद बतायी गई है, रोटी, पूड़ी, परामठा इनकी म्याद एक दिनकी है। कड़ाहीमें पकी हुई चीज जैसें बूंदी वगैरह जिनमें पानी तो नहीं रहता मगर पानी पड़ा था बनते समय वह चीज तो दूसरे दिन भी खायी जा सकती है और जिसमें पानी बनाते समय भी नहीं डाला जाता बेसनके लड्डू वगैरह वे उतने दिन खाये जा सकते जितनी कि बेसनकी म्याद है ऐसी अनेक म्याद हैं जिन्हें आप सब लोग करीब-करीब जानते ही हैं। म्यादके अन्दर भोजन करना, उससे बाहर न लेना। अगर उससे बाहर लेवे तो कई चीजें तो अनुपसेव्य हो जाती हैं और कई चीजोंमें तो त्रसघातका भी दोष होता है, ऐसे ही भोगोपभोगका परिमाण करना ये सब भोगोपभोग परिमाण व्रत हैं।

नियमो यमश्च विहितौ, द्वेधा भोगोपभोगसंहारे।
नियमः परिमितकालो, यावज्जीवं यमो ध्रियते॥ ८७॥

भोगोपभोगपरिमाणकी कालापेक्षया दो पद्धतियां—इस छंदमें भोगोपभोग परिमाण व्रतका दो पद्धतियोंमें पालन बताया गया है। (१) नियमरूप पद्धति, (२) यमरूप पद्धति। और जीवन पर्यन्त भोगोपभोगका परिमाण करना यह यमरूप पद्धति है। भोग वह कहलाता है जो एक बार भोगनेमें आये, जैसे आहार आदिक और उपभोग कहलाता है वह जो बारबार भोगनेमें आये, जैसे वस्त्र आभूषण आदिक। उनका परिमाण सद्गृहस्थ दो प्रकार से करते हैं। जैसे किसी चीजकी म्याद लेकर उसका त्याग कर दिया कि मैंने इतने घंटेके लिए या इतने दिनोंके लिए अमुक चीजका त्याग कर दिया यह तो है नियमरूप पद्धति और किसी चीजका यावज्जीव त्याग करना यह है यमरूप पद्धति। यहां और भी विशेषता जानें कि व्रती श्रावकजनोंको तो यमरूप त्याग करना ही होगा, चाहे वे परिमाण अधिक रखलें पर उसके भीतर कुछ कालके लिए भोगोपभोगका परिमाण घटा लेना, जैसे कि दिग्व्रतमें जन्म पर्यन्तके लिए मर्यादा थी। पर उस मर्यादाके भीतर कुछ समयकी मर्यादा लेकर थोड़ा क्षेत्र और कम कर लिया कि मैं इतनेसे अधिक जगहमें व्यवहार न करुंगा, और उनके दिग्व्रतको अलग नहीं कहा समन्तभद्राचार्यने। गुणव्रतके तीन भेद किए (१) गुणव्रत (२) अनर्थदण्डव्रत और (३) भोगोपभोग परिमाणव्रत। तो जैसे दिग्व्रतमें यावज्जीव मर्यादा है गमनागमनकी उसके भीतर कालकी अवधिसे और भी कम म्याद रखी है, ऐसे भोगोपभोग परिमाणमें मर्यादाकी हुई है। जैसे ४० हरी रखूँगा, ४ धोती रखूँगा, इतने बाह्य रखूँगा आदि यों सभी चीजोंकी मर्यादाकी, पर उसके भीतर सोच लिया कि दस दिन दस लक्षण पर्वमें मैं इतने कपड़ोंसे अधिक न रखूँगा, पर उससे भी कम मर्यादा कर लेना ये दो भोगोपभोग

परिमाण व्रत होते हैं। भोगोपभोग परिमाण करनेसे इन्द्रियांवश हुई, इच्छायें घट गई, कर्मोंका आश्रव मंद हो गया, व्यवहार शुद्ध होता, इससे वर्तमानमें भी उज्ज्वलता रही और भविष्य कालके लिए भी उसका उज्ज्वल मार्ग रहा। सो विरुद्ध भोग तो कभी करना ही नहीं पर जो योग्य भोग है, उपभोग है उसमें भी नियम करना। ऐसे एक परिणामोंकी विशुद्धि और रागभावके घटनेके कारण इस व्रतमें कर्मोंकी निर्जरा होती है।

भोजन-वाहन-शयन-स्नान-पवित्राङ्गरागकुसुमेषु।
ताम्बूलवसनभूषण-मन्मथसङ्गीत-गीतेषु॥ ८८॥

भोगोपभोग परिमाण नामक व्रतमें रोज ही नियम किया जाता है—यम रूप तो है ही पर नियम भी किया जाता है तो वे किन विषयोंके नियम होते हैं उनको उदाहरण रूपमें बतलाते हैं। (१) भोजन आज इतनी बार करुंगा, इतने अन्न, इतने रस लूँगा। इतनी चीजें खाऊंगा, इस प्रकार भोजनकी सीमामें नियम होता है। (२) वाहन मैं आज इतनी सवारियोंका उपयोग करुंगा। हाथी, घोड़ा, ऊंट, बैलगाड़ी, नाव, जहाज आदिक जिनमें बैठकर गमन हो वे सब वाहन हैं कोई पालकीमें चले वह भी एक वाहन है। इन वाहनोंका नियम करना कि आज मैं इतने वाहनोंका उपयोग करुंगा और उससे अधिकका उपयोग न करुंगा। यों कालकी मर्यादा लेकर ऐसा वाहनका नियम किया जाता है। (३) तीसरा है शयन नियम। पलंग, खाट आदि शैयाका नियम करना। आज मैं पलंगपर शयन करुंगा, या तखत पर शयन करुंगा या भूमिपर शयन करुंगा, ऐसे नियमको शयनका नियम कहते हैं। (४) स्नान—आज मैं एक बार स्नान करुंगा या स्नान न करुंगा, जिस दिन उपवास किया उस दिन स्नान नहीं किया जाता, या अन्य किसी स्थितिमें स्नानके बारका नियम रखना यह स्नानका नियम है। (५) पांचवा है पवित्राङ्गराग याने अंगमें चंदन, कपूर आदिकका लेप करना मैं एकबार लेप करुंगा, इससे आगे न करुंगा आदि प्रकारसे नियम लेना पवित्राङ्गराग नियम है। (६) एक है कुसुमका नियम—माला पहिनना या अन्य आभरण आदिक धारण करना यह कुसुम सम्बन्धित नियम हैं। (७) एक नियम है ताम्बूल—इसमें पान खानेका नियम लिया जाता है कि आज मैं इतनी बार पान खाऊंगा। यहां यह बात जानना कि व्रती श्रावक पानका नियमले ले तो इसके मायने हैं कि पान स्वरूपसे अभक्ष्य नहीं है। अरे पान तो स्वरूपसे ही अभक्ष्य है। इसके अतिरिक्त इलायची लौंग आदिक जो खानेकी चीजें नहीं हैं, केवल एक मुख सुधारनेकी, स्वाद लेनेकी हैं उन सबका इसमें नियम होता है। (८) एक होता है वसन अर्थात् वस्त्रका नियम, मैं इससे अधिक वस्त्र न पहनूँगा, ऐसा दिनका नियम लेकर करता है। (९) एक होता है आभूषणका नियम—मैं आज इतनेसे अधिक आभूषण न पहनूँगा, इस प्रकारके नियम कर लेना आभूषण नियम है। (१०) एक होता है मन्मथ नियम—याने आज मैं काम सेवन नहीं करुंगा इस प्रकार का नियम लेना मन्मथ नियम है। (११) एक होता है संगीत नियम—आज मैं न तो संगीत सुनाऊंगा और न खुद सुनूँगा या एक बार सुनूँगा आदि प्रकारसे नियम लेना संगीत नियम है। (१२) एक

होता है गीतनियम—आज मैं इतनी देर गीत सुनूँगा, इससे अधिक नहीं, इस प्रकारका नियम लेना गीत नियम है।

अद्य दिवा रजनी वा, पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा।
इति कालपरिच्छत्या, प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः॥ ८९॥

नियमरूप प्रत्याख्यानका लक्षण—उक्त श्लोकमें यह बताया था कि नियमकी पद्धतिसे और यमकी पद्धतिसे भोगोपभोगका परिमाण होता है। तो नियमका अर्थ क्या है वह इस छंदमें आचार्यने बताया है। आज दिन रात पक्ष माह दो माह, ऋतु अयन (छहमाह) आदिककाल परिमाण करके वस्तुका त्याग करना सो नियम कहलाता है। सल्लेखना मरण भी दो पद्धतियोंसे किया जाता—(१) नियम वाला, और (२) यम वाला। यममें तो यावज्जीव त्याग होता। जिसका भी त्याग किया और नियममें कोई सीमा लेकर त्याग किया जाता। कभी-कभी ऐसा भी हो जाता कि तबियत बहुत अधिक बिगड़ी सी मालूम होती है और जान लेता है कि अब तो मेरा मरण समय है तो वह हमेशाके लिए अन्न जल औषधि वगैरह सबका त्याग कर देता है। और त्याग कर देनेसे अगर तबियत ठीक भी हो जाती तो भी समाधिमरण करनेपर संक्लेश बनेगा ऐसी स्थिति आ सकती। इसलिए सल्लेखना बतायी गई है कि वह नियम रखकर समाधि मरण करे अगर वह कुछ सीमा रखकर त्याग करता है तो उसे सल्लेखना नहीं है। ऐसे ही भोगोपभोग परिमाणमें नियमसे त्याग किया है कि मैं अमुक पदार्थका त्याग करता हूं। तो उसे कहते हैं नियम भोगोपभोग परिमाणव्रत। अब भोगोपभोग परिमाणव्रतके ५ अतिचार कहते हैं।

विषयविषतोऽनुप्रेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवो।
भोगोपभोगपरिमाण-व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते॥ ९०॥

निरतिचार व्रतोंके पालनका ध्येय स्वानुभवकी पात्रता बनाये रहना—जो पुरुष सहज परमात्म स्वरूपका अनुभव कर चुका और जिसकी धुन बन गई कि मुझको ऐसा सबका अनुभव जगता रहे, स्वानुभवकी धुनमें ही रहता है, पर शारीरिक शक्ति या परिस्थिति इतनी सुल्झी हुई नहीं है कि वह निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर केवल स्वानुभवके कार्यमें लगा रहे। उसे अनेक काम हैं, सहन नहीं हो सकती हैं भूख प्यास या अन्य वेदनायें तो वह घरमें रहता है। अब घरमें रहता हुआ वह ज्ञानी पुरुष इस विधिसे रहे कि वह स्वानुभव करनेका पात्र बना रहे तो उसके लिए बारह व्रत वाला वर्णन है कि इस विधिसे चर्या करे तो उसका मन वशमें रहेगा और उसे बहुत मौके मिलेंगे कि वह सहज परमात्मस्वरूपका अनुभव कर सकेगा। तो उस ही धारामें भोगोपभोग परिमाण व्रतका पालन करने वाला श्रावक कैसे दोषोंको न करे, इसका वर्णन इस छंदमें किया जा रहा है।

भोगोपभोग परिमाणव्रतके पांच अतिचार—पहला दोष है विषयविषतोऽनुप्रेक्षा विषयरूपी विषमें रागका न घटना। परिमाण भी रख रहा है पर मन चल रहा है। परिमाण रखकर भी इच्छा चल

रही है, उस विषय विषसे विमुक्त नहीं हो पाया हैं ऐसी अगर अन्तः स्थिति चलती है तो चूँकि उसने परिमाणका उल्लंघन तो नहीं किया, अधिक कुछ अपराध तो नहीं, जिसका परिमाणसे बाहर नाम है मगर कुछ मन चला तो यहां हुआ भोगोपभोग परिमाणका प्रथम अतिचार। यद्यपि समझनेमें यह भी आयगा कि जब मन चलता तब सब बिगड़ गया। व्रतके प्रति कुछ तो लगाव हो किसी ढंगसे, चाहे उसमें कितना ही भंग चल रहा हो मगर कुछ न कुछ उपयोग लगावमें रहेगा तो उसे अतिचार कहते हैं। जब व्रत सम्बंधी इच्छा न रही, एकदम स्वच्छंद हो गए तो वह अनाचार कहलाता है। दूसरा है अनुस्मृति पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंकी चाह करना अनुस्मृति नामका दोष है। जैसे कोई अपनी महिमा बतानेके लिए पहली बातोंको बहुत बताता है कि मैं ऐसे मौजमें रहता था, मैं दूध घी आदिक बहुत-बहुत लेता था, आदिक बहुत बातें बताना यह भी एक अतिचार है फिर उसके बारेमें स्मरण करना यह और भी बड़ा अतिचार है। भोगोपभोग परिमाणव्रतका तीसरा अतिचार है। अतिलौल्य—परिमाण तो कर लिया और जैसे मानो ५ हरी रखा तो छठी हरी तो नहीं खा रहा और उसी नामकी हरी ले रहा तो वह अतिलौल्य अतिचार है। क्योंकि भोगोपभोग परिमाणका उद्देश्य था कि आसक्ति न रहे। मगर वह आसक्ति कर रहा, पर परिमाणसे बाहर नहीं ले रहा, इतना उसमें लगाव है इसलिए वह अतिचारमें गिना गया है। चौथा अतिचार है अतितृषा—अनुपसेव्यमें यह था कि जिस समय भोग रहा है उस समय उसमें आसक्ति चलती रहती है, पर अतितृषामें आगामीकालमें मैं भोगूं, उसके प्रति भी तृष्णा लगी रहना यह अतितृषा नामका अतिचार है। पांचवा अतिचार है अनुभव। विषयोंको नहीं भोग रहा तिस कालमें भी वह ऐसा अभिप्राय बना रहा, संकल्प बना रहा कि मानो वह भोग ही रहा हो।

निरतिचार भोगोपभोग परिमाण व्रतके पालनहारके जीवनकी समीचीनता—देखिये किस-किस तरहके कर्मविपाक होते हैं? ज्ञानदृष्टिके बलसे अनुभवादिका अतिचार भी न लगे याने भोगे हुए भोगोंका ख्याल न बने ऐसा जीवनमें नियम संयमका रहता है तो बहुतसे दोष अपने आप दूर हो जाते हैं। जो मनकृत दोष है उनको दूर करनेका उपाय आश्रयभूत पदार्थोंका त्याग करना है। यद्यपि जो भी विकार जगते हैं उनका निमित्त कारण कर्मका ही उदय है। पर जो बुद्धिपूर्वक विकार बनते हैं, जिसे अनुभवता है। अपनी बुद्धिमें समझता है ऐसा विकार आश्रयभूत परपदार्थका कारण लिए बिना नहीं बनता, तो चरणानुयोगकी पद्धति इसी पर आधारित है कि वह आश्रयभूत कारणका त्याग करे ताकि उसका विकार हटनेका वह अवसर मिले। यह उसमें भावना रहती है। तो पहली प्रतिमासे लेकर ११वीं प्रतिमा तक और मुनिव्रतमें जो भी व्रतका आचरण है। बाह्य पदार्थोंका परित्याग है उसका यह ही उद्देश्य है जैसे कि लोग कहते हैं कि न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी, ऐसे ही न रहेगा परिग्रह और न मनमें कोई कल्पना आयगी। तो ऐसे भोगका उपभोग का और ऐसे अन्य पदार्थोंका परिमाण कर लेना यह भोगोपभोग परिमाण है। यहां तक तीन गुणव्रतका वर्णन किया और ८ व्रतके वर्णन सम्पूर्ण हुए। अब शिक्षाव्रतके ४ व्रत आयेंगे। शिक्षाव्रतका मतलब है कि ऐसी क्रिया चेष्टा विचार जिससे मुनिव्रत पालन करनेकी शिक्षा मिले उन नियमोंको कहते हैं शिक्षाव्रत। वे शिक्षाव्रत चार हैं जिनके नाम अगले छंदमें कह रहे हैं।

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैय्यावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि॥ ९१॥

चार शिक्षाव्रतोंका निर्देश—शिक्षाव्रत चार कहे गए हैं। (१) देशावकाशिक, (२) सामायिक, (३) प्रोषधोपवास और (४) वैय्यावृत्य। अन्य ग्रन्थोंमें और प्रकारसे नाम दिए हैं। यहां और तरह नाम दिए हैं। पर उससे फर्क कुछ नहीं आता। देशावकाशिक व्रतके दोषकी बात कही गई है। कालकी अवधि लेकर क्षेत्रमें और कम कर लेना जिससे बाहरी गमनागमन न हो। सामायिक है—तीन काल सामायिक करना। प्रोषधोपवास—प्रोषधोपवास है प्रोषध पूर्वक उपवास करना और वैय्या वृत्यमें अतिथि सम्विभाग व्रत आया और अन्य प्रकारसे भी वैय्यावृत्य आती है इन सबसे मुनिव्रतकी शिक्षा मिलती है। जितना अधिक कम क्षेत्र करें व्यवहारका उससे बाहरका विकल्प न रहा तो उस विधिसे मुनिव्रत आगे भली प्रकार पले उसका अभ्यास बनता है। तीन काल सामायिक करता, मायने राग द्वेषको दूर करता और यह ही करता है रातदिन मुनि, तो जो रातदिन मुनिकी आन्तरिक चर्या है उसका अभ्यास सामायिकसे बनता है। प्रोषधोपवासमें सप्तमी, अष्टमी नवमी इसीप्रकार त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णिमाको जल भी न लेना यह खास नियम है। चाहे शक्ति न हो तो तो अष्टमी चतुर्दशीको कुछ आहार ले लिया, वह जघन्य प्रोषधोपवास बन गया, पर तीन दिन शामको जल तक न लेना, और मुनिजन तो शामको जल लेते नहीं, तो उसका अभ्यास तो नहीं बनता। अतिथि सम्विभाग करता है तो जो मुनिको आहारदान कराता उसको भले प्रकार दिख जाता कि इस तरह आहार लेना चाहिए मुनि अवस्थामें। तो इन चारोंसे मुनिव्रतकी शिक्षा मिलती इस कारण इसे शिक्षाव्रत कहा गया।

देशावकाशिंक स्यात् कालापरिच्छेदनेन देशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां, प्रतिसंहारो विशालस्य॥ ९२॥

देशावकाशिक नामके शिक्षाव्रतका स्वरूप—शिक्षाव्रतके चार भेदोंमें यह पहला भेद देशावकाशिक नामका है जिसका दूसरा नाम है देशव्रत। अणुव्रतके धारी पुरुष अणुव्रतके बढ़ानेके लिए उनका निर्दोष पालन बने इसके लिए शिक्षाव्रत ग्रहण करते हैं। जिन वृत्तियोंसे मुनिव्रतकी शिक्षा मिले वे वृत्तियां उच्च ही तो हैं, जिनके कारण अणुव्रतका सही पद्धतिसे पालन और परिवर्द्धन होता है। देशव्रत कहते हैं दिग्व्रतमें ली हुई मर्यादाके भीतर और क्षेत्र घटाकर कालकी मर्यादासे परिमाण कर लेना, उसके बाहर न आना-जाना, इसे कहते हैं देशव्रत। पहले तो दिग्व्रतमें यावज्जीव मर्यादा की थी। अब उसमें भी बहुत कम मर्यादा करना याने क्षेत्र घटा लेना यह तो और विशेषताकी ही बात है। सो रोजकी मर्यादा या दिन माह आदिक कालकी मर्यादाका परिमाण कर लेना कि हमारा आज दसमी तक इस क्षेत्रका परिमाण है या आजकल इसी मोहल्लेका परिमाण है, या इन दो घंटोंमें हमारा मंदिर जी का ही परिमाण है। ऐसा परिमाण रखकर उसके बाहर न आना जाना, व्यवहार न करना सो देशव्रत कहलाता है।

गृहहारिग्रामाणां, क्षेत्रनदीदावयोजनानां च।
देशावकाशिकस्य, स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥ ९३ ॥

देशावकाशिक व्रतमें क्षेत्रकी मर्यादा रखनेकी पद्धति—अब देशव्रतमें क्षेत्रकी मर्यादा किस ढंगसे की जाती है इसका वर्णन इस छंदमें किया गया है। तपमें बढ़े हुए जोगणधर देव हैं वे बतलाते हैं कि देशावकाशिक व्रतमें इस तरहकी मर्यादा की जाती है गृहकी मर्यादा करना—आजके दिन मैं घरसे बाहर न जाऊंगा। कोई मोहल्लेकी मर्यादा करली, ग्रामकी मर्यादा करली, क्षेत्रकी मर्यादा कर ली कि मैं इतने क्षेत्रसे बाहर न जाऊंगा इतने समय तक अथवा नदी बनका नाम लेकर मर्यादा करना यह देशावकाशिक व्रतमें मर्यादाकी पद्धति है। इस मर्यादाका उल्लंघन करनेका अर्थ इतना भर है। ऐसा संकल्प करके करना गृहकी मर्यादा है। देखिये देशव्रतमें, क्षेत्रकी मर्यादा तो करली कि इतनेसे बाहर मेरा सम्बंध न होगा, पर उसको निर्दोष निभाना। उससे बाहर किसीको भेजना भी नहीं, बाहरसे बुलाना भी नहीं, कोई चीज बाहरसे मंगाना भी नहीं। एक बहुत नियंत्रणका काम है और इसीलिए यह शिक्षाव्रतमें लिया गया है।

सम्वत्सरमृतुरयनं, मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च।
देशावकाशिकस्य, प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥ ९४ ॥

देशावकाशिक शिक्षाव्रतमें कालकी मर्यादा रखनेकी पद्धति—ऊपरके छन्दमें तो क्षेत्रकी मर्यादा बताया था कि क्षेत्रमें रहने वाले नदी आदिकका नाम लेकर मर्यादा करना अथवा कोश योजनका परिमाण रखकर मर्यादा बनाना यों क्षेत्रकी मर्यादा कहा था, अब इस क्षेत्रमें कालकी मर्यादा कह रहे हैं। जो अभीष्ट पुरुष हैं, प्राग हैं, ज्ञानी संत हैं वे कालकी मर्यादा इस प्रकार बतलाते हैं देशव्रतमें। एक वर्षकी मर्यादा ले लिया, मैं एक वर्ष तक इतनेसे बाहर सम्बंध न रखूँगा अथवा ६ महीनेकी, चार महीनेकी एक पक्षकी अथवा एक नक्षत्रकी इस प्रकारकी म्याद लेकर मर्यादा बनाना कालकी मर्यादा है, आजकल जैसे दिनोंमें बात चलती है कि आज इतवार है, सोमवार, मंगलवार है ऐसे ही पहले नक्षत्रकी बात बहुत बोली जाती थी, मैं अमुक नक्षत्रसे अमुक नक्षत्र तक इस क्षेत्रसे बाहर न जाऊंगा। इस प्रकार कालकी अवधि लेकर क्षेत्रका परिमाण करना यह देशावकाशिक देशव्रतमें कालकी मर्यादा बतायी गई है। देखिये—जिसको आत्मस्वभावका परिचय है और आत्मस्वभावमें मग्न होनेकी धुन है, दूसरा कुछ चित्तमें है ही नहीं उनके ये सब व्रत, शील आदि बन जाना सुगम है। और जिन्हें आत्मस्वभावका परिचय नहीं है वे बनावट करके जबरदस्ती त्याग करें तो उनकी बात कैसे निभेगी? बाहरसे द्रव्यत्यागकी बात चाहे निभ भी जाय किन्तु मनसे नहीं निभ सकती। तो इन सब व्रतोंका पालन करनेका अधिकारी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष हुआ करता है।

देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते।
सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसन्त्यागात् ॥ ९५ ॥

देशावकाशिक व्रतसे सीमाके बाह्यक्षेत्रमें महाव्रतकल्पता—इस देशावकाशिक व्रतके समय क्षेत्रकी जो मर्यादा रखी है और उस क्षेत्रसे बाहर आने-जाने व्यवहार आदिकका परित्याग किया है सो इस व्रतके प्रसादसे उस क्षेत्रके बाहर उन सूक्ष्म स्थूल पापोंका पूर्णतया त्याग हो गया है। जैसे मानो मुनिके पापका स्थूल और सूक्ष्म रीतिसे सर्व त्याग रहता है तो ऐसे ही उस मर्यादाके बाहरमें तो पूर्णतया त्याग है और इसही कारण इस देशावकाशिक व्रतके द्वारा महाव्रत सिद्ध होता है और इसी कारण यह शिक्षाव्रत कहा गया है, क्योंकि अहिंसाका पालन विशेष है। हिंसाका परिहार तो ऐसी ही वृत्तिमें उनका महाव्रत जैसा ही पालन हुआ। प्रयोजन यह है कि वह उपाय करना जिस उपायसे बाह्य पदार्थोंके विकल्प हटें और अपने आपके स्वरूपमें मग्नताका अवसर आये। धन्य है वह जीव धन्य हैं उसके क्षण कि जो सहज चैतन्यस्वरूपमात्र अंतस्तत्त्वकी अनुभूति खूब रख रहा है। उसके लिए बस महत्त्व है धर्मका, अन्य बातोंका महत्त्व उसके चित्तमें है ही नहीं। चाहे करोड़पति हो, बड़ा राजपाट हो, चाहे दुनियामें बड़ा यश चल रहा हो मगर उस संतकी दृष्टिमें अन्य किसीका कुछ महत्त्व नहीं। महत्त्व है सिर्फ स्वानुभवका। तब आत्माका जो सहज चैतन्यस्वरूप है उसकी अनुभूति बराबर हो, वही दृष्टिमें रहे तो तत्त्वका महत्त्व है ज्ञानीकी दृष्टिमें।

प्रेषण-शब्दा-नयने, रूपाभिव्यक्ति-पुद्गलक्षेपौ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यनोऽत्ययाऽपञ्च ॥ ९६ ॥

देशावकाशिक व्रतके पञ्च अतिचारोंकी हेयता—इस छंदमें देशावकाशिक व्रतके अतिचार बताये गए हैं। जो देशव्रतकी मर्यादाकी उसके बाहर तो समग्र ५ पापोंका त्याग होनेसे वहां वह महाव्रतके समान हुआ, पर देशावकाशिक व्रत लेकर कौनसे कार्य न करना चाहिए उनका वर्णन यहां चल रहा है। निरतिचार देशावकाशिक व्रत हो तो महाव्रतके तुल्य है। (१) पहला अतिचार है प्रेषण। जितने क्षेत्रमें मर्यादाकी हो उससे बाहर किसी प्रयोजनसे अपने सेवकको मित्र पुत्र आदिकको कहना कि तुम वहां चले जाओ कोई काम करानेके लिए कहना यह है प्रेषण अतिचार। कालकी मर्यादा और कम रख ले जिसमें अतिचार न लग सके, मगर जितनी मर्यादा रखकर देशावकाशिकव्रत लिया है वहां तो निर्दोष इस व्रतका पालन होना चाहिए। (२) दूसरा अतिचार है शब्द। मर्यादासे बाहर क्षेत्रमें ठहरे हुए लोगोंसे वचनालाप करना तथा अन्य शब्दकी समस्या करके समझ लेना यह शब्द नामका अतिचार है। जा तो नहीं रहे हैं बाहर मगर शब्द बोल रहे हैं या कोई संकेत कर रहे हैं तो यह दोष है। (३) तीसरा दोष है आनयन। मर्यादासे बाहर क्षेत्रमें ही रहनेका नियम ले लिया, अब कुछ जरुरत समझा तो कह दिया—जरा पतला चद्दर ले आना। मोटा चद्दर पहिनकर पूजा करनेमें कुछ परेशानी सी चल रही थी सो किसीसे हल्की चद्दर मंगा लेना, मगर मंगाना म्याद रखे हुए क्षेत्रसे बाहरसे तो वह देशावकाशिक व्रतका अतिचार है। जिस कालमें मर्यादा रखी हो उसके बाहरके क्षेत्रके प्रति विकल्प ही न चलेगा। (४) चौथा अतिचार है रूपाभिव्यक्ति। जितनी मर्यादा रखली उससे बाहर तो नहीं जा रहा मगर उससे बाहरमें ठहरने वाले खड़े हुए लोगोंसे अपने रूपका प्रदर्शन करना, किसी काम करानेके वास्ते या उसका

ध्यान न जाये उस ओर तो ताली बजाकर या खकार कर उसका लक्ष्य अपनी ओर कराना और फिर संकेतसे समझाना, यह काम कर आवो, यह दोष है क्योंकि उसने क्षेत्रकी मर्यादा रख लिया था, कि इससे बाहर मेरा विकल्प न होगा। मर्यादा तो रखा था कि स्वानुभवके लिए मैं अधिक समय लगाऊंगा पर वह विकल्प करता है तो वह अतिचार है। (५) पांचवा अतिचार है पुद्गलक्षेप—कोई मर्यादासे बाहर खड़ा है, उसका मुख दूसरी ओरको है, अब उससे कुछ काम है बोलनेका, काम है बतानेका तो उसको थोड़ासा कंकड़ मार दिया ताकि मुँह घुमाकर देखने लगेगा कि किसने मारा, बस उसे संकेतसे बुला लेना, फिर चाहे अपने ही क्षेत्रमें जो मर्यादा किया हो उसके अन्दर बात करे तो वह भी अतिचार है। इस प्रकार देशावकाशिक व्रतके ५ अतिचार है। अब शिक्षाव्रतके द्वितीय भेदका स्वरूप कहते हैं।

आसमयमुक्ति मुक्तिं, पञ्चाद्यानामशेष-भावेन।
सर्वत्र च सामयिकाः, सामयिकं नामशंसन्ति॥ ९७॥

सामायिकनामक द्वितीय शिक्षाव्रतका स्वरूप—सामायिक नाम है समता परिणाम रखनेका। फिर जो अपने उन दो चार-छह: घड़ीके अन्दर सामायिकके लिए नियत समय है उसमें भले ही वह जाप करे, भावना बोले या स्तवन करे। करे तो वह दोषके लिए नहीं है क्योंकि प्रयोजन तो यह है कि किसी प्रकार रागद्वेषकी वृत्ति मेरेमें न जगे, मगर इसका उत्कृष्ट रूप है समता परिणाम रहना। तो जिसके समतापरिणाम है ऐसे गणधर देवने सामायिक नाम द्वारा इस व्रतकी बड़ी प्रशंसा की है। सामायिक करनेमें उसने अपने शरीर प्रमाणके क्षेत्रसे बाहरके क्षेत्रका विकल्प ही छोड़ दिया है, जितना सामायिकका समय है, आसन लगाकर ध्यान किया जा रहा है तो अधिकसे अधिक वहां क्षेत्र उतना होता जितना कि शरीरका विस्तार है। मानो सामायिक ही कर रहा, खड़े कर रहा, किसीनें धक्का दे दिया या बेहोश होकर पड़ गया तो आखिर शरीर प्रमाण क्षेत्रसे अधिक तो नहीं घेरा और फिर ऐसा अवसर कब होता? बहुत कम उस समय तो वह अपना शरीर जितने क्षेत्रको घेरे हुए बैठा है उतने ही क्षेत्रमें हैं उसकी सबकुछ मर्यादा और निश्चयतः शरीर प्रमाण जो आत्मप्रदेश हैं उस क्षेत्रमें उसकी मर्यादा है, तो उससे बाहर क्षेत्रमें मन वचन कायसे, कृत कारित अनुमोदनासे सामायिकके काल तक समग्र पापोंका त्याग करना सामायिक है। अब सामायिकमें किस प्रकार वह ५ पापोंका त्याग करके ठहरता है। उसका वर्णन करते हैं।

मूर्धरुहमुष्टि-वासो-बन्धं, पर्य्यङ्क-बन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा, समयं जानन्ति समयज्ञाः॥ ९८॥

जो परमागमको जानने वाला है वह (१) मूर्धरुह याने केशका बंधन रखता है। सामायिकके समय चोटी वगैरह यदि बिखरी रहे और उसका कोई बाल कानमें आये तो विक्षेप हो गया इसलिए सामायिकमें बैठनेसे पहले अपनी चोटीका बन्धन लगा लेगा। आजकल तो ऐसी फैशन चल गई कि चोटी रखानेकी कुछ जरुरत ही नहीं रही। चोटी ही बिल्कुल साफ कर दिया। शायद वे लोग इस सामायिककी इज्जत

रख रहे हैं (हंसी) अरे उनका सामायिक पर ध्यान कहां? सामायिक करनेसे पहले अपनी पूरी तैयारी बना लेना चाहिए। चोटीमें गांठ लगाना, और (२) मुष्टिबंधन, चाहे पूरी मुट्ठी न बांधे पर सहज जो बैठे हुएमें या खड़े हुएमें रहते हैं, उसमें बिल्कुल खुले हुए हाथ नहीं रहते हैं। कुछ मुड़े हुए कुछ मुट्ठी जैसी बंधी रहती है। कसकर मुट्ठी न बांधे मगर रूपक हो जाता है मुट्ठी जैसा। तो मुष्टि बंधन यह एक प्रक्रिया है सामायिकसे पहलेकी जाने वाली। (३) वस्त्र बंधन—जिस वस्त्रको पहने या ओढ़े वह फैला छितरा हुआ न हो उसको बंधनमें कर लिया। नहीं तो उसमें विक्षेप सम्भव है। सामायिकमें चित्तको विक्षेप न हो सके इसके लिए यह तैयारी है—वस्त्रका बंधन बनाये। (४) पर्यङ्क बन्धन, पद्मासनसे या जिस आसनसे बैठे तो वहां एक बंधन रूप हुआ। पैर बंध गए या कायोत्सर्गसे खड़े हुए तो वह भी आसन है। इस तरहसे प्रक्रियामें रहकर सामायिक व्रतका पालन करें और वहां रागद्वेषादिक रहित जो शुद्ध आत्मा है उसका मनन करें।

सामायिकमें आत्माका सत्य आराम विश्राम—सामायिक मायने सच्चा आराम करना। जैसे कोई मजदूर बहुत-बहुत परिश्रम करके थक जाता है तो थकनेके बाद वह घंटा दो घंटा आराम करता है और अगर अधिक थक गया तो उसके आरामकी पद्धति क्याहोती है कि लेट गए ढीला ढाला शरीर करके, कड़ा शरीर करके लेटनेमें ठीक विश्राम नहीं होता, न थकान मिटती, वह शरीरको बिल्कुल ढीला करके लेट गया। क्या करे, बड़ा परिश्रम करके वह अत्यन्त थक गया था सो वह विश्राम कर रहा है। विश्राम करनेके भी कुछ आसन होते हैं। जैसे ८४ आसनोंमें एक आसन योगका ऐसा होता कि जिसकी वजहसे पैरोंकी सारी थकान मिट जाती है। उसमें पहले पैर पर थोड़ा जोर पड़ता है और फिर उस आसन लेनेके बाद थकानका पता नहीं पड़ता। जैसे थक कर लोग दूसरोंसे हाथ पैर दबवाते हैं उस तरहसे दबवानेकी जरुरत नहीं पड़ती उस आसनसे। तो यह ज्ञानी पुरुष विकल्प करके बहुत थक गया, दूकानमें था वहां विकल्प, रास्तेमें आ रहा वहां विकल्प, कहीं जा रहा वहां विकल्प, गोष्ठीमें बैठा वहां विकल्प। विकल्प करके आत्मा थक गया, आत्माका थकान विकल्पके कारण होता है, तो अब वह सामायिकमें बैठा मानो अपनी पूरी थकान खतम कर रहा और अपने विश्राममें आया तो यह विश्राम तब मिलेगा जब कि किसी प्रकारके विकल्प न चलें। उसकी यह प्रक्रिया है, और उसका सीधा साक्षात् उपाय शुद्ध आत्मस्वरूपका मनन है। सारी थकान खतम हो जाय, इष्ट अनिष्टकी आशंका रखकर, मेरे तेरेकी भावना रखकर, राग विरोधकी वासना रखकर ही तो भगवान आत्माको थकाया जाता है, ऐसा कोई थक गया तो वह थकान मिटे कैसे? उसका उपाय है सामायिक। पर अनेक लोग तो सामायिकमें थकान और घबड़ाहट महसूस करते हैं, मन नहीं लगता। ध्यान इधर-उधर जाता, बार-बार घड़ी देखते अब कितने बज गए। और थकान मिटनेकी बात तो दूर जाने दो, सामायिकमें विकल्प और थकान बढ़ा लेते हैं, लोग कहते भी तो हैं कि जब हम सामायिकमें बैठते तो न जाने कितने कितने विकल्प मनमें उठा करते हैं, तो वहां सामायिक उन्होंने किया कहां, अपनी थकान मिटानेका उद्देश्य बनाया ही कहां? जिसका उद्देश्य थकान मेटनेका बना उसकी वृत्ति लगी शुद्ध आत्मस्वरूपके ध्यानमें। कभी कार्य परमात्माके शुद्ध स्वरूपका ध्यान करें तो फिर कारण परमात्मस्वरूपकी शुद्धताका ध्यान करें।

कारण समयसारकी शुद्धस्वरूपताका दिग्दर्शन—कैसी शुद्धता है इस कारण समयसारकी, यों मानो कि जब मैं हूं, मेरी सत्ता है तो अपने आप ही सत्ता है या किसी दूसरेकी दयापर उसकी सत्ता है? किसी दूसरेकी दयापर किसी अन्य पदार्थकी सत्ता नहीं हुआ करती। जो सत् है वह स्वयं है, स्वतः सिद्ध है, अपने आप सत् है। तो जो मैं आप सत् हूं सो स्वयं अपने आपके सत्त्वसे क्या मेरा स्वरूप है उसको निरखें तो कारण समयसारके स्वरूपका अनुभव बनता है। जो परपदार्थके सम्बंधसे बात बने परके सम्बंधसे जो बात घटित हो उसे न निरखना। किन्तु मात्र अपने सत्त्वसे जो अपने आपमें सहजस्वरूप है उसके दर्शन करना है। देखिये—इस अलौकिक अपने अन्दरकी दुनियासे बाहर सर्वकुछ मेरे लिए बेकार है, अनर्थ है, असार है, सही बात यह है, सभीके लिए है यह बात। कुछ वहां ऐसा नहीं है कि इस धर्म वालेके लिए यह बात है, इस सम्प्रदाय वालेके लिए यह बात है। और जितने भी जीव हैं सब आत्मा हैं। जितने मनुष्य हैं उन सबका आत्मा एक स्वरूपका है, वहां भेद नहीं है स्वरूपमें। और जब स्वरूप सबका एक ही स्वरूप है, वही धर्म है और उस ही धर्मकी कोई दृष्टि कर सके वही धर्मपालन है। तो इस प्रकार अनादि अनन्त अहेतुक इस सामान्य कारण समयसारकी दृष्टि पहुंचनेका इस जीवनमें प्रयत्न करना, बाकी सब बातें बेकार और अनर्थ हैं। बाह्य लगावमें अपनेको वर्तमानमें भी व्याकुल करना है और पापका बंध करना है जिससे आगामी कालमें भी इसको बेचैनी ही मिलेगी।

व्यावहारोचित धर्म कर्तव्योंके करते हुए भी ज्ञानीके लक्ष्यका अनवरत परिपोषण—भैया, काम तो करिये शक्ति प्रमाण, बनेगा भी वही, मगर लक्ष्यकी श्रद्धा रखे पूर्णतया जिससे कि भीतरमें धुन बने। धर्म कार्य भी कर रहे, जैसे बहुतसे कार्य हैं—पूजा किया, विधान किया, सभी मंदिरोंके दर्शनको जा रहे, या अनेक कार्य हैं धर्मसम्बंधी पर वहां भी यह ध्यान रखें कि जो हम अनेक कार्य कर रहे हैं धर्मके लिए, यह मेरा उद्देश्य नहीं है, यह मेरा लक्ष्य नहीं है, मेरा लक्ष्य तो है एक कारण समयसारकी दृष्टि। वहां ही मग्न होनेका लक्ष्य है। ज्ञानीके लक्ष्य ५० न होंगे, लक्ष्य उसका धर्ममें एक है, और उस ही लक्ष्यके पानके लिए ये उपलक्ष्य अनेक हो रहे हैं। सोचते तो हैं कि आज मैं अमुक जगह दर्शन करने जाऊंगा, अब प्रवचनमें जाऊंगा, अब पूजा करुंगा, यों प्रोग्राम बनाये तो जाते हैं, चित्तमें तो रहता है, पर प्रोग्राम बनाकर भी ज्ञानीकी प्रतीतिमें यह बसा हुआ है कि ये सारेके सारे काम मेरे लक्ष्य नहीं है, ऐसा करनेके लिए ही मैं यह नहीं कर रहा हूं, किन्तु मेरा लक्ष्य है सहज चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि। उसकी ओर ही अभिमुख रहना और इसी लक्ष्यकी सिद्धिके लिए हम ये ये प्रोग्राम करते हैं। तो जिस ज्ञानी संतको अविकार सहज परमात्मस्वरूपका ज्ञान द्वारा दर्शन हुआ है सामायिक उसके पलती है, और वहां ये बाह्य विकल्प हटते हैं, रागद्वेष रहित होकर समता परिणाम रखना यह उसका मतलब है। देखिये जैन शासन पाया तो इतना तो भीतर लक्ष्य बनालें। (१) चूँकि बाहर सर्वत्र आग ही आग है। जितने जीव हैं सबके अपनी-अपनी कषाय है। यदि मैं यह चाहूं कि बाहरमें मेरी मनचाही बात बने, यह तो हो न पायगा इसलिए इसकी आशा ही छोड़ दें और अपने आपके स्वरूपमें मग्न होनेका एक प्रोग्राम रखें और इसके लिए अगर बाहरमें अपमान है तो कुछ नहीं, बाहरमें कुछ उल्टी चाल है किसीकी तो

कुछ नहीं। उस सबको दृष्टिसे ओझल करना चाहिए, ऐसा भीतरमें साहस बने तो वह समता परिणाम पानेका अधिकारी है।

एकान्ते सामायिकं, निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया॥ ९९॥

सामायिक करनेके योग्य स्थानोंका दिग्दर्शन—इस छंदमें सामायिक करने योग्य स्थानका वर्णन किया है। जिस स्थानमें चित्तको क्षोभ करनेके कारण न हों ऐसे एकान्त स्थानमें सामायिक करना चाहिए। जहां असंयमी जीवोंका आना जाना न हो, लोग जहां वाद-विवाद न करें, कोलाहल जहां न हो, स्त्रियोंका, नपुंसकोंका जहां आवागमन न चल रहा हो। नजदीकमें गायन नृत्य बाजा आदिका प्रचार प्रसार न हो रहा हो, तिर्यञ्च पशु पक्षी आदिक भी जहां न चल रहे हों, ऐसे स्थानमें प्रसन्नचित्त होकर सामायिक करना चाहिए। जैसे लौकिकजनोंका खाने पीनेका प्रोग्राम प्रधान है। उसके लिए ही सारा प्रयत्न है, कमायी है। तो ज्ञानी पुरुषके लिए सामायिक कल्याणकारी है, सर्वत्र है, जो विपत्तियोंसे घबड़ाया है, विकल्प आपत्तियां जिसपर पड़ती रहती है उनसब विपत्तियोंसे बचने और एक अलौकिक आनन्द लेनेके लिए सामायिकमें बैठता है। सो आत्मीय स्वानुभवका अलौकिक आनन्द आये यह ही तो प्रयोजन सामायिकका है। तब ऐसे स्थानपर सामायिक करना चाहिए कि जहां क्षोभके कोई कारण न बनते हों। जिस भूमिपर डॉस मच्छर कीड़ा कीड़ी आदिक अनेक प्रकारके इन जीवोंकी बाधा न होती हो, ऐसा विक्षेप रहित एकान्त स्थान होना चाहिए, वह चाहे जंगल हो या बाग बगीचेका जीर्ण-शीर्ण मकान हो अथवा घर हो या चैत्यालय हो, स्थान ऐसा होना चाहिए जहाँ चित्तको क्षोभ न आये। तो ऐसे स्थानपर प्रसन्नचित्त होकर सामायिक करनेमें अपना सर्वस्व शरण भगवान आत्मासे मिलने जा रहा हो, मैं अपने अंत: प्रकाशमान सहज तत्त्वका अनुभव करुंगा, ऐसी उमंगके साथ सामायिक करना चाहिए। इस सामायिककी और भी सामग्री बताते हैं।

व्यापार-वैमनस्या-द्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्या।
सामायिकं बध्नीया-दुपवासे चैकभुक्ते वा॥ १००॥
सामयिकं प्रतिदिवसं, यथावदप्यनलसेन चेतव्यं।
व्रतपञ्चकपरिपूरण कारणमवधान युक्तेन॥ १०१॥

आरम्भविरत होकर सामायिकमें एकाग्रचित्तसे अविकार आत्मस्वरूपके ध्यानका कर्तव्य—व्यापारसे विरक्त होनेके कारण आरम्भ आदिकसे छूटकर यह ज्ञानी श्रावक सामायिकको धारण करे, तो ऐसी विकल्प रहित स्थितिमें सामायिक करना योग्य होता है। सो खासकर एकाशनका दिन हो, उपवासका दिन हो, उन दिनों सामायिकमें एक विशेष प्रगतिका उपाय करना चाहिए। प्रतिदिन तो सामायिक करना इसके लिए है ही श्रावक मगर उपवासके दिन तो सामायिकमें विशेष समय देना चाहिए और सारा समय स्वाध्याय ज्ञान चर्चा आदिकमें व्यतीत हो तो सामायिक भी भली प्रकार होती

है। यह सामायिक अहिंसा आदिक ५ व्रतोंकी परिपूर्णताका कारण है। अविकार अखण्ड शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि जहां करनेका प्रयास चल रहा है उस पौरुषमें कहां पाप चल रहा है? अहिंसा व्रतकी पूर्णता बनी रहती है। जितने व्रत आदिक हैं उन सबसे हटकर आत्मस्वरूपमें मग्न होना चाहिए। यह व्रती श्रावक सामायिक करनेके उद्यममें समस्त आरम्भ आदिक क्रियावोंको त्याग देता है। यह कोई सामायिक नहीं है। सामायिक भी कर रहे हैं, बच्चा भी पासमें बैठा है वह कभी इधर उधर जाता तो उसे भी पकड़ना, पास बैठाना, फिर सामायिक करने लगना यह तो एक खानापूर्ति है, सामायिक नहीं है। वास्तवमें सामायिक तो है भले प्रकार एकान्तमें अच्छे आसनमें बैठकर आरम्भ आदिकका परित्याग करके समता परिणाम रखें। उस समय केवल शुद्ध आत्मास्वरूप मननमें रहे, सामायिकका पूर्ण लाभ उसे मिलता है, फिर अष्टमी चतुर्दशी या अन्य पर्वोंका अवसर मिला तो वहां सामायिक देनेमें अनेकबार बैठकर रागद्वेषका परित्याग करता हुआ रहे, ऐसा व्रती श्रावकका कर्तव्य होता है।

सामायिकका समय—सामायिकका समय, दो घड़ी, चार घड़ी, ६ घड़ी यों तीन प्रकारका बताया दो घड़ीसे अधिक जितना चाहे बढ़े, ६ घड़ी तक सामायिकका समय है। तो ठीक समय तो बताया गया है कि सूर्योदयसे कुछ पहले कुछ बाद जैसे ६ घड़ी करना है तो तीन घड़ी पहले और तीन घड़ी बाद, सूर्यास्तके समय करना तो ३ घड़ी पहले और ३ घड़ी बाद, दोपहरको १२ से ३ घड़ी पहिले व ३ घड़ी बाद। पर यहां यह समझना कि सारा समय ६ घड़ीका है। देखिये कहीं घड़ी नहीं सामने रखी होती, घड़ी रखनेका नया रिवाज जो अब चल गया। पहले तो एक अंदाज चलता था। तो जो ६ घड़ीका समय है सूर्यादयके समय, दोपहरमें और सूर्यास्तके समय तीनों बार तीन घड़ी पहले और तीन घड़ी बाद यों छः घड़ीका जो सामायिक करे वह उत्कृष्ट सामायिक है। सामायिककी तीन समयकी स्थितियां बतायी—उत्कृष्टसे उत्कृष्ट छः घड़ी, मध्यम चार घड़ी जघन्य २ घड़ी। जघन्यमें उन छः घड़ीमें से कभी दो घड़ी सामायिक की जा सकती है। सामायिकके इस प्रकारके नियत समयका अर्थ है कि श्रावकके परिणामोंमें विशुद्धिकी संतति बराबर बनी रहे उस योग्य समय इतना हो पाता है। तो दृढ़ आसन करके सामायिकमें बैठें उसमें दायें बायेंका देखना न रहेगा कि कभी यहां देखा, कभी अगल बगल देखा। अरे किसको देखना, क्या देखना। अपनेको देखनेके लिए सामायिकमें बैठे हैं फिर क्यों पर पदार्थोंमें देखना चाहते हो, वार्ता करना तो दूर रहा, वार्ता तो करेगा ही नहीं। समस्त पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंसे वह अलग है उसने मनका नियंत्रण किया। चेतन अचेतन किसी द्रव्यमें वह रागद्वेष नहीं कर रहा है सामायिकमें श्रावककी ऐसी ही भावना है और इसी प्रकारका शेष समय प्रयोग चले ऐसा उसका प्रयत्न है।

सामायिक करने वाले व्रती श्रावककी सर्वजीवोंके प्रति मित्रताकी भावना—जगतके सर्व जीवोंमें मेरा मित्रताका भाव हो। मित्रता कहते हैं उस परिणामको जिसमें यह भावना रहती है कि किसी भी जीवको दुःख न हो। देखिये ऐसी पवित्रता अपने चित्तमें अवश्य लाइये। अंतरंगमें अपना पक्का विचार बनाइये कि किसी भी जीवको मेरे द्वारा दुःख न हो, फिर अपने द्वारा किसीको दुःख पहुंचे यह तो खोटी बात है। मेरे द्वारा या किसीके द्वारा किसी भी प्रकार किसी जीवको दुःख न हो और वे जीव अपने आपके स्वरूपको जानें जिसके बलपर वे दुःख न पायें ऐसी स्थिति बने, यह भावना मैत्री भावना कहलाती

है। अपने बारेमें वह सोचता है कि सब जीवोंसे मैं क्षमा चाहता हूं। सर्व जीवोंमें क्षमा धारण करता हूं। कोई जीव मेरा बैरी नहीं है ऐसा वह अंतरंगसे निरख रहा है क्योंकि जीव-जीव सब अमूर्त हैं ज्ञानमात्र हैं। उनमें कौनसी विधि ऐसी आयी या मुझमें जिसके कारण कोई मेरा शत्रु कहलाये? कोई भी मेरा शत्रु नहीं, प्रयोगमें भी जिसकी आज अनबन है और कोई मानलो रिस्तेदार ही बनने लगे या कुछ भी हो या वातावरण ही दूसरा बने तो वही तो प्यारा मित्र बन जाता है। शत्रु है कौन दुनियामें? ठीक इस तरहकी भावना रहे तो मेरे आत्माको ही लाभ है ऐसा जानें। कोई जीव मेरा बैरी नहीं, मेरे द्वारा उपार्जित किए हुए कर्म वे मेरे बैरी हैं। दूसरा कोई मेरा बैरी नहीं। कदाचित् किसीके द्वारा मेरेको कोई बाधा पहुंचाये तो मेरे ही कर्म ऐसे बंधे थे, मेरा ही वैसा उदय है तब बाधा आयी है। मेरे पापका उदय न आये और मुझको कोई दूसरा बाधाका कारण बने ऐसा नहीं होता। बैरी है तो मेरे पूर्व उपार्जित कर्म बैरी हैं।

सामायिकमें अपने किये गये अपराधका चिन्तन व क्षमाभाव—मैं दूसरेको बैरी समझ लेता हूं तो अज्ञानभावसे ही समझता हूं क्रोधभावमें या घमंड जब आता तब या जब लोभ हो। जिसको देखते हैं कि यह मेरी कषायके अनुकूल प्रवृत्ति नहीं कर रहा उसको अपना बैरी मान लेते, मेरा बैरी जगतमें कोई जीव हो ही नहीं सकता। मैं आत्मा अज्ञानसे कल्पनायें करके दूसरोंको बैरी मानता रहता हूं। किसीने अगर मेरे कर्तव्यकी प्रशंसा न की तो समझ लेते कि यह मेरा बैरी है, कोई मेरा आदर सत्कार विशेष न करे तो उसे अपना बैरी मान लेते। मेरेमें कोई दोष हो और उसे कोई कह बैठे तो हम उसे अपना बैरी मान लेते। जो हम चाहते हैं भोजन वस्त्रादिक उसे कोई नहीं देता तो हम उसे बैरी मान लेते। भला कोई किसीके अधीन तो नहीं है, सबका अपना अपना परिणाम है और अपने ही भावोंसे सब अपनी-अपनी चेष्टायें करते हैं किसी पर अधिकार तो नहीं पर कभी सोचे कोई कि ऐसा क्यों नहीं किया गया, मेरी बात इसने नहीं मानी तो वह उसकी अज्ञान चेष्टा है। मेरे ही कषायभावसे जो दुर्बुद्धि उत्पन्न होती है उससे मैं दूसरे जीवोंके प्रति बैरीकी बुद्धि कर लेता हूँ। तो मैं अब इस दुर्बुद्धिको त्यागकर समस्त जीवोंसे क्षमा चाहता हूं। व्रती श्रावक सामायिकमें रहता हुआ किस तरहका चिन्तन करता है यह बात यहां कही जा रही है। किसी जीवको मेरे अज्ञान भावसे कुछ चेष्टा बनी हो, दुःख पहुंचा हो, सर्वजीव मुझे क्षमा करें। यह श्रावक कोई कष्ट नहीं रखता। व्रती श्रावक सरलभावसे भीतरके उमंगसे, सहज परमात्मतत्त्वकी उपासनाकी उमंगसे हृदयसे क्षमा कर रहा और क्षमा चाह रहा।

सामायिकमें श्रावककी निःसंगता—जितने समय यह श्रावक सामायिकमें है, उसने संकल्प किया कि मैं दो घड़ी तीन घड़ी सामायिकके समयमें मन, वचन, कायसे किसी भी प्रकारका इन्द्रियके विषयोंका लगाव न रखूँगा, इसने समस्त आरम्भ परिग्रहको त्याग दिया उतने समयके लिए। ऐसा त्यागनेमें तब व्रती श्रावकके किसी भी वस्तुका लगाव नहीं रहता और एक अपने आपमें एकाकी ज्ञानमात्र स्वरूपको निरखता रहता उस समय तो वह मुनिवत् है। मुनिने सदाके लिए त्याग किया है जीवनमें, इसने सामायिकके उतने समयके लिए सर्वका बिल्कुल त्याग किया है मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदनासे। पर समयकी अवधि लेकर किया है। मेरा कर्त्तव्य है कि मैं अपने अविकार ज्ञानस्वभाव सहजपरमात्मतत्त्वमें मग्न रहूं, पर कर्मोदयवश मैं यहां मग्न नहीं हो पाता हूं। तो जो मग्न

होना चाहते हैं और इस स्वरूपमें मग्न हुए हैं, परमात्मा हुए हैं उनका मैं स्मरण करता हूं। यहां भी तो देखते कि कोई बच्चा जिस कामको नहीं कर सकता उसको करनेके लिए मां बापकी तरफ देखकर रो देता, तो उसके मां बाप उस कामको करा देते हैं। मानलो कहीं चढ़ रहा है वह बच्चा पर चढ़ नहीं पा रहा तो वह रोने लगता है। रोकर मां बापकी मदद लेता है, मां बाप उसे उस जगह चढ़ाकर उसका मन बहला देते हैं। तो ऐसे ही सामायिकमें रहने वाला श्रावक अपने स्वरूपमें मग्न होना चाहता है तो वह अरहंत सिद्ध प्रभुकी दृष्टि करता है, जो समर्थ हैं, जिन्होंने उस काम को कर लिया है उनके गुणोंका स्मरण करता है और गुण स्मरणके प्रतापसे अपने आपमें बल प्रकट करता है आनन्दमग्न होनेकी कोशिश करता है। इसी स्वरूपमग्नताके प्रयोजनसे पंच नमस्कार मंत्रका स्मरण जिनेन्द्र देवके प्रतिबिम्बका चिन्तवन करता रहता है, उसकी धुन केवल एक ही है कि अपने आत्माका जो ज्ञाताद्रष्टा स्वभाव है जो रागद्वेषादिक विकारसे पृथक् है उसको अनुभव करता हुआ ही ठहरुं, इस प्रयोजनसे अनेक पाठ करता है। चत्तारिदण्डक पाठका मनमें स्मरण करता है। वह अरहंत सिद्ध साधु और धर्मको ही शरण मानता, उसकी ओर यह आकर्षित होता। २४ तीर्थंकरोंका नाम लेकर गुणानुवाद करे, स्तवन करे जो स्तवन करे उसके अर्थमें एकाग्रचित्त होकर उसका ध्यान करे ऐसा यह व्रती श्रावक सामायिकके समय शुभ और शुद्ध उपयोगका प्रयास कर रहा है।

यह श्रावक सामायिकमें अपने गुणदोषका चिन्तवन भी करता है। कोई व्यापारी भी तो चाहे वह छोटासा ही व्यापारी हो, आखिर वह भी तो दिनभरमें जरुर ख्याल करता है कि आज मेरा हानि लाभका ऐसा हिसाब रहा। तो यह व्रती श्रावक सुबह शाम सामायिकमें प्रतिक्रमणके अवसर पर अपने गुणदोषका चिन्तवन करता है। रात्रिमें जो दोष किया उसका सुबह चिन्तवन करे, मुझसे क्या दोष हुए, मेरे द्वारा किसको बाधा रही, उन सब दोषोंका चिन्तवन करता। दिनमें किए हुए दोषोंका शामको सामायिकमें चिन्तवन करता है, क्या अनर्थ किया अपने स्वरूपसे चिगकर बाहरी पदार्थोंमें उपयोग देते रहे यह अनर्थ भी बड़ा अनर्थ समझता है। वह ध्यान करता है कि मैंने कितना समय बाहरी पदार्थोंमें उपयोग देकर अपने आपको खराब किया। यह व्रती श्रावक सामायिकमें अपनी सभी दुर्लभ सामग्रीका भी विचार करता है। जगतमें कैसे-कैसे जीव पड़े हुए हैं, कैसे दुःखकी स्थितिमें हैं, उनसे हम आप कितनी ऊंची स्थितिमें हैं, मनुष्य हुए, जैन शासन मिला, धर्मोपदेश सुनने बांचनेका बहुत प्रसंग मिलता रहता है, श्रेष्ठ जाति मिली, श्रेष्ठ कुल मिला तो क्या मैं अपने उस चैतन्य स्वभावमें मग्न होने रूप धर्मको न पा लूँगा। क्या इसकी धुन न करुंगा? क्या इसमें कुछ प्रयोग न रखूँगा। यदि ऐसा न किया तो मेरा जीवन बेकार है। क्या मैं इस लिए यहां मनुष्य बनकर आया कि रातदिन अपना पेट भरूं या विषयभोगोंमें रहूं और फिजूलकी बातोंमें रहूं? अरे इसके लिए मुझे यह मानवजीवन नहीं मिला। हां मुझे जीना पड़ता है, खाना पड़ता है, लेकिन खा खाकर ही मेरा पूरा न पड़ेगा। जी जी करके भी मेरा पार न पड़ेगा। मुझे चाहिए उत्कृष्ट जीवन जहां भव धारण ही न करना पड़े और यह आत्मा जो अपने स्वरूपसे एकाकी है, जैसे यह एकत्वमत है बस वैसा ही मैं व्यक्त हो जाऊं, सारे झूठे झगड़े ये सब समाप्त हो जायें।

अपने जीवनके सर्वसमयके सदुपयोगकी भावना—इस जीवनकी एक भी घड़ी धर्म बिना

व्यतीत न हो, ऐसा वह विचार करता है सामायिकमें, एक क्षण भी मेरा अधर्ममें मत जाय। दुर्विचार होता है तो तत्काल कर्मबन्ध होता है और उन कर्मों की स्थितिमें कोड़ा कोड़ी सागरों तक दुःख भोगना पड़ता है। अब उस दुःखको दूसरा कौन भोगने आयगा? कोई दूसरा मेरा सहाय न होगा, मुझे ही अकेले भोगना होगा, सो मेरे जीवनके एक भी क्षणमें मेरा खोटा भाव न बने। ऐसा व्रती श्रावक आत्मकरुणा करके अपना समीचीन चिन्तवन कर रहा है। आजके दिन पूजनमें, जापमें, अमुकमें मेरा कितना समय व्यतीत हुआ, आजकी रात्रि जिनेन्द्र भक्ति, स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा आदिमें मेरा कितना समय व्यतीत हुआ अब वह ध्यान करता है कि मेरा उपयोग अच्छे कामोंमें लगे। कितना समय मैंने बेकार खोया। पंच परमेष्ठीके जाप ध्यानमें, पात्रदानमें मैंने कितना काल व्यतीत किया, पापारम्भमें, इन्द्रियके विषयोंमें व्यवहार आदिक विकथावोंमें, निद्रा कामसेवन आदिमें मेरा कितना समय गुजरा और धर्मके कार्योंमें मेरा कितना समय गुजरा, बस यह ही तो जमाखर्च है, और उससे वह अंदाज करता है कि मैं कितना तो नफेमें रहा और कितना टोटेमें। सामायिकमें बैठा हुआ यह व्रती श्रावक अपने खोटे कर्मोंकी निन्दा कर रहा है किसी व्यवहार करतेमें मायाचारी की हो। मिथ्यात्ववश होकर किसीको बहकाया हो या क्रोधवश होकर दुःख उत्पन्न करने वाले वचन बोला हो तो वह मेरे लिए धिक्कार है। क्यों ऐसा खोटा व्यवहार मेरेसे हुआ ऐसा यह व्रती श्रावक सामायिकमें चिन्तन करता है जो कुछ अशुभ व्यवहार हुआ उसका फल मैं ही भोगूंगा। क्यों ऐसा खोटा काम करुं कि जिसके उदयमें मेरा भविष्य बिगड़े? आज पुण्यकर्मका उदय है, कुछ प्रभाव है, धन है या अन्य प्रकारके बल हैं। यदि इनका मैं दुरूपयोग करुं तो उसके फलमें मेरा भविष्य बड़ी दुर्दशामें जायगा। जो समागम मुझे प्राप्त है, जो बल प्राप्त है उसका सदुपयोग करूँ तो मेरा भविष्य उज्ज्वल रहे। मेरी करनीका सबकुछ फल मेरे ही साथ है। तो जगतमें मेरा कोई शरण नहीं हो पाता, सामायिकमें ठहरा हुआ यह व्रती श्रावक अन्य सम्बंधित धार्मिक चिन्तवन करता, पर उसकी धुन यह रहती कि मैं इन विकल्पोंसे भी हटकर निर्विकल्प ज्ञान ज्योति मात्र सरल सत्य चैतन्य स्वभाव वह ही मेरे उपयोगमें रहे और ज्ञान और ज्ञेय एक हों, वही जाना जा रहा है, वही जानने वाला है, ऐसी स्थिति पाकर अलौकिक सहज आनन्दका अनुभव करूँ, बस मूल ध्यान तो ज्ञानी पुरुषका यह है, और इसीकी पूर्तिके लिए बाकी सब कार्य करता है।

अनेक व्यावहारिक धर्मकर्तव्योंके बीच बीच आत्मदृष्टिका प्रयोग—जैसे किसीका विवाह हुए अभी साल छह माह ही हुए तो उसकी ससुरालसे कोई दूसरी बिरादरीके लोग भी आये हों तो वह उन्हें अपने घरमें बड़ी अच्छी तरहसे ठहराता है, उनकी बड़ी खातिर करता है, खिलाता पिलाता है। बीच-बीच वह पूछ भी लेता कि कहो सासजीके क्या हाल हैं, स्वसुरजी ठीक हैं, फलाने ठीक हैं ना? कोई भी बात करे बीच-बीच वह अनेक बातें पूछ लेता है। देखिये काम तो वह व्यवहारमें अनेक करता पर जिस बातकी उसे धुन है उसकी बात बीच-बीचमें वह करता जाता, तो ऐसे ही इस ज्ञानीव्रती श्रावककी धुनकी बात तो सहज परमात्मतत्त्व है। सो यह कुछ भी करता है पंच परमेष्ठीका जाप अथवा अन्य धार्मिक चिन्तन अथवा कुछ भी कर रहा हो, पर इसकी धुन जो है सो उन सब कार्योंमें लगता रहता है, झट फिर अपने आपके स्वरूपकी ओर ही आता है और अपने आपमें ही मग्न होना चाहता

है। सो यह व्रती श्रावक सामायिकमें अपनेको स्वरूपमग्न करनेका एक परम परिश्रम करना चाहता है सामायिकमें ऐसा चिन्तन चलता है कि जिससे ऐसे अयोग्य कार्योंमें हमारी वृत्ति न बने। और मुख्य बात है वचनकी। मनुष्यके पास धन क्या है? वचन। चाहो इन्हीं वचनोंसे सुख उपजा लो, इन्हीं वचनोंसे दुःखी कर डाले। एक वचन धन है मनुष्य है, तब वचनयोग सदैव हमारा इतना सुहावना होना चाहिए कि जो विरोधी भी है, प्रतिकूल चेष्टा करने वाले भी हैं उनके भी मनको शान्ति प्राप्त हो। अशान्ति न जगे ऐसे वचनोंका प्रयोग होना चाहिए। जिसने अपने वचनोंकी सम्हाल की उसने समझो अपनी सब लौकिक सम्हाल कर लिया और उस सम्हालके कारण धर्ममें भी उसका मन लगेगा और वास्तविक धर्मके पालनमें उत्साह भी जगेगा। कोई विघ्न न आ सके, हम खोटे वचन बोलकर ही अपनेको झंझटमें डालते हैं थोड़ी देरको खोटे वचन बोलकर फिर रात दिन झंझटमें रहें, तो ऐसे वचन मैं क्यों बोलूं? मौन रहें, और जब बोलें तो ऐसे सद्वचन बोलें कि जिससे दूसरोंको सुख शान्ति हो। यह सब चिन्तन सामायिकमें व्रतीश्रावक करता है।

सामायिके सारम्भा, परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव, गृही तदा याति यतिभावम्॥ १०२॥

सामायिकमें आरम्भ परिग्रहका परिहार होनेसे श्रावककी चेलोपसृष्ट मुनिकी तरह यतिभावापन्नता—यह व्रती श्रावक जब सामायिकमें, आरम्भ और परिग्रहमें अवधि तक त्यागी हुआ है उस समय सामायिक करता हुआ वह गृहस्थ उस मुनिकी तरह है जैसे किसी मुनिराजपर किसीने वस्त्र डालकर उपसर्ग किया हो। जैसे मुनिराज पर किसीने वस्त्र डाल दिया तो मुनि तो परिग्रहके त्यागी हैं, उनका उसमें किसी प्रकारका लगाव नहीं है, पर किसीने वस्त्र डाल दिया तो उस वस्त्रसे विरक्त ही हैं, ऐसे ही वह गृहस्थ वस्त्र पहने हुए तो है जो सामायिकमें बैठा है मगर वह वस्त्र उसके लगावसे परे हैं उस तकमें भी उसका किसी प्रकारका लगाव नहीं है। सामायिकमें संकल्प किया, प्रतिज्ञा की कि मेरा इतने समय तक समस्त आरम्भ और परिग्रहका त्याग है, सो उस वक्तमें उसका चिन्तन अविकार आत्मस्वरूपका चल रहा है। प्रभुकी उस वीतरागतामें चिन्तन चल रहा है। सो भीतर तो परिणाम उसके मुनियोंकी तरह मननके हैं, पर वस्त्रसहित बैठा है इतना ही अन्तर है इस कारण उसे मुनि नहीं कहा जाता, और यह भी बात है कि गृहस्थ भले ही सामायिकमें बैठा है, पर उसके अभी प्रत्याख्यान अबुद्धिपूर्वक चल रहा है उदय और प्रवर्तन, इतनी बातको छोड़कर देखा जाय और बाहरमें वस्त्रसहितपनेको छोड़ा जाय तो वह मुनितुल्य ही है। ऐसा उत्कृष्ट परिणाम इस श्रावकके सामायिकके समय होता है।

शीतोष्णदंशमशक-परीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः।
सामयिकं प्रतिपन्ना, अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः॥ १०३॥

सामायिकमें श्रावकी मौनधरता अचलयोग्यता व परीषहोपसर्गविजयिता—सामायिकको धारण करने वाला गृहस्थ मौनको धारण किए हुए है। और मन, वचन कायको चलायमान नहीं कर

रहा है, उस समय ठंड गर्मी दंशमशक आदिक कोई परीषह आये चेतन अचेतनकृत उन सब उपसर्गोंको समतासे सहता है। देहसे भी निराला अमूर्त ज्ञानमात्र सहज आत्मस्वरूपका जिसने अनुभव किया है वह सम्यग्दृष्टि श्रावक जिस काल अपने इस अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन कर रहा है उस समय उसके ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही समा रहा है। वहां विकल्पका काम नहीं रहा, रागद्वेषकी प्रवृत्ति नहीं रही, ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूपका चिन्तन करनेवाला गृहस्थ उस समय कोई भी परीषह आये या दूसरोंके द्वारा उपसर्ग किया हुआ हो तो बड़ा धैर्य धारण करके साम्यभावसे वह सहन करता है, समतासे चलित नहीं होता। जैसे अत्यन्त भिन्न बाह्य पदार्थोंके प्रति कोई यह दृष्टि रखे कि ये अत्यन्त भिन्न हैं, उनकी परिणति उनके साथ है, उनसे मेरेमें क्या आता है। ऐसा मनन करने वाले बाह्य परिग्रहोंमें कुछ भी गड़बड़ हो, कुछ भी हलचल परिवर्तन हो तो भी वह उससे अपनेमें व्याकुलता नहीं होने देता, इस प्रकार और विशिष्ट भेद विज्ञानके प्रयोगमें जब यह जान लिया कि देह अत्यन्त भिन्न है, अचेतन है, पौद्गलिक है, भिन्न सत् है, मैं आत्मा भिन्न सत् हूं तो वह बाहर कोई उपद्रव उपसर्ग आता है, शीतोषण आदिककी वेदनायें होती हैं उनको वह समतासे सहन कर लेता है। मैं हूं यह ज्ञानानन्दस्वरूप। ज्ञान व आनन्दको भोगता रहता हूं, यह ही मेरा अन्दरमें व्यवसाय है, यह प्रक्रिया चल रही है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थसे मेरा सम्बंध नहीं ऐसा स्पष्ट भेदविज्ञान जिसके जगा है वह सद्गृहस्थ सामायिकके समय तो विशेषतया इन समस्त उपद्रव उपसर्गोंको समतासे सहन कर लेता है।

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति, ध्यायन्तुसामायिके॥ १०४॥

सामायिकमें भवभ्रमणकी अशरणता व मोक्षकी शरणरूपताका ध्यान—सामायिक करता हुआ यह श्रावक संसारके स्वरूपका और मोक्षके स्वरूपका किस तरह ध्यान करता है, इसका दिग्दर्शन इस छंदमें किया गया है। यह संसार अशरण है, यहां इस जीवका बाहरमें कोई शरण नहीं, दूसरा पुरुष कितना ही प्रेमी हो वह अपनेमें प्रेम विकार कर पाता है? वह मुझमें क्या कर सकता है? ध्यान कर रहा है सामायिकमें श्रावक। मेरा शरण मेरा भाव है। मैं अपनेको ज्ञानभावमें रखूँ तब तो मेरेको सब शरण है, यह ही खुद और मैं अपने ज्ञानभावसे चिगकर किसी बाह्य पदार्थकी कल्पनामें लगूँ तो मैं खुद अशरण बन रहा हूं। मेरा दूसरा कौन सहायक है? यह जगत अशरण है, बाह्य दृष्टिसे भी देखें—जब यह जीव मरता है, छोटी उम्रमें ही मरता है तो घरके लोग सब उसको चाहते हैं कि यह न मरे, पर किसीका कुछ वश चलता क्या? लाखों करोड़ों रुपया भी कोई खर्च करे तो क्या उसे कोई बचा सकता? जब जिसपर जो बीतती है उसे यह ही तो सहन करता है। कोई दूसरा मदद करने न आयगा। तो यह गृहस्थ चिन्तन कर रहा कि यह जगत अशरण है। किन्तु यह मोक्षपद शरण है। यहां आकुलताका नाम नहीं, जो मेरा सत्त्व है, एकत्वमें गत है, अपने आप जो कुछ हूं वह ही तो मोक्षमें प्रकट व्यक्त है, केवल आत्मा ही आत्मा है। उसके साथ कोई उपाधि नहीं है। ऐसा निरुपाधि वह सहज आत्मा यह ही तो मोक्षका साधन है वह शरण है। क्योंकि इस जीवको फिर अनन्तकाल तक भी आकुलता नहीं है।

सामायिकमें भवधारणकी अशुभता व मोक्षकी परमशुभरूपताका ध्यान—यह संसार अशुभ है, अशुभ कर्मका बंध कराने वाला है। अशुभ देहरूपी पिंजड़ेमें फंसा है, अशुभ कषायोंमें, अशुभ भावोंमें लीन है, निरन्तर अशुभ ही अशुभका प्रभाव पा रहा है। यह संसार किस तरह शुभ कहा जा सकता? यदि यहां सुख मिले तो वहां तो आकुलता प्रकट ही है। अपने आपके स्वरूपका परिचय न पानेसे यह उपयोग किस ठिकाने ठीक बैठेगा? तो इसको पाये बिना ही तो संसारी जीव संसारमें रुल रहे हैं और जो कुछ संसारचक्र है मायाजाल है वह सब अशुभ है, किन्तु यह मोक्षसाधन आत्माका यह स्वचतुष्टयका शुद्ध स्वरूप जहां अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्द प्रकट हुआ है ऐसा वह निराकुलपद यह शुभ है, ठीक है, कल्याणकारी है, इसके अतिरिक्त जगतमें जो कुछ भी है, कोई भी पदार्थ वह कैसे शुभ हो सकता, जो पापकर्मका बंध करानेका कारणभूत हो, जिसका आश्रय करके जीव कर्म बंधनसे युक्त हो जाय वह सबकुछ कैसे शुभ कहा जा सकता है? लोग द्वेषभरी बातोंको अशुभ कहते हैं और रागभरी, मौजभरी बातोंको शुभ कहते हैं। द्वेषभरी बातोंमें जितना कर्मबन्धन होता है मौज भरे लगाव लपेटमें उससे कम नहीं होते, अधिक ही सम्भव है, तो यह जगत कैसे शुभ कहा जा सकता है? यह चिन्तवन सद्गृहस्थ सामायिकमें कर रहा है।

सामायिकमें संसार समागमकी अनित्यता व मोक्षकी ध्रुवताका चिन्तन—यह जगत अनित्य है, जो कुछ यहां मिला है वह सब अनित्य है। आज जो समागम प्राप्त है, अनन्तानन्त काल संसारमें परिभ्रमण कर करके बड़ी मुश्किलसे प्राप्त हुआ है, अच्छे क्षेत्रमें निवास जहां मद्यमांसकी प्रवृत्ति नहीं, जहां धर्मके वातावरणमें बात चलती है ऐसे उत्तम क्षेत्रमें आज हम आप उत्पन्न हुए हैं, और इसमें भी उत्तम कुल प्राप्त हुआ है जिस कुलमें उत्पन्न हुए पुराने धर्मात्मा रहे और बड़े प्राचीन पुरुष तपश्चरण करके मोक्षको प्राप्त हुए, उस परम्परामें हम आप आज हैं। उत्तम कुल मिला है और फिर कुल भी मिले पर इन्द्रियां परिपूर्ण न मिलें तो क्या कर लेंगे? वहां भी दुःखी संक्लिष्ट रहेंगे। सो इन्द्रियां भी हम आपको परिपूर्ण मिली हैं, साथ ही कुछ बुद्धि भी मिली है, इज्जत भी मिली है, योग्य साधर्मीजन, मित्रजनका समागम मिला है। कुटुम्ब भी योग्य है, सब चीजें योग्य प्राप्त हुई हैं मगर ये सब अनित्य हैं तब इस योग्य समागम का कुछ लाभ उठायें। वह लाभ मिलेगा धर्मपालनमें। धर्म है अपने आत्मामें। आत्मस्वरूपका ज्ञानकरके आत्मस्वरूपका मनन करके अपने आपमें अपने आपको निरखा करें तो इन समागमोंका पाना सार्थक है अन्यथा ये मिले हैं, मिटेंगे तो अवश्य ही। तब फिर जो मिटने वाले हैं उनसे अगर न मिटने वाले मोक्षपदका उपाय बनालें तो यह तो कितनी अच्छी बात है और फिर जब अनित्य है यह सारा समागम तो फिर रागमोह करने लायक यहां कुछ नहीं है। अपने आप आत्माकी पर्यायमें प्राप्त भी चीज अनित्य है। देहादिक भी अनित्य हैं, किन्तु मोक्ष जो हुआ वह नित्य है, सदा रहेगा यह मोक्ष। उस मोक्षमें शुद्ध परिणमन है, समान परिणमन है, विसमता नहीं है, ऐसी यह शुद्ध अवस्था मोक्ष यह नित्य है और यह संसार समागम जिसके बीच हम आप पड़े हैं यह सब अनित्य है, ऐसा संसारका स्वरूप और मोक्षका स्वरूप सामायिकमें बैठा हुआ सद्गृहस्थ चिन्तन कर रहा है।

सामायिकमें संसारकी दुःखरूपता व मोक्षकी परमानन्दमयताका ध्यान—यह संसार

दुःखरूप है। कहीं भी देखो किसी भी जगह हो, किसी भी भूमिकामें जीव हो संसारमें तो सर्वत्र कष्ट ही कष्ट है। लोग सब मुखसे बोल भी देते हैं—क्या रखा है गृहस्थीमें, क्या रखा है संसारमें? सारे कष्ट ही कष्ट हैं, मगर ऐसा चिन्तन करना वैराग्यके लिए नहीं बनता, किन्तु दुःख बढ़ानेके लिए बनता है, बस यह ही कमी है। अन्यथा संसारको दुःखरूप चिन्तन करना यह वैराग्य वर्द्धक हो तो यह चीज लाभदायक है। यहां जो कुछ समागम प्राप्त हुए हैं कर्मविपाकवश उनमें यह जीव किसीको इष्ट मानता किसीको अनिष्ट मानता। जिसे इष्ट मानता है उसका वियोग होनेपर यह कष्ट मानता है, जिसे अनिष्ट मानता है उसका संयोग होनेपर यह जीव कष्ट मानता है। यह ही दुःख चल रहा है। और है दुःख सब व्यर्थका। जिस किसीको माना कि यह मेरा है बस यह उसके विचारमें अपने ज्ञानस्वरूपसे चिगकर बाहर बाहर डोलता है। उसका फल क्या होता है? कष्ट, शरीरका दुःख, मानसिक दुःख, किसीने कुछ वचन बोल दिया तो उसके प्रति यह चिन्तन नहीं चलता कि ये वचन भाषावर्गणाके परिणमन हैं, और यह आत्मा स्वरूपमें तो परमात्मा है पर कर्मोदय ऐसा है कि कषायभाव चल रहा है और उसकी प्रेरणामें निमित्त नैमित्तिक योगवश भाषा वर्गणाके परमाणु परिणम रहे हैं, यह ध्यानमें कहां रहेगा? और बाहरकी वाणीं सुनकर यह अपनेमें घटाता कि मेरेको कहा। अरे मैं तो अमूर्त ज्ञानमात्र हूं, इसको तो दुनिया जानती नहीं। इस मुझको कोई कह क्या सकेगा? जिस मूर्तिको देखकर दुनिया कुछ कहती है यह मैं नहीं हूं, यह तो पौद्गलिक आकार है। देखो—यह जीव पद-पदपर अपने अज्ञान भावसे कष्टको सहता है। कुछ धन कम हो गया अथवा कोई ऐसी विड़म्बना चल रही, कुटुम्बीजन कोई नाराज हो रहे, सर्वत्र कष्ट ही कष्ट मानते हैं किन्तु मोक्ष कष्टसे रहित है, क्योंकि वहां कष्टके कारणभूत बाह्यपदार्थ रंच भी साथ नहीं है। केवल आत्मा ही आत्मा है। तो बुद्धिमानी इसमें है, बड़प्पन इसीमें है कि मोक्षकी तैयारी बनायें, इस शरीरसे मोह हटायें, यह ही एक अपने आत्माको कल्याणका मार्ग है। यह सब चिन्तन सद्गृहस्थ सामायिकमें कर रहा है।

सामायिकमें स्वातिरिक्त समस्त पदार्थोंकी अनात्मताका चिन्तन—यह सारा संसार अनात्मा है, इसमें मेरा कुछ सम्बंध नहीं, कोई अधिकार नहीं, अत्यन्त भिन्न तत्त्व हैं। जगतमें अनन्त पदार्थ हैं जो कि ६ प्रकारके हैं—(१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश और (६) काल। जीव अनन्तानन्त हैं। कितना अनन्तानन्त हैं कि अनादिकालसे अब तक उतने सिद्ध हुए हैं जिनकी गणना अनन्त है और निगोद जीवको छोड़कर जितने संसारमें जीव हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, सब नारकी, देव, मनुष्य, पशुपक्षी आदिक इन सबकी जितनी गणना है उससे अनन्तगुनी गणना है सिद्ध भगवानकी। इतने सिद्ध हुए हैं और उन सिद्धोंसे अनन्त गुणे हैं निगोदिया जीव। कितने हैं निगोदिया जीव? निगोद जीवका जो एक शरीर है, जिसके अनन्त निगोदिया जीव मालिक होते हैं वह शरीर बहुत सूक्ष्म होता है। यों समझिये कि जैसे सूई की नोक बराबर जगह है तो उसमें उतने निगोदिया जीव हैं कि सिद्धसे अनन्त गुने हैं। फिर कितने शरीर हैं, कितनी जीव संख्या है। तो जीवोंकी संख्या अनन्त है। पुद्गलकी संख्या जीवोंसे भी अनन्तगुनी है। एक इस जीवके साथ जो शरीर लगा है उस ही में अनन्त परमाणु हैं, तो

शरीरके साथ शरीरके उम्मीदवारमें भी अनन्तगुणे परमाणु हैं। उससे अनन्तगुने तैजस शरीरके परमाणु हैं, उससे अनन्तगुणे कर्मके परमाणु हैं और उससे भी अनन्तगुणे कर्मके उम्मीदवार परमाणु हैं, ऐसे तो प्रत्येक संसारी जीवके साथ लगे हैं, फिर उनमें तीन इन्द्रिय आदिक हुए तो भाषावर्गणाके परमाणु भी अनन्त प्रदेशी हैं और उनमें कोई सैनी जीव है तो उसके साथ मनोवर्गणाके भी अनन्त परमाणु साथ हैं, इतने तो एक जीवके शरीरके साथ लग रहे हैं पर उससे बाकी और भी तो पुद्गल बचे हैं जिनको अभी ग्रहण नहीं किया, जिनको ग्रहण करके छोड़ दिया। ये जगतमें जितने पदार्थ दिख रहे हैं तखत, दरी आदिक ये सब जीवके द्वारा छोड़े गए स्कंध हैं, फिर अग्राह्य भी हैं। मतलब यह है कि जीवोंकी संख्यासे अनन्त गुने अधिक पुद्गत है। एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य हैं। इन अनन्त पदार्थोंमें से मैं केवल एक स्व हूं। इसके अतिरिक्त समस्त अनन्ते जीव सब पर हैं और पुद्गल आदिक तो पर हैं ही। ऐसे ये जगतमें जितने भी समागम हैं वे सब पर हैं, अनात्मा हैं किन्तु मोक्षमें केवल यह ही यही है। सर्वस्व आत्म स्वरूप ही है, ऐसा सामायिकमें श्रावक ध्यान कर रहा है। यह श्रावक अपने आपके बारेमें चिन्तन कर रहा है कि ऐसे संसारमें मैं क्यों दुःख भोगूँ।

दुःखरूप संसारसे छूटकर परमानन्दमय मोक्षके मार्गमें लगनेकी भव्यजीवकी उमंग—देखिये, संसारी प्राणीकी कितनी विडम्बना चल रही है। अभी जी रहे हैं, कुछ वर्ष बाद गुजरेंगे, मरण हो जायगा, मरणके बाद फिर कोई दूसरा जीवन चलेगा। तो जैसे इस भवमें इस शरीरके योगमें बहुत बहुत मोह रागद्वेष करके दुःख बनाये जा रहे हैं ऐसे ही आगे भी उस जीवनमें बहुत बहुत कष्ट करके मोह रागद्वेष बनाये जायेंगे। और यह परम्परा जैसी चली आ रही है वैसी ही आगे चलती जायगी, यदि अपने आपकी सुध न ली। अब सोचिये कि सारा जगजाल इस आत्माके लिए व्यर्थ है। धर्मधारण करनेके लिए महाभव्य जीवके उमंग तो चल रही है, पर इस जीवको रास्ता ऐसा नहीं मिल रहा है कि जिस रास्तेसे एकदम इस धर्मसागरमें स्नान करके संसारके संताप समाप्त करदें। यह उपाय कहीं बाहर नहीं है। हम अपने आपमें ही और इसके लिए दृढ़ता करलें तो यह प्राप्त अभी भी कर सकते हैं। स्थिरता न रहेगी, आगे स्थिरता हो जायगी, मगर सच्चा निर्णय तो करलें। सच्चा ज्ञान, सच्चा विश्वास यह हम आपको शरण बनेगा। जगतका कोई पदार्थ अपनेको शरण न बनेगा। मानों कितना ही वैभव हो जाय, कितना ही परिकर जुड़ जाय, राजा हो गए, लोग जयजयकार कर रहे, बहुत-बहुत सत्कार कर रहे, यह सब क्या है? विडम्बना है, मायामय है उसमें कुछ मिला है क्या आत्माको। अरे सर्व विकारोंसे परे इस ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वका विचार तो करो। सामायिकमें सद्गृहस्थ ऐसे ही अंतस्तत्त्वका चिन्तन कर रहा है।

ज्ञानीका अपनेमें अपने वैभवका दर्शन—यह श्रावक अपनेको देख रहा कि मेरेमें क्या-क्या रचना भरी हुई है। ज्ञानस्वरूप ऐसा महत्त्वशाली गुण है कि जिसके कारण यह आत्मा सर्वद्रव्योंमें प्रधान माना गया है, मानो कोई जानने वाला पुरुष न हो तो इन पौद्गलिक ढेरोंकी भी सत्ता कौन जाने? फिर तो सब असत् जैसे हैं। होते हुए भी क्या हैं। देखिये इन सबको भी प्रकाशमें लाता है कोई तो यह आत्मा। इन सबकी महत्ता महिमा बतायी है तो इस जीवने। यह जीव सर्व द्रव्योंमें प्रधान है। और वही केवल अकेला रह जाय, अपनी शुद्ध अवस्थाको पाले तो इसके ज्ञानमें तीन लोक तीन कालके

सर्व पदार्थ युगपत् झलक जाते हैं। ऐसा ज्ञान वैभववान यह आत्मा है। इस ज्ञानमें समस्त लोक ऐसा गड़ जाता है, जुड़ जाता है, चित्रित हो जाता हैं कि मानों परिपूर्ण ज्ञानके कारण इस आत्मा का सारा महत्त्व बढ़ गया है। तो देखिये आत्मा अखण्ड है, वहां कोई भेद नहीं है, वह तो अपनी सत्तामें जो कुछ है सो वही है एक सत्। जो भी पर्याय बनती है, परिणमन होता है वह एक होता है। प्रति समय एक-एक परिणमन होता और वह किस प्रकारका परिणमन होता उसको समझानेके लिए आचार्योंने दया करके गुणभेद किया और उस गुणभेदके आधारपर पर्याय भेदको समझाया। पर्याय भेदके माध्यमसे गुणोंको समझाया, पर वहां जितने भी समझाये गए गुण हैं वे क्या अलग-अलग हैं? अरे एक गुणमें दूसरेका प्रकाश है, एकमें दूसरेका अन्तर्भाव है। सर्वकुछ ज्ञानमात्र है ऐसा अपना अन्तः स्वरूप यह सद्गृहस्थ सामायिकमें निरख रहा है सहजज्ञान शक्तिरूप स्वभावमात्र।

ज्ञानी द्वारा शुद्धशक्तिरूपमें अपनी परख—मैया शुद्ध आत्मध्यानी पर्यायको भी नहीं निरख रहा अभेद ध्यानमें किन्तु शक्तिरूप यह ज्ञानी तक रहा है। वह शुद्ध पर्याय अभी है कहां, पर ज्ञान द्वारा वह अपनी शुद्ध शक्तिको निरख रहा है। मैं हूं सहज ज्ञानस्वरूप, सहज दर्शन, सहज आनन्द, सहज शक्तिमय, जिसका शुद्ध परिणमन हो तो अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द होता है। ऐसा अनन्त वैभववान यह मैं आत्मा अपने स्वरूपमें अपनेको देखूँ। तो वहां व्यग्रताका क्या काम रहता है? ऐसा सहज अनन्त चतुष्टयमय यह आत्मा कभी तो दृष्टिमें आये, इसीलिए तो सामायिक बतायी गई है। प्रत्येक गृहस्थको सामायिक करना ही चाहिए। मुनिराजके तो हर समय सामायिक है, वह चारित्र ही बन गया उनका, फिर भी चूँकि प्रमाद रहता है सो वे भी सामायिक करते हैं मगर मुख्य कर्त्तव्य है इस श्रावकका कि वह नियमसे सामायिक करे और सामायिकमें इस अविकार आत्मस्वरूप का चिन्तन करे। सर्वकुछ भूलकर परम विश्रामके साथ इस उपयोगको लें जिसमें अपने आप सहज जो कुछ झलके सो झलके। बाह्य पदार्थ तो सहज झलकेंगे नहीं। बाह्य पदार्थ तो उपयोगसे बनाकर झलका करते हैं, मगर आत्माका जो सहज शुद्ध स्वरूप है वह सहज झलका करता है। उसमें जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है उसका अनुभव कर चुकने वाला गृहस्थ प्रतिदिन सामायिकमें परम विश्राम लेता हुआ अलौकिक आनन्द पाता है।

वाक्कायमानसानां, दुःप्रणिधानान्यनादरस्मरणे।
सामायिकस्यातिगमा, व्यज्यन्ते पञ्च भावेन॥ १०५॥

सामायिक शिक्षाव्रतके अतिचार—श्रावकके बारह व्रतोंके प्रकरणमें अब तक १० व्रतोंका वर्णन हुआ है, जिनमें यह सामायिक नामका चौथा व्रत चल रहा है। यहां उस सामायिक व्रतके अतिचार कहे जा रहे हैं। ऐसे कौनसे दोष हैं जो सामायिकको भंग तो नहीं करते किन्तु उसमें दोष लगाते हैं। वे दोष इस छंदमें बताये गए हैं। (१) पहला अतिचार है दुःप्रणिधान। सामायिक करनेमें, पूजनमें संसार सम्बंधी प्रवृत्ति करना यह वचन दुःप्रणिधान है। जैसे कोई बात किसीको बोल दिया, सामायिक कर रहे हैं उस समय कोई लड़का ऊधम कर रहा, उसे मना कर रहे हैं या कोई प्रयोजन है, कोई कुछ बात करने

आया है तो उसको भी कुछ कह दिया यह है वचनदुःप्रणिधान। (२) सामायिकमें शरीरको चलायमान करना, संयमरहित ढंगसे शरीरको प्रवर्ताना यह कायदुःप्रणिधान है। जैसे थक गए तो एक पैर पसारकर बैठ गए सामायिकमें ऐसी शरीरकी संयमरहित चेष्टा होना यह कायदुःप्रणिधान है। (३) तीसरा है मनोदुःप्रणिधान। मनमें आर्त रौद्रध्यान वाली बात चिन्तनमें आना। सामायिकमें शरीरको चलायमान नहीं किया जा रहा है फिर भी मनमें आर्तध्यान और रौद्रध्यानका विचार कर रहे हैं। (४) चौथा अतिचार है अनादर। सामायिकका आदर देते हुए सामायिक न करना यह अनादर अतिचार है। (५) पांचवा अतिचार है स्मरण। सामायिक करते समय सामायिककी क्रियाको भूल जाना। कोई बात भूल गए मानलो कायोत्सर्ग करना भूल गए तो यह है स्मरण नामका अतिचार। ऐसे सामायिक व्रतमें ५ अतिचार होते हैं। अब प्रोषधोपवास नामका व्रत बतला रहे हैं।

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु।
चतुरभ्यवहार्य्याणां, प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः॥ १०६॥

प्रोषधोपवासके मुख्य कालभूत। अष्टमी चतुर्दशीपर्वकी अनादिपरम्परा—धर्मभावनापूर्वक चतुर्दशी और अष्टमीके दिन सर्वप्रकारके आहारका त्याग करना प्रोषधोपवास कहलाता है। प्रत्येक माहमें दो अष्टमी और दो चतुर्दशी होती हैं। इन पर्वोंमें प्रोषधोपवास करके धर्मध्यानमें समय व्यतीत करना यह अनादिकालसे ही व्रतमें बताया जाता है। देखिये—दस लक्षण हुए या व्रत हुएये पर्व तो कभीसे बने कोई कारणसे चले हैं मगर अष्टमी और चतुर्दशीका पर्व धर्मध्यानमें व्रती श्रावकके लिए अनादिसे चल रहे। जब बीचमें भोगभूमि आयी तब नहीं रही धर्मप्रवृत्ति किन्तु उससे पहले जब धर्मप्रवृत्ति थी तो वहां तो ये सब चलते थे। इन पर्वोंका मनाना, धर्मध्यानमें समय बिताना यह अनादिकालसे चला आया। इन अष्टमी और चतुर्दशीके पर्वोंमें गृहस्थ व्रती संयम पूर्वक रहता है। जो व्रती श्रावक नहीं है, साधारण हैं, अव्रती हैं वे भी कमसे कम इतना ध्यान रखते हैं कि अष्टमी चतुर्दशीके दिन हरी नहीं खाते, क्योंकि वे एकेन्द्रिय जीव हैं और शक्ति अनुष्ठान है उसका बचाना तो इतना ख्याल तो सभी रखते हैं, पर जो व्रती श्रावक हैं वे विशेषतया ध्यान रखते हैं। इन पर्वोंमें धर्मध्यान विशेषतया करना, उपवास तो धारण करते ही हैं, पर दुकानमें दस दिन न जाना, घरका सम्बंध न रखना, घरमें भी रहे तो एक धर्मध्यान वाला जो कमरा हो उसमें रहना, या मंदिरमें बैठना। स्वाध्याय करना आदिक धर्मध्यानमें समय व्यतीत करनेकी मुख्यता है प्रोषधोपवासमें।

प्रोषधोपवास करनेकी विधि—इन व्रतोंके करनेका विधान यह है कि जिसे अष्टमीका प्रोषधोपवास करना है तो सप्तमीके दिन पूजा पाठसे निवृत्त होकर समयपर दोपहरमें भोजन किया, उसके बाद नवमीके दोपहर तक याने भोजनकी पारणाके समय तक चारों प्रकारके आहारका त्याग रहता है। यह कही जा रही है उत्कृष्ट प्रोषधोपवासकी विधि। अब इसके बीच जितना समय है, सप्तमीका आधा दिन, सप्तमीकी रात्रि, अष्टमीका पूरा दिन, अष्टमीकी रात्रि और सप्तमीका पहला प्रहर, इतना समय धर्मध्यानमें जाता है। उसे शिक्षा व्रत यों कहा कि एक सप्ताहमें कुछ धर्मध्यानमें समय अधिक

लगे, शामको जल ग्रहण नहीं किया तो उससे मुनिव्रतकी शिक्षा मिलती है। मध्यम प्रोषधोपवासमें और विधि तो उत्कृष्ट प्रोषधोपवासकी तरह है, पर इस मध्यममें अष्टमी और चतुर्दशीको एक बार जल ग्रहण कर लेता है। पर धर्म ध्यानकी बात तो इतनी ही चल रही है। जघन्य प्रोषधोपवासमें धर्मध्यान आदिककी बात उत्कृष्टकी तरह चल रही है पर वह अष्टमी चतुर्दशीको एक बार आहार ग्रहण कर लेता है यह है जघन्य प्रोषधोपवास। सो व्रत प्रतिमामें निरतिचार प्रोषधोपवास नहीं पलता, निरतिचार तो अणुव्रत ही पलता है। ये ७ शील हैं इनमें कहीं कोई अतिचार सम्भव हो जाता है फिर भी वह अपनी शक्ति प्रमाण दोष नहीं आने देता, ऐसा श्रावकका संकल्प रहता है। अब उपवासके समयमें और क्या करना चाहिए उसका विधान बतलाते हैं।

पञ्चानां पापाना-मलङ्क्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्।
स्नानाञ्जननस्याना-मुपवासे परिहृतिं कुर्य्यात्॥ १०७॥

उपवासके दिन हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोंका त्याग करना। यह तो मुख्य बात है ही, साथ ही आभरण वेषभूषा सजावटका त्याग करना। गृहके कार्योंका आरम्भ या आजीविकाके आरम्भको छोड़ देना क्योंकि इन कार्योंमें यदि वृत्ति लगी रही तो निर्बाध धर्मध्यान बन ही नहीं सकता। इन सबसे निवृत्त होकर ताकि हिंसासे भी बचें, और धर्मध्यानमें भी अधिक लगें इसके लिए इनका त्याग उपवासमें बताया गया है। सुगंधित केसर, कपूर इत्र आदिकका त्याग करना याने घ्राणेन्द्रियके विषयको रोकना, पुष्पोंका त्याग करना, फूल सूंघ रहे, फूल माला पहिन रहे, फूल सामने धरे उन्हें उठा रहे, सूंघ रहे, यह व्रतमें नहीं किया जाता। स्नानका त्याग करना, उपवासमें स्नान भी नहीं करते, पर यह व्रती श्रावक भगवानकी पूजाके लिए थोड़ा अल्पस्नान रोज जैसा करता था वैसा करेगा केवल शरीर शुद्धिके ध्यानसे अल्पस्नान करता। उस दिन बहुत-बहुत जल बिखेरनेकी बात नहीं होगी। जितना उपयोगी है उतने ही जलसे शुद्ध होकर पूजा करे, बाकी स्नानकी जरुरत ही क्या है। और जो ऐसे ऊंचे श्रावक हैं, जो आरम्भका त्याग किए हुए हैं वे नवमीप्रतिमा, १०वीं प्रतिमा, क्षुल्लक ऐलक ये भी तो श्रावक हैं। ये स्नान तो उपवासके दिन करेंगे ही नहीं। उपवासके दिन अंजन या अन्य अनेक चीजें जो सूंघने की वस्तुये हैं उनका भी परिहार रहता है। यह तो एक उपलक्षण रूपमें कहा गया है, पर दिल ही बता देगा कि उपवासके दिन क्या क्या न करना चाहिए। जैसे नाच देखना, गाना बजाना, संगीत सुनना इनका भी त्याग उपवासमें होताहै। हां जो धार्मिक भजन हों जिनमें आत्माका और परमात्माका स्वरूप ध्यानमें आये तो उसकी बात अलग है।

उपवास करनेके प्रयोजन व परिणाम—उपवास करनेका प्रयोजन क्या है? इन्द्रियोंका मद मारनेके लिए इन्द्रियमें प्रवृत्ति न बने, प्रमाद आलस्य आदिक भी न आये, आरम्भ आदिकसे विरक्त हों, इन सब प्रयोजनोंसे उपवास किया जाता है। उपवास करनेके लाभ अनेक हैं। जैसे कभी किसी समय मनके अनुकूल काम नहीं होता तो कोई उसके खिलाफ एक जिद्द सी बना लेते, ऐसालोकमें देखा जाता, तो यहां तो ज्ञानपूर्वक यह व्रती यह सोच रहा कि इन्द्रियके विषयोंमें प्रवृत्ति बहुत चलती है, मन भी

बहुत इन्द्रिय विषयामें जाता है तो इन सबको दण्ड देना, इन सब पर विजय प्राप्त करना है, ऐसे भावोंसे भी उपवास किया जाता है। उसका सम्बंध धर्मसे ही रहा। कोई अधर्म वृत्तिमें सम्बंध नहीं है, हां अपनी प्रशंसाके लिए उपवास न करना। मात्र विषयोंका अनुराग घटानेके लिए और आत्माकी भीतरी शक्ति बढ़ानेके लिए उपवास किया जाता है, उसके रस आदिककी लम्पटता समाप्त हो जाती है, निद्रापर विजय होती है और उपवासका सबसे बड़ा प्रभाव यह है कि बाहरी विकल्पोंसे हटकर यह अपने निकट बसता है। इसका नाम उपवास रखा गया है। उप मायने समीपमें वास मायने रहना। आत्मा अपने स्वरूपके समीप रहे याने आत्मस्वरूपकी दृष्टि बनी रहा करे इसे कहते हैं उपवास। अब बतलाते हैं कि उपवासका दिन किस प्रकार व्यतीत करना चाहिए।

धर्मामृतं सतृष्णः, श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्।
ज्ञानध्यानपरो वा, भवतूपवसनतन्द्रालुः॥ १०८॥

उपवासमें ज्ञान ध्यान धर्मश्रवणकी मुख्यता—उपवास करने वाला गृहस्थ आलस्यरहित होता हुआ ज्ञानके अभ्यासमें धर्मध्यानमें तत्पर रहता है और धर्मामृतके पानके लिए उसकी तृष्णा बढ़ जाती है। तो मैं धर्मामृतका पान अधिक करूं, अपने आत्माके सहज स्वरूपका अनुभव करूं, इसके लिए उसकी बड़ी तैयारी रहती है और धर्मामृतका स्वयं भी पान करता है, सुनता है, पढ़ता है और दूसरोंको भी धर्मामृतका पान कराता है। उपवासके दिन धर्मकथा श्रवण करना चाहिए, तत्त्वकी बात, आत्माकी चर्चा करना चाहिए जिससे आत्माके सहज स्वरूपमें अपनी दृष्टि जाय आरम्भ आदिकमें या विकथाओंमें खोटे कथनोंमें समय बरबाद न करना। उपवासका सही फल तब प्राप्त होता है कि जब धर्म कथावोंमें धर्मध्यानमें अपना चित्त अधिक लग रहा हो। अब उपवासका लक्षणभेद अर्थ बतलाते हैं।

चतुराहारविसर्जन-मुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।
स प्रोषधोपवासो, यदुपोष्यारम्भमाचरति॥ १०९॥

उपवास व प्रोषधका तात्पर्य—उपवासका अर्थ तो है चारों प्रकारके आहारका त्याग करना। चार प्रकारके आहार ये हैं—(१) अशन, (२) पान (३) खाद्य और (४) स्वाद्य। रोटी दाल, चावल आदिक जिनसे उदरपूर्ति होती है वे अशन कहलाते हैं और जो पीनेकी वस्तु है दूध पानी आदिक वे पान कहलाते हैं, और जो खानेकी चीजें हैं याने पेट भरनेसे जिनका सम्बंध नहीं, केवल जीभ के स्वाद के लिए जो ग्रहण की जाती है जैसे पान, इलाइची, सौंफ आदिक ये खाद्य कहलाते हैं,लड्डू, पेड़ा बर्फी आदि ये स्वाद्यकहलाते हैं। इससे यह जाहिर होता किखूब मिठाइयां पकवान खा खाकर ही कोई अपना जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। वह एक खाद्य है, असन नहीं है। स्वाद वह कहलाता है जो स्वादवाली चीज है जैसे लौंग इलायची चटनी वगैरह। इन चार प्रकारकी चीजोंका त्याग होना इसका नामउपवास है औ धारणाके दिनमें एक बारभोजन करना प्रोषध है।उपवाससे पहले दिनका नाम धारणा कहलाता है, और उपवासके बादका या उपवासके खुलनेका दिन पारणा कहलाता है। तो

यों धारणा पारणाके मध्य प्रवेश होता है वह उत्कृष्ट प्रोषधोपवास कहलाता है। इसमें १६ प्रहर व्यतीत हो जाते हैं। एक प्रहर ३ घंटेका। सप्तमीके दो प्रहर, रात्रिके ४ प्रहर, अष्टमीके दिनके चार प्रहर अष्टमीके रात्रिके चार प्रहर और नवमीके दों प्रहर इस प्रकार १६ प्रहर तक यह श्रावक धर्मध्यानमें अपना समय बिताता है। १६ प्रहरके आरम्भ छोड़कर रहता है, पश्चात भोजन करता है, इसीका नाम तो प्रोषधोपवास है। अब प्रोषधापवासके अतिचार कहते हैं।

ग्रहणविसर्गास्तरणा-न्यहष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे।
यत्प्रोषधोपवास-व्यतिक्रमपञ्चकं तदिदम्॥ ११०॥

प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार—प्रोषधोपवास व्रतके ८ प्रथम अतिचार है बिना देखे, बिना शोधे उपकरणोंका ग्रहण करना, स्वाध्यायके उपकरण शास्त्रादिक, पूजाके उपकरण बर्तन आदिक इनको बिना देखे उठाना धरना, बिना शोधे धरना उठाना यह प्रथम अतिचार है। प्रोषधोपवासमें जीवदयाका विशेष पालन करता ही रहता है। जीवदया तो प्रतिदिन करना ही चाहिए, पर यहां आरम्भ आदिक कुछ नहीं कर रहे। केवल धर्मध्यान विषयक ही कुछ क्रिया चल रही है, सो उस क्रियामें उपवासकी आसक्ति आदिकके कारण यदि बिना देखे शोधे चीजोंको उठाये धरे तो वह अतिचार है। (२) दूसरा अतिचार है बिना देखे शोधे इन उपकरणोंका धरना या हाथ पैर आदिक पसारना। अगर हाथ पैर आदिक पसारनेकी जरुरत पड़े तो पहले देख भाल लिया कि नीचे कहीं कोई कीड़ी या अन्य जीवजन्तु तो नहीं है। बिना देखे शोधे हाथ पैर पसारना यह भी अतिचार है। (३) तीसरा अतिचार है बिना देखे शोधे वस्त्रादिकका, चटाई आदिकका धरना, उठाना बिछाना। जीव जतुको न देखे या न शोधे, निर्जन्तु जमीन है ऐसा चित्तमें न जान पाया और बिस्तर बिछा दिया तो यह प्रोषधोपवासका तीसरा अतिचार है। (४) चौथा अतिचार है अनादर। उपवासमें आदर न करना यह अनादर नामका अतिचार है। एक उपवास कर भर लिया किसी प्रसंगसे दुनियाको दिखानेको अथवा किसी भी भावसे कर तो लिया उपवास, पर कुछ खा नहीं सकते अब। ऐसा विकल्प आना या उपवासमें जो क्रिया की जानी चाहिए धर्म वह न कर सके, ऐसे अनादरकी बात चित्तमें आये तो वह अनाचार नामका अतिचार है। (५) पांचवा अतिचार है विस्मरण। उपवासके दिन पाठ करने आदिकी कोई क्रिया भूल जाना या और और बातें भूल जाना यह है विस्मरण नामका अतिचार। ऐसे ये ५ प्रोषधोपवासके अतिचार हैं। यहां पर शिक्षाव्रतमें देशावकाशिक, सामायिक और प्रोषधोपवास इन तीन व्रतोंका वर्णन हुआ।

दानं वैयावृत्यं, धर्मायतपोधनाय गुणनिधये।
अनेपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन॥ १११॥

वैयावृत्यनामक चतुर्थ शिक्षाव्रतका निरूपण—इस छंदमें वैयावृत्य नामका चौथा शिक्षाव्रत बताया गया है। इसका दूसरा नाम है अतिथि सम्विभाग व्रत। अतिथि अर्थात् मुनिजन, उनको विभवने यथाशक्ति आहार औषधि आदिकका दान देना अतिथि सम्विभाग कहलाता है। जो लोग एकान्ततः

समझ बैठे हैं कि मुनिके ख्यालसे आहार बनाना, चौका लगाना यह उत्कृष्ट दोष है, सो यह उनकी एक भूल है, यह कहलाता है अतिथि सम्विभाग व्रत। यदि केवल मुनिके लिए ही चौका लगे तब तो उद्दिष्ट है, पर यह भाव हो कि आज मुनिको आहर दूंगा, उस भावसे वह सम्पूर्ण चौका शुद्ध करता है फिर वह उस चौकेमें खायगा। खाना तो उसे था ही, बनाना तो उसे था ही। आज वह अशुद्धिसे नहीं बना रहा, हिंसासे नहीं बना रहा तो यह उसके लिए गुण हुआ या दोष? गुण हुआ। उद्दिष्ट दोष उसे कहते हैं कि जो केवल मुनिके लिए आहार लगाये, और अपने लिए जैसा रोज-रोज बनता था वैसा अलग बनाये वहां उद्दिष्ट दोष होता है। उद्दिष्ट दोषका प्रयोजन यह है कि गृहस्थको कष्ट न हो। कष्ट मानकर भोजन बनाया तो उसे तो कोई रिस्तेदार भी न खाना चाहेगा, फिर मुनिकी बात तो दूर जाने दो। तो जो श्रावक विभाग करता हुआ कि मैं मुनिको आहार दूंगा और खुद भी खाना तो है ही सो खायेगा वह अतिथि सम्विभाग है। इसका दूसरा नाम वैयावृत्य है।

वैयावृत्यमें दानकी मुख्यता—वैयावृत्यका अर्थ और और भी है। जैसे मालिस कर देना या पग दबा देना मगर वास्तवमें दानको ही वैयावृत्य कहा गया है। मानो कोई किसी मुनिके हाथ पैर तो खूब दबाये और उनके आहार भोजनकी कुछ खबर ही न करे, उसका भाव ही न बनाये और ऐसे हो जायें नगरमें सभी भक्त तो क्या उनकी वह वैयावृत्ति ठीक कहलायगी? तो वैयावृत्यमें मुख्य है दान। सो जिनकी तपस्या ही धन है, जो गुणोंके निधान हैं ऐसे साधुजनोंको धर्म बुद्धिसे दान करना वैयावृत्य कहलाता है। जो पात्र तपश्चरणको ही वास्तविक धन जानता है, आत्माका कर्मकलंक मलरहित जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है वह अविनाशी धन देख तो लिया पर प्राप्त नहीं कर पाया और रागादिक कषाय भक्तोंको जतानेके लिए तपश्चरण रूपी धनको अंगीकार करता है, जिन्होंने सर्व परिग्रहोंका त्याग किया, परम वीतराग दिगम्बर निरन्तर आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वभावमें ही जिनकी धुन रहा करती है उन तपस्वीजनोंको भक्तिपूर्वक आहार, औषधि आदिक दान करना। जैसे उनका भय मिटे, जैसे उनका धर्ममें मन लगे उस प्रकार उनकी वैयावृत्ति करना यह चौथा शिक्षाव्रत है। जो कि श्रावकका परम कर्तव्य है। देखिये बारह व्रत बताये गए हैं श्रावकके जिनमें पहला व्रत है अतिथिसम्विभाग। बीचमें और भी १० व्रत हैं मगर जो अत्यन्त मुख्य व्रत हैं वह पहले नम्बरपर है और अंतिम नम्बरपर है। जैसे कि कोई लिष्ट बनायी जाय पुरुषोंकी तो जो सबसे प्रधान है। मुख्य है उसका नाम या तो पहले नम्बरपर सबसे ऊपर आता है या फिर सबसे नीचे बादमें। व्रतोंमें ये दो व्रत बड़े प्रधान हैं। यदि अहिंसा व्रत नहीं है तो फिर धर्म ही क्या रहा? यदि अतिथि सम्विभाग व्रत नहीं है तो फिर धर्मप्रवृत्तिका क्या अवकाश? तो परम दिगम्बर व्रती यतीको अपने धर्मके प्रवृत्तिके लिए, मुनिजनोंके धर्मकी प्रवृत्तिके लिए और समाज भी उस धर्मपद्धतिमें लगे वर्तमानमें और भविष्यमें भी ऐसे धर्मकी प्रवृत्तिके लिए सेवा करना वैयावृत्य है।

साधुजनोंकी धर्मधनता—धर्म नाम है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका। याने अपने आत्माका विश्वास हो कि मैं कोई परम पदार्थ हूं, ज्ञानानन्द मैं हूं, सर्वस्व मेरा मुझमें है। अपनी दृष्टिसे अपनेमें खोजते हैं मुनिराज। इससे अपने आप ऋद्धि विभूति मिलती है। कोई इसे भूलकर कोई बाहरी पदार्थोंमें सुखशान्ति खोजे तो उसको निरन्तर अशान्ति ही होगी। जितनी भी शिक्षा है उस शिक्षाका

प्रयोजन यह ही है कि मैं अपनेमें बसे हुए परमात्मस्वरूपको जान लूँ और सदाके लिए संकटोंसे रहित हो जाऊं। सुख देने वाला शान्तिका घर अपने आपके आत्मामें है, अन्यत्र न मिलेगा। तो ऐसे अपने आत्माका विश्वास करना यह है सम्यग्दर्शन। और जैसे आत्माका विश्वास हो उस ही स्वरूपकी जानकारी बनाये रहना यह है सम्यग्ज्ञान। और बाहरसे हटकर अपने ही ज्ञानमें मग्न हो जाना यह है सम्यक्चारित्र। यह धर्मधन किसको प्राप्त होता है? जो पुरुष क्षमाशील हैं, गम्भीर हैं। उनको ऐसे अंतस्तत्त्वका दर्शन होता है।

क्षमा गुणके प्रभाव—क्षमा एक ऐसा महान्गुण है कि जिसके प्रतापसे सर्वगुण अपने आप विराजमान हो जाते हैं। पहली क्षमा तो यह है कि अपने आपको क्षमा कर दें याने वे दोष न होने दें जिन दोषोंके कारण खोटी प्रवृत्तियां होने लगती हैं। वह क्या दोष हैं? दूसरेसे ईर्ष्या करना, विरोध रखना, किसीके काममें विघ्न डालना, और असत्य वचन व्यवहार रखना। ये सारे वे दोष हैं जिनसे अपना भगवान आत्मा इतना महान विभूति धारक होकर भी संसारमें जन्म मरण करता रहता है। जिसने अपने आपको क्षमा कर दिया है अर्थात् अपनेमें दोष नहीं आने देता उसका व्यवहार ऐसा मनोज्ञ होगा कि जिससे सभी जीवोंको सुख शान्ति पहुंचेगी। सबसे बड़ा तपश्चरण है यह कि अपने आत्माको निर्दोष रखना. जिन जीवोंकी आदत ऐसी रहती है कि दूसरेके दोष ही दोष निरखते हैं और उन दोषोंकी आलोचनामें ही चित्त लगाये रहते हैं उनका ज्ञान भी नष्ट होता है, समय भी बरबाद होता है, किन्तु जो जीव अपने अन्दर दोष देखते हैं कि मुझमें अभी इतनी कमी है। यह दोष है, यह दोष दूर करना चाहिए वह तो अपनी प्रतिभासे, ज्ञानप्रयोगसे दोषको दूर कर लेगा। किन्तु जो दूसरेके दोषको निरखनेमें ही रहा करते हैं उनका कल्याण होना कठिन। जो पुरुष परम वीतराग निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुजन हैं उनको केवल एक ही काम पड़ा है कि अपनेमें बसे हुए भगवान आत्माकी ही दृष्टि बनाये रहना, उसकी ही उपासना करना, उनके कोई दोष सम्भव नहीं है। पर गृहस्थ जनोंके अनेक दोष सम्भव हैं। सो जो विवेकी गृहस्थ हैं वे दूसरोंके दोष निरखकर अपना डबल दोष नहीं बनाते। एक तो खुदमें दोष भरे हैं, दूसरे दूसरोंके दोषोंको देखकर दोषोंका ही तो ज्ञेयाकार बनेगा सो दूसरेके दोषोंका बोझा अपने पर और भी ऊपरसे लाद लो। इतना डबल दोष करना अच्छी बात नहीं है। दूसरेके गुण निहारो, प्रत्येकमें गुण भी मिलते हैं, दोष भी मिलते हैं मगर गुणकी दृष्टि रखने वाले पुरुष अपना कल्याण कर लेते हैं और गुणीजनोंमें दोष कम हुआ करते हैं अथवा नहीं भी हुआ करते हैं। तो जिनको गुणोंकी पहिचान नहीं है वे वहां दोष बनाया करते हैं तो यह तो उनका बहुत ही बड़ा अपराध है। तो यों दोषोंकी निगरानी रखने वाले पुरुष अपना कल्याण नहीं कर पाते, इसलिए एक आदत यह दूर हो तों क्षमाभाव आयगा। दूसरेके दोष न निरखना, गुणोंपर ही दृष्टि देना और अन्य काम क्या पड़ा है? अपना कल्याण करना है तो अपनी साधना बनाना चाहिए।

क्रोध न करके क्षमालानेके प्रयास—सर्वप्रथम बात यह है कि हम सबको क्षमाशील होना चाहिए। क्रोध किया, गड़बड़ बोल गए तो उससे फायदा क्या हुआ कुछ विचारो तो सही। जो क्रोध करता है वह तत्काल अपनेमें घुन जाता है, पहली हानि तो यह है, दूसरी हानि यह है कि क्रोधमें जो

वचन निकल जाते हैं वे असंतुलित वचन होते हैं। उनका असर पता नहीं दूसरोंपर क्या पड़े? आखिर पीछे पछताना पड़ता है कि मुझे क्रोध क्यों आ गया? क्यों मेरे वचन खोटे निकल गए। तो दूसरी हानि यह है। तीसरी हानि यह है कि जिसपर क्रोध किया वह बलवान है तो उसी समय आपको पीट सकेगा, दण्ड दे सकेगा। चौथी हानि यह है कि कर्मबन्ध होता है जिसके फलमें आगामी कालमें भी दुःख भोगना पड़ता है। तो बताओ गुस्सा करनेमें कोई अपना लाभ हुआ क्या? तो अपने जीवनमें एक ऐसी साधना बनायें। ऐसा भीतरी ज्ञानप्रकाश बनायें कि प्रतिकूल बात सुननेपर भी किसीके द्वारा गालीके वचन सुनने पर भी अपनेमें क्रोध न आ सके। अगर किसीने यह साधना बना ली तो वह घरमें रहकर भी तपस्वीकी तरह है। यह साधना कैसे बनती है इसके लिए चिन्तन करें? जो यह बाहर खड़ा हुआ पुरुष है सो इसके आत्माका क्या स्वरूप है और मैं जो आत्मा हूं, जीव हूं सो मेरा क्या स्वरूप है इन दो बातोंपर ध्यानदो बात कठिन नहीं है। जिसको यह नुक्ता समझमें आ गया वह चाहे छोटी उम्रका ही क्यों न हो, उसका बेड़ा पार है। और जिसको यह बात नहीं समझना है, जिसकी धुन विषय कषायोंकी बनी हुई है उसका तो जीवन बेकार है। जरा अपने चित्तको समाधान रूप करके विचार करें तो अपनी चीज और अपनेको समझमें न आये यह तो गजबकी बात कहलायगी। जैसे पानीमें रहने वाली मछली प्यासी रहे तो इसपर लोग आश्चर्य करते हैं ना इसीप्रकार ज्ञानानन्द स्वरूपमें बसे हुए हम ज्ञानानन्द न पायें तो यह भी बड़े गजबकी बात है। अवश्य पा सकते हैं, पर विषय कषायसे उपयोग हटाना पड़ता है।

क्षमापोषिका दृष्टि—यह आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित है, अमूर्त है, आकाशकी तरह है। जिसमें मैं हूं, मैं हूं ऐसा ज्ञान होता रहता है सो वह अमूर्त आत्मा उसके मुख भी नहीं, जीभ भी नहीं, कान भी नहीं, ओंठ नहीं, शरीर नहीं। यह शरीर तो बाहरकी चीज है, सो यह आत्मा तो बोल नहीं रहा है और आत्माके स्वभावको देखोतो वह तो अविकार है, निरञ्जन है, उसमें बोलनेकी बात नहीं होती, पर कर्मउपाधि साथ लगी है सो यह कर्म उपाधि बुला रही है, इसका कुछ कसूर नहीं। एक बार दतियां स्टेटके राजा अपने हाथीपर सवार होकर कहीं जा रहे थे तो रास्तेमें कोई शराबी पुरुष मिला। वह था शराबके नशेमें, सो उसने राजाको देखकर कहा—ओ बे रजुवा अपना हाथी बेचेगा? तो उसकी बात सुनकर राजाको उसपर बड़ा क्रोध आया और कुछ कहना चाहा कि इतनेमें मंत्री बोला—राजन् इसे आप अभी कुछ न कहें, इसको राजदरबारमें बुलाकर फैसला किया जायेगा। और देखिये राजन, इस समय यह पुरुष नहीं बोल रहा है, इस पर आप नाराज न हों, इसका फैसला दरबारमें हो जायगा। राजाने उसको दरबारमें बुलवाया, तब तक उस पुरुषका नशा उतर चुका था। जब राजदरबारमें वह पुरुष आया तो बहुत घबड़ा रहा था, कांप रहा था, उसकी समझमें नहीं आ रहा था कि मेरेसे क्या कसूर बन गया। वहां राजा बोला—ओबे कोरी, क्या तू मेरा हाथी खरीदेगा? तो वह पुरुष बोला—राजन यह आप क्या पागलों जैसी बात कर रहे? कहां आप राजा और मैं आपकी प्रजा, वह भी महा गरीब, मेरेमें कहां हिम्मत जो आपका हाथी खरीदूं। राजा उसकी बात सुनकर बड़े आश्चर्यमें पड़ा कि अब यह क्या कह रहा? वहां मंत्रियोंने राजाको समझाया कि राजन् वहां यह पुरुष नहीं बोल रहा था कि ओ बे रजुवा

क्या अपना हाथी बेचेगा? वहां तो इसकी शराबका नशा बोल रहा था। राजाको सही बात समझमें आ गई और उसे माफ कर दिया। तो ऐसे ही समझिये कि यहां जितने लोग गाली देने वाले हैं, विरुद्ध वचन बोलने वाले हैं उनका आत्मा तो भगवान परमात्माकी ही तरह है। मेरे स्वरूप की ही तरह है, वह खोटी प्रवृत्ति नहीं करता, किन्तु साथमें जो कर्म-लगे हैं उन कर्मोंका जो अक्स पड़ रहा बस वह बोल रहा है, यह नहीं बोल रहा है। यदि ऐसी बात समझमें आ गई तो वहां गालीका असर अधिक न होगा।

क्षमाप्राप्तिके योग्य चिन्तन—दूसरी बात यह सोचें कि अपने स्वरूप पर भी विचार करें कि जो मैं हूं वास्तवमें ये नाक, आंख, कान तो मैं नहीं हूं। यदि मैं नाक, आंख, कान होता तो या तो मैं मरता नहीं क्योंकि नाक, आंख कान तो रहते ही हैं या ये साथ जाते पर ऐसा तो नहीं होता। मरनेपर शरीर यहीं पड़ा रहता है, आत्मा निकलकर जहां जाना है जाता है। मैं वह हूं जो इस शरीरसे जुदा हूं। क्या यह गाली देने वाला पुरुष मेरे आत्माको जान रहा है? अगर जान रहा है तो वह गाली न दे सकता था। जब नहीं जान रहा तो वह तो इस नाक, आंख, कानको ही जान रहा सो गाली इनको ही पड़ रही, मेरेको नहीं पड़ रही। दूसरा चिन्तन यह करें। और तीसरा चिन्तन यह करें कि ये जो गालीके शब्द हैं ये निकले और बिखर गए, ये मुझमें घर नहीं करते हैं। इनका क्या मेरेपर असर होगा? ऐसा चिन्तन करके गाली सुन मन खेद न आवे। कुछ भी वचन सुनें, प्रतिकूल भी बात सुनें तो भी इतनी हिम्मत बनाना चाहिए कि अपनेमें क्रोध भाव न आ सके। यह सबसे महानगुण है, और साधुसंत पुरुषोंमें सबसे महानगुण यह क्षमा पाया जाता है। जो क्षमा यह साबित करती है कि इसमें अनेक गुण बिराजे हैं। तो अपने गुण विकासके लिए यह आवश्यक है कि क्रोधभावका परिहार करें, क्षमाशील बनें।

क्षमासे सर्वत्र आनन्द—आप यह शंका रख सकते हैं कि इस दुनियामें आजके समय यदि क्षमाशील रहा जाय तो जो चाहे सताता रहेगा, पर ऐसी बात नहीं है। कोई नहीं सता सकता। जो वास्तवमें क्षमाशील रहेगा वह गुणवान भी है, उसके वचन कायदेसे निकलेंगे। परिमित निकलेंगे और उसकी प्रतिभा भी बढ़ेगी। जो व्यवहार उससे होगा उस व्यवहारमें उसको कभी अशान्ति नहीं हो सकती। दूसरा भी उसे नहीं सता सकता है, बल्कि दूसरे लोग क्रोधियोंको सताया करते हैं, परस्परमें एक दूसरेसे बैर हो जानेसे परस्पर विवाद उन्हींमें होता है। तो क्षमा जीवनमें एक महान् गुण हैं। उस क्षमाको जिस प्रकार बने, विकसित करते रहना चाहिए। क्षमामें यह भी नहीं है कि जो कमजोर है उसे तो क्षमा न करें और जो बलवान हैं उसको क्षमा कर दें। बलवानको जो क्षमा करता है वह क्षमा नहीं है किन्तु वह तो विवश होकर क्षमा करता, उसके तो भीतर ही भीतर गुड़गुड़ाहट चलती रहती है, जिसमें संक्लेश बढ़ता जाता है। जो अपनेको क्षमा नहीं कर सकता वह क्षमाशील नहीं कहलाता। हां जो अपनेको एक तरहसे क्षमा कर सके समझना चाहिए कि वह बड़े पुरुषोंको भी क्षमा कर सकता है। क्षमा तो वीर पुरुषोंका भूषण है। कायरोंसे क्षमा नहीं बन सकती है।

क्षमा लाभके साधनीभूत अन्तस्तत्त्वके दर्शनके लिए धर्मशिक्षणकी आवश्यकता—आत्माके जो गुण हैं उन गुणोंको पानेके लिए जिसे क्षमा चाहिए तो यह आवश्यक है कि हम अपने आत्माके सही स्वरूपको जाने तब वास्तवमें क्षमा हो पायगी। जैसे कोई बच्चा किसी सभामें रोता है

तो उसकी मां उस बच्चेका मुख दाबकर उसका रोना बंद करती है, उसके ओंठ दाबती है पर उसके ओंठ दाबनेसे कहीं उसका रोना बंद नहीं हो जाता, बल्कि उसका रोना और भी बढ़ जाता है ऐसे ही जबरदस्ती अपनेमें गुण बनानेसे क्या गुण आ जायेंगे? अरे गुण जब आयेंगे तो सहज ही आयेंगे। और उसका आधार है आत्माकी सच्ची समझ बनाना कि मैं क्या हूं। और यह समझ धार्मिक ज्ञान बिना नहीं बन सकती। इसलिए धर्मशिक्षणसे अपने आपको कुशल बनायें, सम्यज्ञानी बनायें। तो जो ऐब हैं व्यसन न करना, दूसरोंको न सताना आदिक जो भी गुण हैं वे सब गुण उसमें सहज आ सकते हैं। इसके लिए मुख्यतया चाहिए कि हम अपने आत्माका ज्ञान करें और उसके लिए चाहिए कि हम ऐसी शिक्षा पायें। धार्मिक शिक्षण लें ताकि हम अपने आपको समझ तो सकें सही कि मैं क्या हूं? अगर आत्माको सही समझ लें तो सर्वगुण यहां प्रकट होंगे और निकट कालमें निर्वाणको भी पायेंगे जो सदाके लिए ये जन्ममरण, ये सारे संकट छूट जायेंगे और सिद्ध भगवान हो जायेंगे जिनको आप णमोकार मंत्रमें रोज-रोज नमस्कार करते हैं—णमो सिद्धाणं। जिसको नमस्कार करते वह बड़ा ही तो होगा। बताओ ऐसा बड़ा हम आपको भी होना चाहिए या नहीं? यदि सदाके लिए इन संसारके संकटोंसे छूटना है तो आत्माका ज्ञान कीजिए। धर्म शिक्षण प्राप्त कीजिए जिससे अपने स्वरूपमें संतोष पानेका मौका मिल सके, फिर क्षमा आदिक गुण सहज ही प्रकट हो जायेंगे।

मोक्षमार्गी ऋषि संतोंका वैयावृत्य करनेमें श्रावकका प्रमोद—जो पुरुष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके धारक हैं, अपने आत्माके सहज स्वभावको निरखते रहनेकी जिनकी धुन है, जिन्हें अंतस्तत्त्वके अतिरिक्त अन्य कुछ सुहाता नहीं है, ऐसे परम पुरुष निर्ग्रन्थ दिगम्बर, जिनके न कोई रहनेका ठौर है, न मठ है, न आश्रम है, एकाकी अथवा गुरुजनोंके चरणोंके साथ रह रहे हैं जिस किसी भी स्थानमें, बनमें, गुफावोंमें, नदीके तटपर, या ऐसे स्थान पर जहां असंयमी लोगोंका आना जाना विशेष न हो, और थोड़ा ठहर कर विहार भी किया करते हैं, जो असंयमीजनोंका संग नहीं रखते हैं ऐसे परम पुरुष निर्ग्रन्थ दिगम्बर जब कभी घरके सामनेसे आयें आहारचर्याके लिए तो यह श्रावक अपनेको अहोभाग्य समझता है। जीवनकी सफलता समझता है, भक्तिपूर्वक पड़गाह कर उन्हें आहारदान करता है, साधुजन अलौकिक पुरुष कहलाते हैं। लौकिक पुरुषोंकी जो रीति नीति है उससे अलग रीति है साधु पुरुषोंकी। लौकिकजन स्नान करते हैं, इनके स्नानकात्याग है। दुनियावी लोग खाट पलंगपर, बड़े-बड़े सेजों पर सोते हैं और ये मुनिजन चाहे पहले राजा थे, सुकुमाल थे फिर भी भूमिपर, काठपर सोते हैं। दुनियाके लोग आरामसे बैठकर मौजसे भोजन करते हैं, इन मुनिजनोंको अपनी धुनके कारण इतना भी समय नहीं है कि वे मौजमें बैठकर खा सकें। वे खड़े ही खड़े भोजन करके चल देते हैं।

साधु संतोंका ध्येय वीतरागताकी सिद्धि—लोग वस्त्राभूषणसे अपने अंगोंकी सजावट करते हैं, केशोंकी सजावट करते हैं और ये मुनिजन वस्त्राभूषणकी सजावटके तो अत्यन्त ही त्यागी है, पर केशोंकी भी सजावट नहीं करते, केशलुञ्च करते हैं, जिससे उनका सिर अटपट सा हो जाता है। ये सारी बातें क्यों करते हैं? ब्रह्मचर्यकी सिद्धिके लिए और अपने आत्मामें रमणकर संतुष्ट होनेके लिए। मुनिजनोंका ध्येय परम वीतरागताकी सिद्धि करना है। लौकिकजन या देवगण पूजा करें प्रशंसा आदिक

करें पर उनके चित्तमें इसकी रंच भी चाह नहीं है। धुन है केवल यह कि मैं आत्माके सहज स्वरूपको जानूँ और उसमें ही रमण करूं। उनकी वाञ्छा यह भी नहीं रहती कि परलोकमें मैं इन्द्र बनूँ, बड़ा धनिक राजा बनूँ, ऐसी चाह होना तो दूर ही रहा। इसमें वे रागरूप अंगारे कर तप्त तृष्णाको बढ़ाने वाली विभूति समझते हैं। कोई मुनिराजका देहान्त हुआ तो उसके बाद वह देव होगा, देवियां मिलेंगी, कुछ वहां राग होगा, नटखट होगा, यह बात ध्यानमें आनेसे भी खेद मानते हैं कि मेरा यह पवित्र जीवन, परम ब्रह्मचर्यका जीवन और यदि मुझे स्वर्गमें उत्पन्न होना पड़ेगा तो देवदेवियोंका वह बोलचाल राग सब बढ़ताजायगा। अभी तक इतना पढ़ सके, अब फिरसे वही पाटी पढ़नी पड़ेगी जो रागमें की जाती है। वे स्वर्गमें उत्पन्न होनेको क्या तरसेंगे? जो उस स्वर्गकी बात सोचकर खेद करते हैं कि ऐसे अलौकिक पवित्र जीवनके बाद ऐसा भोगना पड़ेगा, तो ऐसे परमविरक्त साधुजनोंका वैयावृत्य करनेका लाभ अनन्तकालमें भी दुर्लभ है।

आहार करनेमें साधुसंतोंका प्रयोजन—साधुजन देहसे इतना विरक्त हैं कि उनके उमंग नहीं चलती कि मैं आहारको जाऊं, पर यह जानते हैं कि आहार आदिक किए बिना जीवन नहीं चलता और यों अगर कुसमयमें मरण हो जायगा। हम अपनी साधनामें पूर्ण न हो सके और यों ही मरण बन गया तो आगे असंयमी जीवन व्यतीत करना पड़ेगा, और और भी खोटे परिणामोंका जीवन बन जायगा। इसलिए थोड़ा जिन्दा रहें और रहे सहे जीवनमें आत्माके सहज चैतन्य स्वरूपका ध्यान धरकर मग्न होनेकी धुन रखकर अपनेको कृतार्थ करलें। इस भावनासे उन्हें आहारके लिए उठना पड़ता है, सो रत्नत्रयका सहकारी जानकर आहार लेते हैं। आहार नहीं है रत्नत्रयका सहकारी, बाह्य सहकारी है, यह शरीर जिसमें मिल रहा है। यह रहेगा तो हम अन्तः धर्मसाधना करते रहेंगे। जिसकी रत्नत्रयकी धुन है उसकी बात कही जा रही है। कहीं सभीके लिए धर्मका सहकारी न बन जायगा जीवन जो अपने जीवनको जैसा ढालना चाहता है वह ढालता है। सो मुनिजन आहारको जाते हैं, सरस मिले, नीरस मिले, ठंढा मिले, गरम मिले, कड़ा मिले, नरम मिले, शुद्ध भोजन ग्रहण करके रत्नत्रयकी रक्षाके लिए वे कृतघ्न देहकी रक्षा करते हैं। मुनिजन जानते हैं कि यह देह कृतघ्न है। कृतघ्न उसे कहते हैं कि कितना ही उपकार उसका किया जाय तो भी उपकारक का उपकार भूल जाय, बल्कि उससे विपरीत चलने चले, ऐसे विपरीत चलने वालेको कहते हैं कृतघ्न। तो यह देह भी कृतघ्न है इस देहको कितने ही रसीले भोजन कराये जाते हैं, बड़ा इसको पुष्ट कराया जाता है, उसका उपाय बनाया जाता है और इस शरीरको देख देखकर लोग खुश होते हैं, दिन भरमें कमसे कम दो बार तो आयनेमें अपना चेहरा देख ही लेते होंगे। बाल संवारना, कई-कई बार नहाना, आयनेसे अपना चेहरा देख-देखकर खुश होना, हां हमारा देह ठीक है, पुष्ट हो रहा है, तो जिस देहके पीछे वह जीव इतना मर रहा वह देह इस जीवके लिए पापका ही कारण बनेगा, नरकादिक खोटी गतियोंमें पहुंचानेका साधन बनेगा। तो इससे अधिक कृतघ्न क्या कहा जाय देहकी फिर भी वे मुनिजन इस कृतघ्न देहकी रक्षा करते हैं इस कारण कि देह रहेगा तो इस शेष जीवनमें हम रत्नत्रयकी साधना बनायेंगे। यदि यों ही जल्दी हठमें कि हम तो मरण ही करेंगे, हमें जीना नहीं है और यों अकालमें देह नष्ट हो जायगा तो मरकर देवादिक बनेंगे। असंयमी

रहेंगे और वहां असंख्यात काल पर्यन्त असंयम रहेगा, मैं रागभावमें आकर नाना कर्मबंध करुंगा। तो वे जान रहे कि यदि मैं इस देहको व्यर्थ ही असमयमें मार दूं समाधिमरणके नामका बहाना करके, तो एक यह देह ही तो मरा, तो न मरेगा, आगे नया देह मिलेगा। तो मुझे इस देहके मारनेसे नफा नहीं है, किन्तु इस देहके उत्पन्न होनेका बीज जो कार्माण शरीर है उसको नष्ट करना है, और वह कार्माण शरीर यों नष्ट नहीं होता। आत्मस्वभावका ध्यान बने, उसमें रमण बने तो ऐसे अनुभवोंसे यह कार्माण देह नष्ट होगा, कार्माण शरीर नष्ट होगा। तो इसके लिए क्या करना? कषायोंका जीतना विषयोंका निग्रह करना।

साधुकी निर्दोष क्रियाविधिसे आहारादिचर्या—आहार आदिक क्रियायें करनी पड़ें तो साधु निर्दोष विधिसे क्रियायें करते हैं। साधुके लिए ही जो भोजन बने उसे साधु ग्रहण नही करते, गृहस्थका भोजन बन रहा, गृहस्थका भी भाव बना है कि मैं साधुको आहार कराकर खाऊंगा। यह तो गृहस्थका एक अतिथि सम्विभाग व्रत है। यह हो तो वैयावृत्य शिक्षाव्रत है। जान जाये साधु कि केवल मेरे लिए भोजन बनाया है, इतना कष्ट उठाया है तो साधुजन भोजन नहीं लेते हैं और विधि मिलनेपर भोजन ग्रहण भी करते हैं तो आधा पेट भोजनसे भरते हैं, चौथाई भाग जलसे भरते हैं और चौथाई भाग ध्यान अध्ययनमें प्रमाद न आये उसके लिए खाली रखते हैं। जिनको कुछ लिप्सा नहीं, जो नाम नहीं चाहते, नेवतेसे बुलाये जाने पर नहीं जाते, याचना करके नहीं खाते, हाथसे संकेत करते नहीं, ऐसे साधुजन भिक्षावृत्तिसे गृहस्थके घरके आगेसे निकलें और गृहस्थ यों ही देखता रहे, तो यह सद्गृहस्थ से न बनेगा। वह तो विधिपूर्वक पड़गाह कर आहार करायगा। आजकल समस्या कुछ यों कठिन हो गई कि शुद्ध आहार बनानेकी पद्धति न रही। अगर कुछ सोचें तो यह पद्धति प्रत्येक घरमें रोज हो सकती है। वह कैसे? दाल चावल तो पीसने नहीं पड़ते। हां टोंटी वाले नलका पानी न हो, चमड़े वाले नलका पानी न हो, पानी बावरी कुवें आदिका हो। फिर तो दाल, चावल और उसके साथ फल सब शुद्ध रह सकते हैं। हां थोड़ा हाथके आटे की जरूर दिक्कत मान सकते क्योंकि आजकल प्राय: लोगोंने घरमें हाथसे आटा पीसनेका काम ही बंद कर दिया। तो उसमें भी साधुजनोंकी कहीं यह अपेक्षा नहीं होती कि मुझे आटेकी चीज रोटी पूड़ी वगैरह मिले। वे तो विरक्त बुद्धिसे रत्नत्रयका साधन जानकर इस जीवनकी कुछ रक्षाके लिए आहारको उठते हैं। अत: इतनी बात यदि प्रत्येक घर चला सके केवल दाल चावलका शुद्ध निर्माण, जिसमें कुछ दिक्कत ही नहीं पड़ती सो वह तो रोज भावना रख सकता है कि मेरे यहां कोई साधु आयें और हम उनको आहार कराकर खायें। ऐसे विरक्त चित्त साधुजनोंको आहार आदिक दान देना सो वैयावृत्य है।

साधु वैयावृत्यमें सद्गृहस्थकी भावनायें—ये गृहस्थ किस भावनासे मुनिजनोंको आहार कराते हैं? वे इस आहारके एवजमें कुछ भी वाञ्छा नहीं रखते। ये मुनिराज प्रसन्न होकर मेरा भी कुछ उपकार कर देंगे या हमको विद्या मंत्र आदिक देंगे अथवा मुनिवरोंको दान करनेसे मेरे नगरमें दाताके रूपमें मान्यता बढ़ जायगी। ऐसी कुछ भी भावना वह गृहस्थ नहीं रखता है, केवल रत्नत्रयकी मूर्तिको निरखकर रत्नत्रयको ही पसंद करने वाला श्रावक उस रत्नत्रयकी मूर्तिके नातेसे उससे नहीं रहा जाता है और रत्नत्रयके साधकोंकी वैयावृत्य करता है। दातार की अन्य कोई वाञ्छा नहीं है किन्तु रत्नत्रयके प्रमोदमें

वह रत्नत्रयधारीकी सेवा करता है। सद्गृहस्थ मुनीश्वरोंको आहार देनेके एवजमें लौकिक भी कोई वाञ्छा नहीं करता। इनके चरण घरमें आनेसे, इनकी वैयावृत्य करनेसे मेरे घरमें अटूट धन हो जायगा ऐसा न विकल्प रखता, न वाञ्छा रखता। सिर्फ रत्नत्रयके धारियोंमें ही मुनीश्वरोंकी भक्तिके कारण अपने आपको कृथार्थ मानता है और गृहस्थ जीवनको सफल मानता है। यदि मेरा धन इन साधु संतोंके काममें लगेगा तो मेरा धन सफल है, गृहस्थी सफल है, जीवन सफल है और अपने लिए अपने घर कुटुम्बके लिए तो सभी लौकिकजन उद्यम करते हैं। यहां तक कि पशु भी ऐसा ही मोह रखते हैं जिनको परिवार समझा उनके लिए वे सब कुछ करनेको तैयार रहते हैं। तो उससे क्या है? कर्मबंध हुआ, परिणाम खराब किया और मरकर खोटी गतिमें गए। तो ऐसे कुटुम्बीजनोंके लिए ही मेरा सब कुछ है ऐसे भावमें तो दुर्गति ही है और जिसको साधु संतोंको निरखकर प्रसन्नता जगती है वह उनकी वैयावृत्तिके लिए सबकुछ अर्पण करनेको तैयार रहता है। ऐसा प्रमोद उठता है रत्नत्रयके इच्छुक श्रावकके चित्तमें। तो एक इस रत्नत्रय धर्मके नाते साधुजनोंकी वैयावृत्य सद्गृहस्थ करते हैं।

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योपि संयमिनां॥ ११२॥

साधुवैयावृत्यमें अन्य सेवायें—पूर्व श्लोकमें आहार आदिक द्वारा वैयावृत्य करनेकी मुख्यता कही गई थी। मुख्य बातका वर्णन करनेके बाद अब यहां इस छंदमें कहा गया है कि अन्य प्रकारसे भी वैयावृत्य करना चाहिए। जैसे कोई संयमीजनों पर आपत्ति आये उसे दूर करना, संयमीजनोंके चरण दाबना, संयमीजनोंके गुणोंका अनुराग करना, उनकी सेवाके लिए कुछ समय बैठना आदिक भी वैयावृत्य सद्गृहस्थके द्वारा की जाती है। किसी देव या मनुष्य या तिर्यञ्च या किसी अचेतन पदार्थके कारण कोई उपसर्ग आया हो तो अपनी शक्ति प्रमाण उपसर्गको दूर करता है वह श्रावक। चोर, भील, दुष्ट आदिक मार्गमें इन्हें कुछ तकलीफ पहुँचायें और परिणामोंमें किसी प्रकारका कष्ट रहे तो यह श्रावक उनको धैर्य धारण कराता है। मार्गमें खेद न हो सो पैर दाबना आदिक सेवा करता है। यत्नाचारसे उनका आसन शैया शोधता है। यत्नाचारसे उन्हें उठाता, बैठाता है। रोगी हो तो सब यत्नाचारसे उनकी सेवा करता है, मल मूत्रादिक कराता है, अगर किसी साधुसे अबुद्धि पूर्वक मल मूत्रादिक किसी स्थानपर हो जाय जहां कि न किया जाना चाहिए, तो बड़े यत्नसे उठाकर ढंगकी जगहमें क्षेपण करता है। रोगी हो तो औषधि आदिकसे वैयावृत्ति करता है। जिस समय जो वस्तु देने योग्य है उस समय उस वस्तुको देता है। मतलब यह है कि साधुके अनुकूल प्रवृत्ति करना गृहस्थका कर्तव्य होता है। साधु किसी गृहस्थके बर्तावके कारण दुःखी रहे तो उस गृहस्थका जीवन किस काम का? जिसमें साधुजनोंको निर्मलता आये, निःशल्यता बढ़े, अपने उद्देश्यमें उनको उत्साह जगे ऐसे साधन जुटायें यह किसी किसी ही भाग्यवान श्रावकको प्राप्त होता है। ऐसे संयमी जनोंके गुणोंमें अनुराग करके जितना भी उपकार बने, करना यह सब वैयावृत्य है।

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्॥ ११३॥

सप्तगुण सहित श्रावक द्वारा साधुवोंका वैयावृत्य—वैयावृत्यमें आहारदान सबसे प्रधान वैयावृत्य है। सो उस आहारदान की विधि विधान बतानेके लिए इस छंदमें श्रावकोंका कर्तव्य बताया गया है। कैसा दातार आहार दानदे जो ७ गुणों सहित हो? वे ७ गुण कौन हैं। (१) पहला गुण है यह कि दान देकर वह लोक सम्बंधी कोई फल नहीं चाहता। देखिये दातार यदि महान् है और पात्र भी महान है और बड़ी महान विधिसे आहार दिया जा रहा है तो उसकी बहुत बड़ी विशेषता होती है। दातार इस लोकमें अपनी प्रसिद्धिके लिए आहार नहीं कराता, मैं लोकमान्य होऊं, राजमान्य होऊं, धन धान्य मेरे बढ़े, यश कीर्ति मेरे प्रकट हो, ऐसा कोई फल नहीं चाहता। (२) दातारका दूसरा गुण है कि वह क्षमाशील होता हुआ ही आहार देता है। श्रावक क्रोध कषायको प्राप्त नहीं होता कि आज बहुत मुनि आहार लेने वाले हैं, किस किसको आहार दें? ऐसी भीतरमें अपनी उल्झन नहीं बनाता। क्रोध न करके मुनिवरोंको, उत्तम श्रावकको दान करता तो वह दातारका दूसरा गुण है। (३) दातारका तीसरा गुण है कि कपट भावसे पात्रको आहार आदिक न कराये। कपटके मायने हैं कि सोचना कुछ, बोलना कुछ और करना कुछ। लोगोंको भक्ति का दिखावा करना यह कपटका काम कहलाता है। हमें भी मोक्ष चाहिए ऐसा उद्देश्य बनाये बिना श्रावकमें सहज योग्यता नहीं आ पाती जो विधिमें सही मानी जाती है। (४) दातारका चौथा गुण है ईर्ष्या न रखना। अन्य दातासे ऐसी ईर्ष्या रखे कि इससे अधिक बार मेरे घर आहार होना चाहिए अथवा मैं इस ढंगका आहार करवा दूं जिससे इस दूसरेका यश घट जाय इस प्रकारकी कोई ईर्ष्याकी बात नहीं रहती है श्रावकके चित्तमें। श्रावक तो एक रत्नत्रयके नाते ही रत्नत्रय धारियोंकी वैयावृत्ति करता है। (५) पांचवां गुण है दातारका कि वह दानमें विषाद नहीं मानता। दान भी देता जाय, व्यवस्था भी बनाता जाय और भीतरमें खेद माने कि क्या करूं, मैं सब लोगोंमें अपनी उच्चता रखता हूं, अगर मैं ऐसा न करुं तो मेरा बड़प्पन घट जायगा इसलिए करना तो पड़ेगा, ऐसा विषाद मानता हुआ श्रावक आहार आदिक नहीं कराता, किन्तु हर्षसे, उमंगसे उनके रत्नत्रय गुणोंका चिन्तन करके प्रसन्नतासे वैयावृत्य करता है। (६) छठवां गुण है श्रावकका आनन्द मानना। किसी पात्रका संगम मिल जाय और निर्विघ्न आहार हो जाय तो उसका ऐसा आनन्द मानता जैसे मानो कोई अपूर्व निधि प्राप्त करली हो। ऐसा प्रमोदभाव जगना यह श्रावकका गुण है। (७) सातवां गुण है निरहंकारता—आहार देनेका अहंकार भी श्रावक नहीं करता।

पञ्चसून रहित साधुवोंका श्रावक द्वारा वैयावृत्य—सप्त गुणोंसे सहित श्रावक पंचसून रहित साधुजनोंको आहार आदिक कराता है। पंचसून कहलाते हैं गृहस्थीमें करनेके काम। वे मुनियोंके पास नहीं हैं जैसे चक्की, चूल्हा, ओखली, बुहारी, परिंडा आदि। ये पंचसून तो श्रावकके करनेके हैं, मुनिजन इन्हें नहीं करते। आज कल तो श्रावक लोग भी करीब-करीब ये सब काम छोड़ बैठे: मानो आज सभी श्रावक मुनिजनोंकी तरह पंचसूनोंसे रहित हो गए। मानों श्रावक लोग इन मुनियोंसे होड़ कर रहे हैं

(हंसी)। चूल्हा घरमें रहा नहीं, गैस आ गई, झट से गैसके कान ऐंठे और काम शुरु कर दिया। ओखली भी किसीके घर नहीं रही। बुहारी देनेका काम भी नहीं रहा। बुहारी देनेको नौकर रख लिया। यह भी ध्यानमें न रहा कि यदि खुद यह काम कर लेते तो कितनी ही जीव हिंसा बचती। बुहारी भी यों छूटी। पानी भरनेकी जगह परिंडा भी न रहा। परिंडा उसे बोलते जहां ५—७ पानीसे भरे घड़े रख जाते, कहीं कहीं घिनौची भी बोलते, तो परिंडा भी अब नहीं रहे, टोंटी वाले नलोंका कान ऐंठा और पानी पी लिया। तो मानों श्रावकजन आजकल पंचसूनोसे रहित होकर मुनियोंकी तरह रह रहे हैं, पर यह बात उनके लिए योग्य नहीं। ये पंचसून गृहस्थमें होते हैं और यत्नाचारसे होते हैं। नौकरोंसे इन आरम्भोंके करानेपर जीवदया नहीं पलती। खुद आरम्भ करे तो देखभाल से जीवदया पल जाती है। पंचसूनोंसे रहित मुनिवरोंको श्रावक आहार कराकर कृतार्थ होता है।

पात्रको आहार देनेके प्रसंगमें की जाने वाली नवधा भक्तिमें प्रथम भक्ति प्रतिग्रह— श्रावकके बारह व्रतोंमें अन्तिम वैयावृत्य नामका शिक्षा व्रत बताया जा रहा है। मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका और भी श्रावकजनोंका यथायोग्य वैयावृत्य करना, सेवा करना, आहार आदिक देना यह वैयावृत्य कहलाता है। सो मुनि या श्रावक जो जिस पद में है उसके अनुसार नवधा भक्ति करता हुआ श्रावक आहार देता है। (१) पहला तो है संग्रह, जिसका दूसरा नाम है प्रतिग्रह अर्थात् पात्र मुनि, क्षुल्लक आदिक आहारचर्याके लिए जा रहे हों तो यह श्रावक प्रथम त्रिवार नमस्कार बोलता हुआ त्रिवार कहेगा कि तिष्ठ-तिष्ठ याने यहां ठहरिये तो वह जान जायेंगे कि आहारके लिए भक्तिपूर्वक बुला रहा है। और इसके आगे भी जितना बोला जाता है उतना प्रतिग्रहमें बोलेगा, जो बात आगे करेगा उसका निवेदन करता है। अन्न जल शुद्ध है। मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, पधारिये ऐसे विनयपूर्वक शब्दोंमें वह पात्रको बुलानेकी, घरमें पहुंचनेकी प्रार्थन करेगा। अनेक बार आदरपूर्वक विनयकी बात कह कर अपने भाव बतायेगा। देखिये बिना बुलाये, बिना प्रीतिके वचन कहे कोई छोटा पुरुष भी भोजन नहीं करता। कहना ही पड़ता, आइये, पधारिये, विराजिये,। और उनके फिर पैर भी धुलायेगा। एक साधारण रिस्तेदार या अन्यकी बातमें भी चौकेमें चलियेगा, भोजनको चलियेगा, भोजनकी बात भी बतायेगा। फिर तो ये पात्र हैं—मुनि, क्षुल्लक, ऐलक, आर्यिका ये सब पात्र हैं, योग्य हैं, धर्मगुरु हैं। इनको बड़े विनयपूर्वक श्रावक अपने घरले जाता है। घर पहुंचनेपर उच्च स्थान देता है। नवधा भक्ति प्राय: सबकीकी जाती है, पर उसमें विशेषता पात्रके अनुसार होती है। आप अपने साधर्मीको, रिस्तेदारको भी भोजन करायेंगे तो इतनी बातें सामने आती हैं। भले ही कोई विचार नहीं रखता भक्ष्य अभक्ष्यका तो उसको यह नहीं कहा जाता कि यह भी शुद्ध है यह भी शुद्ध है, मगर बुलाना, ऊंचे आसनपर बैठालना। उनको पैर धोनेको पानी देना आदिक साधारण बातें प्रत्येकके होती हैं। यहां मुनिराज नवधा भक्तिके बिना नहीं जाते आहारमें। उसमें यह न समझना कि कोई अभिमानकी बात है। मुनिराज मौन पूर्वक हैं, कुछ पूछ सकते नहीं हैं, सो वे नवधा भक्तिसे ही जानते हैं कि यह आहार शुद्ध है। जो जैन शासनकी विधिको नहीं जानता उससे कैसे आशाकी जा सकती है कि उसने आहार शुद्ध बनाया है। नवधा भक्ति देखकर

मुनिजन यह ज्ञान करते हैं। यह धर्मात्मा है, दानकी विधि जानता है, आहार तो शुद्ध होगा ही सब बातोंकी परीक्षा श्रावककी नवधा भक्ति देखकर होती है।

पात्रको आहार देनेके प्रसंगमें कृत्य नवधा भक्तिमें वर्णित प्रतिग्रहके अतिरिक्त शेष आठ भक्तियां—(२) दूसरी भक्ति है—पड़गाहनेके बाद उच्च आसन पर बैठाना। (३) तीसरी भक्ति है—प्रासुक जलसे हाथ पैर धुलाना। (४) चूँकि ये धर्मात्माजन हैं, इनके चरण बहुत पानीसे न धुलेंगे, इतना जानना आवश्यक है इतने ही पानीसे धोना ताकि पानी अधिक बहे नहीं और जीवोंको बाधा न पहुंचे यह चौथी भक्तिमें है। जैसा अवसर देखा, जैसा पात्र हुआ उसके योग्य पूजन स्तवन पूज्यपनाके वचन कहना। थोड़ा समय है तो अर्घ ही दे दिया, विशेष समय है तो पूरी पूजा ही पढ़ ली। तो अवसर और पात्रताके अनुसार पूजन विनय आदिक करना। (५) ५वीं भक्ति है मुनि श्रावककी योग्यतानुसार नमस्कार आदिक करना। जैसे मुनिको अष्टांग नमस्कार है। क्षुल्लक, ऐलक, अर्जिका आदिकको पञ्चाङ्ग नमस्कार है तो यह प्रणाम नामकी भक्ति है। (६) छठवीं भक्ति है मनकी शुद्धि रखना—देखिये पड़गाहनेके समय जो मन शुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि कहा है, जो अपनी शुद्धिका निवेदन किया है उसमें केवल शब्द कहने मात्रसे बात न बनेगी। मनसे शुद्धि रखना, ७वीं वचनसे शुद्धि रखना, अयोग्य वचन न बोलना। (८) कायसे शुद्धि रखना अर्थात् यत्नाचारसे इस कायकी प्रवृत्ति करना, जिसमें किसी जीवको बाधा न हो। (९) एषणा शुद्धि—यत्नसे उठना, देखकर ही चलना जिसमें किसी जीवको बाधा न हो सके। ऐसी नवधा भक्तिपूर्वक श्रावक मुनिजनोंको आहारदान करता है। मायने भोजन शुद्ध होना, जैसा पात्रके लिए योग्य चाहिए दिनमें ही बनाना, शोधकर बनाना, शुद्ध होकर बनाना ऐसा भोजन एषणाशुद्धि कहलाता है।

पात्रदानमें नवधा भक्तिकी अनिवारित आवश्यकता—देखिये नवधा भक्तिकी आवश्यकता किसको हुई है। नवधा भक्ति देखनेकी आवश्यकता मुनियोंको हुई है, और नवधा भक्ति करनेकी आवश्यकता श्रावकोंको हुई। जिस श्रावकके धर्मके प्रति आदर नहीं है याने धर्महीन है तो धर्महीनके यहां मुनिजन आहार नहीं ले सकते। अब यह कैसे पहिचानमें आये कि यह धर्महीन है, धर्मानुराग इसमें नहीं है, तो उसकी भक्ति देखकर ही जान सकेंगे कि यह धर्मात्मा गृहस्थ है, और यहां आहार लिया जाना योग्य है। जिसको धर्म प्रिय होगा, धर्मात्मामें अनुराग होगा वह पुरुष योग्य दातार है। पात्रके गुणोंमें जिसके हर्ष नहीं हो रहा, प्रीति नहींहो रही या मनमें कुछ और सोच रहा, तो यों आहार देना निष्फल है। प्रीति पूर्वक रत्नत्रय धर्मकी भीतर प्रेरणा मिलतीहो सो ऐसी परीक्षा तो भक्तिसे ही हो सकती है। सो मुनिजन नवधा भक्तिको देखते हैं साधारणतया, उसमें त्रुटि हो तो यह जानकर कि इस भाईको धर्म विधिका ज्ञान नहीं है, अन्य जगह भी त्रुटि की होगी ऐसा अंदाज करके वे वहांसे चल देते हैं। सो ये श्रावक नवधा भक्तिसे आहार, औषधि, शास्त्र आदिकका दान करते हैं। यदि क्षुल्लक ऐलक, अर्जिका आदिहो तो उनके योग्य वस्त्र आदिकका भी दान करते हैं, और ऐसे वस्त्र देते हैं जिससे रागद्वेष न बढ़े, घमंड न बढ़े, मोह, काम, आलस्य, चिन्ता अभिमान आदिक न होवे ऐसे ही द्रव्योंको यह योग्य श्रावक प्रदान करता है।

तप ध्यान संयमकी सिद्धिके लिए साधुवोंकी आहारचर्या—आहार लेनेका प्रयोजन पात्रका यह है कि मेरे ध्यान तप संयममें वृद्धि हो। जिसने आत्माके स्वरूपको पहचाना है वह शरीरकी रक्षा मौजके लिए नहीं चाहता, किन्तु ध्यान तप संयम बढ़े इसके लिए वह अपना जीवन रखता है। क्योंकि वह जान रहा कि अभी हमारी साधना इतनी ऊंची नहीं है, ऐसी स्थितिमें किसी हठके कारण, भावुकताके कारण असमयमें यदि जीवन खो दूं तो उसका फल अच्छा नहीं है, मानों थोड़ा बहुत पुण्यके प्रसादसे देवोंमें भी उत्पन्न हो गए तो वहां भी असंयम ही तो है, क्लेश ही तो है, संसारकी बढ़वारी ही तो है। देवोंकी जब आयुस्थिति सुनते हैं कि ओह २० सागर, ३० सागर, ३१ सागर है। एक सागरमें अनगिनते वर्ष हो जाते हैं, कोई सोचे कि अनगिनते वर्षों तक वैक्रियक शरीर मिल गया जहां भूख प्यास रोग आदिककी वेदना नहीं है, मौज है, पर वह ३०-३१ सागरका समय भी अनन्तानन्त कालके सामने बड़े समुद्रमें एक बूँद बराबर भी समय नहीं बैठता। कुछ भी काल नहीं है। ज्ञानी पुरुषका तो यह भाव रहता है कि मेरे जीवनका एक क्षण भी अधर्ममें, पापमें मत जाये। सो इस द्रव्यके देनेसे मुनिश्वरोंके तप संयममें वृद्धि हो, ऐसा ही द्रव्य दिया जाता है। गरिष्ठ चीजें, पकवानकी चीजें या नुकसान करने वाली चीजें नहीं दी जातीं। यहां तक कि आहार देनेमें वह श्रावक जबरदस्ती भी नहीं करता, वह श्रावक इसी भावसे आहार दे रहा कि मुनिराजके ध्यान और तपमें वृद्धि हो। पात्रका भूख प्यासका दुःख मिट जाय, रोग नष्टहो जाय, परिणामोंमें संक्लेश न रहे ऐसा द्रव्य श्रावक प्रदान करता है।

दाता, पात्र, देय, विधिकी विशेषतासे फलकी विशेषता—देखिये दातार यदि उत्तम गुण वाला है और दिया जाने वाला पदार्थ भी बहुत उत्तम हैं और जिस विधि भक्तिसे दिया जा रहा है वह विधि भक्ति भी ऊंची है और पात्र भी विशेष है तो उसका फल भी बहुत ऊंचा है। दातारके ७ गुण बताये गए हैं—(१) भक्तिवानहो याने पात्रकी भक्तिमें बड़ी उमंग रखता हो। (२) तुष्टिगुण हो अर्थात् पात्रको दान देता हुआ अपनेको बड़ा संतुष्ट मानता हो कि मुझको एक अपूर्व निधि आज प्राप्त हुई है। (३) दातारमें श्रद्धागुण होता है। साधुवोंको आहार आदिक देनेसे इस लोकमें परलोकमें कल्याण होता है। (४) दातारमें विज्ञान गुण है। वह सब जानता है कि इस ऋतुमें ऐसाआहार देना, इस क्षेत्रमें ऐसा आहार देना। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी बात समझता है। (५) दातारमें अलोलुपता गुण होता है। दान देनेके प्रभावसे मेरेको यश मिले, धन मिले आदिक कोई लालच न रखना, एक धर्मके नाते ही यह सम्बंध बना है। (६) दातारमें सात्विकता है। थोड़ा भी धन है तो वह दान देनेमें बड़ा उद्यमी है। इसकी सेवाको देखकर बड़े-बड़े धनिक पुरुष भी आश्चर्य करें, ऐसा सात्विक गुण श्रावकमें होता है। (७) दातारमें क्षमा गुण है। कैसे भी कारण आ जायें तो भी वह क्रोध नहीं करता। न पात्रका ख्याल करके क्रोध करता, न मित्रजन, कुटुम्बीजन जिनके बीच वह दान क्रियामें लगा है उसके भी किसी अपराधको देखकर वह क्रोध नहीं करता। क्रोधतो बड़ी ज्वाला है। कोई भी पुरुष हो जो क्रोध करेगा वह बड़ी गल्ती पर है। किसीका अपराध हुआ तो उसका प्रतिकार भीहो सकता, समझा सकता और क्रोध पूर्वक कुछ करे यह उसकी बड़ी दुर्बलता है। दातारके क्रोधभाव नहीं होता। तो यह दातार बड़े विनय सहित साधुवोंकी

सेवा करता है। यदि कुछ देनेको भी न हो तो विनय करना और उनके गुणोंका समर्थन करना, इतना भी कोई हृदयसे करे तो महान् पुण्यका बंध करता है।

पात्र सेवामें प्रयुक्त धनका सदुपयोग करनेकी श्रावकके हृदयमें उमंग—यह श्रावक यह निर्णय किए हुए है कि मेरा जो धन साधु संतोंकी सेवामें खर्च हो सो तो मेरा है अर्थात् सही कमायी है और जो धन विषय कषायके साधनों खर्च हो वह बंधका करने वाला है, समुद्रमें डुबोने वाला है। यह श्रावक विचारता है कि जो धन रागद्वेषादिकके प्रसंगोंमें खर्च किया जायगा वह तो हमारे ही संयमका घात करने वाला बनेगा और साधु संतोंकी सेवा करनेमें जो धन खर्च होगा वह हमको मोक्षमार्गमें लगानेमें कारण बनेगा। इस प्रकारकी उमंग वह श्रावक अपने अन्दर कर रहा है। साधु संतोंकी सेवामें धन खर्च करनेका और विषयकषायके साधनभूत कुटुम्बीजन, मित्रजन आदिककी सेवामें धन खर्च करनेका, इन दोनोंमें अन्तर निरख रहा है। यहां उस धनकी आलोचना की जा रही है जो उन विषयकषायोंके साधनभूत कुटुम्बीजनोंके पीछे ऐसा अज्ञानी बनता है कि धर्म अधर्म कुछ नहीं गिनता, न्याय अन्याय कुछ नहीं गिनता। यहां तक कि यश अपयशको भी तिलाञ्जलि दे देता है, नहीं गिनता है तो भी एक तृष्णाके मेलमें केवल उनकी ओर ही आसक्त रहता है। इन कुटुम्बीजनोंको धन वस्त्र आभूषण भोजन आदिकसे तृप्त करनेके लिए, इनको प्रसन्न रखनेके लिए, इनसे राग भरी दो बातें सुननेके लिए झूठ, चोरी, अन्याय, हिंसा आदिकमें प्रवृत्त होता हैं। सो इस आसक्तिसे हटकर इस मोहबुद्धिको हटाकर वीतराग धर्मको पाकर अन्याय अनीतिमें प्रवृत्ति न करना। जो न्याय मार्गसे धनार्जन हो उस ही में विभाग बनाना और कुटुम्बीजनोंका पोषण करना।

श्रावककी संतोषवृत्ति—कोई यह सोचे कि मैं तो जिस चाहे तरहसे गुजारा कर लूँगा, पर स्त्री आदिकको तो अच्छी तरहसे ही रखना। वह विचार क्यों बना कि मोह बुद्धि अधिक है। नहीं तो जब हम सब शामिल हैं तो जैसे हम वैसे सब रहेंगे। हां ज्ञान वार्ता द्वारा उनको संतुष्ट करना और यह भावना करना कि अपने पास कमायी कम है। धन कम है सो गुजारा तो किसी तरहहो जायगा, पर धर्म एक ऐसा साधन है कि जिसके बिना न इस लोकमें कल्याण है, न आगे कल्याण है इसलिए धर्मकी प्रतीति अधिक करना योग्य है। कर्त्तव्यमें इस बात पर दृष्टि दी गई है कि अपने उपदेशसे कुटुम्बको संतुष्ट कर सकते हैं, किन्तु ऐसा सोचकर कि कुटुम्बको तो बहुत बढ़िया आभूषण देना चाहे जुवा खेलना पड़े, चाहे कुछ करना पड़े यह बात योग्य नहीं है। जिस पुरुषके हृदयमें धर्मका सम्बंध नहीं है उसका जीवन पशुवोंसे भी गया बीता है। यह पुरुष अच्छे-अच्छे मकान बना लेता है तो चिड़िया भी अपना घोंसला बना लेती है। यह पुरुष बढ़िया भोग साधन बनाकर अच्छे-अच्छे पदार्थोंके खानेमें खुश है तो वे चिड़िया जगह-जगह खोज-खोजकर कहींसे कुछ दाने मिले तो उनको खाकर उतना ही खुश होती जितना कि ये पुरुष। ये पुरुष मैथुनमें, विषयसेवनमें यदि खुशी मानता है तो ये पशु पक्षी भी जो कि मनुष्योंसे भी अधिक संतुष्ट हैं, अपनी ऋतुकालमें विषय करके ये भी खुशी मानते हैं। फर्क क्या रहा इन पुरुषोंमें और पशु पक्षियोंमें जिन पुरुषोंका धर्मके प्रति ध्यान नहीं, धर्मका महत्त्व नहीं, कुटुम्बका ही महत्त्व जिनके चित्तमें है उनका जीवन तो पशुपक्षियोंसे भी गया बीता समझिये। तो यह श्रावक धर्मके

प्रति विशेष ध्यान रखता है और उसकी विधिसे अपना भी सम्बोधन और कुटुम्बका भी सम्बोधन रखता है। जो न्यायमार्गसे धन अर्जित होगा उसमें ही कुटुम्ब और धर्मके अर्थविभाग करके अपने रहे सहे जीवनके दिन व्यतीत करेगा, इस श्रावकका भाव है।

दानरहित पुरुषके धनकी व्यर्थता व अनर्थता—अरे भैया, मरे और सब छोड़ गए, देखो जिसके पीछे इतनी बड़ी व्यग्रताकी जा रही है वह तो कुछ साथ जाने वाली नहीं है। श्रावककी दृष्टिमें सर्व ज्ञान स्पष्ट है। यह जीवन क्षणभंगुर है, मरने पर ये कुटुम्ब आदिककोई साथ न जायेंगे। जो मेरी दान शील तप आदिकी भावना बनी और उससे जो पुण्य अर्जित हुआ यह ही परलोकमें साथ जायगा, दूसरा नहीं। यहां भी जो सामग्री मिली है पूर्वभवमें दान किया, उससे जो पुण्य बंधा उसका फल है। अब इस भवमें यदि दानकी प्रवृत्ति न होगी तो आगे एक दरिद्र जीवनही मिलेगा। सबसे महान् लाभ यह श्रावक मोक्षके लाभको समझता है। दुनियामें कुछ भी प्राप्त हो उसे यह लाभ नहीं मानता। मेरेको सिद्ध अवस्था प्राप्त हो। कर्म और शरीरसे रहित केवल आत्मामात्र मैं रह जाऊं, इस स्थितिको ही पंसद करता है। अपनी पसंदगीके अनुसार अपनी क्रियायें भी करता है। सो वहां रत्नत्रयके धारक मुनिजनोंमें श्रावकके वही प्रीति उत्पन्न हुई हैं। जो समर्थ होकर भी कृपण रहे, परके उपकारसे रहित रहे, उसका जीवन तो निष्फल है। जैसे कोई बड़ा समुद्र है, जिसका खारा तो जल है और उसमें रत्न भरे हैं, मगर उसमें मगरमच्छ इतने बेहिसाब है। कि उन रत्नोंका उठाना कठिन है, तो वह समुद्र बेकार है, उससे किसका लाभ होता? न तो एक रत्न हाथ आनेका है और न एक चुल्लू जल पीनेका है। तो ऐसा ही धनी कृपण पुरुषोंकी स्थिति है। न उसका धन किसीके उपकारमें लग सकता है और न उसके संगसे कोई लाभहो सकता है।

श्रावककी गुरुसेवादिमें भक्ति भरी उमंग—यह श्रावक धन आदिकको भिन्न जानकर यह निर्णय रखता है कि मिला है तो उसका ठीक सदुपयोग हो, देवशास्त्र, गुरु इनकी सेवामें, इनकी भक्तिमें धन लगे तो वह अपनेको कृतार्थ मानता है। बाकी कैसे ही धन लगे, उसमें कृतार्थता तो क्या, सारा निष्फल ही है। जिसकी दान और भोगमें गति नहीं है वह तो दूसरोंके भाग्यमें बंधा है वह धन सो उनकी सेवा कर रहा है, केवल नौकरी कर रहा है, जो अपने धनको दान और भोगमें यथायोग्य नहीं लगा सकता वह केवल दूसरोंकी नौकरी कर रहा है। भले ही मानता यह है कि मेरे लड़केको लाभ मिलेगा। अरे कौन किसका लड़का है? उसका उदय है तो उसके उदयसे मिलेगा ही। अगर यह मान लें कि मेरा है, इसके लिए मैं सब कुछ कर रहा हूं तो न अब इसका है और न आगे होगा। मरनेके बाद सीधा फैसला है कि किसीका कुछ न रहेगा। यहां किसका क्या है? तो न्याय नीतिसे धनका अर्जन करें और उसे धर्म हेतु खर्च करें। अपने गुजारेके लिए और कुटुम्बीजनोंके जीवनके लिए खर्च करना यह तो श्रावककी भली चर्या। मगर कुटुम्ब ही इसके लिए सर्व कुछ है और देवशास्त्र गुरुके प्रति इसका कुछ भाव नहीं लगता है तो उसकी स्थिति उत्तम नहीं है। अकल्याणकी स्थिति है। सो यह श्रावक बड़ी उमंगसे गुरुवोंकी सेवामें धनको खर्च करता है। इस प्रकार श्रावकजन प्रतिदिन शुद्ध आहार

बनाते हुए समय-समय गुरुजनोंका प्रतिग्रहण करते हैं, अगर भाग्यसे मिल गए गुरुजन तो उनको आहार कराकर अपनेको कृतार्थ मानते हैं।

न्यायार्जित द्रव्यमें विभागकर दानके आवश्यक कर्तव्यका निभाव—श्रावक न्यायपूर्वक आजीविकाको करता है, उसमें जो उपार्जित होता है उसीमें ६ भाग करके उनका यथोचित्त उपयोग करता है। कुछ भाग कुटुम्बके खर्चके लिए, कुछ भाग धर्म, दान, पुण्यके लिए, कुछ भाग समय समयपर होने वाले विवाह आदिक समारोहोंके लिए, ऐसे बंटवारे करके उसमें ही गुजारा करता है और उस कमाये हुए धनके विषयमें ऐसा परिणाम रखता है कि मेरे धनमें से यदि किसीके प्रयोजनमें कुछ काम आ जाय, उसमेंसे कोई साधर्मी कमायेंगे तो यह हमारा बड़ा लाभ है। जहां पात्रको आहार आदिक कराने, शास्त्रदानआदिक करनेमें अपनेको कृतार्थ समझता है। इस परिणामको भी रखता है कि कोई साधर्मी बन्धु मेरे ही धन द्वारा कुछ कमाई करले, ऐसा विशुद्ध परिणाम रखने वाला दातार हर्षित चित्त होकर दान देता है कोई दान दे और गुस्सा करके दे या दूसरेका अपमान करके दे, तिरस्कारके वचन कह कर दे या दूसरोंको दूषण लगाता हुआ दे तो उसकी यह प्रवृत्ति भली नहीं है। लोकमें कलह और अपयश उत्पन्न करने वाली है और परलोकमें अशुभ कर्मके फलमें दरिद्र बनेगा और अनेक भवोंमें अपमान आदिक पायगा। सद्गृहस्थ बड़ी भक्ति उमंगसे पात्रोंको, अन्य साधर्मीजनोंको धर्मबुद्धिसे दानका परिणाम रखता है।

चतुर्विधदानके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके दानोंमें धार्मिकदानरूपताका अभाव—अब लौकिक पुरुष कुबुद्धिवश अनेक प्रकारके दान देते हैं। सो यह प्रकरण यह बतला रहा है कि चार प्रकार दान करनेमें ही धर्मका सम्बंध है, किन्तु पात्रोंको या त्यागीजनोंको या श्रावकोंको अन्य-अन्य प्रकारका दान करना धर्ममें शामिल नहीं हैं वैसे गृहस्थ है और उसे अनेक काम करने पड़ते हैं मगर वे उनके काम कहलाये, दान नहीं कहलाये। जैसे भूमि देना, भूमि दान को भी लौकिकजन दान बताते हैं और कुछ सन्यासी अथवा उस प्रकारके विप्र उस भूमिदानके लिए प्रेरणा करते हैं, सो श्रावक किसी साधर्मीको गरीबी देखकर भले ही भूमि दे दे मगर वह दानमें शामिल नहीं है। वह उसके कर्त्तव्यमें शामिल है जो धर्मिकताके ख्यालसे भूमि देता है, जैसे भगवानकी पूजाकी तो धर्मबुद्धिसे, ऐसे ही धर्मबुद्धिसे भूमिदानकी बात करे तो वह कुदान है। जिसमें हल, फावड़ा, खुरपा आदिकसे भूमिविदारण हो, अनेक जीवोंका बध हो। बड़ा आरम्भ हो और जिसमें सांप, चूहा, हिरण आदिक बड़े-बड़े जीव वहां आयें तो उन्हें बाधक जानकर मारा जाता है। और भूमिकी ममता बने जिसमें परस्पर मारकर मर जाय ऐसा तीव्र रागद्वेषका कारण है भूमिका दान। श्रावक भूमिदानको दान नहीं समझता, दान चार ही बताये गए—(१) आहारदान (२) शास्त्रदान (३) औषधिदान और (४) अभयदान। कितने ही लोग स्वर्णदान करते हैं। सन्यासीजन, साधारण विप्रजन अनेक श्रावकोंको ऐसा बहकाते कि इस गृहमें अमुकमें स्वर्णदान करना चाहिए आदिक। उस स्वर्णदानसे कितने अनर्थ होते हैं। यदि सन्यासी पात्रको स्वर्णदान दिया जाय तो उसकी पात्रता ही नष्ट हो गयी, उसे सदा काल भय बना रहेगा, उसके संयमका नाश हो जायगा। और उसके स्वर्णादिकसे राग हो जायगा जिसके कारण द्वेष क्रोध आदिक भी होते रहेंगे आत्मस्वरूपका विस्मरणहो

जायगा। सो जो वीतराग धर्मका इच्छुक है वह स्वर्णदानको पाप समझकर त्यागता है। लोकमें मिथ्यामतमें जिन दानोंकी प्रसिद्धि है वे दान-दान नहीं किन्तु कुदान हैं। जैसे भूमि दान करना, स्वर्णदान करना। कुछ लोग तिल दान करते हैं, इसको धर्मबुद्धि मानते हैं कि मैंने यज्ञ किया ऐसे ही पुण्य लगा, तो भला जिसमें करोड़ों त्रस जीवोंकी उत्पत्तिहो ऐसे तिलका दान कहीं दान है। परस्परमें देते लेते हैं, मदद भी करते हैं यह बात उनके कर्त्तव्यमें है, सभ्यता है और मानवीय कर्तव्य है, किन्तु मोक्षमार्गमें ये दान कुछ सहायक हों सो बात नहीं। अनेक लोग गुड़ दान, तेल दान, चक्की, बुहारी, मूसल, फावड़ा आदिकका दान करके धर्म मानते हैं। ये समस्त दान क्या हैं? इनके प्रसंगमें महापापकी सामग्री मिलती है। आरम्भ और मोहको ये उत्पन्न करते हैं, सो जिनके मिथ्याबुद्धि है वे पुरुष इसमें धर्म मानते हैं।

पशुदान, कन्यादानमें मुक्तिमार्ग साधकताकी असंभवता—एक गोदानकी भी बड़ी प्रसिद्धि है। सन्यासीको गौदान दिया, विप्रको गौदान दिया या श्राद्धमें गौदान दिया, प्रथम तो वह प्रयोजन ही मिथ्या है और फिर गौदान दान नहीं है याने मोक्ष मार्गका काम नहीं है। भले ही कोई परस्परमें आवश्यकता देखकर कोई किसीको कुछ दे दे वह तो उसका गृहस्थीवाला कर्तव्य है, किन्तु यह जानकर कि इससे मुझे मोक्ष मिलेगा, बैकुण्ठ मिलेगा, प्रभु खुश होंगे तो वह कुदान है। गोदानसे तो वह उस गायको बांधेगा, उसे घास खिलायगा। उसमें कभी कीड़े वगैरह उत्पन्न हो जायेंगे मल-मूत्रमें असंख्याते जीव उत्पन्न होंगे, सींग मारकर अनेकों जीवोंको कष्ट भी पहुंचायगी आदिक अनेक आरम्भ और हिंसाका घर है, ऐसा गौका दान मोक्षमार्गकी दृष्टिसे कुदान कहलाता है। उपयोगी जानकर, आवश्यक जानकर देना और बात है, पर इससे बैकुंठ मिलेगा, एक यज्ञ कहलायगा, ऐसा सोचकर दान करना यह कुदान है। लोकमें एक कन्यादानको भी महत्त्व देते हैं। एक कन्यादान किया तो उसमें लाखों यज्ञोंका फल मिल गया। जब गृहस्थ हैं और कन्या दिए बिना सर नहीं सकता वह तो गृहस्थीका काम है मगर उसे मोक्षमार्गका अंग मान लेना, बैकुण्ठ मिलेगा, लाख यज्ञ जितना पुण्य मिलेगा इस बुद्धिसे देनेमें कुदानकी बात कही जा रही है। कन्यादान तो गृहस्थको करना ही पड़ता है, अपनी कन्या विवाह योग्य हो तो उसे उत्तम कुलमें देना ही चाहिए, मगर उस दानको यह मोक्षमार्ग है, धर्म है, ऐसी श्रद्धा तो न करना चाहिए। धर्म तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, आत्मस्वरूपका सही विश्वास हो, ज्ञान हो और उसमें ही रमण हो, यह भाव बने, परिणति बने तो वहां धर्म है, बाकी जब गृहस्थी बसायी है और बच्चे हुए हैं तो उनका विवाह करना उसका कर्तव्य है अथवा करना ही पड़ेगा, ऐसा समझना चाहिए। उसे धर्म मानना और लाखों यज्ञके बराबर पुण्य समझना यह ठीक नहीं है। उसने तो समझा कि चूँकि मैंने विषयोंकी प्रवृत्तिकी है इसलिए ये सब दण्ड भोगने ही पड़ेंगे और इस स्थितिमें इसे न करे तो वह कर्तव्यहीन कहलायगा।

धातुवोंके पशु आदि बनाकर दान करनेकी असंगतता—अनेक लोग स्वर्णकी गाय बनानकर दान करते हैं। मिठाईका पशु बना दें, चांदीका पशु बना दें और दान दे तो भला बतलावो जिसको देगा वह उसे खायगा ना? तो खाते समय यह सिर खाया, यह टांग खाया, ऐसा भाव भी बनायगा तो वह तो हिंसाका साधन बना। त्यागीजन तो चित्रवाली चटाईपर बैठते भी नहीं। किसी चटाई पर

यदि हिरणकी फोटो बनी है या किसी पक्षीकी फोटो बनी है तो उसपर बैठना ही वर्जित है फिर जो किसी चीजका पशु बनादे और उस चीजको खायें तो उसने तो हिंसाका ही कारण बनाया। इस कारण ऐसा दान दान नहीं, कुदान है। सोना चांदीका पशु बनाकर दान किया तो वह क्या सोना चांदीको धरे रहेगा? अरे वह तो उसे काटेगा, काटनेके मायने हिंसाकी, वे सब कुदान हैं। श्रावकके कुलमें कुदानका रिवाज नहीं रहता।

चतुर्विध दानोंके अतिरिक्त श्राद्ध व बलि आदिमें धर्मबुद्धिकी असंगतता—अनेक श्राद्धका दान कर ऐसी श्रद्धा बनाना, जैसा कि कुछ जन बताते हैं कि श्राद्ध करनेसे २१ पीढ़ी तिर जाती हैं, याने एक तो वर्तमानकी पढ़ी और १० आगे तथा १० पीछेकी। आत्माकी जहां श्रद्धा नहीं जो कुछ हो रहा है कर्मबंध, कर्मफल वह निमित्त नैमित्तिक योगमें हो रहा है। जीवने कषायभाव किया उसका निमित्त पाकर कर्मबंध होता, कर्मका उदय आया, उसका निमित्त पाकर सुख दुःख की अवस्था होती है, यह सब औटोमेटिक निमित्त नैमित्तिक योगमें हो रहा है। इस झंझटसे बचनेका उपाय आत्माका श्रद्धान, ज्ञान आचरण है, अन्य-अन्य क्रियायें नहीं। भलो जो गुजर गया व न जाने किस भवमें गया, किसी स्थितिमें पड़ा है, तो उसके नामपर चाहे यह कितना ही दान बोले, पर उसके परिणामोंमें तो फर्क नहीं आता। सो दान तो खुद अपने जीवनमें करनेकी चीज है, किसीके मरेके बाद उसके नामपर धनका दान कर दिया, मंदिर बनवाया, कुछ बनवाया, पर उसका फल उस मरने वालेको नहीं मिल सकता। तो ऐसे लोकमें अनेक प्रकारके दान हैं, अनेक देवी देवताओंका नाम लेकर बकरे आदिककी हिंसा करना उसमें भी वे दान समझते हैं, धर्म समझते हैं, किन्तु वह है महापापका कारण। न उन्होंने देवका स्वरूप माना है, न अपना स्वरूप माना है, न धर्मका स्वरूप माना है ऐसी अनेक प्रकारकी खोटी वृत्तियां होती हैं वे दान नहीं कहलाती, और कुदान भी नहीं कहलातीं। सीधे हिंसाके कार्य, पापके कार्य कहलाते हैं। ऐसी खोटी वृत्तियोंमें यह जीव असंख्यातकाल व्यतीत करता है। ऐसा जानकर श्रावकजन कुदान कभी नहीं करते, कुपात्रदान नहीं करते। भले ही कोई कुपात्र भूखा है तो दयाबुद्धिसे देगा, मगर यह गुरु है ऐसी धर्मबुद्धिसे न देगा। ऐसे श्रावकजन न्यायोपार्जित आजीविकामेंसे पात्रको आहारदान, औषधिदान और अभयदान देकर अपने जीवनको कृतार्थ समझते हैं।

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानां।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि॥ ११४॥

गृहविमुक्त साधुजनोंकी प्रतिपूजासे पापकी निर्जरा—श्रावक पात्र दान करके तत्काल क्या फायदा पाता है, इसका वर्णन इस छंदमें किया है। गृहके जितने कार्य हैं चाहे आरम्भके हों अथवा उद्योगके हों, दोनों ही कार्योंमें पापका उपार्जन जरुर होता है। चाहे कितनी ही शुद्धतासे वह कार्य करे, जीव हिंसा बचाकर व्यापार करे फिर भी गृहकर्ममें पापका बंध अवश्य है। कोई पूछे कि जो लोग सर्विस करते हैं वे आखिर अपने आफिसमें गए, अपनी ड्यूटी बजाया और घर आ गए, उनको इस कार्यमें क्या पाप है? तो भाई गृहकर्ममें, उद्योगमें जो परिणाम चलता हैं उस परिणाममें जो आत्मविपरीत

कार्य किया जाता है, राग रहता है और अनेक प्रकारकी कल्पनायें बनती हैं वे सब पापका ही तो बंध कराती हैं। चाहे कोई सर्विस करता हो चाहे कोई व्यापार करता हो सभी कार्योंमें और गृहकर्मोंमें पापका उपार्जन अवश्य होता है। सो गृहकर्मके द्वारा उपार्जित किए हुए कर्मोंको दूर करने, धोनेका उपाय क्या है? जो गृह विमुक्त हैं, पात्र हैं, अपने धर्मध्यानमें ही निरन्तर रहा करते हैं ऐसे अतिथियोंके बीच गृहकर्मसे उत्पन्न हुए पापको दूर कर देते हैं। बहुत कुछ उन पापोंका प्रायश्चितहो जाता है और उनकी शुद्धि हो जाती है। जैसे कि जल खूनको धो डालता है ऐसे ही पात्रकी पूजा, अतिथियोंकी सेवा गृहकर्मसे उत्पन्न हुए पापको दूर कर देती है।

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु॥ ११५॥

तपोनिधि महापुरुषोंके वैयावृत्यसे सुगतिका लाभ—अब यहां दानका फल बतला रहे हैं। जो तपके निधान हैं, समताभावके धारण करने वाले हैं, २२ परीषहों पर विजय प्राप्त करते हैं। शरीरसे विरक्त हैं, पञ्चेन्द्रियके विषयोंसे विरक्त हैं ऐसे मुनिजन उनको नमस्कार करनेसे उच्च गोत्रमें या स्वर्गलोकमें उत्पन्न होते हैं, फिर स्वर्गसे आकर तीर्थंकर चक्रवर्ती जैसे उच्चकुलमें जन्म लेकर निर्ग्रन्थ अवस्थाको धारणकर सिद्ध पदको प्राप्त करते हैं। इतने बड़े महान पदकी प्राप्तिकी प्रारम्भिक बात यह अतिथियोंकी सेवा है। मुनिजन, त्यागीजन और श्रावकोत्तमकी जो सेवा है वह कारण बना मूलसे जिससे बढ़ बढ़कर यह सिद्ध दशाको प्राप्त हो जाता है। दानके प्रभावसे यह जीव स्वर्गमें, भोगभूमिमें जन्म लेता है, सो उत्तम पात्रदानके प्रभावसे भोगभूमिके भोग भोगता है, स्वर्गके भोग भोगता है, राजपाटके भोग भोगता है। अहिमिन्द्र बनता है याने उत्तमगति प्राप्त करता है। और वहां भी धर्मकी धारा परम्परा चलती रहती है जिससे संसार शरीर भोगोंसे विरक्त होकर निकट कालमें निर्ग्रन्थ पुरुष बनकर यह निर्वाणको प्राप्त होता है। साधुवोंकी पूजा उनकी उपासना भक्तिके प्रसादसे तीन लोकमें पूज्य केवली प्रभु बन जाता है कैसे बनता है? उनकी यदि सेवा चित्तमें न हो तो वहां कैसे उमंग उत्साह और विधि बने? ५ परमेष्ठी जिनमें दो तो हैं भगवान अरहंत और सिद्ध। आचार्य उपाध्याय और साधु ये हैं भगवानके रूप, जिनलिङ्गके धारक। उस ही मार्गमें लगे हुए हैं। इनकी भक्ति सेवाकी बड़ी महिमा है। वे धर्मकी धारामें रहकर निकट कालमें ही सर्वसकंटोंसे मुक्त हो जाते हैं।

क्षितिगतमिव बटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्॥ ११६॥

पात्रगत अल्प भी दानकी महाफलदायकता—जैसे योग्य भूमिमें बड़का छोटा बीज डाला गया तो वह भी थोड़े कालके बाद छायावान वृक्ष जैसा रूप रख लेता है और उसमें बहुत फल लगने लगते हैं, ऐसे ही पात्रमें दिया हुआ दान आहार, शास्त्र, औषधि, अभयकी सेवा थोड़ी भी भक्ति पूर्वकहो तो भी समय पर बहुत महान् फलको देने वाली होती है। भेदविज्ञान जगेगा, शान्ति संतोष होगा धर्म

कार्योंमें अंतः स्वरूपमें उसकी रुचि बनेगी। कभी वह आत्ममग्न होकर शुक्ल ध्यानके प्रसादसे मोक्ष पा लेगा। देखिये पात्रदानकी महिमा। यदि कोई श्रावक पुरुष सम्यक्त्व रहित है और भी पात्रदान करता है तो उत्तम भोगभूमिमें उत्पन्न होता है जहां तीन पल्यकी आयु, जिसमें सअंख्याते वर्ष आ जाते हैं बड़ा ऊंचा अद्भुत शरीर समचतुरस्रसंस्थन तथा शरीरका आकार अत्यन्त सुडौल और शरीर सुन्दर होता है। महत्त्व बल और पराक्रमसे युक्त है। वे भोगभूमिके मनुष्य स्त्री जैसे जुगला जुगलीसे उत्पन्न होते हैं। ३ दिन बाद छोटे बेर बराबर उनका आहार है। अधिक आहार होना यह बड़े पुरुषोंकी निशानी नहीं होती। तीर्थंकर कितना आहार लेते हैं? और सारा ही आहार उनका खून, रक्त, मांस बन जाता है। उनके मल भी नहीं होता। और बड़े बड़े लोग जो हुए उनका आहार बहुत थोड़ा है और बल विशेष होता है। अगर अधिक आहार होनेसे महत्ता मानी जाय तब तो हाथी, झोंटा आदिक कितने ही पशु ऐसे है जो कि बहुत आहार लेते हैं। यह निशानी है पुण्यात्माजनोंकी उत्तम भोगभूमिमें तीन दिनमें अल्पाहार होता है। जहां १० प्रकारके कल्पवृक्ष हैं, जिनमें नाना भोगसामग्री उनको मिला करती हैं। जहां इतना विकास है कि रातदिनका भेद नहीं है। ये सूर्य चन्द्रमा इस क्षेत्रमें भी नहीं दिखते थे भोग भूमिके कालमें। जब तीसरे कालका अन्त आया तो ये चन्द्र सूर्य दिखने लगे तो लोगोंको डर भी हो गया कि यह क्या बला आ गई। ऊपरसे कहीं गिर न जायें, सो वे बड़े कुलकरोंसे उसकी समस्या हल करने गए। तो कुलकरोंने उन्हें धैर्य बंधाया कि भाई अब भोगभूमि मिटने वाली है। कुछही दिन शेष रहे हैं तो अब ये सूर्यचन्द्र दिखेंगे। भाई डरो मत, ये ज्योतिषी देवोंके विमान हैं, यों उन्हें समझाया गया। जिस भूमिके क्षेत्रमें शीतल मंद पवन हमेशा चलता रहता है। वहां ठंड गर्मीकी ऋतुका कष्ट नहीं होता, वहां पत्थर कांटा, कीचड़ आदि नहीं होते स्फटिक मणिकी तरह भूमि है। जन्मपर्यन्त उनके रोग नहीं, शोक नहीं, बुढ़ापा नहीं, कष्ट नहीं, वहां कोई सेवक नहीं, स्वामी नहीं।

ज्ञानी दातारोंको विशेष सद्गतिका लाभ—भोगभूमिमें सब अपने अपने भोगमें आराममें और यथोचित धर्मकार्योंमें लीन रहा करते हैं। पात्रोंकी सेवा करने वालोंका ऐसे क्षेत्रमें जन्म होता है, सो यह तो बात कही अज्ञानीजनोंकी, पर जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं उनका जन्म अच्छे देवोंमें होता है। सो वहां भोगभूमिसे भी अधिक सुखका प्रसंग मिलता है, पर जो सम्यग्दृष्टि है वह उस सुखके प्रसंगमें मस्त नहीं रहता, आसक्त नहीं रहता, उससे विरक्त ही रहता है। पुण्यका फल जानकर उसका ज्ञाताद्रष्टा ही रहता है, ऐसा होता ही है, होना ही पड़ता है। इन बाह्य पदार्थोंसे मेरा क्या सम्बंध है? मेरा इनके प्रसंगोंसे कुछ हित नहीं है, ऐसा जानकर ज्ञानी जीव तो उनसे भी विरक्त रहा करते हैं। जैसे एक बात सोचिये कि जो बड़े-बड़े आचार्य हो गए कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्राचार्य, जिनकी बड़ी विरक्ति थी, उनका देहान्त हो गया तो आप एक अनुमान कर सकते हैं कि उनका जन्म किस गतिमें हुआ होगा। ऐसे पवित्र पुरुषोंका जन्म स्वर्गमें होता है। वहां देवियोंका प्रसंग भी है मगर वे उस प्रसंगमें आसक्त नहीं होते।

वैयावृत्य शिक्षाव्रतके पालक श्रावकोंका सुसमय—विनयसहित गुणानुराग पूर्वक व्रती यति महापुरुषोंको आहार औषधि शास्त्र अभयदान करना बहुत ऊँचे फलका परिणाम कराने वाला है। जो

सम्यग्दृष्टि मनुष्य है, जिसने पहले देवायुका बंध किया अथवा नहीं किया, मरण समय करता है बंध, वह देवगतिमें ही उत्पन्न होता है। जिस जीवने पहले देवायुका बंध किया अथवा नहीं किया, मरण समय करता है बंध, वह देवगतिमें ही उत्पन्न होता है। जिस जीवने पहले मनुष्यायुका बंध किया वह सम्यग्दृष्टि मनुष्य भोगभूमि मनुष्योंमें उत्पन्न होता है। कोई मिथ्यादृष्टि ही मनुष्य हो, मिथ्यात्वमें ही मरण करे, पर दान किया हो, दानमें बुद्धि हो तो वह भी मर कर भोगभूमिमें मनुष्य होता हे, और वह भोगभूमिया मनुष्य मरण करके यदि सम्यग्दृष्टि हो तो पहले दो स्वर्गोंमें उत्पन्न होता है, मिथ्यादृष्टि हो तो भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी देवोंमें उत्पन्न होता है।

भोगभूमिमें कल्पवृक्षोंसे मनोवाञ्छित उपभोगसाधनोंका लाभ—भोगभूमिमें दस प्रकारके कल्पवृक्ष होते हैं, जिन कल्पवृक्षोंसे मनमाना भोगोपभोगका साधन प्राप्त होता है। तूर्याङ्ग जातिके कल्पवृक्षसे नाना प्रकारके बांसरी मृदंग इत्यादि अनेक वादित्र प्राप्त होते हैं। पात्रांग जातिके कल्पवृक्षसे रत्नसुवर्णमय अनेक प्रकारके आनन्दकारी कलश दर्पण झारी आदिक बर्तन प्राप्त होते हैं। भूषणांग जातिके कल्पवृक्षसे अनेक आभूषण हार, मुकुट, कुण्डल, मुद्रिकाआदि प्राप्त होते हैं। वहां दस्तकारी या काम ये कुछ कष्ट नहीं होते। केवल भोगोंको भोगो, बस यह ही जीवनभर रहता है। ज्ञानी जीव तो ऐसे भोगोंको भी नहीं चाहता। मगर बतला रहे हैं कि मिथ्यादृष्टि भी हो तो वह भी दानके प्रतापसे ऐसे भोगके साधनोंमें उत्पन्न होता है। पात्रांग जातिके कल्पवृक्षोंसे नाना प्रकारके जीवने योग्य शीतल सुगंधित चीजें प्राप्त होती हैं। आहारांग जातिके कल्पवृक्ष अनेक जातिके आहारको लिए होते हैं। यद्यपि भोगभूमिमें उत्तम भोगभूमिमें तीन दिनमें, मध्य भोगभूमिमें दो दिनमें और जघन्य भोगभूमिमें एक दिनमें भूखकी वेदना होती है, सो भी बेर प्रमाण, आंवला प्रमाण उनका भोजन होता है, पर वह ऐसा शक्तिवर्द्धक गरिष्ट भोजन होता है जैसें कि यहां भी कुछ जड़ी बूटियां औषधियां होती हैं कि थोड़ी सी भी खा लेवे तो एक दो दिन भूख न लगे ऐसा गरिष्ट और बलवान वहां आहार होता है। पुष्पांग जातिके कल्पवृक्ष नाना प्रकारके पुष्प प्रदान करते है। ज्योति रङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंमें इतनी कान्ति होती, प्रकाश होता कि वहां दीपककी आवश्यकता नहीं होती। सूर्य चन्द्रमा भी नजर नहीं आते, इतनी तेज कान्ति वहांके ज्योतिरङ्ग कल्पवृक्षोंमें होती है। गृहांग जातिके कल्पवृक्षोंसे दो चार खण्डकी तो बात क्या, ८४ खण्ड तकके प्रासाद जो कि रत्नकर चित्रित हैं वे वहां हाजिर रहते हैं। वस्त्राङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंसे नानाप्रकारके वांछित वस्त्र प्राप्त होते हैं। दीपाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष दीपमालाकी शोभाका विस्तार करते हैं।

भोगभूमिज मानवोंकी प्रगतिका कारण पूर्वकृत पात्रवैयावृत्य—भोगभूमिमें जुगला जुगली उत्पन्न होते स्त्रीपुरुष और उनके उत्पन्न होते ही माता पिताको जहुंबाई आते ही उनके प्राण नष्ट होते हैं। माता पिता न बच्चोंको देख पाते हैं, न बच्चे माता पिताको देख पाते हैं, यह भी एक पुण्यकी बात है। अगर देख लेते और बादमें मरते तो दुःख होता। वे पुत्र पुत्री उत्पन्न हुए बाद ७ दिन तो अपना अंगूठा चाटकर ही तृप्त होते हैं। उनके अंगूठेमें अमृत है, तब ही यहां भी देखा जाता कि कोई बच्चा उत्पन्न होता है तो वह अपने अंगूठेको चाटता है छोटेमें। छोटे बच्चेके पैरका अंगूठा भी मुखमें चला जाता

है। तो उनके सभी अङ्गोंमें अमृत भरा है। याने धर्मका, पुण्यका प्रताप देखिये—यहां तो कहो कमा कमाकर मरें फिर भी चीज न प्राप्त हो और पुण्यका ऐसा अतिशय है कि अपने आप ऐसा ऋद्धि वैभव प्राप्त होता है। उसके बाद वह ७ दिन तक औंधा सूधा पलटता रहता है, ७ दिन अस्थिर गमन करता है और ७ दिनमें पूर्ण जवान हो जाता है, फिर ७ दिनमें सम्यग्दर्शन ग्रहण करना, चतुराई कला आ जाना ये सब बातें आ जाती हैं। ४९ दिन पूरे होनेपर अनेक प्रकारकी पृथक् विक्रिया, अपृथक् विक्रिया सहित महल, बन बिहार करते हुए नाना क्रीड़ा तरंगोंमें वह सुख भोगता रहता है। भोगभूमिया जीव मरकर देवगतिमें ही उत्पन्न होते हैं यह सब किसका प्रताप है? त्यागी व्रती मुनियोंको उत्तम पात्र, मध्यम मात्र, जघन्य पात्र इनको भक्तिपूर्वक आहार दान, शास्त्रदान औषधिदान, अभयदान देनेका फल है। जिस व्यक्तिको धर्ममें बुद्धि नहीं है उसका जीवन अंधकारमें है। भले ही पूर्व पुण्य का उदय है सो इस भवमें कुछ मौज करलें पर आगे दुर्गति ही समझिये। मनुष्यका मित्र धर्म है और वह धर्म भी केवल मन मौजका धर्म नहीं, किन्तु जिसका तत्त्वज्ञानसे सम्बंध है उस धर्मका फल है कि जिसका यह भव भी शान्तिमें व्यतीत होता है और अगला भव भी शान्तिमें व्यतीत होता है। दान देनेके अतिरिक्त उनके सत्कारके वचन बोलना, उनका यथायोग्य आदर करना, पूजा प्रशंसाके वचन बोलना, देखते ही उठकर खड़ा होना, उन्हें उच्च मानना ये भी दानके अंग कहलाते हैं। तो इस प्रकार वैयावृत्य नामके शिक्षाव्रतमें दान का यह स्वरूप बताया गया है।

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्त्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः॥ ११७॥

चतुर्विधदानोंसे वैयावृत्यका कर्तव्य—जिनके चार मुख हैं उन प्रभुने दान चार प्रकारके बताये—प्रभुके चार मुख दिखते है। समवशरणमें एक अतिशय है, है यद्यपि उस शरीरमें है एक मुख मगर देवकृत अतिशय है कि लोगोंको चारों ओर मुख दिख जाता और उनके चारों ओर धर्मसभायें होती हैं इस कारण किसी भी समय कोई पहुंच जाय, उसे अड़चन भी न हो, प्रभुके दर्शन होते ही रहते हैं। प्रभुने चार प्रकारका वैयावृत्य बतलाया है। (१) आहार दान, (२) औषधि दान, (३) उपकरण दान, उपकरणोंमें मुख्यतया शास्त्रदान आता है। पिछी, कमण्डल, शास्त्र—ये तीन उपकरण हैं, किन्तु उन तीनोंमें प्रधान शास्त्र है, इस कारण दानके चार भेदोंमें एक शास्त्र दान आया है। और (४) चौथा है अभयदान। अभयदानमें ६ कायके जीवोंके कृतकारित अनुमोदनामें विराधनाका त्याग है। सो यतीजन अभयदान सब जीवोंको दे रहे हैं। जो सब जीवोंको अभयदान दे रहे हैं ऐसे गृहरहित केवल आत्माकी धुन रखने वाले मुनिजनोंको आवास आदि देना अभयदान कहलाता है। गृहस्थ दानसे ही प्रशंसाके योग्य हैं। दान और पूजाके ये दो मुख्य काम श्रावकके बताये गए हैं, सो उनमें पूजासे तो आत्मकल्याण है और दानसे धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति है।

दानरहित गृहस्थ जीवनकी व्यर्थता जानकर दानवृत्तिकी उमंग रखनेका स्मरण—जिस गृहस्थीमें आहार आदिक दानोंकी प्रथा नहीं है। वे पापारम्भके भारसे ऐसा बोझल हो जाते हैं कि वे

पत्थरकी नावके समान है। जैसे पत्थरकी नाव खुद डूबती है और दूसरोंको डुबोती है ऐसे ही जहां दानकी परम्परा नहीं है ऐसे गृहस्थजन पापके आरम्भसे खुद दबते हैं और कुटुम्बीजनोंको, मित्रजनोंको डुबोते हैं, ज्ञानी श्रावक चिन्तन करता है कि यह धन जो मैंने कमाया है या पिताका कमाया हुआ है, घरमें बिना श्रम किए ही धन मिला है अथवा राज्य ऐश्वर्य देश नगर व स्त्री, सभी नौकर आदिक सबका समूह प्राप्त हुआ है सो यह पूर्व जन्ममें दान देनेका फल है। पूर्वभवमें दूसरेके धनमें स्वप्नमें भी चित्त न चलाया था, परम संतोषसे जीवन व्यतीत किया था, विषयोंसे विरक्त थे, चाहका परिमाण था, ऐसे तपश्चरणका फल है कि जो इस भवमें सुख सुविधा सामग्री प्राप्त हुई है। सो यह सम्पदा मिली तो है, पर इसका कुछ दिनका ही संयोग है, यह परलोकमें साथ न जायगा, मरनेके बाद यही पड़ा रहेगा। जमीनमें गड़ा धन जमीनके अन्दर रह जायगा, जो बाहर पड़ा है वह बाहर रह जायगा, उसके मालिक कोई दूसरे बनेंगे, या राजा लूट लेगा। यह जीव-अचानक मरकर दुर्गतिमें चला जायगा। सो जिस धनकी मैंने प्राणोंसे भी अधिक रक्षा की उसका फल मिलेगा दुर्गति। सारा समय कष्ट ही कष्टमें व्यतीत होगा। तो ऐसे कुछ दिनके लिए प्राप्त हुए धनका दानमें सदुपयोग करुं जिससे कि पाप भी झरे और अगला भाव भी उत्तम प्राप्त हो। आहारदान देनेसे साधुजनोंको निर्बाध धर्मध्यानमें रहकर तपश्चरणका मौका मिलता है, औषधिदानसे रोग दूर हो जानेसे साधुजनोंको समतासे शान्तिसे तपश्चरणका मौका मिलता है। अभयदान देनेसे योग्य स्थानोंमें उन्हें ठहरानेसे वे निर्बाध अपने तपश्चरणमें लगते हैं और शास्त्रदान देनेसे इस तत्त्वज्ञानके प्रसादसे ऐसा ज्ञान लाभ ले लेते कि अष्ट कर्मोंका विनाश करके निकट कालमें, निकट भवमें निर्वाण प्राप्त करेंगे।

श्रावकोंके सिद्धावस्थाकी उपादेयताका मूल लक्ष्य रखकर धर्मप्रवर्तन—हम आपको यह सोचना चाहिए कि सिद्ध अवस्था मिले, तो वह है हमारे लिए भली बात, बाकी तो संसारमें जितना भ्रमण है, चाहे राजा बने, चाहे क्रोड़ाधीश बने, वह सब कष्ट है। कदाचित कोई अच्छी बात मिल गई तो उसका भरोसा क्या? जैसे कि जनताके राज्यमें जहां कोई एक राजा नहीं है तो ५ वर्षको कोई मंत्री बन गया, राष्ट्रपति बन गया, राज्य चलाने वाला बन गया, तो ५-६ वर्ष बाद क्या होता कि फिर चुनाव हुआ हार गया फिर साधारणजनोंकी भांति रह गया तो उसको कितना कष्ट होता। उसको तो जीवनभरके लिए विश्वास बन जाता कि मैं राजा रहूंगा पर ४-५ वर्ष बाद फिर चुनावमें हार जाता तो उसको बड़ा दुःख होता। तो ऐसे ही राजा हो या धनिक हो, अधिकसे अधिक जीवनभर मौज माना, पर इस मौजमें जो कर्मबन्ध हुआ उसके उदयमें दुर्गति प्राप्त होती। इससे इन बाहरी पदार्थोंको निरखकर खुश न होना कि मैं बहुत धनी हूं, मैंने अच्छा धन कमाया है, मैंने बड़ी-बड़ी सुख सुविधायें बनाया है। ऐसा अनुभव करें कि गुजारा करनेके लिए मैं घरमें रह रहा हूं, जिस तरह क्षुधा तृषा शीत उष्णकी वेदना न रहे और मैं धर्म पालनमें अपना कर्तव्य निभाऊं इतना ही प्रयोजन है जीवनका इससे अधिक प्रयोजन नहीं है वैभवका। जो वैभवमें तृष्णा किए हुए हैं उनका तो बड़ा अंधकारमय जीवन है, उसे न इस भवमें सुख है न आगे सुख रह सकता है। चतुर्थकालमें पात्रोंकी संख्या अधिक थी। सम्यग्दृष्टि मुनि व्रती अधिक मात्रामें थे। पुराणों में देखते हैं कि प्रत्येक राजा, प्रत्येक सेठ, बड़े-बड़े पुरुष भोग भोगनेके बाद अन्तमें

गृह त्यागकर मुनि हुए थे। तो इस पद्धतिसे आप देखें तो मुनियोंकी संख्या अधिक स्वयं ही हो जाती थी। पर आज पंचमकालमें सही मुनिजन सम्यग्दृष्टि श्रावक व्रतीजन बहुत ही दुर्लभ है। और कदाचित् मिल जायें और उनकी उपेक्षा करें तो यह श्रावकका बहुत पापका उदय है जो उसकी बुद्धि विपरीत बनी है। जहां कहीं भी कोई पात्र मिले तो बड़ी उमंग पूर्वक उनकी हर प्रकार सेवा करना इससे गृहस्थका जीवन सफल है, उसके पुण्यका विशेष बंध है।

दानादिकी प्रवृत्ति न करने वालोंके भविष्यकी मीमांसा—अच्छा धनी लोग यदि धनको दानमें न खर्च करें और अर्जन ही अर्जन करते जायें तो बतलावो उन्हें सफलता क्या मिली? यदि भोगोंमें ही लगायेंगे तो यह कार्य तृष्णा बढ़ाने वाला है। महापापमें प्रवर्तने वाला है। उससे नारकादि कुगति ही प्राप्त होगी, और मोहवश यदि पुत्रादिकको ही समर्पण करते हैं मेरा मुन्ना है, इसको मैं खूब धन कमाकर दे जाऊं, यह बुद्धि करके जीवनमें एक धनार्जनका ही उद्देश्य बना रखा है तो उनके भी बड़ा अंधकार है। लोक व्यवहारमें हैं पुत्रादिक मगर ये ही मेरे सर्वस्व हैं, और मेरा सबकुछ श्रम इनके लिए ही हो, ऐसी मोहबुद्धिका फल दुर्गतिमें उत्पन्न होना है और फिर ये पुत्रादिक तो बिना दिए ही अपने आपले लेंगे, इनको देना कोई दान नहीं कहलाता। आप न दीजिए पुत्रोंको तो वे अपने आप ही सब मालिक बनेंगे। दान करना, सेवा करना तो उनका कहलाता है कि जिन्होंने सर्वपरिग्रहका त्याग किया है और केवल एक आत्मध्यान ही जिसको शरण है। ऐसे रत्नत्रयसे पवित्र ज्ञानीजनोंकी सेवा दानमें दान है। अच्छा मानलो किसी धनिकने सारे जीवन धन कमाया, और वह मरकर परलोक गया, यहां किसीको दान न कर सका। पुत्रादिकमें ही ममता रखकर मरा तो मरनेके बाद वह यहां देखने आयगा कि मेरा लड़का किस तरह रहता है? कैसे आ सकता है? कुटुम्बका सम्बंध तो आत्मासे नहीं है, इस चामका सम्बंध है सो यह चाम भस्महो ही जायगा, कुटुम्ब न इसको देख सकेगा, न वह धनिक कुटुम्बको देख सकेगा। फिर इतनी आसक्ति क्यों? अपने कमाये हुए द्रव्यका दान करनेकी, उसका सदुपयोग करनेकी भावना क्यों नहीं बनती। इस संसारमें अन्य कुछ इस जीवका शरण नहीं है, एक धर्म ही शरण है। जो धन है सो भी आपका नहीं, पुण्यके प्रभावसे कुछ दिन को यह मिला है, अन्तमें इसे भी छोड़कर जाना पड़ता है। धन साथ जायगा नहीं, और पुत्रादिकमें ममता करके धन संचय किया है उस ममताके कारण दुर्गतियोंमें जन्म लेना पड़ेगा। जैसे यहां देखते हैं अनेक दरिद्रियोंको कि बेचारे अन्नके एक-एक दानेको तरसते हैं, याचना कर करके बड़ी मुश्किलमें पेट भरते हैं ऐसी ही स्थिति बनेगी उनकी जिन्होंने धन पाकर दानमें सदुपयोग नहीं किया। श्रावकोंको ममतारहित होना ही चाहिए। रागरहित तो न हो पायेंगे क्योंकि घरमें रहते हैं, सब व्यवस्था करते हैं। पर सही श्रद्धा, सही ज्ञान रखें तो श्रावकोंका कल्याण है।

ज्ञानदानका सर्वोत्कृष्ट प्रभाव—देखिये लोकमें सर्वोत्तम बात है सिद्ध भगवान होना। जो यहां यह तीन चीजोंका पिण्ड है—जीव, कर्म और शरीर। इनकी सत्ता अपने-अपनेमें अलग-अलग है। केवल इन तीनका संयोग है, तो जिनका संयोग है उनका वियोग हो सकता है। आत्मदृष्टि, आत्मध्यानके प्रतापसे अपने आपको समझ लीजिए, सबसे निराला केवल अपनी सत्तामात्र, ऐसे अपने सत्तामात्र

चैतन्यस्वरूपके ध्यानके प्रतापसे इसका निर्णय मिलता है। वहां अकेला आत्मा रहे, यह ही अवस्था कल्याणमय अवस्था है। इसके पानेका ही लक्ष्य रखना चाहिए। और, इसकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है। ज्ञानके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है जो इस जीवको शान्ति मिल सके या भगवानका पद प्राप्त हो सके। दुर्लभ वस्तु ज्ञान ही है, सो ज्ञानका अभ्यास बनायें और ज्ञानावरणका इतना विशेष क्षयोपशम न हो कि तत्त्वज्ञान ही सीख सकें तो जो ज्ञानवन्त हैं उनकी सेवा सुश्रुषामें रहें, जो ज्ञानके साधन हैं धार्मिक विद्यालय शास्त्रादिक उनके प्रचार प्रसारमें रहे और सामर्थ्य नहीं है कि हम धन व्यय कर सकें तो इस ज्ञानकी साधनाका समर्थन बनाये रहें, हृदयमें अनुमोदना करें तो यह वह साधन है जिसके प्रतापसे ज्ञानावरणका क्षयोपशम होकर ज्ञान प्राप्त होगा और यह निकटकालमें कभी केवल ज्ञानी हो जायगा। इसीलिए सर्वदानोंमें ज्ञानदानको सर्वप्रधान कहा गया है, अन्य कुछ दानतो एक गुजारा करानेके लिए हैं, किन्तु ज्ञानदान इस जीवको सदाके लिए सर्वसंकटोंसे छुटाकारा दिलानेके लिए है। ऐसा श्रावक शुद्ध भावसे पात्रको दान करता है जिसके प्रतापसे यह मोक्षमार्गमें लगा है, सद्गति पायगा वहां भी धर्म साथ रहेगा, मनुष्यभव पाकर निर्ग्रन्थ होकर सदाके लिए मुक्त होगा। यह सब ज्ञानदानके अभिप्रायका ही प्रभाव है कि वह मोक्ष जाता है।

कुपात्र दानका फल कुभोग भूमिमें उत्पत्ति—जो पुरुष कुपात्रमें दान करता है याने अन्य साधु सन्यासियोंको दान करता है भक्तिसे, जैसा कि उनका भाव है उसके प्रतापसे अच्छी गति तो नहीं प्राप्त होती कुभोग भूमि प्राप्त होती है, फिर भी खाने पीने आदिकके कष्ट तो नहीं, पर उनकी स्थिति एक विडम्बना वाली स्थिति होती है। वे मनुष्य बिढंगे होते हैं। कोई बड़े कान वाले हैं, इतने लम्बे कान हैं कि कहो एक कानमें सो जायें और एक कान ओढ़लें, ऐसे मनुष्य बनते हैं। ये मनुष्य अन्तर्द्वीपोंमें होते हैं जो लवण समुद्रके भीतर पाये जाते हैं। किसीका शेर जैसा मुख, किसीका घोड़े जैसा, किसीका कुत्ते जैसा, किसीका सूकर जैसा। यों नाना ढंगके मनुष्य होते हैं। ऐसी खोटी भोग भूमिमें उत्पन्न होते हैं, पर जो सुपात्रदान करते हैं, रत्नत्रय धारियोंकी वैयावृत्ति करते हैं उनको उत्तम देवगति, उत्तम भोगभूमि प्राप्त होती है, जहां पर धर्म का भी सम्बंध बना रहता है और मोक्ष मार्गमें प्रगति होती है।

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः।
वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः॥ ११८॥

वैयावृत्य शिक्षाव्रतमें दानका महत्त्व—वैयावृत्य नामके शिक्षाव्रतमें चार दानोंका कर्तव्य प्रधान है। दानका अर्थ है दिया जाना, दूसरेको देना सो दान है। दानमें अपना भी उपकार है और दूसरेका भी उपकार है। अपना उपकार यह है इतने द्रव्यसे ममत्वका त्याग हुआ और साथ ही अच्छे कार्यके लिए भावना जागी, दूसरोंका उपकार इस प्रकार है कि उस आहार आदिकके फलमें वह पात्र धर्मध्यान करेगा, संयमकी साधना करेगा। सो अपने व दूसरेके आत्माकी भलाईके लिए योग्य विधिसे योग्य वस्तु योग्य पात्रको दिया जानेको दान कहते हैं। दानमें अनेक भेद हो सकते हैं। जितनी प्रकारके पात्र हैं और जो जो प्रयोजन हैं उनके भेदोंसे अनेक भेद हो सकते हैं, फिर भी चार दान प्रसिद्ध हैं—

(१) आहारदान, (२) औषधिदान, (३) ज्ञानदान और (४) अभयदान। इस वैयावृत्य शिक्षाव्रतमें जो अन्तमें जिनेन्द्र पूजाका प्रसंग दिया है वह भी दानमें गर्भित है। यद्यपि उससे प्रभुका इतना उपकार नहीं होता किन्तु अपना तो उपकार है इसलिए जिनेन्द्र पूजा भी दानमें अथवा त्यागमें गर्भित की गई है। धर्मके सम्बंधमें बताया गया था कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र धर्म है। सम्यक्चारित्रका अर्थ है कि अपने सहजस्वरूपमें अपने उपयोगको मग्न करना। यह तो परिपूर्ण रूपसे सम्यक्चारित्र पर उसकी प्राप्तिके लिए जो पोषण होता है उस पोषणको भी व्यवहारमें सम्यक्चारित्र कहते हैं। सो अशुभ परिणतिका त्याग और शुभ परिणतिका आचरण भी सम्यक्चारित्र कहलाता है। दान शुभ परिणति है इसलिए दान भी सम्यक्चारित्र कहा गया है।

आहारदानमें प्रसिद्ध श्रीषेण राजासे एक सम्बन्ध बतानेवाली उपकथा—चार प्रकारके दानोंमें चार व्यक्ति प्रसिद्ध हुए हैं, ऐसा इस श्लोकमें संकेत किया है। आहारदानमें राजा श्रीषेण, औषधिदानमें वृषभसेना, ज्ञानदानमें कौंडेश राजा, अभयदानमें एक सूकर प्रसिद्ध हुआ है। राजा श्रीषेणकी कथा इस प्रकार है कि मलय देशमें एक बल नामका गांव था। वहां एक धरणीजट नामका ब्राह्मण रहता था। उसके दो पुत्र थे। वह ब्राह्मण जब अपने उन दोनों लड़कोंको पढ़ाता था तो उसके घरमें जो एक नीच जातिका लड़का रहता था सो वह छिपकर उसका पढ़ाना सुना करता था। उस लड़केका नाम था कपिल। कपिलकी बुद्धि तेज थी। सो वह उन दोनोंका पढ़ना व ब्राह्मणका पढ़ाना सुन सुनकर ही बड़ा विद्वान हो गया। जब नगरके ब्राह्मणोंको यह विदित हुआ कि यह कपिल नीच जातिका बालक है और उसने धरणीजट ब्राह्मणसे विद्या सीख ली है तो उन्होंने उसको बहुत डांट लगाया, क्योंकि उनके यहां ऐसी प्रसिद्धि है कि नीच कुल वालोंका पढ़ाना न चाहिए। उस आधार पर ब्राह्मणोंने उसको बहुत बुरा भला कहा। धरणीजट भी कपिलकी इस चालाकीसे बहुत नाराज हुआ और किसी प्रकार उस कपिलको घरसे निकाल दिया। अब कपिलने बल गांवमें रहना छोड़ दिया। वह जनेऊ पहिनकर ब्राह्मण बन गया। विद्या तो उसके पास थी ही सो अपनी उस विद्याके बलसे वह अपनेको खूब निभा सकता था। तो वह ब्राह्मण बनकर रत्नसंचयपुर चला गया। उस दूसरे नगरमें इस कपिलकी एक सात्यकी नामके ब्राह्मणसे भेंट हुई सात्यकीने इसे रूपवान, विद्यावान देखकर तथा ब्राह्मण समझकर अपनी कन्या सत्यभामा इसको विवाह दी। वहांके राजा श्रीषेणने कपिलके ज्ञानकी बड़ी प्रंशसा सुनी तो उसने अपने यहां बुलाया और उसे शास्त्र पढ़नेके लिए रख लिया।

श्रीषेण द्वारा सत्यभामाको पुत्रीवत् रखनेके सम्बन्धका आख्यान—वहां पर भी कपिल अपनेको ब्राह्मण ही बतलाता रहा। इस प्रकार राजासे भी द्रव्य पाकर और ब्राह्मणकी लड़कीसे विवाह कराकर वह घरमें सुखपूर्वक रहने लगा। सत्यभामाकी किसी किसी करनीको देखकर उसकी जातिपर संदेह रहने लगा, क्योंकि वह कपिल संध्या, पूजन आदिकजो ब्राह्मणके उचित काम थे उनमें बहुत ही शिथिल रहा करता था। उसका बर्ताव, वचनव्यवहार भी उच्च कुलके मनुष्योंके समान न था, और इतना ही नहीं, एक घटना ऐसी हुई कि एक दिन जब सत्यभामा रजस्वला थी उस स्थितिमें इस कपिलने सत्यभामाके साथ पाप करना चाहा, सत्यभामा उस कपिलका इतना नीचा भाव देखकर और भी संदेहमें

पड़ गई। सत्यभामाका संदेह बढ़ता ही गया और अपना संदेह मिटानेका उसे कोई उपाय न मिल सका। बलगांवमें धरणीजटके पापका उदय आया, उसका सारा धन नष्ट हो गया। भिखारी बन गया। जब उसे मालूम हुआ कि कपिल रत्नसंचयपुरमें है और वह बहुत अच्छी हालतमें हैतो कुछ आशासे ही वह धरणीजट कपिलके पास गया। कपिलको वहां भी अपनी जातिका भेद खुलनेका निरन्तर डर रहा करता था। और अब धरणीजटको आया हुआ देखा तो उसके बहुत घबड़ाहट हुई। उस घबड़ाहटका कारण यह ही था कि कहीं यह धरणीजट मेरी जातिका भेद न बता दे। इस शंकाकी वजहसे कपिलने धरणीजटका और भी अधिक सम्मान किया। धरणीजटको अच्छी तरह रखा, बहुत धन दान किया और अपनी स्त्री तथा पहिचानके लोगोंसे विदित करा दिया कि यह तो मेरे पिताजी हैं। धनके लोभमें आकर धरणीजटने भी कह दियाकि कपिल मेरा ही पुत्र है। सो लोभके वश न जाने क्या-क्या हुआ करता है। एक दिन की बात है कि कपिल कहीं दूसरे गांवको गया हुआथा। तब सत्यभामाने उस धरणीजटको बहुत धन दिया और एकान्तमें पूछा कि सच बताओ यह कपिल आपका ही पुत्र है या नहीं? वह ब्राह्मण धरणीजट पहले तो बड़ी चिन्तामें पड़ गया कि मैं क्या उत्तर दूं लेकिन सत्यभामाके सम्मानको देखकर और बहुत दिए हुए द्रव्यको देखकर उसने सारी बात कहदी कि कपिल मेरा पुत्र नहीं है और यह तो शूद्रका पुत्र है। बस धरणीजटने यह हाल बताया, उसके बाद वह वहां न रह सका। कपिलका उसको डर था। वह एक दम रत्नसंचयपुरसे चल दिया। अब यहां सत्यभामाको जब मालूमहो गया कि यह कपिल बड़ा कपटी है और उसने अपने कपट जालसे मुझे विवाहा है तो उस सत्यभामाने कपिलके साथ बोलना बिल्कुल बंद कर दिया और राजा श्रीषेणके पास जाकर उस सत्यभामाने सब वृत्तान्त सुनाया क्योंकि वह कपिल राजाके यहां शास्त्र पढ़ता था। दूसरी बात कोई दुःखी हो, किसीका अपराध हो तो राजासे कहना भी चाहिए। राजाको भी पता पड़ गया कि कपिल शूद्रका पुत्र है और इसने धोखा देकर ब्राह्मणकी पुत्रीसे विवाह किया है और उसको हमने भी शास्त्र पढ़नेके लिए रखा है तब भी इसने अपना जाति भेद नहीं कहा, तो राजाने कपिलको गधे पर बैठालकर अपने राज्यसे निकाल दिया और सत्यभामाको अपने ही महलमें पुत्रीके समान बर्ताव कर रख लिया।

राजा श्रीषेण द्वारा आहारदान व श्रीषेणकी रानियों द्वारा एवं धर्मपुत्री सत्यभामा द्वारा आहारदानकी अनुमोदना—एक दिन राजा श्रीषेणके यहां आदित्यगति और अरिंजय नामके दो मुनिराज आहारके लिए चर्या करते हुए आये, राजाने बड़ी भक्तिपूर्वक उन मुनिराजको पड़गाहा और निर्दोष आहार दिया। श्रीषेण राजाकी सिंहनंदिता और आनंदिता इन दोनों रानियोंने उसके आहारदानकी बड़ी प्रशंसाकी साथ ही धर्मपुत्री सत्यभामा ने भी श्रीषेणके आहारदानकी बड़ी अनुमोदना की। निरन्तराय आहारदान होनेसे राजाके यहां देवताओं द्वारा रत्नवर्षा, पुष्पवर्षा, दुंदुभीका बजना, मंद सुगंधित हवा चलना और जय-जयके शब्द होना ये पंच आश्चर्य हुए।

आहारदानके प्रभावसे राजा श्रीषेणका उत्थान व निकटकालमें निर्वाण—राजा श्रीषेणने बहुत वर्षों तक राज्य किया और राज्य करके जब शरीर छोड़ा तो मरकर आहारदानके प्रभावसे उत्तम भोगभूमिमें बड़े सुखके साधन मिले। वहां तीन पल्यकी आयु थी, ये जुगला जुगली उत्पन्न हुए। इनके

उत्पन्न होते ही माता-पिता मर गए, फिर ये दोनों जीवनभर बहुत विषय सुख साधनोंमें मग्न रहे। दोनों रानियां और सत्यभामाने भी आहारदानकी प्रशंसा की थी, उनके प्रभावसे वहीं भोगभूमिमें उत्पन्न हुई। राजा श्रीषेण बहुत काल तक भोगभूमिका सुख भोगकर स्वर्गमें देव हुए और वहां से चलकर चक्रवर्ती राजा हुए। ऐसे ही मनुष्य और देवोंके थोड़े भव रखकर १६वें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ हुए। शान्तिनाथ भगवानने राज्यसुख भोगकर छोड़कर तप धारण किया, केवल ज्ञानी हुए, संसारके सब जीवोंके हितका उपदेश करते रहे और अन्तमें अष्ट कर्मोंके विनष्ट होते ही वे मोक्ष पधारे। यहां आहारदानकी महिमा बतायी गई है। इस दानके प्रतापसे राजा श्रीषेणने ऊंचे-ऊंचे पद पाये और तीर्थंकर पदमें आकर लोक कल्याण करके मोक्ष पधारे। आहारदान श्रावकोंका प्रतिदिनका कर्तव्य है। इससे ही धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति चला करती है।

औषधिदानमें प्रसिद्ध वृषभसेना द्वारा पूर्वभवमें औषधिदान व वैयावृत्य द्वारा मुनिराजकी सेवाभक्ति—औषधिदानमें वृषभसेना प्रसिद्ध हुई। इसी भारत देशमें कावेरी नगरमें एक ब्राह्मण रहता था, उसकी लड़कीका नाम नागश्री था। वह नागश्री मंदिर जीमें झाड़ने बुहारनेका काम किया करती थी। एक दिन शामको मंदिरमें मुनिदत्त मुनि ध्यान कर रहे थे और वहां नागश्री झाड़ने आयी और झाड़ते-झाड़ते उस जगह पहुंची जहां मुनि महाराज ध्यान लगाये बैठे थे। उस नागश्रीने मुनिसे कहा कि उठो, हमें यहां झाड़ना है पर मुनिराज ध्यान पूर्ण किए बिना कैसे उठ सकते थे, वे न उठे और ज्योंके त्यों ध्यानमें बैठे रहे। नागश्रीने कई बार मुनिराजसे उठनेको कहा पर वह न उठे, अपने ध्यानमें मस्त रहे वहां नागश्रीको क्रोध आया सो क्या किया कि कूड़ेका बहुत बड़ा ढेर मुनि महाराजके चारों ओर लगा दिया, यहां तक कि इतना कूड़ा ऊपरसे हो गया कि वे मुनिराज उसमें दब गए, पर इस उपसर्गमें भी मुनिराज अपने ध्यानसे विचलित न हुए, बल्कि और भी अधिक ध्यानमें बढ़ गए। सारी रात यों ही ढके रहे। सवेरा होते ही जब राजा मंदिरमें गया और वहां कूड़ा कचराका ढेर कुछ हिलता हुआ सा देखा तो समझ लिया कि इसके अन्दर कोई पुरुष ढका है। जब सारे कूड़ेको हटवाया तो क्या देखा कि उसके अन्दर मुनिराज बैठे हैं। उन्हें दण्डवत प्रणाम किया और दुःखी होकर चले गए। उधर वह नागश्री भी उसी समय झाड़ने बोहारनेका काम करने गई तो क्या देखा कि वह मुनिराज शान्तचित्त बैठे हुए थे, उस समय नागश्रीके चित्तमें मुनिराजके प्रति बड़ी भक्ति उत्पन्न हुई और वह अपनी मूर्खतापर बहुत पछताई। मुनिराजसे क्षमायाचना भी किया। उसने मुनिराजका कष्ट दूर करनेके लिए अनेक प्रकारकी दवाइयांकी और वह मुनिराजकी वैयावृत्तिमें बहुत लग गई, मुनिराजको बिल्कुल स्वस्थ कर दिया।

औषधिदानके प्रभावसे नागश्रीके जीवका वृषभ सेनाके भवमें एक चमत्कार—इस औषधि दानका प्रभव देखिये कि जब नागश्रीकी आयु पूर्ण हुई तो वह मरकर उसी नगरके धनपति सेठकी पुत्री हुई। सेठने उस पुत्रीका नाम वृषभसेना रखा। वृषभसेना रूपवती और भाग्यवती थी एक दिन उसकी दासी वृषभ सेनाको स्नान करा रही थी, उसके स्नान करानेसे जो नीचे पानी गिरता था वह बहकर एक गड्ढेमें भर गया। अचानक ही वहां एक रोगी खुजैला कुत्ता आया और उस गड्ढेमें गिर गया, थोड़ी देरके बाद जब वह कुत्ता गड्ढेसे निकला तो वह बिल्कुल निरोग हो गया। कुत्तेकी ऐसी

हालत देखकर उस दासीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने मनमें विचारा कि जो इसको आराम हुआ है सो वृषभसेनाके स्नानके जलमें नहानेसे हुआ है। वह वृषभसेनाके उस नहाये हुए जलको लेकर अपने घर भी गई। उस दासीकी माताकी आँखें ठीक न थीं, अंधी थी, उस दासीने अपनी माँकी आंखोंमें जो कई वर्षोंसे बिगड़ रही थी, पानी लगाया तो उसे दिखने लगा। जब शहरमें यह बात फैल गई तो सभी प्रकारके रोगी अब वृषभसेनाके स्नानका जल लेनेके लिए आने लगे और उनको आराम भी होने लगा।

वृषभसेनाके चमत्कारका राजा उग्रसेन पर महान प्रभाव—उस समय वहांके राजा उग्रसैन थे। उन्होंने अपने मंत्री रणपिंगलको अपने शत्रु राजा मेघपिंगलसे लड़नेको भेजा। राजा मेघपिंगलको जब अपनी जीत न दिखाई दी तो उसने उस कुवेंके पानीमें विष मिला दिया जिस कुवेंका पानी रणपिंगलकी सेनाके पीनेके काम आता था। उस पानीके पीनेसे बहुतसे सिपाही मर गए और बहुतसे बीमार हो गए। जब रणपिंगलकी बची हुई सेना वापिस आ गई और सेनाको वृषभसेनाके स्नान किए हुए जलसे धोया तो सबको आराम हो गया। जब उग्रसेनको मेघपिंगलकी बेईमानी ज्ञात हुई तब वह खुद ही सेना लेकर मेघ पिंगलसे लड़ाई करने लगा। मेघपिंगलने फिर भी वही काम किया जिससे राजा उग्रसैनकी और उसकी सेनाकी तबियत बिगड़ने लगी, तो लाचार होकर राजा भी लौट आया। राजधानीमें आने पर राजाने मंत्रीकी सलाहसे वृषभसेनाके स्नानका जल मंगवाया। जब राजाके नौकर वृषभसेनाकी दासीके पास जल मांगने गए तो सेठानीने अपने पतिसे कहा कि हे स्वामी अपनी बेटीके स्नानका जल राजाके ऊपर छिड़का जाय यह तो ठीक नहीं जंचता, सेठने उत्तर दिया कि हे प्रिये अपनेको राजासे कुछ छल नहीं करना है, सब सच्चा हाल उन्हें सुना दिया जायगा। धनपति सेठने दासीके द्वारा वृषभसेनाके स्नानका जल राजाके पास भेज दिया और उस दासीने पहले ही राजाको मालूम करा दिया था कि यह वृषभ सेनाके स्नानका जल है, फिर राजाके ऊपर छिड़क दिया तो राजाको तुरन्त आराम हो गया।

वृषभेसनाका पट्टरानी बनना—जब राजा उग्रसैनको वृषभसेनाकी ऐसी महिमा विदित हुई तो धनपति सेठको राजाने अपने पास बुलाया और कहा कि आप अपनी लड़कीका विवाह मेरे साथ कर दें। तो सेठजीने उत्तर दिया कि महाराज हमारे समान तुच्छ मनुष्यके साथ आप नाता करना चाहते हैं यह तो हमारे बड़े भाग्यकी बात है। और बेटी वृषभसेना भी विवाहके योग्य हो गई और आपके साथ उसका विवाह करनेको तैयार भी हूं, परन्तु मुझे यह कहना है कि आपको अष्टान्हिकाके दिनोंमें भगवानकी पूजा बड़े ठाठबाटके साथ करानी पड़ेगी। जो पशु पक्षी पिंजरोंमें बंद हैं तथा जो कैदी जेलखानेमें बंद हैं उनको छोड़ देना पड़ेगा। राजा उग्रसेनने सेठकी सब बातें मान ली और वृषभसेनाने विवाह करा लिया। राजा वृषभसेनाको पट्टरानी बनाकर सुखसे रहने लगा। वृषभसेना उन सुखोंमें अपनेको भूली नहीं, वह भगवानकी पूजा, स्वाध्याय, शील, संयम पात्रदान आदिक कर्तव्य सदैव कर रही थी। राजा उग्रसेनने सेठको दिए हुए वचनों पर सभी पशुपक्षियोंको और कैदियोंको छुड़वा दिया परन्तु बनारसके पृथ्वीचन्द्रको नहीं छोड़ा। यह पृथ्वीचंद राजा बहुत क्रूर था। राजा पृथ्वीचन्दकी रानी नारायण दत्ता बनारसमें रहती थी और उसको बड़ा भरोसा था कि इस समय उसका पति भी छूट जायगा, परन्तु जब

यह न हुआ तो उस रानीने बनारसमें वृषभसेनाके नामसे कई दानशालायें बनवायी और इसीलिए बनवायी कि जिससे रानी वृषभसेनाको बनारसके राजा पृथ्वीचंदका सब हाल मालूम हो जाय कि महाराजने मेरे पतिको अब तक नहीं छोड़ा। उन दानशालावोंमें प्रत्येक मनुष्यको बढ़िया भोजन कराया जाता था। उन दानशालावोंका नाम बहुत बढ़ गया। कावेरीके ब्राह्मण बनारस गए, दानशालावोंमें भोजन किया व प्रशंसा करते हुए आये। दासीने दानशालायें मालूम होते ही, वृषभसेनासे कहा कि आपके नामकी कई दानशालायें नगरमें खुली हैं तो वृषभ सेनाने कहा कि हमने तो नहीं खुलवाईं। तब दासीने सब पता लगाया व बताया कि नारायणदत्ताने अपने पतिको छुड़ानेके लिये वृषभसेनाके नामसे दानशालायें खुलवाईं। तब वृषभसेनाके कहनेसे राजाने पृथ्वी चंदको छोड़ दिया। पृथ्वीचंद्र राजाने उग्रसेन व वृषभसेनाके प्रति विनय दर्शाई। तब पृथ्वीचंदका मित्र मेघपिंगल भी उग्रसेनका सेवक बन गया, राजावोंने उग्रसेनको भेंट दी उसमें आधा धन व एक दुशाला मेघपिंगलको दिया व आधा धन व एक दुशाला वृषभसेनाको दिया। मेघपिंगलकी रानी वही दुशाला ओड़कर वृषभसेनाके पास गई। दुशाला बदला गया कपड़े धरने उतारनेमें। कई दिन बाद दूसरा दुशाला देखकर राजाको शक हुआ, रानीको समुद्रमें ढकेला, देवोंने सिंहासनपर बैठाया। राजाने क्षमा मांगी। अन्तमें वृषभसेना आर्यिका हो गई। औषधिदानके प्रभावसे वृषभसेनाने स्नानजलका चमत्कार पाया, पर नागश्रीके भवमें मुनिनिन्दाके कारण व्यर्थ कलंक लगा। औषधिदानकी महिमा निरोग रहना व करना है।

शास्त्रदानमें प्रसिद्ध गोविन्द ग्वालाका सद्गति पा पाकर कौण्डेश मुनिके पर्यायमें सर्व श्रुतज्ञपना—एक दान है शास्त्रदान। शास्त्रदानमें कौण्डेश मुनि प्रसिद्ध हैं। बहुत पुरानी वार्ता है कि इस हिन्दुस्तानमें कुरुमरी नामका एक गांव था। वहां एक ग्वाला रहता था जिसका नाम गोविन्द था। एक दिन गोविन्द जंगलमें गया और उसने एक वृक्षके खोलमें एक शास्त्र जी रखा हुआ देखा। शास्त्रजी को गोविन्द अपने घरले आया और उसकी रोज-रोज पूजा करने लगा। गोविन्द पढ़ा लिखा तो था नहीं, वह बांचता कैसे? लेकिन वह शास्त्र जी की पूजा करके ही संतोष कर लिया करता था। एक दिन श्री पद्मनन्दी मुनिके गोविन्दने दर्शन किया तब उसने वह ग्रन्थ उन मुनिराजको दे दिया। पद्मनंदी मुनि बहुत समय तक उस ग्रन्थका स्वाध्याय करते रहे और उस ग्रन्थके द्वारा भव्य जीवोंको उपदेश देते रहे। अन्तमें जब पद्मनंदी मुनि वहांसे विहार करते समय साधुवोंकी नीतिके अनुसार वृक्षकी खोलमें उस ग्रन्थको रखकर चले गए। पद्मनंदी मुनिके चले जाने पर भी गोविन्द उस शास्त्रजी की पूजा प्रतिदिन किया करता था। योगवश गोविन्दको एक सांपने डस लिया और गोविन्द मर गया। पर मरण समय गोविन्दने यह निदान किया था कि मैं किसी धनिकका पुत्र होऊं। निदानका अर्थ यह है किसी जीवने यदि कुछ पुण्य किया है तो उस पुण्यसे जितना जो कुछ लाभ होना है, यदि वह उससे कम लाभ चाहे तो उसको मनचाहा लाभ मिल जाता है। गोविन्द इस निदानके कारण कुरुमरी गांवके एक पटेलके यहां पुत्र हुआ। कुछ उसने पूर्व जन्ममें मुनिको शास्त्रदान करके बड़ा पुण्यबंध किया था सो बहुत ही रूपवान, भाग्यवान, और बुद्धिमान हुआ। एक दिन पद्मनन्दी मुनि बिहार करते हुए उसी कुरुमरी गांवमें आये। मुनिको देखकर उस बालकको पूर्वभवका स्मरण हो आया। तब उस बालकने मुनिको नमस्कारकर

उनसे दीक्षा ली और तपश्चरण किया। आयु पूर्ण होनेपर पुण्योदयसे वह कौंडेश राजा हुआ जो बड़ा ही वीर और मनोज्ञ था एक दिन राजा कौंडेशको वैराग्य उत्पन्न हुआ। सो उसने मुनि दीक्षा ग्रहण की। आत्माके गुणोंके चिन्तनमें उपयोगको जोड़ दिया और तपश्चरणके प्रभावसे तथा पूर्वभवोंमें शास्त्रदान देनेके प्रभावसे वह श्रुत केवली हो गया। श्रुत केवलीको समस्त द्वादशांग श्रुतका ज्ञान होता है और वह श्रुत कवल कुछ ही भव धारण करके निर्वाणको प्राप्त करता है, तो ज्ञानदानका ऐसा अद्भुत प्रभाव जानकर ज्ञानदानमें अपने तन, मन, धन, वचनका प्रयोग करना चाहिए। इस ज्ञानदानके प्रभावसे निकटकालमें ही वह पुरुष केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पाता है। श्रावकका अभयदान करना भी कर्तव्य है। जीवोंको निवासका स्थान देना, कोई विपत्ति आये उसे दूर करना यह सब अभयदान कहलाता है।

अभयदानमें प्रसिद्ध जंगली शूकरराजकी गुरुभक्ति—अभयदानमें एक जंगली सुवरकी बड़ी प्रशंसा गायी गई है। घटना ऐसी है कि मालवदेशमें घट नामका एक गांव था, वहां एक नाई और एक कुम्हार रहते थे। नाईका नाम धर्मिल और कुम्हारका नाम देवल था। वे दोनोंही धनिक भी थे। सो दोनोंने मिलकर एक धर्मशाला बनवा दी। एक दिन देवल कुम्हारने एक मुनिराजको लाकर उसी धर्मशालामें ठहरा दिया और आप घर चला गया। जब धर्मिलको यह मालूम हुआ तो उसने मुनिका हाथ पकड़कर निकाल दिया और एक पाखण्डी साधुको धर्मशालामें ठहरा दिया। देवलने जब मुनि महाराजको धर्मशालासे निकालनेका वृतान्त सुना और मुनिराजका अपमान सुना तो उसे बड़ा दुःख हुआ। मुनिराजने तो कुछ भी बुरा नहीं माना वे तो शान्तचित्त ही रहे और वहांसे चलकर वे एक वृक्षके नीचे पहुंचकर ध्यानमें लीन हो गए। वहां डॉस मच्छरोंने उन्हें बहुत पीड़ा दी और मुनिराजने बड़ी धीरतासे उस पीड़ाको सहन किया। देवलने जब यह सब वृतान्त जाना और मुनिराजको एक वृक्षके नीचे ध्यान करते पाया तब उसे धर्मिल पर बड़ा क्रोध आया। धर्मिलको उसने खूब डांट लगाया, पर धर्मिल भी देवलकी फटकार न सहन कर सका, सो उनमें आपसमें लड़ाई बन गई, दोनोंकी मारपीट हुई और आपसमें वे दोनों लड़ लड़कर मर गए। देवल कुम्हार तो मरकर एक जंगली सुवर हुआ और धर्मिल नाई उसी जंगलमें बाघ हुआ। पहाड़की जिस गुफामें सुवर रहता था उसमें समाधिगुप्ति और त्रिगुप्ति दो मुनिराज आकर ठहर गए। सुवरने मुनिराजके दर्शन किया तो उसे पूर्वजन्मकी सब बात याद आयी। उसने मुनिके चरणोंमें नमस्कार किया और उनके दर्शन उपदेश पाकर श्रावकके व्रत ग्रहण किया। अब धर्मिलका जीव जो बाघ हुआ था वह मनुष्योंकी गंध पाकर गुफाकी ओर आया और चाहा कि मैं इन दोनों मुनियोंको खा लूँ, पर वह सुवर गुफाके द्वार पर आकर खड़ा हो गया। बाघको न जाने दिया। दोनोंमें लड़ाई हुई। बाघने सुवरको नखोंसे, दांतोंसे खूब घायल कर दिया और सुवरने भी उसे अधरमरा बना दिया। अन्तमें दोनों मर गए। दोनोंके भावोंमें बड़ा अन्तर था। सुअरके भाव तो मुनिकी रक्षा के थे और प्राण रहते तक उनकी रक्षा की। इसमें सुवरका जीव तो स्वर्गमें देव हुआ और बाघका भाव मुनिके भक्षणमें था। वह मरकर नरक गया। सो सो जीवोंकी रक्षा करता है, अभयदान देता है वह कर्मबन्धनसे छूटकर मुक्त होता है और सदाके लिए निर्भय हो जाता है।

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणं।
कामदुहि कामादाहिनी परिचिनुयादाहतो नित्यम्॥ ११९॥

श्रावकका प्रतिदिवस देवालयमें देव परिचरणका कर्तव्य—वैयावृत्य नामके शिक्षाव्रतमें मुख्य वर्णन अतिथि सम्विभागका था याने मुनि, क्षुल्लक, ऐलक, गृहत्यागी, ब्रह्मचारीजनोंको उनके योग्य आहार, शास्त्र औषधि, अभयदान करना यह श्रावकोंका वैयावृत्य है। मुख्य वर्णन करनेके बाद अपने आत्मकल्याणके अर्थ देवपूजाका भी कर्तव्य बता रहे हैं। जो देवाधिदेव हैं अर्थात् देवोंके भी अधिदेव हैं, जिनके चरणोंमें बड़े-बड़े इन्द्र भी नमस्कार करते हैं, ऐसे अरहंत देवके चरणोमें आदर पूर्वक नित्य ही पूजा आदर करना चाहिए। इस जीवको मोक्ष मार्गके लिए मुख्य कर्तव्य है कि अपने आत्माके सहज स्वरूपकी दृष्टि करे। मैं वास्तवमें क्या हूं, मेरा सहज स्वरूप क्या है? ज्ञानमात्र अमूर्त। इस अमूर्त ज्ञानमात्र तत्त्वका निरन्तर ध्यान रखें, किन्तु गृहस्थावस्थामें यह बात नहीं निभ पाती है क्योंकि उसे आजीविकाके अनेक कार्य लगे हैं, आरम्भ लगे हैं, तो वहां उपयोग भ्रमता रहता है। तो ऐसी स्थितिमें रहने वाला गृहस्थ किसी आलम्बनसे ही धर्म कार्य कर सकता है। जैसे मुनिजन बिना अन्यके आलम्बनके अपने आत्माके आलम्बनसे ही ध्यान बनाये रहें इसमें समर्थ हैं उस भांति गृहस्थ समर्थ नहीं हैं कि वे परमात्माकी मूर्ति, शास्त्र आदिकके आलम्बन बिना अपना धर्म साधन कर सकें। मुनिजन भी सहज कहीं मंदिर मिले तो वहां वे प्रभुकी उपासना करते हैं पर उन्हें आवश्यक नहीं है कि मुनिजन प्रतिदिन मंदिर ढूढें ही और दर्शन करें ही, क्योंकि उन्हें अपना आत्मस्वरूप दृष्टिगत हुआ है, और खुद उनका जिनलिङ्ग रूप है, पर गृहस्थको जो कि अनेक बाधावोंमें रहता है उसका तो यह आवश्यक कर्तव्य है कि जिनेन्द्र देवकी मूर्तिके समक्ष अपना धर्मध्यान बनायें।

प्रभुदेहकी स्फटिकमणिसंकाशता—प्रभु अरहंत कैसे हैं? साक्षात् देखनेमें जो उनका देह आता है वह परमौदारिक शरीर है। यहांके मनुष्य तिर्यञ्चोंकी नाई उनके शरीरमें धातु कुधातु नहीं हैं किन्तु स्फटिकमणिकी तरह स्वच्छ उनका देह है। यही तो कारण है कि भगवानके शरीरकी छाया नहीं पड़ती। जैसे स्फटिकमणिकी प्रतिमा हो तो उसकी छाया नहीं पड़ती, कांच भी बहुत निर्मल हो तो उसकी छाया नहीं पड़ती, स्फटिकमणिके समान स्वच्छ, उस शरीरकी भी छाया नहीं पड़ती। तो प्रभुका देह स्फटिक मणिके तुल्य है, उनका देह पहले गृहस्थावस्थामें अपवित्र था। अनन्त निगोद जीवोंसे भी भरा था, पर निगर्ग्रन्थ दिगम्बर हुए बाद आत्माका ध्यान करनेके प्रसाद से श्रेणीमें चढ़े और जिस क्षपक श्रेणीमें चढ़कर १२वें गुणस्थानमें पहुँचे तो वहां एकत्ववितर्क अवीचार शुक्ल ध्यानके माहात्म्यसे उनके शरीरमें निगोदराशि अब नई नहीं पैदा होती, गुणहानिके हिसाबसे उनका जन्म रुकता है, मरण बराबर चलता रहता है तो अन्तमें ऐसी स्थिति आती है कि उस शरीरमें निगोदराशि बिल्कुल नहीं रहती और उसही ध्यानके प्रतापसे ये धातु कुधातु भी अपने मलको छोड़ देते हैं और स्फटिकमणिकी तरह देहहो जाता है।

अच्छा बुरा देह पानेकी अपने भावोंपर निर्भरता—जिन जीवोंको आज देह उत्तम मिला है, निरोग मिला है, सुन्दर मिला है तो यह किसका माहात्म्य है? पूर्वजन्ममें विशुद्ध परिणाम किया था

उसका माहात्म्य है कि उस प्रकारका कर्मबन्ध हुआ और शुभ कर्मके उदयमें उत्तम शरीर मिला। तो अपना सारा भविष्य अपने भावों पर आधारित है। भले ही आजका प्रोग्राम हमारे हाथ नहीं है मगर भविष्यका प्रोग्राम हमारे हाथ है। आज जो कुछ हो रहा है वह पूर्वजन्मकी करनीके फलमें हो रहा है और भविष्यमें जो होगा वह आजकी हमारी क्रिया करनीके फलरूप होगा। तो हम कैसे बनें संसारमें? धनी, राजा, देव बनें या दीन हीन दरिद्र दुःखी बनें, यह सब मेरे भावोंपर निर्भर है। अथवा संसारकी समस्त पदवियोंको त्यागकर सिद्ध प्रभु बनें, वह भी हमारे भावोंपर आधारित हैं। इसी कारण आज बड़ी जिम्मेदारी है कि हम चाहें तो अपने कल्याणका मार्ग बना सकते हैं। और चाहें तो अधोगतिमें गमनका साधन बना सकते हैं। भैया, जो समागम आज मिला है वह मूर्छा, ममत्व करने लायक नहीं है। जो यहां कुटुम्बमें, धन-वैभवकी मूर्छामें मोह करेगा उसके अधः पतन है। यह कुटुम्ब कब तक साथ देगा? इस जीवनमें भी साथ नहीं दे सकता है, फिर मरणपर तो साथ देनेका प्रश्न ही नहीं है, फिर किसके लिए किसकी ममतामें आकर अपने आत्माका बिगाड़ किया जाय? अपना आत्मभाव परमात्माके ध्यानमें रहे, गुरुजनोंकी सेवामें रहे और अपने स्वरूपके ज्ञान ध्यानमें रहे, गृहस्थीमें रहता हुआ भी मुख्य लक्ष्य यह ही होना चाहिए, बाकी आजीविका आदिका अपने समयपर कर्तव्य निभायें।

निर्वाञ्छ प्रभुपूजाकी उत्कृष्ट पुण्य साधनता—अरहंत प्रभु जो अनन्त आनन्दसे सम्पन्न हैं वे चार घातिया कर्मोंसे रहित हैं। धर्मके नामपर लोग अनेक प्रकारकी चेष्टायें करते हैं इस लक्ष्यको लेकर कि मेरा धन सम्पदा अच्छी रहे, मेरे जीवनमें कोई कष्ट न आये, ऐसी लौकिक बातोंका उद्देश्य बनाकर करते हैं, पर ऐसा सोचनेसे न यहांके रहे न वहां के रहे। मोक्षमार्गका तो वह पुरुष रहा ही नही। और यहां ऐसा सोचनेसे मिल जाय सो होता नहीं, बल्कि वहां धर्म ही नहींहो रहा, क्योंकि चित्त फंसा है इसमें कि हमें धन सम्पत्ति विभूति मिले, यश मिले, नेतागिरी मिले, अनेक प्रकारके ठाठबाट मिलें। जब लौकिक वैभवमें चित्त पड़ा हुआ है तो उसके निरन्तर मिथ्यात्व चल रहा है और मिथ्यात्वके वातावरणमें, मिथ्यात्वके आशयमें पुण्य भी नहीं प्राप्त होता है और एक निर्वाञ्छक होकर व्यवहार चलानेके लिए, जीवन चलानेके लिए ऐसा निर्णय रखकर कि मेरी जो स्थिति होगी उन सब स्थितियोंमें मैं अपना गुजारा कर सकता हूं, किन्तु जीवन मेरा धर्मके लिए ही है धर्मके प्रतापसे इस भवमें भी सम्पन्नता रहती है, भविष्य भी उज्ज्वल रहता है। तो प्रभु अरहंत देवका ध्यान एक बहुत बड़ा पुण्यका बंध करने वाला है। ऊंचा से ऊंचा पुण्य बंध उस जीवके होता है जो देव, शास्त्र, गुरुकी पूर्ण भक्ति सहित आराधना करते हैं। बड़ेसे बड़े पुण्यका कारण अन्य कुछ नहीं हो सकता, पुण्यके और भी साधन हैं, परवे सब अल्पपुण्यके साधन हैं। ऊंचे पुण्य साधन देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति है। अरहंत प्रभु ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंसे रहित हैं। इन्होंने प्रथम मोहनीय कर्म नाश किए, उसमें भी दर्शन मोहनीयका नाश किया, सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंका विनाश किया।

सम्यक्त्वलाभ आत्मकल्याणका सुनिश्चित प्रथम सोपान—आज जो भी गृहस्थजन हैं वे यद्यपि पूर्ण संयम धारण नहीं कर सकते तो भी सम्यक्त्व प्राप्त करलें यह ही उनके लिए बहुत ऊंची बात है, और सम्यक्त्वकी प्राप्ति तपश्चरणसे ही हो सो बात नहीं है। यह तो ज्ञानसाध्य बात है। आत्माके सही

स्वरूपका ज्ञान बनायें और उस ज्ञानसे जो समझ बनेगी उसमें जो आनन्द मिलेगा उसमें ही संतुष्ट होनेका भाव रखें तो एक आत्माकी धुन बनेगी और इस धुनमें बाह्य पदार्थोंका विकल्प छूटकर एक सेकेण्ड आधे सेकेण्डको भी इससे भी कम समयको यदि आत्माके स्वरूपमें दृष्टि लग गई तो सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो लेगा। जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है उसे ही परमात्माके सही स्वरूपकी सुध हो सकती है। जैसा यह मैं हूं स्वरूपमें ऐसा ही जिसका पूर्ण विकास हुआ है वह कहलाता है भगवान। जिसको अपने स्वरूपका पता नहीं उसे भगवानके स्वरूपका भी सही पता नहीं। वचनोंसे भले ही कहलें कि घातिया कर्म रहित हैं, केवलज्ञानी हैं, वीतराग हैं सारी बातें ये ऊपरसे वचन निकल जायेंगे, मगर भीतरमें भगवानका स्वरूप न समा पायगा कि वास्तवमें भगवानका स्वरूप यह है। चूँकि आत्मा-आत्मा सब एक समान हैं। प्रभुका आत्मा, मेरा आत्मा स्वरूपदृष्टिसे एक समान है, इस कारण स्वरूपकी खबर होनेसे प्रभुके स्वरूपका भी प्रकाश हो जाता है।

स्वरूपसाम्यकी उपासनापूर्वक प्रभुकी आराधनाकी महिमा—प्रभुकी पूजा करें, पर निर्वाञ्छक होकर करें, कोई चाह चित्तमें न रखें, केवल एक मोक्षमार्गके नातेसे प्रभुकी पूजा करें। हे प्रभो, जिस उपायको करके आपने सदाके लिए संसारका संकट दूर किया उसी मार्गको मैं अपनाऊं और संसारकी इन सारी विडम्बनाओंको भूल जाऊं, अपने आपमें अपने सहज चैतन्यस्वरूपका स्पर्श करके पवित्र बन लूँ बस प्रभु यही भावना है। पूजन करके पूजन करते समय यदि कुटुम्ब वैभव आदिकका ही ख्याल रखा तो बतलावो यह कुटुम्ब वैभव कुछ उसकी मदद कर सकेगा क्या कभी? मरण समयमें यह साथ जा सकेगा क्या? फिर क्यों इतना अधिक लगाव हो कि प्रभुकी पूजा करके भी सम्पदा हीके विकासका ध्यान रखें, परपदार्थोंका ही ख्याल बनाये रहें, ऐसे अधिक मोहको तो धिक्कारना चाहिए। देखिये मोहकी परीक्षा अन्य अन्य प्रसंगोंमें भी होती है मगर एक परीक्षा धर्मके प्रसंगमें भी होती है। धर्म करके यदि उसके फलमें कोई कुटम्ब धन आदिकका विकास होना चाहता है तो समझिये कि उसे तीव्र मोह है, जबकि निर्मोह वीतराग प्रभुके सामने मोहकी बात सोच रहा है। पूजाका सच्चा अधिकार ज्ञानी सम्यग्दृष्टिको है अथवा विवेकी पुरुषोंको। धर्मके एवजमें रंचमात्र भी बाहरी सम्पदाके लाभका विचार न करना चाहिए। केवल एक मेरे स्वरूपका कैसे विकास हो। कैसे मैं निश्चित होऊं, कैसे मैं निशल्य होऊं, और कैसे मैं निर्विकल्प होऊं और ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, यह मेरी स्थिति बने, इसी प्रयोजनसे प्रभुकी पूजा करे सों प्रभु पूजामें प्रभुकी ओर ध्यान होगा और अपनी ओर ध्यान होगा, बारबार अपने स्वरूपकी ओर आयगा, प्रभुके गुणोंके स्मरणमें आयगा। तो बड़े हुए हैं और धार्मिक सत्सागम मिले हैं तो ऐसा भीतरमें ज्ञान प्रकाश रखना चाहिए कि धर्मके एवजमें केवल धर्मकी प्राप्ति ही चाहें। धर्म मायने आत्माका स्वरूप, स्वभाव, ज्ञाताद्रष्टा मात्र रहना, यह ही चाहें, अन्य कुछ न चाहें, फिर देखिये इस जीवनमें भी कैसी शान्ति मिलती है और भविष्यमें भी कितनी शान्ति मिलती है।?

प्रभुगुणस्मरणकी संसारसंकटहारिता—देवाधि देव अरहंत प्रभुके चरणोंका पूजन समस्त विषयोंको नाश करने वाला है, इन्द्रियके विषयोंकी कामना को नाश करने वाला है और मोक्ष मार्गको बढ़ाने वाला है निर्वाणके निकट ले जाने वाला है, ऐसा आत्मस्वरूपका और प्रभुकी भक्तिका धुनिया

होना चाहिए। अन्य समयपर भले ही विकल्प आयेंगे। आजीविकाके समय पर अनेक प्रसंग घटनायें आयेंगी और उन समस्यावोंका सुल्झेरा भी करना होगा मगर जब धार्मिक कर्तव्य करें उस समय बाहरी बातोंकी रंच भी इच्छा न करना चाहिए। यदि कोई ऐसा भाव रख सकें प्रभुके दर्शनमें, प्रभुके पूजनमें, धार्मिक कार्योंमें तो उससे आत्माका कल्याण होगा। और आत्माके स्वरूप दर्शनके उद्देश्य बिना बाहरी वैभवकी वाञ्छा लेकर धर्म कार्य करें तो कदाचित धनी भी हो जायें अगले भवमें, इस भवमें तो वे भी उस धन सम्पदाको पाकर धर्ममें चित्त नहीं लगा सकते। जैसे अनेक लोगोंका यह कहना रहता है कि अमुक आदमी जब गरीब था तब तो धर्ममें बहुत चित्त देता था मगर धनिक हो जानेपर अब मंदिर भी नहीं आता। तो ऐसी स्थिति उसकी होती है कि जिसने पहले धर्म नहीं किया किन्तु बाहरी धर्म किया और सांसारिक इच्छाके लिए किया। वह पुरुष कदाचित् पूर्व पुण्य योगसे या वर्तमान कुछ योगसे सम्पदा भवानी हो जाय तो उसके चित्तमें फिर धर्मबुद्धि नहीं रहती। अपने आपके बारेमें चिन्तन करिये कि मैं बहुतकाल संसारी रागी द्वेषी मोही जीवोंको देव मानकर रहता रहा। और उस आराधनामें घोर मिथ्यात्वका बंध किया जिसके फलमें संसारमें अब तक घूमता रहा। यदि मैं कभी वीतराग प्रभुकी आराधना करता तो मोक्षमार्गमें बढ़कर कभी निर्वाण ही प्राप्त कर लेता।

प्रभुपूजामें प्रभुसम निर्विकार होनेकी भावनाका महत्त्व—आज भी वीतराग प्रभुका शासन मिला है, इस शासनमें यदि सांसारिक वाञ्छायें रखीं और उसके लिए ही प्रभुकी पूजाकी तो समझो कि हमने प्रभुको रागी द्वेषी बना डाला। हे भगवान मेरा ऐसा काम हो जाय, आप ऐसा काम कर दो, ऐसी वाञ्छा रखें तो समझो कि हमने उन्हें रागी द्वेषी बनाया। रागी द्वेषीका अर्थ क्या है कि इस भक्तने वीतराग प्रभुके आगे बंदना करके भी उनको कुदेवका स्वरूप बना डाला। कुदेव वे भगवान नहीं हुए मगर इसने अपनी मान्यतामें भगवानको उन रूपोंमें देखा जिन रूपोंमें कुदेव हुआ करते हैं। प्रभुका शासन मिला तो प्रभुका असली सही स्वरूप समझें, अपना स्वरूप समझें और इस नातेसे प्रभुका पूजन करें तो उसके फलमें जब तक संसारमें रहना है तब तक भी यह सम्पन्न रहेगा। और यह सम्पन्नता तो पूजाका फल नहीं है, प्रभु वीतराग धर्मके सेवनका फल नहीं है: यह तो शुभ रागका फल है। पर वास्तविक प्रभु पूजासे, अभेद आत्मपूजासे निर्वाण मिल जायगा। तो क्यों जरासी बातोंमें हम अपने चित्तको फंसाकर मलिन करें? संसारके समागमोंको पुण्य पाप कर्मके उदयपर छोड़ दें, जैसा होना है होगा, जो प्रभुने देखा है सो होगा, प्रभुने वह देखा है जो होगा। तो जो होनेका है सो होगा, वैसे योग मिलेंगे, पर मैं अपने भावोंको बाह्यमें फंसाकर संसारमें क्यों जन्म मरण करनेका एक उपाय बनाऊं? प्रभु पूजा करें बहुत शुद्ध भावोंसे, केवल एक ही कामना रखकर कि मैं बस सिद्ध पद चाहता हूं। समस्त संसार संकटोंसे मुक्त होना चाहता हूं। जन्म मरणसे रहित होना चाहता हूं। केवल एक ही आशयसे प्रभु पूजा हो।

बाह्य मंगलके आलम्बनसे परमात्मत्वकी आराधना—कोई एक आशंका कर सकता है कि प्रभु तो मंदिरमें हैं नहीं, वे तो मोक्षमें विराजे हैं और वे वहांसे आकर मंदिरमें या प्रतिमामें या कहीं प्रवेश करते नहीं, ऐसा कभी कभी किन्हीं लोगोंके चित्तमें आता भी होगा, फिर यह साधन क्यों बनाया

जाता है? समाधान इसका यह है कि वास्तवमें प्रभु भी सामने हों तो प्रभुको कोई पूज नहीं सकता। वस्तुका स्वरूप यह है कि अपने आपकी परिणति अपने आत्म प्रदेशोंसे बाहर नहीं जाती। समवशरणमें भी प्रभु सम्मुख रह कर भी भक्त अपने विचारसे पवित्रता लाकर प्रभुके स्वरूपका ध्यान धरकर अपने ही भावोंमें निर्मलता बनाता रहता है और निश्चयसे वह अपने ही इस ज्ञानगुणको पूज रहा है। तो मंदिरमें प्रभुभक्तिके अनुरागके कारण मूर्तिमें प्रभुकी स्थापना करके यहां पर भी वह अपने ज्ञानगुणको ही पूज रहा है, एक आलम्बन है और वस्तुतः प्रभुके गुणोंका जो आकार झलका है उस झलकको ही भक्त पूजता है, और चूँकि वह झलक प्रभुके गुणोंके अनुरूप है इसलिए प्रभुके गुणोंकी पूजा ही कहलाती है। तो अपने परिणाम निर्मल रखनेके लिए ये मंदिर ये मूर्ति आलम्बन हैं। मूर्तिमें जिनेन्द्र देवकी स्थापनाकी है। मूर्तिमें मुद्रा निरखकर ध्यानमें स्थित देखकर हम अपने भावोंमें निर्मलता ही पाते हैं, सो यह आलम्बन युक्त है। यहां इस आलम्बनमें होकर भी केवल यह उद्देश्य होना चाहिए कि मेरे स्वरूपका विकास हो, मुक्तिका मार्ग मिले, विकल्प विडम्बनाके झंझट छूटें, केवल इस ही उद्देश्यसे प्रभुकी पूजा हो और अपने स्वभावका स्पर्श होता रहे यह है प्रभु पूजाका वास्तविक उद्देश्य।

श्री जिनविम्बके समक्ष जिनगुण स्मरणका उद्यम—श्रावकोंका देवपूजा करना कर्तव्य है, उस सम्बन्धमें चर्चा चल रही है। कोई ऐसी आशंका करे कि प्रतिमा तो अचेतन है, प्रभु मोक्षमें विराजमान हैं, वे यहां बुलानेसे आते नहीं हैं, फिर जिनविम्ब पूजनेका अर्थ क्या है? तो इस विषयमें कुछ लौकिक बातोंको देखिये यदि किसीके पिताका फोटो हो तो फोटो तो स्याही है, कागज है। जो पिता गुजर गया वह वहांसे यहां नहीं आता है, इतनी बात सत्य है तो भी यदि कोई उस फोटोको फेंक दे, नालीमें डाल दे तो उस पर आप नाराज क्यों होते हैं, बिगड़ा क्या? अरे यदि कोई उस फोटोको देखकर प्रसन्नता जाहिर करे तो आपको उसपर अनुराग होता है, तो जैसे बाह्य पदार्थ आश्रयभूत होता है भावोंके, इसी प्रकार जिनविम्ब भी हमारे शुभ भावोंका आश्रयभूत है। दूसरी बात—जब लोकमें अकृत्रिम चैत्यालय भी हैं तो यह तो अनादिसे रीति चली आयी है कि जिन विम्व हो। इतना अन्तर है कि जो अकृत्रिम चैत्यालय है वह किसी तीर्थंकरकी मूर्ति नहीं है, वह अरहंतका ही प्रतिविम्ब है। तो जिनविम्बमें प्रभुकी स्थापना किया हुआ श्रावक वहां जिनेन्द्र देवका स्तवन करता है। कोई प्रतिमाको पूजता नहीं, किन्तु प्रतिमामें स्थापना कर जिनेन्द्र देवको पूज रहा है। तो कोई लोग तो सिर्फ भाव पूजा कर लेते हैं स्तवन करके, गुणानुवाद करके, कोई लोग द्रव्य पूजा कर लेते हैं तो जैसे कोई राजा महाराजा पुरुषके दर्शन करने कोई प्रजाके लोग आते हैं, कोई सेठ आदिक आते हैं तो अपनी-अपनी शक्ति अनुसार उस राजाके आगे कुछ भेंट चढ़ाते हैं, न्यौछावर करते हैं, तो वह कहीं राजाको दान करना नहीं कहलाया, यह तो एक भक्ति प्रदर्शन करना कहलाया, और जो न्यौछावर उस राजाको प्राप्त होता उसे राजा रखता नहीं। वह तो याचकोंको बांट देता है। तो ऐसे ही यहां जो कोई कीमती कम कीमती जो द्रव्य चढ़ाता है प्रभुको तो वह प्रभुकी भक्ति है, वह अनुराग है। यहां इतना विवेक रखना चाहिए कि प्रभुको जो द्रव्य चढ़ाया उसमें हिंसा न होती हो। एकेन्द्रियकी हिंसा भी न हो और दो इन्द्रिय आदिक कीड़ोंकी हिंसाके

बचावका तो पूरा ध्यान रखें। ऐसी कोई चीज न चढ़ायें जिसमें कीड़े झड़ सकते हों या बहुत देर तक रखे रहनेपर उसमें कीड़े उत्पन्न हो जायें ऐसा कोई द्रव्य न चढ़ायें।

जिनबिम्बमें नव देवतावोंका दिग्दर्शन—प्रभुके जिनविम्बके पूजनमें जो देवता माने गए हैं उनका सत्कार हो जाता है। अरहंत सिद्धके प्रतिरूप हैं। सिद्ध होने वाले हैं या सिद्ध हो चुके हैं उन सिद्ध हुए तीर्थंकरोंका तीर्थंकरकी मुद्रामें प्रतिविम्ब बनाते हैं तो इसमें सिद्ध आये, अरहंत आये और वही मुद्रा आचार्य, उपाध्याय, साधुकी है। वे उसी मुद्रामें जिनधर्मरूप हैं, उनके वचन दिव्यध्वनि हैं। वे ही रत्नत्रयके धर्मरूप हैं। वे जहां विराजे हैं वही देवालय हैं, साक्षात् जिनविम्ब है। तो एक जिनविम्बके समक्ष प्रभुका गुणानुवाद करने वालेके ९ देवताओंका सत्कार होता रहता है।

अकृत्रिम चैत्यालयोंके वर्णनका प्रारम्भ—अब अकृत्रिम चैत्यालयोंका स्मरण करें, जो अभी बताये जायेंगे, वे अनादिसे इस ही रूप बने, उनमें अनेक परमाणु आते हैं, अनेक परमाणु वहांसे खिरते हैं तो भी वज्रमयी वे सब रचनायें ज्योंकी त्यों बनी हुई रहती हैं। ये अकृत्रिम चैत्यालय कहां-कहां हैं? उर्द्धलोकमें हैं, मध्यलोकमें हैं, अधोलोकमें हैं। अधोलोकमें केवल इस पृथ्वीके तीन भागोंमें ऊपरके दो भागोंमें हैं। नीचेका तीसरा भाग तो प्रथम नरक रूप है, वहां नहीं उससे नीचे नहीं, किन्तु इस पृथ्वीमें जिसपर हम आप चलते हैं यह अधिक मोटी है और उसके नीचे तीन भाग हैं ऊपर नीचे, जिसमें दो ऊपरके भागोंमें भवनवासी और व्यन्तर देवोंका निवास है वहां चैत्यालय हैं। ढाई द्वीपमें चैत्यालय हैं, यहां भी चैत्यालय हैं। जैसे १३ द्वीपका विधान करते हैं तो १३ द्वीप तकजो चैत्यालय हैं, जिनविम्ब हैं उनका वहां पूजन किया जाता है। इसी मध्यलोकमें ही जो सूर्यचन्द्र आदिक विमान हैं इनमें भी अकृत्रिम चैत्यालय हैं, ऊर्द्धलोकमें स्वर्गोंमें जो विमान हैं और ऊपर भी जो विमान हैं उनमें अकृत्रिम चैत्यालय हैं, वे कितने हैं पहले उनकी संख्या जानें।

अधोलोकमें अकृत्रिम चैत्यालयोंकी संख्या—ये अकृत्रिम चैत्यालय संख्यामें बंध जायें सो बात नहीं। बतायी गई है करोड़ोंकी संख्या, पर उनके अतिरिक्त अन्य भी अनगिनते चैत्यालय हैं। जो ज्योतिषी देवोंके विमानोंमें और व्यन्तरोंके निवास भूमिमें हैं उनकी गिनती नहीं बतायी गई हैं। किन्तु जिनकी गिनतीकी जा सकती है उनकी ही गणना है। अधोलोकमें ७ करोड़ ७२ लाख भवनवासी देवोंके भवन हैं, उनके भवन अकृत्रिम हैं। बड़ा विशाल हैं, उन्ही भवनोंमें विशाल चैत्यालय भी हैं। उन चैत्यालयोंका जब प्रमाण जानेंगे, ऐसे चैत्यालय जिस भवनमें हों उस भवनका प्रमाण खुद समझ जायेंगे कि कितना प्रमाण हो गया। वे भवन कितने ही तो असंख्याते योजनके विस्तार वाले हैं, करोड़ों योजनके विस्तार वाले हैं। एक योजन ४ कोशका होता है। उस प्रमाणसे अनगिनते कोशोंके प्रमाण वाले वहां वे भवन बने हुए हैं। जिसके ऊपर हम आप विचरते हैं यह पहली पृथ्वी इतनी विशाल है कि जिसके ऊपर असंख्याते द्वीप समुद्र पड़े हैं जिनमें बीचका जम्बूद्वीप एक लाख योजनके विस्तारका है उससे दूने-दूने एक-एक तरफ समुद्र और द्वीप चले गए हैं और वे हैं अनगिनते। इतने पर भी वह भूमि पूरी नहीं होती थोड़ा हिस्सा फिर भी बचता है। इतनी बड़ी पृथ्वीके ऊपरी दो खण्डोंमें असंख्याते योजनके विस्तार वाले ये लाखों भवन समाये हुए हैं। आज लोगोंने १०—२० हजार मीलकी लम्बाई

वाली सारी दुनिया मान रखी है, जितना पता पड़ा है, जहां तक गति है, उतना ही मान लिया और जो आंखों नहीं दिखता उसको नहीं मानते मगर जैन शासनमें जो भू वलयकी रचना बतायी है उससे यह पृथ्वी असंख्याते मीलोंकी है। तो इस पृथ्वीके नीचे जो भवनवासियोंके भवन हैं उन प्रत्येक भवनोंमें एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है। ऐसे अधोलोकमें ये भवन कुछ संख्याते योजनके हैं कुछ असंख्याते योजनके हैं। तो एक-एक भवनमें असंख्याते भवनवासी देवोंके द्वारा वंदनीय एक-एक चैत्यालय हैं। वे चैत्यालय कैसे हैं कि एक विशाल मंदिर सारिखे हैं। यहां तो यह प्रथा है कि जिस मंदिरमें शिखर न हो उसे चैत्यालय कहते और जिसमें शिखर हो उसे मंदिर कहते। तो ऐसे ७ करोड़ ७२ लाख जिनमंदिर हैं, इसके अतिरिक्तजो भवन व्यन्तरोंके रहनेके स्थान हैं उनकी गिनती यहां नहीं बतायी गई। वे गिनतीसे परे हैं, ज्योतिषी देवोंके विमानोंमें भी चैत्यालय हैं। वे गिनतीसे परे हैं, उनकी गिनती नहीं बतायी गई।

मध्यलोकमें एवं ऊर्ध्वलोकमें अकृत्रिम चैत्यालयोंकी संख्या—अब मध्यलोकमें कितने जिनमंदिर हैं अकृत्रिम उनका स्मरण करें। मध्यलोकके बीचों बीच ढाई द्वीप हैं, ढाई द्वीपमें ५ विदेह हैं, ५ मेरुपर्वत हैं, बीचमें। जम्बूद्वीपके मध्य है एक मेरु, उसको घेरे हुए है लवणसमुद्र। और उसको घेरकर है दूसरा द्वीप। उस द्वीपमें पूर्वकी ओर एक मेरु, पश्चिमकी ओर एक मेरु, ऐसे दो मेरु हैं और उस द्वीपको घेरकर है दूसरा समुद्र, उसे घेरकर है पुष्करद्वीप। उस तीसरे द्वीपमें बीचोंबीच मानुषोत्तर पर्वत पड़ा है, जिसके कि आगे मनुष्योंकी गति नहीं होती। तो मानुषोत्तर पर्वतसे जम्बूद्वीपकी ओरके आधे भागमें धातकी खण्ड जैसी रचना है, वहां दोनों ओर दो मेरु हैं। ऐसे ५ मेरु हैं और उन ५ मेरुवोंके नीचे जो बन हैं वहां चारों ओर एक-एक मंदिर है। उसके ऊपर एक वन है वहां भी चार मंदिर हैं। उसके ऊपर भी वन है, वहां भी चार हैं और आखिरी बन पाण्डुक बन है वहां भी चार हैं। ऐसे एक मेरुके १६ जिन मंदिर हैं। ५ मेरुवोंके ८० जिन मंदिर अकृत्रिम हैं। उन मेरु पर्वतके मूल भागमें चारों ओर कुछ हिस्से तक दो उत्तम भोगभूमि हैं। जिनके नाम हैं देवकुरु और उत्तरकुरु। तो मेरुके चारों ओर एक-एक गजदंत पर्वत है, उन पर्वतोंका आकार ऐसा है जैसे हाथीके दांत हों। इसी कारण गजदंत नाम रखा है। प्रत्येक गजदंत पर एक-एक जिनमंदिर है, जो आप १३ द्वीपका माड़ना बिछाते हैं उस चित्रको ध्यानमें रखें, एक मेरुके चार-चार गजदंत हैं, सो चार जिनालय हैं। यो ५ मेरु गजदंतों पर ४ × ५ = २० जिनमंदिर हैं और जिस जम्बूद्वीपके ७ क्षेत्रोंका विभाग ६ पर्वतोंने किया है, जिनका नाम है कुलाचल, उन ६ पर्वतों पर एक-एक जिन मंदिर है। ऐसे जम्बूद्वीपमें ६, धातकी खण्डमें १२, पुष्करार्द्धमें १२, यो ३० जिन मंदिर ये हैं। विजयार्द्धपर्वत जैसे इस भरतक्षेत्रमें है, बीचों बीच पड़ा है, जिसके कारण भरतक्षेत्रके ६ खण्ड हो गए हैं। प्रतिनारायण नारायण जिसे अर्द्धचक्री कहते हैं वह तीन खण्डका राजा होता है और चक्रवर्ती छह खण्डका मालिक होता है। तो यों जैसे भरत क्षेत्रमें बीचों बीच विजयार्द्ध है ऐसे ही ऐरावत क्षेत्र में है और विदेह क्षेत्रमें भी जो एक-एक विदेहमें ३२-३२ नगरी है, वे नगरी क्या हैं, भरत क्षेत्रसे भी बड़े विस्तार वाला क्षेत्र है। उनमें भी एक-एक विजयार्द्ध पड़ा है। तो ऐसे ५ विदेहोंके १६० विजयार्द्ध ५ भरतके ५ विजयार्द्ध, ५ ऐरावतके ५ विजयार्द्ध यों १७० विजयार्द्धपर एक-एक

जिनमंदिर है। यों १७० जिनमंदिर ये हुए। ढाई द्वीपमें देवकुरु ५, उत्तर कुरु ५। प्रत्येक मेरुके पास हैं उन क्षेत्रोंमें एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है सो १० ये हुए। विदेह क्षेत्रों देशका विभाग करने वाले वक्षार गिरि है। एक-एक विदेहके सीता सीतोदा नदी होनेके कारण ४-४ भाग हैं एक-एक भागमें ४-४ वक्षार हैं यों १६ × ५ = ८० वक्षार गिरि पर एक-एक चैत्यालय है सो ८० ये हुए दूसरे द्वीपमें और तीसरे द्वीपमें जो कि गोल हैं, उनके दो भाग बनानेके लिए दो दो पर्वत हैं, जिनका नाम है इक्ष्वाकार। ऐसे ये पर्वत दो दूसरे द्वीपमें हैं, दो तीसरे द्वीपमें हैं। तो उन पर एक-एक मंदिर होनेसे ये चार जिनमंदिर है। नन्दीश्वर द्वीपमें ५२ जिनमन्दिर हैं, जिनकी लोग अष्टान्हिकाके पर्वमें पूजा किया करते हैं। कुण्डल गिरिपर चार जिनमंदिर हैं, रुचक गिरिपर चार जिनमन्दिर हैं। ऐसे ये सब मिलकर ४५८ जिनमंदिर हैं। अब ऊर्द्धलोकमें चलो। स्वर्गोंमें और अहिमिन्द्रोंके विमानोंमें सब मिलकर ८४ लाख ९७ हजार २३ जिनमन्दिर हैं, ये सब गिनतीके चैत्यालय हैं अकृत्रिम पर व्यन्तरोंके असंख्यात जिनमन्दिर और ज्योतिषियोंके असंख्यात जिनमन्दिर ये इनसे अलग हैं, ऐसे जब अकृत्रिम। पर व्यन्तरोंके असंख्यात जिनमन्दिर और ज्योतिषियोंके असंख्यात जिनमन्दिर ये इनसे अलग हैं, ऐसे जब अकृत्रिम जिनविम्ब हैं तो इससे भी यह जानें कि ये जिनविम्ब भी स्वयं एक देवता हैं जिनविम्बमें प्रभुकी स्थापना की है सो वे प्रभु तो यहां नहीं हैं मगर स्थापना करनेसे यह जिनविम्ब भी पूज्य है और ९ देवतावोंमें से एक देवताके रूपमें हैं।

श्रावकोंका सुख शान्तिके अर्थ कर्तव्यका विचार—इस जीवको सुख शान्तिका मार्ग मिल सकता है तो अपने आपमें ही मिलेगा, बाह्य पदार्थोंसे न मिलेगा। मानों धनसम्पदामें या लौकिक पद प्रतिष्ठामें भी कोई बढ़े तो बढ़कर क्या वह शान्त हो जायगा? शान्ति कभी हो ही नहीं सकती। चाहे परिग्रह या लौकिक प्रतिष्ठा कितनी भी बढ़ जाय, पर जब तक आत्मतत्त्वका ज्ञान न हो और अपने आपके स्वरूपमें ध्यान न बने जिससे कि अपूर्व संतोष होता है तब तक चाहे अरबों खरबोंका अधिपति हो अथवा राज्यका अधिपति हो पर उसे शान्ति कभी हो ही नहीं सकती। यह पूर्ण नियम है। जब बाह्य पदार्थोंके लगावमें शान्ति नहीं है और गृहस्थावस्थामें बाहरी पदार्थोंका संग्रह करना आवश्यक है तो यहां इतनी बुद्धिमानी करना चाहिए श्रावकोंको कि दो बातें ठान ली जायें अपने करनेकी। (१) धर्मपालन और (२) आजीविकाका कार्य। इन दो कार्योंको ठीक करते हुए परोपकार आदिकके भी कार्य होते रहें और उनमें जैसी भी स्थिति यशकी बने सो होने दो। गृहस्थोंको यश भी आवश्यक बताया है। पंडित आशाधरजी ने कहा है कि गृहस्थजन यशका सम्पादन करें, क्योंकि कुछ यश होनेसे गृहस्थ खोटे कार्योंमें प्रवृत्ति नहीं कर सकता। उसे थोड़ा ख्याल आयगा कि मेरी लोकमें ऐसी प्रतिष्ठा है। मैं यदि चोरी करुं, व्यभिचार करुं, हिंसा करुं, झूठ बोलूँ तो लोकमें मेरा बड़ा अपवाद होगा, उस भयसे वह खोटे कार्योंसे बच तो जाता है मगर कोई इतनी ही बातसे खोटे कार्योंसे बचे तो उसे कहीं मोक्षमार्ग तो नहीं मिल गया। यह भी एक साधन है, पर यदि आत्मज्ञान है, सम्यक्त्व है तो उसको मोक्षमार्ग चलता है।

श्रावकोंके आजीविका व धर्मसाधन इन दो कर्तव्योंमें धर्मसाधनकी मुख्यता—श्रावकोंके

दो कार्य मुख्य हैं (१) आजीविका और (२) धर्मपालन। यदि श्रावक आजीविकाका कार्य छोड़ दे और धर्मपालनका ही मुख्य कार्य बनाये तो उस श्रावकसे धर्मपालन न बन सकेगा। ऐसी बाधायें आयेंगी कि वह धर्ममें स्थिर न हो सकेगा, और कोई श्रावक केवल आजीविकाको ही प्रधानता दे और धर्मपालनसे बिल्कुल विमुख हो तो उसका जीवन तो पशुओं जैसा जीवन समझिये। क्योंकि आजीविका मान करके वह पायगा क्या? खाना-पीना मौज आराम। बाल बच्चे, ये ही तो पायेंगे। तो यह चीज क्या पशुवोंमें नहीं है? उनके भी खाना पीना लगा है, उनके भी बच्चे हैं वे भी मौज मानते हैं, तो वह जीवन भी कुछ नहीं है। तो दो कार्य हुए श्रावकके, (१) धर्मपालन और (२) आजीविकाकी सम्हाल। अब उक्त दोनों कर्तव्योंमें भी देखिये कि मुख्य कौन होना चाहिए और गौण क्या होना चाहिए। मुख्य होना चाहिए, धर्मपालन और गौण होना चाहिए आजीविका। ऐसा क्यों, कि धर्मपालनबिना तो इस जीवका गुजारा ही सम्भव नहीं है। वह भी शान्तिसे रह सके, संतुष्ट रह सके, अपना भविष्य सुधार सके। धर्मपालनके बिना ये कुछ भी सम्भव नहीं। आजीविकाके कार्यको गौण रखें, क्योंकि आजीविका थोड़ी चले, अधिक चले, कम धन हो, जो कुछ हो, यह ही असर होगा अधिकसे अधिक गौण करने पर, मनुष्योंमें तो ऐसी कला है कि जितना भी उनके पास द्रव्य हो उसमें ही गुजारा करके दिखा दें। आजकल विशेष धन होने पर भी जो ऐसा सोचा जाता है कि हमारा गुजारा नहीं चलता, ऐसी कल्पना करना, मात्र उनका ऊधम है कि जरा गरीबोंपर दृष्टितो दो, निर्धन श्रावकों पर भी तो निगाह कीजिए। यदि वैसी स्थिति खुदकी होती तो वहां गुजारा करते कि नहीं?

लौकिक कर्तव्योंको निभाते हुए श्रावककोंके धर्मसाधनाकी मुख्यता—श्रावकके कर्तव्यमें यह बताया है कि कर्ज करके खाना नहीं और आयके अन्दर ही अपना गुजारा करना। ये दो बातें क्यों आवश्यक हैं कि इनके विरुद्ध कोई प्रवृत्ति करेगा तो उसका चित्त डांवाडोल रहेगा और वह धर्मसाधना करनेका पात्र नहीं रह सकता, जो इस जीवनका मुख्य ध्येय है उससे चलित हो जायगा। आय कम हो और उसीमें गुजारा चले तो उससे आत्माकी कोई हानि नहीं है। यह दिखने वाली दुनिया मायामयी है, इनसे आप क्या चाहते हैं? ये आपके मालिक हैं क्या? ईश्वर हैं क्या? इनके कुछ प्रंशसा वाले वचन सुननेको मिल जायें तो उससे आत्माका क्या उद्धार होनेका है? ये दिखने वाले सभी पुरुष अपने ही समान हैं। और जैसी हीनता अथवा कमी अपने आपमें मिल रही है ऐसी ही हीनता, कमी, बल्कि इससे भी अधिक बाहरके लोगोंमें मिलती है, पर बाहरके लोग साफ सुथरे दिखते हैं, कुछ अच्छे ढंगकी मुद्रा बनाये दिखते हैं सो भले ही मालूम पड़े कि ये बड़े शान्त हैं, सुखी हैं, पवित्र हैं, मगर जैसे हम वैसे ही आप और वैसा ही यह सारा जगत, कोई कम कोई अधिक। सब मायारूप हैं। जब ये सब मायारूप हैं तो उनसे क्या आशा रखना? धर्मपालन मुख्य है, आजीविका गौण है, जब तक यह बात चित्तमें न आयगी तब तक धर्मपालनमें गति नहीं हो सकती। तो ऐसा गौणरूप आजीविकाका कार्य करें और मुख्यरूप धर्मपालनमें योग दें तो यह जीवन सफल हो जायगा।

अकृत्रिम चैत्यालयोंके कथन श्रवणसे श्रद्धावृद्धि—लोकमें जितने अकृत्रिम चैत्यालय बताये गए हैं उनकी रचना अकृत्रिम होकर की बड़ी अद्भुत व रमणीक है। उन चैत्यालयोंमें १०८ जिनबिम्ब

पाये जाते हैं। इन अकृत्रिम चैत्यालयोंका वर्णन हमको श्रद्धालु बनाता है। जिनविम्ब पूज्य न होते तो यह व्यवस्था अनादिसे अकृत्रिम चैत्यालयोंकी कैसे बनी होती? देखिये पूज्यपना और अपूज्यपना जीवोंके अपने भावोंसे है वस्तुतः पूज्य तो वीतरागता और सर्वज्ञभाव है, केवलज्ञान द्वारा त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थोंका ज्ञान होना यह एक पवित्र आत्माका काम है। जहां रागद्वेष मूलसे ही न रहें व उनके कारणभूत घातिया कर्म ही न रहें, उनका कार्य है वीतरागता और सर्वज्ञता। उसीका ही ध्यान व सम्बंध नवदेवताओंसे है, जिनविम्बमें सकल परमात्माकी स्थापना है, अतः स्थापनाके कारण जिनविम्ब पूज्य है।

अकृत्रिम चैत्यालयोंका विस्तार क्षेत्र प्रमाण—जो अकृत्रिम चैत्यालय बने हैं उनकी रचना यद्यपि तीन प्रकारोंमें पायी जाती है। कहीं उत्कृष्ट घेरेमें रचना है कहीं मध्यम घेरेमें रचना है। जो उत्कृष्ट घेरेमें जिनमंदिर हैं उनकी लम्बाई १०० योजन की है, चौड़ाई ५० योजन की है और ऊंचाई ७५ योजन की है। यह रचना किसीके द्वाराकी हुई नहीं है, किन्तु पुद्गलकी ही ऐसी ही अवस्था, प्रमाण, स्थिति स्वयं ही बनी हुई है। जो मध्यम जिनमंदिर हैं वे ५० योजन लम्बे हैं, २५ योजन चौड़े हैं, ३७ १/२ योजन ऊंचे हैं। जो जघन्य घेरेमें जिनमन्दिर हैं वे २५ योजन लम्बे हैं, १२ १/२ योजन चौड़े हैं, पौने उन्नीस योजन ऊंचे हैं। इनका प्रमाण जानकर यह तो ध्यानमें आता है कि मन्दिरके लिए जो भूमि हो वह गहरी अधिक हो, जिसे कहते हैं लम्बा उससे आधा चौड़ा हो और चौड़ाई १ १/२ गुना ऊंचा निर्माण चले, यह एक प्रमाण समझमें आ रहा है और ऐसे ही क्षेत्रोंमें बने हुए मन्दिरोंकी शोभा होती है। जो अकृत्रिम चैत्यालय हैं उन सबकी नींव जमीनमें आधा योजन है। वहां नीव खोदी नहीं गई, न भरी गई किन्तु अपने आप ही उनकी जो भित्तियां हैं वे इतनी गहरी बनी हुई हैं।

अकृत्रिम चैत्यालयोंके द्वारोंका विस्तार—जिन मंदिरोंमें तीन द्वार होते हैं जिनमें बीचका द्वार बड़ा और अगल बगलके द्वार छोटे होते हैं। जो बीचका द्वार है उसकी ऊंचाई १६ योजन की है चौड़ाई ८ योजनकी है किन्तु जो मध्यम मन्दिर हैं उनके द्वारकी ऊंचाई ८ योजन है, चौड़ाई चार योजन है। जो छोटे घेरेके जिन मन्दिर हैं उनकी ऊंचाई चार योजन है, चौड़ाई दो योजन हैं यह सब अकृत्रिम रचना है। स्वयं ही इसी ढंगके पौद्गलिक स्कंध अनादिकालसे बने चले आये हैं, उनकी चर्चा चल रही है। उन मन्दिरोंमें जो अगल बगलमें दो छोटे द्वार हैं उनका प्रमाण उत्कृष्ट ऊंचाई चार योजनकी हैं, मध्यम जिनमन्दिरके छोटे द्वारकी ऊंचाई भी चार योजनकी है, चौड़ाईदो योजन की है। जो छोटे घेरेके मन्दिर हैं उनके सामनेके अगल बगलके द्वार दो योजन ऊंचे और एक योजन चौड़े हैं।

उत्कृष्ट मध्यम जघन्य विस्तारवाले अकृत्रिम चैत्यालयोंके स्थानोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन—जहां मुख्य स्थान है, जो विशाल क्षेत्र है वहां बड़े आकारमें जिनमन्दिर है, कहीं मध्यम है कहीं उससे छोटा है। जिनमन्दिर किस तरहके बनाये जाने चाहियें इसकी भी शिक्षा इन अकृत्रिम चैत्यालयोंके वर्णनसे मिलती है। इतने क्षेत्रमें कोई नहीं बना सकता। छोटे ही क्षेत्रमें बनावें तो उसके अनुकूल ऊंचाई हो और रचना हो यह बात इन चैत्यालयोंके वर्णनसे विदित हो जाती है। जो मुख्य स्थान हैं, जैसे—भद्रसालबन, नन्दीश्वर द्वीप, स्वर्गके विमान, इनमें उत्कृष्ट घेरे वाले चैत्यालय हैं। सौमनसबन, रुचकपर्वतमें

कुण्डलगिरि, वक्षारगिरि, इष्वाकार पर्वत, मानुषोत्तर पर्वत, कुलाचल पर्वत इन स्थानों पर मध्यम प्रमाण वाले जिनमन्दिर हैं। कुछ स्थान जो स्वयं ही छोटे घेरेमें हैं वहां जिनमन्दिर भी छोटे घेरेमें पाये जाते हैं, जैसे पाण्डुकवन तथा अन्य अन्य भी स्थान, पर कुछ स्थान ऐसे हैं जिनकी लम्बाई चौड़ाई ऊंचाई उन तीनोंसे भी कम है। जैसे विजयार्द्ध पर्वतके ऊपर जम्बूवृक्ष, शाल्मलि वृक्ष जो देवकुरु उत्तरकुरुमें बने हैं, वे वृक्ष नहीं हैं किन्तु पृथ्वीका ही ऐसा आकार है जो उठा हुआ है, शाखाओंमें फैला है और उन शाखाओंपर जिनमन्दिर हैं, उनकी लम्बाई एक कोशकी है और अनियत भी लम्बाई चौड़ाई अनेक जिनालयोंकी है। भवनवासीके भवनोंमें, व्यन्तरोंके भवनोंमें, ज्योतिषी देवोंके विमानोंमें जैसे उनमें स्थान मिलते हैं वैसे ही विस्तारमें होते हैं।

अकृत्रिम चैत्यालयोंके बाहरके कोट व चैत्यभूमिकी रचनायें—सर्वप्रथम रचनामें उन मन्दिरोंको घेरे हुए तीन कोट होते हैं जिन कोटोंमें से गुजरकर भीतर मन्दिरमें पहुंचते हैं। यह अकृत्रिम जिनालयोंका निर्माण यह याद दिलाता है कि चैत्यालयोंके बाहर ऐसा घेरकर तीन कोट होते हैं तो उनकी बड़ी सुरक्षा और महिमा जानी जाती है। इन तीन कोटोंमें चारों तरफ द्वार होते हैं। द्वार बहुत विशाल है। पहले और दूसरे कोटके बीचमें जो गोल स्थान है वहां ध्वजावोंकी भूमि हैं ८ प्रकारके चिन्होंसे शोभित और एक-एक बड़ी ध्वजाके निकट १०८—१०८ ध्वजायें और ऐसी अनेक ध्वजायें चारों ओर हैं। जैसे कभी रथयात्रा समारोह होता है तो मंडपके चारों ओर खूब ध्वजायें फहराती हैं तो उन्हें देखकर चित्तमें एक ऐसा प्रभाव बैठता है कि प्रति श्रद्धामें सहयोग मिलता है। तो वहां पहले और दूसरे कोटके बीचमें जो घेरा है उसमें ध्वजायें हैं। दूसरे और तीसरे कोटके बीचमें जो स्थान हैं वहां बन है जो उपवनकी तरह है। आम्रबन चम्पकवन आदिक बन हैं, जिन बनोंके बीच भी छोटे-छोटे चैत्यालय हैं। तीसरे कोटके बाद फिर जिनमन्दिरके निकट आते हैं, इस भूमिको कहते हैं चैत्यभूमि।

अकृत्रिम चैत्यालयोंके मध्यमकी कुछ रचनावोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन—उन जिनमन्दिरोंमें १०८ गर्भगृह हैं, वेदीके स्थान, जिनके आगे बड़ा शोभनीक मण्डप है उन गर्भगृहोंमें जिनेन्द्रदेवके उत्कृष्ट देहप्रमाण ऊंचे १०८ जिनविम्ब हैं। जिनविम्बके चारों ओर ८ प्रातिहार्य हैं, उनके भिन्न-भिन्न सिंहासन हैं, ऐसा नहीं है वहां कि जैसे कहीं कहीं एक ही सिंहासनपर चार-छः छोटी-छोटी प्रतिमायें रख दी जाती हैं, वहां प्रत्येक बिम्बका जुदा सिंहासन है और वहां केशका रंग, आंखका रंग जैसे यहां पुरुषोंमें पाये जाते हैं सफेद नीले श्याम वर्णके, उस प्रकारके वर्णके वहांवे पौद्गलिक स्कंध हैं, वहां तो ऐसे रंगके पाये जाते हैं, पर जो कृत्रिम जिनालय है, जिन बिम्ब बनाये जाते हैं वहां ये रंग नहीं किये जाते। वे रंग प्राकृतिक हैं। प्रतिमा बनानेके बाद कोई जुदे-जुदे जगहमें रंग भरना, जैसे आंखमें कुछ काला रंग भरना, ओंठपर लाल रंग भरना, यह प्रतिमामें नहीं किया जाता, यह दोष है। यह अकृत्रिम जिनविम्बमें ये सब रचनायें प्रकृत्या बनी हुई हैं। जैसे पूजा करते हुएमें बोलते हैं ना—लाल नख मुख नयम श्यान अरु श्वेत है। श्याम रंग भौंह शिर केश छवि देत हैं। इत्यादि ··· तो यह उनका रंग प्राकृतिक है, पर जिन विम्बमें ऊपरसे रंग नहीं थोपे जाते। वे अकृत्रिम जिनविम्बोंके रंग हैं, वह स्वयं ही उस रंगकी मणि आदिक पृथ्वीकायकी रचना है। जिनविम्बके दोनों तरफ नागकुमार अथवा यक्ष ६४ चमर ढोर रहे हैं,

यह प्रकृत्या वहां दृश्य पाया जाता है तो एक जिनालयमें १०८ जिनविम्ब, १०८ गर्भगृह, सबके जुदे-जुदे प्रतिहार्य और कुछ यक्ष यक्षणी देव देवी जो उनके द्वारा सेवा अथवा उपसर्ग निवारण जैसी बात लोकमें पायी जाती है, वहां न उपसर्ग है न कुछ सेवा, किन्तु स्वयं ही द्रव्यका वहां निर्माण पाया जाता है। जिन प्रतिमाके निकटमें ८ मंगलद्रव्य वहां अकृत्रिम हैं। वे ८ मंगलद्रव्य हैं—झारी, कलश, दर्पण, बीजणा, ध्वजा, चमर, छत्र और ठौना। अकृत्रिम चैत्यालयोंके वर्णनको सुनकर ही तो ये जिनमन्दिर बने हैं जहां प्रतिमा विराजमानकी जाती है, पर इतना स्थान नहीं है जो ठीक उनकी भांति जिनमन्दिरोंकी रचना हो, इसलिए जितना सम्भव है उतना सब कुछ जिनमन्दिरोंमें किया जाता है। उन मन्दिरोंमें अनेक स्थान हैं जहां सामायिक जैसे स्थान, नृत्य करने, संगीत जैसे स्थान। वहांकी गलियोंके दोनों ओर धूपघटके आकारके जिनमन्दिर बने हैं, वे जिनमन्दिर अकृत्रिम तोरणोंसे शोभित हैं और जिनविम्बके विराजनेके स्थान तीन कटनीसे शोभित हैं। उनसब जिनमन्दिरोंमें देवता लोग दर्शन करने जाते हैं, पर कभी कभी ढाई द्वीपके अन्दर विद्याधर, श्रावक ऋद्धिधारी मुनि भी दर्शन करते हैं, ऐसे अकृत्रिम चैत्यालयोंके स्मरणपूर्वक यह श्रावक उन जिनविम्बोंकी पूजा करता है।

प्रभुसम शुद्धपरिणति पानेकी प्रतीक्षाके भाव पूर्वक प्रभुगुणस्मरण—खड़ा है श्रावक अपने ही मन्दिरमें जो कि कृत्रिम है, जैसे कहते हैं कि हममें सकती सो नाहि। याने मेरेमें शक्ति नहीं है कि उन मन्दिरोंमें जाऊं सो यही स्थापना करता हूं। ये सब स्थान हैं, उन स्थानोंमें रहकर जिनेन्द्र देवके गुणोंका स्मरण किया जाता है। जैसे किसी बड़ेकी बारात जाती है तो उस दूल्हेके साथ उसका छोटा भाई भी बड़ी रुचिसे बैठता है वह सब बातें मानों यों निरखता है कि एक दिन मुझे भी इसी इसी तरहसे सब करना होगा। तो ऐसे ही यह पूजक श्रावक प्रभुके गुणोंका बड़ी रुचि पूर्वक स्तवन करता है। उसको निर्णय बना है कि जो प्रभुका स्वरूप प्रकट हुआ है वही मेरा भी स्वरूप प्रकट होगा। पर इसके लिए इतनी दृढ़ तैयारी चाहिये कि उसको जगतके अणुमात्रमें भी ममता न रहे। यह मोह ममता इस जीवका बड़ा घातक है। यह अज्ञानी जीव मोह करके अपनेको चतुर मानता है, बड़ा मानता है, गर्व भी करता है, पर वह अधः पतनकी ओर ही जा रहा है, यह उसके चित्तमें नहीं है। प्रभुपूजा करते हैं तो कुछ तो ध्यान करना चाहिए कि जिस मार्ग पर चलकर ये प्रभु बने, मेरेको वही मार्ग चाहिए। संसारमें रुलनेका मार्ग न चाहिए। यह बात जिसके चित्तमें आ जाती है उसके क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक सब कषायें मंद हो जाती हैं। उसके सर्वप्राणियों पर मैत्री हो जाती है। सर्वको अपना मानता है, अर्थात् सबको अपना जैसा स्वरूप समझता है। भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी पूजाका महान फल है, जिसके जितना ज्ञान है, जिसके जितनी गुणोंके स्वरूपमें पहुंच है, जिसको भेद विज्ञानके कारण जितना ममत्व छूटा है उस योग्यताके अनुसार वह पूजक अपने महान फलोंको प्राप्त करता है। पूजाके फलमें एक कथा बहुत प्रसिद्ध है जिस कथाको समन्तभद्राचार्य स्वयं नीचेके श्लोकमें बता रहे हैं।

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत्।
मेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ १२० ॥

विपुलांचल पर्वतपर समशवरणमें विराजे श्री महावीर भगवानके दर्शनार्थ राजा श्रेणिकका प्रयाण—राजगृह नामके नगरमें मस्त मेंढकने अरहंत भगवानकी पूजाका प्रभाव दिखा दिया। यह कथानक महावीर भगवानके समयका है। जब महावीर प्रभु विपुलाचल पर्वतपर समवशरणमें विराजे थे वहां बनमाली ६ ऋतुवोंके फल फूलोंको फला फूला देखकर आश्चर्यान्वित होकर बड़ी खुशीके साथ उन फल फूलोंको लेकर राजाके पास पहुंचा और भेंट देकर बोला—महाराज अपनी नगरीका बड़ा सौभाग्य है जो महावीर भगवान समवशरणमें विराजे हैं, राजाने वहीं प्रभुको नमस्कार किया, मालीको खूब इनाम दिया और प्रसन्न चित्त होकर अपनी मित्रमण्डली सहित वह चला। राजा श्रेणिक एक हस्तीपर बैठा था, और और भी लोग अपने वाहनोंपर थे, अनेक लोग पैरों चल रहे थे।

प्रभुभक्ति प्रमोदमत्त मेंढकका देव होना—रास्तेमें क्या हुआ कि एक मेंढक अपने मुखमें कमलकी पांखुरी लिए हुए बड़ी खुशीके साथ उचक उचक कर उस समवशरणमें जाना चाह रहा था, वह भी आगे जा रहा था। अचानक ही राजा श्रेणिकके हाथीका पैर पड़ा और उस मेढकका मरण हो गया, पर प्रभुपूजाके भावमें मरा वह। मेढक सैनी पञ्चेन्द्रिय होता है और सम्यक्त्व उत्पन्न भी कर सकता है। वह मेंढक मरकर स्वर्गमें उत्पन्न हुआ, देव बना, वहां अन्तर्मुहूर्तमें ही जवान हो जाया करते हैं। अवधिज्ञानसे उस देवने विचारा कि यह प्रभुपूजाके भावका फल है और वह तुरन्त ही महावीर भगवानके समवशरणमें पहुंचा और अपना निशान मुकुटमें बनाया मेंढकका क्योंकि पूर्व पर्याय मेंढककी थी और वहां ही प्रभुपूजाके भाव हुए और देवगति प्राप्त की। वहां राजा श्रेणिक पहुंच भी न पाये और वह देव पहुंच गया करीब करीब साथ ही। तो वहां राजा श्रेणिकने गौतम गणधरसे प्रश्न किया कि प्रभु यह जो इतनी कान्ति वाला देव अपने मुकुटमें मेंढकका चिह्न बनाये हैं यह कौन है? तो वहां यह कथानक बताया है कि यह पहले मेंढकका जीव था और तुम्हारे हाथीके पैरोंके नीचे दबकर जिनपूजाके भावोंके कारण यह देव हुआ और यह अनन्तर्मुहुर्तमें ही जवान होकर आज साक्षात् प्रभुपूजाके लिए आया है।

प्रभुगुणस्मरण व आत्मगुणभावनाका पवित्र कर्तव्य—देखिये यहां पर यह विचार करें कि इस जगतमें किसका शरण ग्रहण करना, कौन इस जीवको सुखदायी हो सकता है? जितने भी बाह्य पदार्थ हैं उनका जो आश्रय तकता है, आलम्बन लेता है सो प्रथम तो बाह्य पदार्थोंपर दृष्टि रखी इस कारण उसे विह्वलता होगी। अपने आनन्दधाम चैतन्यस्वरूपसे वह उपयोग निकलकर बाहर तो पहुंचा, फिर वे पदार्थ विनश्वर हैं, उनका संयोग वियोग चल रहा है। उस बीच यह जीव बड़ा दुःखी रहता है। तो बाहरमें कुछ भी शरण नहीं है जिसका कि आलम्बन लिया जाय। यद्यपि प्रभु भी जीव पदार्थ हैं लेकिन वे मेरे स्वरूपके ही समान हैं और उनके गुणोंके स्मरणसे स्वरूपकी ही सुध होती है, इस कारण व्यवहारमें प्रभुका शरण लेना बताया है और निश्चयसे अपने आत्माके आनन्दधाम चैतन्यस्वरूपका शरण लेना बताया है। हम सबका कर्तव्य है कि प्रभु गुणस्मरण व आत्म गुणभावनामें अधिकाधिक समय लगावें जिससे मोक्षमार्गमें अग्रगामिता बनें।

श्रावकके १२ व्रतोंमें यह अन्तिम व्रत है वैयावृत्य। इनमें प्रधानता है अतिथि सम्विभागकी। जो

निर्ग्रन्थ दिगम्बर त्यागीजन हैं उनकी सेवा करना, उनकी आहार औषधि आदिकसे वैयावृत्य करना यह अतीव आवश्यक कार्य है श्रावकोंका। जिन्होंने घर धन परिग्रह आरम्भ त्याग दिया है, जो निरन्तर आत्मध्यानकी धुनमें रहते हैं, जिनके लिए जगतके सर्व जीव एक समान हैं उन पवित्र आत्मावोंकी वैयावृत्य करना किसी सौभाग्यशाली श्रावकको ही प्राप्त होता है। उस अतिथि सम्विभागके वर्णनके पश्चात् श्रावकोंके कर्तव्यमें जिनेन्द्रदेवका प्रकरण चल रहा है, जिनमन्दिरकी रक्षा करना, टहल करना, बोहारना, उनकी बिछायत करना, गानतान, नृत्यवादित्र आदिक संगीतसे भजनमें समय बिताना, अरहंतके गुणगान करना ये सब जिनपूजाके अंग ही समझिये। पहले समयमें श्रावकजन प्रातः मन्दिरमें आकर स्वयं बोहारी देते थे तो देखभालकर, जिसमें जीवरक्षा रहती थी, यह काम बड़ी उमंगसे एक अपना कर्तव्य जानकर करते थे। तो बोहारीसे लेकर जिनमन्दिरकी समस्त टहल तक जिनमन्दिरकी सम्हाल रखना श्रावकका कर्तव्य है। धन पाया, शरीर पाया, इन्द्रियां सही मिलीं, बल पाया, ज्ञान पाया, इन सबकी सफलता धर्मकर्तव्य में है और धर्मकर्तव्यका स्थान जिनमन्दिर है। यहां ही प्रवचन सुनते हैं, स्वाध्याय करते हैं, व्रत उपवास किया हो तो जिनमन्दिरमें ही विशेष समय बिताते हैं, तो इन समस्त धर्मकर्तव्योंका सहारा जिनमन्दिरसे ही तो मिल रहा। जो जिनदेवका ध्यान रखते, गुण स्मरण करते, अपने स्वरूपकी सुध लेते, वे अपना जीवन सफल कर रहे हैं। धार्मिक कर्तव्य छोड़कर आजीविका या पालन-पोषण कुटुम्बकी ममता या लोगोंमें पैठ, अपनी इज्जत बढ़ाना आदिक जितने भी कार्य हैं वे सब फिजूल के कार्य समझिये। जिन्हें धर्मसे प्रीति नहीं, आत्माकी सुध नहीं उन्हें मोक्षमार्ग न मिलेगा। यह तो आनुसंगिक कार्य है। मुख्य कार्य तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और यथाशक्ति सम्यक्चारित्रका धारण करना है। इन धार्मिक कर्तव्योंमें रहते हुए फिर कुछ समय लोगोंकी सुधबुध उनका इन्तजाम व्यवस्था आदि करनेमें लगे, तो मुख्य कार्य तो मनुष्यका आत्मधर्मका पालन करना है। तो धार्मिक कर्तव्योंमें मुख्य स्थान जिनमन्दिर जानकर इनका निर्माण, इनकी टहल, इनकी सेवा आदिकभी धार्मिक कर्तव्य है। अब वैयावृत्य नामक शिक्षा व्रतका वर्णन करके वैयावृत्यके ५ अतिचार बतलाते हैं, जिन्हें श्रावकोंका न करना चाहिए।

हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि।
वैयावृत्त्यस्यैते व्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते॥ १२१॥

वैयावृत्य शिक्षाव्रतके ५ अतिचार ये हैं—(१) हरित् विधान, (२) हरिनिधान, (३) अनादर, (४) अस्मरण और (५) मात्सर्य। इन अतिचारोंका सम्बंध और आधार विषय व्रतीजन होते हैं। ये साधुजन होते हैं। वैयावृत्यमें मुख्यता अतिथियोंकी हैं। श्रावकका यह रोज कर्त्तव्य है कि वह अतिथिको आहार आदिक देकर खुद आहार करे। कुछ प्रमाद हो गया, अशुद्ध भोजन बनानेकी प्रथा चल गई। शुद्ध विधिसे भोजन बनानेमें लोग आलस्य करते हैं, पर इससे उनके परिणामोंमें गिरावट ही रहती है, उन्नति नहीं होती है। स्वयं भी शुद्ध भोजन करें और भोजनसे पहले व्रती पात्रका स्मरण रखें तो उसके भावोंमें पवित्रता आती है। यहां पहला अतिचार बताया है हरित विधान। व्रतीजनोंको देने योग्य जो

आहार है, औषधि है उसे हरे पत्तोंसे ढक देना और हरित पत्तोंसे ढका हुआ आहार देना यह हरितविधान नामक अतिचार है। इस सम्बंधमें यह जिज्ञासा होती है कि भोजनका हरे पत्तोंसे ढाकनेमें अतिथि सम्विभागका अतिचार क्यों लगा? उसको यदि अतिचार लगे तो देने वाला पुरुष हरितसे क्यों ढाकेगा, क्योंकि जो ज्ञानी विवेकी है वही तो आहारदान करता है। तो इस सम्बंधमें कुछ संकेत ऐसे मिलते हैं कि जैसे मानो पहले जमानेमें गरीबी बहुत थी और कभी किसीमें लोभ आ गया या चीज अधिक न हो या विशिष्ट हो या न देना पड़े इस भावसे हरित चीजसे उसे ढाक दिया तो इसमें तो दोष है, और वह अतिथिसम्विभागका दोष है, क्योंकि अतिथि सेवाके विरुद्ध चाव किया और कदाचित कोई भूलसे ही ढाक दे, न इस भावसे ढाका जाय कि यह खोटा ही भाव है, यों ही फूलसे पत्तोंसे ढांक दिया और पीछे मालूम हुआ कि बड़ी गल्ती हुई है फिर भी और सामग्री थी नहीं, पात्र आ गए तो उसे दे देवे तो वह अतिचार है। पात्रको तो केवल पानी देवे तो वह उतनेमें ही तुष्ट है, अन्तराय हो जाय तो उसमें भी संतुष्ट है। लाभ अलाभ दोनोंमें समान बुद्धि रहती है पात्रकी। तो हरितपत्रसे भोजन आदिकको ढांक देना यह वैयावृत्यका (१) पहला अतिचार हरितविधान है। (२) दूसरा अतिचार है हरितनिधान नामक अतिचार। इस अतिचारमें भी हरितविधान की तरह दोनों प्रकारके दोष होते हैं। (३) तीसरा अतिचार है अनादर। पात्र आ गया, कुछ भाव भी है आहार देनेका, कुछ लोकलाज भी है जिससे कि आहारकी तैयारीकी गई है फिर भी चित्तमें अनादर रखना, ये आ गए, कब तक रहेंगे, कितने हैं और कोई करते ही नहीं है। खुदको ही करना पड़ रहा है ऐसी किसी भी भावनाको लेकर उसमें अनादर बुद्धि आये तो यह शिक्षाव्रतका अतिचार है। जो दोष श्रावकको न करने चाहिए, श्रावक इस रत्नत्रयका धुनिया है, उसकी स्थिति ऐसी है कि वह रत्नत्रयका पालन नहीं कर सकता। तो रत्नत्रयधारी गुरुजनोंको देखकर उसके हर्ष होता है कि मैं इनकी सेवामें किस तरह आ जाऊं, कैसे काम आऊं? हर प्रकारसे उनकी सेवा करके ही प्रसन्न रहते हैं। (४) वैयावृत्यका चौथा अतिचार है अस्मरण। कोई कार्य ऐसा लग जाय कि जिसमें पात्रको आहार देना भूल ही जाय। यह भूल कब होती है? जब पात्रके प्रति विशेष अनुराग नहीं है। तो कितने ही कार्य और आते हैं जिनमें यह फंस जाता है, जिसमें अधिक प्रीति हो उसे कैसे कोई भूल सकता है? तो किसी अन्य कार्यमें लग जानेसे पात्रको आहार आदिक देना भूल जाना या भोजन आदिक थालमें लगाकर अन्य कार्योंमें लग जाना या देने योग्य चीजको भूल जाना अथवा पड़गाहनेकी विधि भूल जाना अस्मरण नामका अतिचार है। पांचवा अतिचार है मात्सर्य। अन्य दातारों में ईर्ष्या रखकर आहार आदिक आदिक देना मात्सर्य अतिचार है। इससे अधिक बार मेरे घर आहार हो अथवा इसके यहां आहार न हो। मेरे यहां ही हो जाय आदिक किसी भी प्रकारका मात्सर्य रखकर आहार आदिककी विधि जोड़ना यह मात्सर्य नामका अतिचार है। ऐसे वैयावृत्तिके अतिथि सम्विभागके दानके ये ५ दोष हैं, इनको टाल करके बड़े विनयपूर्वक शुद्ध विधिसे दान करना चाहिए।

इस रत्नकरण्ड ग्रन्थमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका वर्णन किया है। इसको बोलते हैं रत्नत्रय। और इन रत्नोंका यह पिटारा है इस कारण इस ग्रन्थका नाम है रत्नकरण्ड। इसमें मुनिव्रतका संक्षेपमें संकेत करके मुख्यतया श्रावकोंके उपकारके लिए श्रावकोंके व्रत और कर्तव्योंका वर्णन किया

गया है। श्रावकजन यदि अपने सही कर्तव्य पर चलें तो उनका यह मानवजीवन पाना सफल है। और यदि वे अपने कर्तव्यसे चिग जाय और लौकिक कार्योंको ही महत्त्व दें तो फिर उनका जीवन क्या जीवन है। जैसे अनादि कालसे अनन्त भव पाये वैसे ही यह जीवन भी गुजर जायगा और संसारकी परम्परा बनी रहेगी। इससे बड़ी भावना सहित अपने आपसे और अपनेमें संकल्प बनाइये कि मुझे समस्त जगतको और अपने आत्मस्वरूपको भली प्रकार समझ करके ही रहना है। और स्वरूप समझकर पवित्र रहनेके लिए संसारके समस्त संकट मिटानेके लिए जो करने योग्य कृत्य हैं उनको करेंगे ही। इस धुनमें चाहे लौकिक कामोंमें थोड़ा हानि हो अथवा लौकिकजनोंमें, मायावी पुरुषोंमें कुछ नामवरीकी बात न चल सके, जो भी अन्य हानियाँ हो, उपद्रव हों वे सब सहन करने योग्य हैं। परन्तु अपने आपके रत्नत्रयरूप धर्मसे चिगना कभी भी योग्य नहीं है। रत्नत्रयमें प्रथम प्रकार है सम्यग्दर्शन। भला दर्शन मायने श्रद्धान मायने श्रद्धान। जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा ही विश्वास बनाना सम्यग्दर्शन है। आत्माका जो सहज यथार्थ स्वरूप है ज्ञानमात्र सबसे निराला अमूर्त, उस रूपमें अपने आपकी श्रद्धा बनानेसे संसारका सारा बोझ हट जाता है। लोगोंने कर्तव्यकी कल्पनामें अपने ऊपर बड़ा बोझ लाद रखा है। मेरेको यह काम करनेको पड़ा है, मैं ऐसा करुंगा, इस ही ख्यालमें अपने पर बड़ा बोझ लाद रखा है। भले ही जब गृहस्थीमें हैं, तब करना पड़ता है, किन्तु यह करना ही है मुझे, इसीमें ही मेरा बड़प्पन है, इसीसे ही मेरी रक्षा है, इससे ही मेरा जीवन है, ऐसा जो भीतरमें अभिप्राय है वह अभिप्राय खोटा है। मैं स्वयं सत् हूं। जो सत् है वह कभी नष्ट नहीं हुआ करता, मेरा कभी विनाश है ही नहीं। आज इस ढंगमें हूं, कल किसी और ढंगमें होऊंगा, पर जो सत् है उसका कभी विनाश नहीं होता। तो दुःखी होनेमें दो बातें सामने हुआ करती हैं। एक तो अपने बारेमें यह ख्याल रखना कि मैं मिट जाऊंगा, मर जाऊंगा मेरा विनाश हो जायगा, दूसरे बाह्य पदार्थोंके संग्रहकी बुद्धि बनती है। मेरे इतना धन हो जाय, कहीं यह न मिट जाय, कहीं इष्टका वियोग न हो जाय, इसमें चित्त रहता है, पर दोनों बातोंके सम्बंधमें कुछ यथार्थता तो देखिये—जो मैं हूं वह क्या मिट जाऊंगा? जो मैं हूं वह कभी नष्ट नहीं होता। कैसे नष्ट होगा? जो सत् है उसका अभाव कैसे बनेगा? और मानलो थोड़े समयको कि मैं मिट जाऊंगा, मगर ऐसा हो सकता तो इसमें खुशी मानना चाहिए। मैं मिट जाऊंगा, कुछ भी न रहूंगा, मेरी सत्ता ही न रहेगी, तो फिर सारे झगड़े तो खतम हो गए, पर ऐसा होता ही नहीं है। जगतमें जो है वह कभी मिटता नहीं, पर्यायें बदलती हैं, आज मनुष्य पर्यायमें है, कल दूसरी पर्यायमें पहुंचेगे, पर विनाश नहीं होता, तब फिर मरणकी या विनाशकी क्यों कल्पना करना? दूसरी बात यह है कि यह कल्पना बनी रहती है कि इन बाह्य पदार्थोंको अपना लूँ, इनका यह काम कर डालूँ, देखो यह काम पड़ा है, ऐसी ही भावना बनी रहे तो उसमें बोझ आता है, पर यथार्थता तो देखिये कि यह मैं अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा सिवाय भावोंका परिणमन करनेके और कर ही क्या सकता हूं? यह अपने भावोंका ही परिणमन कर रहा है, इसके अतिरिक्त इसका और कुछ नहीं है। फिर मुझे बाहरमें करनेको क्या पड़ा? कुछ भी बाह्य पदार्थ किसी रूप परिणमें। उसमें मेरा क्या सुधार है और क्या बिगाड़ है? बाह्य पदार्थ बाह्यकी जगह हैं। मैं आत्मा अपने आत्मप्रदेशोंमें हूं। मेरेको सुख दुःख किसी बाहरी पदार्थसे नहीं आता, आ ही नहीं

सकता। किन्तु मैं स्वयंमें कल्पनायें गढ़ता रहता हूं। बाह्य पदार्थोंके विषयमें अपने आपकी कल्पनासे अपनी बरबादी समझकर किसीमें अपने अनर्थकी सम्भावना समझकर यह स्वयं दुःखी होता है। इसको दुःखी करने वाला जगतमें कौन है दूसरा? यथार्थ तत्त्वका श्रद्धान हो तो इसमें श्रावकोंकी शोभा और मूलतः कल्याण है। आज नगरोंमें सहस्त्रोंकी संख्यामें जैन शासनके मानने वाले पाये जाते हैं, अनुयायी तो नहीं हैं पर मानने वाले हैं। जैन शासनके अनुयायी तो वे कहलाते हैं जो उस शासनकी आज्ञाके अनुसार अपने कर्तव्य बनायें, उसके अनुसार चलें। तो अनुयायी तो नहीं हैं, पर हां कल्पना करते हैं कि मैं मानता हूं जैन शासनको। तो उन सहस्त्रोंकी संख्यामें कोई बिरला ही एकआध मिले तो मिले नहीं तो प्रायः बाहरी बाहरी बातोंमें ही सब खुश हैं।

और जो वास्तविक धर्म है, जिससे कि आत्माका कल्याण है, इस भवमें भी आनन्द है, अगले भवमें भी आनन्द है। कर्मोंसे मुक्त होकर सदाके लिए संकटहीन बनें, ऐसे धर्मकी और तत्त्वज्ञानकी प्रतीतिमें कितनोंका आदर है। किनको भीतर में आस्था है? सो भले ही अनेकोंकी संख्यामें लोग धर्मका एक बनावटी रूप धरकर अपनेको धर्मात्मा मानें, मनायें, तो यह उनकी बात है, पर जिसको आत्मकल्याणकी भावना जगी हो वह तो सीधा सच्चा मौलिक कार्य करनेके लिए तैयार हो जाय। वह तैयारी है सर्वप्रथम ज्ञानका सीखना। इससे पहले कुछ धर्मका सवाल ही नहीं। तो सबसे पहला कदम है ज्ञानका सीखना जिससे जैन शासनके अनुयायी बनें। ज्ञान वही सीख सकता है जिसको ज्ञानके प्रति आस्था हो ज्ञान ही मेरा उद्धार करेगा। ज्ञानही मेरे लिए अमूल्य वैभव है, ज्ञानसे ही संसार संकट समाप्त होता है। ज्ञानही मेरा सर्वस्व है। इस ज्ञानके लिए जो इतना तड़फे आदर करे, इसके लिए ही तन, मन, धन, वचन, प्राण सर्वस्व भी समर्पित करना चाहे ऐसी भीतरमें जिसे उमंग जगी हो वही पुरुष ज्ञानसम्पादन कर सकता है। मैं केवलज्ञानका बीज बनूँ। अपनेमें कुछ तो निर्णय रखिये कि आपको क्या बनना है आगे। संसारके धनीमानी व्यक्ति बनना है क्या या संसारके सर्वसंकटोंसे छूटकर केवल आत्मा ज्ञातादृष्टा मात्र रहना है? यदि यह निर्णय हो कि मुझे तो धनी और मान्य बनना है तो समझलो कि इस उत्तम जैन शासनको पाकर मांग लिया घास और भुस, और मान्य बननेसे उन्हें मिल क्या जायगा? यदि कोई कहे कि यहांके लोग मेरी प्रशंसा करेंगे तो भला बतलावोवे प्रशंसा करने वाले लोग कोई भगवान हैं क्या, या संत लोग हैं या मेरे जीवनके ठेकदार हैं? ये जगतमें दिखने वाले लोग अधिकांश तो अज्ञानी, अविवेकी, असभ्य जन हैं। विरले ही विवेकीजन हैं। उन्हीका यह समुदाय है। तो इस समुदायसे कभी दो बातें सुनली प्रशंसाकी तो उससे आत्माका क्या भला हो गया? वे सब बातें असार हैं। जितना यह दृश्यमान समागम है यह मायारूप है। यहां किसीसे क्या चाहना? परमदातार भगवान आत्मासे तो प्रार्थना कर लो, उत्तमसे उत्तम वस्तु मिलेगी। बाहरमें किसी अन्यसे कुछ भी न मिलेगा। तो वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा श्रद्धान करना यह है पहली सीढ़ी। फिर वैसा ही ज्ञान बने, और फिर निर्णय पर डटे ही रहनेके लिए स्वाध्याय करना यह है सम्यग्ज्ञानका कर्तव्य और जैसा हमने स्वरूप समझा उस रूपमें अपनेको अनुभवनेके लिए इन बाहरी बाधावोंको दूर करना है। भोगोपभोग परिग्रह इन साधनोंको दूर रखना है यह है व्यवहार सम्यक्चारित्र, और जैसा अपने आपका स्वरूप जाना उसमें

ही उपयोगको मग्न रखना यह है निश्चय सम्यक्चारित्र। यदि श्रावकजन सर्वदेश चारित्र नहीं पाल सकते हैं तो उनको बारह व्रतोंका उपदेश किया है। अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणाणुव्रत इन ५ व्रतोंका पालन करें और इन व्रतोंकी वृद्धिके लिए तथा इससे आगे मुनिव्रतके अभ्यासके लिए, शिक्षाके लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका पालन करें। इस प्रकार जो बारह व्रतोंका स्वरूप बताया है उसके अनुसार अपने जीवनको बनाना, सो उसीके लिए बताया गया है कि श्रावक व्रतोंका पालन करके यह जीव १६वें स्वर्गमें उत्पन्न होता है। यद्यपि आजकल इतना ऊंचा संहनन नहीं है कि १६वें स्वर्गमें कोई उत्पन्न हो ले पर ८वें स्वर्ग तक उत्पन्न होनेका संहनन आजकल भी है। वह है छठा संहनन। इस संहननके देहमें रहता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की जो आराधना करेगा उसका अवश्य ही कल्याण होगा।

॥ इति रत्नकरण्ड प्रवचन द्वितीय भाग समाप्त ॥

रत्नकरण्ड प्रवचन तृतीय भाग

सल्लेखना अधिकार

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निः प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ १२२ ॥

उपसर्ग और दुर्भिक्ष, जरा रोग में जो निःप्रतिकार।
धर्म हेतु तनमोचन, सो कही सल्लेखना आर्य ॥

जीवका एकेन्द्रियभवोंमें अनन्तकालका यापन—हम आपको आजका यह मनुष्यभव बहुत कालमें दुर्लभतासे मिला है। इस भवके अतिरिक्त हम आपकी बहुत पहलेकी स्थिति निगोदिया जीवोंकी थी। निगोदजीव वे कहलाते हैं जिनका बहुत सूक्ष्म शरीर है। एक श्वांसमें १८ बार जन्म मरण करते हैं और वह भी श्वांस कौनसी? नाड़ीके एक बार उचकनेमें जितना समय लगता है उतने समयका श्वांस। उतनी ही देरमें १८ बार मरण हो गया। उसी का नाम जन्म है, और सिर्फ एक स्पर्शनइन्द्रिय है। कितना सा ज्ञान, कितना कठोर दुःख। एक दृष्टिसे देखें तो नरकोंसे कठिन दुःख हैं निगोद जीवोंका। किसीको कोई पढ़ा लिखा व्यक्ति गाली देता है तो वह यों कहता है कि तू नरक निगोद जायगा। तो नरक जानेकी भी गाली, निगोद जानेकी भी गाली। अब इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है। नारकी जीव तो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होते, कितने ही नारकी सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेते, सम्यग्दृष्टि होते, पर निगोदजीवोंकी तो बड़ी दुर्दशा है। यों समझिये जैसे कि अचेत से हों। तो ऐसी स्थितिमें हम आपने अनन्तकाल व्यतीत किया। वहांसे सुयोग से निकले तो पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पति इन स्थावरोंमें गए। ये निगोद भी एकेन्द्रिय हैं, किन्तु साधारण वनस्पति है सो वहां भी बड़ी दुर्दशायें हैं। पृथ्वी हुए तो किसी ने कूटा, खोदा, पकाया। लोहा, सोना, चांदी आदिक निकालनेके लिए पृथ्वी को तो भट्टियोंमें पकाया जाता है। जल हुए तो गरम किया, खौलाया, अनेक प्रकारके कष्ट हम आपने भोगे, पर आज कुछ पुण्योदय है, भोग सामग्री मिली है तो पूर्वभवके दुःखोंका स्मरण नहीं रखते। अग्नि हुए तो उसपर पानी डाला, उसे बंद हवामें कर दिया, वहां भी दुःख। वायु हुए तो उसे रबड़में रोक दिया गया, या पंखे द्वारा बिलोया गया, वहां भी कठिन दुःख। वनस्पतिके दुःख तो देखते ही हैं। फलफूल छेदना भेदना पकाना, तो ऐसे कठिन दुःख पाये।

त्रस जीवोंकी दशामें भी कष्टोंकी भरमार—एकेन्द्रियसे निकले तो दोइन्द्रिय हुए, तो वहां इतनी प्रगति हुई कि जिह्वा मिल गई। मगर उस जिह्वाका करना क्या है? थोड़ा मिट्टी वगैरह खा लेते।

केंचुवा, जोक, शंख, कौड़ी, सीप ऐसे दो इन्द्रिय जीव हुए तो वहां भी कठिन दुःख। मछली मारने वाले लोग डोरीमें लोहेके पास केंचुवा चिपका देते हैं और उसे पानीमें डाल देते हैं, मछली उस केंचुवेको खाती है। कितने ही हिंसक क्रूर लोग उन केंचुवोंको पीस डालते हैं तो कितने कठिन दुःख पाये। वहांसे कुछ प्रगति हुई तो तीन इन्द्रिय जीव बने। एक नाक और मिल गई, जैसे कि चींटा, चींटी, खटमल, बिच्छू, कानखजूरा आदिक जिनके चारसे अधिक पैर होते हैं, प्रायः ऐसे जीव तीन इन्द्रिय होते हैं, तो वहां भी बड़े दुःख। जो उड़ते नहीं और चारसे अधिक पैर हैं, ऐसे जीव मिलेंगे तीनइन्द्रियमें। वहां भी कूटा मारा। बिच्छुवोंको तो लोग कुचल देते हैं। कुछ और प्रगति हुई तो चार इन्द्रिय जीव हुए, इसमें आंखें और मिल गईं, सब कुछ देखने लगे, बस इतनी भर प्रगति हुई, पर मनके बिना सब बेकार है। उन्हें भी लोग जला देते हैं, पीस देते हैं, वहां भी बड़े दुःख हैं। वहांसे कुछ प्रगति हुई तो असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय हुए और प्रगति हुई तो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हुए, पशु पक्षी हुए। अब पशुपक्षियोंकी भी दुर्दशायें देख लो, पशु कितना जुतते पिटते बोझा ढोते, और जब किसी कामके नहीं रहते तो कसायियोंको दे दिये जाते। क्या जिन्दगी है उनकी? भेड़, बकरी, मुर्गा, मुर्गी आदिककी दशायें देख लो, कितना इनकी निर्मम हत्यायेंकी जा रही हैं। ये सब दुर्दशायें हम आप जीवोंकी भी हुईं।

वर्तमान सुयोगसे हितप्राप्तिका उपाय बनानेका कर्तव्य—उक्त सब दशाओंसे पार होकर आज हम आप मनुष्य हुए हैं, सो मनुष्य होकर केवल एक ही काम है कि धर्मबुद्धिसे रहें, मंद कषायसे रहें, किसीका बुरा न विचारें, किसीसे ईर्ष्या न करें, चोरी न करें, सबके प्रति विनयभावसे रहें। जैसे चार भावनायें कही हैं—सब जीवोंमें मित्रता रखना, गुणियोंको देखकर उनमें प्रमोद रखना, दुःखियोंको देखकर दया करना, उद्दण्डताका व्यवहार करने वालोंके प्रति मध्यस्थभाव रखना। और विशेष प्रगतिके लिए वस्तुस्वरूपकी जानकारी करना, और उसका प्रयोग करें अपने आपपर। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र सत् हैं। उनका उन ही में अपनी गुण पर्याय है। एककी कुछ भी चीज दूसरेमें प्रवेश नहीं करती। फिर किसी दूसरेसे मेरेमें क्या सुख और क्या दुःख? जितने सुख दुःख होते हैं वे हमारे ही उपयोगके उस तरहके परिणमनसे होते हैं। दूसरा कोई मेरा न विरोधी है और न बन्धु है। मैं सबकुछ अपना ही जिम्मेदार हूं, जैसा करता हूँ, वैसा भोगता हूं। घटाइये अपने आपपर। और वास्तवमें अमूर्त ज्ञानमात्र हूं। यह शरीर, ये उपाधियां, ये कर्मविकार मेरेसे अत्यन्त पृथक हैं, मेरे स्वरूप नहीं है, मैं तो अमूर्त हूं, ज्ञानमात्र हूं, मेरा यहां कौन पहिचानने वाला है। किसमें राग करना किसमें द्वेष करना, किसका बुरा मानना। मैं स्वयं अपने आपमें परिपूर्ण हूं। मेरा सबकुछ मेरेमें है, मेरेसे बाहर नहीं, बाहरका मेरेमें कुछ नहीं। निर्णय बनाकर मनन करके कभी सम्यक्त्वलाभ लेना, सम्यक्त्व लाभ लेकर चारित्रमें बढ़ना ये मनुष्यजन्मके कर्तव्य हैं।

विनश्वर देह पाकर तप संयमके आचरणोंसे नरभव सफल करनेका कर्तव्य—लोग प्रायः प्रमादमें या विषयोंकी आसक्तिमें व्रत आदिकसे उपेक्षा रखते हैं, पर यह तो जानें कि इस शरीरका आखिर होगा क्या जिस शरीरसे प्रेम रखा जा रहा है। जिसको जरा भी कष्ट नहीं होने देते। कहते कि रात्रिको न खायेंगे तो कैसे काम चलेगा, सर्विस करते हैं, देरमें आते हैं, रातको खाना पड़ता है, अरे भाई

यह तो एक खोटे विचार वाली बात है कि खाना पड़ता है। आखिर एक बार तो दिनमें भोजन मिल ही जाता है, क्या एक बारसे प्राण न टिकेंगे? न मिला अनेक बार भोजन तो क्या हर्ज? आखिर कितनी ही सेवा करलो इस शरीरकी फिर भी अन्तमें क्याहोगा? सो तो विचारो। जिस देहकी इतनी सेवा करते वह जीर्ण शीर्ण होगा, नष्ट होगा, या तो मरणके बाद इसे जला दिया जायगा या फिर किसी नदीमें बहा दिया जायगा, कौवे चोंट जायेंगे। क्यों इस देह पर इतनी प्रीतिकी जा रही है? जिस प्रीतिके कारण छोटे छोटे व्रत भी नहीं ग्रहण कर पाते। जरा सा भी कष्ट नहीं सह पाते। अरे उन व्रतोंमें कष्ट भी कुछ नहीं है बल्कि व्रतोंमें आनन्द रहता है क्योंकि अनेक बाह्य पदार्थोंका त्याग होनेसे उपयोग अपने आत्माकी ओर आता है और एक अलौकिक आनन्द जगता है। तो जो देह मिटने वाला है उससे तो काम निकाललें आत्माका। व्रत तपमें इसे जुटायें यह तो है बुद्धिमानी और विषयोंके प्रेममें आकर इस देहको आराममें रखना। मौजमें रखना यह है अविवेक।

शक्ति न छिपाकर व्रतादि धारण करनेका अनुरोध—भैया, कर्तव्य यह है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करें और अपनी वर्तमान स्थितिको न छिपाकर व्रत संयममें प्रवेश करें। एक शब्द आता है शक्तिके अनुसार त्याग करना। पर लोग इससे उल्टा अर्थ लगाते, शक्तिके अनुसार त्याग करना याने शक्ति नहीं है तो त्याग ही न करना अर्थात् शक्तिसे कम त्याग करना, अधिक न करना, शक्तिसे बाहर न करना। यह तो शक्ति अनुसार त्याग बताया है। अब पूछो तो सही अपनेसे कि क्या शक्ति आपमें है या नहीं जरा-जरासी बातोंका त्याग करनेका? शक्ति है तभी तो कोई झंझट सामने खड़ा हो जाय तो कहो दो तीन दिन भी भूखे रहलें। या कोई बड़ा बोझा उठाना पड़ जाय तो उसे भी उठा लें। वैसे बड़ी सुकुमालता बगारते हैं। तो शक्ति तो है पर जरा-जरासे व्रत तप करनेकी शक्ति नहीं है तो यह सोचिये कि आखिर इस मरमिटे देहका जो कि किसी कार्यमें न आयगा उस देहकी प्रीतिके पीछे आत्माको उत्साहहीन रखना यह कोई विवेक नहीं है। जैन शासन पानेके मायने तो है उसका अनुयायी बनना और शक्ति न छिपाकर कार्य करना। त्यागमें तपश्चरणमें ज्ञानमें यह कार्य करना उचित है सो क्या करना चाहिए। उसके लिए आचार्य महाराजने बड़े क्रमसे सारी बातें बताया है। पहली दूसरी तीसरी आदि प्रतिमावोंका आचरण करना, अपनी शक्ति अनुसार आगे बढ़ते जाना। इस ढंगसे वर्णन है।

देवभक्ति, सत्संग, व्यसन-त्याग आदि प्रक्रियावोंकी प्रारम्भसे ही आवश्यकता—जो लोग यह सोच बैठते हैं कि आजकल जमाना और किस्मका है, व्रत तप करनेका जमाना नहीं है तो उनकी यह बात गलत है। धर्मसाधनाका कैसे जमाना नहीं है? क्या इसका जमाना है कि मद्य, मांस, मधु वगैरह अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन किया जाय? अरे जमाना इसमें आपका क्या कर रहा है। अपना पक्का चित्त बनायें। रात्रि भोजन न करें। जल छानकर पियें, प्रतिदिन मंदिर आयें, ऐसा कार्य करनेमें तो कुछ कष्ट ही नहीं इसमें कोई जमानेकी रोक नहीं। पर छोटी छोटी बातोंके लिए आलस्य होना, प्रमाद होना यह तो खेदकी बात है। कोई एक जमाना था जबकि बिना देवदर्शन किए कोई एक भी दिन न रहता था। और यह बात देखना हो तो बुन्देलखण्डके देहातोंमें आज भी देख सकते हैं। करीब करीब वही प्रथा आज भी देखनेको मिलती है। पहले तो ऐसा होता था कि यदि किसी दिन मानों दर्शन न कर

सके तो उसका बड़ा खेद मानते थे, पर आज ऐसा हो गया कि उसकी ओर लोगोंका विशेष ध्यान नहीं है। मंदिर आकर देवदर्शन करनेसे लाभ कितने हैं सो तो विचारो। जो बालक रोज मंदिर आते हैं, कुछ धर्मध्यान करते हैं उनके आचार विचार पर भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। उद्दण्ड नहीं हो पाते, विनयशील रहते, गुरुजनोंका समागम भी मिलता रहता है। जो घर व्यसनोंसे बचा रहता वह स्वर्ग समान बन जाता क्योंकि जहां शान्तिका वातावरण हो, जहां एक दूसरेके प्रति विनयका व्यवहारहो वह घर उत्तम है। और जो लोग मंदिर नहीं आते ८—१० बजे दिन तक घरमें पड़े रहते हैं अथवा सोते रहते हैं उनमें स्वच्छन्दता बढ़ जानेसे उनके सभी कार्योंमें बाधा आती है। मंदिरका आना लौकिक कामोंके लिए भी ताजा बना देता है और परमार्थ कामके लिए भी तैयार बना देता है।

रत्नत्रयधर्मकी आराधनाका कर्तव्य—भैया, ऐसा दुर्लभ मानवजीवन पाया तो कर्तव्य क्या है इस बात पर बहुत ध्यान देना और कर्तव्यका पालन करना। कर्तव्य यह है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करें और अपनी शक्ति अनुसार चारित्रमें लगें। जीवनकी कई छोटी छोटी बातें जिनमें न आजीविकाका सहयोग है, न धर्मका सहयोग है, बल्कि आजीविकामें भी फर्क आये और धर्ममें भी फर्क आये ऐसे कितने ही फालतू काम करनेके लिए लोगोंकी उमंग होती हैं, और उनमें उनको कषाय जगती हैं, ये बातें सब उसे धर्मसे दूर रखती हैं। जितना बने उतना दूसरोंके उपकारके काम आये, यदि काम न आयें तो सब जीवोंके सुखी होनेकी भावना रखें। स्वप्नमें भी किसी जीवके विरुद्ध चित्तमें बात न आये। कषाय या विरोध रखनेसे आखिर नुकसान किसका है? खुदका। क्योंकि इस जीवके साथ कार्माण वर्गणायें विस्रसोपचयके रूपमें पड़ी रहती हैं। जो कर्म बंधे हुए पड़े हैं वे तो बंधे हुए हैं ही पर उनसे अनन्तगुनी कार्माण वर्गणायें विस्रसोपचयके रूपमें पड़ी रहती हैं। जो कर्म बंधे हुए पड़े हैं वे तो बंधे हुए हैं ही पर उनसे अनन्तगुनी कार्माण वर्गणाके विस्रसोपचय उम्मीदवार कर्म पड़े हुए हैं। तो जहां जीवने जैसा कषाय किया, जैसा भाव किया उसही समयवे कर्मरूप बंध रहे। थोड़ीसी गल्तीमें, थोड़ीसी स्वच्छंदतामें कर्म बंध तो गए मगर उनके उदयकालमें कितना कष्ट भोगना पड़ेगा। वह बड़ी असह्य बात होगी। इससे यह जानकर कि मेरे जीवके साथ विस्रसोपचयकी कार्माणवर्गणायें लगी हैं। जहां ही मेरेसे गलती हुई, विषय कषायके भाव रहे कि वे कर्मरूप बंध जायेंगे, फिर मुश्किल पड़ेगी। तो इस नरजीवनमें करने योग्य काम है अभक्ष्यसे दूर रहना, किसीका बुरा न विचारना, गुणियोंके गुणोंमें प्रेम और हर्षभाव बढ़ाना। जो अच्छे काम करेंगे तो भविष्य अच्छा रहेगा। जिनकी आज परिस्थिति खराब है उनका वह पूर्वजन्मके पापका फल है कितने ही दरिद्र हैं। कितने ही अनेक कारणोंसे कष्टमें पड़े हैं जिनको देखकर दया उत्पन्न होती वह किसका फल है? धर्मभावमें न रहे, अधर्ममें रहे, विषयकषायोंकी उमंगमें रहे, दूसरोंका दिल दुःखाया, धर्मकार्योंमें विघ्न डाला, मुनियों पर उपद्रव किया। अनेक कार्य ऐसे खोटे बने जिनका फल है कि आज यह जीव दुर्दशामें पड़ा हुआ है। जीवनमें यह ही कर्तव्य है कि हम अपने सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञानको सम्हालें।

अपने भविष्यकी अपने आपपर जिम्मेदारी होनेसे सद्भावनाका प्रभाव—जिस बातको हम प्रभुके सामने कह सकते जनताके सामने कह सकते वह बात भली हुआ करती है और बुरी बात

न भगवानसे कह सकते और न जनताके बीच कह सकते। तो जो बात कहनेमें एक शोभा होती है या कुछ आनन्द जगता है उस कामके करनेमें जो आनन्द होता उसका क्या कहना? अब इस सभाके बीच किसीको व्याख्यान देनेके लिए खड़ा कर दिया जाय तो क्या वह यह कह सकेगा कि जितना दूसरोंकी बुराई करते बने उतना करना चाहिए। उसमें मौज आता है ऐसा तो कोई नहीं कह सकता। तो इससे समझना चाहिए कि जो बात नहीं कही जा सकती वह अत्यन्त बुरी है और अपने कष्टके लिए है। एक यह निर्णय बनावो कि जो बुरा करेगा, जो दूसरोंसे ईर्ष्या करेगा, उनके कार्योंमें विघ्न डालेगा, सतायेगा, उसका फल कौन भोगने आयगा? जो अन्यायसे धन कमायगा, जो दूसरोंका दिल दुःखायगा उसका फल दूसरा कौन भोगने आयगा? कोई दूसरा न भोगने आयगा, जो आपके बड़े हितैषी हैं, घरके ही लोग हैं, जिनपर आपको बड़ा विश्वास है। लड़के, स्त्री, भाई, मित्रजन कोई भी पापके बंधते समय या कर्मोंके फैलावमें हिस्सा लेने वाले नहीं हैं, हो ही नहीं सकते। वस्तुका स्वरूप ही नहीं ऐसा कि आपकी परिणतिको कोई दूसरा भोग सके जब ऐसा एक स्पष्ट न्याय है तो क्यों अपनेको विपत्तियोंके कुवेंमें ढकेला जाय?

देवभक्ति, स्वाध्याय और सत्संगके बिना उन्नतिकी अपात्रता—भैया, अच्छे बनना, ज्ञान पाना, कषाय मिटाना, प्रभु भक्तिसे यह ही तो फायदा है। भगवानकी भक्ति करें गुणस्मरण करें, दर्शन करें और अपने आपके विचारमें आचरणमें जो चले आये हैं शुरुसे, वासनासे उनमें अन्तर न डालें तो यह क्या कहा जाय? या यों कहो कि हम प्रभुको बहकाते हैं जो रोज-रोज प्रभुके सम्मुख आकर कहते हैं कि आतमके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय। और घर जाकर कहीं जाकर मंदिरसे निकलकर वही कषाय, वही आसक्ति, वही विरोध, वही दुर्भावना रहती है तो क्या फल पाया उसने? धर्म समागम पानेका लाभ क्या पाया? कहते तो हैं कि मुझे मोक्ष चाहिए, पर ये मोक्षका रास्ता पानेके लक्षण हैं क्या? जैसे बहुत प्रारम्भमें विषयकषायके भाव थे वैसे ही ३०—४० वर्षके बाद भी धर्मका नाम लेकर भी वहीका वही रहे तो इसपर कुछ अपनेपर तरस आना चाहिए। क्यों नहीं उन्नति हुई? उसके मूल दो कारण हैं? एक तो विधिसे स्वाध्याय नहीं हुआ और दूसरे सत्संग नहीं मिला। ये दो अभाव मनुष्यके ज्योंके त्यों पतनकी स्थितिमें बने रहनेके कारण हैं। भले ही स्वाध्यायका नाम लेकर स्वाध्याय किया, पर स्वाध्यायकी विधि यह है कि जो भी दो चार लाइनें पढ़ें उनका जो अर्थ है उसे अपने आपपर घटित करें। सभी विषय अपने आपपर घटित किए जा सकते। यदि अपने आपपर घटित करते हुए स्वाध्याय किया गया होता तो अवश्य ही हमारे बर्तावमें अन्तर आ जाता। दूसरी बात—सत्संग नहीं किया। जो पुरुष विरक्त हुए, आत्माकी धुन वाले हुए, कल्याणके अभिलाषी हुए, जैन शासनके अनुसार प्रवृत्ति रखने वाले हुए उनका संग अधिक करना।

विनय व गुणानुरागसे धर्मलाभकी पात्रता—भैया! सत्संग व धर्मजागरण बनता है भक्ति अनुराग और सेवाकी बुद्धिमें। कहीं जैसे अन्य जगह जबरदस्तीसे काम बना लेते, जैसे गाय दूध नहीं देती तो उसके दोनों पैर रस्सी से बांध देते, एक आदमी डंडा लेकर खड़ा हो जाता और एक आदमी दूध निकालने लगता तो गाय डरके मारे दूध दे देती, बादमें उसके पैरोंकी रस्सी खोल देते और ऊपरसे

एक डंडा भी गायके मारते, तो जैसे जबरदस्तीसे वहां दूध निकाल लेते इस तरहकी जबरदस्ती यहां न चलेगी। धर्मकी बात पानेके लिए बड़ी भक्ति चाहिए, विनय चाहिए, कृतज्ञता चाहिए। इन गुणोंसे अगर हृदयपात्र बने तो वहां धर्मकी बात निकल पायेगी, कहीं किसी जगहसे भगवानकी पूजासे धर्म निकलता होता तब तो खूब भगवानकी पूजा करते और वहांसे धर्म निकालते, लेकिन जबरदस्ती यों धर्म नहीं मिलता। यदि प्रतीति है, गुणानुराग है, प्रभुके गुणोंका स्मरण करके और प्रभुके लिए, मंदिरके लिए, प्रभुकी भक्तिके लिए, प्रभुकी वाणीके लिए, प्रभुके उपदेश प्रचारके लिए आपका सर्वस्व भी लग रहा, यदि इतनी हिम्मत है इतनी तैयारी है तो वह प्रभुके गुणस्मरण रूप सत्संगसे, धर्म पाल लेता है। धर्मका मिलना किसी स्थानसे जबरदस्ती नहीं होता किन्तु अपने आपकी तैयारीसे होता है। तो एक ही कुञ्जी यह जानकर कि जैसा मैं करूँगा वैसा ही भरूंगा, मेरा मैं ही जिम्मेदार हूं। हमेशा अच्छे कार्य करें, बुरे कार्य न करें। अच्छेके लिए हां-हां और बुरेके लिए ना ना, ऐसा एक दृढ़ संकल्प बने तो हम अपने इस दुर्लभ मानवजीवनको सफल कर सकते हैं।

श्रावकका व्रतपालन सहित जीवनयापन पूर्वक अन्तमें समाधिमरणके कर्तव्यका निर्णय—इस भव्य श्रावकने अपने जीवनमें सार तत्त्वमात्र अपने चैतन्यस्वरूपमें अपने आपका अनुभव करना माना है एक सहज चित्स्वरूपके अनुभवके सिवाय शेष समस्त कार्य मेरे लिए प्रयोजनवान नहीं हैं, यह जिसके चित्तमें भली भांति निर्णीत है ऐसे इस श्रावकने अपने जीवनको व्रती रूपमें बिताया और अन्त समयमें इसका निर्णय है कि मैंने जीवनमें सदाचार पाला, व्रत धारण किया। आत्मतत्त्वकी भावनाकी, यदि अन्त समयमें परिणाम विचलित हुए तो मेरा किया कराया यह सब व्यर्थ रहेगा। यद्यपि पूरा व्यर्थ नहीं रहता फिर भी आगे धर्मपरम्परा, मोक्षमार्ग परम्परा तो न बनेगी इस कारण श्रावकके मनमें यह दृढ़ निर्णय है कि अन्त समयमें मैं समाधिभाव ही रखूँगा, जिसे कहते हैं समाधिमरण। देखिये—दोनों बातें आवश्यक हैं, कोई सोचे कि मरण समयमें समता परिणाम रख लूँगा, जीवनमें क्यों व्रतादिका कुछ कष्ट करूं, तो ऐसा जिसके प्रमाद अभीसे हैं उससे ऐसा नहीं हो सकता कि मरण समयमें अपने परिणाम अच्छे रख सकेंगे। जैसे कितने ही लोग ऐसा विचार करते हुए पाये जाते हैं कि उम्र तो अभी बहुत है, धर्म पालन तो वृद्धावस्थामें किया जायगा। अभी जवानी है तो अनेक प्रकारके आराम, सुख, ये सब भोगने चाहिए और धर्मपालनतो वृद्धावस्थामें कर लिया जायगा, ऐसा जिसके अभीसे प्रमाद है वह न जीवनमें कर पाता है न वृद्धावस्थामें करता है। तो ऐसे ही कोई सोचे कि मरते समय अच्छे भाव रहेंगे तो आगेकी गति भली होगी, सो मरते समय परिणाम ठीक कर लिए जायेंगे, ऐसा जिसका अभीसे भाव है कि पहलेसे क्यों व्रतादिक धारण करना? भले प्रकार धर्मध्यान करना यह तो उसी समय कर लिया जायगा वह नहीं कर पाता।

आवीचिमरणके निरन्तर अवसरोंपर निरन्तर समता समाधिभावका कर्तव्य—देखिये मरणदो प्रकारका होता है—एक आवीचिका मरण और एक तद्भव मरण। तद्भव मरण तो अन्तमें मर गए, शरीरसे अलग हो गए उसका नाम है तद्भव मरण। और आवीचि मरण इनके प्रतिसेकेण्ड चल रहा है, प्रति समय चल रहा है। जैसे कहा करते हैं ना कि जो आयु गई वह वापिस नहीं आती, तो ऐसे

ही समझिये कि आयुकर्मके जितने परमाणु बांधे थे निषेक वर्गणायें, सो जिनका उदय आता है वे निकल गए, समय निकल गया, उस समयकी आयुका मरण तो हो गया, प्रति समय हम मर रहे हैं। आवीचि मरणकी दृष्टिसे प्रति समय हमारी आयु जा रही है। तो कर्तव्य यह है कि हम प्रति समय समाधिका भाव रखें। समाधिमरणमें मुख्य काम रागद्वेष न करनेका है और आत्माके सहजस्वरूपकी दृष्टि रखनेका है। चूँकि बुढ़ापेमें या कठिन रोगमें जहां कि यह निश्चित सा है कि मरणकाल आ गया है उस कालमें फिर आहार वगैरह की वाञ्छा या इनका आरम्भ या इनमें दिल लगाना यह बाधक है समाधिका, इस कारण इनका त्याग किया जाता है, और समाधि मरणमें आहार पानीका त्याग करा देना इसकी मुख्यता नहीं हैं। ये सहायक हैं, मुख्यता है परिणामोंकी निर्मलताकी। तो चूंकि आवीचि मरणमें हमारा पूरा मरण नहीं हो रहा, इस भवसे हम नहीं जा रहे, इस कारण आहार आदिकके त्यागकी तो आवश्यकता नहीं है इस रोजके मरणमें, प्रति समयके मरणमें, लेकिन विषयोंमें आसक्ति न रहे, गुजारेके लिए ही इनका उपयोग है, ऐसी दृष्टि रहे और रागद्वेष मोहभाव न लायें। रागद्वेष तो आयगा जब जीवन है और घर है, पर मोह रंच न आये और रागद्वेषमें हीनता रहे, ऐसा प्रयास करें तो आवीचिमरणके लिए समाधि ही समझियेगा।

सत्संग धर्माचरण द्वारा जीवनको शान्ति सुवासित रखनेका कर्तव्य—इस लोकमें जो मनुष्य मनुष्य है ये अन्य जीवोंकी भांति प्रकृत्या विषयकषायके वश हैं और फिर मिले विषयकषाय वाले पुरुषोंका संग तो इसके विषय कषायोंमें वृद्धि बनती है। और यह असत्संग जीवनको बरबाद कर देता है। अच्छा यही है कि जिस प्रकार मेरे विषयोंका अनुराग कम हो, कषायभाव कम हो और ऐसे ही संतजनोंका, सत्पुरुषोंका सत्संग रहे अधिक जो विषयकषायोंको पसंद नहीं करते, धर्मके मार्गमें चलनेके इच्छुक हैं तो उनके विषय और कषाय दोनों पर विजय बन सकती है। धर्मगोष्ठीके मायने और है क्या? अपने ही नगरमें, अपने ही मोहल्लेमें हर जगह दो चार श्रावक ज्ञानी आत्मकल्याणी रहते ही हैं। अपनी कषाय मंद करके धर्मात्माजनोंकी गोष्ठी रखना, अर्थात् मिलकर धर्मचर्चा करें। आत्मकल्याण बने उस प्रकारकी प्रेरणा बने तो यह एक अलौकिक काम है। पहले समयमें तो रोजगारकी सीमा रखते थे विवेकी पुरुष। जिसके अनेक दृष्टान्त आये हैं। एक सीमा रख लेते थे कि इतने की बिक्री हो जानेपर दुकान बंद कर देना और मंदिरमें पहुंचकर धर्मचर्चा करना। अब तो किसीका यह उद्देश्य ही न रहा कि ऐसा करना हमारा कर्तव्य है, और अधिक समय तत्त्ववार्तामें जाय, पुराण पुरुषोंकी कथामें जाय, ऐसा जीवन व्यतीत हो तो उससे लाभ है। और गप्पसप्पमें समय जाना, यहां वहांकी बुराइयोंमें समय जाना, यह तो अपने लिए एक घातक कदम है। जीवनमें यह ध्यान रहे कि मेरे उपयोगमें किसीके दोषका आकार न आवे, आवे तो गुणोंका आकार आवे। दूसरेके गुणोंकी चर्चासे, गुणोंके ध्यानसे गुणोंका आकार आयगा, दूसरेके दोषकी चर्चा, दोषका ध्यान रखें तो दोषोंका आकार आयगा। भला श्रावक यह चाहता है कि मेरी उपयोगभूमिमें दोषोंका आकारही न बने। तो आवीचिमरणके समय यह श्रावक अपने आपको सदैव समाधानरूप रखता है।

निष्प्रतीकार उपसर्गके आनेपर सल्लेखनाकी अङ्गीकारता—जिसने अपना जीवन सहज

परमात्मतत्त्वकी बड़ी दृढ़ भावनामें व्यतीत किया वह श्रावक अब कठित परिस्थितियोंमें जिनमें कि मरण सम्भव है इसकी तैयारी कर रहा कि मेरे परिणामोंमें अब रागद्वेषका प्रसंग रंच मत आवो। वे कौन-कौन सी स्थितियां हैं जिन स्थितियोंमें समाधिमरण किया जाता है। जिनका कोई उपाय नहीं है दूर करनेका ऐसे उपसर्ग आ जाय तो समाधिमरण बताया है। ऐसी परिस्थितियां यहां कही जायेंगी उन सबमें निष्प्रतीकार यह विशेषण लगेगा, अर्थात् जिसका कोई प्रतीकार न हो सके, उपाय न चल सके, ऐसी कठिन परिस्थितियां आयें तो समाधिमरण स्वीकार करना चाहिए, जिनमें पहली बात कही जा रही है कि कठिन उपसर्ग कोई आये, जिसका कोई उपाय ही नहीं है, जैसे जंगलमें किसी शेरने आक्रमण कर दिया, मुखसे खाया, पंजोंसे नोचा, विदारण कर दिया उस जगहमें क्या प्रतीकार। किसी शिकारीने बाण मार दिया तो अनेक उपद्रव होते ही हैं, निष्प्रतीकार है वह उपसर्ग। जो उपसर्ग कठिन है, जिसका दूर होना सम्भव नहीं तो ऐसे उपसर्गके समय समाधिमरण करना चाहिए। श्रावक पर भी कठिन उपसर्ग सम्भव है। तो पहली परिस्थिति है यह कि निष्प्रतीकार उपसर्ग आया है, सर्वका परित्याग करके, शरीरकी भी सुध छोड़कर एकमात्र चित्स्वरूपकी दृष्टि रहे। कितना पवित्र कार्य है यह कि जो इस शरीरसे विदा हो रहा हो वह अपने इस पवित्र सहज ज्ञानानन्दस्वरूप अंतस्तत्त्वको दृष्टिमें ले। उस ही का अनुभव करें कि मैं यह हूं और इस प्रकारसे शरीरसे विदा हो रहा है तो वह आदर सहित पूज्य है पवित्र है, यह कार्य चाहिए, पर मरणसमयमें ऐसा परिणाम रह सके उसके लिए जीवनभर तैयारी चाहिए।

अपनेमें असद्भाव न होनेदेनेकी चेतावनी—भैया, जीवन क्यों बुरा बिताया जाय? जो मिला है वह सब विनाशीक है। यह शरीर भी विनाशीक है, और यदि दूसरेका अपकार किया जाय, बुराईकी जाय, कष्ट पहुंचाया जाय तो ऐसे तनके पानेको धिक्कार है। उसका परिणाम है कि आगे भी जन्ममरण चलेंगे और खोटा शरीर मिलेगा। सड़कोंपर जब देखते हैं जैसे कि आज ही सुबह मैंने देखा कि नीचे दो बालक दो गधोंको लिए जा रहे थे, वे एक जगह कूड़े पर बैठ गए, गधे तो उस कूड़ेमें अपना मुख देकर कुछ खा रहे थे और वे दोनों बालक कूड़ेको छितर बितर करके कुछ खोज रहे थे, ऐसी जिन्दगी मिलती है खोटे भाव वाले पुरुषोंको। आज कुछ अच्छी मनुष्यपर्यायमें हैं, कहीं मानलो ऐसी दुर्दशामें पहुंचे तो यह कार्य करना पड़ता है। गधे ही बन गए तो कूड़ेमें गंदगीमें, खराब चीजमें मुख देते रहना पड़ेगा। कोई यह ठेका तो नहीं है कि जो आज मनुष्य है वह मनुष्यही रहेगा या मनुष्यसे बढ़कर ही चलेगा। जैसे कारनामे होंगे वैसा आगे फल भोगना होगा। तो जगतके जीवोंको देखकर कुछ अपने आप पर तरस तो करना चाहिए कि मुझे ऐसा ही बने रहना पंसद है या संसारके सारे झंझटोंसे निवृत्त होना सही है? संसारके जीवोंमें किसी भी जीवके प्रति अपने चित्तमें बुराईका अंश न आये, अहित का अंश मत आये। किसीके द्वारा मेरेको कष्ट भी पहुंचे तो भी उसके एवजमें इस जीवको यों कष्ट पहुंच जाय ऐसा भाव कभी न आना चाहिए। कोई कष्ट आया है तो ज्ञानबलसे कष्टको कुछ दूर कर लीजिए। सोचिये अपने ही असाताका उदय है जिससे कि अन्य लोग बाह्य कारण बन रहे हैं। इसमें अपराध मेरा है, दूसरेका अपराध नहीं है। वह अपराध आजका तो नहीं है मगर पूर्व कर्म ऐसे ही बांधे थे जिस बद्ध कर्मके उदयमें आज दुःखका सामना करना पड़ रहा है, ऐसा सोचकर दूसरेपर क्षमाभाव

ही रखना। वह बात कठिन नहीं है। हां जिसके क्रोधकी प्रकृति है उसको लगेगा कि यहां गप्प मारी जा रही है, पर यह गप्पकी बात नहीं है, यह की जा सकने वाली बात है। ज्ञानप्रकाशमें यह सब बात सम्भव होती है।

निष्प्रतीकार उपसर्ग आनेपर धर्माराधनापूर्वक सल्लेखनाका धारण—जिसने अपना जीवन सद्भावोंमें व्यतीत किया वह पुरुष तो यहां भी आदर्श है, पूज्य है, पवित्र है और स्वयंके लिए तो वह कल्याणरूप है, ऐसा ही पुरुष मरण समयमें अपने भावोंकी सम्हाल रखपाता है। कोई पूर्व जन्मका बैरी हो, मनुष्य हो, पिशाच हो, कोई उपसर्ग करे। भील म्लेच्छ सिंह आदिक आक्रमण करे या जलमें गिर गया, बनमें आग लग गई, ऐसे कितने ही कठिन उपसर्ग होते हैं, वहां क्या करना? समाधिभाव, रागद्वेषका परिहार, अपने चित्प्रकाशकी दृष्टि। देखिये जिसने जो मिठाई खायी है उस मिठाईका नाम सुनते ही उसके गलेमें मिठास उतरने लगती है। उसके घूँटमें ही मीठापन आ जाता है, क्योंकि अनुभव है उसको ऐसा ही जिसने जीवनमें आत्माके इस चैतन्यस्वरूपका अनुभव किया है। एक किसी भी समय उसका नाम सुनते ही सच्ची बात सामने आ जाती है। अब सोचिये कि हमें अपने जीवनमें क्या करना? एक ध्येय बनाइये कि जितने बार अधिक स्वानुभव मुझे प्राप्त होगा मुझे वह कार्य करना। मित्रजन, कुटुम्बीजन अनेक लोग जिनमें बैठकर समय गुजारते, वार्ता करते ये सब कोई भी मेरे आत्माके जिम्मेदार हैं क्या? ये मेरे सहयोगी हैं क्या? आत्मकल्याण कर देंगे क्या? तो उत्तर आयगा—निल। किसी दूसरेसे मेरा कुछ नहीं हो सकता। तब समय अन्य बातोंमें न गुजर जाय और धुन रहे यह कि मेरेको ऐसा अवसर अधिक प्राप्त हो जिसमें मैं स्वानुभव कर सकूं। ऐसी जिनकी वाञ्छा है उनको कभी कुटुम्बमें, मित्रोंमें बोलना पड़ेगा तो ऐसी वाणी उनकी निकलेगी कि जिससे दूसरोंका भी उपकार हो। यदि कोई कठिन उपसर्ग आ जाय तो उस समय यह जानकर कि यदि इस शरीरको देखूँगा, इसका लगाव रखूँगा तो मेरे रत्नत्रय धर्मकी हानि होगी। तो जब यह शरीर छूटनेको ही है और साथ ही इस धर्मके रत्नत्रयकी हानि हो तो उसमें तो उसका सब गया। धर्मको न नष्ट करेगा। उस धर्ममें और अधिक प्रीति करेगा।

निष्प्रतीकार उपसर्गादि आनेपर सल्लेखनाधारणका प्रयोजन धर्ममय अपनेको अनुभवना—जब कभी कठिन दुर्भिक्ष आ जाय, दाने दानेका मुहताज होना पड़े, जिसमें जीवन सम्भव न रहे वहां ही समाधिमरण स्वीकार करना चाहिए। कहीं किसी जंगलमें ही फंस गए जिसका ओर छोर नहीं विदितहो रहा, जहां अनेक हिंसक पशु रहते हैं, खूब चलनेपर भी फंसाव ही फंसाव अधिक बढ़ता जाय, कहां जायें, क्या करें? जंगलसे निकलना दुश्वार हो गया, तो ऐसी स्थितिमें भी समाधिभाव रखना, खाना पीना तो वैसे ही नहीं मिलता है, जंगलमें फंस गए हैं तो उस स्थितिमें यह करे क्या? अपने रत्नत्रय धर्मकी रक्षा करें, यह ही हुआ एक समाधिमरण। जब निष्प्रतीकार बुढ़ापा आ जाय, जैसे वृद्धावस्थामें इन्द्रियां जीर्णशीर्ण हो गईं, उठा बैठा भी नहीं जा सकता अन्न-पानी भी नहीं चल सकता, कठिन व्याधि जरा भी हुई तो वहां यह ही समाधिमरण स्वीकार करें अर्थात् रागद्वेष परिणाम तजकर अपने सहज परमात्मस्वरूपकी दृष्टिका ही प्रोग्राम रखें और ऐसी सद्भावनाकी जब दृष्टि चलती है तो अन्य आहार आदिकका भी त्याग होता है। समाधिमरण शब्द सुनते ही मुख्यता लाना चाहिए कि

साक्षी बनाकर प्रतिज्ञा लो कि अब शादी नहीं करूंगा।··· हां भगवानको साक्षी बनाकर प्रतिज्ञा है कि मेरी अब मैं अपनी शादी नहीं करूंगा। और इस मरण समयमें तुम मेरे लिए आज्ञा करो कि मैं किसको क्या दान दूं? तुम जो कहोगी वह हम दान करनेको तैयार हैं, तो फिर स्त्री बोली—हम जो चाहते हैं क्या आप उसे दे सकेंगे? ··· हां हां अवश्य देंगे, बोलो क्या चाहती हो? ··· मैं यह चाहती हूं कि मेरे पाससे आप दूर हो जावो, अब आप न तो मेरे पास आना और न किसीको आने देना, मैं तो आपसे यह चाहती हूं। अब वचनबद्ध तो था ही सो वह वहांसे चला गया और किसीको उसके पास आने भी न दिया। इधर उस स्त्रीने क्या किया कि एक भींटके सहारे टिक गई, अन्न जल औषधि सबका त्याग करके सल्लेखना ले लिया और समाधिमरण कर गई। अब भला बताओ—यदि कोई कहे कि उस अशुद्ध दशामें तो उसके सूतक पातक चल रहे थे, कैसे उसने सल्लेखना धारण किया? सो ऐसा कहना ठीक नहीं। मानो उस अशुद्ध दशामें वह सल्लेखना धारण न करती और मरण करके कुगतिमें जाती तब तो उसका बड़ा अनर्थ था। इसलिए चाहे कोई शुद्ध स्थितिमें हो या अशुद्ध स्थितिमें हो, आत्मस्मरण करना तो उसका भला ही है। हां अशुद्ध दशामें पूजा, पाठ, अभिषेक, पात्रदान आदि कार्योंकी मनाही है मगर स्वरूपस्मरण करने, त्याग करने आदिकी मनाही किसी भी स्थितिमें नहीं है।

सल्लेखनामें धर्मके संभूतिस्थानका आलम्बन—जिसे कहते हैं धर्म वह धर्म किसी मंदिरमें बैठकर भी न मिलेगा। और कहीं शौच जाते समय वहां भी धर्म मिल जाय। धर्म नाम है आत्माकी वीतराग परिणतिका। मंदिर एक साधन है। यहां आकर प्रभुके गुणस्मरण करें, वीतरागताका आदर करें, और वीतराग होनेकी भावना करें। और अगर कोई उद्दण्ड हो, ऊधमी हो, कषायवान हो और मंदिरमें ही बैठा है तो क्या उसे धर्म मिल जायगा? धर्म है आत्माकी शुद्ध परिणतिका नाम। तो जब यह श्रावक देखता है कि मेरे बड़ा कठिन रोग आया जिसमें कि बचना भी सम्भव नहीं है, तो वह अपने धर्मकी रक्षाके लिए सल्लेखना धारण करता है। देहसे, कुटुम्बसे सबसे ममता तज दी। कुटुम्बीजनोंको चाहिए कि जिसका मरणकाल आया है उसकी सम्हाल बनायें। जीवनभर जिसने स्त्री पुत्रादिक की रक्षाकी, उनका पालन पोषण किया, उनकी सब व्यवस्थाकी उसके सामने मरण समयमें यदि वे ही स्त्री पुत्रादिक आकर रुदन मचायें तो बतावो वे उसके साथ न्याय कर रहे कि अन्याय? अरे एक दृष्टिसे देखो तो अन्याय कर रहे। भला बताओ जो जिन्दगीभर जिनके लिए मरता रहा, जिनके लिए बड़े-बड़े पाप कार्य किए, न्याय अन्याय कुछ नहीं गिना उसे मरण समयमें भी शान्तिसे मरण नहीं करने देते, उसके पास पहुंचकर रो धोकर उसका परिणाम और भी अधिक बिगाड़ते हैं जिससे वह मरकर कुगतिमें जाता है, तो यह उसके लिए अनर्थ ही तो रहा। तो इस प्रकारसे मरण समयमें किसीके परिणाम बिगाड़ना यह परिजनोंको उचित नहीं है। अरे समाधि मरण तो एक महोत्सवकी चीज है, अगले भवमें इसका कल्याणहो उसकी प्रक्रियाका यह अवसर है। तो यह श्रावक गृह कुटुम्ब आदिकसे ममत्व तजता है, आहार आदिकका त्याग करता है। आहार आदिकके त्यागको भी महत्त्व क्यों दिया गया—सल्लेखनाके लिए। तो प्रथमबात तो यह है कि आहार आदिके सम्बंधका राग छूट जाय विकल्प छूट जाय। दूसरी बात यह है कि मरणकालमें अत्यन्त रुग्ण अवस्थामें आहारपान करना कष्ट बढ़ाने वाला होता है। वैसे

ही जीवनमें अच्छी हालतमें भी कोई अधिक खा ले, गरिष्ट खाये तो दो चार घंटे उसे भी लेटना पड़ता है। पर जहां शरीर इतनी शिथिल अवस्थामें है, बुढ़ापा है, रोग है वहां आहारका त्याग करना लाभदायक है। आहारका त्याग करना उसके खुदके लिए लाभकारी है, शारीरिक आरामके लिए भी आहार आदिकका त्याग करना आवश्यक हो जाता है। सो धर्मके लिए भी यह ही बात है।

मरणसमयमें श्रावकके ज्ञान और वैराग्यकी वृद्धि—यह श्रावक ऐसे कठिन रोगके समय जहां जानता कि यह देह नष्ट होने वाला है तो सल्लेखना पूर्वक देहको त्यागता है उसका उस समय यह यत्न रहता है कि मेरा स्वभाव दर्शनज्ञान चारित्र है। तो यह स्वभाव मेरा न मिटे, इसका विकास मेरेमें रहे और ऐसे अपने अन्तः स्वरूपकी भावना सहित मरण करूं, यह उस श्रावकका लक्षण है। देखिये मरणके समयमें जिसकी धारा मोहकी ओर लग जाय वह बड़े कठिन संक्लेशसे मरता है और जिसकी विचारधारा कुछ धर्मकी ओर लग जाय तो उस समय उसे बड़ी अधिक विरक्ति रहती है। मरण समयमें ज्ञानका बढ़ना, वैराग्यका बढ़ना यह सुगमहो जाता है। जैसे किसीको फांसीका हुक्म दिया गया और फांसी वालेसे पूछा जाय कि बोल तुझे कौन सी मिठाई खाना पसंद है, जो मांगेगा वह खिलायी जायगी। तो क्या वह कोई मिठाई खानेकी इच्छा करेगा? अरे वह जानता है कि अभी कुछ ही देर बाद मैं तो मर ही रहा हूं, तो उसकी इस ओर बुद्धि नहीं लगती। और यह जो स्वयं मर रहा है तो मरण समयमें क्या उसे यह रुचेगा कि मैं बच्चोंको खिलालूँ उनसे थोड़ा प्यार करलूँ? हां कोई-कोई मूर्ख ऐसे भी होते जो कि फांसीके समयमें रसगुल्ले भी खानेको मांग सकते या मरते समय भी यह कह सकते कि अमुक बच्चेको बुलाकर दिखा दो, मेरी छाती ठंडी हो जायगी। यों मूर्ख लोग तो कह सकते, मगर विवेकी पुरुषको उस स्थितिमें ज्ञान और वैराग्य बढ़ता है।

बाह्य इन्द्रियोंकी बेहोशीके अवसरमें अन्तः चेतनाकी संभवता—जिसने जीवनमें ज्ञानसाधनाकी, वह कदाचित बेहोश हो जाय तो लोग भले ही समझें कि यह बेहोश हो गया, इसकी हालत खराब है पर कुछ पता नहीं कि बेहोशीमें आत्मसाधनाको और सहयोग मिलता है। अगर होश हो तो एक बार बाहरी चीजें देखनेका भी विकल्प बढ़े, पर बेहोशी तो इन इन्द्रियोंकी है। वह बाहरी चीजें नहीं देख सकता किन्तु जिसके ज्ञानकी धारा है वह भीतरमें ज्ञानानुभव कर रहा है। मुझे इस सम्बन्धमें ऐसा निश्चय कैसे हुआ कि हम एक बार ब्रह्मचारी छोटे लालके साथ गोहदसे मऊ जा रहे थे तो आहारके बाद बड़ी जल्दी चले, १४—१५ मील तक चले तो रास्तेमें एक जगह ब्रह्मचारी छोटेलाल जीका मकान पड़ता था, बस वहीं ठहर गए। वह छोटा सा गांव था, दूसरे हम थके हुए भी बहुत थे जाकर सामायिक किया और सामायिक करके लेट गए, जल्दी ही नींद आने लगी, उसदिन प्रवचन नहीं कर सके। उस नींदके बीचमें ही ब्रह्मचारी छोटेलाल जीकी पुत्र बहुवें वगैरह भी आयीं, वे लोग आपसमें कुछ बातचीत भी करते रहे, पर हमें पता नहीं कि क्या बातचीत करते रहे धीरे-धीरे। हम वहां सो गए। उस सोते हुएके बीचमें ही ब्रह्ममुहूर्तमें एक स्वप्न आया कि हम सामायिक कर रहे हैं, उस सामायिकके बीचमें इस प्रकारका ध्यान बना कि हम स्वानुभवका प्रयास कर रहे हैं, उसी अवसरपर दो देवियां सामने आकर अगल बगल बैठी हमारे प्रति कुछ प्रशंसा भरे शब्दोंमें स्तुति कर रही हैं। हमारा ध्यान स्वानुभवके

कार्यमें और भी अधिक बढ़ता जा रहा था। स्तुतिकी धीमीसी आवाज सुनाई पड़ रही थी, हम स्वकी ओर लीन हो रहे थे देखिये यह सब स्वप्नमें बीती बात कह रहे। यह स्थिति कुछ देर रही पश्चात् नींद खुल गई तो उस स्थितिमें मैं क्या देखता हूं कि वहां कहीं कुछ नहीं है, न देवियां न उनका गानतान। मैं उस समय यह अनुभव कर रहा था कि वह मेरी स्वानुभवकी स्थिति थी। अब मेरे मनमें एक भावना जगी कि यह नींद क्यों खुल गई, यदि वैसा ही स्वप्नमें कुछ समय और चलता रहता तो कितना अच्छा होता। तो देखिये उस सोते हुएकी स्थितिमें भी स्वानुभवकी बात देखनेको मिली, तभीसे हमको तो ऐसा निश्चय हो गया कि इस देहकी चाहे कैसी ही अपवित्र स्थिति हो, बेहोशी हालत ही क्यों न हो पर वहां अपने परिणाम सुधारनेका बड़ा मौका मिलता है। उस स्थितिमें भी इस देहका भी ममत्व छोड़कर रत्नत्रय धर्मकी आराधनाकी जा सकती है।

सल्लेखनामें रत्नत्रय धर्मकी रक्षाका उद्यम—देखिये यह देह विनश्वर है। कोटि यत्न करनेपर भी यह सदा न रहेगी। और फिर यह देह तो हड्डी चामका पिण्ड है जिसे लोग थोड़ी देरमें जला देंगे और जिसे कहते हैं कपालक्रिया याने मुर्दाकी खोपड़ी फोड़ना उस जलानेके प्रसंगमें कुटुम्बीजनोंके किसीके हाथसे बांससे खोपड़ीमें मार लगाई जाती है थोड़ा जलनेके बाद ताकि उसमें भी दरार पड़ जाय और अच्छे प्रकार जल जाय। ये सब बातें होती हैं इस देहकी। ठस देहसे क्या ममत्व करना? इस देहमें ममत्व करनेका फल है संसारमें परिभ्रमण। अब तक जन्ममरण करते चले आये हैं। समाधितंत्रमें एक जगह बताया है कि देख तुझे देह बराबर मिलते रहेंगे, टोटा न रहेगा, और अगर देह न चाहिए तो उसका सीधा तरीका यह है कि तू इस देहके स्वरूपको और अपने स्वरूपको सही-सही जानकर इस देहसे ममत्व न कर और अपने सहज चैतन्यस्वरूपमें आत्मतवका अनुभव बना कि मैं यह हूं, यह कुञ्जी है देहसे छुटकारा पानेकी। तो यह व्रती श्रावक सल्लेखनाके कालमें चिन्तन कर रहा कि देह तो अनन्तधारण किये हैं और छोड़े हैं, पर रत्नत्रय धर्म आज तक प्राप्त नहीं हुआ, उसकी निशानी क्या है कि अब तक संसारमें रुल रहे। सो अब मैं रत्नत्रय धर्मकी रक्षा करूंगा, इस देहकी नहीं। किसीका घर जलने लगता है तो वह कोशिश यह करता है कि घरतो जल जायपर घरके भीतर रखे हुए जो कीमती रत्न हैं उन्हें उठा लें, ऐसे प्रसंगमें वह अग्नि बुझानेका मुख्य काम न सोचेगा। मुख्य काम सोचेगा अपने कीमती रत्नोंको वहांसे हटा लेनेका। उस समय उसका निर्णय बनता है कि घर जल रहा तो जल जाने दो, इसमें तो १०—२० हजारका ही नुकसान होगा, मगर लाखोंकी कीमतके जो रत्न रखे हैं उन्हें तो निकाल लूँ। तो ऐसे ही जब यह देह मिट रहा है, मरण हो रहा है तो यह सोचता है कि देह मिटने दो, पर अपना जो रत्नत्रय धर्म है उस धर्मकी तो रक्षा करलूँ। यह धर्म तो मेरे साथ आगे भी रहेगा पर यह देह तो आगे नहीं रहनेका। तो ऐसे कठिन रोगके प्रसंगमें यह व्रती श्रावक अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी रक्षाके लिए सर्वकुछ परित्याग कर देता है।

मरणसमय धर्मदृष्टि न करनेकी अक्षम्य चूक—यह देह तो संसारमें रुलाने वाला है। जो देहकी ममता रखेगा वह संसारमें रुलेगा और यह रत्नत्रय धर्म मुझे संसारके सुखोंसे छुटकारा दिलायगा, सिद्ध अवस्था प्राप्त करायेगा और सदाके लिए आत्मा पवित्र हो जायगा। तब देहकी परवाह करना

कि अपने रत्नत्रय धर्मकी रक्षा करना? यह श्रावक उस कालमें अपने रत्नत्रय धर्मकी रक्षा करता है। और धर्म कहीं बाहर है क्या? धर्म आत्माका स्वरूप है, आत्मामें ही लखना है, उपाय भी स्वाधीन है, तत्त्व भी स्वाधीन है, क्रिया भी स्वाधीन है। जब यह जीव तीन चीजोंका पिण्डोला है—शरीर, कर्म और जीव, और शरीरमें अनन्तानन्त परमाणु हैं, कर्ममें भी अनन्तातन्त परमाणु हैं, तो प्रत्येक परमाणुकी और इस जीवकी सत्ता जुदी-जुदी है। एकमें ये मिल नहीं गए, स्वरूपतः संयोग है, बंधन है मगर किसीका स्वरूप किसी दूसरे रूप हो जाय ऐसा त्रिकाल सम्भव नहीं। तो जो मैं हूं, स्वयं सत् हूं। अपने स्वरूपसे हूं तो उस ही वास्तविक सत्को तो निरखना है कि मैं अपने आप अपने सत्त्वके कारण स्वयंमें क्या हूं। यह तत्त्व जिसमें आत्माकी धुन है और यह ही जीवनका लक्ष्य है, उसको मिल जाता है और जिसके जीवनमें लोभकषाय है, बाह्य वस्तुवोंकी तृष्णा और संग्रह करना और इतना बढ़ जाना यह ही जिसका ध्येय है उसको यह अंतस्तत्त्व कभी प्राप्त नहीं हो सकता। थोड़ा विवेक रखना चाहिए कि बाह्य पदार्थ जिनकी सत्ता भिन्न है उनके लगावसे, ममत्त्वसे, मोहसे मेरी बरबादी है, इस समय भी बरबादी है, आगे भी बरबादी है। मुझे तो अपने आपमें अपने स्वरूपकी आराधना चाहिए, यह ही एक मुख्य लक्ष्य रहता है व्रती श्रावकका, जिसने कि इस मरणके अवसर पर सल्लेखना व्रत धारण किया है। सारे जीवनभर जो व्रत तप धर्ममें आचरण किया है उनको सफल करनेका यह ही तो अवसर है कि मरण समयमें चूके तो वह एक बड़ी चूक कहलाती। तब ही तो लोग कहते हैं 'अन्तमति, सो गति', मरण समयमें जैसी बुद्धि होती है वैसी गति होती है। और होता भी यही है। जिस गतिमें जानेको है उसीके अनुरुप उसकी बुद्धि बन जाती है। तो इस सल्लेखनाके प्रकरणमें यह ध्यान किया गया हैं कि व्रती श्रावक समग्र व्रतोंके पालनका अब फल पायगा। इस अवसरमें सल्लेखना व्रत करनेसे ही उसका कल्याण है।

अंतः क्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यं॥ १२३॥

अतःक्रिया आधार, सो तप-फल सर्वदर्शी प्रशंसै।
अतः सामर्थ्य प्रमाण, समाधिमरण प्रयत्न योग्य॥

अन्तः क्रियासे तपश्चरणकी सफलता—जीवनमें जितने भी व्रत, तप, संयम किया है और इस सदाचारके फलमें विशुद्धि प्राप्त की है तो उसकी सफलता अन्तमें समाधिमरणसे होती है। अन्तः क्रिया कहते हैं समाधिमरणको। समाधिमरणमें रागद्वेष दूर हों, अपने आत्माके सहज स्वभावकी दृष्टि बने, इसका पुरुषार्थ चलता है। सो जिन्होंने इस अन्तः क्रियाको किया उन्होंने ही जीवनमें किए हुए व्रत, तपका फल प्राप्त किया। ऐसे सर्वज्ञ भगवानमें भव्य आत्माकी प्रशंसा रहती है। इस कारण जितने भी विभव हैं समस्त विभवके अनुसार अर्थात् जो भी शक्तिविकास पाया है उस पूरी शक्ति विकासके अनुकूल समाधिमरणका प्रयत्न करना चाहिए। विभव क्या क्या किया? समाधिमरण करने वाले श्रावक व मुनिने प्रथम तो यह शास्त्रोंका ज्ञान, तत्त्वज्ञान, नयविज्ञान, सर्वपरिचय पूर्वक जिसने अपने आत्माके

स्वरूपको स्पष्ट परखा है वैभव यह ही है वास्तविक। बाह्य पौद्गलिक जड़का वैभव यह कुछ वैभव नहीं है। आत्माके काम आत्माकी बुद्धि, आत्मतत्त्वका परिचय ये काम आते हैं। कितने भी संकट हों जीवनमें, जहां यह ध्यानमें आया कि बाहरमें बाहरी पदार्थोंका परिणमन होता रहता है। यहां तो इस हीके गुणोंका परिणमन हो पाता है। बाहरसे संकट नहीं आते। संकट तो अपनी कल्पनाका नाम है। भला जगतमें कौन जीव बुरा है, कौन जीव भला है?

अन्तः क्रियाका भाव—सभी जीव अपनी सत्ता लिए हुए हैं, जैसे मेरे परिणमनसे मेरा परिणमन बनता है ऐसे ही दूसरे जीवोंके परिणमनसे उनका परिणाम बनता है। वे मेरे लिए बुरे कैसे? वे अपने लिए अपना काम कर रहे हैं, मेरा कुछ कर ही नहीं सकते। वस्तुका स्वरूप ऐसा है। मैं अपने लिए अपना काम कर रहा हूं। मैं दूसरेके लिए कुछ कर ही नहीं सकता। ऐसा स्वपरविभाग इस ज्ञानी श्रावक व मुनिके हुआ है जिसके कारण अब वह संकट नहीं मानता। जब बड़े-बड़े संकट सहनेकी वार्ता सुनते हैं कि बड़े-बड़े मुनियोंने दूसरेका उपसर्ग सहा, शेरनीने सुकुमारके अंग चीथा और वे विचलित न हुए। बहुतसे मुनि घानीमें पेले गए पर वे विचलित न हुए। आग लगा दी किसी बैरीने पर वे मुनि विचलित न हुए। ये सब बातें सुनकर अचरज होता है पर अपने आपमें एक अंदाज बनाइये—जैसे प्रकट भिन्न धन वैभव आदिकमें यह बुद्धि बन जाती कि इन बाह्य पदार्थोंके परिणमनसे यहां कुछ भी बिगाड़ नहीं होता तो इस दृढ़ निश्चयके कारण बाहरमें कुछ होता रहे पर आप संकट नहीं मानते ऐसे ही विशेष बड़े मुनिजनोंने इस देहके प्रति अन्तर्बुद्धि कर ली है, स्वरूपास्तित्त्वका ऐसा दृढ़ अभ्यास बन गया है कि उन्हें यह देह भी अत्यन्त पृथक् दिखता है। हो रहा है उपद्रव देहपर, इसका ज्ञाताद्रष्टा बन रहा है, पर विचलित नहीं होता। इस जीवनमें और साधना करना ही क्या है? धर्मके नामपर तो बहुतसी बातें होती हैं पर जो धर्म पालनका मूल उद्देश्य है वह ध्यानमें न रहे तो उन सारी क्रियावोंका क्या परिणाम है? प्रत्येक धर्मके काममें यह बात दृढ़ बनाना है कि मेरे स्वरूपसे अतिरिक्त जो कुछ भी परपदार्थ हैं, चेतन हों, अचेतन हों उनके परिणमनका प्रभाव उन्हीं तक ही है, मुझमें नहीं आता। इसकी आस्था बनाना है, इसको प्रायोगिक रूप देना है, यही वास्तविक धर्मसाधना है, बाकी तो जो कुछ भी किया जाता है देवदर्शन, स्वाध्याय, सामायिक, सत्संग वे सब इस ही अंतस्तत्त्वके अभ्यासके लिए हैं, इसे कहते हैं अंतः क्रिया। अपने आपके स्वरूपमें प्रदेशमें अपने आपकी विशुद्ध परिणति जगना यह है अंतः क्रिया।

ज्ञानी आत्मापर स्वरूप दर्शनके कारण बाह्यपरिणतियोंका अप्रभाव—यदि कोई एक बार ऐसा ही सोचले कि मानों मैं इस मनुष्यभवमें न होता, किसी अन्य पर्यायमें होता, क्या अन्य पर्यायोंमें थे नहीं? यदि मैं किसी अन्य पर्यायमें होता, कीड़ामकोड़ा पशुपक्षी कुछ भी होता तब मेरे लिए यहांका दृष्यमान समागम तो कुछ भी न था। अब मनुष्यपर्यायमें आनेपर यह मानलें कि ये दृष्यमान पदार्थ मेरे लिए कुछ नहीं हैं, कैसा आपने आपमें दृढ़ बनना पड़ता है धर्मपालनके लिए। मैं अकिञ्चन हूं, धर्मपालनकी दिशामें मान, अपमान, प्रशंसा, निन्दा, परिचय, नाम इनका कुछ महत्त्व नहीं है। ये कुछ भी नहीं है। चाहे लोगोंकी दृष्टिमें मैं मूर्ख कहलाऊं, किन्हीं भी शब्दोंमें लोगोंके द्वारा पुकारा जाऊं फिर भी वह उन लोगोंका परिणमन है। उनकी योग्यताके अनुसार उनका वह परिणमन है। मैं तो अपने

सहजस्वरूपको देखूँ और इस ही में प्रसन्न रहूं, यही मेरा परिणमन है और बुद्धिमानीका काम है। जो मरणके सम्मुख है, कुछ ही समयमें शरीरको छोड़ देने वाला है, वह ज्ञानी पुरुष क्या बाहरी बातोंमें उपयोग फंसायेगा, अपनेको अकिञ्चन अनुभव करेगा। मैं अपने आपमें पूर्ण स्वच्छ हूं। बाहरी समस्त पदार्थोंमें से अकिञ्चन हूं। यह तो सब बड़ी विपत्ति थी जो कुटुम्बीजनोंमें, मित्रजनोंमें एक स्नेह बनाया और जिस प्रेमके आगे दूसरे जीवोंको तुच्छ समझा, गैर समझा, ऐसी जो उसने अपने परिणाममें कवायद की यह उसके ऊपर विपदा थी। यह सब कुछ करने योग्य न था, यह ध्यान जाता ज्ञानी पुरुषका अब इस मरणसमयमें। जो ध्यान मरण समयमें होता है वह ध्यान जीवनमें भी सदा करना चाहिए पर जीवनमें चूँकि अन्य काम भी पड़े हुए हैं इसलिए यथाशक्ति थोड़ा थोड़ा चलता है किन्तु मरण समयमें तो वह अपने को रिटायर्ड अनुभव कर रहा। सर्व कामोंसे मैं निवृत्त हूं। एक शब्द दिया है वैयावृत्यका। वैयावृत्य करना साधुजनोंका कार्य है, उस वैयावृत्यका अर्थ क्या है? व्यावृत पुरुषका काम। व्यावृत कहते हैं रिटायर्डको। सर्वद्रव्योंसे जो निवृत्त हो गया है उसे अब जगतके दंदफंद मायाजाल वचनालाप, इनसे क्या प्रयोजन है? मरणसमयमें वह अपनेको ऐसा अनुभव करता है कि अब मेरा क्या प्रयोजन रहा किसीसे।

समाधिमरणका महत्त्व—परिणामोंमें अत्यन्त विशुद्धि बने, पवित्रता जगे उसका साधन है मरण काल। जिसको कुबुद्धि है उसको सबसे बुरा है मरणकाल। जिसको सुबुद्धि है उसके कल्याणका अवसर है मरणकाल। **जन्मसे मरणका महत्त्व अधिक है। जन्मके बाद मोक्ष नहीं है मरणके बाद मोक्ष है। उस मरणका नाम है निर्वाण अथवा पंडित पंडित मरण। आयुका क्षय ही तो हुआ है। मरणके बाद कल्याण है, जन्मके बाद कल्याण नहीं है अतएव मरणका महत्त्व जन्मसे अधिक है।** लोग शान्त आनन्दमय ही तो होना चाहते हैं। जिस विधिसे आनन्द मिले उस विधिमें क्या संकोच? अपनेको एकाकी केवल अपने स्वरूपमात्र निरखनेमें आनन्द जगता है। तो बाहरी पदार्थोंमें बुद्धि आनेसे कष्ट होता है। कर्मका उदय विचित्र है सम्हले। सम्हले मनुष्य भी कर्मविपाकवश समय-समयपर क्षुब्ध होते रहते हैं। बड़े-बड़े मुनिराज भी सर्वकुछ त्याग करनेके बाद भी इन विकल्पोंसे छूट नहीं पाते, फिर भी जो भीतर आस्था है और बारबार इस आनन्दमय सहज स्वरूपपर दृष्टि जाती है उसके प्रतापसे संकटोंको सहकर भी पार हो जाते हैं, किन्तु इसके लिए चाहिए विशिष्ट ज्ञानबल, अन्तःक्रिया। तो सर्वज्ञ वीतराग देवने कहा है कि तपश्चरण आदिकका फल तो समाधिमरणमें है। समता सहित उपयोग होना यह है सल्लेखना। यदि अन्तमें परिणाम बिगड़ा तो जीवनभर किया हुआ व्रत तप संयम आचरण ये सब फीके हो जाते हैं।

सम्यक्त्व न होनेपर भी तपश्चरणके प्रभावका दिग्दर्शन—तपका फल लोकमें तो सुगतिमें उत्पन्न होना है। मिथ्यादृष्टि भी तप करें तो तपश्चरणके प्रभावसे नवग्रैवेयकमें जन्म होता है। उत्कृष्टसे उत्कृष्ट इतनी उन्नति हो सकती है मिथ्यादृष्टिकी तपश्चरणके प्रभावसे, मगर होता व्यवहाररूपसे जैनशदर्शन अंगीकार करके और निर्ग्रन्थ मुनि होकर भीतरी भावसे निष्कपट तपश्चरण करनेसे। इसमें भी बहुत ऊंची साधना चलती है, किन्तु सिर्फ एक भीतरकी कुञ्जी नहीं सुलझ पायी जैसे स्नान करनेकी

बावड़ी आदिक पर एक चादर ही बिछा दो थोड़ा ऊपर तो उस ही आड़की वजहसे स्नान नहीं कर सकते ऐसे ही बहुत ज्ञान हो जानेपर भी इस चैतन्यसमुद्रके ऊपर भ्रमकी एक चादर पड़ी है। वह कोई मोटी पिण्डरूप नहीं है, काल्पनिक उस भ्रमकी चादर ओढ़े रहनेसे यह जीव अपने इस ज्ञानसरोवरमें स्नान नहीं कर पाता, तड़फता रहता है, उस तपश्चरणका इतना ऊंचा प्रभाव है कि नवग्रैवयक तक उत्पन्न हो ले पर उसका फल क्या मिला? रहा वह ३०-३१ सागर तक अहमिन्द्र, जिसमें अरब खरब वर्ष नहीं, कल्पना भी नहीं हो सकती, इतने असंख्याते वर्ष तक वह अहमिन्द्र रह रहा मगर वे असंख्याते वर्ष भी अनन्त कालके सामने बिन्दु बराबर भी नहीं है। वहांसे चलकर फिर यहीं मनुष्य होना पड़ता है, और सम्यक्त्व न होनेपर तिर्यञ्च आदिक योनियोंमें भटकना पड़ता है।

सहजात्मतत्त्वकी भावनासे आत्मोद्धार—यदि सम्यक्त्वसहित जीवन होता तो यहां भी आनन्द होता और निकटकालमें सर्वसंकटोंसे छुटकारा मिल जाता। गुणीजनोंमें प्रमोद हो, हर्षहो, ऐसा अपना परिणाम बनाइये, बढ़ाइये, यह है वह प्रारम्भिक उपाय कि जिस उपायके बलसे हम आगे बढ़कर आत्मकल्याण करने लगेंगे, जगतकी भटकनासे बच लेंगे। और प्रयत्न कीजिए कि मेरेको तत्त्वज्ञानका लाभ हो। बाहरी संग प्रसंग अच्छे हों बुरेहों, मनपसंद हों, मनको अनिष्ट हों, उन सब मायाजालमें सिर रगड़नेसे लाभ कुछ न मिलेगा, केवल पाप कलंक ही हाथ रहता है और एक आत्मस्वरूपका परिचय, बोध, दर्शन इनकी अभिमुखता होनेसे अपने आपमें विशुद्धि जगती है। आनन्द जगता है, शान्ति मिलती है और ऐसा सिलसिला बन जाता कि जितने दिन संसारमें रहना है उतते समय भी यह शान्त रहेगा, धार्मिक वातावरणमें रहेगा और जल्दी ही निर्वाण पा लेगा। तो बाहरकी बातोंमें क्रियामें समय व्यर्थ गया, बड़ी-बड़ी कल्पनायें कीं—मेरे लड़के अच्छे हो गए, ऐसे पढ़ लिख गए, यह काम कर रहे, अरे तुम्हारा क्या है वहां? जैसे जगतके अन्य जीव हैं वैसे ही ये भी जीव हैं, अत्यन्त भिन्न। इस भवमें ही आपकी जिम्मेदारी नहीं ले सकता कोई, तो फिर परभवकी कोई क्या जिम्मेदारी लेगा? मोह बहुत कठिन विपत्ति है? मोह विपत्तिसे बचना भी बहुत सुगम है, यदि मोहविनाशके उपायभूत अन्तस्तत्त्वकी धुनके लिए कमर कस लें तो, अन्यथा मोहके वश होकर संसारमें रुलना ही रुलना रहेगा। साधर्मीजनोंमें, गुणीजनोंमें प्रमोद होना, प्रतीति होना यह उन्नतिका सबसे प्रारम्भिक उपाय है। यदि यह बात हममें न बन सके तो हम कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं हैं। रत्नत्रयका प्रेम उसके ही सम्भव है जो अपनेमें अपने स्वरूपकी आराधना करता है और उसका प्रयोग कर कुछ पाता है।

सर्वमैत्रीभाव आत्मतत्त्वभक्तिका महत्त्व—जिस अन्तः क्रियाका साधन हमें मरण समयमें चाहिए वह अन्तः क्रियाका अभ्यास हमारा अभीसे ही जीवनमें हो। अपने जीवनको इतना ही बनालें पहले कि मेरे द्वारा किसी भी जीवको कष्ट न पहुंचे, यह बात तब सम्भव है जब अपनेमें मान कषाय न रहेगी। मानकषायके रहनेपर यह बात मुश्किल है कि मेरी प्रवृत्तिसे किसीको कष्ट न पहुंचे। कषाय जगेगी, उसमें प्रवृत्ति बन जायगी। इससे आत्मरक्षा इसीमें है कि मैं अपनेमें स्वरूपको तो देखूँ जिस स्वरूपमें कोई रूप नहीं, रस नहीं। दुनिया मुझे जाने कैसे, देखे कैसे, दुनियाके लिए मैं कुछ नहीं, मैं अपने लिए तो हूं क्योंकि मैं अपनेको अनुभवता हूं, पर यह मैं दूसरेके लिए कुछ नहीं हूं। दूसरा मेरे लिए कुछ नहीं

है। भले ही साधर्मी प्रेमके कारण बातें होती हैं, परस्पर सहयोग होता है, पर वस्तुस्वरूप यह बतला रहा है कि जिस वस्तुका का जो परिणमन है वह उसमें ही समाप्त होता है, उससे बाहर नहीं। सल्लेखनामें यह व्रती चिन्तन कर रहा है कि अहो अनन्त काल इन विषयकषायोंमें ही वृत्ति रहकर व्यतीत हुआ। अनन्त जन्म पाये, अनन्तानन्त मरण हुए, पर एक यह रत्नत्रय धर्म प्राप्त नहीं हुआ। अपना जीवन सफल करना है, अपने आत्माका उद्धार करना है तो आत्माको जानें, आत्माके सहजस्वरूपमें अपना अनुभव बनावें और इस ही में मग्न होनेका लक्ष्य बनायें। बाहरमें मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करनी पड़े तो शुद्ध हृदयसे व्यवहार बने, कोई मेरा बैरी नहीं है, कोई मेरा विरोधी नहीं है, कोई मेरा अहित करने वाला नहीं है। सर्वजीव मेरे स्वरूपके समान हैं, सर्वजीवोंके उस भीतरी भावपर दृष्टि जाय तो इस नातेसे सब आपके हैं, सर्व जीवोंमें मैत्री भाव हो, गुणी जनोंमें प्रमोद भाव हो। देखिये ये दो बातें अतीव आवश्यक हैं अन्यथा आत्माकी उन्नति नहीं हो सकती। तो जीवनमें ये दो आधार शिलायें बनालें। भैया, किसी भी प्रसंगमें चाहे खुद दुःखी हो लें, आपका दिल आपके पास है, ज्ञानबलसे अपना दुःख दूर कर लेंगे, पर कोई चेष्टा ऐसी न बने कि मेरे द्वारा किसीको दुःख पहुंचे तो वह बात इतनी बढ़ती है अपनी ओरसे, दूसरेकी ओरसे हम ही खुद उलझनमें पड़ जाते हैं। इससे आत्मभक्ति करना प्रभु भक्ति करना, सबका भला सोचना इस प्रकारका जीवन होना चाहिए।

अन्तमें सल्लेखना पाये बिना जीवनभर किये गए तपश्चरणकी व्यर्थताका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन—व्रतीश्रावक मरणके अवसर पर चिन्तन कर रहा है। तपश्चरणका फल अहमिन्द्र होना, चक्री होना, अनेक पद्धारी होना है, पर समाधिमरण हो तो धर्मकी धारा बनी रहेगी और संसार संकटोंसे पार होनेका अवसर मिल जायगा, इसलिए स्वभावकी आराधना सहित मेरे क्षण व्यतीत हों, निःशंक निर्भय रहना हो। निःशंक निर्भय रहते हुए मेरा मरण हो जिससे जिसकी दृष्टि लगाकर यहांसे जाऊं तो नये भवमें भी उस दृष्टिका पात्र बना रहूं। ऐसा यह श्रावक सल्लेखना व्रत धारण करने वाला अपने परिणामोंको विशुद्ध रखता है। यदि समाधिमरण न बने तो उसकी गति ऐसी है जैसे कि किसीने परदेश जाकर बहुत द्रव्य कमाया और सारा द्रव्य साथ लेकर चला और नगरके किनारे पहुंचते ही चोरोंने लूट लिया तो उसका द्रव्य कमाना किस कामका रहा? ऐसे ही सारे जीवनभर व्रत तप करके परिणामोंको विशुद्ध बनाया और अन्तमें मरण समयपर वह सारा परिणाम लुट गया, परिणाम खोटा कर लिया, विषयकषायोंमें उपयोग लग गया तो वह करीब व्यर्थ सा ही है। यह सब निर्णय किए हुए है यह व्रती श्रावकसो अन्त समयमें यह अपनेको बहुत सावधान रख रहा। अब सल्लेखना करने वाला व्यक्ति प्रारम्भमें क्या काम करता है यह बात बतलाते हैं।

स्नेहं वैरं संङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षांत्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः॥ १२४॥

स्नेह बैर और संग, परिग्रह त्याग शुद्ध मन हो करके।
क्षमा स्वजन-परिजन प्रति, करै करावै प्रियवचनों से॥

सल्लेखनाके समय व्रतीश्रावकका निर्वैर व निःस्नेह होनेके लिए चिन्तन—इस वर्तमान भवको छोड़कर जानेकी तैयारी रखने वाला यह श्रावक यहांके सर्व समागमोंसे विरक्त होता है, स्नेहको, बैरको, परिग्रहको त्यागकर यह शुद्ध हृदय वाला श्रावक दूसरोंको क्षमा करके दूसरोंसे क्षमा लेकर यह अपनेको निर्मल बना रहा है। अपने कुटुम्बीजनोंसे या अन्य जनोंसे सबके साथ यह स्नेह बैरको छोड़ देता है। यह विचार करता है कि यह मैं इस पर्यायमें आया, ऐसा ही कर्मोदय था, इस पर्यायको भुगतना पड़ा, अब इस मनुष्य देहका उपकार करने वाला जो पदार्थ है, भोजन धन आदिक जो भी इस शरीरके पोषणमें मददगार हैं अथवा इस शरीरके भोगोपभोगके साधन हैं उन साधनोंको जिन्होंने मिला दिया उन्हें तो इष्टमित्र मान रहे और जिन्होंने इन साधनोंमें बाधा डाली उन्हें गैर मान रहे, इस पर्यायसे मेरा क्या सम्बन्ध? यह तो मैं नहीं हूं, पर बंधन है, और उस बंधनसे इस पर्यायके उपकारकको मित्र मानता रहा और पर्यायका अपकार करने वालेको बैरी मानता रहा। सो मित्रजनोंको देखकर मैं खुश रहता था, उनका सम्मान करता था, उनका पोषण करता था और जो इस पर्यायका अपकार करने वाले, द्रव्यादिकको नष्ट करने वाले लोग थे उनको मैं अपनी कल्पनासे चारित्रमोहके कारण बैरी मानता रहा। अब जिस पर्यायके पीछे मैं लोगोंको बंधु और दुश्मन मानता रहा, जब यह पर्याय ही नष्ट होने वाली है तो अब मैं किससे मित्रता शत्रुता करूं। यहां कौन मुझको जानता है। इन लोगोंको चाम दिखता है यह चाम पौद्गलिक है।

सल्लेखनाके समय व्रती श्रावकका क्षमापण—सल्लेखना व्रतधारी श्रावक वस्तुस्वरूप सहित चिन्तन कर रहा है। अब सबसे क्षमा करना कराना यह ही उचित है ताकि अन्तिम विकल्प भी समाप्त हो और अपने आत्माकी आराधनामें लग जाऊं। सो जिन लोगोंके प्रति कुछ बुरा सोचा था जो अपने अभिमानके कारण ही बिना कारण ही बैर करने वाले थे उन सभीको बुलाकर नम्र होकर क्षमा ग्रहण कराता है, मेरी जो भूलचूक हुई हो उसे आप क्षमा करें। आप तो सज्जन पुरुष हैं, मैं अज्ञ रहा, जो किसी प्रकारका कटु व्यवहार बन गया उस अपराधको क्षमा करें। देखिये जैसे जीवनमें किसीने अपराध भी कर लिया, कुछ गल्ती भी कर लिया तो भी उसको ऐसा अभिमान रहता है कि मैं क्यों क्षमा मागूँ। जीवनमें प्रायः ऐसा चलता है, पर मरणके समयमें नम्रता आ जाती है और वहां यह ऐंठ नहीं रहती कि मैं क्यों क्षमा मांगूं? उन दोनों स्थितियोंमें फर्क है। जीवनमें तो यह बात है कि मुझे आगे भी रहना है, जीवन तो चल ही रहा है। मरणमें यह बात है कि कुछ समय बाद मेरा मरण हो ही रहा है फिर मैं किसके लिए ऐंठ बगराऊं? यों अन्त समयमें उसके परिणाम कोमल हो जाते हैं, सो जिसके प्रति कुछ भी कटु व्यवहार रहा या जिसने अपनी ही भूलसे अभिमानके कारण मुझसे बैर माना उन सभीसे यह क्षमा याचना करता है, आप मुझे क्षमा का दान कीजिए। यह श्रावक यदि किसीका कुछ धन धरती आदिक दबा लिया हो तो उसको बड़े प्रेमसे विनयसे कह कर वापिस कर देता है। मरण समयमें यह भावना बन ही जाती है कि मैं मर ही रहा हूं, धरा, धन अमुकका कपटसे कुछ अधिक लिया है तो यह मेरे क्या काम आनेका है। मैं तो इस भवको छोड़कर जा ही रहा हूं, उसके परिणामोंमें उदारता आ ही जाती है और जिसका जो कुछ धन आदिक कुछ हड़प कर लिया हो वह उसे पूरा वापिस कर देता है। मैंने

दुष्टतासे या छलसे आपका इतना धन हड़प लिया था सो आप मुझे क्षमा करें और यह द्रव्य आप अपना लीजिए। मैंने उस समय कषायमें आकर दुराचार किया। मैं अन्तरङ्गमें पश्चात्ताप करता हूं।

मरणकालमें कुछ भी विवेक होनेपर परिणामविशुद्धिकी प्रधारा—मरण समयमें कितनी ही बातें ऐसी होती हैं जिनसे परिणामोंमें उज्ज्वलता और निर्मलता आती है। कोई मनुष्य साल दो सालके लिए भी विदेश जाता है तो जिनके साथ कुछ अनुचित व्यवहार बने या गाली गलौचकी बात बने तो उनसे भी क्षमा मांगली जाती है। अब यह तो इस शरीरसे सदाके लिए विदा हो रहा है और आगेका कुछ भरोसा नहीं कि मिलाप हो। भरोसा क्या, होगा ही नहीं मिलाप। और यदि मिलाप होगा तो दूसरे भेषमें होगा। पता ही न रहेगा कि हमारा और इसका कुछ सम्बंध था। तो ऐसे अवसर पर नम्रता आती है। और जिसका धन हरा हो उसका धन वापिस करता, बड़े विनयसे प्रेमसे वचन बोलता, क्षमायाचना करता। यह काम करके वह अब निर्विकल्प रहना चाह रहा है। किसीके प्रति कटुक व्यवहार कर लेना एक शल्य होता है। चाहे उस खोटी बातका दूसरेको पता नहीं मगर खुदको तो पता है जिसने खोटा भाव किया, चाहे वचनसे और कायसे कोई दुर्व्यवहार नहीं बना और किसीने नहीं जान पाया तो भी कुछ अपराध हुआ कि जो मनका मनमें ही रह गया तो भी यह अपने मनकी शल्य दूर करनेके लिए दूसरेसे अपना अपराध कहता है—मुझसे ऐसी गल्ती हुई है। आप बड़े सज्जन पुरुष हो, मेरेको क्षमा करो। ये सब क्रियायें क्यों करता है समाधिमरण वाला, ताकि कोई शल्य न रहे और बड़ी समाधिके साथ, समताके साथ इस देहका त्याग कर जाऊं।

मरणकालमें हुई आत्मदृष्टिधाराका प्रताप—मरण समयमें यदि आत्मदर्शनकी धारा बन जायगी तो यह अगले जीवनभर काम देगा। जैसी दृष्टि लेकर जायगा वैसी ही दृष्टिमें जमें रहकर शरीरको ग्रहण करेगा तो ऐसा ही योग बनेगा कि उसकी पात्रता रहेगी जीवनमें। सो यह व्रतीश्रावक संल्लेखना कालमें अपने आपको स्वच्छ बनाकर जा रहा है। हमने बचपनमें एक ऐसा खेल खेला था कि जैसे खिरनी पड़ेकी दो डाली ली, वे अन्दर पोली होती हैं, उनको चाकूसे कलमकी तरह बना लिया और फिर उन दोनों डंडोंको चिपका लिया। ऊपरसे कुछ मिट्टी लगा दिया। अब उसका एक डंडा घड़ेमें भरे हुए पानीमें डाल दिया। पानी अभी नहीं निकल रहा, मगर एक बार बाहर निकले हुए डंडेको मुखसे जरा चूस ले तो उससे पानी निकलना शुरु हो जाता है। धीरे-धीरे सारा घड़ा खाली हो जाता है। तो थोड़ीसी प्रक्रिया कर दी कोई पाव सेकेण्डमें फिर उसके बाद आगेकी प्रक्रिया होती रहती है। तो ऐसे ही समझो कि मरणकालमें कितना सा समय है जिस समय जीव इस शरीरको छोड़कर जा रहा। सेकेण्डका १०० वां हिस्सा भी न होगा उस समयमें चूँकि आत्मा तो आत्मा ही है, ज्ञानस्वरूप है। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने सहज ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करता हुआ निकले यह कितने बड़े ऊंचे भवितव्यकी बात है।

मरणकालमें बाह्य पदार्थोंसे उपेक्षा होनेकी प्राकृतिकता—जिसको छोड़कर जा रहे उससे क्या मतलब है? जिनके बीच रह रहे थे उनसे क्या मतलब है? एक कोई अफसर भी जब उसका तबादला होता है तो जिस स्थानको छोड़कर जा रहा उस स्थानसे विरक्त हो जाता। जब वहांसे जा रहा तो अब यह आशा तो न रही कि इनसे अब कुछ मुझे पैसा मिलेगा। उसको एक सहज विरक्ति हो

जाती है, वह है एक लौकिक ढंगकी विरक्ति पर वहां चित्त नहीं रहता, वह जहां जाना है वहां उसका चित्त लग जाता है। चाहे अभी उस जगह पहुंचा नहीं मगर दिलकी उमंग वह सब उस दूसरे क्षेत्रके लिए हो जाती है। तो ऐसे ही मरणकालमें सबकुछ छोड़कर जा रहा है न तो इस क्षेत्रसे मोह रहता, न कुटुम्बीजनोंसे मोह रहता, न यश कीर्ति आदिक किसी बातमें व्यामोह रहता। जिसके कुछ विवेक है उसकी यह चर्चा चल रही है। भैया मरण समय सबके विरक्तिकी बात कहां होती? प्रायः प्राणी तो मरण समय बहुत वेदना, मोह, मुग्धता रखते जैसे—मैंने इतना परिश्रम करके लोगोंको आंखोंमें धूल डालकर इतना वैभव इकट्ठा कर डाला है, अब यह छूटा जा रहा है मुझसे, ऐसा चिन्तन कर प्रायः प्राणियोंको बड़ा कष्ट होता है। मैंने कैसा पढ़ालिखा कर योग्य बनाकर बच्चोंको विनयशील, आज्ञाकारी बना दिया। अब इनको छोड़ कर जा रहा हूं ··· तो उसको बड़ा कष्ट होता है, मगर ये सब बेवकूफी भरी बातें हैं। जीवनमें ही बड़ा सम्हलकर रहना था वहां भी गल्ती की। अब मरण समयमें इतना व्यामोह किया जा रहा है तो यह बहुत बड़ी गल्ती है। फल इसका खोटा है, अनर्थक्रियाकारी है।

सल्लेखनाधारक श्रावकका परिजनोंको सम्बोधन—यह श्रावक क्षमायाचना करते समय कह रहा है कि मैंने आपको बड़ा दुःख उपजाया। अपराध किया, सो जो मुझसे बन गया वह तो अब उल्टा आता नहीं वापिस। अब मैं क्या करूं? आप मुझे क्षमा करें, इसके सिवाय और मैं क्या कर सकता हूं। आप मुझे सरलभावसे क्षमा कीजियेगा। यों तो जिनसे बैर विरोध है या जिन्होंने मान रखा है उनकी बात कर रहा है। यह भी सोचता है कि ऐसी क्षमा याचना, यह परस्परका सद्व्यवहार मुझे जीवनमें ही कर लेना था, पर इतने दिन तक कटुकता रही, मनमुटाव रहा, यह भी खोटी ही बात रही लेकिन जो बन गया गुजर गया उसका अब क्या किया जाय? अब तो यह ही उपाय है कि नम्र वचनोंसे क्षमा याचना करें कि दूसरेके चित्तमें भी शल्य न रहे, मैं भी निशल्य होऊं। अब स्नेहीजनोंसे वार्ता करते हैं, कुटुम्ब मित्र आदिक जिन जिनसे स्नेह किया उनसे कहता है यह सल्लेखना व्रतधारी कि तुम हमारे सम्बंधी हो, स्नेही हो, यह सब लोक व्यवहारमें चला आया था, परन्तु आत्मा आत्माका स्नेही नहीं है, यह सब पर्यायके सम्बंधकी ही बात रही। जो इस देहके पैदा करने वाले हैं वे तो मातापिता कहलाये और जो देह उत्पन्न हुआ है वह पुत्र कहलाया, जो इस देहको रमाने वाली है वह स्त्री कहलायी। सारे व्यवहार जितने स्नेह सम्बंधी हैं वे सब देहके नातेसे चले, आत्माके नाते से नहीं चले। हां त्यागीके समुदायमें देहके नातेसे व्यवहार नहीं चलता, वहां तो आत्माके नातेसे व्यवहार चलता, पर गृहस्थीमें, कुटुम्बमें रहने वाला तो देहके नातेसे ही सारे व्यवहार रखता है। सो उन स्नेही कुटुम्बीजनोंसे कह रहा है कि हमारा तुम्हारा जो सम्बंध व्यवहार था वह इस पर्यायके सम्बंधसे था सो इस विनाशीक पर्यायका इतने वर्ष तक आपसे सम्बंध रहा। यह पर्याय तो आयुके आधीन है। आयुका क्षय होते ही नियमसे यह शरीर विनशता है। सो अब इस विनाशीक पर्यायसे क्या स्नेह करना? तुम इस विनाशीक पर्यायसे स्नेह मत करो। तुम्हारा स्नेह छूटेगा तो मुझे भी निर्मोह रहनेमें मदद मिलेगी।

स्नेह व शोक दोनोंही न करनेका परिजनोंको सम्बोधन—बारबार कुटुम्बीजन सामने आकर रोवें कि तुम जा रहे हो, हम अब क्या करेंगे? यों बड़े-बड़े शब्द कहें, चिल्लायें तो कुछ तो बाधा होगी

ही, सो भली प्रकार समझा रहा यह सल्लेखना व्रत वाला कि हमारा तुम्हारा पर्यायसे ही तो सम्बंध था, जितनी देर आयु रही उतनी देर यह पर्याय रही, अब आयुका अन्तकाल है, पर्याय भी बिनसेगी, इस विनाशीक पर्यायसे तुम स्नेह मत रखो। रही यह मेरे आत्माकी बात सो प्रथम तो आत्मासे कौन स्नेह करता? थोड़ा बहुत यदि यह भी चित्तमें हो कुटुम्बीजनोंके कि मैं तो तुम्हारे आत्मासे स्नेह रखता हूं तो मेरे आत्माका कुछ बिगाड़ तो नहीं हो रहा है। आत्मा अमर है, सत् है, इसका कभी नाश नहीं होता इसलिए भी तुम्हें कोई कष्ट न मानना चाहिए। मैं आत्मा अमर हूं। यह विनशता नहीं है, देह विनशता है इससे स्नेह क्या करना? मैं आत्मा अमर हूं। जहां जाऊंगा, रहूंगा, अपने ही परिणमनसे परिणमता हूं। ऐसे ही तुम भी अपनी परिणतिसे परिणमते हो। तो आत्माका क्या स्नेह करना? करना तो वह धर्म धारा पूर्वक ही तो होगा, वहां स्नेह छोड़ ही देना चाहिए। सो हे कुटुम्बीजन, मित्रजन अब इस विनाशीक पर्यायसे स्नेह करना व्यर्थ है। जिस देहसे तुम स्नेह कर रहे थे वह देह तो अब अग्निमें भस्म हो जायगा, बिखर जायगा। जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग होता ही है, और मेरे आत्माका जो स्वरूप है वह ज्ञानानन्दमय है, अविनाशी है, मानो यह आत्मा भी जा रहा तो यह तो संसारकी पद्धति है कि जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग नियमसे होता है। ये जड़ पिण्ड पुद्गल मिल गए, ये मायारूप हैं तो ये बिखरते भी हैं। अब इस पर्यायको विनाशीक जानकर इस पुद्गलसे, इस देहसे स्नेह छोड़ो और यदि हो सके तो मेरे आत्माके उपयोग करनेमें उद्यमी होइये, निर्मोहताकी चर्चा करिये, आत्माके स्वरूपकी वार्ता करिये। अन्य बात करना व्यर्थ है। ये स्नेह वाले वचन योग्य नहीं हैं, जैसे मेरे ज्ञानदर्शन स्वभावी आत्माका रागद्वेष भावोंसे घात न हो ऐसा यत्न करिये। जो कुटुम्बीजन मरणहार व्यक्तिसे मोह ममताकी बात करते हैं तो मानो जीवनभर भी उसे रगड़ा और मरते समय भी उसे रगड़ रहे कि तुम जावो दुर्गतिमें। तो कुटुम्बीजनोंका भी यह काम होता है कि वे इस पर्यायसे स्नेह छोड़ें और जिसमें इस भगवान आत्माका घात न हो ऐसा ही पौरुष करें।

दर्शनज्ञान सामान्यात्मक भगवान आत्माकी दृष्टि होनेमें मददगार वातावरण देनेका परिजनोंको सम्बोधन—सल्लेखना व्रत ग्रहण करने वाला यही व्रती श्रावक अपने घरके कुटुम्बियोंसे कह रहा है कि जो यह देह है, जिसको हम आप लोग देखकर व्यवहार करते हैं यह तो विनाशीक है, पर्यायमात्रसे ही आप लोगोंका सम्बंध था, अब यह नष्ट होने वाली है, इसका स्नेह छोड़ें और जो मैं आत्मा हूं वह अदृश्य हूं, उससे कोई व्यवहार करता ही नहीं सो मैं अमर हूं, इस कारण कुछ सोच भी नहीं करता और जैसे ही मेरे दर्शन ज्ञानादिककी उज्ज्वलता बने वैसा ही आप लोग व्यवहार रखें जिससे कि भविष्यमें शान्त सुखी रह सकूँ। यह पर्याय तो अनन्त बार ग्रहणकी है और छोड़ी है, पर मेरा दर्शन, ज्ञान, चारित्र उल्टा होनेसे चारों गतियोंमें मैंने भ्रमण किया और उस ही भ्रमणके सिलसिलेमें आज मनुष्यपर्याय पायी, सो कहां तो मेरा सर्वज्ञातास्वरूप, जिस ज्ञानका ऐसा सामर्थ्य कि त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ ज्ञानमें झलके, परमआनन्दमयस्वरूप और कहां आज ऐसी दशा बन रही है। जब निगोदमें थे, एकेन्द्रिय पर्यायमें थे तो अक्षरके अनन्तवें भाग ज्ञान रहा और कर्मोदयवश उसके परिपूर्ण ज्ञानदर्शनये सब कुछ बिगड़ गए, नष्ट हो गए, कितने ही बार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति हुए, कीड़ा मकोड़ा

विकलत्रय हुए। यह सब मिथ्यादर्शन, मिथ्या ज्ञान, मिथ्याचारित्रका प्रभाव है। यदि इस मरणमहोत्सवके समय भी न चेत पाये, कुमरण हुआ तो जैसी दुर्गतियोंमें अब तक घूमते आये वैसा ही घूमना पड़ेगा। सो हे कुटुम्बीजन मुझपर कृपा कर स्नेह मत लावो, शोक भी मतलावो और इतने समय तक जो सम्बंध रहा, जो मुझसे सेवा बनी उस सेवाके फलमें मैं चाहता हूं कि मेरा मरण सुमरण हो। अपने कारणसमयसार भगवन्त निजपरमात्मद्रव्यकी सुध लिए हुए मैं इस शरीरको छोड़कर जाऊंगा, तो निकट कालमें ही कर्मकलंक हट जायेंगे, निर्वाण मिलेगा। सो एक यह अवसर मिला है, ज्ञानावरणका क्षयोपशम मिला है, जैन शासन प्राप्त किया है, स्वपर भेदविज्ञान भी हुआ है, तो इतनी विशेषता पा लेने पर मुझे और प्रगति करने दीजिए। हे कुटुम्बीजन अब मुझ से स्नेह करें तो ऐसा करें कि मेरा आत्मा रागद्वेषरहित हो जाय। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप इन चारकी आराधना सहित होवे तो इस ही में आपका सच्चा स्नेह है। बारबार मैं मरूं, जन्मूँ ऐसी व्याथा मेरी कट जाय और इसका पूर्ण वातावरण आपसे मिले तो यह आपका बड़ा स्नेह कहलायगा। बालबाल मरण तो अनन्त बार हुआ अज्ञान अवस्थामें, पर अब तक पंडित मरण नहीं प्राप्त किया। बालपंडित मरण नहीं पाया, सो हे सज्जनो, ऐसे ही वचन सुनाओ, ऐसी ही धर्मचर्चा करो और जो जो समय पर उपयुक्त हो वह व्यवहार करो ताकि मेरे दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी आराधना बनी रहे। समाधिमरण एक ऐसा उच्चपवित्र कार्य है कि जिसके प्रतापसे यह जीव संसारसमुद्रमें फिर नहीं डूबता। सो स्नेह, शोक, बैर आदिक छोड़कर मुझसे सद्व्यवहार करो और मैं भी सबसे स्नेह बैर आदिक छोड़ रहा हूं और समस्त परिग्रहोंको भी छोड़ रहा हूं। किसी भी परिग्रहसे मुझे लगाव नहीं। मैं अपने शुद्ध अंतस्तत्त्वकी दृष्टिमें ही लगूं, यह ही मेरी भावना है। यह व्रती श्रावक समाधिमरणके अवसर पर और क्या करता है सो बतला रहे हैं।

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निश्शेषम्॥ १२५॥

कृत-कारित-अनुमोदित, सब पाप आलोचना कर निश्छल।
मरण पर्यन्त समस्त महाव्रत आरोपै स्थिर हो॥

सल्लेखनाधारीका गुरुसेअपने कृत कारित अनुमत पापोंका प्रकाशन व निवेदन—जो जीवनमें पाप किया अथवा कराया अथवा पाप करते हुए की अनुमोदनाकी उन समस्त पापोंका आलोचना प्रकाशन करके मरणपर्यन्त अथवा कहो आजीवन महाव्रतका आरोपण करे जिसमें सर्व परिग्रहोंका त्याग बने। यह व्रती श्रावक गुरुजनोंसे कपटरहित अपने पापकी आलोचना करता है। यदि मरण समय पापकी सही आलोचना नहीं कर पाता तो इसके मायने यह है कि उसको इस देहसे ममता है। कहीं लोग यह न जान जायें कि इसने ऐसा पाप किया। लोग कह देते हैं देह को, ज्ञानमात्र अमूर्त आत्माको कोई लोग नहीं जानते। फिर लोगोंका संकोच क्या? संकोच होता है तो उसके सामने यह है कि उसकी अभी देहमें आत्मबुद्धि लगी है, और जहां देहमें आत्मबुद्धि हो, पर्यायबुद्धि हो वहां मिथ्यात्व

है। समाधिमरण कैसे हो? तो सन्यासमरणमें प्रवृत्ति करने वाला यह व्रती श्रावक अपने सर्वपापोंको निष्कपट ज्योंके त्यों गुरुसे कहता है। यों सबसे पापोंको प्रकट करनेमें इसका तो कोई बिगाड़ नहीं है मगर धर्म तीर्थ बिगड़ जाता है, लोगोंकी श्रद्धा हट जायगी। इस धर्मके मानने वाले ऐसे ऐसे पाप करते हैं सो गुरुजनोंसे वह अपने पापकी आलोचना करता है। सबसे आलोचना करना बताया इसमें भी इस ज्ञानीको संकोच नहीं है, क्योंकि देहसे निराले ज्ञानमात्र अमूर्त आत्माकी इसकी दृष्टि है। इसकी निन्दा क्या? देहको देखकर लोग सोचते हैं कि यह व्यक्ति है, तो निन्दा है सो देहकी। सो पौद्गलिककी निन्दासे किसको नुकसान? जो मैं अमूर्त आत्मा हूं उसको कोई जानता ही नहीं, निन्दा कोई क्या करेगा? और कोई जान जाय तो वह निन्दाका विषय नहीं रहता। सो इस ज्ञानीको मरणकालमें अपने पापोंको कहनेमें रंच भी संकोच नहीं है फिर भी धर्मप्रेमके कारण, शास्त्राज्ञाके कारण वह यहां वहां पापोंका प्रकाशन नहीं करता फिरता, धर्मतीर्थकी रक्षा करता है और अपने गुरुजनोंसे आलोचना करता है।

सल्लेखनाधारीका गुणरूप निश्छल स्वापराधका निवेदन—जैसे बालक अपने पापकी आलोचना करनेमें रंच भी संकोच नहीं करते। जो किया हो उसे मुखसे कह देंगे क्योंकि वे सरल हृदय होते हैं, और जो सरल होता है उसमें धर्मकी वासना होती है। कपटीमें, मायाचारी पुरुषोंमें धर्मकी बात नहीं टिक सकती। इसीलिए विवेकीजनोंको, त्यागियोंको, साधुवोंको बताया है कि वे बालकोंकी तरह सरल और निर्विकार होते हैं। बालकोंकी सरलताकी एक घटना सुनिये—कोई बाबूजी किसी सेठके कर्जदार थे। एक दिन बाबूजीने देखा कि सेठआ रहा है तगादेके लिए तो झट अपने बेटेसे कह दिया कि देखो बेटे वह सेठ आ रहा है। तुम जावो बाहर चबूतरे पर खेलो, जब वह द्वार पर आवे और पूछे कि तुम्हारे बाबूजी कहां हैं। तो कह देना कि वह घर पर नहीं हैं, बस लड़का द्वारपर पहुंच कर खेलने लगा। सेठने आकर पूछा उस लड़केसे कि तुम्हारे बाबूजी कहां हैं? तो लड़केने वही उत्तर दिया जो उसके पिताने सिखा दिया था—बाबूजी घर पर नहीं है।फिर पूछा सेठने—कहां गए? तो वह लड़का बोला—ठहरो यह भी हम बाबूजीसे पूछकर बताते हैं? तो इतने सरल होते हैं बालक लोग। बालकोंको खेलते हुए देखकर लोग बोलते कि बचपन बड़ा अच्छा होता है, पर खुद भी तो कभी बालक थे, तबकी याद करें तो लगेगा कि बचपन बहुत अच्छा होता है। पढ़ना, लिखना, खेलना, किसी बातकी चिन्ता नहीं, पर ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती गई त्यों-त्यों विकार बढ़ते गए। ज्यों-ज्यों विकार बढ़ते गए त्यों-त्यों परेशानी बढ़ती गई। तो ये व्रती श्रावक गुरुजनोंसे अपनी कृतकारित अनुमोदित समस्त पापोंका निवेदन करता है और जो प्रायश्चित प्रतिक्रमण दें उनको ग्रहण करता है।

व्रती श्रावककी महाव्रत सहित सल्लेखनाकी भावना—यह व्रती श्रावक यदि समागम योग्य समझे तो वह महाव्रत धारण करता है। कैसा समागम चाहिए कि जिससे महाव्रत धारण करना सफल हो? वीतराग निर्दोष गुरुवोंका संग मिले याने जो समताप्रिय हैं, जिनका किसी जीवपर रागविरोध नहीं है। जो संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त है, सहज आत्मस्वरूपकी धुनमें ही रहा करते हैं ऐसे गुरुवोंका संयोग प्राप्त हो। दूसरी बात-परीषह आदिक सहन करनेमें समर्थ हों। चौथी बात—स्वयंमें धीरता, गम्भीरता रह सके, ऐसा अपना विचार हो, ऐसा अभ्यास हो, ये सारी बातें निजसहज परमात्मद्रव्यकी

देखकर भीतरमें विह्वलता न हो। भले ही थोड़ा कुछ सम्बंधसे कुछ सज्जनताके नातेसे थोड़ा सोचते हैं, खेद करते हैं मगर आन्तरिक विह्वलता तो नहीं होती, वह जानता है कि जो हो रहा वह दूसरेका हो रहा, तो ऐसे ही यहांकी बात समझिये। शरीरमें कोई रोगादिक बने, व्याधियां बढ़ें तो वह देखता है कि यह दूसरेका हो रहा है देहमें ऐसा परिणमन हो रहा है। जिसने अपनेको अत्यन्त निराला अनुभव कर लिया उसको ये वेदनायें नहीं सतातीं। तो कायरपना छोड़कर यह ज्ञानी पुरुष सल्लेखनाके कालमें बड़ी-बड़ी व्याधियोंको धैर्यपूर्वक सहता है।

आई हुई व्याधि वेदना उपसर्ग आदिमें भी सल्लेखनाधारीके आत्मप्रसन्नता—भले ही कुछ थोड़ी वेदना है, मगर न यह कराहता है, न लोगोंको अपने शब्दोंसे प्रकट करता है कि मेरेको इतनी कठिन वेदना है। क्योंकि स्वयं ही उसमें इतना ज्ञानबल हुआ है कि प्रकट करनेके लायक उसके पास राग नहीं है। यह भी समझता है विवेकी कि पूर्व कर्म खुदने ही तो कमाया है, उनका उदयकाल आ रहा है तो यह तो मेरे लिए भली बात है। मैं तो इन कर्मोंके कर्जेसे आज मुक्त हो रहा हूं। किसीको यदि दुःख होता है तो वह पापकर्मके निकलनेसे होता है, किसीको यदि सम्पदा सुख सामग्री मिलती है तो वह पुण्यकर्मके निकलनेसे मिलती है। कहनेका रिवाज ऐसा है कि इसके बड़ा पापका उदय है जो इतना कष्ट पा रहा, इसके बहुत पुण्य है जो इसको सुख सम्पदायें प्राप्त हो रही हैं, पर वास्तविकता क्या है? उसे यों कहना चाहिये कि इसके पापकर्म निकल रहे हैं अब या जिनको सुख सम्पदा मिली है उनका पुण्य कर्म अब निकल रहा है। निकलना और उदय होना दोनोंका एक ही अर्थ है। जैसे सूर्यका उदय होना और सूर्यका निकलना इन दोनोंका मतलब एक है। ऐसे ही कर्मका उदय होना और कर्मका निकलना इन दोनोंका भी मतलब एक है। होता यह है कि पुण्यकर्मका भण्डार बहुत पड़ा हुआ है सो कुछ निकला, बादमें और निकला, बस निकलनेकी धारा बनी रहती है कुछ काल तक सो वह वैभव कुछ काल तक टिका हुआ दिखता है, ऐसे ही पापकर्मका भी भण्डार पड़ा है सो अमुक पाप निकला जिससे कष्ट हो रहा, तो पापके निकलनेकी धारा बनी हुई हैं, सो उसका कष्ट देर तक रहा करता है। तो यदि कोई विपदा आये, रोग आये तो यह तो भला है कि जो पापकर्म कमाया था वे पापकर्म अब मुझसे निकलकर विदा हो रहे। कर्तव्य यह है कि उस कालमें उन विपदावोंमें घबड़ायें नहीं, और यह ज्ञान बनाये रहें कि मेरेपर क्या विपदा है? वह बाह्य पदार्थोंका परिणमन है, हो रहा है। देहका अमुक परिणमन है जो भी हो रहा है, मेरेमें कहां विपदा है? अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मामें कहांसे विपदा आ सकती? ऐसा अपनेको निरापद निरखें, वेदनायें समतासे फिर सुगमतया सहली जाती हैं। सल्लेखनाका अर्थ ही यह है कि विषयकषायके भावोंको भले प्रकार कृश कर देना और अपनेको विषयरहित कषायरहित ज्ञाताद्रष्टामात्र निरखना। जो इस चैतन्यभाव रूप अमृतका पान करता है वह अमर ही है। उसका मरण कहां है? सल्लेखना व्रतके समय यह व्रती श्रावक अपने ज्ञानबल द्वारा समस्त आकुलताओंको दूर कर देता है।

सल्लेखना धारण करनेवालेका अपनी निःशल्यताके लिये सर्वव्यवस्था विभाजनकी पूर्णताका प्रक्रम—सल्लेखना धारण करने वाला महाभाग पुरुष उससे पहले घरकी ऐसी व्यवस्था बना

आराधनाके प्रतापसे सहज और सुगम हो जाती हैं। बताओ मोह छोड़ना कठिन है कि सरल? जिनको आत्माकी सुधकी योग्यता ही नहीं उनके लिए कठिन है, कठिन ही क्या, उस काल असम्भव है, और जिन्होंने अपने सहजस्वरूपका अनुभव किया, निर्णय किया कि यह मैं आत्मतत्त्व हूं तो उनके लिए सुगम है, सरल है, सहज है। मोहरहित होना यह तो सरल काम है, पर मोह रागद्वेष न करना यह कठिन काम है। निर्मोह होना कितना सरल है कि उसमें किसी बाहरी पदार्थकी अपेक्षा नहीं, किसीकी आशा नहीं, स्वयं स्वाधीन है, और रागद्वेषादिकका करना कठिन क्यों है कि इसमें परकी अपेक्षा है, दूसरे भी इसमें खुश रहें, दूसरोंकी भी कृपा रहे, कर्मका उदय अनुकूल हो, यों उसमें कितनी ही अपेक्षायें चाहिए, तब यह जीव रागद्वेष कर सकता है। इतना सरल सुगम कार्य है निर्मोह होना और आत्मतत्त्वमें लीन होना, पर जिनका ध्येय बन गया आत्मस्वरूपके दर्शनका उनके लिए सब सुगम है, और जिनके अज्ञान है, बाह्य विषयोंमें जिनके आसक्ति है उनके लिए यह कल्याणका मार्ग कठिन है। ये व्रती श्रावक सल्लेखनाके समय ध्यान धर रहा है, महाव्रत धारण करनेके लिए चिन्तन कर रहा है कि मेरेको निर्दोष गुरुका संयोग हो, मेरे रागादिक कषाय घट जायें, परीषह आदिक सहन करनेकी सामर्थ्य हो, धीरता गम्भीरता आदिक गुण प्रकट हों, साथ ही निर्ग्रन्थ वीतराग गुरु मेरा निर्वाह करने को समर्थ हों। देश कालका शुद्ध सुयोग हो ताकि मैं महाव्रत धारण करूं। वह देखता है कि यदि योग्य समागम है तो वह महाव्रत धारण करता है और यदि योग्य समागम न पाया तो भी परिग्रहोंका त्यागकर अपने आत्मप्रभुका ध्यान धरकर, अपने स्वरूपका ध्यान रखकर अरहंतके स्मरण सहित आलोचना करता और अपनी शक्तिमाफिक परिग्रहका त्यागकर, पंचपापका त्यागकर घरमें ही रहते हुए महाव्रती तुल्य साधना करता है।

सल्लेखनामें विवेकीका व्याधियोंके प्रसंगमें भी कायरता छोड़कर धीर वीर रहना—मरण काल एक कठिन काल है। शारीरिक वेदनायें रोगादिक बढ़ जाते हैं, कफ बढ़ गया, खांसी हो गई, बुखार बढ़ा है, यों कितने ही रोग इस मरणकालमें आते हैं, पर एक बात विलक्षण है कि जब मरणकाल अत्यन्त निकट हो जाता है, जिसे कहते हैं कि यह तो बस दो चार मिनटका ही महिमान है तो उस समय पता नहीं ये सब रोग कहां चले जाते? वह वेदना नहीं रहती। बहुतोंको देखा होगा मरण समयमें कि बड़े कठिन रोगसे ग्रस्त है और उन अन्तिम दो चार मिनटोंमें रोग उनके नहीं रहता। तो यह भी एक अच्छा अवसर सा है, और फिर यह ज्ञानी पुरुष इतना ज्ञानबली है कि रोगादिक वेदनायें भी आती हैं तो कायरता छोड़कर बड़े धैर्यसे उन सबको समतापूर्वक सहता है। जहां भेद-विज्ञान प्रबल है और अपने आत्मस्वरूपकी ओर अभिमुखता है वहां वेदनायें सहलेना बहुत आसान होता है। यहां भी तो देखा जाता है कि करीब-करीब एकसी ही बीमारी तो है १० व्यक्तियोंको, उनमें एक व्यक्ति तो चिल्लाता है बुरी तरह, कोई मामूली कराहता है कोई शान्त पड़ा रहता है, वेदनायें करीब एक सी ही हैं, रोग एक सा है, ऐसा भी यहां अन्तर देखा जाता है, वह अन्तर किसने कर दिया? उन आत्मावोंके स्वयंके ज्ञानने अन्तर कर दिया, देहमें ही दृष्टि जिसकी बनी है, देहको ही जो आत्मस्वरूप मानता है उसकी वेदनायें अधिक हैं और देहसे निराला अपनी अमूर्त चेतनाको आत्मारूप मानता है उसे वेदनायें कम हैं अथवा नहीं हैं। जैसे यहां कोई किसी दूसरेके लड़केको सताये या कुछ भी दूसरेका नुकसान होता हो तो उसे

देता है कि जिससे बीचमें कभी कोई शल्य न आये। वह व्यवस्था किस तरह की है? जैसे किसीने कोई धन हर लिया हो छलसे, झूठसे, जमीन, मकान रत्न आदिक, तो पहले उसको बुलाकर अपने अपराधकी क्षमा कराकर उनका धन, मकान, जमीन आदिक जो भी किसी प्रकार हर लिया है वह वापिस देता है, फिर जो कुछ धन आदिक परिग्रह है उसके विभाग कर देता है, लड़कोंको देता हे, लड़की, बहिन, बुआ आदिक जो भी हैं उनको देता है, दीन दुःखी, अनाथ, विधवा या जो जो भी इसके आश्रयभूत हैं उन्हें जो देना है सो देकर सब विभाग बनाकर, अपना उसमें कुछ भी न समझकर अपने लिए कुछ न रखकर समस्त परिग्रहोंको त्यागकर सबमें ममताको छोड़ देता है। लोग जिनको कुछ देते हैं उनसे कुछ आशा रखते कि ये हमको भला मानें, अच्छा कहें, प्रशंसा करें, इस तरह कुछ उनसे अपेक्षा रखता है, पर ऐसी अपेक्षा सल्लेखना वालेके नहीं है। उसने तो विभाग किया सो अपनेको निशल्य रखनेके लिए, और यह भी शल्य न रहे कि बादमें कोई झगड़ा उठे। किसी प्रकारकी शल्य न रहे एतदर्थ यह सारा विभाग किया है, इसके पश्चात् सबमें ममताको छोड़ दिया, शरीरके संस्कारको भी त्यागा, देहकी सेवाको भी त्यागा। अंतमें केवल पंचपरमेष्ठियोंका स्मरण और आत्मस्वरूपका स्मरण ये दो ही उसके आधार रहते हैं।

प्रभुगुणस्मरणकी भावना—पूजा करने वाला, दर्शन भक्ति करने वाला यह प्रार्थना करता है, रोज, जैसा कि भक्ति पाठमें लिखा है—

आबाल्याज्जिनदेव देव भवतः श्रीपादयोः सेवाया।
सेवासक्तविनयेकल्पलतया कालोऽद्य यावद्गतः॥
त्वां तस्याः फलमर्थये पदधुना प्राणप्रयाणक्षणे।
त्वन्नामप्रतिबद्धवर्णपठने कण्ठोऽस्त्वकुण्ठो मम॥

हे प्रभु, बचपनसे लेकर आपकी चरणसेवामें मैंने इतने वर्ष व्यतीत कर डाला, ऐसी आज तक जो मैंने भक्ति सेवा आदिक किया है सो उसका फल मैं यह चाहता हूं कि जब मेरे प्राणका प्रयाण हो, मरणकाल हो उस मरणके समयमें आपके नामके दो अक्षर हैं जिन अक्षरोंके बोलनेमें मेरा कंठ न रुंध जाय, अर्थात् मैं आपके नामके अक्षर बोलता हुआ और उसका चिन्तन करता हुआ मरण करूं। केवल यही चाहते हैं जीवनभर प्रभुकी भक्तिके फलमें। यह तो बड़ा अज्ञान है जो किन्हीं लोगोंके चित्तमें आता है दर्शन करके, पूजा करके, यात्रा करके कि मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो। पुत्रादिककी प्राप्ति हो, धन आदिक मिलें, कुछ भी वाञ्छा रखकर धर्मकार्य करना अज्ञानमें ही हुआ करता है। और यों समझिये कि इस प्रकारकी इच्छा कर लेनेसे मेरा आने वाला पुण्य घट गया, लाभ न हुआ, तिसपर भी पूर्व पुण्य मानों महान था और धर्मके एवजमें सांसारिक चीजें मांग ली तो मिलना बहुत था सो अब कम मिला। लेकिन यह अज्ञानी उस कम मिलेको ही समझता कि मुझे भगवानने दिया है। निर्वाञ्छ होकर प्रभुकी भक्ति करनेसे मन चाहा स्वयं मिलता है। पर धर्मधारणके एवजमें चाहनेसे पुण्य घटता है और कुछ पापरस ही आता है। क्योंकि मूलमें मिथ्यात्व पड़ा हुआ है। जहां मोह और मिथ्यात्व बसा हुआ है वहां सातिशय पुण्यकी कोई आशा रखें तो वह व्यर्थ है।

सर्व परिजन सम्पदामें ममत्व त्यागकर निजदर्शन ज्ञानस्वभावमें उपयुक्त होनेकी भावना—सल्लेखना व्रतधारी आत्मा कुटुम्बीजन, मित्रजन, चेतन अचेतन समस्त परिग्रहोंसे ममताको त्याग देता है। वह जान रहा कि अब यह मरणकाल है। इस पर्यायका सम्बंध कितने समयका है और फिर इन बाह्य वस्तुवोंसे देहका ही तो नाता था, उसकी क्यों ममता हो? अथवा देह ही छूट रहा फिर ममताका अर्थ क्या? हमारे आत्माका सम्बंध तो अपने स्वभावरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रसे है। यह ही मेरा निजी स्वरूप है, सो इसमें ही मेरा सम्बंध बढ़े और जो देह है, हाड़ मांस मज्जा खून आदिकसे रचा है यह तो कृतघ्न है। इस देहकी इतनी सेवायेंकी मगर यह तो रोग व्याधि कष्ट आदिकका उपजाने वाला बन रहा है। यह देह जड़ है, यह मेरा कुछ नहीं है, मैं इसका कुछ नहीं हूं। देह विनाशीक है, मैं अविनाशी हूं, अत्यन्त विलक्षणता तो है फिर सम्बंध किस बातका? जो अंत तक ममता रही आयी वह सब मेरे अज्ञानके कारण रही आयी और उस अज्ञानमें ही अशुभ कर्मका बंध किया। अब तो मेरी यह ही अभिलाषा है कि यह देह मुझे कभी मिले ही नहीं। जैसा मैं अपने आपके सहज स्वरूपमें हूं विविक्त, सर्वसे निराला ज्ञानमात्र ऐसा ही मैं सर्वप्रकारसे हो जाऊं अन्य वाञ्छा नहीं है क्योंकि देहसे लाभ नहीं है। हानि ही है। इस देहकी ममतासे जनममरणकी धारा बनती है। आत्माको जो अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन आदिक विकास है वह विकास रुक जाता है।

समस्त दुःखोंके मूल देहसे ममत्व करनेकी व्यर्थता—जितने भी संसारमें दुःख हैं वे सब इस देहके कारण ही हैं। जो मेरे दुःखका कारण हो उससे ममता किस बात की? आप कोई भी दुःख का नाम लेते जाइये, क्या-क्या दुःख हैं। सबमें यह मिलता जायगा कि देहके सम्बंधसे ही दुःख हैं, अन्यथा दुःख कुछ नहीं। किसी भी प्रकारके दुःखका नाम लो—धन नहीं रहा, यश मिट गया, निन्दा हो रही हो, कुटुम्बका कोई गुजर गया हो, व्याधियां हुई हों, किसी प्रकारका भी दुःख हो, सबका आधार है देहका सम्बंध तो जिस देहके संयोगके कारण कष्ट उठाना पड़ रहा है उस देहसे क्या ममता? और भी जितनी आपत्तियां आती हैं क्रोध, मान, माया, लोभ, कामवासना विकार आदि अनेक बातें जो भी विपत्तिरूप होती हैं उन सबका कारण है देहका सम्बंध। ऐसे देहसे क्या राग रखना। सो उस देहसे भी कुटुम्बीजनोंसे भी ममता त्यागकर अब अपने निजस्वभावमें मग्न होता हूं। सल्लेखना व्रतधारीका केवल एक ही काम है भीतर, इसीको कहते हैं अन्तः क्रिया, (भीतरी काम)। यह सल्लेखना ग्रहण करने वाला व्रती श्रावक और क्या करता है सो बताते हैं।

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः॥ १२६॥

शोक और भय विषाद स्नेह कलुषता अरतिभी तजकर।
सत्त्वोत्साह प्रगटकर, श्रुतअमृत से करै मनतुष्ट॥

शोक विषाद त्यागकर प्रभुवचन श्रवणसे आनन्दरसका पान—सल्लेखनाके अवसरपर शोक,

भय, विषाद, स्नेह, कलुषता, अरति आदिक कुभावोंको त्याग करके और अपने आपके बलको प्रकट करके उत्साह प्रकट करके अमृतमय जिनवाणीके वचनोंके श्रवणसे अपने मनको शान्तचित्त करके आत्माकी साधना करें। शोक क्यों उत्पन्न होता? उस शोकका कारण है अज्ञान। मैं आत्मा एक हूं, इस आत्माका द्वितीय कुछ भी नहीं है। इस मुझमें किसीपरका प्रवेश नहीं है। सर्व बाह्य बाह्य बातें हैं, लेकिन अनादिकालसे इस जीवके बाह्य बातोंमें आत्मबुद्धि रही। जब जो पर्याय प्राप्त किया उस पर्यायमें आत्मबुद्धि लगी है। देहको आत्मा माना। देह मिलनेको जन्म माना, देहके वियोगको मरण माना। जब यह देखते हैं कि मेरा देह मिट रहा या धनपुत्र मित्र स्त्रीका वियोग हो रहा तो इसको बड़ा कष्ट उत्पन्न होता है ऐसा शोक अज्ञानीके होता, सम्यग्दृष्टिके शोक नहीं होता। एक वह भीतरमें प्रकाश पाल लिया जाय जिस प्रकाशके पानेसे सारे संकट एक साथ समाप्त हो जाते हैं। संकट क्या है? परपदार्थोंके बारेमें अपनी कल्पना इष्ट अनिष्ट बुद्धि बनाना, बस यह ही कष्ट है, दूसरा कोई कष्ट नहीं। बाहरी चीजें बाहर हैं, वे सब अपने आपमें पूरी हैं, उनसे कष्ट क्या निकलेगा? उनमें कष्ट भरा ही नहीं है। पर पदार्थोंके विषयमें ममता विकल्प इष्ट अनिष्ट भावना होना यह कष्ट है। और देखो सभी मनुष्य अपने-अपनेमें ख्याल बनाये हुए हैं कि यह मेरा घर है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा सबकुछ है, और इनके लिए ही मेरा सबकुछ है, तन, मन, धन, वचन, प्राण। सब अपने-अपने चित्तमें ऐसा एक अध्यवसान बनाये बैठे हुए हैं। बाकी सारी चीजें, दूसरेकी सब बातें उसे गैर लगतीं, न कुछ लगतीं, मतलब नहीं। उन पदार्थोंका बिगाड़ हो, नाश हो, कुछ भी हो, उससे हममें कुछ भी प्रभाव नहीं आता।

ममता करनेकी कुबुद्धिमें आत्मघात—जिनको अपना मान रखा है उनको ही अपना सर्वस्व माननेकी आस्था है, तो कितनी बड़ी कुबुद्धि है, और कितनी बड़ी विपत्ति है। आज जिसको गैर माना जा रहा, मरकर उसकीके लड़का बन गया तो अब वह अपना बन जायगा और पूर्वभवका जो सब कुछ है कोई घटना बनी वह गैर बन जायगा, दुश्मन हो जायगा। कैसा पागलपन है कि आज जिस पर्यायमें आये हैं उस पर्यायके सम्बंधियोंमें तो ममता है बाकी सब जीवोंमें उपेक्षा बुद्धि है। ऐसी यदि आस्था है तो यह विपत्ति है, उन्मत्तता है, मदमत्तता है, अपनेको सम्हालना चाहिए और कुटुम्बीजनोंसे ममता हटे, मिथ्यात्व हटे और सब जीवोंमें इष्ट अनुराग जगे, मैत्रीभाव बने तो इसमें आत्माकी रक्षा है। और जो करते आये अनादिसे उन्हीं दो चार जीवोंमें ममता बनाये रहे तो यह विपत्ति है, अधर्म है, पाप है। यह बात चित्तमें अगर पूरी पड़ी हुई है तो भगवानकी पूजा और विनतीका अर्थ क्या रहा? जैसे कोई कहे कि पंचोंकी आज्ञा सिर माथे मगर पनाला यहीं निकलेगा, तो फिर सिरमाथेका अर्थ क्या रहा? अपनी आदतमें फर्क नहीं डालते, मोहमें, ममत्वमें, दूसरोंसे घृणामें, विरोधमें, दो धारा बनानेमें उसमें कुछ फर्क न डाला, भीतरमें समझ भी न बनाया तो धर्मके नामपर इतनी बड़ी बात करनेका क्या अर्थ रहा? अर्थ इतना ही रहा कि जैसे अनेक शौक लगते हैं पुरुषोंको ऐसे ही एक पूजन दर्शनका भी शौक लग गया, इसका एक ही अर्थ रहा। यदि भीतरमें कुछ अपने परिणाम सुधारना चाहते ही नहीं हैं, न तत्त्वविचार चाहते हैं तो थोड़ा पुण्य बनेगा, सांसारिक चीजें मिलेंगी, रुलना वहीका वही बना रहेगा।

जीवनमें सद्भावना बनाये रहनेसे सल्लेखनाकी सुगमता—धर्मसाधनाकी बात करना चाहिए

घरमें रहकर जिन्दगीमें, मरते समयकी आशा न बनावें कि मरते समय हम सब कुछ छोड़ देंगे, अभी तो बहुत जीवन पड़ा है, ये काम तो तबके करनेके हैं, ऐसा मरण पर निर्भर न करें। अपने ही इस जीवनमें यह तपश्चरण करें कि सर्वजीव एक समान हैं। घरमें गुजारा करना है इसलिए उस गुजारेके नातेसे सही व्यवस्थाके हेतु राग करना होता है। व्यवस्था करना है, प्रबंध करना है सो यह तो है गृहस्थधर्ममें कर्तव्य, मगर उनको ही अपना सर्वस्वमानकर वही वही चित्तपर चढ़ा है, बाकी लोगोंका कुछ महत्त्व नहीं आंका जाता है, यह है विपत्ति। शोकका कारण क्या है? मिथ्यात्व, अज्ञान, बाह्यपदार्थोंमें लगाव। जिसको अनिष्ट माना उसका संयोग होनेपर यह शोक करता है, जिसको इष्ट माना उसका वियोग होनेपर यह शोक मानता है।

क्लेशमूल शरीरसे प्रीति न करनेमें श्रेयोमार्गका लाभ—हे आत्मन् ! पर्यायें तो अनन्तानन्त ग्रहण हुई हैं और छूटी हैं और पर्याय, यह देह क्लेशोंका स्थान है। इस देहके कारण रोज-रोज ही दुःख भोगना पड़ता है। भूख लगती, कुछ क्षुधाकी वेदना रोज-रोज सहनी पड़ती। तो भले ही भोजन साधक है, खा लिया पेट भर गया, मगर खूब ठूँस लिया तो फिर पेटदर्दके मारे पड़ गए, आखिर इस देहको कष्ट ही कष्ट तो हुआ, शीत, उष्ण, प्यास, भय आदिक सभीके उत्पन्न होनेका साधन यह देह है। जिस देहसे तुझे इतनी तीव्र ममता हुई है सो तत्काल भी कष्ट पाया और अनन्तज्ञानादिक गुणोंका विकास रुक गया, सो अपवित्रता भी पायी। यह देह समस्त पापोंका उत्पन्न करने वाला है, और कुछ समय बाद लोगोंके द्वारा जला दिया जायगा ऐसे इस देहको दुःखमूल निरखकर प्रीति करना तो छोड़ दो। पर्यायमें आत्मबुद्धि होना कष्टका कारण है। इस देहको तो दुष्ट संगकी तरह छोड़ देना चाहिए। जैसे—दुष्टका संग मिल जाय तो उसको छोड़नेकी ही ठानते हैं ऐसे ही देहका संयोग मिला है, संग मिला है तो इससे सदाके लिए छुटकारा पानेकी ही मनमें ठानो। इस देहसे सदाके लिए छुटकारा होनेका उपाय अपने सहजस्वरूपको ही आत्मसर्वस्व मानना यह ही मात्र उपाय है। दुष्टोंसे कोई प्रीति करे तो वे तो बढ़ेंगे, आयेंगे, रहेंगे, ऐसे ही देहसे जो प्रीति करे तो उसको तो देह आयेंगे, बारबार मिलते रहेंगे यह ही होगा इस देहकी प्रीतिमें।

पौद्गलिक पर्याय समागममें हर्ष विषाद कर सहजात्मस्वरूपकी उपासनाका कर्तव्य—गृहस्थजनोंको सोचना चाहिए कि वे अपने वर्तमान साधन समागममें मौज न मानें। उन मौजका परिणाम अच्छा नहीं है। हो रहा है, व्यवस्था बनाइये, राग भी करना पड़ता तो करिये मगर ममत्व न रखिये। इस संसार समागमके मिलते रहनेका उपाय न बनाइये। ध्यान रहना चाहिए अन्तः अपने विविक्त स्वरूपका, सबसे निराला ज्ञानमात्र। मेरी जिम्मेदारी मेरे पर ही है, दूसरों पर नहीं है, दूसरे तो मैं अच्छा रहूं तो वे मेरे सुकार्योंमें सहायक बन जाते हैं, मैं ही गड़बड़ होऊं, विह्वल होऊं, ममता करूं, अज्ञानी रहूं तो मैं ही अपने अपराधसे दुःखी होता हूं। इसमें दूसरे लोग क्या कर देंगे? इस व्रती श्रावकको सल्लेखनाके समयमें सर्वसे ममता छूट जाती है। सबसे अधिक बंधन है दृश्यमान पदार्थोंमें तो शरीरका बंधन है। सो यह शरीर जान लिया गया कि समस्त दुःखोंका बीज है, बड़े संताप और उद्वेगोंको उत्पन्न करने वाला है। सदा ही भयको उत्पन्न करने वाला है। अमूर्त ज्ञानमात्र जैसा है वैसा ही रहे, वहां

भयका क्या काम? अन्तस्तत्त्वमें कैसे हो सकता? असम्भव है, पर देहका बंधन है, देहका सम्बंध है तो उससे भय उत्पन्न हो रहा। कुछसे कुछ विचारता। यह देह तो जेलखाना है, जैसे बैरी जेलखानेसे नहीं निकल पा रहा, वहां रहता हुआ वह दुःखी हो रहा, ऐसे ही यह आत्मा इस देह जेलखानेसे नहीं निकल पा रहा और यह भीतर रहता हुआ अनेक कल्पनाओंसे दुःखी होता रहता है। इसका स्नेह क्या करना? इसका स्नेह तजकर वियोगका शोक तजकर सहजात्मस्वरूपकी उपासना करना।

सल्लेखनाधारीका निर्भय होकर अध्यात्मसाधनाका पौरुष—यहां भय किस बातका करना? जिसका भय लगा उससे ममता छूटे तो भय समाप्त। भय होना, शंका होना यह सम्यक्त्वका महादोष है। यदि भय शंका होने लगे तो वहां सम्यक्त्व नहीं रह सकता। सब कुछ निर्भर है अपने सहज आत्मस्वरूपके निर्णय पर। भय किस बातका? बाह्य पदार्थोंका मुझमें प्रवेश नहीं। बाह्य पदार्थ मुझमें कुछ परिणति बना सकते नहीं। मैं अपने आपमें अपनी योग्यतासे अपनेमें परिणाम बनाता रहता हूं। जब इसमें किसी दूसरी वस्तुका प्रवेश ही नहीं है तो भयका अवसर क्या? क्या भय आयगा? जो पुरुष अपने इस सहज आत्मस्वरूपको उपयोगमें नहीं लेते और बाह्य पदार्थोंसे अपना राग ममत्व रखते हैं उन जीवोंको भय रहता है। जैसे जीवन शोकमें गुजारा ऐसे ही यह जीवन भयमें भी गुजरा। आत्मस्वरूपकी सम्हाल किए बिना सबसे इसने भय माना, परिजनोंसे मित्रोंसे, सरकारी लोगोंसे, शत्रुवोंसे, चोरोंसे सबसे इसने भय माना और एक अंतस्तत्त्वकी दृष्टि हो तो वहां महान बल प्रकट होता है कि लौकिक हिसाबसे भी भय नहीं रहता, परमार्थ भय तो रहता ही नहीं। तो भयका कारण भी यह देहका सम्बंध है। बैठे हैं, किसी बालकने, पुरुषने पीछेसे आकर अटपट हल्ला किया तो यह डर गया। अकेला आत्मा भर हो तो वह डरेगा क्या? देहका सम्बंध है सो देखो आत्मामें भी भयका प्रभाव बन गया। तो भयका कारण भी यह देह है। ज्ञानी पुरुषको तो देहके विनाशका भी भय नहीं आता, अन्य भय तो आयेंगे ही क्यों? वह जानता है कि मरण कोई चीजका नाम नहीं है। जीव और देह एक जगह रह रहे थे सो अब देह अन्य जगह रह गया, जीव अन्य जगह चला गया, बस यही तो बात हो रही है। इसमें मरण किसमें हुआ? जीव-जीवकी जगह परिपूर्ण है। देहकी आयु देहकी जगह परिपूर्ण है, कुछ भी चीज कभी मरती ही नहीं। जो सत् है उसका कभी विनाश नहीं होता। तो ज्ञानीजीव अपनेको अमर रखता है, वह किसी भी बातका भय नहीं करता।

सर्वममत्व छोड़कर प्रभुवचनामृतपानकी धुन—सल्लेखनाधारी सर्वसे अत्यन्त विरक्त होनेसे रंच भी किसी भी स्थितिमें विषाद नहीं करता, जिसे देहसे भी ममता नहीं है वह किसी भी बाह्य परिणतिसे प्रभावित नही होता। ध्रुवसहज ज्ञानानन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्वका अनुभव कर लेनेसे अब इस ज्ञानीको किसी भी प्रकारका स्नेह विरोध आदि कुछ भी कलुषता नहीं रही। यह तो बड़े उत्साहसे अपना साहस धैर्य प्रकट करता हुआ अमृतस्वरूप प्रभुवचनोंका कर्णपात्रसे पान करता है। इस श्रावकको सल्लेखनाके समय अध्यात्म अमृतके पानकी धुन लगी है, अतः दूसरे ज्ञानीजनोंके मुखसे अध्यात्म वचनोंको सुनता है, स्वयं अध्यात्म तथ्योंका स्मरण व मनन करता है। यह सल्लेखनाधारी ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ शुद्धं चिदस्मि, का सविनय आराधना करता है, अपनेमें अविकल्प स्थितिका पौरुष करता है।

मरणावसरमें बोधि समाधिकी परम शरण्यता—व्रती श्रावकने मरण समय तत्त्वज्ञानके बलसे परिजन, मित्रजन धन सम्पदा देह सभी से ममत्वका त्याग कर लिया है और इसी कारण अब उसके न शोक है न डर है, न स्नेह है, न विरोध है, किसी भी प्रकारकी कलुषता उसके चित्तमें नहीं है। ऐसा निर्मल भव्य आत्मा मरण महोत्सवमें चिन्तन कर रहा है कि इस मरणपथपर चलने वाले अर्थात् देहको छोड़कर अकेले शरीरको धारण करनेके लिए जाने वाले इस आत्माको बोधि और समाधिका लाभ हो। बोधिका अर्थ है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति और समाधिका अर्थ है उसको उपयोगमें बसाये हुए चलना और उसका निर्वाह करते हुए अगले भवमें पहुंचना। सो परलोकके मार्गमें उपकारी वस्तु यही है। मरणके बाद जीवके साथ बोधि समाधि जायगी, देह भी साथ नहीं जाता। कुटुम्ब मित्रजन, धनसम्पदा सब यहींके यहीं पड़े रह जाते हैं। मैंने अनादिकालसे अनन्त खोटे मरण किया है जिनकी याद भी मुझे नहीं है, पर युक्ति बतलाती है कि जो मैं हूं सो अनादिकालसे हूं। और जब अनादिकालसे हूं तो किसी न किसी पर्यायमें रहा आया था। वह पर्याय कौनसी होगी? जगतमें जो ये पर्यायें दिख रही हैं ये ही तो होंगी और जो नहीं दिख रही हैं सो भी अनेक पर्यायें हैं। एक दो तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय पशु पक्षी देव, नारकी, मनुष्य, ऐसे भवों में रहकर अनन्तकाल व्यतीत हो गया। और अब तक उन भवोंमें रागद्वेष ममता करके खोटा ही मरण किया और यह दुर्गतिकी धारा बराबर चली आयी। एक बार भी सम्यक्मरण नहीं हुआ। यदि समाधिमरण होता तो संसारमें मरण करनेका, भ्रमण करनेका पात्र न रहता।

समाधिमरणका महत्त्व—समाधिमरण कितना अलौकिक वैभव है। इसके भविष्यका फैसला है उस समय कि भविष्य शान्तिमें रहेगा या कष्टमें ही गुजरेगा। और अन्त समयमें समाधिमरण बने इसके लिए जीवनमें अभ्यास करना है। यह ही मानलें कि हमारा मरण तो प्रति समय हो रहा है, आवीचिमरण तो है ही। जो आयुके निषेक खिर गए वे वापिस नहीं आते। आज जो जिसकी अवस्थाहो गई उसको बीती हुई अवस्था फिरसे वापिस मिलेगी क्या? न मिलेगी। तो फिर रहा सहा जितना जीवन है वह अच्छे भावोंमें व्यतीत हो, किसी दूसरेसे क्या लेना देना। सब जीव मेरे स्वरूपके समान हैं। सर्व सुखी हों, सर्वको उन्नतिका मार्ग मिले। जीवन जितना बचा है उसमें अच्छे भाव रहना चाहिए। किसी भी योग्य कार्यमें विघ्न न डालना। दूसरेको पनपता हुआ देखकर मनमें जलन न करना। यह संसार मायाजाल है, यहां जो दृश्य है वह परमार्थ नहीं है, परमार्थ तो अनादि अनन्त ध्रुव वह स्वरूप सामान्य है। तो जिसने अपने जीवनमें भलाईकी ही बात सोची, सर्व जीवोंका हित ही सोचा, अपने आत्मतत्त्वकी भावना बनायी उस पुरुषको मरण समयमें समाधिका लाभ होता है।

सल्लेखनाकी सिद्धिके लिए जीवनमें विधातव्य सप्तभावनाओंमें प्रथम भावना—पूजाके अन्तमें ७ भावनायें बोलते हैं वे ही प्रयोगरूप होना चाहिए जीवनमें, तब अन्त समयमें समाधिकी सुपात्रता होती है। पहली बात है शास्त्राभ्यास, ग्रन्थका स्वाध्याय, अभ्यास, पढ़ना, चर्चा। अपनी-अपनी भी सोचलो कि हमारे इस जीवनमें २४ घंटेमें कितना समय ज्ञानवार्तामें जाता है, यदि नहीं जाता तो उसका खेद मानना चाहिये। जिन्दगी यों ही व्यर्थ चली जा रही है, एक बड़ा अवसर मिला मनुष्य होकर

कि यह चाहे तो संसारके समस्त संकट दूर करनेका उपाय बना सकता है। ऐसा भला अवसर कब कब मिलेगा। संसारके जीवोंपर दृष्टि पसारकर देखो कैसे-कैसे कीड़े मकोड़े पतंगे एकेन्द्रिय जीव, कैसी स्थिति दुर्दशामें पड़े हुए हैं। यह मनुष्यभव मिलना बहुत दुर्लभ है देव भी इन्द्र भी इस मनुष्यभवको तरसते हैं। कब मैं मनुष्य होऊं, रत्नत्रयकी साधना करूं और संसारके जन्म मरणसे सदाके लिए छुटकारा पाऊं, ऐसा यह मनुष्य जन्म पाया और इसका महत्त्व न आंके और जैसा वह भाव बनायें विषयोंमें कषायोंमें उनमें बह जाय यह कितने खेदकी बात है। बाहरमें किसका बुरा विचारना। बुरा विचारनेसे कहीं बुरा नहीं होता दूसरेका, पर इसका बुरा अवश्य ही होता है। खोटे कर्म बांधे उनका उदय आयगा, इसे दुःखी होना पड़ेगा। सद्भावना होनेसे, उसके लिए शास्त्राभ्यास जीवनमें चलते रहना चाहिए। चाहे उपदेश देकर चले, चाहे पढ़कर चले, बांचकर चले, प्रश्नसे चले, चाहे पाठ करते हुए। मनन करते हुए शास्त्राभ्यास चले। जितना ज्ञानलाभ मिले वह तो अपनी कमायी और जितना ज्ञानसे दूर रहकर बाहरी बातोंमें उलझे रहे, फंसे रहे, बोलते रहे उतना ही टोटेमें, नुकसानमें। सो शास्त्रका अभ्यास होना एक बहुत महत्त्वकी बात है। वृद्ध हो जाय, आंखोंसे न दिखे तो भी अब धर्मात्माजन यत्रतत्र मिलते हैं, उनसे श्रवण, मनन ही तो चाहिए, आत्माकी दृष्टि ही तो चाहिए। जैसे पढ़नेसे दृष्टि बनती है उससे भी जल्दी सुगमतया सुननेसे दृष्टि बनती है। तो शास्त्राभ्यास द्वारा अपने इस जीवनको सुवासित करना। आत्मवासनासे पुष्ट करना, यह कर्तव्य है जीवनमें। और देखिये—कितना ही कष्ट हो, कैसा ही क्लेश हो, आप शास्त्रके पढ़ने और लिखनेमें लग जायें, कष्टका विकल्प न चलेगा। अपने विचार लिखिये और ग्रन्थोंको स्वाध्याय कीजिए तो आपको शान्ति मिलेगी। कष्ट आनेपर कष्टकी तरफ ही दृष्टि जाय तो वह दुगुना हो जाता है कष्ट। कष्टरहित आत्माके ज्ञायक स्वरूपपर दृष्टि जाय तो कष्ट दूर हो जाता है। ऐसी योग्यता पानेके लिए चाहिए शास्त्राभ्यास। तत्त्वज्ञान बिना जगसे पार हुआ ही नहीं जा सकता। वह कौनसा बल है ज्ञानको छोड़कर जिस बलसे यह जीव प्रगति कर सके। ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, यह स्थिति है पवित्रताके लिए, आनन्द स्वरूप, सो शास्त्राभ्यास इस जीवनमें न छूटे। हर प्रकारसे तत्त्वज्ञानकी बात मननमें आये।

(२) वीतराग सर्वज्ञ परमात्माके गुणोंका स्मरण करना—दूसरा कर्तव्य है जिनेन्द्रगुणस्मरण। लोग देखते हैं, लोगोंके बीच हैं, दृष्टि यहां जाती है, पर यहांके क्रियाकलाप देखनेसे या जीवोंके अवगुण विचारते रहनेसे आत्मामें कुछ प्रगति नहीं हो सकती। चाहिये जिनेन्द्रदेवके गुणोंका स्मरण। प्रभु अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्तिके धारक हैं, इनका स्वरूप भी विचारें। कैसा अनन्तज्ञान? ऐसा ज्ञानविकास कि तीन लोक तीन कालके पदार्थ सब झलक जाते हैं। जो जीव सब पदार्थोंको झलकनेकी चाह करते हैं सब बातोंका ज्ञान हो जाय, क्या होता है आगे, इसका भाव बढ़ेगा, घटेगा तो बड़ा लाभ प्राप्त कर लेगा। ऐसा सोचने वालेके ज्ञानका विकास नहीं होता। प्रभुका ज्ञानका विकास है तो वहां रंच भी विचार, क्षोभ, रागद्वेष, कुछ करना है, ऐसी कुछ भी बात नहीं है। इसीलिए तीन लोक तीन कालका सबकुछ झलकता है। सो जैसा अनन्तज्ञान प्रभुके हैं वैसा ही मेरेमें शक्तिरूपसे पड़ा हुआ है, ऐसा मैं हो सकता हूं। स्वरूप एक ही समान है। जो प्रभु है सो मैं हूं। जिनेन्द्रके गुणोंका

स्मरण पापरसको नष्ट करता है, पुण्यरसको बढ़ाता है, धर्ममार्गमें लगाता है। तो दूसरा कर्तव्य है श्रावकका कि वह जिनेन्द्र गुणका स्मरण करे।

(३) संसारशरीर भोगनिर्विण्ण श्रेष्ठ पुरुषोंकी संगति करना—श्रावकका तीसरा कर्तव्य है सज्जन पुरुषोंके साथ संगति करना। सज्जन पुरुष वह कहलाता है जो संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त है और अपने आत्म स्वरूपकी दृष्टि रखता है। संसारसे छुटकारा पानेका जिसका पौरुष चलता रहता है वह महात्मा सज्जन कहलाता है। तो सदा आर्य पुरुषोंके साथ संगति रखना यह ध्यानमें रहना। कर्मोदय ऐसा है जीवोंके कि कुसंगतिमें तो जल्दी लग जाता है जीव, और बहुत प्रिय लगते हैं कुसंग, क्योंकि विषयकषाय पुष्ट होते हैं कुसंगमें और यह जीव सदा रागी द्वेषी मोही विषयकषायोंको चाहता ही है। पर कुसंगका कैसा खोटा परिणाम है कि व्यसनोंमे लग जाय तो वह धनकी हानि करदे। कहीं ऐसी कषाय जग जाय कि अपने ही हाथसे अपने परिजनका घात कर दे। कैसी-कैसी विडम्बनायें बन जाती हैं कुसंगसे, जिनसे जीवोंका अकल्याणहो पतन हो, खोटी दशा हो वह सब कुसंगका फल है। यदि घरमें कुटुम्बीजन अज्ञानी है, मोही है, विषयकषायोंके प्रेमी हैं तो घरमें भी वह कुसंग ही है। घरमें पूरा धार्मिक वातावरण हो तब तो बुराई नहीं हो पाती, किन्तु धर्मसे विमुख हैं घरके लोग, विषयकषायोंके प्रेमी हैं तो भी वे ऐसी ही बात कहेंगे और रोज-रोज कहेंगे सुनते रहेंगे तो परिणामोंमें निर्मलता आ ही जाती है। कुसंग लाभ भला नहीं है इसलिए यह व्रती श्रावक यह भावना करता है कि सदा ही मुझे आर्य पुरुषोंकी संगति प्राप्त हो।

(४) गुणवन्त पुरुषोंकी कथा करना—चौथी भावना है—गुणवान पुरुषोंके, सच्चरित्र पुरुषोंके गुणोंके समूह में कथा की जाती रहे। मैं दूसरों के गुणों को बखानूं। उनके बड़े पाप का उदय है जिनको दूसरों के दोष ही दोष दिखते हैं, क्योंकि जब दोष ही दिखे तो वह स्वयं दोषी है। दोषका प्रेमी है तब दूसरोंके दोष ही दोषपर दृष्टि जाती है। और जब दोषपर दृष्टि गई तो खुदके उपयोगमें तो वह दोषका फोटो आ गया। दोषाकार ही ज्ञान बन गया, यह तो तत्काल नुकसान हुआ। किसीके दोषकी कहानी न कीजिए। दूसरेकी निन्दा करना यह बहुत बड़ा अवगुण है, निन्दकका सारा ढचरा बिगड़ जाता है, बुद्धिमें बल नहीं रहता, वचनमें ओज नहीं रहता, मनमें अच्छी बात नहीं समा पाती, तब फिर सोचिये तो सही कि परनिन्दासे मेरा अटका क्या है? न मेरी उसमें उन्नति है बल्कि अवनति ही अवनति है। सो यह व्रतीपुरुष भावना करता है कि सच्चरित्र पुरुषोंमें गुणोंकी कथा ही मेरी जिह्वासे निकले, गुणोंकी कहानी कहेंगे, गुणोंकी दृष्टि रखेंगे तो स्वयंमें भी गुणोंमें विकास चलेगा। हे प्रभो, मेरी सदा गुणों पर ही दृष्टि बने ऐसी भावना और प्रयोग सम्यग्दृष्टिके चल रहा है।

(५) परदोषकथनमें मौन रहना—५वीं भावना है 'दोषवादे च मौनं' दूसरोंके दोष कहनेमें मेरा मौन भाव रहे। दोष कहनेसे कितना नुकसान है, पहले तो यह ही ज्ञान दूषित हो गया, इस पर दोषोंका फोटो छा गया, दोषाकार बन गया, लो यहींसे अंधेर नगरी चली अब। फिर दोष जब चलेंगे तो लोग कहेंगे कि यह बड़ा ओछा आदमी है। यह दोष ही दोष बखानता रहता है। इसकी निरन्तर दोष ही दोषपर दृष्टि रहती है। तीसरी बात—जिसके दोष कहा जायगा वह शत्रु बन जायगा और उसके जितने

मित्रजन होंगे वे भी बुरी निगाहसे देखने लगेंगे। तब जीवनमें विपत्तियां बिछ जायेंगी। दूसरेके दोष कहते समय दिल कंप जाता है यह सबको अपना-अपना अनुभव होगा। दूसरोंका गुण कहते समय चित्तमें उमंग हर्ष रहता है। दोषवादमें कितना नुकसान है उस सिलसिलेसे अगर झगड़ा बढ़ जाय तो मारपीट जेल सब कुछ हो जाता है। व्रती श्रावककी भावना है कि मेरा दोष वादमें मौन भाव रहे। मनुष्योंको जो जिह्वा मिली है सो कितनी श्रेष्ठ मिली है। अन्य जीवोंपर दृष्टि डालकर देखें, अनन्तकाल तो इस जीवको जीभ ही नहीं मिली। एकेन्द्रिय रहा, पृथ्वी आदिक रहा, निगोद रहा और दोइन्द्रिय बना, और जीभ मिली तो केचुवा जोंक ये प्राणी तो यहां दिखते ही हैं। उनकी जीभका कितना मतलब होता है? क्या बोल सकते हैं? आवाज भी कैसी कि जिसका कुछ पता भी नहीं पड़ता। होती तो होगी आवाज, हवा तो निकलती हीं है पर उस जीभसे क्या मिला जिसको वाणी नहीं मिली। यह ही हाल दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय का है, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवका है। कुछ बोल ही नहीं सकते। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंको जिह्वा मिली तो देख लो घोड़ा, गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी, कुत्ता आदि जानवरोंकी कैसी बोली है—कहीं बांय-बांय कर रहे, हिनहिना रहे, भिन भिना रहे, उनके कहां ठीक-ठीक वचन निकला करते हैं? एक मनुष्यको ही ऐसा जिह्वा मिली कि वचन बोले जा सकते हैं, जिन वचनोंका वाच्य अर्थ है, लोग उस अर्थको जानते हैं, इतनी श्रेष्ठ यह स्थिति है, और यहां हम इस जीभका सदुपयोग अगर नहीं करते तो फिर यह परिणाम होगा कि मानों कर्मविधाताने यह देखा कि इसको जीभकी जरूरत नहीं है, क्योंकि यह इसका दुरुपयोग कर रहा है तो अब इसे जीभ न देना चाहिए, अर्थात् एकेन्द्रिय बन जायगा। बहुत बड़ी सावधानी रखना होती है वचन बोलनेकी और जीवनमें यह अभ्यास बनाइये कि बोलिए कम और सुनते जाइये सब कुछ। विचारिये और जब बोल निकले तो ऐसा निकले कि दूसरोंको भी शान्ति हो। तो यह व्रती श्रावक मनन कर रहा है अपने कर्तव्यकि किसीके भी दोष कहनेमें मेरी जिह्वा न डोले। मौनभाव रहे।

(६) प्रिय हित वचन ही बोलना—सभी जीवोंके प्रति प्रिय और हित वचन बोलूँ। दूसरे जीव मेरे ही स्वरूपके समान भगवन्तस्वरूप हैं, उनको देख करके तो भीतर प्रसादहो जाना चाहिए। यह भगवत्स्वरूप है, किसी भी जीवको देखो मनुष्योंकी तो बात क्या, पशु पक्षी कीड़ा मकोड़ा एकेन्द्रिय जीव पेड़ पौधे, इनको देखकर एकबार चित्तमें यह तो विचार लावें कि यह भगवत्स्वरूप हैं। इसका आत्मा ज्ञानमय है, चैतन्यवरूप है। जो प्रभुका स्वरूप है सो इनका स्वरूप है, जिससे आप वचन बोलें उसके प्रति तो यह सोचना ही चाहिए एक बार कि यह भगवतस्वरूप है, जीव है, इसमें कोई अपराधी बनता है तो वह कर्मका उदय है, ऐसी ही छाया पड़ी, झांकी हुई, बात बन गई, पर जीव स्वयं तो अविकार और निरपराध है। ऐसा चिन्तन करके फिर आप बात बोलें वे प्रियहित वचन निकलेंगे।

(७) आत्मत्त्वमें भावना—७वीं भावना—जो समस्त भावनाओंका उद्देश्यरूप है, प्रयोजनरूप है वह है आत्मतत्त्वकी भावना होना। मैं क्या हूं, स्वयं क्या हूं, सहज क्या हूं। बिना दूसरेके सम्बंधके मैं क्या हूं? अपने आपके सत्त्वसे मैं चिदानन्दस्वरूप हूं। प्रतिभास और आनन्द यह निजका स्वरूप है। प्रतिभास होता ही रहे ऐसा यह सर्व द्रव्योंका राजा है आत्मा। सब द्रव्योंमें आत्मा ज्ञाताद्रष्टा सबसे

निराला यह मैं आत्मा स्वयं ज्ञानान्दमय हूं, ऐसी निरन्तर भावना होना। इस आत्मतत्त्वकी भावनाके प्रसादसे ही पापरस मिटता है, पुण्यरस बढ़ता है, धर्म मार्गमें गति होती है, जीवनमें ये ही तो करनेके काम हैं। यह अन्तः क्रिया होती रहे फिर तो जो होगा वह सहज ठीक ही ठीक होगा। तो अपने आत्माकी सम्हाल यह ही सबसे बड़ा अपना पौरुष होना चाहिए। तो इस सल्लेखना धारी श्रावकके मनन चल रहा कि जीवनभर तो अच्छे आचारसे रहा। अब इस मरणसमयमें मेरा शुद्ध आचार भंग न हो, बोधि और सामायिक परिणाम सहित ही इस शरीरको छाड़कर जाऊं।

सहजात्मस्वरूपकी उपासनाकी भावना—समाधिमरणका अर्थ है कि इस देहका तो वियोग हो जाय पर आत्माका जो दर्शन ज्ञान स्वभाव है उस शील परिणामसहित इसका इस देशसे गमन हो, इसे कहते हैं समाधिमरण। और कुमरण कहते हैं उसे जहां संक्लेश परिणाम करके मोह ममत्व रखता हुआ देहसे गमन करता है। सल्लेखनाधारी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि मैंने अनादिकालसे लेकर अनन्तकाल कुमरण किया, जिसके फलमें कुयोनियोंमें जन्म लेकर दुःख ही पाया। अब हे प्रभु, हे वीतराग सर्वज्ञ देव, हे सहज आत्मस्वरूप मेरी यही प्रार्थना है, अभिलाषा है कि मेरी दृष्टि अपने स्वभावसे न चिगे और आन्तरिक प्रसन्नताके साथ इस देहसे विदा होऊं, और अच्छा हो कि मरण समयमें वेदनायें न हों और होंतो तत्त्वज्ञानके बलसे, उनका मेरे अनुभव न बने, मैं तो केवल एक सहज चित्प्रकाशमात्र अपने भगवत आत्माको ज्ञानमें लिए हुए हूं। इस ही की आराधना करता हुआ इस देहसे प्रयाण करूं। मेरेको रत्नत्रयका लाभ हो और समाधिका लाभ हो। एतदर्थ अब उस वीतराग सर्वज्ञके गुणोंका ही स्मरण करता हूँ और निश्चयतः मैं अपने सहज ज्ञानानन्दस्वरूप अंतस्तत्त्वकी उपासना करता हूं।

कृमिकुलकलित देहके वियोगमें ज्ञानी के विषादका अभाव—इस देहसे अलग होनेका विषाद क्यों? यह देह कोई सारभूत चीज है क्या? सैकड़ों कीड़ोंके समूहसे भरा हुआ यह देह है। यह देह हाड़ मांस मज्जा आदिकका पिण्ड है। इसके ऊपरकी सजावटका पलस्तर और चमड़ेका रंग रोगन इनको यदि न देखा जाय तो भीतर क्या निरखनेमें आएगा? जैसे कि शमशानमें पड़ी हुई हड्डियोंको जोड़कर एक ढांचा बना दिया जाए ऐसे जर्जर सैंकड़ों कीड़ोंके समूहसे भरे हुए इस देह पिंजरामें मेरेको ममता नहीं है। इसका वियोग होता है तो मेरेको कोई भय नहीं है। यह शरीर पौद्गलिक है। मैं ज्ञानशरीरी हूँ। मेरा स्वयंका विग्रह (शरीर) ज्ञान है। ज्ञानको शरीरकी उपमा देनातो भला नहीं है, पर ज्ञानही मेरा सर्वस्व है, बोडी है यह अभिप्राय जानना। शरीरतो उसका नाम है शीर्ण होवे, गले, उसका नाम है शरीर और बोडी नाम है उसकाजो इसका आत्मभूत हो। वही वस्तु जिससे वह निर्मित है जिसे कह दीजिए विग्रह। इसका तो ज्ञान ही विग्रह है। काय, देह, शरीर और विग्रह इनके चार नाम हैं। कायतो कहते हैं उसे जो संचित हो, पुद्गल परमाणुवोंका संग्रह हो उसे कहते हैं काय। जोबढ़ता रहे उसे कहते हैं देह। जो गले सड़े, जीर्ण हों उसे कहते हैं शरीर, और जिसका विशेष रूप से ग्रहण हो उसका नाम है विग्रह। मेरा काय ज्ञान है, उसीके अविभाग प्रतिच्छेदोंका प्रकटपना होता है। मेरा यह ज्ञानही देह है, इस हीके विकासकी डिग्रियोंका बढ़ाव होता रहता है। तो मेरा ज्ञान ही विग्रह है। याने शाश्वत अनादि अनन्त ज्ञान स्वभावका व उसकी वृत्तिका ही ग्रहण मुझमें रहता है। ऐसा ज्ञान विग्रह

वाला यह मैं आत्मा कभी मरता ही नहीं हूँ, पूर्ण सत् हूँ। जैसा हूँ वैसा ही यहाँसे उठकर चला गया। मेरेको शोक क्या? भय क्या?

मृत्युमहोत्सव में अविकार स्वभावके दर्शनकी प्रसन्नता—मरण समय में भय उनके ही होता है जिनको देह धन परिजन आदिकमें ममता बसी रहती है, वे बड़े संक्लेशसे मरण करते हैं। यह देह पिञ्जर विघटता हैतो विघटे पर मेराजो विग्रह है, ज्ञान है वह कभी विघट ही नहीं सकता, जिस ज्ञान में अतुल सामर्थ्य है। जिसमें सकलपदार्थ झलक जाएँ ऐसा अमूर्त ज्ञानमात्र ज्योति स्वरूप मैं हूँ। इसमें क्या संकट है। इस ही स्वभावको दृष्टि में रखता हुआ मैं महाप्रयाण करूं। अन्य प्रकारकी मेरे दृष्टि न हो, मैं अविनाशी हूँ, ज्ञाताद्रष्टा रहना मेरा स्वभाव है। केवल मैं अपने सत्त्वसे जो हूँ उसका मात्र प्रतिभास काम है, जानन हुआ, दर्शन हुआ बस यह ही मेरी वास्तविक वृत्ति है। स्नेह, विषय, शोक यह मेरी वास्तविक वृत्ति नहीं है, किन्तु उदय में आए हुए कर्मोंके अनुभागकी वह झलक है। जैसे जल कहीं गंदा नहीं होता। जिन जलोंको हम गंदा कहते हैं उनमें जल गंदा नहीं है, किन्तु धूलकण, करकट आदि जो बाहरी चीज़ें उसके साथ मिल गई हैं गंदी हैं कुछ बाहरी चीजें जल में इस तरह मिली हैं कि वह जल ही गंदा लगने लगा। पीनेके कामका ही नहीं मगर स्वरूप देखिए तो जल कभी गंदा नहीं होता। जल-जल ही है, जलके साथ जो कलमसता है वह अन्य वस्तुकी है। दर्पण स्वयं अपने आप किसीके फोटो रूप नहीं है। मगर इसका स्वभाव है फोटो, तो वह स्वभावतो रहा आया मगर ठीक फोटो न झलके याने कांच गंदाहो, दर्पण गंदा होनेपर और तरहसे झलके, मलिन झलके, तो उस दर्पणके साथ कोई परवस्तु उपाधि लगी हुई है, तेल चिपक गयाहो या कांचके भीतर ही बनते समय कोई दूसरी वस्तु आ गई हो या कुछ पोलसी हो गई हो कुछ ऐब है तब बुरा झलकता है, ऐसे ही आत्माके साथ कोई ऐब लग गया पर उपाधि लगी है इस कारणसे रागद्वेष कल्पना आदिक होते हैं।

स्व व परके भेदविज्ञानका महाबल—मैं स्वयं अपने आपके सत्त्वमात्र हूँ। जैसे हंस मिले हुए दूध पानी में दूधको ही ग्रहण करता, पानीको छोड़ देता, उसकी चोंचमें ऐसा गुण हैकि मिले हुए दूध पानी में चोंचके पड़ते ही पानी अलग हो जाता, दूध अलग हो जाता। जैसेकि अन्य कई वस्तुएँ हैं ऐसीकि मिले हुए दूध पानी में डालदें तो दूध अलग होता, पानी अलग हो जाता। और कुछतो ऐसा होता ही है, जैसे गरम दूध में नींबू डाल दिया तो पानी अलग हो जाता। दूध गाढ़ा होकर (जमकर) अलग हो जाता, और भी कई वस्तुएँ ऐसी हैं कि उस मिले हुए दूध पानी में डालदी जाएँ तो पानी अलग हो जाए, दूध अलग हो जाए। जो तारीफ उस वस्तु में है वही तारीफ हंस की चोंच में है। भेद विज्ञान हो गया। अब वहाँजो उपादेय तत्त्व है उसको ग्रहण करना, जो हेय तत्त्व है उसको छोड़ देना। मेरी कल्पनामें राग और ज्ञान मिला जुला है। वहाँ भी रागका स्वरूप रागमें है, ज्ञानका स्वरूप ज्ञान में हैं, स्वरूप नहीं बदल गया, पर ऐसा मिश्रण हो गयाकि उस रूप न ज्ञान रहा, न उसका रूप रंग रहा किन्तु कल्पनारूप बन गया। उस कल्पनामें उस तत्त्वज्ञानके बलसे राग और ज्ञानको जुदा निरख रहा हूँ। सो मैं ज्ञानको ग्रहण करता हूँ, रागको छोड़ता हूँ। मुझ आत्मामें और इस देहमें अत्यन्त अन्तर है। बिल्कुल विपरीत है। देह पौद्गलिक है, हाड़ मांसका पिण्ड हैं। यह मैं आत्मा ज्ञानरूप हूँ, अविनाशी

हूँ, देह विनाशीक है, बिखर जाएगा इसमें आगभी लग जाती, मैं अविनाशी हूँ, मैं बिखरता नहीं, मुझमें आग नहीं लगती। अत्यन्त उल्टी दोनों चीजे हैं मैं और देह। तो इस देहके मिटनेका भय क्या? मैं अपने आपके स्वरूप में हूँ।

जीर्णशीर्ण दुर्गन्धित कुटीको त्यागकर नवीन सज्जित कुटी में पहुँचने में प्रसन्नताका ही अवसर—जैसे कोई मुसाफिर रेलगाड़ी में किसीके मना करने पर कि यहाँ मैं बैठा था पहले, तो पास में दूसरी सीट खाली होने पर वह उठकर दूसरी सीट पर बैठ जाता है। आयुकर्मका तकाजा है कि अब आप इस सीटपर न बैठिए, यह सीट गंदी हो गई। बुढ़ापेसे यह जर्जर सीट हो गई, आप इस नई सीट पर जाइए, हम आपके लिए तैयार रख रहे हैं, तो उस जीवको वह पुरानी गंदी सीट छोड़कर नई सीटपर जाने में क्या तकलीफ? रेलमें आपकी सीटके पास बैठे हुए किसी बच्चेने मानो टट्टी पेशाब करके आपकी सीटको गंदा कर दियातो उस बच्चेकी मां आपसे कहती है कि आप उस सीटपर आ जावो, आपकी यह सीट गंदी हो गईतो बतावो वहां क्या आप उससे लड़ते हैं कि मुझे तो मेरी ही सीट चाहिए, यह न चाहिए? नहीं लड़ते। वहां तो आप खुशी-खुशीसे उस सीटको बदल देते हैं। तो ऐसे ही जब कोई मानलो समझा रहाकि अब तेरा यह शरीर जीर्ण शीर्ण हो गया, गंदा हो गया, इससे बदबू आने लगी, अत्यन्त रुग्ण हो गया, इसको कोई देखता है तो डरने लगता है, तेरेको नया शरीर दिया जा रहा है, इसे छोड़, और उस समय कोई यदि यह कहे कि मैं नहीं किसीकी सुनना चाहता मैं तो इसी शरीर में रहूँगा तो बताओ यह उसकी बेवकूफी है कि नहीं? अरे क्यों व्यर्थ में इस शरीर से ममता करते? यह लोकतो ३४३ घनराजू प्रमाण विस्तृत है। अगर सांसारिक वैभवोंकी चाह है, उनकी प्रीति नहीं छूटी तो यहांका वैभव न सही, अगले भवमें मिल जाएगा। उसमें भी टोटा क्या?

समाधिमरण में ज्ञानीका विशेष पौरुष—मरणसमय भी वैभवकी आकांक्षा कोई रखे तो वह तो उसका कुमरण है। अरे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति जैसी विभूतिका भी तो ख्याल कर। ये अत्यन्त भिन्न पौद्गलिक पदार्थ हैं जिनके संसर्गसे तेरा घात हो रहा। तू उसको क्यों चाहता? मैं चाहूंगा, मैं तो अपने अनन्त ज्ञानादिकके स्रोतरूप सहज कारण परमात्मतत्त्वकी उपासना करूंगा। यहतो मरण महोत्सव है। इस मरणकालमें उसका आगेके सारे भविष्यका फैसला होना है। जीवनभरतो पाठ याद किया और परीक्षाके समय पागल हो गया तो यह उसका खोटाही भवितव्य है। ऐसेही इस जीवनमें सारे जीवनतो खूब व्रत तप निभाया और मरण समय में मोह मदमत्त होकर पागल हो जाऊं तो समझोकि मेरा सारा भविष्य खोटा रहेगा। यह परीक्षणका समय है। बच्चे लोग परीक्षाके समय और अधिक तैयारी रखते हैं। तो यहां भी मरण समय में, जीवनमें जो सावधानी बरती उससेभी अधिक सावधानी यहां मृत्यु महोत्सवके समय रखना है। यह मृत्यु महोत्सव मुझे प्राप्त हुआ है तो इसमें भय किस बातका? मैं स्वरूप में स्थित होता हुआ अन्य देहमें स्थित हो जाऊंगा।

स्वयंसे ही स्वयंके हितकी अभ्यर्थना में लाभ—सारा क्लेश मोहका है। दूसरों से प्रार्थना करना कि मुझे कष्ट न देना, मुझे सुख देना, मुझे शान्ति दिलाना और प्रार्थना करना उनसे जिनमें मोह बसा है तो यह कैसी बेजोड़ यात्रा है, जैसे किसी रथ में हाथी और गधा दोनोंको एक साथ जोत दिया

जाएतो रथ न चलेगा ऐसे ही मैं चाहता हूँकि मुझे शान्ति मिले, समाधि मिले, उत्तम परिणामसे मरण करूं और वह चाहूं मैं अपने कुटुम्बसे, परिजनसे, तो यह बात क्या संभव है? कठिन है। जैसे काजलकी कोठरी में कितना ही सयाना जाए पर काजलकी एक न एक कोर लग ही जाएगी ऐसे ही घरके कुटुम्बीजनों से समाधिमरण की अभिलाषा रखेंकि ये मेरा सारा काम बना देंगे तो बड़ा मुश्किल है। घर के लोग सुना रहे हैं—भाई क्या सुना रहे हैं? वैराग्यकी बात, और यह घरका आदमी सुन रहा है और मनमें सोच रहा हैकि मेरा मुन्ना सुना रहा है वैराग्य की बात। अरे मेरा मुन्ना, यहतो बीच में लगा हुआ है। वैराग्यकी बात कहां से आयगी? तो उस समय सम्बंध रखें त्यागीजनोंका, श्रावकोंका, अन्य जनोंका, बाहरसे आए हुए पुरुषोंका। कुटुम्बीजनोंसे धर्मध्यान सुननेका क्या अर्थ है? उतना ही जैसेकि पति पत्नी मिलकर भगवानकी पूजा करते हैं। पूजा कर रहे हैं, भीतर लगाव लगा हैकि मैं पत्नी सहित पूजा कर रहा हूँ, रागभाव तो निरन्तर लिए हुए हैं। पूजा कहां हो रही? तो उसकी करतूत भी सामने नजर आती। जब फलका छंद पढ़ेंगे तो खुदकी रकेबी में रख लिया काला कमलगट्टा और स्त्रीकी रकेबी में धरेंगे बादाम। यह करतूत भी सामने नजर आ रही कि कितना रागवश पूजा कर रहे। जो हालत वहां है वही हाल समाधिमरणका है जो अपने ही परिजनों से धर्मश्रवण सुनना चाहता है। यद्यपि आवश्यक यह भी है कि अपने परिजन से धर्मश्रवण करेंगे मगर उसका फल इतना ही है कि यह तो चाह रहा है कि इनसे ममता त्यागें। उनकी ओरसे भी सहयोग मिल रहा कि ममत्त्व त्यागें पर ऐसा होते होते भी कभी-कभी राग हो बैठेगा। उन श्रावकोंका महाभाग है जिनको परिजन तो दें मौका कि समाधिमरण होने दो और साधुजन विद्वज्जन समाधिमरणका सम्बोधन रखें, उनका समाधिमरण सुगम होता है।

सल्लेखनाधारी का भविष्यविषयक मंगलचिन्तन—सल्लेखनाधारी चिन्तन कर रहा हैकि जैसे कोई टूटी-फूटी कुटीसे निकलकर नए महलमें जाता है तो बड़े उत्सवके साथ जाता है, ऐसे ही यह मैं आत्मा जीर्ण शीर्ण शरीरसे निकलकर एक नए देहमें जाता हूँ तो मेरा इसमें नुकसान क्या है? वह चित्त में प्रसन्नताके साथ उत्सवके साथ जाता है। प्रसन्नता महोत्सवके साथ मरण हो तो जो वैभव यहाँ पाया है उससे कई गुना वैभव वहाँ मिलेगा। इसकी परवाह क्या करता? यहाँके समागमों में ममता क्यों रखता? और यहाँके समागमों में ममता रखता हुआ मरण करेगा तो न यहां रहना, न आगे मिलेगा। यदि मैं अपने ज्ञायकस्वभाव में ठहरता हुआ, दूसरों से ममत्व तजता हुआ परलोक जाऊंगा तो धातु उपधातुरहित देह में पहुँचूँगा जहाँकि अनेक देव पहलेसे ही आदर स्तुति करनेके लिए खड़े होंगे। जैसे यहाँ कोई पुण्यवान बालक उत्पन्न होता है, गर्भसे निकलता है तो ढोल मंजीरा गान तान ये अनेक उत्सव होने लगते हैं तो ऐसे ही देवगतिमें भी पुण्यवान जीव उत्पन्न होते हैं वहाँ भी अनेक देव खड़े होकर उसकी प्रशंसा करते हैं और वह अकृत्रिम चैत्यालयोंकी वंदनाको पहले जानेका भाव रखता है तो उसके साथ वे यात्रा करते हैं। सो समाधिसहित मरण होगा तो वैक्रियक देह में देव होऊंगा, महान् ऋद्धि धारक देवदेह पाऊंगा और जो भय करके, ममता करके यहांका मरण बिगड़ा तो एकेन्द्रिय आदिकके शरीर में जाकर मैं जड़वत् हो जाऊंगा। अब कुछही मिनटोंमें फैसला होने वाला है। बताओ आपको देव बनना प्रिय है या एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक जीवों में उत्पन्न होना प्रिय है? यहाँ मोह ममता करनेका तो फल

है पेड़ पौधा आदिक बनना और यहांका ममत्व छोड़कर अपने सहज आत्मस्वरूपकी आराधना सहित मरण करें तो वहां दिव्य देह में उत्पन्न होना होगा। इन समस्त समागमोंको पर जानकर मैं उनसे ममत्व तजता हूं। सल्लेखनाधारी भलीभांति सर्वकुछ वस्तुस्वरूप विचारकर सर्वसे विरक्त होकर सहज आत्मस्वरूपमें ही मग्न होता हुआ संतोष पाता है। ममत्वके त्यागका भी एक बड़ा सुन्दर अवसर है। ऐसे अवसर में मैं सर्वपरपदार्थोंका लगाव छोड़कर अपने सहज अमूर्त चैतन्य प्रकाशमय परमात्मतत्त्वमें ही रमता हूँ। अन्य कुछ वृत्ति बनाना मेरे लिए लाभकारी नहीं है।

मृत्युमित्रके उपकारका विचार—जीवनमें भले प्रकार व्रतोंका पालनकर यह व्रती श्रावक मरण समय में चिन्तन कर रहा है। यह जो आज मृत्युका अवसरआ रहा है जो बड़ा मित्र है। जो मैंने जीवन में अनेक व्रत तपश्चरण किया सो उन किए हुए पुण्यकार्योंका फल इस मृत्यु मित्रके बिना प्राप्त नहीं हो सकता। करणानुयोग के अनुसार जो आयु बंध गई है, जो पुण्यकर्म बांधे हैं, जिनका फल देवगति में मिलता है, अन्य सुगति में मिलता है तो वह फल तब ही मिल पाएगा जब मरण होगा और इस जीर्ण शीर्ण गले शरीरसे निकालकर यहांके दुःखोंसे जो छुटकारा दिलाएगा वह मृत्यु मित्र ही तो है। जीवन में ६ कायके जीवोंकी हिंसा टालकर प्रवृत्तिकी। धर्मबुद्धिसे अनेक सदाचारोंका पालन किया। सत्य वचनपर डटे रहे, चाहे कितनेही कष्ट सहे, पर असत्य कभी बोला नहीं, पर धनका लोभ करके उसे कभी छूआ नहीं, परनारी, परस्त्रीको निरखकर कभी कामभाव किया नहीं। और परिग्रहमें तृष्णा नहींकी परिग्रह परिमाण किया, संतोष किया, ऐसे कर्तव्यसे जो पुण्य बांधे उसका फल मृत्यु मित्र बिना कौन दिखा सकता है? कुछ समयकी ही तो बात है, जल्दी ही सुख सम्पदामें और धार्मिक वातावरणमें हमारी स्थिति होगी, फिर इस मरणका भय क्या है? इस समय यदि आर्तध्यान रौद्रध्यान परिणाम होगातो नरकगति, तिर्यञ्चगति में उत्पन्न होकर अनेक दुःख भोगने पड़ेंगे। सो अब उस धनसम्पदामें, परिजन में परिग्रहमें ममत्व छोड़कर चिन्तामणि कल्पवृक्षके समान इस समाधिमरणको न बिगाड़ूँ। मैं अपने स्वरूपको निहारता हुआ इस शरीर से प्रयाण करूं।

विविध कष्टप्रद देहसे छुटकारा में विषादका अनौचित्य—यह सल्लेखनाधारी श्रावक चिन्तन कर रहा है कि इस भवमें गर्भसे लेकर अब तक कष्ट ही भोगा कल्पनासे। पर सारे जीवन में पाया क्या? कष्ट। और मोहके वश होकर उन कष्टोंमें ही राजी रहा और मोह न छोड़ सका। गर्भ में कितने कठोर दुःख। कितनेसे पेटकी छोटी जगह में बंध करके रहना, हाथ, पैर, सिर, अंग आदिक बनने पर भी चिपका हुआ औंधे मुख बना रहना, मांने जो खाया पिया, उसका उसही रसकी नलीसे आहार हुआ। कैसे दुर्गन्धमय स्थान में इन ९ महीने रहना पड़ा। फिर जब गर्भ से निकलेतो उस समयका दुःख मरणके दुःखसे कम नहीं होता, पर और लोगोंको क्या पता? और लोग तो गाजे बाजे नाच में ही उमंग सहित हर्ष मनाते हैं। परजो बच्चा गर्भसे निकल रहा वह कितना कष्ट पा रहा है इसका अनुभव तो उस बालकको ही होता है। गर्भ से निकलनेका भी बड़ा दुःख है। जैसेकि देखा ही करते हैं यहां, कुछ चेतना सही नहीं, सावधानी नहीं, समझका विकास नहीं। कुछ बड़ा हुआ तो अनेक कल्पनाएँ करके दुःख मानने लगा था। जो इष्टवस्तु चाहिए वह न मिले तो कष्ट, यह इतने में भी कष्ट मानता रहा, यदि मांकी गोदमें

चढ़ा हुआहो और नीचे बैठाल दिया गया तो वह रोने लगा। मानों उस बच्चे ने बड़ा अपमान महसूस कियाकि कहाँ तो ऊँचे चढ़े हुए थे और कहाँ मुझे नीचे पटक दिया, अनेक प्रकारके दुःख हैं, जहाँ कुछ होश नहीं, जहाँ चाहे मलमूत्र कर दिया, गंदी चीज भी मुखमें डालनेको तैयार हुए, ऐसे कठिन दुःखों में समय बीता। कुछ और बड़े हुए तो मां बाप स्कूल में पढ़ानेको ले गए। यह पढ़ना नहीं चाहता, घरमें पिटाई होती, स्कूलमें पिटाई होती, अथवा कुछ होशियार हैतो भी खेलना बचपन में बहुत पसंद होता, उस खेल में बाधा आती है, वहां कष्ट मानने लगते हैं। फिर विद्याध्ययनके कष्ट, दूसरे की डॉटके कष्ट। चाहे अपराध भी नहीं किया उसमें फिर भी उसका बाप जरा-जरासी बात में झुंझला जाता, और थोड़ा बहुत अपराध बन गया तबतो डॉट ही डॉट पड़ती है। उसका दुःख भोगा। जैसे-जैसे बड़े होते गए वैसेही वैसे विकार भावके कारण दुःख और बढ़ते गए। बड़ा हुआ और मानों गृहस्थी बसी तो अब विकल्पोंकी जाति बदलने लगी, और भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ करके जरा-जरा सी घटनापर वह खेद मानने लगा। जीवन भरही दुःख पाया है।

सन्तानोत्पत्तिके संदर्भ में कष्टका चित्रण—पंडित आशाधरजी ने एक चित्रण किया है। जिस समय इस पुरुषकी स्त्रीके गर्भ रह गयातो कितना कष्ट है उस बच्चेके कारण किआते ही उसने इस पुरुषकी प्रिय स्त्रीका रूप बिगाड़ डाला। स्त्री दुर्बल हो गई, बेढंगी हो गई, रूप बिगड़ गया, यह बच्चा गर्भ में आया तो है, पर इसकी कितनी निर्दयता है अपने माता-पिता पर, इसका चित्रण किया है। जब गर्भके दिन करीब-करीब पूरे हो गए तो उन दिनों उस बच्चेके माता पिता अत्यन्त चिन्तित हो जाते कि पता नहीं अब कैसे क्या होगा? ठीक-ठीक काम निपट पाएगा या नहीं। कहीं कोई कठिन घटना तो न बन जाएगी, यों दुःख मानते रहे उस बच्चेके माता-पिता। जब वह बच्चा उत्पन्न हो गया तो उसकी सम्हाल में अनेक-अनेक प्रकारसे दुःख मानते रहे। जब वह बच्चा बड़ा हुआ और उसकी भी शादी हो गई तो उसने माता पितासे दृष्टि हटाली, क्योंकि उसका उपयोग अब बदल गया। उस समय भी माता-पिता को दुःख। और बड़ा होकर कही किसी बातपर घटना लेकर वह दुश्मनसा भी बन जाए। तो इस जीवने मनुष्यभव में आकर कष्ट ही कष्ट भोगा। जैसे तैसे जीवन निकला, बुढ़ापा आया तो उस बुढ़ापे का प्राकृतिक कष्ट। तो ऐसी कष्ट वाली पर्यायसे निकलकर नवीन देह में पहुंचेंगे और धर्म पुण्यके प्रसादसे स्वर्ग में पहुंचेंगे, तो बताओ इस मृत्यु से घृणा करना चाहिए या उसके अवसर में उमंग लाना चाहिए?

देहबन्धनके कारण ही हुए पराधीनता, परिश्रम, व्याधि आदिके दुःखोंसे छुटकारा पाने का उपाय स्वाधीन विश्रान्त रोगरहित अविकार चित्स्वरूपका उपयोग—यह सल्लेखना व्रतधारी अपने आपमें मनन कर रहा है कि इस कर्मविपाक ने, इस शत्रु ने मुझे ऐसा संसार में पटक रखा हैकि मैं इन्द्रियके वश होकर नाना प्रकारके दुःख भोग रहा हूँ। नाना प्रकारके भूख प्यास आदिककी वेदनाएँ कितनी कठिन हैं। कोई वेदना आ जाए तो चलो एकसे तो निपट लिया मगर एक दिनमें कई बार उससे निपटना पड़ता है। यह क्या कम दुःख है मगर यह मोही जीव वहांही मौज मानता हैकि मैंने अच्छा खाया। श्वासोच्छ्वास जो निकलता है वह क्या सुखका कारण है? वह भी दुःखका कारण है।

यह कब पता पड़ताकि यहही श्वास जरा जल्दी जल्दी निकलने लगे तो मालूम हो जाताकि कितना कष्ट है। अच्छा और धीरे निकल रहा तो थोड़ा कष्ट है, कोई सुखके संकेत नहीं है ये सब। फिर एक पेट भरनेके खातिर कितना पराधीनताका संगम बनाया जाता है। मित्रजन बनाएँ, परिजन बनाएँ, कुटुम्बीजन बनाएँ, ये अनेक व्यवस्थाएँ बनाते हैं एक पेट भरनेके लिए। और यही तब तक चलता रहता है जब तककि शरीर और कर्मसे मुक्ति न मिल जाए। तो यह संसार रहनेके काबिल नहीं है और इस संसारसे छूटने का उपाय हैतो केवल यही हैकि संसाररहित अविकार स्वभाव वाले अपने सहज आत्मस्वरूपकी आराधना रखेंकि मैं यह हूँ। बाहरमें अन्य कुछ भी होता रहे, वह बाह्यकी परिणति है। मैं अपने आपमें अपनेही स्वरूपको भोगता रहूं। जीवनके दुःख देखलो व्यापार किया, खेतीकी, बड़ा कष्ट उठाया, ऋतुवें बदली ठंड के दिनों में ठंड के कष्ट, उस समय यह मनुष्य कह उठता हैकि इससे तो गर्मी अच्छी है। गर्मीके दिनोंमें गर्मीके कष्ट, उस समय यह मनुष्य कह उठताकि इस गर्मीसे तो सर्दी अच्छी होती है। बरसातके दिनों में घिनावनासा लगता, वहां भी कष्ट मानता और फिर इस जीवन में परके अधीन होना पड़ता है। तो इस समय ऐसे बड़े कष्टसे यह मृत्युराजा हमको निकालने आया है तो इस समय उमंग रखना चाहिए कि भला अवसर मिल रहा है।

कृतघ्नदेहका पक्ष लेने में विमुग्धताका प्रकाशन—यह देह तो बड़ा कृतघ्न है। इसकी कितनी ही सम्हाल करते हैं भोजनसे, आरामसे, लेकिन यह देह क्या मनको शान्ति पहुंचा देता है? यहतो आकुलतामें ही बढ़ाता है, रागको ही उत्पन्न करता है। यह देह कृतघ्न कहा गया है, इसकी बहुत सेवाकी। इस देहको अच्छी तरह उठाया बैठाया, खिलाया, पिलाया, स्नान कराया, निद्रा लिवाई, अनेक आरामके साधन जुटाया, बड़े अच्छे अच्छे वस्त्राभूषण पहिनाए, रात दिन इस शरीरके ही दास बने रहे, और इसकी सेवा करते हुए मैं अपने भगवान आत्माको त्रास ही देता रहा। इतना तो मैंने इसकी सेवाकी और अब यह देह भय दिला रहा। आत्माको भुला रहा है। ऐसे कृतघ्न देहसे कौन निकाल सकता है? जो इन सबसे बड़ा बलवान हो, ऐसा बलवान राजा है मेरी यह मृत्यु। सो अब उस ज्ञान सहित अपने आपके स्वरूपकी सुध रखते हुए धर्मध्यान सहित, संक्लेश रहित होकर मरण करूंतो मैं भविष्य में इन दुःखोंका पात्र न रहूंगा। इस कारण यह समाधिमरण मेरेको शरण है। यह देह समस्त दुःखोंका देने वाला है। दुःख तोनिश्चयतः यह जीवही अपने आपकी कल्पनासे पाता है, अगर केवल जीवहो इसके साथ, शरीरादिक उपाधि न हो तो क्या इसकी कल्पना जग सकती है? कभी नहीं जग सकती तो इस कल्पना में सहयोगी यह देह बन रहा है। तो सर्व दुःखोंको प्रदान करने वाले इस शरीरपिण्डको दूर करके जो सुख सम्पदा दिलानेका कारण बन रहा है वह मृत्यु मित्र ही तो है। इस मृत्युमित्रके प्रसाद से भविष्य स्वर्ग सम्पदावों में बीतेगा धार्मिक वातावरणमें बीतेगा। पंच कल्याणकों में तीर्थंकरोंके साक्षात् दर्शन में मुझे विलम्ब न रहेगा, ऐसे मरणसे मेरेको हानि क्या है?

मृत्युकी कल्पवृक्षतुल्यता—यह सल्लेखना व्रतधारी अध्यात्मदृष्टिसे, लौकिक दृष्टिसे सब तरहसे चिन्तन कर रहा है और यह निर्णय पा रहा हैकि मृत्युसे मेरा नुकसान कुछ नहीं है। यह मृत्युतो कल्पवृक्ष है। जिस कल्पवृक्षके नीचे पहुंचकर देव अथवा भोगभूमिया मनुष्य जो कुछ सोचते हैं, मांगते हैं वह

सब प्राप्त हो जाता है, ऐसे ही यह मृत्यु कल्पवृक्ष है। इस अवसर में हम जो चाहें सो प्राप्त हो जाएगा, पर इस चाहनेसे मतलब क्या? जैसा भाव करेंगे वैसाही फल प्राप्त हो जाएगा। यदि नरकादिक कुगतियों में जाना है तो उसका मौका यही है। मरणसमय में यदि ममता करे, रोए, चिल्लाये तो नरकादिक गतियां बड़े आरामसे मिल जाएँगीं और यदि इसे भविष्य में सद्गति प्राप्त करना है तो उसका भी यह मौका है, रत्नत्रय धर्मकी आराधना करे, वस्तुस्वरूपका उपयोग रखे अपने सहज आत्मस्वरूपकी आराधना करे। बाहरके सारे विकल्पोंको छोड़ दे ऐसी स्थिति से मरण होगा तो भविष्य उत्तम हो जाएगा। अच्छे सुख शान्तिके वातावरणका दाता निश्चयमें आत्मा ही है, पर व्यवहारमें निरखिएकि यह मरण समय न आएतो किए हुए तपश्चरणका फल कैसे प्राप्त हो? अरहंत भगवान तीर्थंकर इनका भी मरण होता है, पर उनके मरणको मरण नहीं कहते। निर्वाण, पंडित पंडित मरण कहते। आखिर आयुका क्षयतो होता ही है, वहतो सदाके लिए सिद्ध अवस्था प्राप्त होना, शरीर कर्ममलसे रहित पवित्र बने रहना यह पंडित पंडित मरणके प्रसादसे ही तो प्राप्त होता है।

समाधिमरणमें सर्वतः लाभ—यद्यपि हम यहां साधारण लोग हैं सकल परमात्मा नहीं हैं, सोसिद्ध अवस्था तो न प्राप्त होगी, पर सद्भावना रहे, धर्मकी आराधना रहे तो जहां धर्म प्राप्त होता रहे ऐसी गति में, सत्संग में तो जन्म हो जाएगा, फिर वहाँसे मनुष्य बनकर तीर्थंकर होकर या अन्य चक्री आदिक होकर फिर निर्ग्रन्थ मुनि बनकर तपश्चरण करके निर्वाणभी प्राप्त कर लेंगे। पर यदि प्रमाद करके दुर्ध्यान करके अभी ही मरण बिगाड़ लिया और खोटी गति में पहुंच गए तो आगेका फिर विश्वास क्या? यह पाया हुआ समागम बहुत अमूल्य समागम है। इसमें एक क्षण भी दुर्भाव न रखना चाहिए। जीवन बने दूसरेकी भलाईका। दूसरेके द्वारा अपनेको कष्ट भी पहुंचेतो भी उस जीवके सही स्वरूपका चिन्तन करके उसकी भलाई ही सोचिये। जीवन ऐसा सद्भाव में व्यतीत हो तो इस जीवनमें भी यह शान्त रहता है और परलोक में भी यह शान्त रहेगा। यह मरण समय उसके लिए सुख शान्तिका ही कारण होगा, जिस मरणके प्रसादसे यह जीर्ण शरीर छूटकर सारा नवीन समागम मिलेगा। वह मरण हर्षके लिए होगा, कठिनाईके लिए न होगा। जैसे मिली हुई सम्पत्तिकी बात लोग सोचते हैंकि हमने इतनी सम्पत्ति कमायी और अब इसे छोड़ रहा हूँ, अरे इतनी सम्पदा छोड़ रहे और कुछ ही सेकेण्ड में इससे हजारगुनी सम्पदा मिलेगी तो सम्पदासे कहां छूटे? वहां विशिष्ट सम्पदा पायी जाएगी? किसी दृष्टिसे हानि क्या है? सद्भावसे मरण होगातो इससे लाखगुनी सम्पदा प्राप्त होगी। न कुटुम्बकी हानि है। इस कुटुम्बको छोड़कर जाएंगेसो विनयशील आज्ञाकारी परिजन प्राप्त होंगे। यदि सद्भावसे मरणहो तबकी बात है। नहीं तो दुर्ध्यानसे यहां भी मरे, आगे भी मरेंगे।

आराधना सहित मरणसे कल्याणका लाभ—भैया, आत्माराधना सहित मरण होता है तो यह संस्कार विग्रहगतिमें भी रहेगा, जन्म समय में भी रहेगा और जो स्थिति जन्म समय में आ जाती है वह जीवन में भी रहती है। पहले भव में भी पढ़ा लिखा था और पहले भवको छोड़कर इस भवमें आए तो अब फिर चाहे पहले एम.ए., डबल एम.ए. किया था लेकिन यहां तो फिर से ए.बी.सी.डी. पढ़नी पड़ेगी। वह सब बात कहां गई। वह सब इन्द्रियके साथ, मनके साथ वहीं खत्महो गई, लेकिन यदि वह

संस्कार रहा तो इस भव में चाहे ए.बी.सी.डी. से पढ़े मगर उसे विद्या झट आती है। प्रतिभा बढ़ती है, ज्ञान शीघ्र बढ़ जाता है। यह किस बातका अन्तर हैकि क्लास में मानों २० छात्र पढ़ते हैं तो मास्टर सबको एकसा पढ़ा रहा है पर किसी छात्रकी बुद्धिमें बात जरा भी नहीं बैठती, किसीके कम बैठती, किसीके अधिक बैठती और किसीके इतनी बैठतीकि जितना पढ़ाया उससे भी अधिक जानकारी कर ले। यह अन्तर है पूर्वकाल में विद्यार्जनका और धार्मिकताके संस्कार सहित आत्मदृष्टि करते हुए भव छोड़नेका। अपना शरण, अपना साथी केवल सहज आत्मस्वरूपका दर्शन है किसी दूसरेका कुछभी विश्वास नहीं हैकि वह मेरी शक्तिका कारण बन सकेगा। अपने सहज परमात्मस्वरूपकी आराधना में रहे तो यहही मैं ज्ञानमात्र हूं। मेरा जानन रहे इतनाही काम है और इस जानन कार्यके करते हुए जो निराकुलता रहती है वही मेरा भोग है। इससे बाहर मेरा कुछ नहीं है। ऐसा दृढ़ताका भाव जिसके रहता है उसके पवित्रता बढ़ती है। कल्याण उसका होता है। मैं इस मरण समयपर इस सहज आत्मस्वरूपकी ही आराधना करूं, इसही में उपयुक्त रहकर अन्य विकल्प करके इस शरीरको छोड़कर जाऊं, ऐसी उमंग रहती है मृत्युके अवसर पर ज्ञानी व्रती श्रावककी।

सल्लेखनाधारी श्रावकका समाधिमरणके लाभ का चिन्तन—सल्लेखनाके समय में यह श्रावक चिन्तन कर रहा हैकि इस संसार में जन्मे, जीव पाया, जीवन में नाना दुःख भोगे, फिर मरण हुआ। फिर जन्मे, ऐसी धारा कब तक चलेगी? इस धाराके मिटनेमें ही कल्याण है। अनेक कुयोनियों में भ्रमण करते करते आज सुयोगसे मनुष्यत्व पाया जहाँ जैनशासन मिला, जिन-वचनरूपी अमृत कर्णपात्रसे पीनेको मिलते हैं, ऐसे शुभ अवसर में यदि मरण समय में किसी बाह्य पदार्थकी इच्छा रखी तो वही जन्ममरणकी परम्परा लम्बी बन जाएगी। इस जगत में मेरा कहीं कुछ नहीं है। स्वरूपमात्र हूं ज्ञानदर्शनस्वरूप, जानना देखना जिसका कार्य और इसही कार्यके बलसे आनन्दका भोगना वह ही मेरी दुनिया है। इसके अतिरिक्तजो कुछ भी है वह सब कर्मकी छाया माया है, इसमें लुब्ध होनेका कारण ही कुछ नहीं। अज्ञानही कारण होता है। मैं कर्मोंसे निराला, देहसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हूं मैं। अब मैं इस भगवन्त आत्मतत्त्वकी आराधना करता हुआ ही शरीरको छोड़ूँगा।

मृत्युमहोत्वसके अवसरपर शाश्वत सहज परमात्मतत्त्वके आलम्बनकी शरण्यता—यह मृत्यु तो कल्पवृक्षकी तरह है। यहाँ समाधिमरण होगातो सदाके लिए कल्याणका तन्त्र हो जाएगा। इस रुग्ण अवस्था में या बड़े कठिन उपसर्गकी दशा में जो देहकी हालत बिगड़ रही है अथवा जो समय बुरा बीत रहा है तो मृत्युही एक ऐसा मित्र है जिसके प्रसादसे यह असातासे छूटेगा, और साताका उद्भव होगा। मैं अविनाशी आत्मा अपने आपकोही देखने वाला यह मैं सर्वत्र निराकुल हूँ। देह में कुछ भी बीत रहा हो, यहतो परद्रव्य है, उसकी परिणतिका मैं ज्ञातादृष्टा हूं। मुझमें और देह में तो महान अन्तर है। मैं चैतन्य प्रकाशरूप हूं। यह देह अचेतन है, मैं अमूर्त हूं, यह देह पौद्गलिक पिण्ड है, मुझ आत्मा में न रोग है, न यह जलता है, न यह गलता है, न बहता है। यह देह जलता भी है, गलता भी है। मुझमें और इस देह में तो अत्यन्त विपरीतता है, फिर इस देहका ख्याल क्यों करूं और इसका ख्याल रखकर क्यों विकल्प संकल्प करूं? यहतो अज्ञानियोंका काम है। जिन्हें आत्माकी कुछ सुध

नहीं है और देहको ही आत्मसर्वस्व मान रखा है, उनकोही संक्लेश हुआ करता है। मरण से भय उन्हींको होता है जिनका चित्त संसारके कामों में आसक्त है। ५ इन्द्रियके विषयों में जिनका मन लुभा गया है और इसी कारण इन विषयोंके साधनों में ही जिनका लोभ बढ़ गया है उनको मरण से डर है। मेरातो स्वयं आनन्दस्वरूप है। बाह्य पदार्थोंकी दृष्टि करके जो यह आत्मा अपने धामको छोड़कर बाहर में डोल रहा है सो यह दुःखी ही होता है। विषयों के सुख, सुख नहीं हैं किन्तु दुःख ही हैं। आत्मीय आनन्द जोकि ज्ञानमें ज्ञान ही हो, इस स्थितिको करके अनुभवा है। ऐसे स्वानुभवके आनन्दको निरखने वाले मुझ आत्माको विषयों से क्या प्रयोजन है? मेरा काम अनन्त काल तक यह ही रहता हैकि मैं ज्ञानस्वरूप ज्ञानरूप वर्तता रहूं और इसही ज्ञान स्थिति में निराकुल बना रहूं। इसके सिवाय मेरा और कोई व्यवसाय न होगा। देह और कर्मके बन्धन से छूटकर अनन्तकाल यहही तो करूंगा। जो शुद्ध वृत्ति अनन्तकाल तक रहेगी उसकी प्रतीक्षा, उसकी दृष्टि उसके उपयोग में कष्टका क्या काम?

सल्लेखनाधारी भव्यात्माके अन्तः प्रसन्नताका कारण—यह सल्लेखना व्रतधारी सल्लेखनाके काल में चूँकि ज्ञान और वैराग्य से वासित है अतएव भीतर बहुत प्रसन्न हो रहा है। सहज परमात्मतत्त्वके दर्शन में बहुत बड़ा प्रताप है। यह भव्य आत्मा अपने आपके स्वरूप में बसकर अलौकिक आनन्द भोग रहा है, यह ही अमूर्त तत्त्व है। अमृतका पान करनेसे अमर हो जाता है, ऐसी लोक में रुढ़ि है, पर वह अमृत बाहर कहां मिलेगा? वह क्या पानी सा है? किस प्रकारका होता है वह अमृत? 'मैं अविनाशी सबसे निराला ज्ञानमात्र हूं ऐसे आत्मतत्त्वकी दृष्टि बने यहही वह अमृतपान है जिससे यह अपनेको अमर अनुभवता हूं'। ऐसे जब बाह्य पदार्थोंमें मोह न रहातो मुझ आत्माका कुछ यहां न रहा। वहांमैं ही रहूंगा और अपने आपकी दृष्टिमें भी मैंही रहूंगा। यहतो एक प्रमोदका अवसर हैकि ऐसी जीर्ण शीर्ण हालतको छोड़कर मैं अन्यत्र जा रहा हूं। मैं औपाधिक दुःखोंसे दूर हो रहा हूं। अपने आपको निरखने वाले आत्माके किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं होता।

मरण समयमें विषयासक्तचित्तोंके मरणका भय व भेदविज्ञानी संतोंके निर्भयता व प्रसन्नता—अज्ञानीजनही जिनको बाह्य विषयोंमें विश्वास है वे दुःखी रहा करते हैं। खाने पीने विषय भोगनेको ही जिसने सुख माना है। मरते दम तकभी बुद्धि सही नहीं बनती और आस्था यही रहती हैकि विषयोंके भोगने मेंही सुख है। ऐसी अज्ञानवासना में आसक्त पुरुष अपना मरण जानते हैं और दुःखी होते हैंकि हाय मेरा नाश हो रहा। अब यह खाना पीना बिल्डिंग ये आराम, ये परिजन कहां रहेंगे? मरनेके बाद क्या होगा। अब ये मेरे कुटुम्बीजनजो बड़े प्रेमसे बोलते थे वे सब छूटे जा रहे हैं। अब मैं किसकी शरण ग्रहण करूंगा? ऐसा बड़ा संक्लेश करके मरण करता है, किन्तु ज्ञानी जीवतो प्रसन्नताके साथ शरीरको छोड़ रहा है। उसका दृढ़ निर्णय है और इसकी दृष्टि में हैकि जो मेरा सब कुछ है वह सब कुछ मैं अपने साथले जाऊंगा औरजो मेरा कुछ नहीं है वह कुछ है ही नहीं, पड़ा रहेतो पड़ा रहे, उसका विषाद क्या? मेरा सब कुछ है दर्शन ज्ञान चारित्र। आत्माके गुण, स्वरूप, वह साथ ही जाएगा। यहां विनाश कहां हुआ? सम्यग्ज्ञानी जीवको मरण समय में विषाद नहीं होता। यह मैं इस जीर्ण, शीर्ण जेलखानेकी देहकुटी में बंद पड़ा हुआ हूं, चिल्ला रहा हूं। यहांसे निकलूंगा तो यहाँकी

यह दुर्दशातो दूर हो ही जायगी। यह मृत्यु मित्रके प्रसादसे हीतो हो रहा है। सत्यस्वरूप जिन्होंने जाना उनको मरण समय मेंभी कष्ट नहीं है। जीवन मेंभी कष्ट नहीं है।

अविकार स्वभाव सहजपरमात्मतत्त्वकी आराधना में वास्तविक आनन्द—आनन्द तो उनके है जिनके भेदविज्ञान जग रहा है। वस्तुका स्वरूप सही समझ रहे हैं। सर्वपदार्थोंकी स्वतंत्र स्वतंत्र सत्ता बिल्कुल स्पष्ट है। जीवनतो उनका धन्य है। यदि विषय आराम भोगके मिलने मेंही जीवनकी सफलता मानी जाय तो गधे सूकरोंने कौनसी और दूसरी बातकी है? वेभी खाते-पीते विषय भोगते, मोह करते, सबकुछ कर रहे हैं। धन्य जीवन तो उनका है जिनको ज्ञानप्रकाश मिला है। ज्ञानप्रकाश मिलना, समग्र चेतन अचेतन पदार्थोंकी भिन्न-भिन्न सत्ताका निगाह में बना रहना यह वह वैभव है जिसकी तुलना तीन लोकके पौद्गलिक ढेर भी नहीं कर सकते। तो संसारके अनेक कष्टोंसे बचाने वाला यह मृत्युराज आया है, जिससे प्रसादसे जीव अनन्त दुःखोंसे छूटकर अनन्त सुखों में पहुंच जाता है उस मृत्युके अवसर पर यह अपने में बड़ी प्रसन्नता रख रहा है अपनेको दृष्टि में लिए हुए, मार्गकी सुगमता बना रहा। अब यह मैं इस शरीरसे जुदा हो रहा हूं, इसको रोकनेके लिए कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। कितने भी रिश्तेदार हों, कितने ही मित्रजनहों यह सबसे निराला स्वतंत्र है, अपनेही परिणमनसे परिणमता हुआ अपना कार्य कर रहा है। इस समय आत्मस्वरूपकी दृष्टि ही शरण है। मेरा स्वयं अपने सत्त्वके कारण जो सहज चैतन्यस्वरूप है उसकी आस्था, उसीका उपयोग और इसही उपयोगका बना रहना और इसही शुद्ध स्वरूपमें उपयोगका प्रताप बढ़ाना, यहही मेरी सब दर्शन ज्ञान चारित्र तपकी आराधना है। मैं इन चार आराधनाओं सहित अपने उस सहज आनन्दको भोगता हूँ।

सल्लेखनाधारी श्रावककी निज अचल अन्तस्तत्वमें अचल प्रतीति—सल्लेखनाधारी श्रावक चिन्तन करता हैकि इस मृत्युके सम्बन्ध में पूर्व ज्ञानके उदय से राग आए, कि कठिन व्याधियां आएँ, दुःख उत्पन्न हो, कफ बढ़ गया, शरीर कफ से हिल जाता है, खांसीसे कंप जाता है, ऐसी कठिन भी स्थिति देहकी हो वहां भी मैं अचल आत्मा अपने इस सहज परमात्मस्वरूपमें ही निवास कर रहा हूं, चल में भी अचल हूं। सारा देह चल रहा है, पर यह मैं भीतर तो अचल हूं। मेरा स्वरूप केवल प्रतिभास मात्र है। मैं उसको निरखूँगा। अज्ञानी जीवही देह में तन्मय होकर देहमें रहनेको ही सुख मानते हैं। यह देहजो हाड़का पिंजरा है जिसे लोग तुरंत जला देंगे इस देहसे मेरा क्या मतलब है? मैं मैं हूँ, परिपूर्ण हूं, अविनाशी हूं। आनन्दस्वभाव वाला हूं। मैं यहांसे अलग हूं, कौनसा कष्ट है? यह ज्ञानी अपने आत्माको अपनी दृष्टि में रखता हुआ प्रसन्न रह रहा हैं। यह तो और अच्छा हुआकि इस देह में वेदना राग दुःख हो रहा है। जिससे मैं चेततो पाया। अब इसमें मोहतो नष्ट हुआ, सुख में मोह बढ़ता है। दुःख में मोहके नाशका अवसर आता है। जो बीत रहे बीतने दें, मैंतो उसका ज्ञाता ही रहूंगा। यदि इस अवसर पर चूक जाऊं, संक्लेशमरण करूं, एकेन्द्रिय आदिक में जन्म लूं तो मेरातो चिरकालके लिए अकल्याण हो गया। यों यह सल्लेखनाके काल में रागद्वेष मोहको कृष करता हुआ अपने में अचल ज्ञान प्रकाश को अनुभवता अलौकिक आनन्द पा रहा हूं। जिसे मरण समय में ऐसी आत्मदृष्टि जगती है वह तो लौकिक जनोंके द्वारा पूज्य है। भले ही कोई गृहस्थी में, श्रावकदशा में ही समाधि मरण कर रहा हो पर समाधिमरण

करने वालेकी स्थिति आदर्श और पूज्य होती है। मात्र थोड़ेसे कपड़े शरीर पर हैं। उनको भी यह दूर करके मुनिव्रत अंगीकार करता है। नहीं कर सका यह काम इस गृहस्थ पद मेंतो भी इस सल्लेखनाधारीका न कपड़ों में राग है, न कुटुम्ब में राग है, न देह में राग है। उसकी दृष्टि मेंतो अमूर्त ज्ञानप्रकाशही विराज रहा है। जो मैं हूं उसही को मैं जान रहा। यह श्रावक जीवनभर व्रत तपश्चरण करके सदाचारमें बढ़कर अब इस परीक्षाके अवसरमें शुद्धभावोंसे रहता हुआ अपना जीवन सफल कर रहा है।

रोगादिक वेदनाकी स्थितिको भी भलेके लिए मानना—सल्लेखनाधारी श्रावक चिन्तन कर रहा हैकि जो मेरे कोई रोग वेदना हैसो यहतो देहमें ममत्व घटानेके लिए बड़ा उपकार कर रहा है। यदि रोगादिक न होते और बड़े सुख आराममें देह रहतातो देहसे ममता न छूटती और रोग होता हैसो वे पहले बंधे हुए कर्म निकल रहे हैं इसका सूचक है, सो यहतो कर्मनिर्जराके लिए है। जो कर्मबन्ध किया था, जिसके उदयमें रोग होते थे उनका उदय आया, रोगादिकहो रहे हैं तो वे पापकर्मके निकलनेके संकेतहीतो दे रहे हैं, उनसे मेरी क्या हानि? मैं तो अमूर्त ज्ञानमात्र अविनाशी हूं। मेरा विनाश नहीं होता। यदि मुझेजो कुछ वेदना या दुःखहो रहा हैतो वह इस शरीरके सम्बंधसेहो रहा है, फिर इन शरीरोंकी ममता क्यों, जिसके कारण मुझे दुःख पहुंचे? उसमें मोह क्यों हो? मेरी दृष्टितो आनन्दमय ज्ञानस्वरूप आत्मामें हीहो। जैसे लोहे पर कोई चोट मारता, पर लोहेकी संगति से अग्नि पर भी चोट पड़ रही है। केवल अग्नि पर कौन चोट करेगा? ऐसे ही शरीरकी संगति होनेसे मुझ आत्माको वेदना हो रही है, नहीं तो मुझ आत्मामें वेदनाका क्या काम था? मैं आत्मातो अमूर्त हूं। जैसे अग्निसे झौपड़ी जलती है, पर झौपड़ीके बीच का आकाश नहीं जलता, ऐसेही रोगरूपी अग्निसे शरीरका ही नाश होता है, पर इसके बीच रहने वाले मुझ आत्माका नाश नहीं होता। इस समय रोग व्याधिसे कायर बनकर अपने परिणाम बिगड़ेंगेतो मैं कुगति पाऊंगा। जो कर्म उदयमें आए हैं वेतो आए हीहैं, अपने उपजाए कर्मको खुदको ही भोगना पड़ेगा। अब कायर होकर, अधीर होकर भोगेंगेतो वे कर्म न झड़ेंगे और धीर होकर भोगेंगे, तो वे कर्म अपना उदय दिखाकर निकल जावेंगे। विवेक इसीमें हैकि मैं अपने ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वको निहारकर इस देह वेदनासे मुक्त होऊं।

मरण व रोगादिककी वेदना में धीरता लानेवाला विज्ञान—मरणतो कोई भयकी चीज नहीं है अब तक अनन्तबार मरण किया। मरण कोई एक नई चीज नहीं है। इसका अभ्यासतो अनन्तकालसे चल रहा है। वह तो आदत बन गई है। उस मरणका भय क्या है? मरे, दूसरे शरीरमें गए, पर अज्ञानवश बाह्य पदार्थोंमें ममता आयी, किसीभी प्रकारका संक्लेश जगे तो उसमें मेरा अकल्याण है। मैं अनेकबार शस्त्रोंसे मारा गया, अग्नि में अनेकोंबार जलकर मरे। बड़े-बड़े उपद्रवोंके बीच मरे। आजतो उपद्रवही क्या है? तोजो रोगादिककी वेदना है उसे मैं धीरतापूर्वक सहूं और उस नियममें रहकर ही इस शरीरसे प्रयाण करूं। क्षुधावेदना होती हैतो यह क्या है? नरकोंमें क्षुधा इतनी हैकि सारा अनाज खालें, फिर भी क्षुधा न मिटेगी, पर एक दाना भी नहीं मिलता। उसके आगे क्षुधा क्या है? वहां इतनी तृषा रहतीकि सारे समुद्रका पानी पी लेंवे नारकी फिर भी प्यास न बुझे, अबतो प्यास ही क्या है, अथवा यह देह है, कभी इसमें तृषाकी बात आती हैतो अपने आपही थोड़ी देर बाद स्वयंही ऐसा परिणमनहो जाता हैकि

वह तृषा नहीं रहती है। इसका क्या अधिक विकल्प करना? अपने संयमको भंग न करना। यदि एक बार भी समाधि पूर्वक मरण हुआ होतातो आज संसारके जन्म मरण ये न सहने पड़ते। मैं समाधिके अवसर पर अपने आत्माको निरखता हूं और अपने आपमें अपनेको स्वाधीन बनाता हूं।

मृत्युकी श्रेयस्करता—सल्लेखना ग्रहण करने वाला श्रावक चिन्तन कर रहा हैकि इस लोकमें मृत्यु जगतमें आताप करने वाली है। मृत्युसे सबको कष्ट होता है लेकिन सम्यग्ज्ञानीके तो मृत्यु निर्वाणके लिए होती है। मृत्यु कष्टदायी है ऐसी प्रसिद्धिजो लोक में है वह सही नहीं है। अगर ज्ञान नहीं हैतो मृत्यु कष्टदायी है। ज्ञानीको मृत्यु अमृतका संग करने वाली है। निर्वाण अमृतपद है। अरहंत भगवानकी आयुका क्षय नहीं होता, तोसिद्ध पद कैसे मिलेगा? भलेही अरहंत भगवानके मरणका नाम पंडित पंडित मरण है, चूँकि उसके बाद जन्म नहीं होता इस कारण उसका मरण नाम भी लिया जा रहा है। पर आखिर आयुका क्षय होना मरण हीतो कहलाता है। तोसकल परमात्माका यह मरण निर्वाण पद देनेका कारण बन रहा है। कहां यह नियम रहाकि मृत्युसंतापको उत्पन्न करता है? यहतो अज्ञान और ज्ञानका फैसला है। अज्ञानमें मृत्युके अवसर पर संताप होता है पर ज्ञानप्रकाश में मृत्युसे कोई संताप नहीं होता। यह घड़ा बनाया गया, सूख गया, कच्चा है अभी, पर उसे अग्निमें पका देनेसे वह घड़ा पक्काहो जाता हैतो कच्चे घड़ेसे कोई पानी नहीं खींच सकता न उसमें पानी भर सकता। अगर वह पक जाए तो अमृतरूपी जलके भरनेके काम आता है ऐसे ही यह मृत्युका अवसर इस आत्माको पकाने जैसा अवसर है। इस अवसर में अगर समताभावसे आताप और वेदनाएँ सहली जाएँ तो यह आत्मा अनन्तकालके लिए निर्वाण लाभ लेकर सही शान्त आनन्दमय रहेगा। जैसेकि अग्निसे पके घड़ेमें बरसों पानी रखते जाइए ऐसेही एक बार भी समता परिणाम सहित सर्व उपद्रव वेदनावोंको सह लिया जाए और इस ज्ञानानन्दस्वभाव अंतस्तत्त्वकी दृष्टि दृढ़ कर ली जायतो इसे आगे निर्वाण प्राप्त होगा।

समाधिमरणका अपूर्व लाभ—इस समाधिमरणके अवसर पर यह एक बड़े लाभका सुगम समय मिला हैकि बड़े बड़े व्रतोंके प्रयास करनेका जो फल प्राप्तहो सकता है वह महाफल इस मृत्युके समयमें समताभावके कारण सहजही प्राप्त हो जाया करता है। लोकमें बड़े पद माने गए हैं—इन्द्रका पद, चक्रीका पद और अन्तिम पद है निर्वाणपद। सो यह पद बड़े घोर तपश्चरणसे प्राप्त किया जा सकता है। सो यदि मृत्युके इस अवसर पर चेतन अचेतन समस्त परिग्रहोंकी ममता छोड़दी जाए और निर्भय होकर अविकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टि रखी जाए इस शुद्धस्वरूपका शरण गहा जाएतो ऐसा उत्कृष्ट पद पाकर निकटकालमें मनुष्यभवमें निर्ग्रन्थ मुनिपद धारण कर निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। तो समाधिमरण कितना एक सुन्दर अवसर हैकि एक समता परिणाम ही कर लिया जाएतो महाफल प्राप्तहो जाएगा। इस मरणकालके अवसरमें यदि आत्मरूप परिणाम नहीं हैतो समझोकि दुर्गतिके पात्र हैं और यदि आत्मरूप परिणाम हैंतो समझोकि वह नरक तिर्यञ्च जैसी खोटी गतियांतो पाएगा नहीं। नरक या तिर्यञ्च आयुका बंध कियाहो तो उसके मरण समयमें समताके परिणाम होही न सकेंगे। फिर भी यदि ज्ञानबल है तो वहां भी समताका प्रयास किया जाता है, ताकि कुगति भी मिले तो उसमें भी कुछ वहांके लायक अच्छी स्थिति मिल सकती। तोसमता परिणाम पूर्वक मरण करने वाले जीवको तिर्यञ्चगति,

नरकगति नहीं प्राप्त होती और जोधर्मध्यान सहित अनशन आदिक तपश्चरण सहित समाधिमरणहोतो वह महर्द्धिक देव होगा, इन्द्र होगा, उसके अन्य पर्याय सम्भव नहीं है।

अपूर्वफल पानेका अवसर समाधिमरण—यह सल्लेखनाधारी अपने आपके आत्माको समझा रहा हैकि जो तप तपा है जीवन में, जोव्रत आदिक पाले हैं जीवन में, जो अन्वेषण किया है जीवन में, जो जिनवचन सुना है जीवन में उनका फलतो इस मृत्यु कालमें समाधि द्वाराही प्राप्त होनेको है। बड़े-बड़े तप तपे, बड़े-बड़े इन्द्रिय विषयोंकी वाञ्छा छोड़ी, अनशन आदिक तपश्चरण कियातो इतना महान संयमजो पाला वह अन्त समय में समाधिमरणके लिए हीतो है। यदि यहां समताभाव न रह सकेतो उस व्रतादिके पालनका अर्थ अत्यन्त कम रह जाता। अनेक प्रकारके व्रत पालन किए रात्रि भोजन त्याग, अभक्ष्यका त्याग, एकाशन, अनशन, आचरण, सारे जीवन मेंजो व्रत पाले हैं और उन व्रतोंके पालनके समय समताभाव भी धारण किया है और आज अब मरणके अवसरपर समता बिगाड़ लूँतो उसका प्रयोजन क्या रहा? सारे जीवनभर संयम कियातो अब उसका लाभ मिलनेका अवसर आया है अर्थात् संयम परिणाम रहनेसे ही मुझे भगवंत परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति होगी। बड़े-बड़े ग्रन्थोंका अध्ययन किया। जीव अजीव आदिक तत्त्वोंका परिचय किया, नय विभागसे सर्व वस्तुस्वरूप जाना, जीव और कर्म विषय अनेक घटनाओंका बड़ा ज्ञानसम्पादन किया जीवनमें, उसका फल यह हीतो हैकि मरण समय में समता परिणाम रहे। यदि मरण समय में ममता, डर, विरोध, कायरता, दीनता दूर न कीतो जितना जीवनमें धर्म कार्य किया वह सब निरर्थकहो जाता है। इस चिन्तनसे यह श्रावक सल्लेखनाके अवसर पर अपनी बड़ी सावधानी बनाए है, बारबार अन्तः स्वरूपकी दृष्टि करता है। मैं देहसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हूं इसकी प्रतीति तो निरन्तर है पर समय-समय पर अनुभूति भी चलती रहती है।

देहसे ममत्व हटानेका एक और चिन्तन—समाधिमरण करने वाला विचार कर रहा हैकि लोक में यह नीति पायी जाती है कि जिसका अत्यन्त अधिक परिचय हो जाए उसमें फिर लोगोंकी अवज्ञा होने लगती है, उसके प्रति गाढ़ प्रीति नहीं रहती है, उससे उपेक्षा होने लगती है। यहां इस शरीरका कितना बड़ा परिचय है, भव-भवमें यह देह मिला, अनन्तकालसे इस देहका परिचय चल रहा है, तब फिर इस शरीरकीतो उपेक्षा करनाही ठीक है। यदि आज यह देह मिट रहा हैतो उसमें डरका क्या काम? और फिर यह जीर्ण शीर्ण शरीर रोगी, वृद्ध, तथा अत्यन्त दुर्गन्ध देने वाली चीजोंसे भरा है ऐसे खोटे शरीरके नष्ट होनेके कारण नवीन शरीर मिलनेके समय क्यों कायरता धारणकी जा रही है। वस्तुस्वरूपका परिज्ञान करके चेतन अचेतन बाह्य परिग्रहोंमें ममताको तज देना और ऐसी अविकार दृष्टि रखकर शरीरसे निकलना इसको कहते हैं समाधिमरण। जिसने समाधिमरण एक बारभी प्राप्त कियाहो उसको निकटकालमें संसारके समस्त संकटोंसे छुटकारा मिल जाता है।

स्वमें स्वत्वकी भावना—सल्लेखना धारण करने वाला व्रती श्रावक चिन्तन कर रहा हैकि इस समय जबकि मैं देहको छोड़करजा रहा हूंतो जोमेरे साथ जाएगा उसकातो मुझे अनुराग है और जोमेरे साथ न जा सकेगा उससे अनुराग करनेसे लाभ क्या? साथ जाएगा मेरा स्वरूप और साथ ही सद्भावना। साथ जाया करते हैं अच्छे बुरे संस्कार और पुण्य पाप कर्म, पर बुरे संस्कार और पापका

फलतो बुरा है। उससेतो मेरा प्रयोजन ही कुछ नहीं। प्रयोजनतो मेरा एक कारण समयसारसे है, अपने स्वरूपसे है। मैं हूं और अपने सहज स्वरूपको लखता रहूं बस इसके फलरूप शुद्ध परिणति होगी। होगी, किन्तु वह मेरे लक्ष्य में नहीं है। वह तो फल है, मेरे लक्ष्य में तो यह एक सहज ज्ञानानन्द स्वरूप रहे। जोसाथ न जाएगा वह क्या है? यह कुटुम्ब, धन, सम्पदा, मित्रजन शरीर ये कुछ भी साथ नहीं जानेके हैं। इनसे मेरा कुछ प्रयोजन नहीं। मेरा स्वरूप क्षमाशील है। ऐसा क्षमाशील अविकार स्वरूपही मेरी दृष्टि में रहे। शान्ति इसकेही स्वके आलम्बन में है, अन्यत्र शान्ति नहीं। अथवा वस्तुस्वरूपका यही तकाजा है, जैसा मैं हूं वैसा ही लखता रहूं, स्वरूपके विरुद्ध कुछ देखेंगेतो उसका फल संसार संकट है। मेरा स्वरूपजो है सोही है। नम्र है, इसमें मान कषायरूप विकार नहीं है। यह विकार सब कर्मकी फोटो है, कर्ममें उदित हुई है, मुझमें झलकी है। अज्ञानीजनही उस झलकको अपना स्वरूप मानकर कषाय करते हैं। वह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप सरल है। वहां टेढ़ मायाचारका कोई स्वरूप नहीं, स्वभाव नहीं। तृष्णा लालचये सब मेरेमें कोई विकार नहीं। मैं यथार्थ ज्ञानानन्दस्वरूप सत् लिए हुए हूं। अपने सत्त्व से हूं। अपने उस स्वरूपमें ही मैं रमूंगा। इस स्वरूपमें रमते हुए मेरे चैतन्यका प्रताप बढ़ेगा। सो वही मेरा वास्तविक व्यवसाय है। अपने आपको मैं ग्रहण करूं, सोजो मेरा नहीं है वह अपने आप छूटेगा। मुझमें कोई बाहरी पदार्थ नहीं है, ऐसा चिन्तन कर यह सल्लेखनाधारी अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपमें रम रहा है।

अन्तस्तत्त्वकी ध्रुवता व शरण्यता—जगतमें जितने भी पदार्थ दृश्यमान हैं वे सब मायामय हैं, विनाशीक हैं। इन सबमें परमार्थतो परमाणु-परमाणु हैं और मुझमें यह मैं चैतन्यस्वरूप परमार्थ हूं। मायामयी वस्तुवोंसे प्रीति करना व्यर्थ है, उससे धोखाही मिलेगा, आत्माको शान्ति नहीं मिल सकती। ये सब विनाशीक हैं। यह मैं सहज आत्मस्वरूप अविनाशी हूं। अविनाशी होकर विनाशीक वस्तुमें लगाव लगाना अज्ञानका काम है। बाहरमें मुझे कुछभी शरण नहीं है, जबमैं अपने उपयोगको अपने स्वरूपसे हटाकर बाहर लगाता हूंतो यही मैं अशरण कहा जाता हूँ। मेरा शरण है मेरा शाश्वत स्वरूप, जोकभी मुझसे अलग नहीं होता। यह मैं उपयोगही कल्पनासे अलगहो बैठता हूं, पर मेरा भगवान परमात्मा ऐसा स्वभाव वाला हैकि मुझसे कभीभी अलग नहींहो रहा। जब मैंने अज्ञानसे पाप किया, भोगोंमें रहातो वहां भी मेरा भगवान आत्मा अलग नहीं हुआ था, पर मैं ही उसे न देख रहा था और मेरे इस अपराधके कारण भगवान परमात्म तत्त्व पर आवरण पड़ा हुआ है। अब मेरेको मेरा भगवत्स्वरूप दृष्टिमें है, बाहर पदार्थोंसे शरणका कामही क्या है?

अन्तस्तत्त्वकी सारभूतता, एकत्वगतता-विविक्तरूपता व शुचिरूपता—मेरे लिए सारभूत पदार्थ केवल मेरा स्वरूपही है अन्य बाह्य पदार्थ रहे वह अपनी परिणतिसे रहेगा। सभी पदार्थ अपनी सत्ता कायम रखनेके लिए निरन्तर परिणमन किया करते हैं। सबका काम उनका उनही सबमें है, उनसे मेरा कुछ भला नहीं है, बुरा भी नहीं है, उनके लगाव में बुरा है, भला नहीं है। अब मैं अपने सद्भूत इस परम पारिणामिक भावरूप सहज चैतन्य स्वरूपको ग्रहण करता हूं। यह मैं सर्वत्र अकेला हूं, स्वरूपमें भी एक हूं बाहरी पदार्थोंमें भी एक हूँ, मेरा कोई साथी नहीं है। सब मुझसे निराले हैं। जब मेरा किसी

अन्यसे रंच सम्बंध नहीं हैतो मैं क्यों अपने स्वरूपसे चिगकर बाहर दृष्टि दूं ? मैं पवित्र ज्ञानानन्द शरीरमय अपने आत्माको ही देखूँ। इस देहसे भी मेरा क्या प्रयोजन है? देह न रहे यहतो मेरे कल्याणके लिए है और देह मिलते रहें यह मेरे अकल्याणके लिए है। जब मैं देह पर दृष्टि देता हूँ, अन्य पदार्थोंकी ओर उपयोग लगाता हूँ तो मेरे इस उपयोगके कारण अनेक कर्मोंका आना होता रहता है। आते हैंतो बंधते उसी क्षण हैं और उनमें अनुभाग भी बंधता है अपनी स्थिति पूरी होने पर या पूरी होने से ही पहले कारणवश उनका अनुभाग फूटता है जिससे मेरे इस सहज ज्ञानस्वरूप भगवान आत्माको बड़ी चोट पहुंचती है, आक्रमण होता है इस पर और यह दबा-दबा रहता है, जिसके फलमें संसारमें परिभ्रमण करना होता है। अब मैं अपने इस अविकार स्वरूपको ही निरखता हूँ। यहाँ ही मेरी दृष्टि रहे, यहाँ ही मैं बना रहूं। इसमें मेरी रक्षा है और इसीके प्रतापसे पहलेके बांधे हुए आए हुए कर्म बैरीभी अपने आप दूर हो जाएँगे। सल्लेखना धारण करने वाला पुरुष अपने आपकी स्थितियोंके बारेमें विचार कर रहा हैकि मैंने अनादि काल से अब तक अनन्तकाल अज्ञानमें खोया, जन्म मरण किया। मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चरित्रके कारण लोक में अनन्तबार सर्वत्र जन्मा मरा, अब थोड़ीसी बिन्दु बराबर भूमिपर प्राप्त हुए इन समागमोंमें राग करना, विरोध करना यह बिल्कुल बेहूदापन है। मैंतो अपने स्वभावकोही निरखता हूं जिसके प्रतापसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका विकास होता है। मेरा स्वरूप स्वयं धर्ममय है। स्वभावमें और मुझमें भेद नहीं है। मैं स्वयं धर्ममूर्ति हूं। अतः स्वरूपको निरखकर सल्लेखनाधारी अनुभव कर रहा है। इस धर्ममें, इस आत्मस्वरूपमें कष्टका नाम ही नहीं है, सोमैं कष्टरहित इस अविकार पवित्र ज्ञानस्वरूपमें ही अपने ज्ञानको चेतता रहूं। आत्मस्वरूपमें दृष्टि रखने वाले, रमने वाले पुरुषको अन्तः प्रसन्नता रहती है, वेदना नहीं रहती और कदाचित पूर्वबद्ध कर्मके उदयसे कोई वेदना आयी है शरीरमें रोग हुआ है, कितना ही कठिन रोग हुआ हो, कफ खांसी निरन्तर चल रहे हों, शरीरमें भी ज्वरके कारण एक वेदना मच रही हो। कितनी ही कठिन वेदना हुई हो, ये वेदनाएँ कोई वेदनाएँ नहीं हैं। अपने पुराण पुरुषोंकी वार्ता याद कीजिए, उन्होंने कैसी कठिन-कठिन वेदनाएँ पाईं, वे कभी आत्मस्वरूपसे चलित नहीं हुए।

उपसर्ग विजेता श्री सुकुमाल मुनिकी समता का स्मरण—सुकुमाल महामुनि हुए जोकि गृहस्थावस्था में बड़े सुकुमार थे, बहुत बड़े धनी होनेके कारण सुकुमाल पुत्रसे अधिक अनुराग होनेके कारण उनके माता पिताने उनको बहुत आराम सुविधा दी थी। और यह जानकरकि यह पुरुष विरक्तहो जाएगा किसी मुनिको निरखकर तो बड़े विशाल महल बाग बगीचेके अन्दरही उनको रमनेके स्थान बना दिया था। रत्नोंके दीप प्रकाशमें रात्रिमें उनका आवागमन रहता था। दीपककी ज्योतिको सुकुमाल देख न सकतेथे, आंखोंमें अश्रुआ जाते थे। कमलके फूलोंसे सुगंधित चावलोंकाही भोजन किया करते थे। बिना सुवासित चावल खा न सकते थे। सुकुमाल महामुनिजो गृहस्थावस्थामें सुकुमार थे, वही सुकुमाल जब वैराग्य आया, घरसे बाहर निकले, कोई साधन न थातो धोतियोंकी गांठ लगाकर नीचे लटकाकर ऊपरसे उसके सहारे उतरे। बिना जूतोंके सुकुमाल चले जा रहे। पैरोंसे खूनभी चूने लगा पर प्रसन्न थेवे इस धुनमेंकि संसार, शरीर, भोगोंका लगाव छोड़कर अपने आत्माके सहज आनन्दमय स्वरूपमें प्रीति करके अब मैं कृतार्थ होऊंगा। इस धुनमें प्रसन्न हुए चलेजा रहे हैं, मुनिराज दिखे, दीक्षा ली,

ध्यानस्थहो गए। अब रास्तेमेंजो उनके पैरके खूनके बूँद पड़े थे। उनके सहारे एक स्यालिनी अपने बच्चों सहित वहां पहुंची। और उस स्यालिनीको सुकुमालसे था पूर्वभवका विरोध, तो उस बैर विरोधके कारण उसे इतना क्रोध आयाकि सुकुमाल महामुनिके पैरोंका भक्षण करने लगी, उसके बच्चे भी भक्षण करने लगे। ऐसे कठिन उपसर्गमें भी उन्होंने धीरता न त्यागी और एक अविचल सहजस्वरूपमें उपयोग रमाकर अविचल रहे, जिसके प्रतापसे वे सर्वार्थसिद्धि गए, जहाँ ३३ सागर पर्यन्त तत्त्वचर्चामें प्रसन्न रहकर वहांकी इतनी स्थिति गुजार कर मनुष्यभव पाकर मोक्ष जाएँगे। तोदेखिए उनपर आया हुआ वह दुःख कितना थाकि उनके शरीरको चीथा, मांस खाया, ऐसी स्थितिमेंजो वेदनाहो सकती है उसके सामने हम आपको क्या वेदना है? कुछभी वेदना नहीं है। और वेदना आएतो उसे धीरतासे सहेंगेतो यह उदय कराएगा। धीरता छोड़कर संक्लेष करेंगेतो यह उदय कराएगा। धीरता में वेदना कम है अथवा नहोगी। समता परिणाम होनेसे सद्गति होगी। उसके कोई कठिन वेदना नहीं है। तोसल्लेखना धारी पुरुष चिन्तन कर रहा है। पुराण पुरुषोंका। जो अपने कुलमें पुराण पुरूष हुए हैंवे हैं अपने सब पुरुखा।

उपसर्गविजेता सुकौशल मुनिराजके अन्तर्ध्यानकी स्मृति—एक सुकौशल मुनिराज हुए। वेजब बच्चेथे तभी उनके पिता कीर्तिधर मुनिहो गए थे मंत्रियोंने बहुत समझाया परन माने, और किसीसे यहभी विदित हुआ यह बच्चा यदि किसी मुनिके दर्शन कर लेगातो यह भी विरक्तहो जाएगा। तोसुकौशलकी मांने यह प्रबंध कियाकि यहां पर कोई मुनि न आ सकेगा क्योंकि यदि कोई मुनि आ गया तो मेरा पुत्र विरक्तहो जाएगा, एकतो मैं पतिसे वियुक्तहो गई, दूसरे अपने पुत्रसे भी वियुक्तहो जाऊंगी, यह सोचकर उसने बड़ा कड़ा प्रबन्ध कर दियाकि वहां कोई मुनिआ न सकेगा। एक बार द्वारपालकी असावधानीसे कीर्तिधर मुनि महलकी सीमामें चर्याके अर्थ आए। उस समय सुकौशलकी मां ने कीर्तिधरको अनेक गालियां सुनायीं और वहांसे उन मुनिको निकलवा दिया। यह देखकर सुकौशलकी धायको बड़ा कष्ट हुआ और उस धायके आंसू आ गए। धायको रोता हुआ देखकर सुकौशलका चित्त भीग गया और कहा मां तुमको क्या दुःख है। अपने दुःखका कारण बताओ? धायभी मांकी तरह होती है। जोदूध पिलाए बच्चेको पाले पोषे। धाय मांसे कम नहीं है, फर्क सिर्फ इतना हैकि धायके पेटसे पैदा नहीं होता वह बच्चा। तोसुकौशलके बारबार पूछनेपर उसने गद्गद स्वरूपमें सारी बात बता दीकि अभी एक मुनिराज आए थे और जिनको क्षणभर तुमनेभी देखावे तुम्हारे पिता थे, और तुम्हारी मांने उन मुनिराजके प्रति याने तुम्हारेही पिताके प्रति ऐसा व्यवहारकियाकि उनको गाली देकर भगा दिया। उनके इस अपमानको देखकर हमारा हृदय दुःखसे भर आया। सुकौशलको उन मुनिराजके दर्शन करके चित्तमें विरागतातो हुई थी, किन्तु वे मेरे पिता थे, यह जानकर उनकी विरक्तिकी और औरभी तीव्र भावना हुई। और साथही अपनी माताके द्वारा ऐसा अपमान देखकर उनको विशेष विरक्ति बढ़ी। वह सुकौशल उस छोटी अवस्थामें ही घर छोड़कर साधु होनेके लिए चल दिए। जिस समय वह घर छोड़करजा रहे थे उस समय लोगोंने बहुत मनायाकि तुम्हारी अभी किशोर अवस्था है, अभी दीक्षा मतलो मगर जिसको आत्मानुभवका अलौकिक आनन्द आजाता है उसे फिर संसारके कोई विषय नहीं रुचते। मंत्रियोंने कहाकि तुम्हारी रानीके गर्भ है। संतानहो जानेदो, उसे राजतिलक

देकर फिर दीक्षाले लेना। तोवहां सुकौशलने यही कहाकिजो भी उदरमें संतान होगा उसीको मैं राजतिलक करता हूं, वही इस राज्यका अधिकारी होगा। और जब तक वह संतान बाहर नहीं निकलता तब तक राज्यकी सारी सम्हाल मंत्रीजन करेंगे। इतना कहकर चल दिये और दीक्षालेली। वह सुकौशल ध्यानमें आरूढ़थे और यहां सुकौशलकी मां संक्लेशमें भरकर व्याघ्री बनी। उसको पूर्वभवके बैरका स्मरणहो गया सुकौशलको ध्यान करते देखकर। उसके बैर उमड़ा और वह सुकौशल मुनिको अपने पंजोंसे चीथने लगी। देखिए उस समय सुकौशल मुनिके लिए कितनी बड़ी वेदनाका प्रसंग था मगर वे आत्मध्यानमें इतना आरूढ़ रहेकि उनको उस वेदनाका भाव तक न हुआ। तो जिसने देहसे अत्यन्त निराले अपने आत्माकी अनुभूतिका आनन्द पाया है, उनका उपयोगतो आत्मस्वरूप परही रमेगा। इतनी बड़ी वेदनामें वे धीरवीर रहे और तपश्चरण कर समाधिमरण कर केवल ज्ञान पाकर मुक्ति प्राप्तकी। तोसुकौशल मुनिके समक्ष यह वेदनाही क्या है, अथवा होवेदना, शरीरकी कुछभी परिणति है, उसका उपाय औषधि नहीं, उसका दुःख देखकर दूसरेसे याचना करना नहीं, केवल एकही उपाय है अपने आत्मस्वरूपकी दृष्टि दृढ़कीजाए। उसही ज्ञानबलके प्रतापसे ये पीड़ाएँ दूर होंगी। आत्मामें प्रसन्नता जगेगी। संसारके संकट दूर होंगे।

उपसर्गविजेता गजकुमार मुनिराजकी धीरताका स्मरण—सल्लेखनाधारी पुरुष अपने उन पुराण पुरुषोंका विचार कर रहा है जिन्होंने अपने उपयोगको आत्मस्वरूपमेंही रमाया और बड़े-बड़े उपसर्गोंके बीच भी वे अपने ध्यानसे विचलित न हुए। यह उपयोग जाननहार है, यह यदि मेरे स्वरूपमें रमेगातो बाहरी पदार्थोंका विकल्प न रहेगा। और कल्याण इसीमें हैकि मैं अपने स्वरूपकी ओरही अभिमुख रहूं। नेमिनाथ भगवानके समयमें गजकुमार मुनिराज हुए थे। वेबहुत रूपवान थे और भरी जवानीके हृष्टपुष्ट पुरुष थे। उनके साथ एक ब्राह्मणने अपनी कन्याका विवाह कर दिया। विवाह हुए कोई एकदो दिन हुएथेकिवे नेमिनाथ स्वामीके समवशरणमें गए, धर्मोपदेश सुना। उनकी आत्मदृष्टि जगी और आत्महितकी तीव्र भावना हुई औरवे तुरन्तही दीक्षा लेकर ध्यानस्थहो गए। ध्यान कर रहे थेकहीं जंगलमें। जब यह सुना उनके स्वसुरनेकि गजकुमार ने दीक्षालेलीतो उनको बड़ा क्रोध उमड़ा, समझाने गए, पर उनने एक न सुना, न उसकी ओर देखा, वेतो अपनेही आत्मामें ध्यानस्थहो गए। यह वृत्ति थी गजकुमारकी। उनके स्वसुर को उस समय तीव्र क्रोध आनेके कारण गजकुमारके सिर पर मिट्टीकी बाड़ लगाकर एक अंगीठीसी बनादी और उसमें कोयला डालकर आग लगा दी। उससे उनका सिर-तेज जलने लगा, पर गजकुमार अपने स्वरूपमें ही अविचल थे। जो स्वरूपकी दृष्टिका आनन्द पा लेता है, उसके लिएये सब बाधाएँ सुगमहो जाती हैं। मोहियोंकोतो इस प्रकारकी बात सुनकर आश्चर्य होता है, पर आश्चर्यकी बात नहीं। आत्मध्यानका कुछ ऐसाही प्रतापहैकि उसमेंवे सब बातें सुगमतयाआ जाती हैं। आखिर आत्म ध्यानके बलसे उस ही स्थितिमें उनको केवलज्ञान जगा और उन्होंने निर्वाण पाया। तो ऐसे पुरुषकी ऐसी कठिन पीड़ाभी फिरभी उसमेंवे विचलित नहीं हुए। अपने आत्मस्वरूपमें रत रहे, मैंभी सर्वसंकटोंके बीच अपने आत्मस्वरूपके अभिमुख रहूं और अन्तः प्रसन्न रहूं।

व्याधिसे विह्वल न होनेके लिए सनत्कुमार चक्री जैसे पुण्यवंतोंकी महाव्याधिका

स्मरण—सल्लेखना धारण करने वाला व्रती श्रावक चिन्तन कर रहा हैकि मेरे इस अवसर परजो शरीरमें व्याधि आयी है वह न कुछ चीज है। प्रथमतो मुझ आत्माका इस शरीर और शरीरकी परिणतिसे संबंधही नहीं है। शरीरकी परिणतिका अनुभवन मुझमें नहीं होता है। कुछभी संबन्ध नहीं है और फिर व्याधिका स्वरूप देखा जाएतो न यह कुछ चीज है। पुराण पुरुषोंको कैसी कैसी आपत्तियां आयीं, व्याधियां आयीं जिनमें भी वे नहीं चिगे, तोमैं न कुछ सी व्याधिमें कैसे चलित होऊँ, सनतकुमार महाराज हुए पहले जिनके रूपकी प्रंशसा स्वर्गोंमें भी इन्द्रसभामें होती थी। जैसे यहाँ प्रवचनसभा होती है और श्रोता सुनते हैं ऐसेही स्वर्गमें भी प्रवचन सभाएँ होती हैं और उनमें मुख्य वक्ता इन्द्र होता है, इन्द्रका नाम वृहस्पति भी है। तोएक बार सभामें सनतकुमार महाराजके रूपकी प्रशंसाकी चर्चा चल रही थी। दो देवोंने सोचाकि परीक्षातो करें-देखेंतो सहीकि कैसा रूप है। सो दो देव आए। वेउस समय आए सुबहके समय जबकि अखाड़ेसे व्यायाम कुस्ती करके नहानेके लिए बैठे हुए थे। उनके शरीरमें कहीं-कहीं धूलभी लगीथी। जबवे देव आएतो उनका अद्भुत रूप देखकर, कांति और रूप देखकर बड़ी प्रशंसा करने लगेकि स्वर्गमें जैसी प्रशंसाहो रही थी वैसाही रूप महाराजका है। किन्तु वहांके मंत्री, बाडीगार्ड वगैरहने बतायाकि अभीतो ये अखाड़ेसे आए हैं, धूलसे धूसरित हैं। अभी इनका क्या रूप देखते। जबये खूब सजधजकर राजसिंहासन पर बैठेहों तब देखिए इनका रूप कैसा है। तोवे देव पुनः उस वक्तभी आए जबकि सनतकुमार खूब सजधजकर राजसिंहासन पर बैठेथे। तोउस समय उन्हें देखकरवे अपना माथा धुनने लगे और कहने लगेकि अबतो इनमें वह रूप नहीं रहाजो उस समय था। देवोंकी ऐसी बात सुनकर वहां बैठे लोग बोले—वाह आप लोग यह क्या बात कह रहे। तोउन देवों ने एक दृष्टान्त देकर समझाया—एक घड़ेमें पानी भरवाया और उसमें सींक डालकर एक बूंद पानी घड़ेसे निकालकर बाहर डाल दिया और पूछा बताओ घड़ा कुछ खाली हुआकि नहींतो लोग तो बोलेकि अभी घड़ा खाली नहीं हुआ, ज्योंका त्यों भरा है। पर देवोंने समझायाकि भलेही मोटे रूपसे देखने पर कुछ न विदितहो पर कुछ न कुछतो पानी कमहो ही गया। फिर बतायाकि जैसे एक-एक बूंद पानी निकल निकलकर घड़ेका पानी कम होता जाता है ऐसेही जीवनका एक-एक क्षण ज्यों ज्यों निकलता जा रहा है त्यों-त्यों शरीरका बल, रूप, सौन्दर्य आदि सब कम होता चला जा रहा है। दूसरी बात यह हैकि कोई यदि बिना शृंगार किए अचानक बैठाहो तोजो सुन्दरता उस समय होती है वह सुन्दरता बनावट करके नहीं होती। खैर यहां कथानकतो यहींका यहीं रहा। येही सनतकुमारजो इतने रूपवान थे जब मुनि हुएतो इनको कुष्ट वेदनाहो गई। अब कोढ़ होनेपर शरीरकी बात सोचिए कैसी होती है। बोझहो जाता है शरीर उसके लिए। लोग उसे देखकर घृणा करने लगते। उस समय भी देव आए परीक्षा करनेके लिएकि देखेंतो सहीकि कितना सावधान है। उस समय १०—१२ बार चक्कर लगाते हुए बोलते थेकि मैं वैद्यराज हूं, मेरे पास सब रोगोंकी अचूक दवाई है। जब १०—१२ चक्कर लगायातो सनतकुमार ने सोचाकि ये लोग मुझे दिखानेके लिए ऐसा कर रहे हैं। बुलाया पासमें और कहा—आपके पास कौनसी दवाई है? तोउन्होंने बतायाकि मेरे पास सब रोगोंकी अचूक औषधियां हैं जैसे कुष्ट, कैन्सर आदि। बताओ तुम्हें क्या रोग है? तो सनतकुमारने कहाकि मेरे जन्ममरणके चक्रका विकट रोग लगा है उसके मिटनेकी

औषधि यदि आपदे सकेंतो दे दीजिए। तोवहां वह देव चरणोंमें लोटकर बोला—महाराज माफ कीजिए, मैं यह दवादे सकनेमें असमर्थ हूं। मैं वैद्य नहीं हूं, मैंतो देव हूं। मैंतो तुम्हारी परीक्षा लेने आया था, सचमुच मैंने आपको व्रत, तप, आदिकमें अत्यन्त सावधान पाया। तोऐसे ऐसे बड़े कठिन रोगोंमें भी हमारे पुरखा विचलित नहीं हुए। तोउनके सामने हम आपकोतो कुछभी कष्ट नहीं है।

कलिकालसर्वज्ञ श्रीसमन्तभद्राचार्यकी घटनाओंका स्मरण—यहां समाधिमरण करने वाला पुरुष अपने आपको ऐसा सम्बोध रहाकि शरीरसे दृष्टिही हट जाए। जिनके ज्ञान नहीं होता उनको लौकिक हिसाबसे कष्ट भी न हो तो भी ये निरन्तर कष्टमें रहते हैं। जिनके ज्ञान होता हैवे लौकिक कितनेही कष्टमें रहेंतो भी उनके चित्तमें प्रसन्नता रहती है। बड़े-बड़े पुरुष ज्ञानबलके ही कारण विचित्र परिस्थितियोंमें भी गुजरे परवे अपने सम्यक्त्वसे नहीं बिगड़े। सम्यग्दर्शनही मुझ आत्माका वास्तविक साथी है। जोइस समयभी मदद करता है और आगे भी मदद करेगा। समन्तभद्र मुनिराज हुए हैं बड़े दिग्गज विद्वान। उनको कलिकाल सर्वज्ञ कहा जाता है। जब उनके न्याय शास्त्रोंका कोई अध्ययन करेतो कुछ परिचयहो पाताकि उनमें कितनी विद्यानिधि थी। आज अष्ट सहस्री ग्रन्थ प्रसिद्ध है, तो जिन कारिकाओं पर अष्टसहस्री टीका बनी, अष्टशती टीका बनीवे कारिकाएँ समन्तभद्र स्वामीकी रचित हैं, जिनमें छोटे-छोटे श्लोकोंमें थोड़ेसे संकेतमें सैंकड़ों दर्शनशास्त्रोंका इतना भण्डार भरा हैकि उसके विस्तारमें कितनीही टीकाएँ होती चली जाएँ। अचानकही भस्म व्याधि रोग हो गया, जितना चाहे खा जाएं सब हजम होता जाए, मन, दोमन, चार मन खाएं, बड़ी कठिन वेदना फिरभी भूखकी भूख। उस समय संमतभद्र मुनिने अपने आचार्यसे प्रार्थनाकीकि मैं अब समाधि मरण चाहता हूं। आचार्य जानते थेकि इस समय समन्तभद्र मुनिके सिवाय कोई विद्यानिधि नहीं हैजो जैन धर्मकी प्रभावना कर सके और हमारे ज्ञानका प्रकाश कर सके। तब उनको आदेश दिया आचार्यनेकि आपको समाधिमरणका आदेश नहीं दियाजा सकता। और आदेश आपको यह हैकि आप कोई सा भी भेष रखले किसी संन्यासी वगैरहका जब तककि रोग न मिटे, पश्चात् आपको दीक्षादे दी जाएगी। गुरुका आदेश मानना पड़ा। आखिर कुछ दिन समन्तभद्र संन्यासीके भेषमें रहे। क्या किया उन्होंनेसो सब आप सबको विदितही है, और अन्तमें उन्होंने वृहत्स्वयंभू स्तोत्र रचा, जिनमें हैतो २४ तीर्थंकरोंकी स्तुति मगर वहांभी दर्शनदृढ़ता उन श्लोकोंमें पायी जाती है। और राजाने जोकि अप्रसन्नहो गया था उसने तीर्थंकरके सिवाय अन्य मूर्तिके सामने नमस्कार करवाया उस मूर्तिको, उस पिण्डीको सांकलोंसे जकड़ दिया मगर जब स्तोत्रको पढ़ातो ७ तीर्थंकरोंकी स्तुति तक उन्होंने नमस्कार शब्द नहीं बोला। स्तवन होता रहा, दार्शनिक वर्णन चलता रहा, पर चन्द्रप्रभुका स्तवन करते समय वंदे शब्द कहातो उसी समय सांकल टूटी और चन्द्र प्रभुकी मूर्ति प्रकट हुई। ऐसे बड़े दिग्गज विद्वान कलिकाल सर्वज्ञ जैसे मुनिराजको भी व्याधिने छोड़ा नहीं। उन बड़ी व्याधियोंके सामने क्या व्याधि है, ऐसा निरख रहा है यह सल्लेखना व्रतधारी।

उपसर्गविजेता पञ्चशत मुनिवरोंकी समताका स्मरण—बहुत पुरानी एक घटना हैकि दण्डक वनमें ५०० मुनिराज आए हुए थे, राजाने नमस्कार किया, मंत्री साथ थे। मंत्रियोंको किसी बातपर रोषआ गया। कहीं वाद-विवाद करते हुएमें हार गएतो उस क्रोधमें आकर उनने पहले सोचाकि इन मुनियोंको

कैसे मरवाया जाए? होते होते एक उपाय उन्हें सूझा। एक भांडसे कहाकि तुम मुनिका रूप रखलो, नग्नहो जावो, पिछी कमण्डलले लो और रानीके महलमें जाकर उससे कुछ वार्ता करो। सो वैसाही किया उस भांडने। तोउस मंत्रीने राजाको प्रत्यक्ष दिखायाकि देखो जैन मुनि इस तरहके निर्लज्ज होते हैंजोकि रानियोंसे एकान्तमें वार्ता करते हैं। तो यह दृश्य देखकर राजाको गुस्सा आया और ५०० मुनियोंको घानीमें पिलवा दिया। अब भला बतलावो घानीमें पेले जानेपरतो हड्डियांभी चूर-चूरहो जाती हैं। तोउस समय भी मुनिराजने अपनी धीरता नहीं त्यागी और आत्मध्यानमें सावधान रहे। तोउनके सामने हम आपको रोगकी वेदना क्या है? मरण समय, रोग वेदनाके समय यदि जीवोंकी दृष्टि अपने चैतन्यस्वरूपकी ओर आएतो वह कृतार्थहो जाता है। संसारके संकटोंसे छूटनेका उसने यत्न कर लिया। बाहरका कुछभी पदार्थ संग साथी नहीं है। यह देहभी साथी नहीं है। जिसे कुछही मिनट बाद लोग श्मशानमें जला डालेंगे। उस अत्यन्त भिन्न देहका विकल्प क्यों करना? मरण समय आहार योग्य रखेंतो कफ खांसीका रोग न बढ़ेगा। सब रोगोंसे बुरा रोग है मरण समयमें तोयह खांसी वाला रोग है। कहनेकोतो बहुत छोटा है जिसमें देह हिल जाता है। मरण समयमें जोआहारका त्याग सम्हालनेमें भी बहुत ऊंची चीज है। अपनी ऐसी सावधानी रखता हुआ कोई कठिन रोग आ जाएतो उस रोगको भी एक शरीर का सम्बन्ध जानकर, अपनेसे भिन्न जानकर उसकी उपेक्षा करता है।

उपसर्गविजेता सप्तशतक मुनिवरोंकी धीरताका स्मरण—सल्लेखनाधारी अपने पुराण पुरुषोंके उपद्रवोंका चिन्तन कर रहा जिनमें वह धीर वीर रहता है। ७०० मुनि अकम्पनाचार्यके संघके आचार्यसहित हस्तिनापुरमें थे, जिनको बलि मंत्रीने अपने पहले विरोधके कारण ७ दिनका राज्य लेकरजो उपसर्ग किया वह दिलको कंपाने वाला उपसर्ग है। धर्मकातो रूप रख लिया, पर वह धर्म नहीं, वहतो कुधर्म है। यज्ञका बहाना किया और ७०० मुनियोंके चारों तरफ बाड़ लगाकर भीतर कूड़ा-कचरा हड्डी ऐसी गंदी चीजेंभी फैंककर आग लगादी और यज्ञमें किमिच्छुक दान दिया। मांगा हुआ राज्य था। पीछेतो राजा बनकर रहना न था। सब खजाना लुट जाएतो उनको क्या परवाह? ऐसा ढोंग रचकर जो ७०० मुनियों पर उपद्रव कियागया वह दिलको हिला देने वाली घटना है। उस समय भीवे मुनिराज अपने ध्यानसे विचलित नहीं हुए। सहज परमात्मस्वरूपके ध्यानमें उन्होंने और अधिक दृष्टिकी। आखिर विष्णुकुमार मुनिकी कलासे वह उपसर्ग बचा और उपसर्ग निवारणके बादवे सब मुनि आहारको भी गए। श्रावकोंने जल्दी कंठसे निगल जाएँ ऐसा आहार बनाया, पर देखिए कितना घोर उपद्रव सहा। उस उपसर्गके आगे मेरे व्याधि आदिकका कौनसा बड़ा उपसर्ग है जिसमें मैं विकल्प करूं? इन विकल्पनोंसे हटकर आत्मस्वरूपकी ओरही अभिमुख होना मेरा कर्त्तव्य है।

उपसर्गविजेता पाण्डवोंका स्मरण—उपसर्गोंमें उपद्रवोंमें अनेक पुरुषोंके प्राण गए, पर जिन्होंने संक्लेश किया उनको कुगति हुई और पाए हुए दुर्लभ मनुष्यजन्मको व्यर्थ खोया और जिनके सद्भाव रहे उनकी सुगति हुई। उन्होंने इस दुर्लभ मनुष्यजन्मको सफल किया। नेमिनाथ स्वामीके ही तीर्थमें कृष्ण कौरव पांडव आदिक हुए। घटनाएँ बड़ी-बड़ी विचित्र थीं, अन्तम विरक्त होकर पांचों पाण्डव तपश्चरणमें जुट गए। दुर्योधन के रिश्तेदारों ने सोचा वे मुनि बनकर अब कहां जाएँगे? पता लगाऊंगा,

जहाँ मिलेंगे वहीं उनकी खबर लूँगा। पता लगाते-लगाते वहां पहुँचे जहाँ पाँचों पाण्डव तपश्चरण कर रहे थे। कायोत्सर्गसे आत्मध्यानमें थे, वहां उन रिस्तेदारोंने क्या कियाकि अनेकों प्रकारके लोहेके आभूषण बनाये, उनको अग्निमें खूब तपाया और संडासियोंसे पकड़-पकड़ कर उनके सारे अंगोंमें उन्हें पहनाया, हाथोंमें पहनाकर कहाकि लो ये कड़े हैं, पैरोंमें पहनाकर कहाकि लो ये चूरा है, गलेमें पहनाकर कहा—लो ये हार हैं। कमरमें पहनाकर कहा—लो यह पेटी है ··· यों सारे अंगोंमें अनेक तेज गरम लोहेके आभूषण पहिनाए। अब जरा विचार तो करो कि यह कितने कष्टका प्रसंग है। इतने परभी वे मुनिराज अपने आत्मध्यान से नहीं चिगे। हां उनमेंसे दोको (नकुल और सहदेव को) थोड़ा उसके प्रति विकल्प चला जिससे वे दो तो मरणकर सर्वार्थ सिद्धि गए और तीन पांडव (अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर) मोक्ष सिधारे। तो ऐसे बड़े-बड़े कठिन उपसर्गोंको ऐसे-ऐसे महापुरुषोंने जीता तो उनके सामने हम आपको कौनसी वेदना है? इस सल्लेखनाधारीके बाह्य वस्तुओंमें ममताका तो नाम न रहा। जोज्ञानी होता उसके मरण समय पर किसीभी चेतन या अचेतन पदार्थमें कर्मत्व नहीं रहता। एक तो उसका तत्त्वज्ञान, दूसरे मरण समयकी स्थितिका ऐसाही प्रभाव होता है, कुछ देहकी वेदनाएँ ऐसीहो जाती हैं कि जिनसे विकल्प बन सकता है। सो यह श्रावक उन देह वेदना सम्बन्धी विकल्पोंसे हटनेके लिए पुरुषोंके उन उपसर्गोंकी घटनाएँ याद कर रहा। ऐसे अनेक उपसर्गोंमें समता रसका स्वाद करने वाले धर्मात्मा हुए हैं।

साम्यभावरूप शकुनके साथ ज्ञानीका देहसे प्रयाण—मेरा शरण अन्य कुछ नहीं है। सम्यक्त्व ज्ञान, चारित्र और तपकी आराधनाही मेरा शरण है। इस दुष्ट देहको मैं क्या निरखूँ, इसमेंजो कुछ होताहै सोहोने दो। ऐसी दुष्ट कृतघ्नता ऐसीही दशामें हुआ करती है। मैं अपने आपके स्वरूपमें ही अविचल रहूंगा। यहतो मरण समय उन व्याधियोंका मुकाबला करनेकी होड़ कर रहा है। जिसको एक रास्ता मिल गया अपने आपके स्वरूपमें प्रवेश करनेका उसके लिए सब मार्ग खुला हुआ है। येतो सब शकुनकी बातें हैं। असगुनतो रागद्वेष मोह है। असगुनतो कुटुम्बीजनोंका राग, स्नेह, रोना, खेद यह है। रोग आयातो क्या, जहां जिन वचन अमृत, कर्णको सुननेको मिल रहे हैं, जिसमें चिदानन्दस्वरूप भगवान परमात्माकी सुध हो रही है वह वातावरणतो सगुन है। कोई जीव कुछ दिनको ही विलायत जाए या थोड़ा परदेश जाए, बाहर जाएतो लोग सगुन करके भेजा करते हैं। तोजो इस शरीरसे सदाके लिए प्रयाण कर रहा है उसको सगुनके साथ भेजना चाहिए, वह सगुन है धर्मध्यानका वातावरण। धर्मध्यान वहीतो सगुन है जिसके प्रतापसे अगली यात्रा बहुत अच्छी होगीही, इसमें कोई संदेह नहीं। परिणाम आत्मतत्त्वकी ओर रहे, शुभ ध्यान रहे, ज्ञायकस्वरूपही जिसके ज्ञानमें बसे, इस तरहसे मेरा मरणहो समझो ऐसे मरणका जो साथी बने वह है मेरा असली मित्र। तो कोई कुटुम्बीजन विषाद करते हैं तोवे मेरे इस समय दुश्मन बन रहे हैं, सदाके लिए मेरा भविष्य बिगाड़ रहे हैं। इस ज्ञानी श्रावक सल्लेखनाधारीको किसीभी परतत्त्वमें ममता न रही। अब मैं निशल्य होकर एक ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माका ही ध्यान करता हूं और इस मृत्यु मित्रका बड़ा उपकार मानता हूं, जो इस अवसर पर मेरी आन्तरिक भावनाभी निर्मल हो रही है और भविष्यमें मैं धर्मका वातावरण पाऊँगा, ऐसा उपाय बन रहा है। यों सल्लेखना व्रतधारी श्रावक अपने आत्मतत्त्वकी दृष्टि रखता हुआ प्रसन्न बना हुआ है।

स्वभावदृष्टि रखनेवाले ज्ञानीकी दृष्टिमें विकारचेष्टावोंका मिथ्यापरा—सल्लेखना धारण करने वाला यह ज्ञानी अपनी पूर्वकृत चेष्टावोंका और स्वभावका चिन्तन कर रहा है। जो चेष्टाएँ हुई मन, वचन, कायकी वे सब मेरा स्वरूप न थीं, स्वभाव न थी। वह सब कर्मका प्रतिफलन था और वास्तविकमें मैं सहज ज्ञानानन्द स्वरूप उन सब चेष्टावोंसे निराला हूं। स्वरूपदृष्टिसे देखने पर यही विदित होता हैकि वे सब चेष्टाएँ मिथ्या थीं, मायारूप थीं, परमार्थ न थीं, सोवे सब पाप मेरे मिथ्या हों। स्वभावदृष्टि मेरी दृढ़हो। जोकुछ भी अब तक अनादिसे संसारमें भ्रमण करते हुए चेष्टाएँ हुई हैंवे सब गुप्तिके बिना हुई हैं। मैं मन, वचन, कायको वश न कर सका। वश करने का उपाय सहज आत्मस्वरूपमें आत्मत्व मानना था। वह उपाय न बन सकातो मन, वचन, कायकी चेष्टामें स्वच्छंद बना, वेसब मेरे स्वरूपकी चीज न थी। वेसब मिथ्या हुईं अर्थात् मायामय थीं। उनसे हटकर अबमैं अपने स्वरूपकी ओर लगता हूं। अब तकजो चेष्टाएँ हुई हैंसो क्रोध, मान, माया, लोभके वश होकर सारी चेष्टाएँ हुईं। भला जगतमें कौनसा जीव मेरा विरोधी है, कौनसा जीव मेरा शत्रु है? लेकिन अज्ञानसे क्रोध, मान, माया, लोभके वश होकर मैं कल्पना कर रहाकि यह पुरुष मेरा विरोधी है। यह मेरा शत्रु है, ये सब कल्पनाएँ कर रहा, ये सब पापकर्मही किया। जोमेरे स्वभावमें न था, विभावरूप हैं उनका कर्ता रहा। अब दृष्टिमें आया अंतस्तत्त्व, इसके प्रसाद से, इसकी दृष्टिके प्रसादसे सब मिथ्याहो रहे हैं। अब उनके करनेकी मेरे भावना नहीं है। कभीभी इन विकार चेष्टावोंको न करूंगा।

पूर्वभूत दुष्कृतपर विषाद और दुष्कृतसे हटकर स्वभाव मग्न होनेकी भावना—यह सल्लेखना वतधारी अपने किए हुए अज्ञान चेष्टावोंपर विषाद कर रहा है और अन्तः स्वरूपको निरखकर उस समस्याको सुलझा रहा है, वह मेरा कुछ न था। अज्ञानमें क्या-क्या चेष्टाएँ हुई? कहीं ऐसी क्रूरता आयी किसी भवमें कि जीवोंकी हिंसा जान-जानकर कर रहा । कितनी बेहोशी थी? वह बेहोशी भी मेरे स्वभावका काम न था, वह भी कर्मका प्रतिफलन था। जब तक कर्मविपाकमें और अपने स्वभावमें भेद न जान पाया था तब तक मैं अन्य कुछ बनता रहा। और इस तरह संसारमें भ्रमण करता रहा। हेप्रभु, हेवीतराग सर्वज्ञदेव, तुम्हारी आराधनाके प्रसादसे बड़े-बड़े पापी तिर गए, अंजन चोर जैसाजोकि वेश्यागामी था, चोर था वहभी आपकी आराधनाके प्रसादसे न भी शुद्ध णमोकार मंत्र जप सका, अशुद्ध जपा लेकिन लगन होनेसे वह भी धीरे-धीरे मार्ग पाकर तिर गया, सभीजीव पापीही रहेंतो रहें संसारमें। जो सिद्ध बने हैं वेभी पापीही थे, संसारमें रुलने वाले थे, उन्होंने आत्मदृष्टि पायी, सन्मार्ग पाया और आत्ममार्गमें लग गए। सिद्ध हो गए, तोहे प्रभु, तुम्हारी आराधनाके प्रसादसे मेरी यह आत्मदृष्टि इतनी दृढ़ रहे, जिसके कारण संसार संकटोंसे सदाके लिए छूट जाएँगे। यह देहतो बन्धन है। देहको मैं रंचभी नहीं चाह रहा हूँ मुझे शरीर आगे मत मिले। यह शरीर मेरा मिटे। अन्य किसी पदार्थके सम्बंधसे मेरेको प्रयोजन नहीं।

अपराधसे हटकर निरपराध रहनेकी भावना—समाधिमरणके अवसर पर जिसको अब विवेक मिला है उसका विवेक बढ़ता जा रहा है, उसकी विरक्ति वृद्धिंगत होरही है, वह आत्मस्वरूपमें ही रमना चाह रहा है। जो अपराध किया है अब तक, वह सब अपराध क्या था? अपनी दृष्टिसे चिग जाना।

अपराध शब्दमें दो शब्द है, अप व राध। राध धातु सिद्धि अर्थ में है। अप उपसर्ग विलगाव अर्थमें है। जहां सिद्धि न रहे उसे अपराध कहते हैं। समस्त पाप क्यों अपराध हैं? क्योंकि उन पाप प्रवृत्तियोंमें इस जीवको अपने स्वरूपकी सुध नहीं रहती। सोजो जो प्रमादवश मुझसे पाप हुए, घने पाप हुए सो अब प्रभुके गुणस्मरणके प्रतापसे अपने सहज आत्मस्वरूपके स्वभावकी आराधनासे सब मिथ्या हो वो यह जीव कुछ नहीं चाह रहा। जोसमाधिमरणकी विधिमें चल रहा है, केवल आत्मस्वरूपका दर्शन, अपने आपका ऐसा अनुभवनकि यह मैं ज्ञानमात्र हूँ। अपने स्वरूपको भूलकर नाना तरहके विकल्प किया, मैं उसकी निन्दा करता हूं। मैने भला नहीं किया। यह निन्दा और प्रायश्चित्तभी धर्म है, जब तक स्वरूपदृष्टि नहीं आती है जबतक अपने कसूर नहीं मालूम होते। तब तक अपराध अपने आपको विदित नहीं होता जब तक अपनी चेष्टाकी निन्दा नहीं करता। मैं उन सब अपराधोंकी निन्दा करता हूं और उनसबसे हटकर धर्मउपार्जन करके अब मैं स्वरूपमें मग्न होऊँगा।

आत्मतत्त्वकी उपासनासे प्राप्त सुयोगकी सफलता—आजजो दुर्लभ समागम पाया है मनुष्यभव, उच्चकुल, इन्द्रियकी पूर्णता, गुजारेकी सुविधा, सत्संगति, जिनधर्मकी श्रद्धा, जिन वचनका पढ़ना, सुनना, ये दुर्लभ समागम पाए हैं। यदि इन समागमोंको पाकर भी मैं अपने आपके स्वरूपको न सम्हाल सकातो वह जीवन धिक्कार है, यह जीवन व्यर्थ है। जैसे किसी कार्यके सारे साधन जुटानेके बादभी उस कार्यके साधनके फलसे मुख मोड़लें तोवह उसकी मूढ़ता है। परदेशमें जाकर खूब धन कमाकर धनके साथ घरके लिए चले और गांवके निकट कहीं भी योंही फेंक दिया या लुट गयातो उसका सारा कमाना व्यर्थ रहा, ऐसेही आजजो सर्वसमागम पाए हैं उन समागमोंको पाकर यदि हम आत्मदृष्टिमें न बढ़ सकेतो येसब साधन पाना व्यर्थ हीतो रहा। इन्द्रियमें आसक्त होकर विषयोंकी प्रीतिही बढ़ायी, तोमैने जोकुछ निधि पायी, सत्संगति समागम पाया वह सब हमनेखो दिया। ऐसा दुर्लभ अवसर क्या बारबार मिलता है? केवल एकही दृष्टि होनी चाहिएकि मुझे आत्मधर्म जानना है और आत्मस्वभाव रूपही अपनेको मानना है, यह मैं हूं विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप, अब उपयोग ऐसाही बना रहेतो इसके प्रसादसे सर्वकल्याण होगा। विशेष जानकारी नहीं है, नहीं जानते हैंकि किन गुणस्थानोंमें किस तरह कर्म खिरते हैं लेकिन इसकेतो खिरनेही लगेंगे। नहीं जाना मगर कामतो बना। जो अपने को अपनेही सत्त्वके कारण सहज स्वरूपही उस रूपही अपनेको मानलेतो उसके वे सारे कार्य बनते हैं। कर्म बिगड़ना, विशुद्धि बढ़ना, वीतरागता प्रकट होजाये सारे कार्य स्वयं होते हैं, जिनका वर्णन ग्रन्थों में लिखा है, और बड़े-बड़े पंडितजन जिसका व्याख्यान किया करते हैं। वह स्वयं यहां प्रयोगात्मक बन जाएगा। उपाय केवल एक ही करना हैकि मैं अपने सहज स्वरूपको जानूँ और इसही जाननमें संतुष्ट रहूं।

सल्लेखनाधारीकी समता व क्षमा—मैं निज स्वरूपको देखता हूंतो यही स्वरूप सब जीवोंमें है। सब जीव अपने हैं अर्थात् स्वरूपके समान हैं। इन जीवोंमें कोई ऐसी छांट नहीं है स्वरूपमेंकि ये मेरे कहलाएँ औरये पराये कहलाएँ। येविरोधी कहलाएँ और येमित्र कहलाएँ। ऐसी जीवोंके स्वरूपमें छांट नहीं है। सब जीव मेरे स्वरूपके समान हैं। सब जीवोंके प्रति समता भाव जगा है। मैं अपने समताभावमें ही बढ़ूं और समताकी वृद्धिके लिए संयमाचरण करूं। जितना बाह्य पदार्थोंसे हटकर अपने

आपकी ओरही नियंत्रित होऊंगा समताके भाव वहांही विशेष बढ़ते चले जाएँगे। किसी जीवको मेरे द्वारा कभी कष्ट पहुंचाहो, किसी जीवके प्रति कषाय भीकी हो, वह सब अज्ञान चेष्टा थी। जो कष्ट पहुंचाहो, जगतके सर्वजीव मुझे क्षमा करें। स्वरूपदृष्टिसे यह सल्लेखनाधारी सर्व जीवोंमें एक समान बुद्धि रख रहा है। जगतके समस्त बाह्यपदार्थ सब एक समान हैं, जीव जीव सब एक समान हैं। पुद्गलमें स्वर्ण हो, तृणहो ये एक समान हैं। जो मरण कर रहा है उसके लिए स्वर्ण क्या मददगार है? क्या करणहार है? साथ जाएगा क्या? न तृण साथ जाता न स्वर्ण साथ जाता। कंचन कांच बराबर है। जगतके जीव कोई मेरी निन्दा करें, कोई प्रशंसा करें। प्रशंसकसे मुझे कुछ मिलेगा नहीं, निन्दकसे मेरा कुछ जाएगा नहीं, वेसब मेरे लिए एक समान हैं। स्थान चाहे सुन्दर हो, चाहे श्मशानहो, चाहे बेहूदाहो, उस स्थानसे मेरा क्या प्रयोजन? यह मैं आत्मा निश्चय से अपने प्रदेशोंमें रहता हूं। व्यवहारतः मैं इस देहमें रहता हूं, उपचारतः मैं इस क्षेत्रमें रहता हूं। तोवस्तुत. मैं अपने आत्मप्रदेशोंमें ही रह रहा हूं। बाह्य क्षेत्र कैसा हीहो, मुझे सर्व प्रकारके क्षेत्रोंमें समताभाव है।

सल्लेखनाधारीका चतुर्विंशतिस्तवन—इस कालमें जो चतुर्विंशति तीर्थंकर हुए हैं जिस तीर्थ परम्परामें रहकर आज हम धर्मसाधनासे उद्यमी हुएवे चतुर्विंशति तीर्थंकर मेरे आराध्य देव हैं। उनको मेरा प्रणाम हो। वृषभदेव चतुर्थकालके प्रारम्भमें तीर्थंकर हुए हैं। उन समस्त तीर्थंकरोंने अपने आपका कल्याण करके जगतके इन सब जीवोंको उपदेश कियाकि आप अपने स्वरूपको जानें और उसहीमें रमें, यहीं संतुष्ट रहेंतो संसारके संकटोंसे छूटनेका उपाय न बनेगा। उन्हींके जिन वचनको अमृत समझकर मैं उनका पान कर रहा हूं, उसी उपदेशके अनुसार मैं चलूँगा। मुझे बाह्यपदार्थोंसे कुछ प्रयोजन नहीं है। वृषभदेवके बाद श्री अजितनाथ स्वामी सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चंद्रप्रभु, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान प्रभुको मन वचन कायसे नमस्कार हो। जिनकी तीर्थपरम्परासे आज तक यह धर्मप्रसंग चला आ रहा है। जगत में सब चीजें सुलभ हैं, जहां चाहे जन्में। जहां जन्मेंगे वहीं पौद्गलिक ढेर मिलेगा। पुण्यबंध हुआ हैतो उसके विपाककालमें कुछ सुहावना ढेर हुआ है, सारी चीजें सुलभ हैं। किन्तु आत्मज्ञान दुर्लभ है। कोई आत्मज्ञानकी तुलना करेंकि तीन लोकके वैभवके बराबरतो होगा आत्मज्ञानतो उसकी तुलना नहींकी जा सकती। तीन लोकके पुद्गलका ढेर मेरे इस आत्माके किस काम आएगा? यह सद्बुद्धि तीर्थंकरोंके उपदेशसे प्राप्त हुई है। सो जिनके प्रसादसे यह उज्ज्वल ज्ञानप्रकाश पाया है उनका बारबार स्मरण करते हैं। उनका आभार मानते हैं।

सल्लेखनाधारी ज्ञानीका कायोत्सर्ग व साम्यभाव—मैं अब प्रभुके बताए हुए उपदेशके अनुसार समस्त पदार्थोंसे ममत्व तजता हूं। कायोत्सर्गका अर्थ है शरीरसे ममत्वका त्याग कर देना। जब यह कहा जाता हैकि पूजा पढ़कर, पाठ पढ़कर कायोत्सर्ग करोतो उसका ठीक अर्थ यह हैकि अब आप अपने शरीरमें ममत्व छोड़ दीजिए। सो ममत्व छोड़नेके प्रसंगमें कुछ न कुछतो शुरुआत चाहिए। कैसे ध्यानका प्रारम्भ करेंकि मेरा इस समय शरीरसे भी ममत्व छूटे, विकल्प छूटेतो वह प्रारम्भ किया

जाता है णमोकार मंत्रसे। अर्थात् जिन्होंने इस देहसे ममत्व छोड़ा, देहसेजो रहित हुए उन आत्मावोंका स्मरण किया जाता है। जोपुरुष जिस कार्यको करना चाहता है उस कार्यमेंजो सफल हैं उनका सम्बंध बनाना चाहते हैं। यह एक लोकनीति है। तोये कल्याणार्थी पुरुष समस्त पदार्थोंसे ममत्व तजकर अविकार ज्ञानस्वभावमें रमना चाहते हैं, तोजिन्होंने इस कार्यमें सफलता पायी है उन आत्मावोंको नमस्कार कर रहे हैं. कायोत्सर्गके लिए जिनमेंसे अरहंत सिद्ध साधु इन तीनका ध्यान है। आचार्य उपाध्याय साधुये तीनोंही साधु कहलाते। उन साधुवोंको नमस्कार और उनके गुणस्मरण यहहो रहा है णमोकार मंत्रमें और उस साधनाके प्रसादसे चार घातिया कर्मोंका नाश करते हुए सकल परमात्मा हुए। उनके वीतराग भावका और इस उज्ज्वल ज्ञानप्रकाशका स्मरण कर रहा है, और अरहंत अवस्थाके बाद चार अघातिया कर्मकि विनाशसे देहरहित अवस्था हुई है, सिद्ध भगवान हुए हैं उनका स्मरण कर रहा है। तो णमोकार मंत्रके ध्यानसे प्रारम्भ करके यह जीव कायसे ममत्वको त्याग रहा है। किसी भी एक कार्यको करनेके लिए उसकी विधि और मुद्रा बनती है, सोयह मैं कायोत्सर्गके लिए पहले अपने आपकी दिशावोंको नियंत्रित करता हूं। मेरा इतनेही क्षेत्रका परिमाण है, इस क्षेत्रसे बाहर मेरा इस समय ममत्वका त्याग है। और यह क्षेत्र भी चूँकि रहना पड़ रहा है इसलिए सम्बंध है, वस्तुतः मैं अपने आत्मप्रदेशोंमें ही रह रहा हूं। समताभाव, रागद्वेष नहीं है वहां किसी परवस्तुमें उपयोग नहीं गड़ाया जा रहा है। तो जान जानकर बाह्य पदार्थोंका मैं त्याग करता हूं ताकि उनके आश्रय छूटे और मेरे विकल्प न बढ़े, और मैं अपने इस ज्ञानानन्दमय स्वभावमें ही बसकर पूर्ण समतारससे पूरित रहूं।

स्वभावदृष्टिसे अद्भुत समताकी महिमा और शरण्यता—सामायिकके समान जगतमें दूसरा कुछ भी मेरा उपकारी नहीं है। समताभावही मेरा उपकारी तत्त्व है। इस प्रकार यह श्रावक सल्लेखनाके समय अपने स्वभावकी दृष्टिको पुष्ट कर रहा है। धर्मपालन वही है, धर्मपालन दूसरा नहीं है, चाहे कोई अपवित्र हो, पवित्र हो, प्रायः करके मरण समयमें लौकिक दृष्टिसे शरीर अपवित्रही रहता है। थूक मलमूत्र आदिक कैसीही दशाएँ रहती हैं। तोचाहे अपवित्रहो चाहे पवित्रहो, शरीरकी बात शरीरमें चल रही, धर्मतो आत्माका आत्मामें है। और आत्माको ही धर्मकी दृष्टि करना है। सो धर्मपालनकी बात अन्दर चल रही है। कदाचित इन्द्रियके शिथिल होनेसे यह बेहोश भीहो जाएतो इन्द्रियां हीतो बेहोश हुई हैं। आत्मा भीतर सावधान बना रह सकताहै। बेहोशीका भी क्या डर? बेहोशी आएतो आए, बेहोशीका प्रभाव बाहरमें पड़ता है, अन्दरमें नहीं पड़ता। अन्दरतो जैसा संस्कार है, जैसी भावना है वैसाही प्रकाश रहता है, इस तथ्यको कोई बाहरी लोग नहीं जानते अतएव कहा करतेकि यहतो बेहोशहो गया। बेहोश होनेसे मरण नहीं बिगड़ता। वहतो देहकी चीज है, उस प्रकारसे होगी ही। परजो ज्ञानी हैं, जिनके धार्मिक संस्कार है वे अन्तः प्रकाशमानही रहते हैं। सो यह मैं सर्व बाह्य पदार्थोंसे हटकर अपनी इस स्वभावदृष्टिमें ही रहूं और स्वभावदृष्टि करता हुआ इस शरीरसे पयान करूं।

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानं।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानंपूरयेत्क्रमशः॥ १२७॥

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कार मनास्तुनं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥ १२८ ॥

कायसल्लेखनामें कर्त्तव्य—सल्लेखना धारण करने वाले महापुरुषने तत्त्वज्ञानके बलसे विषय कषायोंका परिहार किया है। जिसके विषयोंकी इच्छा नहीं, कषायके लिए उमंग नहीं उस पुरुषके शरीरकी सल्लेखनाका अवसर स्वयंही आ जाता है। जब विषयोंकी भावना नहींतो आहार करनेकी लम्पटता कैसे आ सकती है। सो यह महापुरुष भोजन आदिककी वाञ्छाको भी अपकारक जानता और जब यह शरीर हीजा रहा है, मरण अवसर आया हैतो इस अवसरमें उस भोजन आदिककी गृद्धता करना उचित नहीं है। यह सब समझकर क्रमसे जैसा आयुका अवसर दिखता है उस प्रकार इन्द्रियसे ममतारहित होकर आहारके आस्वादनसे विरक्त होता है और विचार करता हैकि हे आत्मन्! तूने इतना आहार कियाकि एक-एक जन्मका एक-एक कण भी इकट्ठा किया जाएतो अनगिनते ढेर लग जाएँगे। अनादि कालसे अब तक कितने जीवन पाए, अनन्त जीवन पाए, सोएक जीवनका एक ही दाना गिनतीके ढंग से इकट्ठा किया जातातो मेरुपर्वत बराबर अनेक ढेर लग जाते, पर तू आहारसे कभी तृप्त नहीं हुआ। अब इस अवसर पर जबकि देहके नष्ट होनेका निश्चय है और फिर भी आहार विषयक वाञ्छा लिए रहेंगेतो इससे कल्याण नहीं है। तूने इतना जल पियाकि एक-एक जीवनका एक ही बूंद इकट्ठा किया जाएतो अनन्त समुद्र भर जाएँ इतना जल पिया। उस जलसे भी तेरी तृप्ति नहीं हुई, तोअब जोयह रोग बुढ़ापाके कारण मरण निकट आया है उस मरणकालमें ही तू आहार पानीमें चित्त धरे रहेगातो उससे तृप्तितो न होजाएगी। आगे अनेक भव धारण किया जाना होगा, वहां भी ऐसी वेदना पाएगा। तोआहार पानीकी गृद्धता न करें।

आहारत्यागके अवसर व अनवसरका विश्लेषण—यहां एक बात ध्यानसे समझनाकि जिसका शरीर इस काबिल हैकि अभी धर्म कर सकते, नियमसे कर सकते, और ऐसे अवसरमें भी कोई समाधिमरण करेतो वह आत्मघात कहलाता है, वह अपनी हिंसा है, समाधिमरण तबकी चीज है जब यह जानें, मरणकाल आ ही गया। ऐसे अवसर पर व्रतमें कोई भंग होताहो शरीरकी स्थितिके कारण, जैसे अंधेहो गए, संयम नहीं पल सकता या कुछ बात होतो वहां पर भी विचार किया जाता हैकि मैं इस संन्यासमरणको झेल सकूंगा या नहीं। ऐसी स्थितिमें भी अपनी शक्ति न देखकर कोई समाधिमरण धारण करले और संक्लेश परिणामसे मरणहो जाएतो उस हठसे भी लाभ नहीं है, यहतो धार्मिक बात है, जिसमें अपना धर्म न बिगड़े, धर्म सधेसो कार्य करना। तोयह विवेकी पुरुष जब यह देख रहा हैकि अब यह देह न चलेगा, अत्यन्त निकट समय है मरणकातो उस समय यह आहार जल आदिकका ही त्याग करके समस्त वाञ्छावोंसे रहित होकर अपने आपके स्वरूपका ध्यान करता हुआ शरीरको छोड़कर चला जाता है।

भोजन लम्पटता पर विषाद—यह सल्लेखनाधारी अपने आपको सम्बोध रहा है कि हे आत्मन्! तूने अनन्त भवोंमें भोजन पानकी गृद्धताकी और इस भवको भी पायातो इस जीवनमें भी कितना आहार

जल ग्रहण किया। रोजदो-बार, चार-बार ६ बार तथा स्वच्छंद होकर खूब आहार पानसे अपनेको खुश रखना चाहा। आहारका लोभी होकर अनेक प्रकारके आरम्भ किया। अमुक चीज खानेकी बनाना, यह बड़ी स्वादिष्ट है, चूल्हा जल रहा है, आंसू बह रहे हैं, अनेक उद्यम कर रहे हैं, न जाने कहां-कहांसे क्या-क्या चीज बटोरी, न जाने कैसा-कैसा परिश्रम कर रहे हैं, एक आहारके स्वादके वास्ते हीतो। जीवन भर एक काम किया, आहारका लोभ किया, झूठ, चोरी, परिग्रह आदि सभी तरहके पापोंकोभी करना पड़ा, दुर्ध्यान करके खोटी क्रियाएँकी, दूसरेके आधीन हुए, स्त्री पुत्रादिकके आधीन हुए, कितनीही दीनता आयी, एक आहारके अर्थ हीतो यह सब किया। अनन्तबार आहारकर करके भी तू तृप्त न हुआ। भक्ष्य अभक्ष्यका विचार न रखा, रात दिनका विचार न रखा, आहारकी लम्पटताहो गई। कैसी ही प्रवृत्तिकी।

रात्रि भोजनका कलंक—जैन कुलमें जन्म लेने वाले पुरुषोंका यह मुख्य चिह्न है कि रात्रिमें भोजन न करना, किन्तु अब रात्रिभोजन एक आम रिवाजसा बना डाला और कोई रात्रिको भोजन न करे, विवाह बारातमें गयातो वह मजाकका साधन बन गया। जहां ऐसी खोटी बात चल उठे वहां फिर जैन कहलानेका हक क्या रहा? कोई पुरुष अकेलेही भ्रष्टहो जाए, खुद रातको खाने लगेतो यह एक उस व्यक्तिकी बात है, उससे परम्परा नहीं बिगड़ती, मगर सामूहिक भोजन, विवाह, बारात, पंगत या अन्य प्रीतिभोज रात्रिको ही करने लगेतो यहतो जैन धर्म पर बड़ा प्रहार किया। अकेला भ्रष्टहो जाएतो वह उसके अकेलेकी बात है मगर जहां सामूहिक रात्रि भोजनकी प्रवृति चल जाती है तो उसके मायने यह है कि अब इस धर्मके मानने वालोंमें धर्म प्रवृत्ति न रही। एक आहार पानजो केवल प्राण टिकानेके लिएही किया जाता है उसे इतना शौक बना डालाकि रात-दिनका भी कुछ विवेक न रहा। यहतो जैन समाजके लिए एक कलंक है। और सामूहिक प्रथा चला दियातो वह इस समयके अग्रगण्य लोगोंके लिए कलंक है। जोमुख्यजन हैं उनका कर्तव्य यह हैकिवे सामूहिक रात्रि भोजनका एक रिवाज न बनाएँ, उस रिवाजको तोड़ दें।

संक्लेश व आसक्तिसे हटनेका सम्बोधन—अरे अनेक प्रकारसे भोजनके पीछे खोटे कर्म किए और उससे भी तृप्त न हुए, तो अब मरणके अवसर पर जहां निश्चित हैकि कुछही समय बाद प्राण चले जाएँगे वहांभी यदि आहार जलमें वाञ्छा रखी और इस तरहसे तृष्णापूर्वक मरण कियातो शरीरतो आगेभी मिलेगा, दुःख ज्योंका त्योंही बना रहेगा। ऐसा विवेक करके यह ज्ञानी पुरुष आहारकी लम्पटताको छोड़ देता है। बहुत विवेकहो तबतो ठीक है, यदि कोई ऐसाही भावुक होकि कराऊंगा समाधिमरण, हमारा एक नाम रहेगाकि इन्होंने समाधि मरण कराया। इस धुनमेंजो रहेगा वह न जाने कितनोंका अनर्थ करता रहेगा। विवेकी पुरुषतो दूसरेके आत्माका हितही चाहते हैं और हर तरहसे समझो। ऐसा त्यागभी न कराना चाहिएकि जिससे यह परखाजा सकेकि यह बड़े संक्लेश करके मरण करने लगा।

सामूहिक बिगाड़से तीर्थप्रवृत्तिका विनाश—देखिये बाततो यह हैकि संक्लेशसे मरण न होना चाहिए। इसमेंदो बातें नहीं हैं, चाहे बाह्य त्याग कितनाही कम रहे न रहे, कैसीभी स्थिति बने। यदि संक्लेश रहित मरण होता है और पंचपरमेष्ठियोंके गुणस्मरण पूर्वक अपने अन्तः स्वरूपकी आराधना

पूर्वक मरण होता हैतो समाधिमरण यह है। आहार आदिकका त्याग करना यह एक आनुषंगिक है। किसीने कायसल्लेखना किया, आहार जलका त्याग किया, पर विषयकषायकी सल्लेखना नहींकी, कषाय रही, ममता रही, नामकी वाञ्छा रही, मरतेतो जारहे और नामकी इच्छाहो रही है, लोग जानेंगेकि इन्होंने कैसा समाधिमरण करके दिखाया? अरे यहतो बहुत खोटा परिणाम है, ऐसी कोई वाञ्छा करे और बाहरसे भी कष्ट भोगे और अन्तरंगसे भी खोखले रहेतो उसमेंतो कुछ लाभ ही नहीं मिलता। सोपहले आत्माको पूरा सावधान बनाना चाहिएकि जहां बाह्य जगतमें कुछभी चाह न रहे, न भोजनकी, न नामकी, न प्रंशसाकी, कोईभी इच्छा न रहे, यह बात बनती है उसके जिसने सहज आत्मस्वरूपका अनुभव किया है। जबरदस्ती धर्म नहीं हुआ करता, किन्तु भीतरमें ज्ञानप्रकाश पाने वालेके धर्मसहजहो जाता है। जैसे कभी प्रवचन सभामें कोई महिला छोटा बच्चाले आयी है, वह रोने लगातो उसका मुख बंद करके उसका रोना नहीं मिटाया जा सकता। उसका उपाय कोई दूसराही किया जाता है। ऐसेही जबरदस्ती भावुकतामें आकर समाधिमरण कोई कर रहा हो और बता देंगे दुनियाकोकि समाधिमरण ऐसा होता है, ऐसा भाव आएतो समझोकि मेरा सब गया। इतना सावधान होना चाहिए सल्लेखनाधारीकोकि उसके केवल अपने आत्मतत्त्वकी ही धुन रहे। विषय कषायमें सल्लेखना पूर्वक काय संल्लेखनाकी चर्चा चल रही है। कोई पुरुषकाय सल्लेखना न कर सके, ऐसाही अवसर आए और विषय कषायकी सल्लेखना कर लेतो उसकेतो समाधिमरण कहलाएगा, परजो पुरुषकायकी सल्लेखनातो खूब करेकि अमुक चीज छोड़ा, अमुक चीज छोड़ा, हड्डियां निकल आयीं पर विषय कषायकी सल्लेखना न करेतो उसके सल्लेखना मरण न कहलाएगा।

शारीरिक वेदनावोंमें कष्ट न माननेका सम्बोधन—यह विवेकी पुरुष अपनेआपको समझा रहा हैकि तूने अनन्त जन्मोंमें ऐसे-ऐसे कष्ट पाए और बड़े कष्टोंसे मरण कियातो इस मरण समय में तुझको कष्टही क्या है? अनेक बार शस्त्रसे कट कटकर मरा, दूसरे व्याघ्र शेरोंने तुझे अनेकों बार खाया। अनेक प्रकारसे जीवोंने दबोचा, बुरी तरह मरण किया। अब यहतो एक शुभ अवसर है। अनेक धर्मात्माजन निकट बैठे हैं। सबकी यह ही भावना हैकि इसके समता भाव जगे। बाह्यका विकल्प हटे और आत्मदृष्टि करता हुआ इसके समताभाव प्रयाण करे। एक कर्मोदयवश शरीरमें वेदना आयीतो यह क्या कष्ट है? कर्मका उदय कर्म में है, देहकी बात देहमें है, मेरी बात मेरेमें रहे, ऐसी भावना करके इन समस्त कष्टोंसे मैं अपने चित्तको विमुख करूं। यह एक शुभ अवसर है। यदि यहां चूक गएतो अगला भव जन्ममरणमें गुजरेगा। भवोंकी परम्परा चलेगी, जीवनमें दुःख ज्योंके त्यों रहेंगे, यदि समाधिभावसे मरणहोतो कुछही भव धारण करके निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर तपश्चरण करके निर्वाणपद पाऊंगा। सदाके लिए संकटोंसे छूट जाऊंगा।

आत्मीय सहज आनन्दके अनुभवीको अन्यत्र कष्ट न माननेकी सुगमता—जिस पुरुषने आत्माके सहज ज्ञानानन्द स्वरूप आनन्दमय आत्मतत्त्वको अनुभवा है, जिसके बलसे यह निश्चय हुआकि इस आत्मानुभवके अतिरिक्त अन्य कुछभी सार नहीं है। जो आनन्द अपने आपके स्वरूपमें लीन होनेमें है वह आनन्द बाहर कहीं भी रंचमात्र नहीं है। इस अलौकिक आनन्दको जिसने भोगा है उसके लिए

समाधिमरण जराभी कठिन नहीं है वहतो बड़ी प्रसन्नताकी चीज है। जीवनमें अनेक समारोह हुए, शादी विवाह आदिकी अनेक खुशियां आयी अनेक-अनेक उत्सव किया मगर वेसब उत्सव कुछ नहीं है। मरणकालमें जो एक आत्मदृष्टिका वातावरण बन रहा है उस समारोहके आगे सारे समारोह फीके हैं। वे क्या उत्सव हैं, वेतो पापके कार्य हैं और संसारमें रुलनेकी परम्परा बढ़ाने वाले हैं। एक यह मरण समारोह संन्यास पूर्वक, समता पूर्वक आत्मदृष्टि सहित शरीरसे पयान करनेका यह उत्सव महाउत्सव है। विवेकी पुरुष इसमें अतीव प्रसन्न रहता है। उसकी दृष्टिमें उसका आत्मस्वरूप बना हुआ है, और ऐसी आत्मदृष्टि सहित मैं इस शरीरको छोड़करजा रहा हूं। हे आत्मन्! इस जीवनमें धर्मबुद्धिसे अनेक उपवास किया, धर्मपालनकिया, अनेक वाञ्छाएँ बनी रहींकि मैं धर्मके लिएही यह जीवन लगाऊंगा, तो अब उसका हीतो यह अवसर है। यह हीतो परीक्षाका समय है। यहां इच्छाएँ न जगें, परिणाम न बिगड़ें, ऐसी साधना रहेतो जीवनभर किए हुए व्रत, तपका फल मिल जाएगा। यह विषय कषायोंकी सल्लेखना करता हुआ शरीरकी सल्लेखना करने वाला विवेकी पुरुष क्रमसे आहारको त्यागता है। यह त्याग मरण समयमें परिणाम न बिगड़े इसके लिएभी आवश्यक है। मरणहो रहा है, खातेजा रहे हैं, खांसीआ रही, कफहो रहा, अनेक प्रकारकी बाधाएँ आती हैं। वह स्थिति ऐसी हैकि आहारका त्याग करने सेही ठीक गुजारा चलेगा और फिर जब विषय कषायोंसे विरक्ति हुई हैतो आहारकी इच्छा कौन करेगा? आहार त्याग करे, दूध परही रहे, फिर दूधकाभी त्याग कर छांछ परही रहे, फिर छांछका भी त्याग कर दिया। इस प्रकार सर्व वाञ्छावोंसे रहित होकर पंच नमस्कार मंत्रमें मनको लीन करता धर्मध्यानी हुआ। आत्मप्रतीतति सहित सही यत्नसे देहको त्यागकर जाना सल्लेखना मरण कहलाता है।

आत्मघात और समाधिमरणका विश्लेषण—एक यह प्रश्नहो सकता है जैसेकि बहुतसे लोगोंको संदेहभी चलता हैकि यह समाधिमरण क्या है? आत्मघात है। जैसे कोई कुवेंमें गिरकर मरेतो क्या, आहार पानी त्यागकर मरेतो क्या, आखिर वह आत्मघातहीतो रहा। ऐसा संदेह करने वाला प्रथमतो यह जानेकि जब तक यह देह चल रहा है, धर्मसाधनहो रहा है ऐसी स्थितिमें कोई आहार जलका त्याग करे, समाधिमरण करेतो वह आत्मघात कहलाता है और इसका फल अच्छा नहीं निकलता। इस कुबुद्धिसे मरण करने वाला पुरुष आगे देह पाएगा, जन्ममरणकी परम्परा रहेगी और आगे पाएगा देह खोटा असंयमों वाला। मानलो थोड़ा पुण्य किया था उस प्रभावसे देवभी हो गएतो क्या हुआ? असंयममेंही समय गुजरेगा और यहां मनुष्यभवमें संयम सहित जीवन गुजर रहा है।तोदेह जब तक इस काबिल है कि धर्मध्यानमें बाधा नहीं आती, सही ज्ञान चल रहा है, स्वाध्याय सुनना, वाचना चल रहा हैतो आवश्यक क्रियाएँ चल रही हैं, ऐसी स्थितिमें कोई समाधिमरणका नाम लेकर आहार आदिकका त्याग करदेतो वह आत्मघात कहलाता है। किन्तु जब ये देखाकि यहतो इस काबिल न रहाकि ध्यान, संयम, तपश्चरणमें न रह सकेतो जहां हमारा धर्म बिगड़ातो समझो हमारा सब कुछ बिगड़ा कहलाएगा। ऐसे अवसर पर आहारका त्याग करना, सल्लेखना मरण करना धर्म है, क्योंकि धर्मके लिएही जीवन था और वह धर्म बिगड़ रहा और यहभी निश्चित हुआकि यह देह रहेगाभी नहीं, ऐसी स्थितिमें आहार आदिकका त्याग कर प्रभु गुणस्मरणमें, आत्मदृष्टिमें उपयोग रखते हुए मरण करेतो वह धर्म है, समाधि मरण है।

धर्मान्धतामें अनवसर मरण ठान लेनेमें कल्याणका अभाव—यह आज मनुष्यभव पाया, सत्संग पाया, विवेक पाया, संयमभी चल रहा, धर्मध्यानभी चल रहा, महाव्रत अणुव्रत पल रहा, स्वाध्याय, ध्यान, दानशील, तप, व्रत, उपवास आदिक बराबर ठीक पल रहे हैं, जिनेन्द्र पूजा, दर्शन, स्वाध्याय, धर्मोपदेश, चारों आराधनाएँ बराबर अच्छी तरह निभ रहीं और कोई ऐसा गड़बड़ समयभी नहीं हैकि कठिन दुर्भिक्षहो या कठिन बुढ़ापा आयाहो या एकदम असाध्य रोग हुआहो, ऐसीभी स्थिति नहीं है फिरभी एक धर्मान्ध होकर समाधिमरण करनेवाले पुरुषोंमें लोगोंकी भक्ति देखकर आहार आदिकका त्याग कर मरण करलेतो वह आत्मघात है। और वह कैसे आत्मघात हैकि एकतो इस भवमें जो धर्मधारणहो रहा था, धर्म निभ रहा थासो अपनेमें धर्मका घात किया। मरकर असंयमी बनेंगे। दूसरे भीतरके ज्ञानप्रकाश बिना जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए वचनोंके विरुद्ध कोई संन्यासमरण धारण करता हैतो वहां संक्लेश है और जिनाज्ञाका भंग है। कैसा अवसर होकि समाधिमरण करना, इसका भले प्रकार ज्ञान होना बड़ा आवश्यक है। असंयममें दोनों तरफसे गया। न तो इस भवमें शान्ति रही, न आगे भवमें शान्ति रहेगी। सो यदि समाधिमरणका अवसर नहीं है, देहमें बराबर धर्मसाधनाकी वृत्तियां चल रही हैं ऐसे अवसर पर आहार आदिक त्यागना आत्मघात है, किन्तु जब देखाकि धर्मसंयुक्त शरीरकी रक्षा करनातो कर्तव्यथा मगर जब देहइस काबिल नहीं हैकि उससे धर्मकी रक्षा कर सकेंतो वह समाधिमरण ग्रहण करता है। जबरदस्ती इस शरीरको छोड़ दिया, मर गएतो हाड़ मांस वाले इस शरीरको छोड़ातो क्या लाभ हुआ। आगे हाड़ मांस वाला शरीर मिलेगा। छोड़नातो कार्माण शरीरका जरुरी है। इन कर्मोंको बाहर हटाइए। कर्मोंको बाहर हटानेका उपाय हैकि कर्मादिकसे रहित अविकार स्वभावी इस ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वकी प्रतीति करें। सहज परमात्मतत्त्वकी दृष्टिके प्रसादसे अपने आपमें विशुद्ध आनन्दका अनुभव करें।

समाधिमरणमें आन्तरिक व बाह्य शान्त वातावरणकी आवश्यकता—समाधिमरणमें विवेकका काम चलता है। चूँकि अब देह हमारा साथ नहीं निभाताकि हम अपनी क्रिया समिति पूर्वक कर सकें। इसलिए जिसने पहलेसेही अनेक उपवासों द्वारा अभ्यास कर लिया है वह आहार आदिकका त्याग करता है। उस स्थितिमें इसका उपयोग कहां रहा करता है? प्रभुगुणोंके स्मरणमें, अपने आत्मस्वरूपके ध्यानमें। तीसरी बातसे इसका मतलब न रहा, अगर किसी दूसरी बातसे मायने आरम्भ परिग्रह आदिकसे या परिचित मित्रजनसे इसका कोई प्रयोजन है, बुलाता है, आवो बैठो, अच्छे आए, खूब खबरली, तोइन बातोंमें तू अपने परिणाम बिगाड़ रहा है, मोहका परिणाम ला रहा है। संन्यासमरण करने वालेसे तो इस तरहकी बात विवेकी पुरुषको करनाही न चाहिए किअब हमआगए, बताओ तुम हमें पहिचानते कि नहीं? अरे इन फिजूलकी बातोंमें क्या रखा है? उसकोतो ऐसा योगदान देना चाहिएकि जिससे उसके परिणामोंमें विकल्प न आए। तोऐसे बाह्य विकल्प त्यागकर आत्मगुणस्मरण सहित मरण करना समाधिमरण कहलाता है सोप्रत्येक कल्याणार्थीका लक्ष्य होना चाहिएकि मैं जीवनमें ऐसा धर्मकार्य करूंकि मरण समयभी मेरा परिणाम बिगड़े नहीं और समतापूर्वक मरण करके मोक्षमार्गमें प्रगति करूं।

तत्त्वज्ञानके बलसे इन्द्रियविषयोंके परिहारकी सुगमता—सर्व इन्द्रियोंमें बाधा देने वाली इन्द्रियां हैंतो स्पर्शन, रसना ये दो हैं और इनकी सहयोगी है चक्षुइन्द्रिय, क्योंकि इन्द्रिय विषयमें विशेष बढ़ें इसका प्रारम्भ होता है चक्षुइन्द्रियसे। देखातो इच्छा बढ़ी, देखातो अनेक वासनाएँ जगी। तोवहां सभी इन्द्रियां बाधक हैं, निरन्तरके प्रयोगमें येदो इन्द्रियां अधिक बाधक हैं—रसना इन्द्रिय और चक्षु इन्द्रिय। इनकीही स्वच्छन्दतासे फिर यह जीव स्पर्शनइन्द्रियमें बढ़ता है, कामसेवनमें बढ़ता है। यदि इनदो इन्द्रियोंका सहयोग न मिलेतो उसका ब्रह्मचर्य पालन बहुत सुगम होता है? सोदेखो सुयोगकी बात अन्य इन्द्रियपर ढक्कन नहीं लगा है। जैसे हम चाहेंकि कुछ सुने नहींतो अपने आप हम कान कैसे बन्द करें नाकको कैसे बन्द करें। अगर चाहेंकि हमें कुछ चखना, बोलनाही नही हैंतो ओठोंको बंद कर लीजिए। यहांदो ओठ मिल गए। इनदो इन्द्रियोंके जोदो ढक्कन मिलेये इसलिए मिले हैंकि इनका उपयोग करें। दोनों पलक मूंदकर आंखें बंद करें, येदो बातें जिसके चलती हैं, जिसके लिए मनका नियंत्रण भी चाहिए उसके लिए कषायोंका त्याग करना आसानहो जाता है। तभी समाधिमरणके अवसर पर यह ध्यान दिलाया गयाहैकि आहारका त्याग करें जिससे चित्त यहांवहां न डुले।

आत्मधर्म वैभवकी रक्षाके लिए कायोपेक्षा—यह आहारत्याग कुछ भावुकता वाला त्याग न होना चाहिए। किन्तु जब यह देखाकि इस घरमें आग लग रही हैतो अब क्या करें घरमें आग लगनेदो, मगर वहांजो हीरा जवाहरात रत्न रखे हैं उनको झट निकाल लें, ऐसेही इस देहमें आग लग रही है मायने रोग है, व्याधि है, वृद्धताहै। शिथिलहो गए अब यह किसी कामकाही न रहातो इस देहकी ऐसी स्थिति होतीतो होनेदो, मगर इसको खतम करके अपने रत्नत्रय सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र निधिकीतो रक्षा करलें। कहीं इस देहके ममत्वके कारण रत्नत्रय नष्ट नहो जाए और होगाही, यदि देहमें ममत्व है। तो आहार आदिकके त्यागका मूल अभिप्राय यह हैकि मेरा रत्नत्रय न बिगड़ जाए, सो रत्नत्रय बिगड़ने लायक जब देहकी स्थिति बन जाती है उस समय त्याग बताया है, क्योंकि इस ज्ञानी जीवका लगाव अपने स्वरूपसे है, देहसे नहीं है इसलिए सर्वकुछ त्याग करना उसके लिए बहुत आसान रहता है।

सल्लेखनामरण करने वालेको परम शान्त वातावरणकी आवश्यकता—समाधिमरण करने वाला पुरुष यह चाहता है कि यहांका वातावरण शान्त रहे। कोलाहल न हो, कोई मोह ममता रागकी बात कहने वाला नहो और कुटुम्बीजनोंका आवागमन न हो। अन्य धर्मात्माजनजो मोह रोगके विषयभूत न थे उन्हीं पुरुषों द्वारा धर्मश्रवण करनेको मिले, ऐसी उसकी भावना रहती है। औरजो योग्य विवेकी समाधि कराने वाले पुरुष हैं उनको इस तरहका परिचय रहता है समाधि मरण करने वालेकी आवश्यकताका कि यह ममतासे छूटे। वह जोरसे समाधि मरण न सुनाएगा। जब यह देखेंगे कि यह अपने ध्यानकी ओर बढ़ रहा है तो वह सुनाना बंद कर देगा। किसीभी प्रकारका अशान्त वातावरण न हो और इसके ध्यानमें बाधा न आए, इस सब रहस्यको, बातको जानने वाला होता है निर्यापक जो समाधिमरण कराने वाला है तो ऐसी बड़ी सद्भावनासे सल्लेखनाको धारण करने वाले पुरुषने अपने आपको पूर्ण सावधान रखा। अब यह आराधक सल्लेखनाके किसीभी अतिचारको लगने नहीं देता। वह अतिचार कौन हैं सो आचार्य बतलाते हैं—

जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदानामानः।
सल्लेखनातिचाराः पंच जिनेन्द्रैः समुद्दिष्टाः ॥ १२९ ॥

(१) सल्लेखनाधारी द्वारा सल्लेखना जीविताशंसानामक प्रथम अतिचारका परिहार—जीनेकी इच्छा करना, सल्लेखनाधारी ज्ञानी पुरुष क्यों चाहता है कि मैं और जीऊँ? क्या प्रयोजन है जो लोग चाहते हैं कि मैं और जिन्दा रहूं तो उसका प्रयोजन होता है ममत्वका। मैं घरमें और बना रहूंगा तो बाल-बच्चोंको और भी देखता रहूंगा, मेरा यहां बड़ा यश नाम फैला है। लोगोंसे बड़े रागके वचन मिला करते हैं, ऐसा मौज और लूँगा, ऐसीही कुछ भावना होगी जिससे कि वह चाहता है कि मैं और जिन्दा रहूं। और जीनेकी इच्छाका आधारतो अज्ञान है जिससे चाहता है कि मैं और जिन्दा रहूं। तो जीनेकी इच्छाका आधार तो अज्ञान है। जो यह जान रहा कि जीना और मरण क्या है। एक देहमें आ गए उसे लोग जीना कहते हैं। देहको छोड़कर चले गए उसे मरण कहते हैं, यह देहतो पौद्गलिक है। मेरे स्वभावसे, स्वरूपसे अत्यन्त भिन्न है, इसका मुझे क्या लगाव? यहां न रहे और जगह चले गए, जिन जीवोंसे परिचय है वे भी सब मायामयी हैं, जोदिख रहा है। जोपरमार्थ है वह अविकार ज्ञानस्वरूप है। परमार्थसे पहिचान क्या? और पहिचान है तो विलक्षणता नहीं रहती, जहां विलक्षणता जंचे उसी को ही तो पहिचान कहते हैं, जब सर्व जीव स्वरूप एक चैतन्यमात्रही निगाहमें रहे फिर वहां परिचय क्या कहलाएगा? सोकिसी भी जीवके परिचयका क्या प्रयोजन? सल्लेखना धारी जीनेकी इच्छा नहीं करता, आचार्य देवने बताया है आत्मानुशासन में कि जिनको धनकी आशा लगी हो या जीनेकी आशा लगी हो उनके लिए कर्म-कर्म हैं और जिन ज्ञानियोंने जीनेकी आशाको त्याग दिया है, धन वैभवकी आशाको त्याग दिया है उनके लिए अब कर्म क्या करे? कर्मका जोर दो बातों तक है। सोकर्म की इन दोनों मेहरबानियोंको जो ठुकरा देता है उसके अब कर्मका क्या लगेगा? जीनेकी आशा सल्लेखनाधारी सम्यग्दृष्टिके नहीं होती। अगर यह भावना आए तो यह दोष है और यह ही दोष बढ़ बढ़कर सम्यक्त्वका घात कर सकता है। एक यह बात बहुत स्पष्ट है कि मैं स्वतंत्र सत् हूं, परिपूर्ण हूं। मेरे स्वरूपमें किसी अन्यसे कोई बाधा नहीं आती, जहां भी हो, मैं अपने परिपूर्ण स्वरूप वैभवको लिए हुएही जाऊंगा उसको मरणका भय ही नही हैं। जीनेकी इच्छा फिर क्यों करेगा?

(२) सल्लेखनाधारी द्वारा मरणशंसानामक सल्लेखनातिचारका परिहार—सल्लेखनाका दूसरा अतिचार है मरनेकी इच्छा करना। कभी कोई कठिन वेदना आ जाती है तो यह मनुष्य सोचने लगता कि मैं मर जाऊंतो अच्छा है। ऐसा सोचने वाला कोई बिरलाही होगा। अव्वलतो कैसीभी कठिन स्थिति हो तो भी मरनेकी इच्छा किसीके नहीं बने। एक बुढ़ियाजोकि शरीरसे बहुत दुर्बल थी, अत्यंत वृद्ध थी। उसको उसके नाती-पोते बड़ा हैरान करते थे तो वह सबसे ऊबकर रोज-रोज भगवानसे प्रार्थना किया करती थी कि हे भगवान तू मुझे उठाले याने मैं मरजाऊं। एक बार उस बुढ़ियाके पास कोई सर्प निकल आया तो वह चिल्लाने लगी, अरे नाती-पोते, दौड़ो, देखो सांप निकल आया। तो वहां कोई नाती बोला—अरे बुढ़िया दादी, तू मत घबड़ा, तूजो रोज-रोज भगवानसे प्रार्थना किया करती थी कि

हे भगवन मुझे उठाले, तो भगवानने तुझे उठानेके लिए यह सांप भेजा है, तू मत घबड़ा। आज तेरी वह मंसा पूर्णहो जाएगी। तो फिर वह बुढ़िया बोली अरे-अरे बचाओ-बचावो, सांप निकल आया है। तो बाहरी परिस्थिति कैसीभी हो, पर यह जीव मरना नहीं चाहता। सम्भव है कि कोई ऐसीही कठिन बात हो कि जिससे वह मरण चाहता है। दूसरे लोगतो कह तक देते हैं कि इससेतो अच्छा है कि यह चलदेता घरके मित्र परिजन बड़े प्रेमीभी कहते हैं उसके दुःखको देखकर इससे तो अच्छा था कि इसका चोला छूट जाता। वह चाहे मनसे कहने लगें, पर मरने वालेका मन नहीं चाहता। और यदि कभी किसी स्थितिमें चाहेतो मरनेकी इच्छा करना सल्लेखना का दोष है।

(३) सल्लेखनाधारी द्वारा भयनामक सल्लेखनातिचारका त्याग—सल्लेखनाका तीसरा अतिचार है भय। अब मरण समय आ रहा, पता नहीं कैसा दुःख होगा, कैसा यह जीव बनेगा, पता नहीं क्या कठिन परिस्थिति आएगी। वह दुःख मैं कैसे-सहूंगा ऐसा भय सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होता। एक कुछ प्राकृतिक बातसी है कि जब तक जीवों पर दुःख नहीं आता तब तक यह जीव बहुत डरता है कि पता नहीं अब क्या होगा, पता नहीं कैसा क्या बीतेगी, और जब दुःखआ जाता है तब उतना भय नहीं रहता। भलेही प्रायोगिक वेदनाहो जाए मगर भीतरमें दिल इतना भय नहीं करता। आता है तो उसे धीरतासे सहता है, तो जिस जीव को जो भी दुःख आता है वह सहता ही तो है। आयगा दुःखतो वहभी गुजर जाएगा। समय आता है, जाता है, जीवको किसी भी प्रकारका उस मरणकालमें भय नहीं रहता है। उसका एक निर्णय बन गया कि मुझेतो जाना ही है, संसारकी रीतिही है। बाह्य पदार्थतो जब जिन्दा थे तब भी मुझसे भिन्न थे, जो मेरा न था वह मेरेसे छूट रहा है। जो मेरा है वह मुझसे छूट नहीं सकता। तो ऐसा अपने आपके स्वरूपमें लगाव है कि जिसके कारण इस जीवको कुछ आकुलता नहीं चलती।

(४) सल्लेखनाधारी द्वारा मित्रस्मरणनामक सल्लेखनातिचारका परिहार—सल्लेखनाका चौथा अतिचार है मित्रस्मरण। मरते समय कुटुम्बीजनोंका, मित्रजनोंका याद करना। कितनी बेहूदी बात है कि मर रहा है, कुछही मिनटमें यह शरीर छूट रहा है पर यह याद कर रहा कि अमुक भाई नहीं आए, उनको बुला देना। अमुक मुन्नेको हमारे पास बैठाल देना, और कोई अगर मुन्नेको छाती पर भी धरे तो क्या उसका कल्याणहो जाएगा? अकल्याण ही हो रहा है। ऐसा विवेकी पुरुष मरणके समय किसीकी याद नहीं करता जिससे कि राग हुआ हो। द्वेष जिससे किया है उसकीतो याद करने लगेगा कि उसको बुलालो क्षमा मांगले, मेरे द्वारा उसको कष्ट हुआ है, मगर जिनसे राग रहा उनकी याद न करेगा। अगर मित्रजन, बंधुजनका स्मरण करते हैं तो वह सल्लेखनाका दोष है। और यही स्मरणका दोष बढ़-बढ़कर इसके सम्यक्त्वको भी बिगाड़ सकता है। क्या प्रयोजन पड़ा है जिनसे राग है उनको बुलानेका। क्या कहना चाहोगे? यह ही कि कुछ प्रेम दिखावोगे, मैं जारहा हूं, कुछ दुःख हीतो बताओगे। इनको छोड़ कर जा रहा हूं। अरे जो ऐसा रोताहो उसका कल्याण कहां रखा है?तो विवेकी सल्लेखनाधारी पुरुष मरण समयमें अपने मित्रोंका स्मरण नहीं करता।

(५) सल्लेखनाधारी द्वारा निदाननामक सल्लेखनातिचारका परिहार—सल्लेखनाका ५वां

अतिचार है निदान। मैं अगली पर्यायमें सेठ बनूँ, देव बनूँ, इस प्रकारकी भावना बनाना निदान है, निदान करनेका कुछ फल नहीं है ठीक। हां यह बात होती है कि जिसके पुण्य विशेष है उसको होनी थी बहुत बड़ी बात और मांग लिया छोटी बात, तो उस छोटीकी भ्रान्तिहो जाती है, पर जितना पुण्य है गांठमें उसके, उतना कोई मांगे तो भी न मिलेगा, उससे अधिक कोई चाहे तो भी न मिलेगा। हां महान फल मिलनेका था लौकिक बातोंमें और उसने अल्प मांग लियातो अल्प मिल जाना उसके लिए बन जाता है। उस निदानसे कोई लाभ नहीं है। जो सम्यग्दृष्टि है उसके ऐसा भाव बनता नहीं हैकि मैं मरकर यह बनूँ, यह बनूँ, उसकी पर्यायमें बुद्धि नहीं अटकती। वह अपने स्वरूपमेंही रमनेका भाव और प्रोग्राम रखता है। तो मर कर मैं धनी बनूँ आदिक वाञ्छा करना वह निदान नामका अतिचार है। सल्लेखनामरणमें इस जीवने पर और परभावोंका त्यागकर केवल अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपका आलम्बन लिया है। जोमैं सहज अपने सत्त्वसे हूं सामान्य ज्ञान प्रतिभासमात्र, उस ही में अनुभव करता मैं यह हूं। यह है महान् पुरुषार्थ। धर्म इसही भावनासे है। अन्यजो बातेंकी जाती हैं सो इसही सिद्धिके लिएकी जाती हैं। अगर इस सहज स्वरूपकी सिद्धिका लाभ नहीं है तो धर्मके जितनेभी कार्य किए जाते हैं पूजाहो, बंदनहो, यात्राहो, जो कुछ भीहो, वे धर्मका रूप नहीं बन पाते। थोड़ा मंद कषाय हो तो पुण्य बंध जाएगा। सो यों समझिए कि पुण्यतो अन्य कार्योंमें भी बंध जाता, किसी भूखेको खिला दिया आदिक कार्योंमें पुण्यही बंधता है कुछ और मंद कषाय हुईतो अन्य धार्मिक कार्योंमें भी तनिक पुण्य अधिक बंध गया, मगर धर्म नहीं मिल पाता है। जिसमें आत्माके स्वरूपका परिचय नहीं है। उस स्वरूपमें ही यह मैं हूं, ऐसी भावना नहीं बनती, न लक्ष्य बनता, उसको धर्मका मार्ग नहीं मिल पाता।

ज्ञानस्वभावकी आराधनाका अन्तिम फल निर्वाण—यह सल्लेखनाधारी पुरुष बाह्य समस्त ग्रन्थोंका त्यागकर याने परिग्रहको त्यागकर एक स्पष्ट ज्ञानमात्र स्वरूपका आलम्बन रखता है। समस्त देहादिकका ममत्व छोड़कर संन्यास धारण कर रहा है। उसको जीनेकी इच्छा, मरनेकी इच्छा, ऐसा अतिचार कहां सम्भव है। यह मरण और नए जन्मका अवसर एक बहुत बड़ा परिवर्तन है और इस आधारमें यदि चित्तमें प्रसन्नता है, आत्मामें समता है, बाहरी पदार्थोंमें ममता नहीं हैतो यह उसके लिए इतना बड़ा उत्सव है कि इससे बढ़कर मेरे लिए कोई उत्सव नहींहो सकता। तो ऐसे सल्लेखना महोत्सवके समय यह सल्लेखनाधारी पुरुष इन ५ अतिचारोंसे रहित होकर चार आराधनाओं में लग रहा है। कोई इच्छा नहीं है, यहही तपश्चरण है। यहही आत्मस्वरूपका निरखना तपश्चरण कहलाता है, यह ही मेरा रत्नत्रय है। ऐसी आराधना सहित यह जीव शरीरसे पयान करता हैतो वह महान ऋद्धिवाला देव बनता है। सो वहां पर भी चूँकि धर्मके संस्कारमें रहकर मरण कियातो देव पर्यायमें भी उस धर्मका संस्कार चलता है जिससे उसका उपयोग भोगोंमें न रमकर जिनेन्द्र भक्तिमें, कल्याण महोत्सवमें, अकृत्रिम चैत्यालयोंकी यात्रामें, वंदनामें अथवा धार्मिक सभावोंमें, तत्त्वचर्चामें उनका समय व्यतीत होता है। इस समय कोई विशिष्ट धर्मसाधना बनाएतो उसको देवगतिमें ही जन्म लेना पड़ेगा, वह जन्मभी अच्छा नहीं है, यह जान रहा है तो भी और क्या गतिहो, पर वहांभी जाकर अप्सराओंमें न रमना, विशेष कोई विकल्प न करना, कोई ऋद्धि आदिककी तृष्णा न जगना ऐसा उसका सद्विचार रहा करता है। सो वहां सागरों

पर्यन्त आरामसे रहता है। अन्तमें आयुका क्षय होनेपर यह मनुष्यभव प्राप्त करता है। सो जैसे यहां देखते हैं किसी बालकको कि वह बड़ा गम्भीर है, बचपनमेंही उसमें अनेक गुण आए हैं तो यह अनुमान होता है कि यह किसी अच्छे पूर्वभवसे आया हुआ जीव है। सो ऐसा वह ज्ञानी मनुष्यभव पाकर वैराग्यसे वासित होकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रामें धर्म साधना करके मोक्षको प्राप्त करता है। तो आखिरी सर्वोत्कृष्ट उपादेय स्थिति है मोक्ष। तो उस मोक्षमें क्या स्थिति होती है, जीव कैसे रहते हैं, उस सबका अब वर्णन करते हैं।

चौथा अधिकार
निःश्रेयस-मोक्षका स्वरूप

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधम्।
निःजिवति पीतधर्मा सर्वेदुःखैरनालीढः ॥ १३० ॥

धर्माचरण वाले भव्यात्मावोंको अभ्युदयपूर्वक मोक्षका लाभ—अपने जीवनमें व्रत, तपश्चरण, संयम करने वाले और मरण समयमें सल्लेखना धारण करने वाले पुरुषके परिणामोंकी निर्मलताके प्रतापसे यह जीव उत्तम कुल भव पाकर मनुष्यभवमें निर्ग्रन्थ व्रत लेकर अन्तस्तत्त्वकी अभेदोपासनाके बलसे मोक्षको प्राप्त होता है। यह सब आत्माके सहजस्वभाव रूप धर्मकी दृष्टिका और उस धर्ममें मग्न होनेका प्रताप है। इस मोक्षमें यह जीव सर्व दुःखोंसे मुक्त होकर आनन्दामृतका पान करता है इसीको कहते हैं निःश्रेयस। श्रेयस मायने कल्याणके हैं और निःका अर्थ है सम्पूर्ण रूपसे। सर्वरूपसे कल्याणमय स्थितिको निःश्रेयस कहते हैं। यह जीव अभ्युदयको प्राप्त होकर निःश्रेयसको प्राप्त होता है। वह अभ्युदय क्या है? उत्तम देवपर्यायमें उत्पन्न होना और वहां असंख्यात वर्षों तक आराममें रहकर धर्मकी प्रीति करके प्रसन्न रहना। स्वर्गोंमें जो दक्षिण दिशाके इन्द्र हैं वे एक भवावतारी होते हैं। एक भव मनुष्यका पाकर मोक्ष जाते हैं। लोकांतिक देव एक भवावतारी होते हैं। पंच अनुत्तरमेंसे चार अनुत्तरके देव दो भवावतारी होते हैं, मनुष्य के दो भव पाकर मोक्ष जाएँगे। सर्वार्थसिद्धिके देव एक भवावतारी होते हैं। श्रावक १६ स्वर्ग तक उत्पन्नहो सकते हैं। मुनिजन सर्वार्थसिद्धि तक उत्पन्न होते हैं। तो यह श्रावक जिसनेकि निर्दोष विधिसे जीवनमें व्रतका पालन किया और अन्त समयमें सर्व ममत्व दूर कर अपने स्वरूपमें स्थिर होता, ऐसा पुरुष मरण करके १६ स्वर्ग तक उत्पन्न हो लेता है। उसमें कौन श्रावक किस स्वर्ग तक जा सकता है यह संहननके अनुसार निर्णय है। जैसे छठे संहनन वाला श्रावक ८वें स्वर्ग तक उत्पन्नहो पाता है। यह संहनन आज है सो आजका श्रावक उत्तम परिणामसे रहाहो और अन्तमें समाधिमरण कियाहो वह ८वें स्वर्ग तक जासकेगा।

सम्यग्दृष्टि पुरुषोंकी देव और मनुष्योंके अभ्युदयको पाकर निर्ग्रन्थ होकर मोक्ष पानेकी रीति—प्रायः ऐसी संख्या अधिक है सिद्ध होने वालोंमें किजो मनुष्यपर्यायसे देव पर्यायमें गए और देव पर्यायसे मनुष्य होकर मोक्ष गए। उनकी संख्या उन सबसे अधिक है जो नरक से आकर मनुष्य होकर मोक्ष गए या तिर्यञ्चसे मनुष्य बनकर मोक्ष गए या मनुष्यसे मनुष्य बनकर मोक्ष गए। इन तीनोंसे संख्या

उनकी अधिक हैजो देव पर्यायसे आकर मनुष्य होकर मोक्ष गए। मोक्ष जाने वाले धर्मप्रेमी जीव ही तो होते हैं। और जिनको धर्ममें रूचि है ऐसे पुरुष देवपर्याय पाएँ और वहांसे चलकर मनुष्य होकर मोक्ष जाए यह हुआ करता है। प्राय: क्योंकि कोईभी सम्यग्दृष्टि व्रती मनुष्य यदि पहिले आयु न बंधी हो तो अन्तमें देवायु बांधकर देवगतिमें जाएगा या देवायु बांध ली हो पहलेतो देवगतिमें जाएगा। सम्यग्दृष्टि मनुष्य भी सम्यक्त्वके रहते सहते आयु बांधेंगे देवायुही बांधेंगे। धर्मप्रेमी आत्मा ही मोक्ष जाते हैं और उनके देव पर्याय पाना प्राय: होता है। सो यहां तकका संकेत दिया है कि जिसने धर्मका आचरण किया है ऐसा धर्मात्मा श्रावक स्वर्गमें महर्द्धिक देव होता है और वहांसे चयकर मनुष्योंमें उत्तम मनुष्य होता है। धनिकहो, राजाहो, ऐसा ऊंचा भव पाकर फिर वहांसे विरक्त होकर संयम अंगीकार करके समाधिबलसे निर्वाण की प्राप्ति करते हैं।

निर्विकार निर्लेप निस्तरंग सिद्ध भगवंतोंकी शाश्वत निःश्रेयसरूपता—वह निःश्रेयस तीर (तट) रहित है अर्थात् वह मोक्षपर्याय कभी मिटेगा क्या? न मिटेगा, उसका किनारा न आएगा। अनन्त काल तकवे सिद्ध अवस्थामें रहेंगे। अब जरा अपने आप पर दया करके अपनी बात निरखेंकि मुझको क्या ऐसाही कर्मसहित रहकर संसारमें जन्म मरण करना है या सारे विकल्प छोड़कर एक आत्मदृष्टि सहित इस तत्त्वज्ञानके बलसे अपनेको निर्मल बनाना है। भव-भवमें नए-नए जीव मिलते हैं। स्त्री, पिता, माता, पुत्रादिकके रूपमें जो असंज्ञी जीव हैं वहांतो यह नाता नहीं चलता, पर संज्ञी जीवोंमें मनुष्य और तिर्यञ्चोंके ये नाते चलते हैं और देवोंमें भी माता पिता पुत्रतो नहीं होते मगर देवांगनाएँ संग रहती हैं। तो हर एक भवमें नए जीव मिले और वहां मरनेकी आदतके कारण उनसे मोह बढ़ाया, अन्तमें वियोग होगा, मरण होगा, फिर दूसरे जीव मिलेंगे। तो नये-नये जीव और प्राणियोंको अपना कुटुम्ब मानकर मोह करनेका कष्ट करते रहना यह क्या इस भगवान आत्माको शोभा देता है? व्यर्थही क्यों बन बनकर दुःखीहो रहा है। आनन्द स्वरूपतो स्वयं है। अपने स्वरूपकी सुध न करके क्रोध, मान, माया, लोभके वश होकर बाह्य पदार्थोंसे राग बढ़ाना, द्वेष करना ऐसी बेकारकी चेष्टाएँ करके दुःखी होते रहनाही पसंद है क्या? अथवा सिद्ध अवस्था प्राप्त कर अनन्तकालके लिए धर्मास्तिकाय आदिक शुद्ध पदार्थोंकी तरह सदैव शुद्ध रहना है। निर्विकार होनेकी शुद्धताको पसंद करें अन्यथा यह जीवन बेकार रहेगा।

सिद्धपना पानेके लिए एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्वके अनुभवकी अनिवार्यता—जो सिद्ध भगवन्तोंकी शुद्धताको पसंद करता है और उसका प्रयत्न चाहता है तो उसे यहां ही निरखना होगा अपनेको कि सर्व चेतन अचेतन पदार्थोंसे निराला हूं। 'केवल अपने सहज ज्ञानस्वरूप हूं', यह बात क्या अपनेमें दृढ़ताके साथ जमी हुई है? यदि नहीं जमी हुई है तो यह बड़े खेदकी बात है। केवल ऊपर धार्मिक बाना रखने से तो कार्य न बनेगा। जैसे कहते हैं कि कागजोंके फूलसे खुशबू नहीं आती ऐसेही इस बनावटसे सच्चाई प्रकट नहीं हो सकेगी। बनावट क्या है? पर्याय बुद्धि होते सन्ते जो कुछभी चेष्टाएँ हैं, मिथ्या भाव हैं। बनावटी पुरुष धर्ममें स्थित नहीं है। श्रावकभी अपने देहको देखकर और कुछ अभिमान रखे, मैं रोज जाप देता हूं, मैं रोज पूजा करता हूं, इतना धर्मका कार्य करता हूं, उपवास

करता हूं। १०-१० दिन तक उपवास कर लेता हूं, भीतर नाता लगा है देहसे और देहको देखकर ही मान रहा कि यह मैं हूं और उस मैंकी बात कर रहा तो क्या वह धर्म मार्गमें स्थित है? नहीं स्थित है।

सहजज्ञानानन्दमय अन्तस्तत्त्वके सत्याग्रहमें आत्मप्रगति—भैया, जो व्रत तपश्चरण आदिककी भी क्रियाएँ हैं उनकोभी यदि कोई हठ पूर्वक पालता है, हठपूर्वक पालनके मायने उन व्रतोंमें एकान्त बुद्धि रखते हैं, ऐसी समितिसे ही चलना है, इसीसे मोक्ष मिलेगा। मैं अपने व्रतोंको निर्दोष पालूँ, रंचभी कमी नहीं रहे ऐसी मन वचन कायकी चेष्टा हो। ऐसा हठ पूर्वक व्रतोंका पालन धर्म मार्गमें नहीं बताया। व्रततो निर्दोष होना चाहिए मगर व्रतोंके पालनके विकल्पकी हठ न होना चाहिए। व्रतोंके पालनेकी विकल्पकी हठ उनके होती है जिनको आत्माके सहज स्वरूपका परिचय नहीं मिला और उस सहज चैतन्य स्वरूपके उपयोग द्वारा अलौकिक आनन्दका अनुभव नहीं जगा उनके केवल व्रतोंमें हठ रहती है, पर जिन्होंने आत्माके सहज चैतन्य स्वभावको जाना है उसकी बारबार दृष्टि करके स्पर्श किया है अलौकिक आनन्द पाया है उस पुरुषके जब मन वचन कायकी चेष्टाएँ होती हैं तो व्रतके अनुसार होती हैं, और उसके ये क्रियाएँ सुगम सहज थोड़े प्रयाससे चलती रहती हैं। ऐसी धर्मदृष्टि पूर्वक व्रत पालनकर मोक्ष मार्गमें बढ़ता है और अज्ञानवश हठपूर्वक द्रव्यव्रतोंका पालन विनय व नम्रताको नहीं आने देता कि जिस नम्रताके कारण यह उपयोग अपने सहज स्वरूपकी ओर नम जाय, अभिमुखहो जाए। जैसे तीव्र गर्मीमें समुद्रका जल भाप बनकर उड़ता है और वह जल भापकी शकंल बनकर आसमानमें डोलता रहता, जिसे लोग कहते हैं बादल। इन बादलोंका डोलते रहना चलता रहता है। बादल चारों दिशावोंमें भ्रमण करते हैं, जब इन बादलोंमें नरमी आती है, वर्षा ऋतु आती हैतो ये बादल नीचे बरस जाते हैं। बरसनेके बाद यह पानी नीचेकी गलीसे चलता हुआ अर्थात् नीचे ढलावसे ढलता हुआ आखिर उसी समुद्रमें मिल जाता है। समुद्रसे भाप उठी और ये बादल उड़ते रहे, गड़गड़ाते रहे, भटकते रहे और जबये नम्र होकर बरसे बहेतो नीचेकी ओर बहकर अन्तमें समुद्रमें ही मिल जाते हैं। ऐसेही हम आप जीवोंका उपयोग इच्छा विषय कषायकी गर्मीके कारण संतप्त होकर अपने ज्ञान समुद्रसे हटकर बाहर डोलता है। गड़गड़ाता है, दुःखी होता है, भटकता रहता है। वह भटकने वाला उपयोग जब कभी नरमी पाए, नम्र बने अपने स्वरूपकी सुध हो तो यह उपयोग बरषकर नीचे आकर अपनी ओर आकर नम्रता और विनयकी गलीसे बहकर इस ही ज्ञान सरोवरमें जब मिल जाता है तो यही कहलाया समाधिभाव। ऐसी उपासनासे यह जीव निर्वाण प्राप्त करता है।

परमसुखाम्बुधिकी दुस्तरता—यह सुखसमुद्र दुस्तर है, जिसको पार करना, तिरना कुछ मुश्किल है, पर एक ज्ञानकुञ्जी मिलने पर कुछ मुश्किल नहीं है। खुद ज्ञानस्वरूप है और खुदका ही ज्ञान न बन पाए यहतो उस जैसा अचम्भा है जैसे पानीमें मछली रहती है और वह प्यासी बनी रहे। यह कितना अन्याय चल रहा है अपने आप परकि ज्ञानस्वरूप होकरभी स्वयंको नहीं जान पा रहे और राग द्वेषवश बाह्य पदार्थोंके जाननेका नाटक कर रहा है। जो भव्य जीव अपने आपके स्वरूपको जानता है, उसहीकी धुन बनाता है, उसहीकी हठ करता है वह पुरुष योग्य तपश्चरण आदिक विधिसे निर्वाणको प्राप्त होता है। आग्रहकी हठहोतो वह अपने आपके सहज स्वरूपकी दृष्टिके लिए हो। अन्य जगहकी हठ, स्वरूपकी

बेसुधी बिल्कुल न बने। जिसको स्वरूपकी सुध है उसकी हठ अपने आपके स्वरूपके लिए होती है। यह निःश्रेयस कठिनतासे करने योग्य है, क्योंकि इसका पार नहीं है फिरभीजो भव्य आत्मा अपने आपके स्वरूपकी अनुभूतिके लिएही कमर कसे हुए रहते हैं, पौरुष शील रहते हैंवे निर्वाणको अवश्य प्राप्त करते हैं। जब हमारे पौरुषसे जिसको भी पौरुष समझ रखा है, जो सोचते हैं उन कामोंको कर डालते हैं। जो पराधीन हैं, जिनपर हमारा अधिकार नहीं है वे कार्य हमारे विचार और परिश्रमसे कैसे हो जाते हैं। यह विषय एक अलग है, पर हां ऐसा योग हो जाता कि इतना परिश्रम किया वहां कार्य बन गया फिर जो स्वाधीन कार्य है उसके ही द्वारा उससे अलग मेरेमें कार्य होता है। इतना सरल स्वाधीन कार्य हम पौरुषसे न कर सकें यह कैसे होगा? अवश्यही कर सकते हैं।

अन्तस्तत्त्वके परिचयके बलसे मोहरागद्वेषोंका प्रक्षय—लोग सोचते हैं कि मोह और राग छोड़ना बड़ा कठिन है किन्तु जिसने मोह राग रहित ज्ञानस्वभाव मात्र निज स्वरूपको पहिचाना है उसका मोह राग छूट जाता है। परिस्थितिवश कभी कोई राग करना पड़ रहा है तो वह कब तक करना पड़ रहा होगा, वहभी खतम होगा ही। जैसे किसी वृक्षको जड़से उखाड़कर गिरा दिया जाय तो उखाड़ दिया जाने पर भी उसके वे पत्ते हरे तो रहते हैं पर कब तक हरे रहेंगे? एक दिन रहलें, दूसरे दिन रहलें, आखिर सूखही जाते हैं, ऐसेही जिस व्रती श्रावकका मोह गल गया है, आत्मानुभव जग गया है, सहज स्वरूपमें रमकर आनन्द पाया है उसको संहनन आदिककी निर्बलताके कारण संगमें रहना पड़ रहा है। गृहस्थीमें रहना पड़ रहा है और वहां कुछ राग होता है तो वह राग कब तक टिकेगा? टिक नहीं सकता।

धर्मधारीके कषायोंके लगावकी असंभवता—धर्म पालनके जितने भी अंग हैं उन सबका मूल है स्वभाव प्रतीतिरूप धर्मपालन। धर्मपालन यह हैकि अपने सहज स्वरूपमें 'यह मैं हूं' इस प्रकारका अनुभव बने। मैं अन्य कुछ नहीं हूं। परमार्थ तत्त्वको देखिए—घरमें रहने वाले माता-पिता, पुत्र-स्त्री वाला अथवा किसी पार्टी वाला मैं नहीं हूं। व्यापारी नहीं, सर्विस वाला नहीं। बालक, वृद्ध, जवान आदिक किसीभी रूप वाला मैं नहीं, मैं गृहस्थ नहीं, मैं त्यागी नहीं, मैं मुनि नहीं, मैं इन किसीभी रूप नहीं हूं। ज्ञानस्वभाव मात्र हूं, यह जिसकी दृष्टि रहती है वह पुरुष किस पर क्रोध करेगा? क्रोध करनेका उसका अब प्रयोजन क्या रहा? जगतके कुछ भी समागम उसके प्रयोजनसे अलगहो गए, वह किस बात पर मान करेगा? किसको मान बताएगा? किसमें बड़ा बनना है? यह सब मायारूप चक्र है? यह मैं आत्मा अपने आपमें अविकार स्वभाव ज्ञानमात्र पदार्थ हूं। उसके स्पर्श बिना, अनुभव बिना, यह उपयोग बाहरमें कहां कहां भटक कर दुःखी होता? और दुःखी हो इतना ही नहीं, न जाने कैसे-कैसे देहोंकी विडम्बना पायी, पेड़ बना, लट केंचुवा बना, चींटी, चींटा, बिच्छू आदि बना, ढंग बिढंगे पशुपक्षी बनेतो यह भगवान आत्माके शोभाकी बात है क्या? यह सब कलंक है। यह देह कलंक है। देहसे पृथक् अंतस्तत्त्वमें जिस भव्यात्माके आत्मबुद्धि हुई है उसके लिए नामका क्या प्रश्न है? भलेही लोकव्यवहारके लिए नाम रखा है, व्यवहार चल रहा है, पर उसको कहींभी मान नामकी बात नहीं है। अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी अनुभूति पाने वाले भव्य जीव मायाचार कैसे कर पाएँगे? जैसे मोहियोंको

यह संदेह होता कि कोई भी मनुष्य मोह रागद्वेष कैसे छोड़ सकता है? ऐसेही यह सन्देह बनाइए कि ज्ञानी पुरुष सहज अंतस्तत्त्वका रुचिया पुरुष कैसे क्रोध मान माया लोभ कर सकता है? मायाचार एक बहुत बड़ा कलंक है। जब तक मायाकी प्रकृति रहती है तब तक धर्मलाभ नहीं मिल सकता। चार कषायोंमें माया कषायको शल्यकी संज्ञादी है। क्रोध मान, और लोभको शल्य नहीं कहा पर मायाको शल्यमें बताया। ज्ञानी पुरुषको माया करनेका कुछभी प्रयोजन नहीं। किसमें मायाचार करना? जगतका कौनसा काम पड़ा है जिस लौकिकके होनेसे, करनेसे आत्माका अभ्युदयहो जाए। जब कुछ प्रयोजन न रहा तो यह मायाचार क्या करेगा? ज्ञानी पुरुषको अन्तः तृष्णाभी नहीं रहती। जिसने देहसे निराला अपनेको अनुभवा है उसको फिर किस विषयकी तृष्णा है? वह इन्द्रिय विषयको चाहताही नहीं है। भलेही जीवन है तो आहार करना पड़ता है। पर ये तृष्णाके रूप नहीं है वह धर्मके रूप हैं। एक पुरुष आहार करके पाप बांधता है और एक पुरुष आहार करके पुण्य बांधता है। जो संयमकी रक्षाके लिए जीवनको आवश्यक जानकर एक जीवन चलानेके लिएही आहार करता है वह पाप नहीं बांधता है, क्योंकि लक्ष्य उसका उत्तम है। और जो रसास्वादके लिए आहार करे वह पाप बांधता है। ज्ञानी विवेकी जीवको लोभ कषायका कोई प्रयोजन नहीं है, सोयह आत्मामें मग्न होकर सर्व दुःखोंसे अछूता होकर निःश्रेयसको प्राप्त करता है।

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यं॥ १३१॥

अपने जीवनमें व्रत पालन करने वाला और अन्त समयमें सल्लेखना धारण करने वाला पुरुष अनेक अभ्युदयोंको प्राप्त कर मोक्षको प्राप्त करता है पूर्व छन्दमें यह बात कही गई थी, उसीके सम्बंधमें यहां यह बतला रहे हैं कि वह निःश्रेयस मायने निर्वाण किस प्रकार का है। उसको विशेष लक्षण पूर्वक बतला रहे हैं। निःश्रेयसका सीधा अर्थ है इष्ट कल्याण मय, जिसमें अपना पूर्ण कल्याण बसाहो उसे कहते हैं निश्रेयस। तो पूर्ण कल्याण निर्वाणमेंही है, इस कारण निःश्रेयसका अर्थ निर्वाण कहा जाता। वह निर्वाण निःश्रेयस है, इष्ट है, पूर्णकल्याणमय है। इस निर्वाणमें अब जन्म लेना न रहा। सबसे कठिन विपत्ति है जन्म धारण करना, जिस विपत्तिकी ओर प्रायः जीवोंकी दृष्टि नहीं हैकि यहीतो दुःख है। जन्म हुआ तो जीवन रहा, जन्मका दुःख, जीवनका दुःख। फिर मरण होगा वह दुःख, फिर इतनेसे छुट्टी नहीं मिलती, फिर जन्म होगा, वहीका वही क्लेश, इस कारण जन्मही सर्व क्लेश है। अब सिद्ध प्रभु जन्मसे रहित हैं, जन्म होताही नहीं है, अरहंत भगवानभी जन्मसे रहित हैं। भलेही अरहंत प्रभुका पंडितपंडितमरण होता है जिसे निर्वाण कहते हैं, पर उसके बाद जन्म नहीं होता। सिद्ध जन्मसे रहित हैं और आगे जन्म होनेका कोई सवालही नहीं है। जीवका जन्म नहीं हुआ करता। जीवतो स्वयं स्वतंत्र परिपूर्ण सत् है, बस नए शरीरमें जीवका पहुंचना इसहीको जन्म कहा करते हैं। सो यह बड़ी विडम्बना है जीव की कि ऐसा परमात्मस्वरूप होकरभी जन्म लेकर यह नाना विडम्बनाओं रूप बन जाता है। संसारके कैसे-कैसे जीव, उनकी कैसी कैसी अवस्थाएँ ये सब विडम्बनाएँ इस जन्मके कारण हैं। सो जन्मसे रहित स्थितिही

निर्वाण है, अन्यथा निर्वाणका कुछ अर्थ नहीं। कुछ लोग बैकुण्ठकी कल्पना करते हैं कि यह जीव तपश्चरण करके कर्मोंसे छूट जाता है, बहुत समय तक छूटा रहता है, उसके बाद संसारमेंही आना पड़ता है। फिरसे कर्म लग जाते हैं, जन्महो जाता है। पर ऐसे जन्मकी जहां शंका है उसे निर्वाण कैसे कहा जा सकता? अथवा नाम धरदें निर्वाणका लेकिन निःश्रेयसतो न रहा, परम कल्याण रूप न रहा। यह तो और मुसीबत रही, किसीसे कहा जाएकि हम तुमको करोड़पति बना देंगे, १०—५ वर्ष बादमेंजो तुम्हारा निजका घर है, जोकुछ तुम्हारे पास दंड कमण्डल है वह सबभी छीन लिया जाएगा। तो ऐसा धनी होनेकी कोई इच्छा करता है क्योंकि हां हां बनादो, १०—५ वर्ष धनिक बनकर देखही लेंगे, पीछे भिखारी बन लेंगे ऐसा कोई नहीं चाहता। तो ऐसा बैकुण्ठकि जहां अनगिनते वर्षों तक रहे, पर उसे जन्म लेना पड़ेतो वह निःश्रेयस नहीं कहला सकता। निःश्रेयस जन्मसे रहित हुआ करता है।

निःश्रेयसकी जरापरिमुक्तता—निःश्रेयसमें जराका क्या काम। जराका अर्थ है बुढ़ापा, और धातुसे अर्थ निकलता है जीर्ण शीर्ण हालत बनना। जहां शरीरही नहीं है वहां जराका क्या प्रश्न? जरातो अरहंत अवस्थामें भी नहीं हुई। कोई मुनिराज बूढ़ेहों और उनको केवलज्ञानहो जाएतो केवलज्ञान होने पर फिरवे बूढ़े न रहेंगे, उनकी हड्डी पसली निकली हुई न रहेंगी। उस पवित्रताका यह प्रताप है कि वह शरीरमनोज्ञ दर्शनीयहो जाएगा अन्यथा अरहंत भगवान मिलें और उनके हड्डी पसली निकलीहों तो यह कुछ अटपटासा लगता है कि ऐसे प्रभुमें भक्ति विशेष कहांसे बनेगी? जैसे मुनियोंके प्रति भक्ति है वही सीमामें रहेगी। ऐसा होताही नहीं है, १२वें गुण स्थानमें जो मुनिराज हैं वहां शुरु सेही शरीरकी निर्दोषता होने लगती है, निगोद जीवोंका जन्म रुकने लगता है, कम होने लगता है, और १२वें गुणस्थानके अन्तमें इस शरीरमें कोई निगोद जीव नहीं रहते और उसके साथ-साथ धातु उपधातुमें मलिनता न रहे यहभी साथ चल रहा है। तो अरहंत होनेके प्रारम्भमें उनका शरीर स्फटिक मणिकी तरह कान्तिमान और छायारहितहो जाता है। सिद्ध भगवान जरासे रहित हैं।

निःश्रेयसकी आमयपरिमुक्तता—प्रभुके रोग नहीं होता। रोग तो अरहंत प्रभुकेभी नहीं है जहांकि शरीर है। फिर सिद्ध भगवानकेतो शरीरही नहीं है, रोग कहांसे आए? रोगादिक होनेका कारण कर्मका उदय है। और कर्मका उदय जब आता है जब बंधें, और ऐसा कर्म तब बंधा जब इसके भाव खराब हुए। तोजो आत्मा अपने भाव खराब करता है उसकेही रोग होता है। भलेही आज पुण्यके उदयमें भावभी खोटे किए जा रहे तो भी रोगादिक नहीं सता रहे, अन्य अभ्युदयभी चल रहे पर वे चलेंगे उतनेही दिन तक जितने दिन तक पूर्वबद्ध कर्म साथ दे रहे। अन्तमें हालत वही होगीजो आज भाव खोटे किएजा रहे हैं। हमारा सबकुछ हमारे भावों पर निर्भर है, कोई बात कुछ समय बाद बनेगी, परजोभी मेरी सृष्टि होती है वह सब मेरे भावोंके अनुसार होता है इसलिए कह लीजिए कि यह आत्मा ईश्वर है, अपनी सृष्टि बनानेमें यह स्वतंत्र है। जीवनमें भाव गंदे न होना चाहिए। चाहे कुछ धन वैभव कमहो जाए, अन्य कुछभी स्थितिहो जाए, मगर भावोंमें निर्मलताही रहना चाहिए। भावोंमें बिगाड़ न आना चाहिए। तोजहां वीतराग निर्विकल्प समाधिका परिणाम रहा मुनिजनोंका, इसही समाधिभावमें अपने

सारे क्षण लगाएँ जिसके प्रतापसे अरहंत अवस्था पायी और अन्तमें सिद्ध अवस्था पायीतो यह शुद्धोपयोग परिणामका फल है। सिद्ध प्रभु आमयसे रहित हैं।

निःश्रेयसकी मरणपरिमुक्तता—सिद्ध भगवान मरणसे रहित हैं। जो अवस्था पायी है सिद्ध प्रभुने वह धर्मादिक द्रव्योंकी तरह शुद्ध अवस्था है। जैसे आकाश अपने आपमें विशुद्ध है उसमें कोई लेप नहीं, विकार नहीं, ऐसेही सिद्ध प्रभुमें कोई लेप नहीं विकार नहीं। केवल एक विज्ञानघन यह आत्मा है जिसकी निरन्तर विशुद्ध ज्ञान परिणतियां चल रही हैं। यहांतो किसीभी वस्तुको जानने चलते हैं तो रागद्वेष इष्ट अनिष्ट भाव उसके साथ जुट जाते हैं। कैसा ही उपवासभी कियाहो, वहां जराभी इच्छा नहीं है खानेकी और न खाएगा, दृढ़ विचार है, पर जहां खुशबू आ रही है, मिठाइयां बन रही हैं, उस बीचसे निकल जाएतो उसका रंचभी भाव नहीं है कि मैं खाऊं, न शुद्ध खानेका है, अशुद्धकी बाततो दूर रही, पर वहांसे निकलने पर मनमें कुछ न कुछ बाततो आती ही है कि अच्छी मिठाई बन रही, बड़ा सुगंध है यों कुछ न कुछ कल्पना जग ही जाती है। और इसीलिए श्रावकोंको बताया है कि आश्रयभूत कारणोंसे वे बिल्कुल अलग रहें। कोई सोचे कि मेरेतो अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत है और अभ्यास तथा सामर्थ्यभी हमारा अच्छा हो गया, अब हमको क्या? कहींभी विचरें? किसीके भी बीचमें रहें, किसीसे भी अधिक बोलचाल बनाएँ, मेरेको क्या दोष? तो चरणानुयोग ऐसी आज्ञा नहीं देता। वह आश्रयभूत कारणोंका परिहार कर दूर रहनेकी आज्ञा देता है और उन कारणोंसे दूर रहकर अपने आपमें फिर ज्ञानस्वरूपकी साधना बनाइए। तो ऐसेही ऊंचे तपश्चरणके प्रभावसे अरहंत होकर सिद्ध अवस्था पायी है तो वह बिल्कुल आकाशकी तरह विशुद्ध अपने ज्ञानकी वर्तनामें ही बना रहता है।

सिद्ध भगवंतोंके विकृतिके लेशकी भी अत्यन्त असंभवता—भैया ! यहांतो इस बात पर आश्चर्य होता कि कैसे ज्ञान शुद्ध बन जाता और निर्विकार ज्ञातादृष्टा रह जाता? वहां इस बात पर आश्चर्य होगा कि सिद्ध प्रभुके ज्ञानमें रंचभी तरंग नहीं आती। यहांतो इतनी तरंगोंका, विकल्पोंका ढेर लगा रखा है वहां इसकी रेखा तकभी नहीं है। आश्चर्यकी क्या बात? जबकोई एक द्रव्य अकेलाही रह गया तो अब उस एकाकी द्रव्यमें विकल्पकी रंचभी गुंजाइश नहीं। हां केवल परमाणु द्रव्य है सो वह अकेला रह जाएगा तो भी उसका अन्य परमाणुवोंसे बंधहो सकता, स्कंध बन सकता, आप यह तर्कणा करेंगे कि ऐसा क्यों हुआ। जब अकेलाही परमाणु रह गयातो जैसे जीव जब अकेलाही रह जाता है, इसके साथ कर्म शरीरका सम्बंध नहीं है तो वह तो कभी अशुद्ध नहीं होता। यह परमाणु क्यों अशुद्ध हो जाता? तो उसका कारण यह है कि परमाणुमें अशुद्धता होनेका कारण है परमाणुकेही स्निग्ध रुक्ष गुणका परिणमन। दूसरे पदार्थकी उपाधिहो सम्बंधहो तब वह विकार करेगा ऐसा परमाणुमें नहीं है, किन्तु परमाणुमें अपने आपकी ओरसे ही चिकनापन और रुखेपनकी डिग्रियां खूब बढ़ी हुई रहती हैं। तो जब बँधके योग्य स्निग्ध रुक्ष गुणकी डिग्रियांहो जाएँतो वह बंध जाता है, किन्तु जीवमें रागद्वेष आनेकी खुदमें कला नहीं है कि अपने आपके ही परिणमनसेये रागद्वेष कर रहे उपाधिकी क्या आवश्यकता है? उपाधिके होने परही उस प्रकारका कर्मविपाक होने परही रागद्वेष जगता है और परमाणुमें ऐसा नहीं है कि दूसरे परमाणुको कोई सम्पर्क, लगाव बने, कुछ बनेतो उसमें स्निग्ध रुक्ष

गुणकी डिग्रियोंके परिणमन हों। परमाणुमें स्निग्ध और रुक्ष गुण स्वयं है, शक्ति है और उसका निरन्तर परिणमन है। कभीभी ऐसा न होगा कि किसी परमाणुमें स्निग्ध अथवा रुक्ष गुण रहा ही नहीं, और रहता है तो अर्थ पर्याय चलनेके कारण उसकी डिग्रियांभी चलती हैं, बंधहो जाता है। पर रागद्वेष नामकी बात जीव के स्वभावमें है ही नहीं, औपाधिक थी। उपाधिके दूर होते ही रागद्वेष दूर होते हैं, अब उसको यह कभी जब रागद्वेष न जग सकेंगेतो उपाधि मिलनेका भी अवसर न आएगा। जब उपाधि नहीं है तो रागद्वेष नहीं है ऐसे शुद्ध आत्मा हैं वे सिद्ध प्रभु। उसमें मरणकी सम्भावनाही क्या है? सिद्ध प्रभु मरणसे परिमुक्त हैं।

सिद्ध भगवंतकी शोक और दुःखसे परिमुक्तता—सिद्ध भगवन्तके शोकका कुछ काम नहीं, वे सब शोकसे मुक्त हो गए और दुःखोंसे मुक्त हो गए। शोक और दुःख ये दोनोंही अनिष्ट हैं फिरभी इनमें अन्तर है किसीके दुःखहो और शोक न हो ऐसी ज्ञानकी स्थिति बन सकती है और किसीके शोक हो और दुःख न हो यहभी स्थिति बन सकती है स्थूल रूपसे। बारीकीसेतो जहां दुःख है कोई शोक थोड़ा बहुत होगा। जिसके शोक हैं उसके कोई दुःख होगा। मगर घटना लो, एक तत्त्वज्ञानी मुनिराज जिनके शारीरिक दुःख आया है, कुष्टहो गया है, शस्त्रवेदना आ गई, कितनीही वेदनाएँ आ गयी, दुःखहो गया, मगर उनको शोक रंच नहीं है और एक कोई धनी आदमी जिसके करोड़ोंका वैभव है, शरीरभी स्वस्थ है, अच्छा उसे पथ्य मिलता है, डॉक्टर भी है, उसे दुःख भी नहीं है, मगर भीतर शोक कितना बसाए है। कहीं राजा नाराज न हो जाए, कोई ऐसा कानून न बनादे, यह धन मेरा यों ही न पड़ा रह जाए यों कितनी ही तरहकी शंकाओंमें वह पड़ा हुआ है। दुःख तो उसे कुछ नहीं है। तो शोक और दुःखमें थोड़ा अन्तर है। इसलिए चिन्ता और विषाद ये अलग-अलग दोष बताए गए हैं। सिद्ध प्रभुमें न किसी प्रकारका शोक है और न कोई दुःख है। वह तो एकाकी अपने चैतन्य रससे परिपूर्ण हैं, वहां विकल्पही कुछ नहीं उठते, तो ऐसे शोक और दुःखसे परिमुक्तजो निर्वाण है वही वास्तवमें निःश्रेयस है। निर्वाणमें भयका भी काम नहीं है। जो भयसे परिमुक्त दशा है, वही वास्तवमें निःश्रेयस कहा जाता है। भला अमूर्त आत्मा कर्म और शरीरसे अत्यन्त पृथक् और अपनेमें विशुद्ध ज्ञानकी परिणतियोंमें जगते रहने वाला है अमूर्त आत्मामें भयकी गुंजाइश किस ओरसे है? जैसे कितना ही बड़ा तेज पटाका फोड़ें, बम फोड़ेंतो क्या आकाशमें भय आ जाएगा? नहीं। आकाशमें भय नहीं आता, वह अविचल रहता है, ऐसेही वह अमूर्त आत्मा निर्लेप आत्मा किसी भी परिस्थितिमें याने बाहरी पदार्थ कुछभी परिणमते रहें लेकिन यहां भयका काम नहीं है। तो वे सिद्ध प्रभु भयसे रहित हैं। भय नामकी एक संज्ञा है, उस भय संज्ञाकी दृष्टिसे भयकी संज्ञा ८वें गुण स्थान तक कही गई है। ८वें गुण स्थानके बाद भय किसीभी दृष्टिसे सम्भव नहीं है। जब यहां ९वें गुणस्थान वाले और ऊपरके गुणस्थान वाले मुनिराजजो शरीर सहित हैं धातु उपधातु वाले हैं, जिनके शरीरमें रोगभी सम्भव है उन तकके भी भयका रंच नाम नहीं है। फिर क्षीण मोह हुए बाद भयकी क्या कल्पनाएँ। अरहंतके क्या भय, सिद्ध प्रभुके क्या भय? यह अमूर्त शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहने वाला सिद्ध प्रभु समस्त भयोंसे परिमुक्त है। निर्वाणमें ऐसी निर्भयता, निर्विकारता, निष्कम्पता, अविचलता रहती है। देखो यह है अपना असली धाम जहां पहुंचने पर इस

जीवको शान्ति रहेगी, वह उत्कृष्ट अवस्था, यही है सिद्ध पद। हम अरहंत सिद्ध नाम तो जपें और अरहंत सिद्ध होनेकी भावना चित्तमें न लाएँ तो उस नाम जपनेका अर्थ कितना सा रहा? ये अरहंत सिद्ध ये ही परिपूर्ण आनन्दमय है। यहही उत्कृष्ट दशा है, ऐसाही हमको होना चाहिए। सिद्ध हुए बादही निःश्रेयस कहा जा सकता है कि परमकल्याण इससे प्राप्त हुआ। यह श्रमण शुद्ध आत्मीय आनन्दसे भरपूर है। जहां केवल आत्मउपाधिका और विभावका लेप नहीं, ऐसा निरञ्जन वह केवल अमूर्त आत्मा निरन्तर शुद्ध ज्ञानरूप परिणम रहा है। जहां विकल्प तरंग रंग कुछभी सम्भव नहीं है उस स्थितिमें ही अनन्त आनन्द है, और वह आनन्द क्या है? क्या केवल कहने मात्रके लिए है कि कोई दुःख न रहे यही आनन्द है? क्या दुःखके अभाव रूपही आनन्द कहलाता है? वहांके आनन्दको कौन समझ रहा है यहां? सोबात यह हैकि हम आप लोगोंको कैसे समझाया जायकि प्रभुके अनन्त आनन्द हैं? वह समझायाजा सकता है निराकुल शब्द कहकर। क्योंकि आकुलताओं और दुःखका हम आपको खूब परिचय बना हुआ है, और जानते हैं कि ये बड़ी कठिन वेदनाएँ हैं। और जब यह समझायाकि ये आकुलताएँ वहां रंचभी नहीं रहती हैंतो समझमें आता हैकि हां बहुत अच्छी स्थितिमें है अरहंत और सिद्ध, मगर इतना नहीं है कि उनके कष्ट नहीं है, आकुलता नहीं हैं सोही बातहो, वेतो हैं ही पूर्ण, मगर परम आह्लाद रूप परिणमन निरन्तर बना हुआ है। अब वह परम आह्लाद कैसा है, वह आह्लाद पाए बिना स्पष्ट रूपसे समझमें नहीं आ सकता। अनुमान किया जाता है, प्रमाणसे समझा जाता है मगर परम आह्लाद सिद्ध भगवन्तका, प्रभुका क्या है, इसके बतानेके लिए कोषमें कोई शब्द नहीं है। सही ढंगसेतो हम आप एक रोजके खानेमें आने वाली मिठाइयोंका स्वादभी दूसरेको नहीं बता सकते, पर वहां इलाज है दूसरेको समझाने का कि रसगुल्लेका कैसा स्वाद होता है? तो बहुत देर तक दिमाग लड़ानेसे क्या फायदा? एक रसगुल्ला उसके मुखमें खिला दीजिए, बस वह कह उठेगा कि हां हम समझ गए कि ऐसा मीठा होता है। तो सिद्ध प्रभुके जो आनन्द हैं उस आनन्दको जो अनुभव करता वह बोल नहीं सकता, जो बोलता है उसको आनन्दका पता नहीं है। तो प्रभुके आनन्दकी महिमा कौन कह सकता है? हम आपका जीवन तबही सफल है जब सांसारिक विषयोंसे अपना उपयोग हटाएँ और इसकी धुन बनायें कि मुझे तो सब लेपो से रहित होकर अरहंत सिद्धकी तरह निर्दोष केवल अकेला रहना है, दूसरा और कोई प्रोग्राम नहीं है। यही भावना इस जीवनमें बनाइए और बढ़ाइये, वह इस जीवनकी एक अलौकिक देन होगी, अन्यथा जैसे अनेक जन्म पाए इसी तरह यह जन्मभी बेकार चला जाएगा।

विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः।
निरतिशया निरवद्ययो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम्॥ १३२॥

आत्मविकासका मूल सहज परमात्मतत्त्वकी उपासना—अपने जीवनमें सम्यक् श्रद्धा सहित, तत्त्वज्ञानकी आराधना सहित जिसने सदाचारका निर्दोष पालन किया है वह पुरुष निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर समाधि बलसे निःश्रेयसको प्राप्त करता है। उस निःश्रेयसके पात्रके सम्बन्धमें यहां प्रतिपादन किया है। यह भव्य आत्मा जिसने एकत्वविभक्त कारण समयसारका अभेद अनुभव किया वह पुरुष कर्मोंका

विध्वंस करके निर्वाणको प्राप्त होता है। जिस परमात्माकी आराधनासे मुक्ति प्राप्त होती है वह परमात्मा कहीं बाहर नहीं है। जो परमात्मा हुए हैं, जो बाहर अवस्थित हैं उन परमात्माकी आराधनासे दो लाभ मिलते हैं। एकतो उस शुद्धोपयोगकी आराधना जिसके बाद शुद्धोपयोग बनता है। दूसरा लाभ यह है जोकि उस प्रथम लाभसे ही सम्बंधित है कि प्रभुके जब उन शुद्ध गुणोंका स्मरण होता है तो वह परिणमन इतना विशुद्ध है कि स्वभावके पूर्ण अनुकूल है वे और इस अनुकूलताके कारण प्रभुके शुद्ध गुणोंका स्मरण करके स्वभावमें आनेमें सुगमता रहती है। आत्माका अनादि अनन्त अहेतुक असाधारणचैतन्य स्वभाव कारण समयसार है। यही स्वभाव सहज परमात्मतत्त्व है, इसकी अभेद आराधना जिसके बनी है वहही कर्मोंका विध्वंस कर निर्वाणको प्राप्त होता है, तो ऐसा निःश्रेयस बन कर वे किस तरह रह रहे है निर्वाणमें, उनको इस रहनेकी विधिका विशेषण देकर वर्णन किया गया है।

अनन्तज्ञानयुक्त परमात्माका निःश्रेयसमें आवास—यह पवित्र आत्मा अनन्त ज्ञानसे युक्त है, जिस ज्ञानका अन्त न आए उसेभी अनन्त कहते हैं, जो ज्ञान अनन्त श्रेयोंसे ज्ञात है उसेभी अनन्त कहते हैं। ऐसी अनन्त ज्ञानसे युक्त होते हुए निःश्रेयसमें बसते हैं। ज्ञानका स्वभाव जानना है। सामने वाले पदार्थको जाने यह ज्ञान का स्वभाव नहीं है या इन्द्रियके द्वारा पदार्थको जाने यह ज्ञानका स्वभाव नहीं है, या वर्तमानमें अवस्थित पदार्थोंको जाने, यह ज्ञानका स्वभाव नहीं है। किन्तु जगतमें जोभी सत् है वह सब ज्ञानमें आजाय, इस प्रकारके ज्ञानकी वृत्ति होती है। जो लोग अभिमुखताकी दृष्टि रखकर सोचते हों कि जो सामने हो वही तो ज्ञानमें आएगा सो यह सामने आएका ज्ञान करनेकी हम आपको जो विवशता बनी है वह शरीर दीवालके होने के कारण बनी है। अगर यह शरीर रूप दीवाल न हो तो खिड़कियोंसे जाननेकी फिर क्या जरुरत है? ये इन्द्रियां तो खिड़कियां हैं। जहां दीवाल नहीं है, आवरण नहीं है, शरीर नहीं है उस अमूर्त आत्माको तो चारों ओर और खुदमें भीतरमें सब कुछ सामनाही सामना है। जिसके मुख है उसका सामना मुखकी दिशासे है, और जिसके मुख नहीं है उसका सामना सर्व दिशावोंमें है। जो सामना बोलें उनके लिए कहाजा रहा है। ज्ञान है, जाननेका स्वभाव है, अपने स्वभावसे वह जानता है, और ज्ञेय है, उनका स्वभाव है प्रमेयपना सो अपने ही स्वरसतः वह प्रमेय हो जाता है। ऐसा ज्ञेय ज्ञायक सम्बंध होनेके कारण प्रभु अनन्त ज्ञानी हैं। ऐसा अनन्त ज्ञानरूप वर्तते हुए निःश्रेयसमें वे शाश्वत रहा करते हैं।

अनन्त दर्शन सम्पन्न परमात्माका निःश्रेयसमें आवास—ये सिद्ध प्रभु अनन्त दर्शनवान हैं, अनन्त दर्शनकी भूमिका अनन्त ज्ञानने बना दी अर्थात् अनन्त ज्ञानके द्वारा जो कुछ ज्ञेयहो रहा है ऐसे ज्ञेयको जाननहार आत्माका प्रतिभास होना अनन्तदर्शन है। दर्शनमें किसी पदार्थका प्रतिभास नहीं होता, क्योंकि पदार्थका प्रतिभास होनातो ज्ञान है पर पदार्थ जहां प्रतिभासित हो रहे हैं ऐसे प्रतिभास करने वाले आत्माको प्रतिभास कर लेना दर्शन है। जैसे कोई पुरुष केवल दर्पणको ही देखता है और बात सारी बता देता है कि पीछे कहां क्या हो रहा है। जैसे मानों कुछ बालक लोग उछल कूद रहे हैं तो दर्पणमें देखकर उस सबका प्रतिभास कर लेते हैं। उसने उन पदार्थोंको नहीं जाना, वहतो केवल दर्पणको ही प्रतिभास रहा, मगर उन सबका फोटो रूप परिणमे हुए दर्पणको प्रतिभासे तो उसमें सबका प्रतिभास

आ गया, ऐसेही अनन्त ज्ञेय पदार्थोंको जानने वाले इस परमात्माको जिसने प्रतिभासा उसीकातो वह अनन्त दर्शन कहलाता है। ऐसे अनन्तदर्शनसे युक्त भगवन्त निरन्तर अब निःश्रेयसमें ही बसा करते हैं। देखिए—प्रभुमूर्तिके दर्शन करके एक बारतो चित्तमें यह आवाज उठ जाना चाहिए कि आनन्द है तो इस दशामें है इसके सिवाय अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं है, ऐसा अगर चित्तमें आयगा तो आपको बाह्य समागमोंसे सहज विरक्ति होगी और आनन्दधाम निज सहज परमात्मतत्त्वके ध्यानकी धुन बनेगी।

अनन्तशक्ति सम्पन्न परमात्माका निःश्रेयसमें आवास—ये पवित्र आत्मा अनन्त शक्तियोंसे युक्त होते हुए निःश्रेयसमें बसते हैं, प्रभुमें अनन्त शक्ति क्या है? क्यावे इस जगतकी सृष्टि करते हैं? क्यावे जिसे चाहे उस को उठाकर फेंक दिया करते हैं? क्या अनन्त शक्ति है जिससे बताया जाता कि उनकी शक्तिका अन्तही नहीं आता? उनकी अनन्त शक्ति क्या है सो सुनो—उनका ज्ञान अनन्त ज्ञान है तो अनन्त ज्ञानको बनाए रहनेका जो सामर्थ्य है वह काम क्या छोटे मोटे सामर्थ्य द्वारा बन जाएगा? जहां अनन्त शक्ति प्रकट है वहांही तो अनन्त ज्ञानका विलास चलेगा। अनन्त गुण डटे रहें, उन गुणोंमें कमी न आए, उनमें विकार न बने, वे सही ढंगसे बने रहें सदैव, ऐसा होने के लिए अनन्त सामर्थ्य चाहिए वही अनन्त सामर्थ्य है। यद्यपि सब कुछ प्रभुमें अखण्ड रूपसे है। वहां भेद नहीं पड़े हैं, पर्याय एक है, पर उस पर्यायका भेद करें समझनेके लिएतो गुणका सहारा लेकरही किया जा सकेगा। और उस भेद दृष्टिसे यह सब ज्ञात हो रहा है। प्रभुमें अनन्त शक्ति है, भला जब यहांही शरीरके मैलको डॉटनेके लिए सामर्थ्यकी जरुरत है। तो जब एक नाक वगैरहके डाटनेके लिए शक्तिकी आवश्यकता समझी जा रही है तब फिर क्या विकासको डाटे रहने वाली शक्तिकी आवश्यकता नहीं होती? अनन्त विकास निरन्तर चल रहा है, यह सब अनन्त बलका महात्म्य है। प्रभुके अनन्त बलका यह अर्थ नहीं हैकि वह परपदार्थोंमें कुछभी फेर फार बदल परिणति जो चाहे करता रहे। प्रभु वीतराग हैं, वे किसीका न भला करने आते, न बुरा करने आते। वह शुद्ध द्रव्य अपने आपके स्वरूपमें निरन्तर शुद्धतासे परिणमते रहते हैं, तो अनन्त शक्तियोंसे युक्त आत्मा सुख पूर्वक, शान्तिपूर्वक निर्वाणमें बसे रहा करते हैं।

परमार्थ-स्वास्थ्य सम्पन्न परमात्माका निःश्रेयसमें आवास—यह आत्मा स्वास्थ्यसे युक्त है। स्वास्थ्य मायने स्वस्मिन तिष्ठति इति स्वस्थः स्वस्थस्यभावः स्वास्थ्यं। अपने आपमें ठहरनेका नाम है स्वस्थ। स्वस्थ के भावका नाम है स्वास्थ्य, अपने आपके स्वरूपमें स्थित बने रहनेको स्वास्थ्य कहते हैं। शरीर कैसाही निरोगहो, बलवानहो, उसे कोई माने कि मैं स्वस्थ हूं तो उसका बहुत बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य है। उसमें भ्रम आया, मिथ्यात्व आया, मोह आया, कितनी गड़बड़ी आयी आत्मामें, तो इतने विकारमें लदे हुए पुरुषको स्वस्थ कहेंगे क्या? वहतो अधिक बिगड़ा है। उसके आध्यात्मिक रोग इतना बड़ा प्रबल लगा हुआ है जो शरीरको निरखकर कल्पना करता है कि मैंतो बड़ा स्वस्थ हूं। जब लोग आपसमें मिलते हैंतो एक दूसरेसे पूछते हैं कि भाई आपका स्वास्थ्य कैसा है? तो लोग तुरन्त उसका उत्तर यह देतेकि मेरा स्वास्थ्य बहुत ठीक है। पर स्वास्थ्यकाजो सही अर्थ है उस दृष्टिसे निहारें तो ये दोनों पागलोंकी जैसी बातें चल रही हैं।

रुढ़ घटनाओंका अतिपूर्व अध्यात्मवर्तन—आध्यात्मिक आनन्दकी बातोंको मोही जीवने अपने

शरीर पर लगाकर घांटत कर दिया। कोई समयथा ऐसाकि लक्ष्मीका अर्थ ज्ञान रहता था, ज्ञान सिवाय और किसीका नाम लक्ष्मी होताही नहीं, क्योंकि लक्ष्य, लक्षण, लक्ष्मीये सब एकही प्रकारके शब्द हैं। तोमेरा लक्षण क्या याने मेरी लक्ष्मी क्या? यह ज्ञान, आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप, उसकी दृष्टि और इस ज्ञान लक्षणका ही महत्त्व है यहकि आनन्ददायक है और इसीका ही प्रतिभास वैभववान कहलाता है और इसकी ही सेवामें आनन्द जगता है। इतनी बातें लोग जानते रहे पहले पर जैसे-जैसे समय गुजरा लोगोंके विचार बदले, विषय कषायकी ओर बुद्धि आने लगीतो इतना ख्यालथाकि लक्ष्मी बहुत आनन्द देने वाली होती है, मनोरथ सिद्ध करने वाली होती, है, यह बात सुनते आयेथेना। ज्ञानको लक्ष्मी जानकर इतना सुननातो रह गया और ज्ञान यह सबसे हट गया। चूँकि विषयोंमें प्रीति हैतो उसका साधन है यह बाह्य पदार्थ, धन दौलत, तो अब एक आनन्द देने वाली चीज यह धन दौलतही लक्ष्मी बन गई, ऐसा कल्पनामें आया। ऐसी कितनीही घटनाएं मानों पहले चित्रोंके रूपमें एक अध्यात्मतत्त्वको समझानेके लिए चलती थीं। उनकी दृष्टि हटी और लौकिक रूपमें लेलीं गई। गणेशकी मूर्ति पहले बनायी जाती थी स्याद्वाद अनेकान्तका दर्शन करनेके लिए। जिस स्याद्वादकी मूर्ति है गणेश। चूहे पर विराजे और धड़में जो हाथीका मुख फिटहो गया यहहै अभेदनयका, निश्चयनयका प्रतीक याने अभेदमें ऐसा बढ़ना चाहिए, अभेददृष्टिसे वस्तुको ऐसा परखना चाहिए कि जहां भेद कुछ न रहे, एक ही दृष्टिमें रहे, जैसेकि धड़से हाथीका मस्तक एकमेकहो गया, फिटहो गया, कहीं धार तकभी नहीं दिखती। और भेदनयसे वस्तुके गुण, पर्याय, अविभाग प्रतिच्छेद, रस इन सबका ऐसा विश्लेषण करना चाहिए, ऐसा न्यारा-न्यारा ज्ञान प्रकाशमें लाना चाहिए जैसेकि चूहेकी आदत होती हैकि कागजको या कपड़ेकोया किसी चीजको वह कुतरता हैतो ऐसा कुतरता है, इतने छोटे-छोटे टुकड़े कर देता हैकि आपको कतरनीसे कतरना कठिनहो जाए। वह चूहा व्यवहार भेदनयका प्रतीक है। भेदनयसे इस तरहसे अंश कर करके पदार्थोंको समझें। यह स्याद्वादका प्रतीक किन्ही ज्ञानियों ने बना रखा था। अब स्याद्वाद अनेकान्तये सब बातेंतो ओझलहो जाती हैं और चूँकि उस मुद्राकी महिमा चल रही थीतो आज वही बढ़-बढ़कर देवताके रूपमें महिमावान माना जाने लगा।

वीतरागताभय परमस्वास्थ्य सम्पन्न परमात्माका निःश्रेयसमें आवास—प्रकरण यह कहाजा रहाकि वह परमात्मा स्वास्थ्यसे युक्त है। स्वास्थ्यका अर्थ है ज्ञान-ज्ञानमें वर्ते। रागद्वेष जहां रंचभी न आयें, विकार न रहें उसे कहते हैं स्वास्थ्य। जैसे देहमें रोगआ जाएतो लोग कहने लगतेकि हमारा स्वास्थ्य बिगड़ गया ऐसेही आत्मामें रागद्वेषकी वेदना अगर आयीतो उससे कहोकि स्वास्थ्य बिगड़ गया। प्रभुका अनन्त स्वास्थ्य है, रागद्वेषसे बिल्कुल अतीत हैं। ऐसी वीतरागतासे युक्त होते हुए परमात्मा मोक्षमें अनन्त सुखको अनुभव रहे।

ये प्रभु आह्लादसे युक्त हैं। आह्लाद आनन्द एकही बात है। शब्दसे आह्लादका अर्थ हैकि चारों ओरसे आनन्द। आह्लाद का यह अर्थ हैकि प्रकृष्ट रूपसे पूर्ण सीमा पार करता हुआ आनन्द। अर्थात् अनन्त आनन्दसे युक्त हैं प्रभु। आनन्द कहते किसे हैं? चारों ओरसे नन्द रहना। आका अर्थ है चारों ओरसे, नन्दका अर्थ है समृद्धिशाली रहना। लोग आनन्दका अर्थ सुख करने लगे, क्योंकि जीवोंको

इन्द्रिय सुखकाहीतो परिचय है पर वह आनन्द नहीं कहलाता। जहां तरंग उठें, जहां ज्ञानादिककी कमी आए, विकास रुकाहो उसे आनन्दनहीं कह सकते। नंद शब्द बना है टुनदि धातुसे। टुका लोपहो जाता है और नका आगमहो जाता बीचमें जिससे नंद शब्द बनता है, जिसका अर्थ है समृद्धिशाली होना। चारों ओरसे अनन्त समृद्धिशाली होनेको आनन्द कहते हैं। जिस आनन्दमें आह्लाद भरा है, आह्लाद भरा है पूर्ण निराकुलतामें। ऐसे अनन्त आह्लादसे युक्त प्रभु निःश्रेयसमें सुख पूर्वक रहते हैं।

समाधिमरणका माहात्म्य और आत्माके सच्चे मित्रका परीक्षण—अनन्तानन्द सम्पन्न निःश्रेयसता प्राप्त करना यह सब समाधिमरणका परिणाम है। जिसका विधिपूर्वक सम्बंध सहित मरणहो जाए उससे बढ़कर ऊंचा भवितव्य किसका कहा जाए? जीवनमें अनन्त बातें काम आती हैं, अनेक् सुख मिलते हैं। बड़े वैभवका मौज लूटते हैं, लोगोंमें सम्मान प्राप्त करते हैं। अनेक प्रकारके राजा महाराजावोंका नामजो पूजा जाता है ऐसे-ऐसे बड़े-बड़े ठाठभी समाधिमरणके ठाठके आगे तुच्छ चीज हैं। जिनको अपने मित्रपर, अपने माता-पिता पर, अपने कुटुम्बीजनों पर वास्तविक प्रेम उमड़ा होतो उनको समाधि मरण का ही वातावरण बनाए रखना चाहिए। ऐसा नहीं कि मरते समय जैसे कोई क्रूर पुरुष किसी जीवका वध करे या मानो डाकुवोंने किसी पुरुषको मार डालातो वह मर गया पर यह ख्याल करकेकि कहीं इसके थोड़ी बहुत श्वास अभी चलतो नहीं रहीवे पुनः लौटकर उसे मसल-मसल कर मार डालते ऐस ही घरके लोग यदि मरने वालेके सामने रागकी, ममताकी बात करेंतो समझलोकि वे उसके लिए बहुत बुरा कर रहे। अब उसके मरते समय शायद कुटुम्बीजन ऐसा सोचतेहोंकि कहीं थोड़ी बहुत अभी श्वांसतो नहीं चल रही याने कुछ विशुद्धि तो नहीं हो रही, विशुद्धि यदि चल रहीतो मानोंवे उसे रागमोह रूपी शस्त्रसे मसल मसलकर मार रहे हैं। वहभी चैतन्य प्राणका घात होनेसे हत्या करने जैसा काम है। यद्यपि कुटुम्बीजन उसके साथ ऐसी क्रूरताका भाव करकेतो नहीं मारते मगर राग मोह भरी बातें करके कामतो कर रहे हैं विकट हत्यारे जैसाही। तो जिन्होंने निर्वाण पाया है उनका वह सब समाधिमरणका माहात्म्य है। कोई तत्काल कोई निकट भवोंमें ऐसे समाधिबलसे मुक्तिको प्राप्त करता है।

अनन्ततृप्तिसम्पन्न परमात्माका निःश्रेयसमें आवास—प्रभु तृप्तिसे युक्त हैं बताओ वह तृप्ति कहां मिलेगी? इन्द्रिय सुखमें मिलेगीया मनके सुखमें मिलेगी, यावैभवमें मिलेगी, याकुटुम्बमें मिलेगी? क्या खूब खाते-खाते तृप्ति मिल जाएगी? नहीं। खूब खाते जाइये, खानेमें काम करने का अन्त न आ पाएगा। और उसका प्रमाण हैकि अनादिकालसे अब हम खूब खाते आये पर तृप्तितो न मिल सकी। अरे वह तृप्ति बाहरमें कहीं न मिलेगी। वहतो ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञानहीहो, यह स्थिति बने तो तृप्ति मिलती है। अन्य स्थितिमें तृप्ति नहीं मिल सकती। कहां तृप्ति मिलेगी? विषयोंकी इच्छा दूर होगीतो तृप्ति मिलेगी, विषयोंके सेवनसे तृप्ति नहीं मिल सकती। अब कितनी उल्टी बात चल रही है। लोग इसी ख्यालमें हैंकि विषयोंके भोगनेमें तृप्ति मिलेगी, पर जैसे ईंधन मिलते रहनेसे अग्नि कभी तृप्त नहीं होती बल्कि आगकी तृष्णा बढ़ती जाती है, अग्निकी वृद्धि होतीही रहती है, ऐसेही ईंधनके समान हैंये सब विषय साधन। इन विषय साधनोंके संयोगमें और इनमें अपने दिलको बहलानेमें यह मोही तृप्तिके

स्वप्न देख रहा है। उससे तृप्ति न होगी किन्तु तृष्णा ही बढ़ेगी और उन विषयोंकी वाञ्छा दूर करदी जायतो तृप्तिहो जाएगी। ऐसी तृप्तिसे युक्त प्रभु मोक्षमें बड़े आरामपूर्वक रहते हैं।

सर्वशुद्धि सम्पन्न परमात्माका निःश्रेयसमें आवास—व्रतोंका निर्दोष पालन करके अन्त समयमें समताभाव पूर्वक आयुक्षय करने वाला पुरुष उसी भवमें अथवा कुछ एक भव बाद मनुष्यभव पाकर मोक्ष जाता है इसही विधिसे मोक्ष जाने वाले। आत्मा सिद्ध अवस्थामें किस प्रकार रहता है उसका वर्णन चल रहा है, वह परमात्मा द्रव्यकर्मसे रहित है। भावकर्मसे रहिततो पहलेही हो गया था अरहंत अवस्थामें, अब द्रव्यकर्म और नो कर्म इनसेभी रहितहो गए, केवल आत्मा रहा अमूर्त आकाशवत् निर्लेप निरञ्जन केवल ज्ञाताद्रष्टा ऐसे शुद्ध एकत्वकी स्थितिमेंवे सिद्ध भगवान अनन्त काल तक इसही स्थितिमें रहेंगे, और इस स्थितिमें रहकर आगे कभीभी रंचमात्र विकारको प्राप्त नहीं होते। विकारजो पहलेहो रहा था संसार दशामें वह उपाधिका निमित्त पाकरहो रहा था। जब निरुपाधिहो गए तब धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आकाशद्रव्यकी भांति पूर्ण शुद्ध परिणमन करने वाले हुएतो ऐसी शुद्धिको प्राप्त हैं। ऐसे प्रभु गुणस्मरण करने वाले पुरुष शीघ्रही सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूपका अनुभव कर पाते हैं, जिस अनुभवके आधारसे विकास होता रहता है। आज हम आप अशुद्ध दशामें हैं औरजो शुद्ध दशामें है ऐसे प्रभु हमारा कुछ करते नहीं है। हमको तारदें प्रभु, हमको कर्मसे रहित कर दें ऐसा प्रभु नहीं करते। वेतो समस्त पदार्थोंके जाननहार रहते हुए अनन्त आनन्दमें तृप्त रहते हैं। शुद्ध जीवद्रव्यकी यही विशेषता है। तोअब हम इस आधारसे अपना उत्थान कर सकते हैं, जोशुद्ध हैं, परमात्मा हैंवेतो अपने आनन्दमें मग्न हैं, वे मेरा परिणमन नहीं करते हैं, फिर हमारा शुद्ध परिणमन बने कैसे ?तो उसका उपाय यहही हैकि हम अपने आत्माके अन्तः प्रकाशमान सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूपका आश्रयलें और इसका आश्रय करनेके लिए सिद्ध भगवन्तके स्वरूपका हम स्मरण करेंगे, उनकी पर्याय आत्म स्वभावके साथ एकमेक हुई है, जो सहज स्वभाव है वैसाही वहां विकास है। तो प्रभुके विकासको निरखकर हम आसानीसे स्वभावकी दृष्टिमेंआ सकते हैं और इसीलिए भगवन्तके गुणस्मरण पूजाका कर्त्तव्य बताया है। तोवे प्रभु उतना शुद्ध हैं जैसाकि सहज स्वभाव है उसहीके अनुरूप उनका विकास है। ऐसी आत्यंतिक शुद्धि सहित प्रभु मोक्षमें अनन्त आनन्द सहित विराजते हैं।

निःश्रेयसको प्राप्त भगवंतोंकी निरतिशयता व' निरुपाधिता—ये सिद्ध प्रभु निरतिशय हैं, निरतिशयके दो अर्थ हैं, निर्का अर्थ है निःशेष याने समस्त जगतमें जितना अतिशय हो सकता है उन सब अतिशयोंके ऊपर परिपूर्ण अलौकिक अतिशयसे युक्त है दूसरा अर्थ यह है कि सिद्ध भगवानमें परस्पर कोई किसीका विशेष अतिशय नहीं है। अर्थात् एक सिद्धकी अपेक्षा दूसरेमें कोई महिमा बढ़ीहो, अतिशय बढ़ाहोसो बात नहीं है। तो ऐसे निरतिशय सिद्ध भगवन्त मोक्षमें आनन्दपूर्वक परिणमन कर रहे हैं। ये प्रभु निरुपाधि हैं। सिद्ध हुएतो अब इनका कभी अन्त नहीं आता है अनन्त काल तक सिद्ध दशाही रहती है। जीव एकबार शुद्ध होने पर फिर कभी अशुद्ध नहीं होता, उसका कारण यह हैकि जब जीव शुद्ध हुआ है तब यह अकेलाहीतो रहा। अब इसके साथ द्रव्यकर्म नहीं, भावकर्म नहीं, शरीरभी नहीं है, केवल एक विशुद्ध आत्मा मात्र है। सो आत्मामें कोई गुण ऐसा नहीं हैजो हमारे बंधका कारणहो,

विकारका कारणहो जिससेकि यह फिरसे रागीद्वेषी बने। यद्यपि जीवमें योग्यता है ऐसीकि कर्मके उदयका निमित्त पाकर यह रागीद्वेषी बन जाता है, मगर अशुद्ध पर्यायमें ही ऐसी योग्यता है। जीवद्रव्यके द्रव्यमें योग्यता नहीं है। यदि अशुद्धपर्याय जीव हैतो द्रव्य कर्मका निमित्त पाकर वैभाविकी शक्ति रागी द्वेषी बनती है। जैसे एक परमाणुमें जल भरनेकी शक्ति नहीं है, पर अनेक परमाणु लेकर मिट्टी बनाकर घड़ा बन जाएतो उस घड़ेमें पानी भरनेकी योग्यताआ जाती है, यह है पर्याय-योग्यता। सो जीवमें पर्याय योग्यता है ऐसीकि द्रव्यकर्मका सन्निधान पाकर रागीद्वेषी बने, पर वह अशुद्ध पर्याय-योग्यता सिद्ध प्रभुमें अब है नहीं इस कारण विकार आनेका अब कोई प्रसंग नहीं रहा। अबवे सदा काल निर्विकारही रहेंगे। इस प्रकार व्रती पुरुष निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर निर्दोष साधना करके, निर्विकल्प समाधिके बलसे मोक्षको प्राप्त होता है। उस मोक्षमें किस प्रकार सुख अनुभवते हैं उसका वर्णन इस छंदमें किया गया है।

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः ॥ १३३ ॥

सिद्ध भगवंतोंमें सदाके लिए विकारकी असंभवता—अनन्त कल्पकालभी व्यतीतहो जाएंतो भी मुक्त आत्मावोंके कभीभी विक्रिया नहींआ सकती। चाहे ऐसाभी उपद्रव सामने आएकि जो उपद्रव तीन लोकको भी विचलित करनेमें समर्थहो, ऐसा उत्पातभी हो तबभी मुक्त आत्मावोंमें कभी विकार सम्भव नहीं है। कल्पकाल किसे कहते हैं? उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनोंका जितना समय है उसे कल्पकाल कहा जाता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें कितना समय है, सोयह छह तरहके कालोंसे विदित होता है। पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवां, छठा काल इस क्रमसे चलेतो उसे बोलते हैं अवसर्पिणी काल और छठा, ५वां, चौथा, तीसरा, दूसरा, और पहला इस प्रकारसे काल चलेतो उसे कहते हैं उत्सर्पिणी काल। इन दोनों उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके समयको कल्पकाल कहते हैं।

सुषमासुषमा नामक प्रथमकालकी परिस्थियोंका दिग्दर्शन—पहले कालमें भोगभूमिया जीव होते हैं, जिनकी तीन पल्यकी आयु होती है, जिसमें असंख्याते वर्षआ जाते हैं। तीन दिनमें बहुतही थोड़ीसी क्षुधा होती हैसो छोटे बेर प्रमाण कल्पवृक्षसे उनका आहार प्राप्त होता है और इतनेसेही ये तुष्टहो जाते हैं। ये जुगलीयां उत्पन्न होते हैं बालक बालिका औरयेही परस्पर सुख पूर्वक रहते हैं, वहां व्रतकी प्रक्रिया नहीं होती है। अव्रतीही रहते हैं सब, जिन्दगीभर सुख आरामसे रहते हैं। इस प्रथम कालकी स्थिति है चार कोड़ाकोड़ी सागर। एक करोड़ सागरमें एक करोड़ सागरका गुणा किया जाए, जितना काल लब्धहो उसे कहते हैं कोड़ाकोड़ी सागर। ऐसे चार कोड़ाकोडी सागर प्रमाण प्रथम काल है। एक कोड़ाकोड़ी सागरमें अनगिनते वर्ष होते हैं, जिन्हें उपमा द्वारा बताया गया है। इतने लम्बे कालको उपमा द्वाराही बतायाजा सकता है। और कोई उपाय नहीं हैकि जिससे उस कालकी परखकी जा सके। उपमा इस प्रकारदी गई हैकि मानोंदो हजार कोशका लम्बा चौड़ा गहरा गड्ढाहो और उसमें बहुत कोमल बालके टुकड़े जिनकाकि कतरनीसे दूसरा टुकड़ा न बन सके, उन छोटे-छोटे टुकड़ोंको बड़े विशाल गड्ढेमें ठसाठस भरा जाए, मानो उस पर हाथी फिरा दिया जाए, खूब ठूँसकर भर जाए, अब

उनमेंसे प्रत्येक १०० वर्षमें एक-एक बालका टुकड़ा निकाला जाएतो इस तरहसे जितने कालमें निकलें वह है व्यवहार पल्य। उससे असंख्यात गुना होता है उद्धारपल्य। और उससेभी असंख्यातगुना समय होता है अद्धापल्य। ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यका एक सागर होता है। ऐसे ४ कोड़ाकोड़ी सागर तक उत्तम भोगभूमि रहती है इस भरत क्षेत्रमें। ढाईद्वीपके अन्दर ५ भरत और ५ ऐरावत क्षेत्र हैं उनमें इसी तरहसे क्रम चलता है।

दूसरे और तीसरेकालकी परिस्थितियां—सुषमा सुषमाकालके बाद दूसरा काल आता जिसमें मध्यम भोगभूमि रहती। मनुष्योंकी दो पल्यकी आयु रहती। तीसरे कालमें जघन्य भोगभूमि होती। वहां एक पल्यकी स्थिति रहती जब तीसरे कालका अन्त होता है और कल्पवृक्ष मंदहो जाते हैं, लोगोंको तकलीफ होने लगती है, भोग भूमिके समयमें सिंह हाथी वगैरहभी थे मगर वेभी निकट रहते थे। क्रोध करना, मारना, ये कुछ न चलते थे फिरये जानबूझकर क्रूर होने लगे। चन्द्र सूर्यके दर्शन न होते थे भोगभूमिके समयमें कल्पवृक्षकी ज्योतिके आगे। अब कल्प वृक्षोंकी ज्योति मन्द होनेसे चन्द्र सूर्य दिखने लगे। कल्पवृक्ष भोजन आहार कम देने लगे, यहां लोगोंके भूख बढ़ने लगी तो कल्पवृक्षका बंटवारा चला। इतने लोगोंके लिए इतने क्षेत्रमें कल्पवृक्षोंसे काम करें। चन्द्र सूर्य और सिंहादिकसेजो भय होने लगेतो कुलकरोंने वह भय टालनेका उपदेश दिया, प्रयत्न बताया। धीरे-धीरे कर्मभूमि आने लगीतोवे सब सुख सुविधाएँ विघटने लगीं।

चौथे, पांचवे व छठे कालकी परिस्थितयां व कल्पकालका परिमाण—तीसरी भोगभूमि याने जघन्य भोगभूमिके अन्त में अब लगता चौथा कालतो उसके प्रारम्भमें तीर्थंकरोंकी उत्पत्तिहोती। अब यहांसे कर्मभूमि लगी। कुलकरोंने लोगोंको जिन्दा रहनेके उपाय बताये और खासकर इस भरत क्षेत्रमेंतो ऋषभदेव भगवान हुए। असि मसि कृषि वाणिज्य शिल्प सेवाके षट् कर्मका उपदेश देकर लोगोंको अभय किया। यह सब बतायाथा ऋषभ देवने गृह अवस्थामें। चौथे कालमें निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर मोक्ष जानेका उपदेश चल उठता। चौथे कालमें उत्पन्न हुआ जीव पंचम कालमें भी मोक्ष जाता है, पर पंचमकालमें उत्पन्न हुआ जीव मोक्ष नहीं जाता। आज यह पंचमकाल है, इसके बाद छठा काल आएगा जहां अग्नि, धर्म, ये कुछ न रहेंगे, भोजन रसोई कुछ न रहेगा। मनुष्य होंया पशुहों सब मांस परही जीवित रहेंगे। इतना निकृष्ट काल है। जहां आयु २० वर्षकी रहेगी। एक हाथ प्रमाणके मनुष्य होंगे। जब यह छठा काल पूर्ण होगातो अन्तमें प्रलय होगी भरत क्षेत्रके आर्यखण्डमें। इस प्रलयमें ४९ दिन तक अग्नि वर्षा आदि द्वारा प्रलय होती है, सबका विध्वंस होता। पर कुछ जीव बच जाते जिन्हें देवोंने गुफावोंमें रख कर बचाया। कोई विचारे खुद गुफादिक सुरक्षित स्थानमें पहुंच कर बच जाते। प्रलयके बाद फिर ४९ दिन अच्छी वर्षा होती है। वे बचे हुए जीव निकलने लगते हैं और फिर उनसे आगे संतान होती, संख्या बढ़ने लगती है। अब वह छठा कालहो गया उत्सर्पिणीकालका। इस छठेके बाद पंचम काल आएगा। पंचम कालके बाद चौथा काल आएगा जिससे फिर निर्वाण होना शुरु होगा। उसके बाद तीसरा दूसरा और पहला इस प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालका जितना समय है वह एक कल्पकाल कहलाता है। कितने हुएये सब? २० कोड़ाकोड़ी सागर। पहलेका चार कोड़ा कोड़ी

सागर, दूसरेका ३ कोड़ाकोड़ी सागर, तीसरेका दो कोड़ा कोड़ी सागर, चौथे, ५वें, छठवेंका एक कोड़ा कोड़ी सागर, जिसमें पंचम काल २१ हजार वर्षका है, छठाभी २१ हजार वर्षका है। यों ४२ हजार वर्ष कम करके बाकी सारा एक कोड़ा कोड़ी सागर चौथे कालका होता है। ऐसे २० कोड़ा कोड़ी सागरका एक कल्पकाल और ऐसे अनन्त कल्पकालभी गुजर जाएं और तीन लोकको विचलित कर सकने वाला उपद्रवभी खड़ाहोतोभी मुक्त आत्मावोंमें कभीभी विक्रिया सम्भव नहीं है।

श्री ऋषभदेवसे पहिले अठारह कोड़ाकोड़ी सागर काल तक धर्मतीर्थकी अप्रवृत्ति—एक भजन बोला जाता हैकि १८ कोड़ा कोड़ी सागर व्यतीत हुए बाद धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति हुई। भजनकी टेक है—अठदश कोड़ाकोड़ी सागर सुस्थ काल जब बीत गए। प्रथम तीर्थंकर आदि जिनेश्वर अवतरहि धर्म कृतार्थ भए। जिसका अर्थ हैकि १८ कोड़ा कोड़ी सागर तक धर्मकी प्रवृत्ति यहां नहीं रही, उसके बाद ऋषभदेव भगवानका अवतार हुआ और वहाँ पुनः तीर्थ प्रवृत्ति चलीतो आप उसकी गणना लगाएँकि ऋषभ देव जब उत्पन्न हुए उससे पहले १८ कोड़ा कोड़ी सागर तक धर्म न रहा। वह किस तरह? तो ऋषभ् देव भगवान अवसर्पिणी कालके तीसरे कालके अन्तमें चौथे कालसे कुछ पहले हुएतो उनको पहले कितना समय और गुजरा? तो ऋषभदेवके जन्मके समयसे पहलेदो कोड़ाकोड़ी सागरका तीसरा कालथा। उससे पहले तीन कोड़ाकोड़ी सागरका दूसरा काल था, उससे पहले ४ कोड़ा कोड़ी सागरका पहला काल था, फिर उसके पहले चार कोड़ा कोड़ी सागरका पहला काल था और उससे पहले तीन कोड़ा कोड़ी सागरको दूसरा काल था। उससे पहलेदो कोड़ा कोड़ी सागरका तीसरा काल था। उससे पहले तीर्थंकर हुए थे। इस तरह ९ कोड़ा कोड़ी सागर उत्सर्पिणीके और ९ कोड़ा कोड़ी सागर अवसर्पिणीके ऐसे १८ कोड़ा कोड़ी सागरके कालमें धर्मतीर्थ न था, फिर ऋषभदेवके समय धर्मकी प्रवृत्ति हुई।

ऋषभदेव भगवानकी लोकपूज्यता—आजभी ऋषभदेवको लोग अनेक रूपमें मानते हैं। कोई ब्रह्माके रूपमें, कोई शंकरके रूप में, कोई आदम बाबाके रूपमें और कोई ऋषभदेवके रूपमें मानते हैं। ब्रह्माके रूपमेंतो लोगयों कहने लगेकि भोगभूमियोंके व्यतीत होनेके बाद विकट समस्याका कालआ गया। लोग कैसे खाएँ पियें, जिन्दा रहें, यह एक विकट समस्याआ गयी थी। इस समयजो प्रभुने व्यवस्था बतायीतो वह मानो एक नए जन्मकी तरह, नई सृष्टिकी तरह थीसो उन्हें एक सृष्टिकर्ताके रूपमें माना जाने लगा। धर्मतीर्थकी रचनाभी चलीसोभी स्रष्टा कहलाने लगे। लोग ब्रह्माको चार मुख वाला बताते हैंतो बात यह हैकिवे ऋषभदेव जब समवशरणमें बिराजे थेतो वे चतुर्मुख थे। इन्हीं प्रभुको लोग शंकर या कैलाशपतिके रूपमें मानते हैं। चूँकि कैलाश पर्वतपर उनका बहुत अधिक समय व्यतीत हुआ था और ऋषभदेव कैलाश पर्वतसे मुक्तभी हुए। और सुख देने वाले होनेसे शंकर कहलाए, शं सुखं करोति इति शंकरः। उन्हें कोई आदिम बाबाभी कहते हैं, औरभी एक बात देखनेको मिलतीकि यदि कोई कैलाश पर्वतके निकट पहुंचे और वहांके लोगोंसे पूछेकि किधर है कैलाश पर्वतका रास्ता, बतादो, हम कैलाश पर्वत जाएँगे? तो वहां लोग आश्चर्यसे आकर कहेंगे क्या आदम (आदिम) बाबाके स्थान पर जायेंगे? आदिम कहते हैं उसेजो आदिमें हो। जैसेजो अन्तमेंहोसो अन्तिम ऐसेही जो

आदिमेंहोसों आदिम। तो इतनी प्रसिद्धि क्यों हुईकि वह ऐसी विकट समस्याका समय थाकि लोगोंको कोई मार्गका बोध न थाकि अब हम कैसे जिन्दा रह सकते। तो उस समयकी व्यवस्था ऋषभदेवने गृहावस्थामें बतायी। यद्यपि ऋषभदेव कुलकर न थे। कुलकरतो उनके पिता नाभिराज थे। वे १४वें कुलकर हुए। उससे पहले १३ कुलकर और हुए। उन कुलकरोंका काम थाकि ऐसी विकट समस्या जब आती थी कि किसी समय सूर्य चन्द्र दिखने लगे, किसीके सामने सिंह गुजरने लगे, ऐसी विविध घटनाएँ आयीं, उस समय इन कुलकरोंने इन समस्याओंका समाधान किया।

परमात्मामें विकारकी अत्यन्त असंभवता—यहां बतला यह रहे हैंकि ऐसे कल्पकाल सैकड़ों गुजर जाएँ और बड़े-बड़े उत्पातभी हो जाएँतोभी सिद्ध प्रभुके कभी विकार सम्भव नहीं है। अबतो उनकी स्थिति धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्यकी तरह विशुद्ध स्थिति है। यद्यपि परिणमन बंद नहीं हुआ है। परिणमन करनातो वस्तुका स्वभाव है, प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमता रहता है, और इस तरह धर्मादिक द्रव्यभी निरन्तर परिणमते रहते हैं। तो वह सब परिणमन स्वाभाविक शुद्ध परिणमन होता है। यों कह लीजिएकि 'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्दरस लीन।' वे तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंके जाननहार हैं किन्तु अपने अनन्त आनन्दरसमें लीन रहते हैं। प्रभुका परिणमन जिस भव्य आत्माकी समझमें आ जाए वह स्वभावका अनुभव कर लेता है, अलौकिक आनन्दका अनुभव कर लेता है और उसका यह निर्णय बन जाता हैकि कामतो एक यही सारभूत है। बाकी सब असार काम है। प्रभुका परिणमन केवल ज्ञाता द्रष्टा रहना है, प्रतिभासहो रहा है, समस्तका प्रतिभास कर रहे। यहां कोई ख्याल कर सकताकि जैसा प्रभु जान रहे वैसा अगर हम जानते तबतो फिर बड़ाही अच्छा होता। सारी चीजोंकें भाव हमारे ज्ञानमें पहलेसेही आ जाते, फिरतो हम मालोमाल बन जाते। प्रभुको उस ज्ञानके पानेसे क्या फायदा (हंसी) ऐसा कुछ लोग सोच सकते, मगर यह जानेकि जिसके ऐसी भावनाहोकि ज्ञान होतातो मैं कुछसे कुछ बन जाता, तोऐसा जीव कभी केवल-ज्ञानही नहीं कर सकता। सबको जानने वालेवे प्रभु सर्वज्ञ तबही हैं जबकि उनके चित्तमें रंचभी विकार नहीं है। ऐसे ये प्रभु सदैवके लिए मेरे नमस्कार किए जाने योग्य और अनन्त आनन्दको भोगने वाले होते हैं।

निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते।
निःष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः ॥ १३४ ॥

निःश्रेयसको प्राप्त भगवंतोंकी त्रिलोकोत्कृष्ट शोभा—व्रत पालन और समाधिमरणके प्रतापसे मनुष्यभवमें निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि होकर धर्मसाधना करके निर्विकल्प समाधिके बलसे जो मोक्षको प्राप्त हुए हैंवे आत्मा कैसे शोभायमान हैं, विराजमान हैं? विकासयुक्त हैं, इसका वर्णन इस छंदमें किया गया है। ये सिद्ध प्रभु तीन लोकके शिखामणिकी शोभाको धारण करते हैं, वे तीन लोकके अन्तमें विराजमान हैं, जिसके बाद फिर लोक नहीं है, मात्र आकाशही आकाश है, यह तीन लोककी शिखाकी मणि कहलायी। दूसरी यह बात हैकि तीन लोक के इन्द्र उनकी महिमा गाते हैंतो इसके मायने यह हुआकि सब जीवोंने महिमा गायी। ऊर्द्ध लोकके इन्द्र हैं स्वर्गोंके इन्द्र, मध्य लोकके इन्द्र हैं चक्रवर्ती और सिंह।

मनुष्योंका इन्द्र है चक्रवर्ती और तिर्यञ्चोंका इन्द्र है सिंह। और अधोलोकके इन्द्र भवनवासी और व्यन्तर देवोंकेजो प्रकार हैं उनके इन्द्र हैं, ऐसे तीन लोकके इन्द्रोंने जहां प्रभुको नमस्कार किया, आदर किया, भक्तिकी, वंदनाकीतो वहां समझिएकि तीनों लोकके द्वारा पूज्य कहलाए। मेरु पर्वतकी जड़ जहां समाप्त होती है वहां तकतो है मध्यलोक अर्थात् नीचेमें इस पृथ्वीके ऊपरी तलसे एक हजार योजन नीचे तक मध्य लोक है, उसके नीचे अधोलोक प्रारम्भ होता है। सो अधोलोकमें पहलेकेजो २ खण्ड हैं इस पृथ्वीके उनमें भवनवासी और व्यन्तर देवोंके भवन हैं। वहां तक व्यन्तर रहते हैं, व्यन्तर फिर यहांभी मध्य लोकमें रहने लगते। जैसे टूटे-फूटे मकान, पीपल आदिक पेड़ अथवा कोई निर्जन जंगल, यहां परभी निवास करने लगते हैं। तोये भवनवासी और व्यन्तर इनके इन्द्र अधोलोकके इन्द्र कहलाते हैं, इन सब इन्द्रोंके द्वारा जिसके गुण बंदनीय हुए वे सिद्ध प्रभु तीन लोकके शिखामणिकी शोभाको प्राप्त हुए हैं, जैसेकि ऐसे स्वर्णके आभूषणोंमें, जिनमें कीट नहीं, कालिमा नहीं, उत्कृष्ट छवि है इस प्रकारसे जिसके द्रव्यकर्म नहीं, भावकर्म नहीं, नो कर्म नहीं, ऐसे उत्कृष्ट चैतन्य चमत्कार रूप हैं। द्रव्यकर्म और नो कर्मतो बाह्य मल हैं, और भावकर्म जीवका आन्तरिक मल है। जैसे खोटे सोनेमें बाह्यमल और आन्तरिक मल होता है, सो तपा देने पर दोनोंही मल दूर हो जाते हैं, ऐसेही आत्मामें कर्म और नोकर्मतो द्रव्यमल हैं, बाह्य मल है और भावकर्म रागद्वेषादिक विकार ये आन्तरिक मल हैं। सो चैतन्य स्वभावमें उपयोगको लगानेरूप तपश्चरणसे तपा देने पर ये दोनोंही प्रकारके मल दूरहो जाते हैं। तब ये अत्यन्त शुद्ध सदाके लिए शुद्ध सिद्ध प्रभु तीन लोकके शिखामणिकी शोभाको प्राप्त होते हैं।

मोक्षधामकी मंगलरूपता—इस जीवके अनादिसेतो निगोद निवास कुटी बनी थी। सिद्ध होने पर अनन्त कालके लिए मोक्ष निवासधाम बनता है। यह जीव अनन्त काल व्यतीत करते हैंतो दो जगह व्यतीत करते हैं—निगोदमें या मोक्षमें। बीचकी जितनी अवस्थाएँ होती हैं इनमें अनन्त काल कभी नहीं गुजरता, उनकी अवस्थाएँ होती हैं कुछ सागरोंकी और वह समय पूरा होने पर फिर वह अगर मोक्ष गयातो गया, नहींतो निगोद जाना पड़ता है। सो निगोद अवस्थामेंभी रहने वाले जीवोंका, निगोदका अन्तहोजाता है। निगोदतो अनादि है और मोक्ष अनन्त है। तो हम आपको सदा कहां रहना पड़ता है, यहभीतो ध्यानदो, यातो चिरकाल निगोद रहना पड़ता या फ़िर अनन्तकाल मोक्ष में रहेंगे। अब यह अपनी पंसद करलोकि निगोदही प्रिय हैया मोक्ष धाम प्रिय है? बीचकी चीजें टिकेंगी नहीं, त्रस पर्याय पानेका काल कुछ अधिकदो हजार सागर है। इससे अधिक त्रस पर्यायमें नहीं रह सकता। निगोदको छोड़कर शेष स्थानपर भी रहनेका काल त्रस कालसेतो कई गुणा है। मगर वहांभी अपना काल गुजर जानेपर निगोदमें आना पड़ता है। तो निगोदवासतो प्रिय न होना चाहिए। रही यह बीचकी हालत, तो इस हालतमें यदि कोई चेत गया, सम्यक्त्वका लाभपा लियातो वह पुरुष कल्याण करेगा, मोक्ष जाएगा।

जीवनको निर्दोष आचरणमें बितानेका अनुरोध—भैया, अपने जीवनमें आग्रह बनाइए सम्यक्त्व बनाए रहनेका, बाह्य परिणतियोंके बारेमें आग्रह न रखिए। कोई कैसा परिणमता है, कैसाही चलता है, उसका हर्ष विषाद न करना, अपने परिणामोंको निर्मल और न्याययुक्त बनाना, दूसरे लोग कैसाही परिणमेंवे मेरे कुछ नहीं लगते, न वे मेरे मित्र हैं न शत्रु हैं, न वे वास्तविक बन्धु हैं। मुझ आत्मासे

अत्यन्त भिन्न सत्ता वाले हैं। तोउनके किसीभी प्रकारके परिणमनसे मेरे आत्मामें कुछ खोट नहीं आती। मैंही उनका आश्रय करके उनको कल्पनामें लेकर शुभ अशुभ विकल्प करूंतो उससे मेरेको नुकसान पड़ता है। शुभ विकल्पोंमें कम नुकसान है, पर धर्मका मार्ग मिलनेका अवसर है। अशुभ विकल्पोंमें सारा नुकसानही नुकसान है। तो अपने आपपर करुणा करें, अपनेको निरखें एक चैतन्य स्वभावमात्र। इस चैतन्यस्वभावमात्र मुझ आत्माका दुनियामें कोई क्या लगता है? धर्मात्माजनोंसेतोयों प्रेम करना बतायाकि वे परस्पर एक दूसरेके धर्मविकासमें सत्संगमात्रसे सहयोगी हैं। वेभी हमारे विकासमें सहयोग नहींदे सकते, पर जब हम उनको धर्मधारण किया हुआ निरखते हैं, रागद्वेष दूर कर समता भावमें पाते हैंतो दर्शन करके खुदके धर्ममें भी प्रेरणा मिलती है। इस कारण धार्मिक भावोंमें वात्सल्य करनातो किसी अपेक्षासे लाभदायक है मगरजो रत्नत्रयधारी नहीं है, सम्यक्त्वका जिनको अनुराग नहीं है ऐसे अज्ञानीजन चाहेवे कुटुम्बमेंहो, चाहेवे बाह्य जगह हों, उनका अनुराग कल्याणके लिए नहीं होता। हां परिस्थिति कोई होती है, घरमें रहना पड़ रहा है, तो उनसे रागव्यवहार किए बिना गुजारा नहीं है, पर भीतरमें राग नहीं रहता।

विरक्ति का माहात्म्य—ज्ञानी जीव घरमें इस प्रकार रहता है जैसे जलमें कमल रहता है। कमल जलसे हीतो पैदा होता और फिरभी जलसे दूर रहता है, ऐसेही यह गृहस्थ इस घरमेंहीतो पैदा हुआ फिरभी ज्ञानी गृहस्थ घरसे दूर रहता है। जैसे जलसे पैदा हुआ कमल इस प्यारसे मानोंकि उस जलसेहीतो पैदा हुआ हूंसो जलमेंही भिड़ जाए, जलमेंही बसने लग जाएतो वह कमल सड़ जाता है, उसकी फिर शोभा नहीं रहती है, ऐसेही यह गृहस्थ यह सोचकरकि मैं इस परिवारसेहीतो पैदा हुआ हूंसो वह परिजनमें बस जाए, मिल जाए, आसक्त हो जाएतो वह गृहस्थभी सड़ जाता मायने बरबादहो जाता। ज्ञानी गृहस्थतो परम्परया निर्वाण पाते हैं औरजो मुनिजन बज्रवृषभ नाराच संहननके धारी हैंवे विरक्त रहकर आत्मधर्मकी साधना करते हैं और उसी भवसे मोक्ष जा सकते हैं। आज पंचम कालमें हीन संहनन है, छठा संहनन है और छठा संहनन होनेके कारण वह ध्यान नहीं बनता जिस ध्यानसे निर्वाण होता है फिरभी अपनी शक्ति अनुसार आत्मधर्मकी साधना मुनिजन किया करते हैं। उसका फल आगे प्राप्त होगा। तत्कालतो पापसे बचनाहो रहा है और मरण करके कोई सद्गति मिलेगी, यहभी भला है। तो कल्याण चाहने वाले जीवोंको सही विवेक रखना चाहिए। यह मैं आत्मा कुटुम्ब आदिकसेतो भिन्न हूं ही, शरीरसेभी निराला हूं। देहादिसे अत्यन्त भिन्न स्वरूप है जीवका। जीव है चैतन्यस्वरूप, शरीर है पौद्गलिक, भलेही निमित्त नैमित्तिक बन्धन है और उस बन्धनके प्रभावमें आता है, लेकिन लक्षण दोनोंका अत्यन्त निराला है,सो अपना लक्षण जानकर केवल ज्ञानमात्र आत्मामेंही आत्मत्व बुद्धि करना चाहिए। यही एक मौलिक साधना है, जिसके बलसे यह जीव निर्वाणको प्राप्त होगा।

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बल परिजनकामभोगभूयिष्ठैः।
अतिशयितभवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः॥ १३५॥

सद्धर्मका अद्भुत अतिशयित फल—सद्धर्म महान् अभ्युदयका फल देता है। ये अभ्युदय

लौकिक और अलौकिकदो प्रकारके हैं। अलौकिक अभ्युदयतो है मोक्ष, जिससे बढ़कर अन्य कोई पद नहीं है और लौकिक अभ्युदय है इन्द्रहो जाना, चक्रीहो जाना आदि। ऐसे अभ्युदयके सम्बन्धमें यहां यह कहाजा रहा हैकि सद्धर्म अतिशयित अभ्युदयका फल देता है। सोधर्मतो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय है। रत्नत्रयसे निर्वाणलाभ है। आत्मस्वभावविकास रूपके रत्नत्रयके भावोंसेतो इन्द्रादिककी पदवी नहीं मिलती। इन भावोंसेतो मोक्ष मिलता है। रत्नत्रय भावोंके होते सन्तेजो शुभ राग शेष रहता है उस शुभ रागका फल हैकि इन्द्र चक्री आदिक पद प्राप्त होना। तो इसमें तो रत्नत्रय धर्मकी और बड़ी महिमा ज्ञात होती हैकि जिस रत्नत्रयका संग पाकर रागभी इतने ऊंचे पदको दिला देता है। तब फिर रत्नत्रयकी महिमातो कहहीकौन सकता है? रत्नत्रय है आत्माका विकास और शुभ राग है आत्माका विकार। मगरहै वह शुभ। तो धर्मका सम्बंध पाकरजो रागद्वेष होता है वहभी धर्मकहलाने लगता है। जैसे श्रावकजन पूजन आदिक करते हैंतो श्रावकोंको आत्माके स्वरूपका अनुभव होता है और आत्माके सत्यस्वरूपको दृष्टिमें रखते हैं और जानते हैंकि यह स्वभाव जहां प्रकटहो गया वही है प्रभु। ऐसा परिचय रखने वाला श्रावक पूजा करके भी यथोचित धर्मका लाभले लेता है, किन्तु जिनको आत्माके स्वरूपका परिचय नहीं है, अनुभव नहीं है, वे पूजा करके भी धर्मलाभ नहींले पाते। किन्तु जितना मंद कषायहो उसके अनुसार पुण्य लाभ पाते हैं।

पाप, पुण्य व धर्मके फलोंका संकेत—भाव तीन प्रकारके हैं—पाप, पुण्य और धर्म। पाप भाव तो अत्यन्त खोटा है, उसके फलमेंतो जीव नाना दुर्गतियोंमें जन्म लेता है, मरता है, खोटी गतियों को ही पाता है। और पुण्यके प्रभावसे सद्गतिमें जन्म होता है। अब वहांभी यदि व्यवहार धर्म सहित पुण्य लाभकियातो वह अच्छी समृद्धियां पाता है और व्यवहार धर्मभी नहीं है, पर हां कुछ दयाभाव होनेसे पुण्य बंध रहा है, जैसे प्राणियोंको भोजन आदिक देना, उनकी क्षुधा आदिक मेटना, ठंडमें रहने वालोंको कपड़ा देना, लौकिक दुःख मिटा देना इस प्रकारकीजो दयारूप प्रवृत्ति करके पुण्य लाभ पाते हैं उस पुण्यसे भी गति कुछ अच्छीतो होती है मगर ऊंचे स्वर्गया नवग्रैवयक आदिकके पद नहीं प्राप्त कर सकते। जिस आत्मामें रत्नत्रय धर्मका सम्बंधहो व कुछ आत्मामें रागभीहोतो वह रागभी ऊंचे अभ्युदयको प्रदान करता है। धर्मका फलतो मोक्ष धामका लाभ है। इन तीनों भावोंमें उत्कृष्ट भाव धर्म परिणाम है।

सद्धर्मके फलमें पूजा और अर्थका अतिशय—अतिशय क्या-क्या हैं जिन अतिशय सहित सद्गति प्राप्त होती है। पूजा, प्रतिष्ठा, इज्जत मिल जाना, जैसे इन्द्र हुएतो अनेक देवोंके द्वारा आदरणीय हुए, बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा महाराजा हुएवेभी लोगोंके द्वारा आदरकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। अथवा योगीजन हुएतो उस योग अवस्थामें आदर प्राप्त करते हैं। सो पूजा, इज्जत, यश जहां अतिशय पाया जाता है ऐसे अतिशयोंसे युक्त अभ्युदयको प्राप्त होते हैं धर्मके प्रभावसे। एक अतिशय अर्थका भी है, धनिकहो जाना, जैसे मनुष्य प्रायःदो बातोंकी कल्पना करते हैंकि मैं राजा होऊंया करोड़पति होऊं। कुछ सुन रखाहोतो मैं देवेन्द्र होऊं, ऐसाभी सोचने लगते हैं। तो यह लोकमें आश्चर्यसा माना जाता है। तो धनका लाभ होना यहभी सद्धर्मका फल है, जब-जब लोकवैभवकी बात कही तब तब यह अर्थ लेनाकि

रत्नत्रय जिस आत्मामें है उसमेंजो राग रह गया है वह राग व्यवहार धर्म कहलाता है। जैसे पूजा करना, तप करना यह सब व्यवहार धर्म है,तो वास्तविक धर्मके प्रसंगमें इन व्यवहार धर्मोंमेंभी इतना माहात्म्य हैकि लौकिक अभ्युदय इनके द्वारा प्राप्त होता है। ऐसी बात सुनकर व्यवहार बनाना अर्थात् शुभ रागपर आग्रह न करना किन्तु यह जाननाकि इस शुभ रागमें, व्यवहार धर्ममें निश्चय धर्मके प्रसंगमें यह माहात्म्य है तब निश्चय धर्मकी दृष्टि और आस्था करना और उस रूप अपना लक्ष्य बनाना। तो विशेष धनिकहो जाना, कोट्याधीशहो जाना यह लौकिक अतिशय है। अभ्युदय है यहभी धर्म द्वारा प्राप्त होता है। मनुष्योंको अपने जीवनमें सदैव उच्च विचार रखना चाहिए। किसी जीवको मेरे द्वारा बाधा नहो, चाहे किसी प्रसंगमें खुद दुःखीहो जाएतो वह अपना दुःख अपनेको समझाकर मिटा लेगा, किन्तु अपनी कोई चेष्टा ऐसीन होकि जिससे दूसरोंको बाधा पहुंचे, जितना अपनेसे बने उतना धर्म कार्योंमें सहयोग दें, पर ऐसा कभी मनमें कषाय न लानाकि दूसरेके द्वारा कोई धर्म कार्य बन रहा हैतो उसमें अड़चन डालें, विघ्न डालें, क्योंकि धर्म प्रसंगमें ऐसाभी कभी कभी चित्तमें कषायभाव जग जाता हैकि यह कार्य मेरे द्वारा होतो ठीक है, दूसरेका नामहोतो वह नहीं सहा जाता। तोदो बातोंका जीवनमें मुख्य ध्यान रखना हैकि एकतो अपनी चेष्टावृत्ति द्वारा किसी दूसरेको बाधा न पहुंचे और कोई कैसेभी व्यवस्था बनाता रहता हैतो उसके धर्म में विघ्न न डालें, दूसरे व स्वयं यथा शक्ति धर्मकार्यों में सहयोग करें येदो बातें जीवनमें रहेंतो समझोकि वह अपनी गृहस्थीकी परिस्थितिमें धर्म लाभका ही काम कर रहा है। तो ऐसा धर्मका फल है पूजा प्रतिष्ठा पाना और लौकिक धन वैभव सम्पदा प्राप्त होना।

सद्धर्मके फलमें आज्ञा व ऐश्वर्यका लौकिक अतिशय—लौकिक अतिशय आज्ञा और ऐश्वर्यभी है। दूसरे जीवों पर आज्ञा चले, ऐसी आज्ञा करने लायक महत्त्वपा लेना यहभी सद्धर्मका फल है। ऐश्वर्य जिसमें कुछ पराधीनता न रहनी पड़े। सब कुछ सुविधाएँ अपने आपको प्राप्त हों जिससे किसीभी कार्यके लिए दूसरों की आधीनता न करनी पड़े। ऐसे वातावरणको कहते हैं ऐश्वर्य। जहां ऐश्वर्य होता है वहां आज्ञा देने लायक महत्ता स्वयं प्राप्तहो जाती है। इन अभ्युदयोंको बता रहे हैं लौकिक दृष्टिसे भले हैं। परमार्थ दृष्टिसे देखा जाएतो यह सबभी क्लेश है। आज्ञा मानने वाला पुरुष जितना कष्टमें नहीं है उससे अधिक कष्टमें रहता है आज्ञा देने वाला पुरुष। फिरभी लौकिक दृष्टिमें महत्तातो आज्ञा देने वालेकी होती है। वह सब पुण्यका फल है। तो ऐसा सुख सुविधाका प्रसंग, ऐसा लौकिक अतिशय उस प्राप्त पुण्यके फलसे प्राप्त होता है।

सद्धर्मके फलमें विशिष्ट बल आदिका लौकिक अतिशय—बल प्राप्त होना लौकिक अभ्युदय है। पुराणोंमें सुना जाता हैकि श्रीपाल कोटिभटथे अर्थात् एक करोड़ योद्धावोंमें जितना सामर्थ्य होता है उतना उनमें था। और भी अनेकों बड़े-बड़े बलशाली लोग सुने जाते हैं तो शरीरका बल आना यहभीतो सद्धर्मका फल है। अर्थात् धर्मयुक्त आत्मामें शुभराग वशजो पुण्य आया उसका फल है। जितनी बातें घमंड करनेके लिए आश्रयभूत होती हैं समझ लीजिएकि वह सब वैभव पुण्यके प्रतापसे प्राप्त होता है। सो कोई मनुष्य इन सब वैभवोंको प्राप्त करके यदि दूसरों पर अन्याय करेतो ऐसा पाप करने वाला पुरुष अब कहां जाएगा? नारकादिक दुर्गतियोंमें जाएगा। तो एक निगाहसे अगर देखेंतो

पुण्योदयने साक्षात् तो नहीं मगर परम्परया नरक भेजा। कैसे ? उस पुण्योदयसे वैभव ऐश्वर्य बना, उससे मतवाले हुए, अन्याय किया और दुर्गतिमें गए। सो यद्यपि साक्षात् पुण्यने नहीं भेजा पर पुण्यफल पाकर यदि यह विवेकी नहीं रहतातो यह संसारमें दुर्गतियोंमें जन्म लेता है। परन्तु जहां सद्धर्मका प्रसंग मिला है और वहां पुण्यसे जो वैभव मिला हैतो उसमें धारा धर्मकी रहती है और धर्मकी आराधनासे यह मोक्षके अभ्युदयको प्राप्त होता है। लोकमें अनेक आज्ञाकारी परिजन व भोग सुविधाएँ मिलना यह भी अतिशय है, लोक में आदरसे देखने योग्य बात है। तो ऐसी भोग सुविधाएँ इन्द्रियविषय, देहके आराम, लोगों द्वारा एक धनी इज्जत, ये सारी बातें सद्धर्मके साथ हुए व्यवहार धर्मके फल हैं। समाधिमरणमें रहने वाला पुरुष इस प्रकार धर्मका चिन्तन करता है और अपने आपके आत्माको सावधान करता है जिससेकि अपने इस सहज आत्मस्वरूपमेंही रमे। इस प्रकार समंतभद्राचार्यने समाधिमरणके प्रसंगमें उपदेश किया है।

दिन रात मेरे स्वामी, मैं भावना यह भाऊं।
देहान्त के समय में, तुमको न भूल जाऊं॥

रत्नकरण्ड प्रवचन चतुर्थ भाग

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः॥ १३६॥

श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंका विधान—इस छंदसे पहले समाधिमरणका कर्त्तव्य बताया था और उससे पहले व्रती श्रावकोंके कर्त्तव्य बतायेथे। तो इस प्रसंगमें अन्तमें यह जिज्ञासाहो रही हैकि व्रती श्रावक किस किस प्रकारके कर्त्तव्यको करता है और उसके कितने दर्जे हैं, जैसे मुनिजन एकही समान हुआ करते हैं वैसेही क्या श्रावकभी एकही समान होते हैं? यद्यपि मुनियोंके आचरणमें कमी वेशीके कारण पुलाक वकुस आदिक भेद कर दिए गए हैं लेकिन उन सबका संकल्प प्रतिज्ञा महाव्रत एकही समान है। तो जैसे मुनियोंका महाव्रत एक समान है इसी प्रकार श्रावकोंके व्रतभी क्या एक समान हैं? इसहीके समाधानमें श्रावकोंकी ११ प्रतिमावोंका वर्णन प्रारम्भहो रहा है। इस छंदमें बताया है कि अरहंत भगवंतने श्रावकके स्थान ११ बताए हैं। वैसे श्रावक के स्थान असंख्यात हैं जिनकी गिनती नहीं परिणामोंके भेदसे पर उन सब असंख्याते स्थानोंको संक्षेपसे कहा जाएजोकि व्यवहारमें प्रयोजनिक हैंतोवे होते हैं ११ पद और उन पदोंमें ये पद पूर्व पदोंके साथ चलते हैं और इसी तरह आगे क्रमसे बढ़ते हैं अर्थात् किसीके यदि तीसरी प्रतिमा है, तीसरा पद हैतो पहलेदो पद अवश्य होने चाहिएँ। किसीके ११वां पद हैतो उसके पूर्वके १० पद अवश्य होने चाहिएँ। ये ११ प्रतिमाएँ अटपट नहीं होतींकि ७वीं प्रतिमा लेवेतो उसे ६ प्रतिमावोंसे प्रयोजन नहीं। अरे जिसकी ७वीं प्रतिमा है उसकी पूर्वकी ६ प्रतिमाएँतो रहेंगीही। जैसे मानों किसीकी ११वीं प्रतिमा हैतो इसका अर्थ हैकि उसकी १ से लेकर ११ तक प्रतिमाएँ हैं। वे ११ पद कौनसे हैं? (१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषधोपवास, (५) सचित्त त्याग, (६) रात्रि भोजन त्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भ त्याग, (९) परिग्रह त्याग, (१०) अनुमति त्याग और (११) उछिष्टाहार त्याग। जो जिस प्रतिमाका धारी है वह उससे पीछेकी प्रतिमावोंका पालन करता हुआही विवक्षित प्रतिमाका पालन करता है, ऐसा नहो सकेगाकि किसीने ८वीं प्रतिमाली है तो ८वींतो पाले और पहले की ७ प्रतिमावोंको न पाले। इन प्रतिमावोंमें पहले ६ प्रतिमावों तक जघन्य श्रावक कहलाता है। ७वीं प्रतिमासे १०वीं प्रतिमा तक मध्यम श्रावक कहलाता है, ११वीं प्रतिमामें उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। अब उनमेंसे प्रथम प्रतिमाका वर्णन करते हैं।

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।
पञ्चगुरुचरणशरणो दार्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः॥ १३७॥

दर्शनप्रतिमाके वर्णनका उपक्रम—जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है, संसार, शरीर और भोगोंसे

उदासीन है, पंचपरमेष्ठी गुरुके चरणोंकी शरण जिसने ग्रहणकी है, सन्मार्गमेंजो जो आचरण बताए गए हैं उन आचरणोंको पालने वाला है, मोक्षमार्गमें अवस्थित है वह दार्शनिक श्रावक कहलाता है। यहां दार्शनिकसे अर्थ न्यायवाला नहीं, किन्तु सम्यग्दर्शनकी सिद्धिवाला श्रावक कहलाता है। सम्यग्दर्शनकी अपूर्व महिमा है। जिस जीवके सम्यक्त्व है वह पवित्र जीव है। जिसके सम्यक्त्व नहीं वह धर्मके नामपर कितनीही क्रियाएँ चेष्टाएँ करता रहे किन्तु वह धर्मके मार्गमें नहीं है, उसेतो एक अच्छा शौक लग गया है। जैसे किसीको बुरे शौक लगा करते हैं इसको अच्छा शौक लग गया है, परसम्यग्दर्शन पाए बिना वह धर्म मार्गमें नहीं है।

सम्यग्दर्शनके लाभके उपायमें प्रथम उद्यम वस्तुस्वरूपका यथार्थ विज्ञान—सम्यग्दर्शन पानेके लिए प्रयत्न क्या होना चाहिए? सर्वप्रथम प्रयत्न यह है मनुष्योंकाकि वे वस्तुस्वरूपका निर्णय करें। वस्तुस्वरूपके निर्णयके बिना सम्यक्त्व नहीं बनता। वस्तुस्वरूपका निर्णय होता है स्याद्वाद परमागमसे। जैन शासनमेंदो चीजें ऐसी कही गई हैंकि जिनके स्वरूपका वर्णन जैन शासनमेंही मिल पाता है और वह जीवनके उद्धारके लिए परमावश्यक है। वेदो बातें हैं स्याद्वाद और अहिंसा। स्याद्वादसेतो विचार शुद्ध होते हैं और अहिंसासे आचार शुद्ध होता है। यों भाषणोंमें सभी कोई कहते हैंकि अपना आचार विचार शुद्ध रखना चाहिए पर कहनेसे क्या होता है? आचार विचार किस तरह शुद्ध रह सकते हैं उसका उपायभीतो होना चाहिए। उसका उपाय स्याद्वाद और अहिंसाही है।

स्याद्वादके आश्रयसे वस्तुस्वरूपका सुज्ञान—स्याद्वादसे विचार पवित्र बनते हैं। स्याद्वाद कहते हैं अनन्त धर्मात्मक वस्तुमें अपेक्षासे धर्मको निहारना। यह स्याद्वाद है, जैसे जीवद्रव्य नित्य है व अनित्य है, एक है व अनेक है, सत् है व असत् है, अनेक धर्म इसमें पाए जाते हैं। अबवे धर्म किस अपेक्षासे हैं, उन अपेक्षावोंको पहिचानकर उन अपेक्षावोंसे उनमें उनसब धर्मोंका परिचय करना, बताना यह स्याद्वाद कहलाता है। संसारमेंजो विरोध, विवाद, झगड़ा, विसम्वाद फैला है यदि स्याद्वादका आश्रय लियाहोतातो विवाद झगड़ा, विसम्वाद न फैलता। जैन दर्शनका सारे विश्वके लिए कितना उपकार हैकि उसके बिना इस जीवनमेंभी झगड़ा न मिटेगा और सदाके लिएभी जन्ममरणका झगड़ा न मिटेगा। ऐसी अपूर्व देन इस जैन शासनसे प्राप्त हुई। इसकी कृपा बिना जीव कभीभी सुखी नहींहो सकता। जिन्होंने इस जैन शासनका वरदान पाया है उनका अन्तः करण कह उठता हैकि इस जिनवाणीके उद्धारके लिए मेरा तन लगे, मन लगे, प्राण लगे फिरभी मैं उससे उऋण नहीं हो सकता।

अकलंक निष्कलंकका जिनशासनकी भक्तिमें विपत्तियोंसे संघर्ष—अकलंक और निष्कलंक देवने इस जिनवाणीके प्रसारके लिए अपना कितना बलिदान किया। जबवे बौद्धशालामें पढ़ते थेतो एक दिन गुरु पढ़ा रहा था। जब स्याद्वादका प्रकरण आयातो वहां कोई शब्द अशुद्ध था। उस अशुद्धके कारण गुरु जराभी आगे न बढ़ सकता थातो यह कहकर छोड़ दियाकि इस प्रकरणको कल बताएँगे, शास्त्र बंद कर दिया और चला गया। यहां अकलंक निष्कलंकने अकेलेही एकान्त पाकर उस शास्त्रको खोला, उस स्याद्वादके प्रकरणको पढ़ा, उसमेंजो अशुद्धिथी उसको दूर कर दिया। केवल एक अक्षर शुद्ध करनेकी आवश्यकता थी और ज्योंका त्यों शास्त्र बंद करके वे अपने स्थान पर चले

गए। छात्रावासमें रहते थे, दूसरे दिन गुरुजीने जब वह प्रकरण खोला और उसमें देखाकि एक अक्षर लिखकर शुद्ध किया गया है तोवह तुरंत ताड़ गयाकि इन बालकोंमें कोई जैन बालक रह रहा है। इतनी बुद्धि और किसमें जगेगीकिजो एक अक्षरकी अशुद्धिको शुद्ध करदे। उस समय बौद्ध शासनका जोर था, बौद्ध राजा था। अन्य धर्म वाले यदि सिर उठाते थे, अपना प्रचार करते थेतो उनको दण्ड दिया जाता था, जेल भेजा जाता था, मृत्युदण्ड भी दिया जाता था। गुरुने खबर राजाको भेजी, पता लगाने का आर्डर दियातो गुरुने उन जैन बालकोंका पता लगानेके लिए एक उपायतो यह किया कि एक दिगम्बर जैन मूर्ति कहींसे लाकर रखदी और यह आदेश दियां सब बालकोंकोकि इस मूर्तिको सब लांघेंगे। अकलंक निष्कलंक बड़ी परेशानीमें आ गए, फिरभी जिनवाणीके प्रति इतनी भक्तिथीकि एक रास्ता निकाल लिया। चाहे उसमें थोड़ा अविनयभी होतो भी जिनवाणीके प्रचार प्रसार करनेके लिए उन्होंने वह चोट भी सही। सब बालक उस प्रतिमाको लांघ गए। जब अकलंक निष्कलंककी बारी आयीतो उन्होंने क्या कियाकि अपने कपड़ेका एक धागा निकाला और उस मूर्ति पर डालकर और कल्पना यह करकेकि मैं देवकी अविनय नहीं कर रहा हूं। उस प्रतिमाको परिग्रही बना दिया, अब यह निष्परिग्रह न रहा, कोई उपायतो करनाही था, सोवेभी उसको लांघ गए। गुरुको जैन बालकका कुछ पता न चला। तब गुरुने एक काम और कियाकि रात्रिके चार बजे जबवे बालक सोकर उठतेथे उससेभी आधा घंटा पहले दूसरी मंजिल पर पचासों थाली रख दिए और एकदम चार बजे सब थाली गिरा दिया। बड़ी तेज पीड़ा हुई, सब बालक चौंक गए, सभी अपने इष्टका स्मरण करने लगे, सुगुतायनमः बुद्धाय नमः आदि। और अकलंक निष्कलंकभी एकदमसे उठकर णमोकार मंत्र पढ़ने लगे। अचानक जब कोई विपत्ति आती हैतो जैसा दिल होता है वैसीही उनकी आवाज निकलती है। बस उन्हें पकड़ लिया गया और तत्कालही जेलमें बंद करा दिया गया।

जिनशासनके प्रसारकी शुभकामनामें अकलंक निष्कलंकका अपूर्व बलिदान—दोनों भाइयोंको जेलमें दिनभरहो गया, रातभी आधी होगई। अकलंक निष्कलंक बड़ी चिन्तामें पड़ गए। उन्हें प्राण जानेका खेद न था किन्तु खेद था जिनवाणीके प्रसार प्रचारका कार्य न कर सकनेका। सोवे उस चिन्तामें थेकि वहां चक्रेश्वरी देवी प्रकट हुई और उसने बतायाकि ऐ बालकों तुम चिन्ता न करो, अभी १०—१५ मिनटके अन्दरही तुम इस सींखचे से निकल जावो। उस देवीने मायासे पहरेदारको सुला दिया, जेलका फाटक खुल गया और अकलंक निष्कलंक आधी रातकोही वहांसे चल दिए। जब सवेरा हुआ और देखाकिवेदोनों लड़के जेलमें नहीं हैंतो राजाको खबरदी। राजाने चारों दिशावोंमें नंगी तलवारें लिए घुड़सवार भेजे और कहाकि जहांवे दोनों लड़के मिलें, उनका सिर काटकर लावो। वे घुड़सवार चारों ओर दौड़ गए। ८.९. बजे सुबह अकलंक निष्कलंक आगे बढ़ते चलेजा रहे थे। पीछेसे देखाकि बड़ी आवाजआ रही है, घोड़े दौड़ेआ रहे हैं, तो मालूम पड़ाकि ये लोग हम दोनोंका सिर काटनेआ रहे हैं, तो उस समय अकलंकने निष्कलंकसे कहाकि देखो यह तालाब है, इसमें कमल वन है, इस कमलबनमें तुम छिप जावो। तो निष्कलंक कहता हैकि हे बड़े भाई आपही छिप जावो। उन दोनोंमें होड़हो गई, एक कहेकि तुम छिप जावो, दूसरा कहेकि तुम छिप जावो। तब निष्कलंकने अकलंक के पैर पकड़कर

और जिनशासनके प्रचारकी भीख मांगकर कहाकि हे भाई आपको एक बार सुननेमेंही विद्याआ जाती है और मुझेदो बार सुननेमें विद्या आती है। अब मुझे भीखदो, आप इस कमलवनमें छिप जाइए। अब देखो निष्कलंकने उस समय कितना बड़ा त्याग किया अपने प्राणोंकीभी परवाह न करके अपने प्राणविसर्जनके लिए तैयारहो गया और उससेभी अधिक अकलंकका त्यागकि अपनी आंखों देखते-देखते जिनशासनकी भक्तिमें अपने छोटे भाईका प्राणविसर्जनभी तक रहा है। दोनों बड़े त्यागी पुरुष, आखिर वह निष्कलंक आगे चलातो एक जगह एक धोबीका लड़का एक तालाबमें कपड़ेधो रहा था, सो डरके मारे वहभी साथ लग गया। वहां एक घुड़सवार आया और तलवारसे दोनोंका सिर उड़ा दिया। उसने उन दोनोंकोही अकलंक निष्कलंक जाना। और सिर काटकर राजाके दरबारमें पेश किया। आखिर तालाबमें छिप जानसे अकलंक बच गए। फिर अकलंकने अपनी विद्या विज्ञानके बलसे जो जैन शासनका प्रसार किया उसेतो विद्वज्जन जानते हैं जिन्होंने जैन शासन, जिनागम व जैन साहित्यका परिचय पाया।

जिनागमके अनुरागका लाभ—प्रत्येक मन्दिरमें यदि कई हजारोंकाभी साहित्य रखा जाए, कोई भलेही उन्हें न पढ़े फिरभी आस्थासे, विनयसे ज्ञानके प्रति सद्भावहोतो उससेभी जीव बड़ा फल प्राप्त करता है। प्रतिमाकेभी हम दर्शन करते हैं या और कुछ कर लेते हैं। यदि मन्दिरमें जिनागमके हम केवल दर्शनही कर पाएँतो यह देवदर्शनसे कम बात नहीं है और फिरजो लोग विद्वान हैं वे यदि एकही ग्रन्थ पढ़कर अपना सम्यक्त्व लाभले पाते हैंतो यह कितना बड़ा उपकार है जैन शासनका। इस जैन साहित्यमें जिनको रुचि नहीं जगती उनको ऐसा ज्ञान कैसे प्राप्त होगा? जिनको आज विशेष ज्ञान है उन्होंने पूर्व भवमें ज्ञानका समर्थन किया था। ज्ञानके प्रति भक्ति बनाया था, उसका फल हैकि आज ज्ञान मिला है। तो सम्यग्दर्शनका जो प्रारम्भ करना चाहता है उसका कर्तव्य हैकि जिनागमका अध्ययन करें, वस्तुस्वरूपका परिचय बनाएँ। तो सर्वप्रथम स्याद्वाद द्वारा वस्तु स्वरूपका निर्णय करना इन मनुष्योंके लिए अतीव आवश्यक है।

स्याद्वादका प्रयोग—स्यात्का अर्थ है अपेक्षा और वादका अर्थ है कहना। अपेक्षासे वस्तुस्वरूपका वर्णन करना स्याद्वाद कहलाता है। और अनेकान्त जिस वस्तुमें अनेक अन्त हैं, (सभी वस्तुवोंमें अनेक धर्म हैं) सो वस्तुको कहते हैं अनेकान्त। अनेकान्त नाम है पदार्थका और स्याद्वाद नाम है प्रतिपादनकी शैलीका। तो जैसे जीव नित्य है, अनित्य है वह अपेक्षा देखनी होगीकि एकही जीवमें नित्य और अनित्य, ऐसेदो विरुद्ध धर्मजो कहे जा रहे सो वह किसी अपेक्षासेही सम्भव है। द्रव्यदृष्टिसे देखने पर जीव सदा रहता है। नित्य है, एक रूप है, वह बदलता नहीं है, किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता। परिणमनोंको द्रव्यार्थिकनय नहीं देख रहा है और उस द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे जीव नित्य और पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे जीव अनित्य है। क्योंकि जीवमें प्रति समय नए-नए परिणमन चलते हैं। अर्थात् नवीन परिणमनका उत्पाद पूर्व परिणमनका व्यय यह व्यवहार होता रहता है। तो पर्यायार्थिक दृष्टिसे जीव अनित्य है, आज इसी बातको लेकर दार्शनिकोंमें विरोध छाया है, और जहां ऐसे पुरुषोंमें विरोध छाया है तोछोटे पुरुषोंमेंभी विरोध आ गया और जिस विरोधका इतना खोटा परिणाम थाकि आज चाहे

धर्मकी श्रद्धा न होनेसे समझ लीजिए कि समन्वयकी दुहाई दी जा रही है। नहीं है विशेष ज्ञानतो कहते हैंकि अजी चाहे जिस धर्मको मानकर चलो, आखिर पहुंचना सबको एक ही जगह है। तो भाई मोक्ष पहुंचनेके अनेक मार्ग नहीं हैं। उसका मार्गतो केवल एकही होता है।

मोक्षमार्गकी आत्मनिष्ठता—मोक्षमार्ग किसी सम्प्रदायसे सम्बन्ध नहीं रखता, उसकातो आत्मासेही सम्बन्ध है, और जितने पुरुष हैं वे सब आत्मा हैं, इसलिए मोक्षका मार्ग निष्पक्ष होता है और आत्माके नातेसे होता है। कहीं कुलके नातेसे, सम्प्रदायके नातेसे मोक्षमार्ग नहीं होता। वह मोक्षमार्ग क्या है? तो संक्षेपमें यह समझ लीजिएकि मोक्षके मायने हैं छुटकारा, आत्माका छुटकारा। किससे छुटकारा? जिससे बंधन है उससे छुटकारा। किससे बंधन है? शरीर, कर्म और विकारये तीन बंधन जीवके साथ लगे हैं। उन तीनों बंधनोंसे छुटकारा होनेका नाम है मोक्ष, और ऐसा मोक्षपानेका जो उपाय है उसे कहते हैं मोक्षमार्ग। क्या चाहिए? छुटकारा। छुटकारा चाहने वालेको यहतो श्रद्धा होनी चाहिएकि मेरा छुटकाराहो सकता है, ऐसा निर्णय करने वालेको यहांही स्वरूपमें छूटा हुआ नजर आना चाहिए। सो इनसबमें मिला हुआ यह आत्मा अपने स्वरूपसे सर्वसे निराला है, स्वतंत्र सत् है, अपने आप इसकी सत्ता है। इसके स्वरूपमें दूसरा कुछ मिला नहीं है इसलिए छूटा हुआ ही है, ऐसा अनादि मुक्त स्वभाव दृष्टिका मुक्त यहां नजर आया, तो परिणमन दृष्टिसे मुक्तभीहो जाएगा। पर जिसको यहांही अपने स्वतंत्र अस्तित्वका विश्वास नहीं है उसके स्वतंत्रता कभी होही नहीं सकती। तो मोक्षका मार्ग है कि अपने आपके सहज स्वरूपका विश्वास हुआ।

स्याद्वादका सन्मार्गदर्शकता व रक्षकता—अपने सहजस्वरूपका विश्वास कैसे प्राप्त हो, इसके लिए चाहिए वस्तुस्वरूपका ज्ञान और वह ज्ञान होगा स्याद्वादसे। यही चौकी जिसपर हम बैठे हैं, पूछेंकि बताओ यह चौकी कैसी है? तो कोई कहेगाकि यह चौकी ढाई फिट लम्बी चौड़ी है। लम्बी चौड़ी न कहकर यहतो ढाई तीन फिटकी है। कोई कहेगाकि यहतो बस एक फुटकी है। अब दोनोंमें झगड़ा शुरुहो गया। एक कहताकि तू झूठ बोलता है, दूसरा कहताकि तू झूठ बोलता है। तोअब उन दोनोंका झगड़ा निपटायगा स्याद्वाद। वह समझायगाकि लम्बाई चौड़ाईकी दृष्टिसे साढ़े तीन फिटकी है। ऊंचाईकी दृष्टिसे १ फुट है। बस दोनोंका विवाद खतम। तो स्याद्वादका सहारा लिए बिना व्यवहारमेंभी झगड़ा नहीं निपटता। झगड़ेकी जड़ है स्याद्वादके विरुद्ध चलना। कितनेही घरोंमें देखा जाताकि लोग बड़ी क्रूरतासे एक दूसरेके साथ कैसे पेश आते हैं और कहोवे बड़े प्रेमके कारणही वचन निकले हों। जो ऐसे आशयोंको नहीं समझ सकते उनमें विरोधहो जाता है। समस्त विरोधको मिटाने वाला है स्याद्वाद। विश्वका रक्षक हैतो स्याद्वाद। और देखिए स्याद्वादके सहारे सब लोग जीवित रह रहे हैं फिरभी स्याद्वादका आभार नहीं मान सकते। किन्हींकोतो ज्ञानही नहीं है और जिनको ज्ञान है उनको अपने कुल धर्मका पक्ष है इसलिए स्याद्वादके बलपरहीतो हम जीवित हैं। और उस स्याद्वादका नाम लेकर चर्चा आयेतो वह विरुद्ध जंचती है। तोयह स्याद्वाद विश्वका रक्षक, आत्माका रक्षक, वस्तुस्वरूपका सही परिचय कराकर मोक्षमार्गमें लगाने वाला है। इस स्याद्वादके उपकारसे हम कभी उऋण नहींहो सकते।

द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक दृष्टिसे वस्तुस्वरूपका निर्णय कर सम्यक्त्व लाभ पाकर

सदाचारकी ओर अभिमुखता—दर्शन प्रतिमाधारी श्रावकका लक्षण कहाजा रहा है कि जिन्होंने सम्यक्त्व पाया है वेही इस प्रतिमाके धारी अधिकारी बन पाते हैं। सम्यक्त्व पानेके लिए वस्तुस्वरूपका सही ज्ञान होना आवश्यक है, अन्यथा समस्त परद्रव्योंसे हटकर, परभावोंसे हटकर निज सहज स्वभावमें मग्न होनेकी बात कैसे बनेगी? तो सम्यक्त्वके लिए वस्तुस्वरूपका निर्णय चाहिए। वस्तुस्वरूपका निर्णय स्याद्वादसे होता है। अतः स्याद्वादके आश्रयसे वस्तुका परिचय करना सम्यक्त्व लाभके लिए प्रथम आवश्यक है, स्याद्वादका अर्थ है अपेक्षासे कहना। वस्तुद्रव्यपर्यायात्मक होता है। वस्तु सदा रहेगा, वह सत् सदैव रहेगा, इसे कौन मेट सकता है? और वस्तुका प्रतिसमय परिणमन चलताही रहेगा, इसेभी कौन मेट सकता है? दो बातें पदार्थमें अत्यन्त आवश्यक है और हैं ही, तभी पदार्थकी सत्ता है। यदि परिणमन न रहेतो पदार्थही क्या और पदार्थकी सत्ता क्या? यदि वह वस्तुही शाश्वत न रहेतो फिर अवस्था किसकी? तो पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है। इसी कारण पदार्थका निर्णय द्रव्यार्थिकनय और पर्यापार्थिकनयसे होता है। यहां गुणार्थिक नय नहीं कहा गया, उसका कारण यह हैकि गुणतो द्रव्यस्वरूपको समझानेके लिए समीचीन पद्धतिसे स्वभावतः भेद किया गया है। परमार्थतः वस्तु एक अखंड स्वभावरूप है, पर वह समझे क्या? उसे समझाया कैसे जाए? सो प्रभु ने अरहंत देवने, गणधर देवोंने आचार्योंने करुणा करके अज्ञ जनोंको समझानेके लिए गुणभेद किया है। गुणके समझनेके लिए द्रव्यार्थिकनयही काफी होता है, क्योंकि गुण प्रतिपादनके लिए भेद किया गया मात्र है। कहीं गुणोंकी सत्ता नहीं है गुण वस्तुकी तारीफ है। वस्तु एक अखण्ड है और उसका प्रतिसमय परिणमनभी अखण्ड है। जैसे गुण समझानेके लिए बताए गए हैं ऐसेही पर्यायेंभी समझानेके लिए एक समयमें गुणपर्यायोंकी विशेषतासे अनेक हैं। जैसेकि यह पुद्गल पीला है, खट्टा है, कोमल है, अनेक पर्यायोंका भेदजो किया है गुणोंके सहारेसे वहभी व्यवहारसे है। वस्तुतः द्रव्य अखण्ड है और प्रति समयका परिणमनभी अखण्ड है। अखण्ड अखण्ड परिणमन प्रति समय होता चला जाता है। तोदो बातें माननी अतीव आवश्यक हुई जैसेकि वस्तुतः है, द्रव्य और पर्याय।

स्याद्वादमुद्रा—द्रव्यसम्बंधित धर्म द्रव्यार्थिक दृष्टिसे जाने जाते हैं, पर्याय सम्बन्धित धर्म पर्यायपार्थिक नयसे जाने जाते हैं। जब जैसे जीव द्रव्यार्थिकनयसे नित्यही है ऐसेही पर्यापार्थिकनयसे अनित्यही है। स्याद्वादकी मुद्रा "भी" से नहीं बनती, किन्तु "स्यात् और एव" से बनती है इस अपेक्षासे ऐसाही है यह है स्याद्वादकी मुद्रा। जैसा आजभी प्रसिद्ध किया जाता है—जीव नित्यभी है अनित्य भी है, यह स्याद्वादकी शुद्ध मुद्रा नहीं है। परजो लोग समझ जाते है, भीके कहनेसे भी उन्होंने द्रव्यार्थिकनयके स्यात् एव को व, पर्यायार्थिकनयके स्यात् एवको समझ रखा है, (अन्डरस्टुड कर रखा है) तब उन्हें भी कामदे रहे हैं। यदि अपेक्षासेहीकी बात उनके निर्णयमें नहो तो 'भी' एकदम गलत है, क्योंकि वस्तुका स्वरूप अपेक्षा देकर अवधारणपूर्वक समझा जाता है। अगर अपेक्षा लगाकर 'भी' कहा जाएतो उससेतो बड़ा अनर्थ बनेगा। जैसे कहा जाएकि जीव द्रव्यार्थिकनयसे नित्यभी है तो इसका अर्थ क्या होगाकि द्रव्यार्थिकनयसे अनित्यभी होगा। यह कितना विरुद्धहो गया। यदि कहा जायकि पर्यायार्थिकनयसे अनित्यभी हैतो इसका अर्थ क्या बनाकि पर्यायार्थिकनयसे नित्यभी होगा। तो 'भी' की मुद्रा स्याद्वादमें

न लेना और न शास्त्रमें किसी जगह 'भी' का प्रयोग मिलता है स्याद्वादमें, पर प्रसिद्धिहो गई है और लोग 'ही' कोतो भूल गए और 'भी' को प्रधान करके बताते हैंकि यह है स्याद्वाद।

स्याद्वादमें संशयवादकी नितान्त असंभवता—लोक कभी कभी ऐसा संदेह करने लगते हैंकि स्याद्वादतो संशयवाद है जहांभीका प्रयोग होता है वहां संशयको गुंजाइश हुआ करती है। तोभीके प्रयोगने संशयवादके संशयको बढ़ा दिया है। द्रव्य व पर्याय दोनों रूपसे भली भांति समझना चाहिए, मौलिक ढंगसे समझ करके फिर चाहे कोई 'भी' का प्रयोग करेतोभी वह अपना अनर्थ नहीं कर रहा, क्योंकि भीतरमें इतना समझ रखाहैकि इस भी के बीचमें द्रव्यार्थिकनयका स्यात् एव पड़ा है और पर्यायर्थिक नयका स्यात्एव पड़ा है, और इसी आधारपर 'भी' की प्रसिद्धि कुछ समयसे चली आयी। पर स्याद्वादकी सही मुद्रा है 'स्यात् एव' इनदो शब्दोंके बीचमें नित्यका प्रयोग करना चाहिएयाजो सिद्ध करना है। जैसे जीवः स्यात् नित्य एव, जीव किसी अपेक्षासे नित्यही है, जीवः स्यात् अनित्य एव, जीव किसी अपेक्षासे अनित्यही है, सो बिल्कुल स्पष्ट है। द्रव्य दृष्टिसे नित्यही है, पर्यायदृष्टिसे अनित्यही है। यदि भी की मुद्रा यहां व्यवहारमें भी लगाने लगे कोईतो बड़ी मजाक चल उठेगी। जैसे मानो घरमें कोई तीन लोग हैं—(१) सुरेश, (२) नरेश और (३) महेश। सुरेशतो है बाबा, नरेश है लड़का और महेश है पोता। अब वहां कोई यदि इस तरह बोलने लगेकि यह महेश नरेशका पुत्रभी है, तो क्या अर्थ निकलाकि नरेशका बाप भी होगा। देखिए इतनेमें कितना अनर्थहो गया। यह नरेश महेशका पिताभी है, तो अर्थ निकलेगाकि नरेश महेशका पुत्रभी होगा बाबाभी होगा। एक मोटे रूपमें लेलो बाबा, पुत्र और पोता। पुत्रकी पहिचान कराना है तो कोई कहेकि यह पोतेका बापभी है तोइसके मायने पोतेका पुत्रभी होगा। यह इस तरह अपने बापका लड़काभी है,तो इसके मायने हैकि वह अपने बापका बाबाभी होगा। तो लोक व्यवहारमें यदि स्याद्वादके रूपमेंभीका प्रयोग किया जाएतो वहांतो मजाक चल उठेगा। स्याद्वादमें 'भी' का स्थान नहीं है किन्तु 'ही' का स्थान है और वह है अपेक्षा लगाकर।

अपेक्षा और अवधारणकी पूर्वापरतासे स्याद्वादकी सम्हाल—स्याद्वाद एक बड़ी घाटी है, इसपर चढ़ना और उतरना यह खतरेसे खाली नहीं है। जैसे किसी बड़ी तेज पहाड़ी पर, रेल जातीहोतो रेल जानेमें और आनेमें आगे पीछेदो इञ्जन चाहिए तब बिना धोखेके पहुंच पाएगी गाड़ी। जब नीचे उतरती है तबतो दो इञ्जन बहुतही आवश्यक हैं। नीचेका इञ्जन खींच रहा हैतो ऊपरका इञ्जन अपनी ओर खींच रहा है ताकि इसका एकान्त वेग न बन जाय, नहींतो गड्ढेमें गिरेगी। ऐसेही वस्तुके किसी धर्मका निर्णय करनेके लिए उसके पीछे स्यात्का इञ्जन लगता है और आगे एवका इञ्जन लगता है, बीचमें वह धर्मका डिब्बा रखा जाता है—स्यात् नित्य एव। द्रव्यार्थिक दृष्टिसे जीव नित्यही है, पर्यायार्थिक दृष्टिसे जीव अनित्यही है, इसी प्रकार जीवोंमें जोभी सिद्धान्त नाना दार्शनिक कहते हैंवे सब स्याद्वादसे प्रथम आधारमें सिद्धहो जाते हैं। पर एकान्त होनेके कारण उसका रूप बिगाड़ लेनेसे वह निर्णयकी कोटिमें नहीं रह पाता। जैसे कोई कहता हैकि जीव एक है, कोई दार्शनिक कहता हैकि जीव अनेक हैं, एकही जीवके बारेमें बात कर रहे हैं अथवा कोई अनेक जीवोंको एक कह रहा होतो अब निर्णय देखिए स्याद्वादसे। जब अनेक जीवोंको स्वरूप दृष्टिसे देखातो क्या उनका भिन्न-भिन्न सत्त्व दृष्टिमें रहेगा?

यद्यपि सत्त्व भिन्न-भिन्न है, किन्तु जब केवल स्वरूपमात्रकोही निरख रहे हैंतो वहां भिन्न-भिन्न सत्त्व नजर नहीं आते। और यह भी नजर नहीं आताकि सबका मिलकर एक सत्त्व है, किन्तु चैतन्यस्वभाव दृष्टिमें आता है और इस स्वरूपदृष्टिसे जब जीवका एकत्व ज्ञात हुआसो ज्ञाततो हुआ, कहनेमें न आया। कहा गया बादमें कि वहांतो कोई विलक्षणता ज्ञात न हुई। तोस्वरूपदृष्टिसे देखते हैंतो स्वरूप एक समान होनेसे एक है। एकका अर्थ समानभी होता है। संस्कृतकोषमें एक-एकको भी कहते हैं और एक समानको भी कहते हैं। जैसे कहते हैंकि ये सबतो एक ही हैंतो क्या गिनतीमें एक है? सबका भाव एकसा है समान है। तो सब जीवोंमें एकपनाजो दार्शनिक मानते हैं वेस्वरूपदृष्टिसे चले और चलकर फिर उन्होंने अपना रूप बिगाड़ा, योंभी एक दर्शन बन गया। कोई दार्शनिक एक जीवमेंही अनेक जीव मानते हैं। वे एक जीव नहीं हैतो उसका आधार स्याद्वादमें क्या है? पर्यायार्थिकनय। जब एक जीवको पर्यायदृष्टिसे निरखते हैंतो प्रति समयका पर्याय भिन्न-भिन्न है। तो पर्यायरूपसे देखा हुआ वह तत्त्व सब भिन्न-भिन्न लक्षण वाला है। इस आधारसे कोई चला और चलकर हठकर गया, और रूप बिगाड़ लियातो वह ऐकान्तिक बन गया, पर स्याद्वाद एक ऐसा मित्र हैकि विश्वके समस्त दार्शनिकोंको एक मंचपर आरामसे बैठा देते हैं।

पदार्थमें मौलिकदो निर्णयोंकी अपेक्षाका दिग्दर्शन एवं एक साथ कहना अशक्य होनेसे अवक्तव्यता—स्याद्वादमें मूलमेंदो निर्णय बताए गए, एक द्रव्यार्थिक दृष्टिका निर्णय और एक पर्यायार्थिक दृष्टिका निर्णय। पर कोई यह प्रश्न पूछेकि हमकोतो तुम एकही बारमें, एक ही शब्दमें बतला दो कि जीव कैसा है? आप पहले कहतेहोकि द्रव्यार्थिक दृष्टिसे नित्य है फिर कहते पर्यायार्थिक दृष्टिसे अनित्य है, तोऐसी दो बातें हम नहीं सुनना चाहते। आप हमको एकही शब्दमें, एकही समयमें वस्तु कैसा है यह बतलाइये। तो क्या यह बतायाजा सकता है? दुनियामें कोई शब्द है क्या ऐसाकिजो वस्तुके स्वरूपको एक शब्दमें बता दे? शब्दही पक्षपात करते हैं पहलेतो। अथवा शब्द वस्तुके स्वरूपमें भेद बताते हैं। आप किस शब्दसे पदार्थको कहेंगे? आपने कह दियाजीव।तो जीवशब्दसे वह पदार्थ जिसको हम चाहते क्या पूरा जान लिया गया? जीवके मायनेतो यह हैकि जो प्राणोंसे जीवेसो जीव, पर जीवमें क्या अन्य कोई विशेषताएँ नहीं हैं? सम्यक्त्व छोड़ दिया, सारी बातें छोड़दीं उस जीवशब्दने। तो जीव शब्दभी जीवको अच्छी तरह नहीं कह सकता। कोई कहे आत्मा, तो आत्माका अर्थ हैकि 'अतति सतत गच्छति जानाति इति आत्मा', जो निरन्तर जानता रहेसो आत्मा। तोइस आत्मा शब्दने क्या उस जीव पदार्थको पूरा बता दिया, उसनेतो जानने जाननेकी ही बात कही, पर उसमें रमनेकी शक्ति है आस्थाकी आदत है। आनन्दभी उसका धर्म है, यहतो आत्मा शब्दने नहीं कहा। कोई शब्द नहीं है ऐसाकि जो वस्तुको पूर्णतया कह सके। तो द्रव्यार्थिक दृष्टिसे नित्य और पर्यायार्थिक दृष्टिसे अनित्य जिसके सम्बन्धमें कह रहे उस जीवको एक शब्दसे बताया नहींजा सकता इस कारण वह अवक्तव्य है। कोई कहेकि लो तुमने अवक्तव्य शब्दसेतो बता दिया, अभी कह रहेथेकि कोई शब्द ऐसा नहीं हैजो पदार्थको ठीक बता सके। अरे भाई अवक्तव्य शब्दभी सही नहीं है जीवको बतानेके लिए। कैसे? अवक्तव्यका अर्थ है जो

कहा न जा सके, पर तुमतो अवक्तव्य अवक्तव्य कहतो रहे हो। कैसे कहाजा सकता हैकि अवक्तव्य शब्द इस जीवको पूरा बता सकता है?

स्याद्वादमें सप्तभङ्गी—इन तीन धर्मों द्वारा जीवको समझा, जीव नित्य है जीव अनित्य है, जीव अवक्तव्य है, जब ये तीन धर्म समझे गएतो इनका कोई संयोग करके समझेतो चार पद्धतियां और बन जाएँगी। इनमें संयोगदोका हो सकता है, तीनका हो सकता है, तब यह समझा गयाकि जीव नित्य है, अनित्य है, अवक्तव्य है और नित्य अवक्तव्य है, अनित्य अवक्तव्य है, नित्यानित्य है और नित्यानित्य अवक्तव्य है। इसीको कहते हैं सप्तभंगी। जहां तीन बातें स्वतंत्र हों वहां उसके ढंग ७ बनते हैं। जैसे मानो खानेकी तीन चीजें रखलो नमक, मिर्च, ककड़ी। इनमें आप केवल नमकका स्वादले सकते, केवल मिर्चका स्वाद ले सकते, केवल ककड़ीका स्वादले सकते, नमक ककड़ीका स्वादले सकते, मिर्च ककड़ीका स्वादले सकते, नमक मिर्चका स्वादले सकते और नमक मिर्च ककड़ीका स्वादले सकते। तो ऐसेही जब इस जीवके तीन धर्म स्वतंत्र विदित हुएतो उनके ७ रूप बन गए जाननेके लिए।

प्रयोगात्मक पद्धतिसे आत्माकी चार परखें—उन सप्तभंगोंमें भी मुख्य प्रयोजन तीनसे बन जाता है। द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है, पर्यायदृष्टिसे जीव अनित्य है। जब कुछ अनुभव करने बैठेंगेतो वह जीव न नित्य है, न अनित्य है अर्थात् अनुभव है। ऐसी तीन बातें अधिक हम आपके प्रयोगमें आती हैं और साथही एक बात और समझनाकि नित्य और अनित्य दोनोंको समदृष्टिसे परखा जायतो एक प्रमाण बन जाता है तो हम चार प्रकारसे अपनी परख कर पाते हैं, जैसे आदमीकेदो आंखें हैं। उनमेंसे दाहिनी आंख बंद करके बाईं आंखसेही देखेंतो यहभी एक देखनेकी पद्धति है, बाईं आंख बंद करके दाहिनी आंखसे देखेंतो यहभी देखनेकी पद्धति है, कोई दोनों आंखें खोलकर देखेतो वहभी पद्धति है और कोई दोनों आंखोंको बंद करके देखेतो वहभी देखनेकी पद्धति है, उसमें चाहे स्वरूप देखेया सामान्य प्रतिभास देखे। तो जैसे देखनेकी चार विधियां हैं ऐसेही समझनेकीभी चार विधियां हैं। द्रव्यार्थिकनयसे जानिए, पर्यायार्थिकनयसे जानिये, इन दोनोंसे जानिये और इन दोनोंको छोड़कर केवल अपने अनुभवसे जानिये। तो स्याद्वादसे वस्तुको समझकर यही प्रक्रिया बनती हैकि वस्तुतो असलमें द्रव्य पर्यायात्मक है। यहतो प्रमाणसे समझा, पर उसके अन्तर्गत यहभी जानेंकि द्रव्यात्मकतो द्रव्यार्थिकनयसे है और पर्यायात्मक पर्यायार्थिकनयसे है। तो अब क्या करना जानकर। भाई समझ गए और हर तरहसे सर्व पदार्थोंको जान लिया और साथही यहभी जान गएकि एकका दूसरेमें कुछभी नहींहो सकता है, क्योंकि सब द्रव्य अपने अपने द्रव्य पर्याय रूप हैं। तब सर्वपरका विकल्प छोड़कर और अपने आपमें द्रव्यरूप हूं, पर्यायरूप हूं, द्रव्यपर्यायात्मक हूं। ऐसेभी विकल्पको छोड़कर जो निर्णय किया है उस निर्णयमेंजो स्व जीव पदार्थ आया है बस विकल्प तजकर उसहीको निरखता रहे, ऐसे अपने सहज स्वरूपको अनुभवनेसे सम्यग्दर्शन होता, अथवा यहीतो सम्यग्दर्शन है। ऐसे स्वभावका आश्रय करनेसेजो बात बननी है वह सहज बनेगी, सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियां दुर्बल बनेंगी, क्षीण होंगी, नाशको प्राप्त होंगी, सम्यक्त्व मिलेगा, मगर करनेका काम एकही है, निजसहज स्वभावको आत्मारूपसे अनुभवना। तो यह सम्यग्दर्शन जहां प्राप्तहो गया है और उस आचरणमें बढ़नेका प्रारम्भ किया है वही दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

दार्शनिक श्रावकके देवत्वका यथार्थ श्रद्धान—श्रावक के ११ दर्जोंमें पहला दर्जा है दार्शनिक श्रावक। इस प्रतिमामें सम्यग्दर्शनकी मुख्यता है, चूँकि सम्यग्दर्शनके बिना कोई व्रत नहीं कहलाता। सम्यग्दृष्टिही मोक्षमार्गमें गमन करता है, इस कारण प्रथम प्रतिमाधारी वही होता हैजो सम्यग्दर्शनसे सम्पन्नहो। इस सम्यग्दर्शनके लाभके लिए क्या करना चाहिए? तो अभी बतलाया गया थाकि वस्तुस्वरूपका सही ज्ञान करना चाहिए और केवल इतनाही नहीं किन्तु देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान चाहिए। व्यावहारिक रूपसे श्रद्धातो होनी ही चाहिए तब सम्यग्दर्शन होगा, सो इससे सम्बंधित देव, शास्त्र, गुरुका थोड़ा वर्णन जानना आवश्यक है। देव वह कहलाता है जिसके आत्मामें गुणतो पूरे प्रकट हो गए हों और दोष रंचमात्रभी न रहाहो। भला बतलावो, यदि यह कहाजायकि आत्माके गुण पूरे नहीं प्रकट हैं उसे देव कहते हैं-तो कोई मान लेगा क्या? योंतो हम आप सभी संसारी जीव हैं। आत्माके गुण सबमें हैं, और प्रकट हैं। पर पूर्ण प्रकट होना और अधूरे प्रकट होना इसमें बड़ा अन्तर है। दूसरी बात सोचिए, यदि कहा जाएकि आत्मामें दोष रंच न रहें इसकी क्या आवश्यकता? जिसमें बहुतसे दोष न रहें वह हमारा देव है। तो इसेभी कोई नहीं मान सकता। जैसे किसीभी दूसरे लोगोंसे जो रागी द्वेषी देव मानते हैं यदि इस तरह पूछा जाएकि जिसमें गुण पूरे न हों वह देव होगा क्या? तोवह कहेगा नहीं। जिसमें दोष पूरेन हटें वह देव होगा क्या? तो उत्तर होगा? ··· नहीं। भलेही कुल धर्मके हठके कारण रागद्वेष करने वालेके रूपमेंही देवको माने और भक्ति करें पर लक्षणत: भक्तिकी जायतो सबको सही बात कहनी पड़ेगी। तो देव वह है जिसके गुण समस्त प्रकट हों, पूर्ण प्रकट हों और दोष रंचमात्र भी नहों, तो समस्त गुण प्रकट होगए, उसका प्रतिनिधि विशेषण है सर्वज्ञ। जो सर्वको जानने वाला है वही आनन्द वाला है, अनन्त दर्शनवाला है, पूर्ण विकास है, तो पूर्ण विकासको बताने वाला प्रतिनिधि रूप विशेषण है सर्वज्ञ और दोष रंचमात्रभी नहीं है, इसको बताने वाला शब्द है वीतराग।

वीतरागतामें समस्त रागद्वेषसे रहितताका द्योतन—जहां राग न रहा वहां कोई दोष नहीं रहता, क्योंकि रागके अतिरिक्त जितनेभी दोष हैं वे सब दोष राग मिटनेसे पहले खत्महो जाते हैं। सभी दोषोंके खतम होनेके बाद रागका दोष खत्म होता है। तो जहां वीतराग कहा वहां पूर्ण निर्दोष अर्थ अपने आप है। दोष कहलाता है मोहनीय कर्मके प्रभावका। सो सम्यक्त्वघातक कषाय और आशय ७वें गुणस्थान तकमें समाप्तहो जाता है, फिर ९वें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्या—नावरण कषाय संज्वलन क्रोध संज्वलन मान और संज्वलन माया समाप्तहो जाती हैं। और इतना सारा दोष खत्महो गया सिर्फ संज्वलन लोभ रह गया। वह दशम गुणस्थानके अन्तमें समाप्तहो जाता है। तो जहां वीतराग कहा वहां पूर्ण निर्दोष अर्थ लेना चाहिए। तोजो वीतराग और सर्वज्ञ है वह देव है।

मोक्षमार्गमें देवत्वके परिचयकी अनिवार्य आवश्यकता—देवका परिचय करना क्यों जरूरी है आत्मकल्याण चाहने वालोंको? वह इसलिए जरूरी हैकि आत्मकल्याण चाहने वाला पुरुष बनेगा क्या? अपने बारेमें मैं क्या बनूँगा, कौनसा पद/उत्तम है, जिसमेंकि मैं निर्दोष और शान्त आनन्दमय रहूं? वह है अरहंत देव पद पश्चात् सिद्ध देव पद। तोजो मैं बनना चाहता हूं, जोमैं बनूँगा उसकीही जब जानकारी नहीं हैतो इसकी प्रगति होना मुश्किल है। अपने बारेमें कौन नहीं जानता। पूरा न जाने

युक्तिसे न जाने फिरभी अंदाज करते। काहेके लिए व्यापार करते? उसे पतातो हैकि मैं धनिक बनूँगा। काहेके लिए धर्म करते? मन्दिरमें आनेकी रोज-रोज तकलीफ क्यों उठाते? तो संसारमेंजो उत्तम पद है उस पदके पानेके लिए उस पदका ध्यान करते जाते हैं, यह उसका उत्तर है। जोलोग धन, पुत्र मुकदमा आदिकके अभिप्रायसे देवकी पूजा दर्शन करने जाते हैं उनकेतो पापका उदय है। उन्हें कौन समझाए? कैसे समझमें आए? जब मोह पाप चलही रहे हैंतो समझमें नहींआ सकता। निर्वाञ्छक होकरजो देवकी भक्ति करेगा उसकोये बातें भी स्वयं प्राप्त होती हैं औरजो असली चीज है कर्म क्षय, धर्म विकाससो वह होगाही। जैसे किसान ऐसा कोईभी मूर्ख न मिलेगाकि जो भुसही पैदा करनेके लिए खेती करता है। किसीके आशयमें यह बात नहीं रहतीकि मुझे भुस पैदा करना है और वह मैं बेचूंगा, खेती करते हुए ऐसा किसीका अभिप्राय नहीं रहता। अभिप्राय यह रहता हैकि मैं अन्न पैदा करूंगा। तो अन्न उत्पन्न करनेके भावसे खेती करने वाले किसानको भुसतो अपनेआप प्राप्त होता है। ऐसेही वाञ्छारहित आत्मस्वरूपकी श्रद्धा सहितजो देवोंकी उपासना करता है उसको जब तक संसार शेष है तब तक सारी समृद्धियां अपने आप होंगी और धर्ममार्ग मिलेगा। सो अन्तमें मोक्षपद प्राप्त होगा यहतो एक सर्वोत्कृष्ट पद है। तो देवकी श्रद्धा सही होना बहुत आवश्यक है।

धर्मसाधना में तत्त्वज्ञानकी मूल आवश्यकता—भैया, श्रद्धातो है अनेक मनुष्योंकोकि मैं धर्म करूं और धर्मके लिए वे बहुत-बहुत परिश्रमभी करते हैं, पर चाहे उन परिश्रमोंको आधा कर दें, किन्तु तत्त्वज्ञानके अभ्यासमें अपना उपयोग अवश्य लगाएँ, तो यह उनके लिए लाभकारी उपाय है। एक बात बिल्कुल निश्चित समझनाकिजो मनुष्य अपना ज्ञान पानेके लिए उमंग रखता है, दूसरोंको ज्ञान देनेके लिए उमंग रखता है। ज्ञानके साधनोंको बढ़ानेकी जिनकी उमंग रहती है वे जीव क्रमशः इस ज्ञान विकासको पाकर केवल ज्ञान पायेंगे। मनुष्यभवमें महत्त्व दीजिए एक ज्ञानको। बाकी औरभी काम करने पड़ते हैं धर्मके नामपर, पर वे सब आनुषंगिक हैं, और सब प्रकारके त्याग दान करते जायें और एक ज्ञानका लगाव न हो, ज्ञानके लिए हर्ष और उमंग न हो तो वह मार्ग नहीं मिल सकता जिससे संसारके संकटों से सदाके लिए छूट सकते हैं, बाकीका फल इतना अवश्य होगाकि थोड़ा शरीर अच्छा मिलेगा, धन मिल जाएगा, इज्जत मिलेगी मगर रहेंगे संसारकेही संसारमें। ज्ञानकी प्रीति बिना संसारके संकटोंसे छूटना असम्भव है। तो अब जीवका ज्ञान क्यों आवश्यक है? सोजो पद मुझे पाना है, धर्मके फलमें जो बात मेरेमें बनेगी उसका ज्ञानहोनेसे उस कालमेंभी मदद मिलती है और मार्गभी स्पष्ट होता है।

ज्ञानस्वभावका स्वरसतः विकास—देव वह हैजो तीन कालकी गुण पर्यायोंसे सहित समस्त लोकालोकको प्रत्यक्ष जानता है। केवल सर्वज्ञही कह दीजिए देव क्योंकि वीतराग हुए बिना सर्वज्ञ नहींहो सकता। तो जहां आगेकी बात कहदीतो पहलेकी बाततो आही गई। यह आत्मा ज्ञानस्वभाव वाला है, इस पर उपाधिका आवरण है, विधिपूर्वक आवरण दूर होगा, तो ज्ञानमें विकसित होनाही पड़ेगा। दूसरा कोई चाराही नहीं, स्वभावही है ज्ञानका जैसे दरवाजेके किवाड़में स्प्रिंग लगे हैंतो वे मानों बंद रहते हैं, कमरा सुरक्षित रहता है उसके किवाड़ोंको यदि खोला जायतो जब तक आप हाथ से पकड़े खेंचे हुए हैं तब तकतो किवाड़ खुले रहेंगे, पर वह आवरण हट जाए, हाथकी उपाधि हट जायतो उन

किवाड़ोंकोतो लगनाही पड़ेगा, वह कमरा सुरक्षित रहेगाही । स्वभाव है आत्माका जानना । इन इन्द्रियोंसे जानना यह स्वभाव नहीं है । सामनेकी चीज जानना यह ज्ञानका स्वभाव नहीं है । केवल पौद्गलिक चीजही जानना यह ज्ञानका स्वभाव नहीं है । ज्ञानका स्वभाव है आत्मीय शक्तिसे जानना, ज्ञानका स्वभाव है मनसे परे जानना, तीन कालकी जानना और सबको जानना । स्वभावानुरूप विकासके विरुद्धजो वह अधूरा ज्ञान चल रहा है वह उपाधिके कारण अधूरा है । स्वभावतो आत्माका सर्व सबको जाननेका है, सो जानता है, सर्वज्ञ, यदि सर्वज्ञ न होतातो आज अतीन्द्रिय पदार्थका ज्ञान हम आपको कहांसे मिलता ? आज आत्माकी चर्चा कर रहे हैं, द्रव्यकी शक्तियोंका परिचय बना रहे हैं, यह सब सर्वज्ञताके बिना नहीं बन पाता । कौन उपदेश करता ? किस तरह जानना ? इन्द्रिय ज्ञानमें यह सामर्थ्य नहीं हैकि वह अतीन्द्रिय पदार्थोंको जानले । तो सम्यक्त्व लाभके लिए देव, धर्म और गुरु इन तीनका परिचय करना आवश्यक है ।

दार्शनिक श्रावकके धर्मके प्रति श्रद्धान—वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा बताया गयाजो धर्म है वह कल्याणकारी है । धर्म पालनहार पुरुषोंके भेदसेदो प्रकार हैं । एक परिग्रहसहित ज्ञानियोंका धर्म और एक परिग्रहरहित ज्ञानियोंका धर्म । परिग्रहसहित ज्ञानी श्रावक कहलाता है, परिग्रहरहित ज्ञानी मुनि कहलाता है । सो श्रावककाजो धर्म है वह इन ११ प्रतिमावोंके रूपमें कहाजा रहा है । और ११ प्रतिमासे पहले है सम्यक्त्व । तो श्रावक धर्म ११ प्रकारोंमें पड़ा है । सम्यग्दर्शन और ११ प्रतिमा, सम्यग्दर्शन सहित प्रथम प्रतिमाहोतो वह पंचम गुणस्थानमें कहा गया है । जो ज्ञानी पुरुष उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य इन १० धर्मोंका धारी होता है, परिग्रहरहित है, सहज आत्मस्वभावकी ही जिसकी धुन है वह कहलाता है गुरु । ऐसे देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान होना व्यवहारतः श्रद्धान हुआ । चाहे गुरू आत्मस्वभाव के अनुभव के बिना हो किन्तु हो यथार्थ ज्ञान का धारी तो वह गुरू आत्मस्वभावके अनुभव करानेका कारण बनकर सही श्रद्धानहो जाता है । तो सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेके प्रयत्नशील पुरुष देव गुरु धर्ममें प्रीति रखते हैं वे सम्यक्त्वको पायेंगे ।**भव्य संज्ञी विशुद्ध परिणामी जागृत जीवके सम्यक्त्वलाभकी पात्रता**—सम्यक्त्वको पाने वाला जीव किस परिस्थितिका होता है यहभी जानना ताकि अपने बारेमें यह निर्णय बन जाएकि क्या हम सम्यक्त्व पानेकी सामर्थ्यके अधिकारी है ? कौन जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है ? सर्वप्रथम जिसको सम्यक्त्व प्राप्त होगा वह चारों गतियोंमेंसे किसीभी गतिमें सम्यक्त्वको प्राप्त कर सकता है, होना चाहिए भव्य जीव । नारकी जीवभी सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है, तिर्यञ्चभी सम्यक्त्व प्राप्त करता है, मनुष्य और देवभी सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं । एक बात और जाननाकि सम्यक्त्व पानेके लिए अधः करण, अपूर्व करण, अनिवृत्तिकरण परिणाम होता है और यह परिणाम वह जीव प्राप्त करता है जिसके क्षयोपशमलब्धि हो, देशनालब्धिहो, विशुद्धिलब्धिहो और प्रायोग्यलब्धि प्राप्तकी हो । तो उपदेश मिला है जिसको, सम्यक्त्व वही पाता है मगर किसीको पूर्वभवमें उपदेश मिला काम देता, किसीको उसही भवमें मिला उपदेश काम देता । अब आप जानेंकि उपदेश सुनना कितना लाभकारी है । देशनालब्धि पाए बिना सम्यग्दर्शन किसीको नहीं होता, चाहे पूर्वभवमें देशनालब्धि मिलीहो चाहे इस भवमें । यथार्थ ज्ञान वाली बात सुनना समझना यह इस जीवके लिए बहुत लाभकारक बात है । यह संस्कार कभी काम देगा । तो

सम्यक्त्व पानेके अधिकारी चारों गतियोंके जीव हैं, भव्य हैं और वे संज्ञी हैं, असंज्ञी जीवोंमें उपदेश धारण करनेका सामर्थ्य नहीं होती। वह पुरुष विशुद्ध है जिसको शुभ लेश्यायें हो, विशुद्ध परिणाम बढ़ रहाहो वह जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है। टीकाकारने बताया हैकि निद्रायें ५ होती हैं। दो निद्रातो हल्की होती हैं, निद्रा और प्रचला और तीन निद्रायें गहरी होती हैं, निद्रा निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि। ऐसी तीन महानिद्रावोंमें रहने वाला जीव सम्यक्त्व नहीं प्राप्त कर सकता। संस्कृत टीकाकारके इस स्पष्टीकरणसे एक समस्या और सुलझ गई है। यहां बताया गया है कि मुनिकी निद्रा अन्तर्मुहूर्त होती है छठे गुणस्थानमें, ७वें में निद्राही नहीं है। तो लोग जब देखते हैंकि ऐसा कौन मुनि है जोदो चार सेकेण्ड नींद लेवे और फिर जग जाय? पर जिस निद्राको बताया गया है वह तीव्र निद्रा हैजो सम्यक्त्वमें बाधक है, वह उच्च संयममें बाधक है ऐसा यह जीव जागृत दशामें सम्यक्त्वको प्राप्त करता है।

भव्य, संज्ञी सुविशुद्ध जागृत जीवोंमेंभी पर्याप्त निकटसंसारीके सम्यक्त्वलाभकी पात्रता—श्रावककी ११ प्रतिमावोंमें मूल आधारभूत प्रतिमा दर्शन प्रतिमा है, दर्शन प्रतिमामें जीव निरतिचार सम्यग्दर्शन और निरतिचार मूल गुणका धारी होता है, जिसमें यह सम्यग्दर्शनका प्रकरण चल रहा है। सम्यक्त्वसे उत्पन्न होने वाला जीव चारों गतिकाहो सकता है। भव्यहो, संज्ञीहो, परिणाम विशुद्धि बढ़ रहीहो और महानिद्रावोंमें नहो और वह जीवपर्याप्त होना चाहिए। कोई जीव अपना भव छोड़कर दूसरा भव प्राप्त करता हैतो चूँकि पहले शरीर छूट चुकासो अब रास्ते में विग्रहगतिमें यह जीव अपर्याप्त है, पर जिस जगह नया देह धारण करेगा उस जगह पहुंचनेपर भी चूँकि नये आहार वर्गणावोंको शरीर रूप बनानेमें है। तो जब तक वह नया आहार वर्गणाका पिण्ड को शरीर रूप बननेकी शक्ति नहीं पाता तब तक वह अपर्याप्त कहलाता है। अपर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नहीं होती। पर्याप्त हुए बाद देव और नारकियोंकोतो अन्तर्मुहूर्त बाद सम्यक्त्वहो सकता है। तिर्यञ्चोंको किसीको तीन दिनमें किसीको और अधिक दिनमें सम्यग्दर्शनहो सकता है, किन्तु मनुष्योंको ८ वर्षमें सम्यक्त्वहो सकता है, नया सम्यक्त्व होनाहो उसकी बात कहीजा रही है। पञ्चेन्द्रिय संज्ञी तिर्यञ्चोंमें जिनकी आयु बहुत छोटी होती है औरवे तीन दिनमें ही शरीरसे यथासंभव पुष्टहो जाते हैं इस कारण उन्हें जल्दी सम्यक्त्वहो सकता है। पर मनुष्योंके सम्यक्त्व ८ वर्षकी आयु होने पर उत्पन्नहो पाता है। तोये ८ वर्ष गर्भसे निकलनेके बाद नहीं किन्तु जबसे वह गर्भमें आया तबसेही आयुवाला माना जाता है। जन्म उस समय हुआ जब जीव गर्भमें आया, मनुष्यतो तबहीसे कहलाया। तो पर्याप्त होना चाहिए तब वहां सम्यक्त्व धारण करनेकी पात्रता होती है। यह जीव संसार के निकट है। जिसके सम्यक्त्व होता है वह कुछही समय बाद निर्वाणको प्राप्त करता हैतो यही संसारकी निकटता कहलाती है। तो जिस जीवका संसार निकट है वह जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

सम्यक्त्व होतेही अधिकसे अधिक संख्या अर्द्धपुद्गल परिवर्तनकालही शेष—सिद्धान्तमें बताया गया है कि जब संसार अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन रह जाता है तब सम्यक्त्व होता है। पुद्गल परिवर्तनकालभी बहुत बड़ा होता है, उसमेंभी अनगिनते वर्षोंका (सागरोंका) काल रहता है। किन्तु एक सीमा बन गई, अब यह जीव मोक्ष जाएगा।

मोक्ष पानेके निश्चयका आदर—एक कथानक है कि एक श्रावक भगवानके समवशरणमें वंदनाके लिएजा रहा था, रास्तेमें एक मुनि महाराज मिलेतो मुनिकी वंदनाकी। तब मुनि महाराज बोलेकि तुम समवशरणमें जा रहेहोतो वहां गणधर देवसे इतना पूछ आना हमारे विषयमेंकि कितने भव शेष रह गए। तो वह श्रावक वंदनाके लिए गया और गणधर देवसे पूछाकि अमुक मुनिराजके कितने भव संसारमें शेष रह गए? तो उत्तरमिलाकि वह मुनि जिस वृक्षके नीचे बैठा मिलेगा उस वृक्षमें जितने पत्ते हैं, उनकी जितनी गिनती है उतने भव संसारमें उसके बाकी रहे। तो यह बात सुनकर श्रावक बड़ा खुश हुआ और पहुंचा मुनि महाराजको खुश खबरी सुनानेके लिए। पहलेतो वह मुनिराज एक छेवलेके पेड़के नीचे बैठे हुए थे, उसमें कुल १०—१२ ही पत्ते थे, परन्तु जिस समय वह श्रावक मुनिराजके पास पहुंचा उस समय वह इमलीके विशाल पेड़के नीचे बैठे हुए थे। इस दृश्यको देखकर वह श्रावक माथा धुनने लगा। भला बताओ एक विशाल इमलीके पेड़में कितने पत्ते होंगे, क्या कोई अंदाज लगा सकता? उस श्रावकको माथा धुनते देखकर मुनिराजने पूछा—कहो, माथा क्यों धुनते? क्या बताया गणधर देवने मेरे भवोंके बारेमें? तो वह श्रावक बोला—महाराज गणधर देवनेतो यह बतायाथाकि मुनिराज जिस पेड़के नीचे बैठे मिलें उतने भव शेष हैं, तो इमलीके पेड़के नीचे आपको बैठा हुआ देखकर मुझे दुःख हुआकि आपके अभी अनगिनते भव शेष हैं। तो मुनिराज बोले—अरे खेद क्यों मानते? यहतो खुशीकी बात है। इस अनन्तकालके सामने कमसे कम कुछ कालकी सीमातो बन गई। अनन्तकालमेंतो भवोंका अन्तही नहीं आता, पर अब मेरे भवोंका अन्ततोआ गया। तो कोई जीवसम्यक्त्व पाकर थोड़ेही मिनटोंमें मोक्ष जा सकता, पर ज्यादह संसारमें रुलना पड़ेगातो अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन तक रहेगा। वह संसार तट उसका निकट हो गया, ऐसा ज्ञानी जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है।

सही ज्ञान व सम्यग्ज्ञान—बताया यह गया हैकि सम्यग्दर्शनके होने पर सम्यग्ज्ञान होता है, किन्तु यह सोचेंकि सम्यग्दर्शन होनेसे पहलेजो ज्ञान होता है, जिस ज्ञान वालेको सम्यग्दर्शन होगा, क्या वह ज्ञान विपरीत है? क्या वह देहको जीव मान रहा है? नहीं, विपरीततो नहीं है। ज्ञान उसका सही है, ७ तत्त्वोंका यथार्थ बोध है। देव, शास्त्र, गुरुका सही स्वरूप जानता है। आत्माके स्वरूपकोभी जानता है। ज्ञानतो सब सही चल रहा है जिस जीवको सम्यग्दर्शन होगा, पर वह ज्ञान सही होकरभी सम्यग्ज्ञान क्यों नही कहा गया? उसका कारण यह हैकि उस ज्ञानसेजो जानना है, उसकी अनुभूति नहीं हुई है, अनुभूतिरहित ज्ञान है वह, जोकि सम्यक्त्वसे पहले है, मगर है सही। अनुभवहो जानेपर तत्काल सम्यक्त्व हुआ। तत्कालही वह सम्यग्ज्ञान कहलाने लगा, तो ज्ञानी जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है।

सम्यक्त्वोत्पत्तिका कारण—अब तक सम्यक्त्व क्यों नहीं हुआ? उसका कारण उपादानकी ओरसे तो यह हैकि यह जीव विषय कषायोंमें लगा रहा, देहको अपना मानता रहा, इस कारण उसने सम्यक्त्व नहीं पाया, पर ऐसाभी करता क्यों रहा? यहभीतो प्रश्न कियाजा सकता है। तो निमित्त दृष्टिका उत्तर दिए बिना समाधान न बनेगा। तो निमित्तकी ओरसे यह उत्तर हैकि सम्यक्त्वका घात करने वाली ७ प्रकृतियां हैं उन ७ प्रकृतियोंका उदय रहा। उपशम, क्षय, क्षयोपशम नहो सका इस कारण सम्यक्त्व न हुआ। किसीभी पदार्थमें कोई नए ढंगकी बात होती हैतो उसकी कोई परद्रव्यकी दशा

निमित्त कारण हुआ करती है। सम्यक्त्व घातक प्रकृतियां हैं मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ। इन ७ प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम सम्यक्त्व होता है और ७ प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है व उनके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है। क्षायिकसम्यक्त्वतो केवली भगवानके पादमूलमें मनुष्योंकोही हो सकता है। कोई यदि श्रुतकेवली हैतो उसको अपने आप क्षायिक सम्यक्त्वहो सकता है। उसे यह अनिवारित नहीं हैकि केवलीका पादमूल मिलने परहीहो।

सम्यक्त्व होते समयकी निमित्तरूप कर्मदशाका निरूपण—उक्त तीन सम्यक्त्वमें सबसे पहले उपशम सम्यक्त्व हुआ करता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके ७ प्रकृतियोंकी सत्ता नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व और सम्यक्प्रकृतिका बंध नहीं हुआ करता, किन्तु उपशम सम्यक्त्व होने पर तुरन्तहीजो दबा मिथ्यात्व है उसके तीन टुकड़ेहो जाते हैं—कुछ मिथ्यात्व रहता है, कुछ वर्गणायें सम्यग्मिथ्यात्वहो जाती हैं, कुछ कर्म वर्गणायें सम्यक्प्रकृतिहो जाती हैं, तब ७ की सत्ता रहती है। सो अनादि मिथ्यादृष्टिके ५ प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम सम्यक्त्व होता है। अनुद्वेलितसादिमिथ्या दृष्टिके इन ७ प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम सम्यक्त्व होता है। ऐसा उपशम सम्यक्त्व कब होता है जब जीवके कर्मबन्धन अन्त: कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिका होता है, वहां उपशम सम्यक्त्व होता है। यह स्थिति बहुत कम है मिथ्यादृष्टि जीवमें, नहींतो ७० कोड़ाकोड़ी सागर तकके कर्म बंधते हैं एक समयके खोटे भावमें। ७० कोड़ाकोड़ी न रहा, एक कोड़ाकोड़ीभी न रहा, उससेभी बहुत कम हैं। इतनी स्थितिके कर्म जब बंधने लगते हैं जब जीवको उपशम सम्यक्त्व होता है। इतनी छोटी स्थितिके कर्म बंधनेका क्या कारण है! प्रायोग्यलब्धि। सम्यक्त्व पानेके लिए ५ लब्धियां हुआ करती हैं। क्षायोपशमिक लब्धि याने कर्मका हल्कापनआ जाना, विशुद्धिलब्धि परिणाम में निर्मलता जगना, देशनालब्धिमें आचार्य आदिक उपदेशकोंका उपदेश सुननेको मिलना और उस उपदेशका अर्थ समझ पाना और हृदयमें अवधारण होना, प्रायोग्यलब्धि एक ऐसा विशुद्ध परिणाम हैकि जिसमें कर्मकी स्थितिका बंध हल्का होने लगता है और यहां ३४ बार ऐसा अवसर आता है जिसमें इतना हल्काहुआ तो नरकायु न बंधेगी, और हल्काहुआतो अन्य प्रकृतियां न बंधेगी। इस प्रकार ३४ बारमें ऐसी प्रकृतियोंकाभी बंध रुक जाता हैकि उनमेंसे कई प्रकृतियां ऐसी हैं कि जिनका छठे गुणस्थानमें तो बंध होने लगेगा पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न करने वाले मिथ्यादृष्टिके बंध न हो सकेगा, इसको कहते हैं बंधापसरण, इसे सम्वर नहीं कहते। सम्वरतो सम्यक्त्व पाये बिना नहो पाएगा, पर उस मिथ्यादृष्टि जीवकेभी इतने निर्मल परिणाम प्रायोग्यलब्धिमें चलेकि उस कालमें अनेक प्रकृतियां बंधसे रुक गईं, और भलेही सम्यक्त्व होतेही बंधने लगेंगी। उसके भीतरकी विशुद्धि निरखिये, किस दर्जेकी विशुद्धि है। बातभी ऐसी हैकि सम्यग्दर्शन होते समय सम्यक्त्व होने पर जितना कर्मभार हट जाता है उसके बादजो कर्मभार जीवके साथ रहा है वह समझियेकि एक लाख रुपयेमें एक रुपये बराबर जैसे किसी पर एक लाख रुपयेका कर्जाहो और ९९ हजार ९९९का कर्जा चुका दिया, बस एक रुपयेका कर्जदार रहा, तो उस भारके आगे यह क्या है, ऐसेही सम्यग्दर्शन होने पर जितने कर्म दूर हुए हैं, जो बोझ हटा है उस बोझके सामने रहा सहा बोझ न कुछ चीज है फिरभी

जब तक शेष कर्म हैं तब तक निरावरणपनेका लाभतो रुक जाता है। सम्यक्त्व होने पर यह जीव इतना विशुद्धहो जाता है।

पञ्चम गुणस्थानमें प्रविष्ट जीवकी स्थिति—कोई जीव मनुष्यया तिर्यञ्च उपशम सम्यग्दृष्टिहो और उसने प्रथम प्रतिमाका व्रतभी धारण कियाहोतो वह पञ्चम गुणस्थानमें आया हुआ कहलाता है। तिर्यञ्चोंके भी व्रततो होता है, पर जैसे मनुष्योंको कहा गया हैकि सामायिक करें, प्रोषधोपवास करें और आगेकी प्रतिमा पालें, इस तरहकातो नहीं होता, पर समझलीजिएकि वह दर्शन प्रतिमा जैसाही व्रत है। कितनेही तिर्यञ्च मांस खाना छोड़ देते हैं और ऐसी जगहका पानी पीते हैं जहां सूर्यकी गर्मी रहतीहो, ऐसे तालाबके किनारे पर ऊपरसे पानी गिर रहाहो, ऐसी जगहमें पानी पीते हैं, शुष्कजो फल मिलें उन्हें खाते हैं अथवा सूखी घास खाते हैं, मांसका त्याग कर देते हैं सोपंचेन्द्रिय तिर्यञ्चभी श्रावक होते हैं, याने पशु पक्षीभी श्रावक होते हैंतो जितना काम पशुपक्षियोंका श्रावक अवस्थामें होता है उतना कामतो इस गृहस्थको करनाही चाहिए। कितनेही जीव तिर्यञ्चया मनुष्योंमें क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि होते हुए पहली प्रतिमाका व्रत पालते हैं। क्षयोपशम सम्यक्त्वका अर्थ हैकि उन ७ प्रकृतियोंमेंसे अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व इन ६ प्रकृतियोंका उदयाभावी क्षय होता है, अर्थात् ये ६ प्रकृतियाँ उदयमेंतो आनेको हैं मगर एक समय पहलेसेही वे प्रकृतियाँ अन्य रूप बदल जाती हैं और उदयमें आती हैं उदयके ठीक समयमें उन ६का अभाव है। औरवे ६ प्रकृतियाँ सत्तामेंतो पड़ी हैंही। कहीं उनकी उदीरणाहो जाएतो सम्यक्त्व न रह सकेगा। तोजो सत्तामें ६ प्रकृतियाँ हैं वे उदीरणामें न आ सकें याने समयसे पहले उदयमें न आ सकें इसका नाम है उपशमसो इनका उपशमहो और सम्यक्प्रकृतिका साथमें उदयहोतो वहां क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। मगर वह सम्यग्दृष्टि श्रेणी पर नहीं चढ़ सकता। क्षयोपशम सम्यक्त्व ७वें गुण स्थानतकही होता है, पर उत्कृष्टतया रहता है यह ६६ सागर पर्यन्त। और किसी मनुष्यगतिके जीवमें सम्यक्त्व है और अष्टमूल गुणका निरतिचार पालन है वहभी पञ्चम गुणस्थानमें आया समझिए।

क्षायिक सम्यक्त्वकी अविनश्वरता तथा सम्यग्दृष्टिकी अन्तः उमंग—इस जीवने उपशम सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वको अनगिनते बारभी प्राप्त किया, फिरभी मिट जाता। चाहे अन्य सम्यक्त्व होकर मिटेया मिथ्यात्व होकर मिटे, किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व जिसकोहो जाय वह नहीं मिटता और नियमसे उसका यथा संभव मोक्षहो जाता है। उसे अधिकसे अधिक समय रहना पड़ता हैतो तीन चार भव तकही। क्षायिक सम्यक्त्व पाये बिना किसीका निर्वाण नहीं होता। औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वतो भूमिका है। क्षयोपशम सम्यग्दृष्टिही क्षायिक सम्यक्त्व करता है। तो जिसको सम्यक्त्वहो गया उसकी क्या भावना बन जाती है, कैसी उसकी दृष्टि होती है वह लौकिकजनोंसे विलक्षण है। वस्तुको अनेकांतरूपमें निरखता है। जोभी दिखते हैं वे सदा रहेंगे और उनकी क्षण-क्षणमें नयी-नयी अवस्थायें बनेंगी। यह सभी वस्तुओंका स्वरूप है। ऐसा जाननेसे अपने बारेमेंभी यह उमंग बनतीकि यह मैं आत्मा सदा रहूंगा और चूँकि मेरी समय समय पर नई-नई परिणतियां हुआ करती हैं। तो मैं इस संसार परिणतिको मेट सकता हूं और शुद्ध परिणतिकोपा सकता हूं। यदि मानलेंकि यह

जीवएकसा ही रहता, नई-नई पर्यायें नहीं रहतीं तो इस समयतो यह जीव भोंदू बना बैठा है। पर भोंदू बनकर सदा रहना यह वस्तुका स्वरूप नहीं है। जीव सदा रहेगा, पर नई-नई अवस्थायें पाता है, तो मैं संसार अवस्थाको त्यागकर मुक्त अवस्थाको प्राप्त कर सकता हूं ऐसी उसकी उमंग रहती है।

सम्यग्दृष्टिके सप्ततत्त्वविषयक श्रद्धानका संक्षिप्त दिग्दर्शन—सम्यग्दृष्टि जीव, जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष इन ७ तत्त्वोंका यथावत् श्रद्धान रखता है। मैं जीव हूं, जीवके साथ अनादिसे कर्मधारा चली आयी है, पौद्गलिक कर्मवे अजीव हैं उन पौद्गलिक कर्मोंका उदयहोने पर उनमें अनुभाग खिलता, पर उसका प्रतिफलन मुझमें होता है, यह भावाश्रव है और ऐसा होनेसे नये कर्म आते हैं, यह द्रव्याश्रव है। जब यह मैं अपने सहज स्वभावकी सम्हाल कर लेता हूंतो यह है भावसम्वर और उस समय नवीन कर्मका आश्रव नहीं होता यथायोग्य वह है द्रव्यसम्बर। जब यह जीव अपने आपके स्वरूपकी सम्हालमें स्थिर रहता हैतो अपने आप विकार विभावये झड़ने लगते हैं। संस्कारभी मिटने लगते, यह है भावनिर्जरा। और उस समय बंधे हुए कर्म झड़ते हैं, यह है द्रव्यनिर्जरा। भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा मानते-मानते जिस समय समस्त कर्मोंका क्षयहो चुकता है और यह आत्मा समस्त कर्मोंसे छूट जाता हैतो आत्माका छूट जाना यह है मोक्ष, कर्मोंका अलगहो जाना यह है द्रव्यमोक्ष। इस प्रकार सामान्य तौरसे इसहीको और विशेष रूपसे यह जीव श्रद्धान करता है जिसके अनुसार आचरणभी बनता है और उस आचरणके प्रसादसे यह नवीन कर्मोंको आने नहीं देता, पूर्वबद्ध कर्म झड़ने लगते, तो कोई काल आता हैकि यह संसारकी सर्व विपदावोंसे सदाके लिए मुक्तहो जाता है।

सम्यग्दृष्टिके पुत्रकलत्रादि सर्वअर्थोंमें गर्वका अभाव—जिस भव्य आत्माको अपने आपके सही सहजस्वरूपका अनुभव हुआ है, जिसका यह पूर्ण निर्णयहो गया हैकि मैं सहज ज्ञानस्वभावमात्र हूं, मैं अमूर्त हूं, रूप रस गंध स्पर्शसे रहित हूं और सहज प्रतिभास मात्र हूं, ऐसा अनुभव कर चुकने वाला जीव पुत्र स्त्री आदिक समस्त पदार्थोंमें गर्व नहीं करता। जिसको देह दृष्टि है और देहके नातेही सारे नाते मान रखे हैं, यह मेरा पुत्र है क्योंकि यह मुझसेही तो पैदा हुआ, मेरेही कुलका है, मेरेही घरका है। ऐसा कुछभी विश्वास रखकरजो मानता हैकि यह मेरा है उसको गर्व होता है। मैं पुत्रवान हूं, ऐसे कुटुम्ब वाला हूं, ऐसा वह गर्व करता है लेकिन सम्यग्दृष्टि जीव अपने कुटुम्बीजनोंको निरखकर गर्व नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि ये सब जीव जुदे जुदे हैं, अपने-अपने कर्मका फल भोगते हैं, इससे मेरा क्या सम्बंध है? ज्ञानी जीव यदि अकेलाहो जाय, मतलब पुत्रादिक नहों अथवा स्त्री पुत्रादिक न हों, केवल अकेला रह जायतो वह उसमें एक बड़ी प्रसन्नताका अनुभव करता है, क्योंकि उसे अपना शरण परमात्मतत्त्व दृष्टिमें आया है। यह हूं सर्वस्व, मैं यह हूं पूर्ण ज्ञानानन्दमय। पर से जो लगाव रहता था, मोह रहता था वहतो निरन्तर पापका ही बंध चल रहा था और उसमें अनेक उलझनें रहा करती थीं। अब मै स्वतंत्र हूं। एक निज सहज परमात्मतत्वकी उपासनामें रहूंगा, उसे बाह्य सम्बन्धका गर्व नहींहो सकता।

सम्यग्दृष्टिके बाह्य अर्थप्रसंगोंसे विवक्तताका अनुभव—यह ज्ञानी जीवतो अपनेको तृणमात्र जानता है अर्थात् मैं कुछ नहीं हूं, बाहरके नातेसे समझ रहा ऐसा। अन्दरके नाते सेतो जानता है कि मैं

अनन्त ज्ञानानन्दका पुञ्ज हूं, पर बाह्य नातेकी दृष्टिसे यह अनुभव करता कि मैं कुछ नहीं हूं, तृणमात्र हूं। साधारण लोगोंको अपने कुलपर घमंडहो जाता, ज्ञानपर, धनपर घमंडहो जाया करता जिससे अपनेको कुछ मानते हैं कि मैं खास हूं, बड़ा हूं, पर ज्ञानी जीव इन बाहरी संग प्रसंगोंके कारण अपनेको बड़ा अनुभव नहीं करता, वहतो अपनेको तुच्छ तृणमात्र मानता है। ज्ञानीपुरुष अपने संतोष भावमें ठहरता है। यह पहली प्रतिमाका लक्षण चल रहा है जिसमें सर्वप्रथम यह बतायाकि सम्यग्दर्शनसे सम्पन्नहो और फिर निरतिचार मूल गुणहोंतो वह पहली प्रतिमाका धारी होता है। वह हर बातकी समझ रखताकि मेरी भलाई किसमें है। ज्ञानी पुरुषको किसी भी बात पर घंमड नहीं होता बाह्य संग प्रसंगोंके कारण। यह सब मायाजाल है। ज्ञानावरणका क्षयोपशम मिले, अन्तरायका क्षयोपशमहोतो कुछ संग प्रसंगकी बात मिल गई, अब इसमें मेरा हित क्या है? मेरे आत्माका कोई दूसरा जिम्मेदार नहीं, ठेकेदार नहीं, यहां कोई भलेही अपनेको स्त्री पुत्रादिक परिजनोंका या दुनियाका ठेकेदार माने, यहतो उसके कल्पनाकी बात है। पर पर है कोई किसीका जिम्मेदार नहीं। जिसपर जैसा उदय आता है उसे वही केवल भोगता है। और अपने आत्मस्वरूपको सम्हालेतो वही कर्मका क्षय करके निर्वाण पाता है। यहां दूसरेका कुछ नहीं है मुझमें। मैं भी किसी दूसरेका कुछ नहीं हूं। सर्व जीवोंका अपनी-अपनी योग्यतानुसार योग्य निमित्त पाकर काम चलता रहता है, यह है पहिचान, सम्यक्त्व है अथवा नहीं, इसकी परख करनेकी।

सम्यग्दृष्टिके मोहविलासके प्रति हेयत्वबुद्धि—यह ज्ञानी पुरुष अपनी करतूतके बारेमें यह निर्णय रखता हैकि यह सब मोहका विलास है। इन्द्रियके विषयोंमेंजो प्रवृत्ति होती रहती है, सुहावना स्पर्श छूना, अच्छा लगना, सुहावना स्वाद लेना, सुगंधका पंसद होना या दुर्गन्धसे बचना, रूपका अवलोकन करना, कर्णप्रिय राग रागनीके शब्द सुनना आदिक ऐसीजो कुछ वृत्तियां होती हैं वह सब मोहका प्रसार है, सार कुछ नहीं है। जो विषयोंमें आसक्त है उसकीतो संसारमें जन्ममरणकी परम्परा बनेगी। ज्ञानी जीव अपनी चेष्टावोंके बारेमें इस तरह देखता है जो कुछ मैने किया वह सब अज्ञानकी चेष्टा हुई। यह जानता है ज्ञानी। अपने बारेमें सोचो प्रातः काल जल्दी उठे, नहाये धोये, कुछ कुटुम्बीजनोंसे बात हुई, फिर मंदिर गए, पूजाकी, दर्शन किया, स्वाध्याय भी कर रहे, फिर लोगोंसे मिलनेका भी काम कर रहे, अच्छे बुरे सभी काम करते, वह सब मोहकी चेष्टा है, अज्ञानकी चेष्टा है क्योंकि ज्ञानकी चेष्टातो केवल जाननहार रहना है। अपनी इन चेष्टावोंमें क्या आप मैं जाननहार ही रहे? क्या मैं जाननहार ही रहता हूं? उसमें कुछ इष्ट अनिष्टकी बुद्धि नहीं जगती क्या? जगती है,तो वह अज्ञानचेष्टा है। अज्ञान चेष्टा दो प्रकारकी होती है—(१) मिथ्यात्वमें होने वाली अज्ञान चेष्टा और (२) सम्यक्त्व होते हुए भी रागवश होने वाली चेष्टा। अज्ञानचेष्टा है। पहली ज्ञान की विपरीतता के कारण दूसरी ज्ञान की कमी के कारण अज्ञान चेष्टा है।

अपनी सर्वविकल्प चेष्टाओंको अज्ञानचेष्टा समझने वाले ज्ञानीका अन्तः प्रसाद—अपनी सारी चेष्टावोंमें एक यही निर्णय रखिए कि यह अज्ञानचेष्टा है फिर देखिये कितना सुन्दर समय व्यतीत होगा। किसीसे विवाद विरोध कभीहो ही नहीं सकता। जो अपनी इन सारी चेष्टावोंको अज्ञान चेष्टा मानता है—मेरा दुनियांमें कोई विरोधी नहीं, भले ही इसका ठेकातो नहीं हैकि कोई इसे विरोधी माने

या नहीं माने पर इसको कोई दूसरा अपना विरोधी नहीं जंचता। अपनी गल्ती स्वीकार कर रहा ज्ञानी। धर्म कार्योंमें भीजो मन लग रहा है बाह्य साधनोंमें उन तकको भीजो मूल समझ रहा वह क्या अपनी गलती करके अपनेको बुद्धिमान समझेगा? आप भाषण सुन रहे, मैं कुछ बोल रहा। बताओ यह ज्ञानचेष्टा है कि अज्ञानचेष्टा है? अज्ञानचेष्टा है। बड़े अच्छे भावोंसे बैठकर आप सुन रहे, मैं भी एक धर्मबुद्धिसे बोल रहा हूं मगर इस प्रसंगमें भीजो मन चल रहा है, सोच रहे हैं, वचन बोल रहे हैं, शरीरकी चेष्टायेंहो रही हैं ये क्या ज्ञान चेष्टायें हैं? ये भी अज्ञान चेष्टायें हैं। कितना गहरा है यह चैतन्यस्वरूप कि मुनि भीहो गए योग्य कार्य भी कर रहे और सही मुनि है, पर वह भी अपना विहार करनेको आहार करनेको, बोलनेको, आवश्यक काम करनेको, इन तकको भी समझता हैकि यह अज्ञानचेष्टा है। और इसमें विशेष क्या समझाना, बस यह मात्र जाननहार रहे, रागद्वेषके कोई कण न आये इसे कहते हैं ज्ञानचेष्टा। अब अंदाज करना चाहिए कि हम आपकी रात्रिदिनकी सारी चेष्टायें अज्ञान चेष्टायें हैं। और फिर उन चेष्टावों पर गर्व आयेतो वह मिथ्यात्वका उदय समझिये। अज्ञानचेष्टा होनेसे कहीं सम्यक्त्व नहीं बिगड़ा, मगर अज्ञान चेष्टा होकर भी उस पर घमंड रहेतो उसका सम्यक्त्व बिगड़ गया समझिये। भैया, कितना अपने को सावधान रखना है? इस भीतरी प्रकाशको निरखकर निर्णय रखिये। वह इस सब मोह विलासको हेय मानता है ! क्या ज्ञानी ऐसा सोचता है? लोग सुनने आते हैं, मैं बोलता हूं, लोग बड़े भावसे सुनते हैं, बड़ा अनुराग रखते हैं, तो मैं ऐसा बोलता ही रहूं सदा, क्या ऐसा ज्ञानी पुरुष अपने चित्तमें धारण करेगा? या मैंजो धर्मप्रसंग करता हूं, समारोह किया, जलसा किया, यात्राकी तो क्या वह यह सोचता हैकि ऐसा ही मैं करता रहूं इस भवमें?

ज्ञानीकी समस्त शुभ अशुभ भावोंसे उपेक्षा—भैया, ज्ञानीकीतो प्रभु पूजामें भी यही आवाज है कि "तव पादौमम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीनं। "तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः।" हे प्रभु तुम्हारे चरण कमल मेरे हृदयमें रहें, मेरा हृदय आपके चरणों में रहे जब तक कि मोक्षकी प्राप्ति नहो। कोई अगर यहां वहां ही आदमी सुनता होगातो कहता होगा कि देखो यह प्रभुके आगे भी खुदगर्जी चाहने जैसी बात कर रहा। जब तक मुझे मोक्ष न मिले तब तक मेरी भक्ति आपमें रहे, यहतो एक अपने स्वार्थसाधनाकी बात कहलायी। भला बतलाओ, इस प्रकारकी बात सुनकर उसे कोई अच्छी निगाहसे देखेगा क्या? यहां यह ज्ञानी भक्त प्रभुको कह रहा है कि आपके चरण मेरे हृदयमें तब तक रहें जब तक कि मुझे मोक्ष प्राप्त न हो। यदि ऐसा कहे कोई प्रभुको कि हे प्रभो ! मैं भव-भवमें सदैव इस संसारमें आपकी ही मूर्तिका अभिषेक करूं और आपके ही आगे अष्ट द्रव्योंसे मैं पूजा करता रहूं। बताओ यह सच्ची भक्ति है क्या प्रभुकी? यहतो मिथ्यात्वकी वासना है। भव-भवमें चाहता है यह राग, प्रभुकी पूजा, दर्शन यद्यपि यह मन्द कषाय है, पर कषायरहित दशा नहीं है और लौकिककार्य, लड़ाई-झगड़े, बोलचाल या घरमें प्रेम रखना, अनुराग, यह अशुभ कषाय है, तीव्र कषाय है। कषायतो सभी करते हैं, मगर प्रभु भक्ति, प्रभु पूजा मंद कषाय है। करेगा ज्ञानी प्रभुकी भक्ति, मगर यह भाव न रहेगा कि मैं सदैव प्रभुका ऐसा भक्त रहूं, ऐसा यदि शुभ भावका भी लगाव है तो वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, उसको कुछ पता नहीं है। इसलिए ऐसी आस्था रख रहा है।

ज्ञानमात्र संचेतनके अतिरिक्त अन्य चेष्टाओंकी हेयता—अब आप समझिये अज्ञान चेष्टावोंका कितना बड़ा फैलाव है? जैसे मानलो सारे काम एक करोड़ हैं। उस एक करोड़में एक ज्ञाताद्रष्टा रहनेका भी काम धरलो तो उनमें से एक कामतो है ज्ञानचेष्टा और ९९ हजार ९९९ चेष्टायें अज्ञान चेष्टायें हैं। उस आन्तरिक शुद्ध तत्त्व पर दृष्टि लाता है ज्ञानी और इसी कारण सब संग प्रसंगोंको हेय मानता है। कोई रईस बीमारहो जायतो उसके बड़े शौक बढ़ा दिए जाते हैं। बड़ा अच्छा कोमल गद्दा होना चाहिए। सुगंधित पदार्थ अधिक होना चाहिए दिनमें दो दो तीन-तीन बार डॉक्टर आना चाहिए। मित्रजनोंका आने-जानेका तांता लगा रहता है, मित्रजन आ आकर बड़ी अच्छी वार्ता करते रहते हैं, यों बाहरी रूपसे अगर देखा जायतो उस बीमार रईसकी बड़ी सेवायेंहो रही हैं पर उस रईस रोगीके दिलसे पूछो कि क्या आपको ऐसी सेवायें हमेशा मिलते रहना पंसद है। तो शायद वह यही कह उठेगा कि मुझे ऐसी सेवायें न चाहिए। मैंतो यह चाहता हूं कि मैं प्रतिदिन मीलदो मील घूम आऊं। देखिये कितने बड़े आरामके साधन जुटाये जाते हैं उस बीमार दशामें रईस रोगीके लिए खानेके लिए मना करतातो लोग उसे बहुत बहुत मनायेंगे। अब आप देखलो कितना बड़ा आराम है बीमार बनने में? अब यदि हम आपसे पूछें कि बताओ आप लोग ऐसा आराम चाहते हैं क्या? तो शायद आप यही कह उठेंगे कि मुझे न चाहिए ऐसा आराम। तो ऐसे ही दशा उस बीमार रईसकी समझिये। वह उन सर्व आरामके साधनोंको हेय मानता है। हेय मानता है, पर वह बड़े प्रेमसे दवाई क्यों पीता है? वहतो हेय चीज है झुँझलानेका कारण है। उसे यह आस्था बनी हैकि मेरी दवा छूटेगी इस दवाके खानेसे। वह दवासे छुटकारा पानेके लिए दवापी रहा है, दवा पीते रहनेके लिए दवा नहीं पी रहा है। इसका लक्षण देखिये—ज्ञानी सम्यग्दृष्टिको भी विषयोंके प्रसंग आते हैं, वह खाना खायगातो स्वाद न आयगा क्या? आयगातो फिर इसमें राग हुआ ना? रागतो हुआ फिर भी राग नहीं है। वह इन विषयोंके प्रसंगसे छूटनेके लिए आ पड़े हुए विषयोंको भोग रहा है।

किसी परिस्थितिमें विषय परिहारके प्रयोजनसे विषयप्रसंग—कोई साधु यदि यह हठ करले कि यह भोजन, आहार, यह भीतो विषयसेवन है क्योंकि विषय सेवनतो पांचों ही इन्द्रियोंके व्यापारको कहते हैं। भोजन करना भी विषय सेवन है, फिर मैं क्यों भोजन करूं? यदि ऐसी हठ करके वह आहार जलका त्याग करदे तो उसका तो संक्लेशमरणहो जायगा सो वह दुर्गतियोंमें जायगा। सो संयमका साधन बनाये रखनेके लिए वह साधु आहार लेता है। आहार संयमका साधन बन रहा था मुनि अवस्थामें और हाथ पैर भी चल रहे थे, पर वह विवश होकर करना पड़ रहा था। ये खाने-पीने आदिककी चेष्टायें अज्ञान चेष्टायें हैं, तो ऐसा जबरदस्ती कोई विषयोंका त्याग करके संक्लेश से मरेतो क्या ये विषय छूट जायेंगे? अरे अगले भवमें ये फिर मिलेंगे, तो ज्ञानी जीव इन विषयोंसे छुटकारा पानेके लिए ही उन विषयोंके प्रसंगमें रहकर भी ऐसी साधना भीतरमें बना रहा है जो कि उसके भीतरके विषयोंको एकदम खतम कर देगा। ज्ञानीका ऐसा लक्ष्य है कि सर्व संग प्रसंगोंको वह ऐब मानता है।

ज्ञानीको उत्तमगुण ग्रहणरति—दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक कैसा हुआ करता है उसका वर्णन यहां चल रहा है। उसके सम्यक्त्व है निर्दोष। इस कारण उसकी ऐसी ही वृत्ति है किजो उत्तम पुरुष हैं उनके

गुणके ग्रहण करनेमें अनुराग रहता है। अज्ञानी जीव गुणियोंको देखकर ईर्ष्या करते हैं, घृणा करते हैं, उल्टा-उल्टा देखते हैं, क्योंकि उनका सब उल्टाहो रहा है काम। मिथ्यात्वका उदय हैतो उल्टा ही दिखेगा। जिसको सम्यक्त्व हुआ है वह सर्व जीवोंको निरपराध स्वरूपमें निरखेगा और निर्णय रखेगा कि हमसेजो अपराध बनता है वह हमारे आत्माका अपराध नहीं है। यह कर्मोदयकी झांकी है, माया है, ऐसा सब जीवोंमें अन्तः स्वरूप निरखने वाला पुरुष क्या उत्तम पुरुषोंके गुणोंमें द्वेष रखेगा? अरे उसकेतो उत्तम पुरुषोंके गुणोंके ग्रहणमें अनुराग रहता है। ज्ञानीकी यह पहिचान है। सम्यक्त्व जहां है वहांतो यह है ही पर मामूली रीतिसे थोड़ा यह समझनाहो कि यह पुरुष ज्ञानी है या अज्ञानी। एक ही पहिचान कराया है यहां। यदि गुणवान पुरुषोंका गुणोंका वर्णन करनेका अनुराग है? उनके गुणोंका भक्त है तो समझिये कि वह ज्ञानी है। यदि गुणियोंसे द्वेष रखता है, दोष निरखता हैतो समझिये कि वह अज्ञानी है। गुण और दोष सब पुरुषोंमें मिलते हैं, अन्तर इतना रहता हैकि जिसमें गुण अधिक हैं, दोष कम हैं वह कहलाता है गुणी, और गुण कम हैं, दोष अधिक हैंतो वह कहलाता है अज्ञानी। तो गुणीजनोंके गुणोंमें भक्ति होना यह है सम्यक्त्वकी पहिचान।

ज्ञानीका साधर्मियोंमें अनुराग—ज्ञानी पुरुष साधुसंत पुरुषोंके विनयसे युक्त रहता है, जब साधुवोंके गुणोंमें अनुराग रहातो फिर वह उनकी विनय कैसे न करेगा? उसके मन, वचन, काय विनयके लिएआ ही जायेंगे। तो ज्ञानी इन चिह्नोंसे परखा जाता है कि साधुसंतोंके विनयसे युक्तहो और उनके गुणोंके ग्रहणका प्रेमीहो तो वह है सम्यग्दृष्टि पुरुष। ज्ञानी पुरुषोंको अपने साधर्मीजनोंमें अनुराग रहता है। जैसे घरके कामका एक लक्ष्य बना लिया, घरमें व्यवस्था रखना और आजीविका चलाना और एक दूसरेके दुःखमें शामिल होना एक लक्ष्य बना रखा है अपने घरके मेम्बरोंमेंतो कैसा मिल जुलकर आप काम करते हैं। किसीने कम काम कियातो भी आप संतोष रखते हैं कि काम हीतो कर रहा यह, थोड़ा कर पायातो क्या हुआ? जितना बताया उतना कर पाया, कोई विशेष काम करता है, मगर घरके सब लोग मिल जुलकर एक सूतमें बंधे हुए मानो इस तरहसे घरकी व्यवस्था बनाते हैं। तो यह धर्मभीतो धर्मका जितना क्षेत्र है, कार्य है वहभीतो एक घरकी तरह है। घरमें आप दो-दो, चार-चार, सात-सात आदमी हैं, उनका एक घर है। ऐसे ऐसे कितने ही घर उसमें शामिल हैतो वह हुआ अपनी साधुताका घर। उसमें क्यों नहीं संतोष किया जाता किजो कोई भी पुरुष धर्मके कार्य में जितना सहयोग दे रहा है, जो जिस लायक है वह प्रभुकी वाणीके प्रसारमें, प्रभुके ज्ञानके प्रसारमें वह सहयोगदे ही रहा है। उनमें भी प्रेम रहना चाहिए।

ज्ञानकी उपासनामें धर्मका पालन—देखिये धर्मपालनके सिवाय ज्ञानके और दूसरी चीजका नाम नहीं है। कोई भी चेष्टा आप करें, मंदिरका और यहां वहांका धर्मके नाम पर, तो ज्ञानका लक्ष्य है और ज्ञानकी भक्तिके लिएही किया जा रहा है तो वह धर्ममें सामिल होगा अन्यथा धर्ममें नहीं सामिल होनेका। क्योंकि आत्माका स्वभाव ज्ञान है और स्वभावका विकासही परम पद है। तो ज्ञान और ज्ञानविकास इनसे सम्बंधित बाततो धर्ममें आती है, और केवल एक शौकमें, शानमें जिसे कहते हैं शौक लग गया किसीका किसीमें, किसीका इस बातमें शौक लग गया, मगर वह धर्म नहीं हुआ। धर्मपालन

होगा जब ज्ञानका सम्बंधहो खुदके ज्ञानमें, अन्यके ज्ञानमें। ज्ञानकी भक्तिमें अगर आपका मन है तो यहां धर्मकी बात चलेगी अन्यथा धर्मकी बात न चलेगी। थोड़ा पुण्यहो गयासो ऐसा पुण्यतो अन्य कार्योंमें भीहो सकता है, इसमें कुछ अधिकहो गया मगर संसारके संकटोंसे छूट जायें उसका प्रोग्राम न हो पाया। यह ज्ञानी जीव जानता है कि ये सब उस ज्ञानके अनुरागी हैं जिस ज्ञानकी भक्ति करनेसे निकट कालमें केवलज्ञान मिलेगा। उसके उपासक हैंतो उसमें अनुराग बनता है। तो साधर्मीजनोंमें अनुराग करना यह सम्यक्त्व होने वाली चेष्टा है ऐसा सम्यग्दर्शनसे युक्त जो भव्य आत्मा निरतिचार अष्ट मूल गुण पालन करता है उसको दार्शनिक श्रावक कहते हैं।

जीवको निज ज्ञान द्वारा देहसे भिन्न निरखनेकी ज्ञानकला—दर्शन प्रतिमाधारी सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न है, इस सम्बंधमें वर्णन चल रहा है। जिस जीवको अपने सहज चैतन्यस्वभावका ज्ञान द्वारा अनुभवहो जाता है उसे कहते हैं सम्यग्दृष्टि। सम्यग्दृष्टिका क्या चिन्तन रहता, निर्णय रहता, यह यहां बतलायाजा रहा है। यह ज्ञानी पुरुष देहसे मिले हुएभी जीवको ज्ञान गुणके द्वारा भिन्न मानता है। जिस पदार्थकाजो परिणमन है वह परिणमन उसी पदार्थमें देखा जायतो ऐसी निरखसे असाधारण स्वरूपका परिचय मिल जाता है और भिन्नता भी ज्ञातहो जाती है। शरीरका परिणमन क्या है? रूप, रस, गंध, स्पर्श बदलना, कठोर होना, हल्का भारी होना, ये सब देहके परिणमन हैं, किन्तु क्या ये परिणमन जीवके भी होते? जीवमें काला, पीला, नीला आदिक रंग होते हैं क्या? जिसमें रंग होते हैं वह जाननेका काम कभी नहीं कर सकता। मैं जानता हूं, मैं रंग रहित हूं, मुझमें खट्टा, मीठा ऐसा रस पड़ा हुआ है क्या? यदि रस पड़ा होतातो यह जाननहार न रहता। इसमें सुगन्ध, दुर्गन्ध परिणमन भी नहीं हैं। कोमल कठोर, रुखा, चिकना, ठंडा, गरम आदि ये कोई परिणमन नहीं है। मैं हूं केवल जाननहार। जो पुरुष अपने आपको मना करता है कि मैं कुछ नहीं हूं। जीव कुछ नहीं हैतो वहां यहतो पूछो कि जीव कुछ नहीं है, ऐसा मना कर कौन रहा है? जो मना कर रहा है वह कुछ जानता हुआ मना कर रहा है या न जानता हुआ मना कर रहा है? न जानता हुआ कोई भी पदार्थ मना नहीं कर सकता। निषेधकी कल्पना कर जो मना कर रहाहो वहीतो जीव है। जैसे कोई पुरुष कहने लगे कि मेरे मुखमें जीभ नहीं है मैं बिल्कुल ठीक कह रहा हूं तो आप उसकी बात मान लेंगे क्या? अरे जिसके द्वारा यह कह रहा है कि मेरे मुखमें जीभ नहीं है वहीतो जीभ है, यदि मुखमें जीभ न होतीतो वह ऐसा कैसे कह लेता? ऐसे ही कोई पुरुष अपनेको मना करे कि जीव नहीं है, तो जिसमें "नहीं है" की कल्पना आयी वह हीतो जीव है।

असाधारण निज चैतन्य स्वभावकी बेसुधीसे कष्ट विडम्बना—जीवका परिणमन है जानन। जाननपरिणमन होनेसे जाननेकी शक्ति सुनिश्चित है। जाननेकी जो शक्ति है वही असाधारण गुण कहलाता है, जीवका असाधारण गुण है ज्ञान शक्ति, चैतन्यस्वरूप और शरीरका असाधारण गुण है मूर्तिकता। मूर्तिक कहनेसे रूप, रस, गंध, स्पर्श सबआ जाते हैं। तो इतना भेद है मुझमें और देहमें। ऐसाजो असाधारण स्वरूप पर दृष्टि रखकर भेद समझता है वह पुरुष ज्ञानी है। जितना जीवोंको दुःख है वह अपने असाधारण स्वरूपमें आत्मीयताका अनुभव न कर सकनेसे दुःख है। वैसे दुःख निकलाहो, पर से मुझमें प्रवेश कर गयाहो, ऐसा होता है क्या कहीं? पर-परकी जगह है, वह अपने ढंगसे परिणम

रहा है। उससे मुझमें कुछ नहींआ रहा, फिर दुःखका कारण कोई बाहरी पदार्थ कैसे कहलायगा? दुःख यही है किजो अपने असाधारण स्वरूपका ज्ञान न होनेसे बाह्य पदार्थोंमें यह उपयोग भटकता रहता है, कष्ट इसका है। जिन परमेष्ठियोंकी हम वंदना करते हैं उन्होंने यह हीतो किया था, अपने स्वभावमें अपने आत्मत्वका अनुभव किया था। संकट उनके खतमहो गये। यहां कैसा मोहविष चढ़ा है कि चित्त नहीं चाहता किअपनेको मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र अनुभव कर लूँ। जब तक यह मोह विष चढ़ा रहेगा, सर्वसे निराले ज्ञानमात्र अतंस्तत्त्वका अनुभव न कर सकेगा तब तक शान्तिका मार्ग मिलना असम्भव है।

कांचलीसे सर्पके विविक्तत्वकी तरह देहसे जीवकी विविक्तता—यह सम्यग्दृष्टि जीव देहमें मिला हुआ भी जीवको देहसे निराला अपने ज्ञान गुणके द्वारा समझ रहा है। ज्ञानस्वरूप निरखकर मान रहा है। यह ज्ञानी जानता हैकि इस देहमें यद्यपि जीव मिला है फिरभी यह देह कांचुलीकी तरह है। जैसे सर्पपर कांचुली चढ़ जाती है वह कांचुली सर्पके अंगसेही बनी है, कोई बाहरके पदार्थसे नहीं बनी, पर उस कांचुलीके आवरण होनेसे वह सांप अंधाहो जाता है और उस कांचुलीको अन्त में छोड़ता है, क्योंकि देहसे कांचली ने मूल सम्बंध छोड़ दियातो वह कांचुली दूरहो जाती है, सर्पको दिखने लगेगा। तो जैसे सर्प निराला है, कांचली निराली है उससे भी अधिक असम्बन्ध देह और जीवका है। कांचुलीतो उस सांपके ऊपरका चाम ही बन गया था पर देहतो जीवका कुछ नहीं बनता। इससे भिन्न बाहर आहार वर्गणाओंके परमाणु हैं फिर भी जैसे कांचुली निराली है, सांप निराला है ऐसेही यह शरीररूपी कांचुली निराली है और यह मैं जीव निराला हूं। जैसे कांचुलीसे सांप निकलता हैतो उसका भला होता है ऐसे ही देहसे यह जीव अलग हो जायगातो उसका भला होगा, मोक्ष होगा। यह मैं इस देहसे अत्यन्त पृथक हूं।

कार्यसिद्धिमें आराध्य देव शास्त्र गुरुकी आवश्यकताका चित्रण—यह ज्ञानी जीव चाह रहा है ज्ञानका शुद्ध विकास। तो जो जिस तत्त्वको चाहता है वह तत्त्व परिपूर्ण जिसे मिला है उसेतो आदर्श मानता है और उस तत्त्वके बताने वालेजो वचन हैं उसके ज्ञानसे आगे बढ़ता है, और उस तत्त्वके पालनहारजो उसको संघमें मिलते हैं उन्हें अपना गुरु मानता है। प्रत्येक कार्यमें देव, शास्त्र गुरुकी विधि बराबर बनी हुई है। चाहे रोटी बनानेका कार्यहो चाहे संगीत सीखनेका कार्यहो या व्यापार करनेका कार्यहो, उस उस विषयक देव, शास्त्र, गुरु होते हैं। रोटी बनानेके कार्यमें देव कौन है? जो बुआ, मौसी, आदिक बहुत बढ़िया रोटी बना लेती हैं वे उसके रोटीके देव हैं, शास्त्र कौन हैं? जो रोटी बनानेकी बातें हैं—जैसे इस तरह आटा गूँथो, फिर उस पर पानी डालकर उसको फूलनेदो। जब आटा इतना गुंथ जायकि उसे यदि उठाया जायतो थालीभी साथमें उठ जाय, इतना उसमें लोचआ जाय, फिर उसकी लोई बनाकर उसको बेलनेसे पसारा जाय। बेलनेके द्वारा गोलगोल रोटी ऐसी सरकती जाय कि उसे हाथसे न पसारना पड़े। इस तरह रोटी बनाओ, फिर उसको गरम तवे पर डाल दो। पहले पर्तको जल्दी पलट दो, दूसरी पर्तको देर तक धरी रहनेदो, और उसे आगपर धरकर तुरन्त अदल-बदल करते रहो, यदि वह रोटी कहीं फूट जायतो उसे चीमटेसे पकड़कर दाबदो। यों रोटी बनानेकी विधि चाहे किसी किताबमें लिखीहो या कोई मुखसे बता दे, वे शास्त्र रोटीके कहलाये और जो कोई पास पड़ोसका

सिखाने वालाहो तो वह गुरु कहलायातो देव शास्त्र, गुरु बिनातो रोटी भी न बना पाये, वे रोटीके देव, शास्त्र, गुरु हुए। जैसे संगीत सीखना है तो संगीत सीखने वालेकी दृष्टि उस व्यक्ति पर होती है जो कोई बड़ा संगीतज्ञ हो, उसकी इच्छा होती कि मुझेतो ऐसा बनना है। इस प्रकारका भावहो जाता है संगीत सीखने वालेके। वहतो हुआ संगीतका देव। और संगी सिखानेके जो वचन हैं सा रे ग म प ध नी सा, सा नी ध प म ग रे। सा रे ग, रे ग म आदि, आदिक संगीतके जो सरगम बताये गए वे सब शास्त्र हुए और जब मोहल्लेमें या पास पड़ोसमें कोई सिखाने वाला मिल जायतो वह उसका गुरु हुआ। तो देव, शास्त्र, गुरुका सहारा लिए बिना वह संगीत नहीं सीख सकता। वेतो संगीतके देव, शास्त्र, गुरु हैं।

धर्मविकासके लिए आराध्य देव—यहां धर्मका विकास कोई देव, शास्त्र, गुरुका प्रसंग पाये बिना कर लेगा क्या? धर्मका देव कौन है? जहां धर्म पूर्ण विकसितहो गया, धर्म मायने आत्माका स्वभाव, चैतन्य स्वरूप, सहज ज्ञान स्वभाव, उसका जहां विकासहो चुका ऐसा आत्मा। जिसको अरहंत कहो, सकल परमात्मा कहो, निकल परमात्मा कहो, जिसके प्रति यह बुद्धि जगती है कि मुझेतो ऐसा बनना है, वे धर्मके देव हुए। धर्मके शास्त्र, जिन उपायोंसे धर्म विकास होगा उन उपायोंकी जो चर्चा है, जो शास्त्रमें उल्लेख है वे सब शास्त्र कहलाते, जैसे ग्रन्थ पढ़ते हैं, उपदेश सुनते हैं, तो यह सब शास्त्रकी उपासना कहलायी। कैसे अपने आपको पहिचानना, यह असाधारण गुण है, प्रत्येक पदार्थके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उसीमें ही रहते हैं, किसी भी बातको समझाया गया, वे सब शास्त्र हुए। और गुरु कौन? जो अपने गांवमें नगरमें साधु मिले, त्यागी मिले, जिससे वीतरागताका पाठ मिले वह कहलाया गुरु। तो सम्यग्दृष्टि जीव कैसे देव, गुरु धर्मको मानता है यह निर्णय उसके बराबर ठीक है। देव वह है जिसमें गुण पूर्ण प्रकट हों और दोष रंच न रहाहो। अब इस रूपमें किसी भी सम्प्रदाय वालेको कहा कि भगवान वह कहलाता, ईश्वर या देव वह होता जिसमें आत्माके गुण पूरे प्रकट हुए हों और दोष रंच भी न हो,तो कोई मना करेगा क्या? नहीं। वहतो मान जायेगा। हां अब इस आधार पर समझियेगा। जो दूसरेकी चिन्ता करे, जो साथमें स्त्री रखे, जिसके लड़के बच्चे हुए हों, ऐसा भगवान होता है क्या? भलेही गृहस्थावस्थामें पहले सबकुछ था मगर भगवानकी अवस्थामें ये कोई दोष नहीं होते। तो जिनका चारित्र निर्दोष है, जिनके आत्मामें दोष न रहा और इसी कारण सर्वज्ञ है, समस्त गुण परिपूर्ण विकसित हुए हैं वह है देव, वह है हमारा आदर्श, मुझे बनना है यह। देवकी श्रद्धा सम्यग्दृष्टि जीवके यथार्थ रहती है।

धर्म विकासके लिए आश्रेय धर्म और गुरु—धर्म क्या है? जो दयासे परिपूर्ण हो। अपनी दया भले प्रकार बन रही हो जिन उपायोंसे वे उपाय धर्मके उपाय कहलाते हैं। अपनी दया क्या है? अपने आपको अविकार स्वभावरूपमें प्रतीतिमें लेकर इस स्वभावके अनुकूल अपने ज्ञानकी वृत्ति बनाना यह है अपनी दया। जिन्होंने अपनी दयाकी है उनके निमित्तसे, सत्संगसे अनेक जीवोंकी दया पल जाती है, यह उसके नीचेकी दया पलती है वह सब आपेक्षिक है। उत्कृष्ट दया यहही हैकि अपने यथार्थ स्वरूपको मानकर विकारभावका वमन करदे और अपनेको नीरोग अविकार अनुभव करे, यह है अपनी वास्तविक दया। तो ऐसी दयासे परिपूर्णजो बताया है वह धर्मपालन कहलाता है। गुरु कौन होता है?

जो समस्त परिग्रहोंसे रहितहो। परिग्रहका संग ही क्लेशका कारण होता है, ऐसा निर्णय रखने वाला यह श्रावक परिग्रह रहित आत्मसाधक आत्माको गुरु मानता है। तोजो सम्यग्दृष्टि है वह यथार्थ देव, शास्त्र और गुरुकी प्रतीति रखता है।

मिथ्यादृष्टियोंकी कुदेव कुधर्म कुगुरुमें देवत्व धर्मत्व व गुरुत्वकी श्रद्धा—जो इसके विरुद्ध आत्मावोंमें, उपायोंमें देव, शास्त्र और गुरुकी श्रद्धा रखते हैं वे खोटी दृष्टि वाले हैं। जो दोषसहितको देव मानते वे कुदृष्टि वाले हैं। यदि कोई भक्त भगवानसे यह आशा रखता है कि ये भगवान मेरा काम सम्हाल देंगे, मेरा मुकदमा जिता देंगे, मुझे धनिक बना देंगे, इस प्रकारकीजो आस्था रखते हैं वे खोटी दृष्टि वाले हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, उन्होंने भगवानको कुदेव बना डाला। कहीं वे भगवान कुदेव नहीं बन जाते, वेतो जो हैं सो ही हैं। किन्तु इसने अपनी दृष्टिमें यह मान्यताजो करली है। कि ये महावीर भगवान मेरेको धन सम्पन्न कर देंगे। उसने भगवानका स्वरूप नहीं जाना और कुदेवके रूपमें उसने जिनेन्द्र देवकी मूर्तिको जाना। वहतो खोटी दृष्टि वाला है। जो खोटे रूप वालेको देव मानता है, फिर जिसके विषयमें यह धारणा बनी है कि यह भगवान हैं, यह इनकी भगवती हैं, ये इनके पुत्र हैं और इनकीजो भक्ति करता उनको ये भगवान सुख देते और जो भक्ति नहीं करता उनको दुःख देते, ये नरक स्वर्गमें भेजते। ये अपने ठाठसे घरमें रहते, ऐसे रूपमें जो किसीको देव माने, शस्त्रसे सज्जित अनेक विचित्र वेषभूषाओंमें जो देवको मानता है वह कुदृष्टि है। क्योंकि उससे फायदा क्या मिला? आत्माको समस्त संकटोंसे, बंधनोंसे छूटकर निर्वाण पाना है, यही कल्याण है। इस निर्वाणकी शिक्षा ऐसे दोष सहित आत्मासे क्या मिल सकेगी? वे खुद संसार सागरमें अटपट गिर रहे हैं। उनके तिरनेकी क्या आशा करना? जो जीव हिंसामें धर्म मानता है, बलिप्रथा यज्ञोंमें जीव होमना या देवी मानकर पशुपक्षियोंके गले काटना आदिक करते हुए भी जोधर्म मानते हैं उनका बड़ा क्रूर हृदय है, मिथ्या आशय है। वे विशेष पापका बंध करते हैं। धर्म के नामपर हिंसा करना, इसमें बहुत विकट पापबंध होता है। पहलेतो हिंसामें ही पाप हैं, फिर उसको धर्म मानकर करेंतो वह महापाप है। धर्म कैसेहो सकता? इसी प्रकार जो परिग्रहमें आसक्त है वे गुरु नहींहो सकते। कितनेही संन्यासी बाना धारी लोग बड़ा आरम्भ करते हैं, उनके बाग बगीचे है और खेतीमें दिलचस्पी है, फूल फुलवाड़ी आदिकका खुद प्रक्रम करते हैं और केवल भेषभूषा रखकर अपनेको संन्यासी गुरु प्रसिद्ध करते हैं, तो वेजो करेंगे वह उनका आशय है मगर ऐसे जीवोंको जो गुरु मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्माके स्वभावको जान चुका, इस कारण स्वभावके ही नातेसे देव, शास्त्र गुरु का निर्णय उसके बना है और मोही सम्यग्दृष्टि जीवने अपना आत्मस्वरूप नहीं समझातो वह बाह्य बातोंमें देव, शास्त्र, गुरुकी कल्पना करता है।

सम्यग्दृष्टिका दृढ़ निर्णय—सम्यग्दृष्टि जीव भले प्रकार निर्णय किए हुए है कि इस जीवकी परिणति इस जीवके परिणमनसे होती है। निमित्तनैमित्तिक बन्धन भी चल रहा है। जीव जैसे शुभ अशुभ भाव करता है उसके अनुरूप शुभ अशुभ कर्मोंका बन्ध होता है, उन बद्ध कर्मोंका जब विपाक खिलता हैतो उसका निमित्त पाकर जीवमें सुख दुःख होता है। इस जीवके सुख-दुःखका देने वाला कोई दूसरा जीव नहीं है, इस ही जीवके वेदनीय कर्मके उदयके अनुकूल साता और असाताकी सामग्रियां

मिलती हैं, धन वैभव सम्पदाको कोई दूसरा नहीं दे सकता। कोई अन्य जीव इस जीवका न उपकार रूप परिणमन कर सकता, न अपकार कर सकता। अपने ही कमाये हुए शुभ अशुभ कर्मके अनुसार अपनी दशा बीतती है, ऐसा निर्णय रखकर यह जीव किसी दूसरे जीवसे अपने सुखकी आशा नहीं रखता। वह अपने स्वभावदृष्टिसे ही अपनेमें आनन्द पाता है। अन्य देव, कुदेव, कितनी भी भक्ति से पूजे जायें व व्यन्तर आदिक देव पूजे जायें, यदि वे लक्ष्मी सम्पदा आदिकको देते हैंतो एकतो साक्षात् कोई देते नहीं, मानलो निमित्त बन जायें, जैसे मनुष्योंको मनुष्य धन देते हैं यो व्यन्तर देवभी कहींसे लाकर दे दें, पर खुदके पुण्यका उदयहो, खुदको धर्म साधन कियाहोतो ऐसा योग जुड़ जाता है। तो मूल बाततो अपनी पुण्यबन्ध हेतु भूत धर्मसाधना है। यदि यह धर्मसाधना और पुण्य अपनी गांठमें है तो अनेक लोग बाह्य कारण बन जायेगें इस जीवके लौकिक सुखके लिए। यदि पापका उदय हैतो कुटुम्बीजन भी इसके शत्रु बन जायेंगे। अनेक घरोंमें देखते ही हैं कि परस्परमें लोग एक-दूसरेको दुःखी करते रहते हैं, तो वह उनके पापका उदय है। तो अपने किए हुए शुभ अशुभ कर्मके अनुसार ही अपने पर बात बीतती है। ऐसा जानता है ज्ञानी, इस कारण किसी दूसरेसे कुछ मुझे मिलता है, वह कुछ देता है, इस आशाके त्यागनेसे वह अपनेमें प्रसन्नताका अनुभव करता है। ऐसे सम्यग्दर्शनसे युक्त ज्ञानी जब निरतिचार मूल गुणका पालन करता है तो उसे कहते हैं प्रथम प्रतिमाधारी श्रावक।

भविष्यकी विधेयता व ज्ञेयता—सम्यग्दृष्टि जीवको आत्मस्वरूपके बारेमें स्पष्ट निर्णय है—'यह हूं मैं अमूर्त ज्ञानमात्र', जिसका स्वभाव है कि जगतमें जितने भी त्रैकालिक वस्तु हैं उन सबको स्पष्ट झलका लेना और जब सब पदार्थ स्पष्ट झलक गए तब यह कहाजा सकता है कि जो बात जिस देशमें, जिस कालमें, जिस विधानसे होना जिनेन्द्र देवने ज्ञात किया है वह सब बात उस देशमें, उस कालमें, उस विधानसे ही होगी। उसका निवारण करनेके लिए न इन्द्र समर्थ है, न कोई समर्थ है। यहां यह बात मुख्यतासे जानना कि जो बात जिस देशमें, जिस कालमें, जिस विधानसे, जिस योगमें होनी होती है उसे प्रभुने जाना है, प्रभुके ज्ञानके विषयभूत हैं समस्त पदार्थ, इस कारणसे ज्ञानके होनेमें विषय रूपसे कारण हैं ये पदार्थ और कार्य है ज्ञान। यद्यपि प्रत्येक वस्तुमें स्वतंत्र अस्तित्व है और स्वतंत्रतासे खुदका ही खुदमें परिणमन होता है फिर भी विषय-विषयीके रूपसे देखा जायतो विषयरूपसे कारण हैं समस्त सत् और विषयीरूपसे कार्य है प्रभुका ज्ञान। तब यह कहना होगा कि जिस विधानसे जो कुछ होता है वही भगवान ने जाना है, अन्य प्रकार नहीं जाना। अब इसे कोई गौण करके और इसकी मुख्यतादे, जो भगवानने जाना है वही होगा, अन्य कुछ न होगा। (यद्यपि ज्ञप्तिकी ओर से ऐसा निर्णय पूर्वक कहा जायगा), तो कारण कार्यके रूपसे यह बात रंच भी नहीं कहीजा सकती कि भगवान का ज्ञान कारण है और पदार्थोंका इस प्रकार परिणमन होना कार्य है। यद्यपि बात ऐसी है कि भगवान ने जाना सब और अब कह सकते कि जो जानासो ही होगा, किन्तु इसको ज्ञप्ति रूपसे ही कहा जायगा, उत्पत्ति रूपसे न कहा जायगा। उत्पत्ति रूपसेतो यह कहा जायगा कि जैसा जिस विधानसे जो कुछ होना है होता है और उसे भगवानने जाना है, विषय किया है। पदार्थ सब स्वतंत्र हैं, न पदार्थके परिणमनने प्रभुका ज्ञान बनाया, न प्रभुके ज्ञानने पदार्थका परिणमन बनाया फिर भी विषय विषयीरूप कारण कार्यकी दृष्टिसे

कहा जायगा, यों कि जो होगा वही भगवानने जाना, अन्य कुछ नहीं जाना। ज्ञप्तिकी ओर से कहा जायगा कि जो प्रभुने जानासो ही होगा। इन दो प्रकारके विवेचनोंमें निमित्त नैमित्तिक भाव और वस्तु स्वातंत्र्य दोनोंका एक साथ होना अविरुद्ध है यह बात जानना चाहिए।

द्रव्य और समस्त पर्यायोंका सम्यग्दृष्टिके यथार्थ निश्चय—सम्यग्दृष्टि जीव कैसी श्रद्धा रखता है, कैसा निर्णय रखता है जिसके कारण वह निराकुल है और दर्शन प्रतिमा धारण करनेका पात्र है। जो पुरुष यथार्थ तत्त्वको जानता है प्रत्येक द्रव्य अखंड सत् पदार्थ हैं और चूँकिवे द्रव्य हैं इस कारण निरन्तर परिणमन करते रहते हैं। वस्तु अखण्ड है, एक है, प्रत्येक एक है और उसका परिणमनजो भी है वह भी अखण्ड है। अखण्ड परिणमनको हम किस रूपसे किन शब्दोंमें लोगोंको बतावें या कोई गुरुजन हमें बतायें। कैसे बता सकते हैं? तो अखण्ड परिणमनको समझानेके लिए उसके शक्ति भेद करके, गुणभेद करके इन गुणोंकी ये पर्यायें हैं, इस प्रकार समझाया जाता हैं। प्रत्येक पदार्थ अखण्ड है, उसका परिणमन प्रति समय अखण्ड है। यहतो वस्तु स्वातंत्र्य है, और जितना विभाव परिणमन है जीव और पुद्गलका वह उपाधिका सन्निधान पाकर होता है, यह है मिमित्त नैमित्तिक भाव। सो उसके जो सुख होता, दुःख होता, शुभ अशुभभाव होते उनका निमित्त कारण कर्मदशा है। ये बाहरी पदार्थ ये मेरे परिणमनके कारण नहीं है, विभाव भी कर्मोदयका निमित्त पाकर होने वाले भाव है। यदि उपयोग बाह्य पदार्थोंका आश्रय करेतो विकार व्यक्तहो जाता है, इस कारण किसीभी बाह्य पदार्थसे मेरेको कष्ट नहीं है। किसीभी जीवके किसी प्रकारके व्यवहारसे मेरेको कष्ट नहीं है। कोई कैसा ही व्यवहार करे, आप परका ममत्व छोड़दो, कष्टका रंच अनुभव न होगा। जो कष्टहो रहा है वह ममताका कष्टहो रहा है, न कि दूसरे जीवोंकी क्रियावोंका कष्ट हो रहा है। जो इस प्रकारसे तत्त्वको जानता है वह है सम्यग्दृष्टि और जो इसमें शंका रखता है वह है मिथ्यादृष्टि।

विशेष तत्त्वज्ञानके अभावमें भी सहजात्मस्वरूपकी आस्थासे सम्यक्त्वका अधिकार—कोई पुरुष ऐसे भी होते हैं कि जो तत्त्वको ऐसी गहराईसे नहीं जानते, सिर्फ इतना समझते हैंकि प्रभु अरहंत देव सर्वज्ञ हैं और निर्दोष हैं, इस आधार पर यह निर्णय रखते हैं भव्यजन कि प्रभुने जो कहा है सो यथार्थ है। क्या कहा है, कैसा कहा है, उसकी सिद्धिकी क्या युक्ति है, इन बातोंमें नहीं पड़ता है कोई, तो इतनी ही श्रद्धासे कि जोकुछ प्रभु ने कहा उस सबका मैं आदर करता हूं, और उसके प्रति सही है यह ऐसा निर्णय रखता हूं, ऐसा भाव, ऐसा आदर बनाने वाला पुरुष भी सम्यग्दृष्टि हो सकता है। यहतो मनुष्योंकी बात है। पशुपक्षी मेंढ़क मछली ये कहां ७ तत्त्वोंके नाम जानते और कहां अरहंत जिनेन्द्रका नाम जानते? पर भीतरमें प्रकाश सब है। अपने स्वरूपको निहारकर, ऐसा कहीं व्यक्त परिणमन है कि यही मैं हूं और इस स्वरूपकी दृष्टि किये जावो—यह ही मोक्ष मार्गमें बढ़नेका उपाय है। इस तथ्यको वे जानते हैं, पर वे इन शब्दोंसे भी नहीं जानते। जैसे कोई पुरुष एक नई चीज देखे, तो दिख तो पूरी जायगी और उसका वे नाम तक भी नहीं जानते। ऐसे ही इन पशुपक्षियोंको दिखतो पूरा जायगा, जो प्रयोजन भूत तथ्य है वह ज्ञानमेंतो पूर्णआ गया मगर उसका नाम जानना या व्यवहार करना, दूसरोंको समझाना, यह कुछ नहीं है, पर मनुष्यतो उनसे भी बढ़कर हैं। वे इतना समझते हैं, कि

प्रभु निर्दोष हैं, वीतराग हैं, और उन्होंनेजो कहा है वह सब सही है, मैं उसका आदर करता हूं, ऐसी आस्था वाला भी सम्यग्दृष्टि जीव है।

सम्यक्त्वकी महारत्नरूपता—जिस सम्यग्दर्शनसे युक्त होकर यह भव्य जीव अणुव्रतका पात्र होता है वह सम्यक्त्व रत्न रत्नोंमें महारत्न है। रत्न नाम पत्थरका नहीं है, जैसे कि सफेद पीले-नीले लाल मणियोंका रत्नका व्यवहार करते हैं। रत्नका अर्थ हैजो जिस जातिमें श्रेष्ठ है वह उस जातिमें रत्न है, जैसे कोई किसीको पदवी देता है कि यह जैनरत्न है तो उसका अर्थ यह नहीं है कि वह जैन पत्थर है, किन्तु उसका अर्थ है कि जैन समाजमें यह श्रेष्ठ है। ऐसी कितनी ही घटनायें हैं कि जिन शब्दोंका सही अर्थ न जाननेसे उपमा रूपमें अर्थ समझ लेते हैं। कुछ लोग जैन रत्नका क्या अर्थ समझते हैं कि ये रत्नकी तरह ऊंचे जन हैं, पर इस तरह लगानेकी भी जरूरत नहीं। लौकिकजनोंकी दृष्टिमें नहीं है रत्नका सही अर्थ। सीधा अर्थ है जैनोंमें श्रेष्ठ। जैसे एक सिंहासन शब्द है, लोग प्राय: कहते हैं कि सिंहासन बनवावो और उसके चार पाये शेरकी तरह बनवादोतो शेर कहलायगा और तख्त, चौकीकी भांति सीधे पाये बना दियातो कहते हैं कि यह क्या बना दिया यह अपना सिंहासन? शब्दमें सिंहका अर्थ सिंह नहीं है किन्तु सिंहका अर्थ है श्रेष्ठ। सिंहासनका अर्थ है श्रेष्ठ आसन। आप कैसे ही आकारमें बनावें. शेरका पञ्जा बनानेकी जरूरत नहीं है। शोभित होना चाहिए वही कहलाता है सिंहासन, ऐसेही रत्न मायने श्रेष्ठ। समस्त रत्नोंमें महारत्न है सम्यग्दर्शन।

योगोंमें उत्तम योग ऋद्धियोंमें उत्तम ऋद्धि सिद्धियोंमें उत्तमसिद्धि सम्यग्दर्शन—यह सम्यग्दर्शन समस्त योगोंमें उत्तम योग है। जितने पौरुष हैं, प्रयत्न हैं उन सबमें सर्वोपरि प्रयत्न है तो वह है सम्यग्दर्शन। जगतकी जितनी भी ऋद्धियां हैं, ऋद्धि, सिद्धि, समृद्धि, सुख साता, यशको जो बढ़ाने वाली ऋद्धियां हैं उन ऋद्धियोंमें महाऋद्धि है सम्यग्दर्शन। लोग चमत्कार पर अधिक जाते हैं। किसीका कुछ चमत्कार सुना, हो भी चमत्कार अथवा न भीहो, अनेक चमत्कारतो मायासे भी होते। जैसे इस तरहका कुर्ता बना लेना कि उसमें बारीख राख धर लेना और फिर हाथ छिड़कना, उसमें राख निकलेगी तो लोग कहेंगे कि यह बाबा बहुत ऊंचे हैं, इनके हाथसे भभूत निकलती है, ऐसा चमत्कार। लोग चमत्कार पर आकर्षित होते हैं मगर सबसे ऊंचा चमत्कार है सम्यग्दर्शन, जिसके होनेपर तुरन्त भी आकुलता नहीं रहती और उसके प्रसादसे यह जीव सर्वसंकटोंसे मुक्तहो जाता है। सम्यग्दर्शनसे बढ़कर कोई चमत्कारहो सकता है क्या? ऊपर चमकीले चमत्कार पर रंच भी आकर्षित न होना, किन्तु जब दृष्टि अपने आपके सहज स्वरूपमें लगीतो वह है ऐसा अद्भुत चमत्कार जिसके प्रसादसे ६४ प्रकारकी ऋद्धियां उत्पन्नहो जाती हैं। तपश्चरण भी थोड़ा चाहिए पर उस कोरे तपश्चरणसे ऋद्धियां पैदा नहीं होतीं। सम्यग्दर्शन सहित तपश्चरणहो, वह ऋद्धियों को उत्पन्न करता है तो समस्त ऋद्धियोंमें महान् ऋद्धि है सम्यग्दर्शन और जितनी भी सिद्धियां हैं उन सबको करने वाला है सम्यग्दर्शन। ऐसे सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न भव्य जीव दर्शन प्रतिमाका अधिकारी होता है।

सम्यग्दृष्टिकी देवेन्द्र नरेन्द्रवंदितता—सम्यक्त्व चमत्कार जहां प्रकट हुआ है वह देवेन्द्र, नरेन्द्र, मुनीन्द्र आदिकके द्वारा आदरणीय है। सम्यक्त्वके साथ चारित्र हैतो मुनीन्द्रोंके द्वारा भी वंदनीक है।

सम्यक्त्वके साथ चारित्रहो अथवा नहो तो भी वह देवेन्द्र नरेन्द्रोंके द्वारा आदरणीय है। सम्यक्त्वकी ऐसी महिमा है कि व्रत नहीं भी है और सम्यग्दर्शन हैतो उस सम्यक्त्वके प्रतापसे वह स्वर्गके उत्तम सुखोंको प्राप्त कर ही लेता है।

(१,२) सम्यग्दृष्टिकी निःशंकितता व निःकांक्षितता—सम्यक्त्वके ८ अंग होते हैं, वे ८ अंग आभ्यंतरमें तो निश्चयरूपसे बर्तते हैं और बाह्यमें ये बहिरंग रूपसे बर्तते हैं। अपने आत्माके सहज स्वरूपमें शंका न होना, और शंका नहीं है इसी कारणसे सप्तभय न होना यह आभ्यंतर समृद्धि है। इस समृद्धिके प्रतापसे जिन भव्य आत्मावोंने परमात्मपद पाया है उनसेजो उपदेश प्राप्त होता है वह निःसंदेह उत्तम है, निर्दोष है, यथार्थ है, इस प्रकारकी आस्था होना यह निःशंकित अंग है। सम्यग्दृष्टि जीव अन्य बातोंको रंच भी नहीं चाहता है मूलमें। योंतो सम्यग्दृष्टि पुरुषको भूख लग जायतो रोटी खानातो चाहता है, चाह हुए बिना रसोईघरमें कैसे पहुंचेगा? पर यह परिस्थितिवश चाह है, मौलिक चाह नहीं है। मौलिक अभिलाषातो सम्यग्दृष्टिकी यह है कि मैं सहज ज्ञानस्वरूपमें उपयुक्तहो जाऊं, मग्नहो जाऊं, यह ही मूलमें श्रद्धा है और यह भावना निरन्तर है। परिस्थितिवशजो चाह होती है वह चाह निरन्तर नहीं रहती। भूख लगी, खा लिया, पेट भर गया, उसके बाद भी क्या वह भोजन चाहता है? पर आत्मस्वरूपमें मग्न होनेकी उसके २४ घंटे भावना रहती है, इस कारण कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टि जीव निःकांक्षित है। तो यहां भी परिस्थितिवश भोजन चाहेगा, दुकान करना चाहेगा, आमदनी चाहेगा, लेकिन धर्मधारण कर धर्मके एवजमें कभी कुछ न चाहेगा। परिस्थितिवश इच्छाहो गई मगर धर्मपालनके एवजमें कभी लौकिक सुखकी भावना न जगेगी। जैसे मैं अमुक तीर्थकी वंदना करूं और मेरेको ऐसा लाभहो, यह सम्यग्दृष्टिकी भावना कभी नहींहो सकती। दुःख चाहे कितना हीआ जाय वहतो समतासे दुःख सहनेका पौरुष करेगा। मैं अमुक तीर्थ पर वंदना कर आऊं तो मेरा अमुक दुःख टल जाय, यह भावना सम्यग्दृष्टिके कभी नहीं रहती। वह निःकांक्षित है।

(३,४) ज्ञानी पुरुषकी निर्विचिकित्सतता व अमूढ़दृष्टिता—ज्ञानी पुरुष अपने पर आ पड़े हुए दुःखमें अपनेको ग्लान नहीं बनाता। क्या करूं, बड़ी कठिन घटना आयी है, पता नहीं अब क्या होगा, ऐसी दुःखोंमें ग्लानता सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होती। कहते हैं ना क्यों ग्लान मनहो गया? दुःखको सहन करनेकी ज्ञानी जीवमें अद्भुत शक्ति है। सो ऐसी शक्तिका अंदाज करके लौकिकजनतो आश्चर्य करते हैं, पर वहां आश्चर्यकी कुछ बात नहीं, क्योंकि जिसने अविकार आत्मस्वभावका परिचय किया है उसको ऐसा सहन कर लेना बिल्कुल आसान बात है। कोई मुझ आत्माको पीटतो नहीं रहा। इस अमूर्त आत्मामें किसी परका प्रवेश ही नहीं है, कष्टकी क्या बात है? हां ज्ञानी पुरुष यदि रोये दुःख माने, तड़फे, विह्वलहो तो यह आश्चर्यकी बात है, पर ज्ञानी समतासे रहे, सुख दुःखमें समान बुद्धि रहे और अपने अभिमुख रहेतो यह कठिन काम नहीं है, यह आसान काम है। किन्तु इस आसान कामोंको भी लौकिक पुरुष जब न कर सके तो उन्हें आश्चर्य दिख रहा। भगवानहो जाना, निर्दोष सर्वज्ञहो जाना यह आसान काम है, और दुःख मानना, पर पदार्थोंका संग्रह करना यह बड़ा मुश्किल है। सकल परमात्माहो जाना यह आसान इस कारण है कि इसमें किसी दूसरेसे मिन्नत करनेकी जरुरत नहीं रहती।

खुद हैं, खुदने खुदको जान लिया और यह खुद खुद हीके पास उपयोग द्वारा रह रहा है, ऐसे काममें क्या कठिनाई आनी चाहिए? कठिनाईतो इस काममें है जो दुकान चलाते हैं, आमदनी होती है, कुटुम्बका पोषण करते हैं, कुटुम्बसे रुचि रखते हैं। यह काम बड़ा कठिन है, क्योंकि इसमें पराधीनता बहुत है, यह खुदके अधिकारकी बाततो नहीं है। ये सब काम कठिन हैं, पर खुद-खुदमें रम जाय, यह काम बहुत आसान है, पर कोई कठिनको तो आसान मानतातो उसके लिए यह आत्माका आसान काम कठिनहो जाता, असम्भवहो जाता। सम्यक्त्व गुणका ऐसा प्रसाद है कि यह स्वयं का स्वाधीन काम है, यह सब उसके लिए स्पष्ट और आसान कामहो जाता है। तो आभ्यंतर में यह ज्ञानी जीव अपने दुःख आदिक परिणतियोंमें रँचभी ग्लानि नहीं रखता मायने क्रोध नहीं करता और बाह्यमें जो रत्नत्रयधारी साधुजन हैं उनकी सेवामें रहता हुआ रंच भी अशुचित शरीरको देखकर या उनके मलमूत्र निकलता हुआ रुग्ण है, उससे भी ग्लानि नहीं करता। एक मांको बच्चेसे ममता होती हैतो बच्चेकी टट्टी उठानेमें, नाक पौंछनेमें मां कभी ग्लानितो नहीं करती, क्योंकि उसका कारण है प्रेम, ममता। परन्तु मांकी ममता शुद्ध ममता नहीं है। वह विकार अज्ञान मोह, आशाके बलपर ममता है। उससे मेरा कुल चलेगा, यह बुढ़ापेमें मेरी सेवा करेगा, ऐसी कितनी ही आशायें लगी होती हैं, उनसे मिलकर ममता बनती है। किन्तु धर्मात्मा पुरुषोंको धर्मात्माके प्रति शुद्ध वात्सल्य है। तो ऐसे मौलिक प्रयोजनसे अनुराग करने वाले धर्मात्माजनोंकी सेवा करनेमें रंच भी ग्लानि नहीं आती है। दृष्टि उसकी रत्नत्रय गुणों पर है। ये सम्यग्दृष्टिके पूर्ण विकासकी बातें बतलायीजा रही हैं। जिसे आत्मप्रकाश मिला उसके कारण यह लौकिक चमत्कारोंमें मुग्ध नहीं होता। कोई ढोंगी पुरुष अपनेको देव जैसे ढांचेमें प्रकाशित करे, पर ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष उसमें मुग्ध नहीं होता। वहतो वीतराग सर्वज्ञको देव मानेगा, और ऐसेही उपायोंको वह शास्त्र मानेगा। तो ऐसा अद्भुत विकाससे युक्त पुरुष दर्शन प्रतिमाका पात्र है।

(५) सम्यग्दृष्टिका उपवृंहण सम्बन्धित प्रयोग—मोक्ष पुरुषार्थका पुरुषार्थीजो अभी पहली प्रतिमाको धारण कर रहा है उसका आशय कैसा होता है इसका निरूपण यहां चल रहा है, वह होता है सम्यग्दर्शन सम्पन्न। और इस सम्यक्त्वकी विशेषताके कारण उसमें गुणोंका विकास होता है जिसमें सम्यक्त्वके कुछ अंगोंका वर्णन किया। सम्यग्दृष्टिमें उपवृंहणकी भी प्रकृति होती है। उत्तम क्षमा, मार्दव, सरल रहना, तृष्णा न रहना, अपने इन्द्रियका संयम रखना, सत्य व्यवहार करना, लौकिक आकांक्षायें न होना, दानमें बुद्धि रहना, त्यागकी प्रकृति रहना, अपने स्वरूपको मैं सबसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हूं इस प्रकार निरखना और अपने ही स्वरूपमें मग्न होनेका पौरुष होना यह सब गुण और इसका यथाशक्ति प्रयोग सम्यग्दृष्टि पुरुषमें होने लगता है और इसीसे ही अपने आत्माके धर्मकी वृद्धि होती है और इसी प्रयोगको निरखकर दूसरे जन भी अपने धर्ममें सावधान होते हैं। साथ ही अपने किसी साधर्मी पुरुषमें कोई कदाचित् अज्ञानसे, आसक्तिसे दोषहो जायतो उस दोषको वे यत्रतत्र प्रकट नहीं करते, क्योंकि उसमें धर्म तीर्थकी ओरसे लोगोंकी श्रद्धा हट सकती है, ऐसी स्वभावतः परिणति होती है सम्यग्दृष्टि जीवकी।

(६,७,८) सम्यग्दृष्टिका स्थितिकरण, वात्सल्य व प्रभावनासे सम्बन्धित प्रयोग—कभी यह ज्ञानी क्रोध, मान, माया, लोभके वश होकर उस धर्मसे खुद गिरेतो थोड़ी देरमें अपनेको सम्बोधन

करके अपनी सम्हाल कर लेता है और दूसरे लोग धर्मसे च्युतहो तो उन्हें भी इस तरह प्रतिबोधता है कि वह भी धर्ममें सामिलहो जाय। ज्ञानी जीवको अपने साधर्मीजनोंसे विशिष्ट अनुराग रहता है। उसके लिए कुटुम्बीजनोंका इतना महत्त्व नहीं है पर अपने साधर्मीजनोंका उसके दिलमें बहुत महत्त्व है। जिसने संसार संकटोंसे छूटकर मोक्षपथमें अपनेको लगाया है उसका प्रिय क्या होगा? तो मोक्षमार्गमें चलने वाले लोग प्रिय होंगे, दूसरा कोई प्रिय नहींहो सकता। और इसी कारण साधर्मीजनोंमें उनका अपूर्व वात्सल्य रहता है। जैन शासनमें सदैव अनुराग रहता है। जगतमें सार एक ज्ञानविकासके अन्य कुछ नहीं है। जैसे गौ बछड़ेसे प्रीति रखती है उसी प्रकार निष्कपट अकृत्रिम स्नेह रहता है साधर्मीजनोंमें। धन्य है वह स्वच्छता, परिणामोंकी निर्मलता कि जिसके होने पर रागका काम करें तो ऐसा साधर्मी जनोंमें अनुरागका काम करता है। सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्त्रयकी वृत्तिसे जैन शासनकी प्रभावना होती रहती है। और अपने आत्मामें गुणोंका विकास होता रहता है।

वास्तविक धर्मप्रभावना—ज्ञानका प्रसार करके जैन शासनका उद्योत करना यह है वास्तविक प्रभावना। लोग जैन धर्मकी प्रभावनाके लिए बहुत आडम्बर करते हैं। समारोह, रथयात्रा या अनेक बड़े-बड़े मंदिर बनाते, सब कुछ करते हैं लेकिन ज्ञानसारकी कोई योजना नहो और ज्ञानप्रसारका कोई भी कार्यक्रम नहोतो वह सब प्रभावनामें नहीं माना गया। इस बातको समंतभद्राचार्यने प्रभावना अंगका स्वरूप बताते हुए बहुत स्पष्ट किया है। "अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथं, जिनशासनमाहात्म्य-प्रकाशः स्यात् प्रभावना" अज्ञानरूपी अंधकारको दूर करके फिर अपनी शक्तिमाफिक जैन शासनके माहात्म्यका प्रकाश करना प्रभावना है। किसलिए बड़े जलसा धार्मिक समारोह चलना चाहिए? इसलिए चलना चाहिए कि धर्मकी व्याख्या एकत्रित जनताको बतायी जाय और जनताको सम्यक्त्वका मार्ग मिले। यह बात अगर बनती है, इसकी योजना है कार्यक्रममें तो वह प्रभावनाका रूप रखता है, अन्यथा प्रभावनाके बजाय विडम्बना और विपत्तियां होती हैं। लोग यह जानने लगते हैं कि इस शासनके मानने वाले बहुत बड़े धनाढ्य होते हैं। चांदी सोनेका बड़ा सामान निकाला, लोगोंने देखातो लोग फिर ईर्ष्या करने लगते हैं, विरोधी बन जाते हैं, ऐसी घटनायें अनेक जगह हुई हैं और उपद्रव किया गया है। यदि साथ ही जैन शासनके सिद्धान्तोंको बताया जाता आम पब्लिकको, लोग इसके निष्पाप और महत्त्वशाली विवेचनको सुनतेतो जनता कह उठती कि धन्य है यह जैनशासन। इस जैनशासनके पालन बिना हमारा गुजारा नहींहो सकता, शान्ति प्राप्त नहींहो सकती, यह बात जनताके चित्त में बैठ जायतो वह प्रभावना होती और उसका सहयोग मिलता, इस कारण मूल बात है जैन शासनकी प्रभावनामेंकि जैन तत्त्वज्ञानका प्रसार करना, इस प्रकारकी वृत्ति ज्ञानी पुरुषकी होती है।

सम्यग्दृष्टि पुरुषका संवेग निर्वेद निन्दागर्हा उपशम भक्ति अनुकंपासे सम्बन्धित प्रयोग—ज्ञानी पुरुषमें स्वभावतः धर्ममें अनुराग होता है इसी कारण संसार, शरीर, भोगोंसे वैराग्य होता है। वह सतत् अपनी निन्दा करता है। जैसेजो धनका चाहने वाला पुरुष है, जिसके धनमें तृष्णा लगी है वह कितना ही लखपतिहो जाय फिर भी वह अपनी कमीको देखता है। अभीतो बहुत कमी है, गुजारा भी मुश्किल है। इस तरहका अनुभव करता है धनकी तृष्णा वाला और जो धन जुड़ा है उसपर दृष्टि नहीं

जाती कि यह अनुभव कर सके कि मेरे पासतो बहुत धन है। ऐसे ही जिसको धर्म की तृष्णा लगती है उसमें कितना ही गुणविकासहो जाय, वह अपने गुण विकासकी दृष्टि नहीं रखता, मेरेमें इतनाहो गया महत्त्व, इतना विकासहो गया, बल्किजो त्रुटियां हैं, जितनी कमी हैं याने कषाय जगती है उस पर उसकी निगाह होती है और वह अपनी निन्दा करता रहता है, और इतना ही नहीं, गुरुके समक्ष भी अपनी निन्दा करता है। सम्यग्दृष्टिके क्षमा परिणाम रहता है। कोई तत्काल अपराध करेतो उसको क्षमा रखता है। पहले अपराध कियाहो तो क्षमा रखता है और आगे भी क्षमाशील रहता है। जिसने वस्तु स्वरूपका ज्ञान किया उसमें यह विवेक रहता है कि यदि दूसरे पुरुषने गाली देदी या निन्दा करदी तो क्या हुआ? ये भाषा वर्गणाके वचन थे। उसके उस प्रकारकी कषाय थी, उससे उसकी भी प्रवृत्ति बनी, ये सब कार्य वहां हीतो हुए, मेरे अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मामें क्या आया? वह क्षमाशील रहता है। देखिये—जब कोई किसी संकटमें फंस जाता है मानो किसी साम्प्रदायिक दंगेमें वह फंस गया, वहांसे गुजर रहातो वह प्रत्येक बातको समतासे सहन करता हुआ वहां किसीको कुछ उत्तर नहीं देता है। बड़ी कुशलतासे उस क्षेत्रसे निकल जाता है। ऐसे ही जहां संसारके अनेक संकट छाये हुए हैं, विचित्र कर्मबन्ध, कषायवान लोगोंका समागम, शारीरिक अनेक व्याधियां, अनेक प्रकारके जहां कष्ट हैं ऐसे इन दंगोंमें फंसा हुआ है यह जीवतो यह तो बड़ी कुशलतासे सबको क्षमा करता हुआ सारी बातोंको समतासे सहता हुआ अपने आपमें अपने बलको बढ़ाता हुआ वह इस संसार झंझटोंसे निकलना चाह रहा है। वह क्या दूसरे पर विरोध करेगा या द्वेष करेगा या गड़बड़ कार्य बनायगा। सम्यग्दृष्टि जीवके रत्नत्रयके धारी पुरुषोंमें और रत्नत्रय धर्म में भक्ति होती है, इनके प्रसादसे पार होऊंगा। पार होऊंगातो इस निज निश्चय रत्नत्रय धर्मके प्रसाद से पार होऊंगा। सहजस्वरूपकी भक्ति ही संसार शरीर भोगोंसे विरक्त रहनेका कारण है। इस ज्ञानी पुरुषने समस्त जीवोंको अपने स्वरूपके समान निरखा है, परमात्माके स्वरूपके समान देखा है। इस कारण सर्व प्राणियोंमें इसके दयाका परिणाम रहता है। सो भी स्वदयाके लिए पर दया और स्वदयाका ज्ञानी पुरुषके लिए एक ही लक्ष्य हैकि विषय कषाय मोह जालसे छूटकर निर्मोह अवस्थामें पहुँचूं, यह ही भावना दूसरोंके लिए है, यह ही भावना स्वयंके लिए है, यह ज्ञानी पुरुष अपने साधर्मीजनोंमें वात्सल्य रखता हुआ धर्मके विकासके लिए प्रयत्नशील रहता है।

सम्यग्दृष्टिका निर्दोष प्रवर्तन—सम्यग्दृष्टि पुरुषके चित्तमें किसी भी प्रकारकी शंका नहीं है। श्री जिनेन्द्र देवने उपदेश किया है वह यथार्थ है, वस्तुके अनुरूप है, ऐसा उसका दृढ़ निर्णय है। परिग्रह सहित मुनि भी मोक्ष जाता है या परिग्रह कपड़ा ओढ़ लियातो क्या हुआ, भावोंमें भीतर निर्मलता जगेतो गृहस्थ भी मोक्ष जा सकता है, इस प्रकारका संशय इस ज्ञानी पुरुषके चित्तमें नहीं रहता। उसका एक ही निर्णय है कि बाह्य और आभ्यंतर समस्त परिग्रहोंसे रहित पुरुष ही मोक्षजा सकता है। ज्ञानीके चित्तमें कभी कोई शंका नहीं। किसी प्रकारका आत्मस्वरूपमें भय नहीं रहता। ज्ञानी पुरुष न इस लोकमें किसी पदार्थ की वाञ्छा रखता है, यह शरीरको अशुचि जानकर और आत्माको शुचि जानकर यह बाह्य पदार्थोंसे हटकर निज आत्मस्वरूपमें अपनी गति बनाता है और इसी कारण उसके कोई ग्लानिका परिणाम नहीं होता, दुःखी होनेका परिणाम नहीं हैं। यह रत्नत्रयके विरुद्ध चलने वाले व धर्मके नाम पर

अपनेको गुरुदेव बताने वालेके प्रति कभी श्रद्धा नहीं जगती, न मनसे उसके प्रति प्रशंसाका भाव रहता, किन्तु यह ही निर्णय रहता है कि मोक्षमार्ग यह नहीं है। मोक्षमार्गतो यह निश्चय रत्नत्रय भाव है और इसी कारण किसी भी मिथ्यादृष्टि देव गुरु रूपमें प्रसिद्ध करने वाले जीवका प्रशंसा स्तवनका भाव नहीं रहता। ऐसा यह सम्यग्दृष्टि जीव दर्शन प्रतिमा धारण करनेका पात्र होता है।

धर्मतीर्थको निर्दोष रखनेका प्रयत्न—अब देखिये पहली प्रतिमाका व्रत लेनेके लिए ही कितनी तैयारी चाहिए आत्माकी, फिरजो देखा देखी या किसी कारणसे श्रावकके ऊंचे व्रत या मुनिके व्रत धारण कर लेता है तो भले ही अज्ञानी जनता उनका आदर करे दोष समझते हुए भी या न समझते हुए, जैन शासनको कलंकित करनेका ही प्रयत्न है श्रावकका भी और उन व्रत धारण करने वालोंका भी। यह कलंक आज न विकसितहो तो कुछ समय बाद विकसित होगा अतएव जैन शासनको अत्यन्त पवित्र रखनेके लिए श्रावकका यह कर्त्तव्य है जो शुद्ध वृत्तिसे या उत्तम श्रावककी वृत्तिमें रहना चाहता है वह यदि किसी मुनि दीक्षाके योग्य समझेंतो समर्थन करें और दीक्षा योग्य न समझेंतो वहां बराबर विरोध करें कि यह दीक्षाके योग्य नहीं है और हम इसमें शामिल नहींहो सकते। एक बड़े विवेककी बात है, धर्मका प्रभाव होना मुनिधर्म होकर श्रावक धर्म दोनोंको मानने वालेके आधार पर है।

ज्ञानी जीवके इहलोकभय, परलोकभय, अरक्षाभय व अगुप्तिभयका अभाव—देखिये कितनी बड़ी तैयारी है, दार्शनिक श्रावक होनेके लिए। मुझ आत्मामें इस लोकका भय नहीं है कि क्या होगा मेरे जीवनमें, कैसे कटेगी जिन्दगी? ज्ञानीको परलोकका भी भय नहीं है कि परलोकमें मैं क्या बनूंगा। ये दोनों भय इस कारणसे नहीं है ज्ञानीमें कि उसने अपनेको अमूर्त ज्ञानमात्रस्वरूप देखा और जाना कि इसमें भयकातो कोई काम ही नहीं है। जैसे अमूर्त आकाश है तो इसमें किसी दूसरेके द्वारा उपद्रवहो सकता क्या? ऐसे ही अमूर्त यह ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूं, मेरे स्वरूपमें किसी दूसरेके द्वारा कोई उपद्रवहो सकता क्या? ज्ञानीके रंच भी भय नहीं हैं कि मेरी कौन पुरुष रक्षा करेगा? मैं बड़ा अरक्षित हूं। ऐसा अरक्षाका भी भाव ज्ञानी पुरुषमें नहीं होता। वह जानता है कि मेरेको दूसरेसे रक्षाकी क्या जरूरत? मैं स्वयं आत्मा जब मैं सत् हूतो अपने आप सुरक्षित हूं। किसी सत् का विघात नहीं होता। रही जीवनके गुजारेकी बाततो जिस जीवमें इतना ज्ञान है उसके इतना पुण्यतो है ही कि उसके जीवनका निर्वाह अनायास चलता रहेगा। वह अरक्षाका भय चित्तमें नहीं लाता। मेरी रक्षाके साधन अच्छे नहीं हैं। अच्छा घर नहीं, मजबूत किवाड़ नहीं, कैसे सुरक्षा रहेगी, ऐसी कल्पना ज्ञानी जीवके नहीं होती। जोहै सो है। लोगतो व्यर्थ ही तृष्णाके भावको बढ़ाते हैं। तृष्णा बढ़ाते जाइये उसके सम्पदाकी घटतीतो आसकती है मगर बढ़ती नहीं आ सकती, क्योंकि तृष्णा स्वयं एक पाप है। तो उस पापको रखते हुए उसके पुण्यरस नहीं बढ़ सकता, पापरस ही बढ़ेगा, और जिसको तृष्णा नहीं है योग्य कार्योंमें, योग्य उपकारमें, वह उदारताकी वृत्ति रखता है, त्याग दानकी वृत्ति रखता है तो उससे पुण्यरस बढ़ता है, पापरस घटता है और वह भविष्यमें अनायास ही सुख सुविधाको प्राप्त करता है। जैसे कुवेंमेंसे जल न निकाला जायतो होगा क्या कि वह जल सड़ जायगा, उसमें कीड़े पड़ जायेंगे।,और यदि वह जल काममें आता

रहेतो उसमें स्वच्छता भी बढ़ती है और और जलमें वृद्धि भी चलती है। ठीक इस प्रकारका कर्मविपाक और आत्मनिर्मलताका प्रसार इसी तरह होता है। यह ज्ञानी पुरुष जानता है कि मेरी अगुप्ति नहीं।

सम्यग्दृष्टि जीवके मरणभयका, वेदनाभयका, आकस्मिक भयका अभाव—ज्ञानी पुरुषको मरणका भय नहीं होता, क्योंकि वह जान रहा कि यहां मेरा कुछ नहीं है। मैं अमूर्त ज्ञानमात्र अकेला निज स्वरूप वाला हूं। यह जगह छोड़कर दूसरी जगह जाऊंतो ऐसा ही पूराका पूरा सर्वत्र हूं। मेरा मरण क्या? मैंतो मैं ही हूँ। यहांसे छोड़कर दूसरी जगह पहुंचा, मेरा तो विघात होता ही नहीं है। कुछ थोड़ाजो कुछ मरणके समयमें जीव कष्ट मानता है वह मोह रागके कारण कष्ट मानता है। यह छूटा, मेरा यह देह छूटा, अरे देह भी छूटा हुआ था पहले। तेरी सत्ता न्यारी, देहकी सत्ता न्यारी, ये घर मकान, दौलत छूटे हुएही हैं तेरे। तेरे स्वरूपमें इनकी दखल नहीं है। इसके लिए क्या छोड़ना है? और जितना छूटेगा लोक व्यवहारके नाते उंससे कई गुना अभी ही एक सेकेण्डमें मिलेगा, पर वह ज्ञानी जीव न आगेके मिलनेकी वाञ्छा रखता है न वर्तमानके छूटनेका विषाद रखता है, उसकी दृष्टिमें निज सहज शुद्ध आत्मा सदैव रहता है। शरीरमें कोई वेदनाहो जायतो उसका भी भय नहीं मानता। जो हुआ, शरीरमें हुआ, यह आत्मारामतो इस शरीरसे निराला अमूर्त ज्ञानस्वच्छता मात्र है, इसको किस बातका भय? कुछ परिस्थितियाँ कभी होती हैं कि विकट ही रोगहो गयातो वह सहा नहीं जाता, ऐसा मानते हैं रोगी लोग। तो अत्यन्त विरक्तता है और स्पष्ट निराले आत्माको निरखा है तो शरीर पर कितनी ही वेदनायें आयें, शस्त्रघातहो जाय, अग्निमें जल जाय, इतनेपर भी ज्ञानी आत्माके उफ नहीं होता। भले ही यह बात श्रावकदशामें नहींहो सकती मगर यह अवश्य होने योग्य बात है। संत पुरुष कर सकता है, श्रावक भी अपनी शक्तिका प्रसार करता हुआ बराबर यह ही निर्भयताकी स्थिति बनाता है। ज्ञानी जीवको कभी अटपट कल्पनायें नहीं होती, आकस्मिक भय नहीं होगा। कहीं यहीं बैठे-बैठे बिजली न गिर जाय, कहीं तम्बू न गिर जाय, कहीं यह छत मेरे ऊपर न टूटकर गिर जाय, यो अटपट कल्पनायें करके मोहीजन अपनेको दुःखी अनुभव कर लेते हैं, किन्तु ऐसी सनक ज्ञानीको नहीं हुआ करती।

सम्यग्दृष्टि जीवके निःशल्यपना होनेके कारण गुण सम्पन्नताकी समृद्धि—ज्ञानी पुरुषके न मिथ्यात्वका शल्य है, न मायाचार का शल्य है, न परभवमें कुछ मैं चाहूं, पाऊं, सम्पन्न होऊं, इस भावकी शल्य है। ऐसा ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष दर्शन प्रतिमा धारण करनेका अधिकारी होता है और ऐसी ही गुणसम्पन्नताके कारण यह सम्यग्दृष्टि जीव देव, देवेन्द्र, नरेन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय होगा। देवेन्द्र हुए, सौधर्म आदिक इन्द्र नरेन्द्र हुए चक्रवर्ती आदिक। ऐसे महारुपुरुषोंके द्वारा भी आत्मधुन रखने वाला और इसी कारण अपने आपही योग्य सदाचारमें रहने वाला पुरुष पूज्य होता है, उसने चाहे व्रत भी न धारण किया हो, १२ प्रकारके व्रत न भीहों, यदि सम्यक्त्व सहितहो तो भी वह सबके द्वारा आदरके योग्य होता है। यदि साथ ही व्रत भी होतो सम्यग्दृष्टि भी है, सम्यक्चारित्रवान भी हैतो वह तो विशेषतया पूज्य पुरुष होता है। सम्यक्त्वके रहते हुए कोई आयु बन्धती हैतो देवायु ही बन्धती है। हां यदि कोई नारकी देव सम्यग्दृष्टि है उसके कोई आयु बन्धेगीतो मनुष्ययायु ही बन्धेगी, इसी कारण सम्यग्दृष्टि पुरुषके यदि कुछ भव शेष हैं तो उत्तम भवही प्राप्त होते हैं। तो ऐसी अनेक प्रकारकी सुख सुविधावोंमें

रहता हुआ यह ज्ञानी पुरुष उनसे विरक्त रहकर अपने अंतरंगमें प्रसन्नताका अनुभव करता है जिससेकि कर्म कटते हैं और इसका मोक्ष मार्ग क्षण-क्षण बढ़ता रहता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुष दर्शन प्रतिमाका धारण करते हैं। तो उनके इस दर्शनप्रतिमाकी क्या स्थिति होती है यह सब इस प्रतिमाके लक्षणमें बतायाजा रहा है।

सम्यग्दृष्टिके तिरेसठ गुण—जो जीवसम्यग्दृष्टि होता है वही प्रतिमाका धारकहो सकता है। जिसने पहली प्रतिमाका धारण नहीं कर पाया, किन्तुजो सम्यग्दृष्टि है, उसमें कितनी विशेषतायें होती हैं, यह बात अभी बतलायी जा रही है। सम्यग्दृष्टि जीवमें मूल गुण ४८ होते हैं अर्थात् ये ४८ बातें सम्यग्दृष्टिमें होती ही हैं। आठ अंगोंका होना तथा ८ मद, ६ अनायतन, ३ मूढ़ता इन १७ दोषोंसे रहित होना। यों ये २५ गुण हैं और इनके अतिरिक्त ८ गुण और होते हैं, सम्वेग निर्वेद आदिकजो कि अभी कहे गए थे। तो २५+८ = ३३ हुए और उनमें ५ अतिचार नहीं होते। निरतिचार सम्यक्त्व होनेसे पूर्ण तो कहलाये।

३३
५ = ३८ हुए, और ७ भयोंका त्याग, ३ शल्य न रहना, इस प्रकार ३८ + १० = ४८ ये तो सम्यक्त्वके मूल गुण हैं। सम्यक्त्व होते ही इतना आचरणतो होता ही है, इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टिमें १५ उत्तर गुण होते हैं, अष्टमूल गुणोंका पालन और सप्तव्यसनोंका त्याग। दर्शन प्रतिमामें भी अष्टमूल गुणोंका पालन बताया जायगा, पर वह है निरतिचार। तो निरतिचार होनेके कारण वहां मर्यादित वस्तुका ही भक्षण होता है। तो इन मूलगुण और उत्तर गुणोंसे जो सम्यग्दर्शनके लिए बताया गया है उनसे अब यह अनुमान करिये कि मद्य, मांस, मधुके त्याग बिना, पंच उदम्बरके त्याग बिना सप्त व्यसनोंके त्याग बिना मनुष्यको सम्यग्दृष्टि कैसे कहा जा सकता?

सम्यग्दृष्टिके दुर्गतिबन्धहेतुभूत कर्मबन्धका अभाव—जिस जीवमें सम्यक्त्वगुण प्रधानतया है वह कल्याणार्थी पुरुषोंके लिए आदर्श है। ऐसे पुरुष यदि आयुका बन्ध करते हैंतो देवायुका बन्ध करते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव दुर्गतिके कारणभूत कर्मोंका बन्ध नहीं कर पाता। खोटे कर्मोंका बन्ध संक्लेश परिणामसे होता है, खोटे आशयमें होता है, पर जिसने आत्माके सहजस्वरूपका परिचय पाया है उसके खोटा आशय नहीं रहता। संक्लेश परिणाम भी नहीं रहता। यद्यपि सम्यक्त्व होने पर भी कुछ संक्लेश परिणाम रह सकता है, किन्तु उसकी एक सीमा है। बताया गया है कि तीर्थंकर प्रकृतिके बंधमें अधिकसे अधिक तीर्थंकर प्रकृतिका स्थिति बंध वह जीव कर सकता है जो संक्लेश परिणाम वाला सम्यग्दृष्टिहो। तो वहां संक्लेशका अर्थ विशेष नहीं, यथा सम्भव है, यानेजो पुरुष सम्यग्दृष्टि षोडश कारण भावना भा रहे हैं जिसके दर्शन विशुद्धि भावनाके साथ कुछ अन्य भावनायें भी चल रही हैं, वह यदि विशुद्ध परिणाम में है तो तीर्थंकर प्रकृतिकी स्थिति कम बनेगी और यदि संक्लेश परिणाममें है तो तीर्थंकर प्रकृतिकी स्थिति बहुत अधिक बनेगी। यद्यपि सुननेमें ऐसा लगता होगा कि संक्लेश परिणामसे तो तीर्थंकर प्रकृतिकी स्थिति कम होनी चाहिए और विशुद्ध परिणामसे अधिक होना चाहिए। किन्तु विचार करें कि तीर्थंकर प्रकृतिकी स्थिति अगर अधिक बनेतो उसका अर्थ क्या होगा? इसे संसारमें बहुत

दिन रहना पड़ेगा और यदि उसकी स्थिति कम बंधीतो बिल्कुल स्पष्ट है कि वह संसारमें थोड़े समय रहेगा और मोक्ष जायगा। तो ऐसा संक्लेश परिणाम भी सम्भव है सम्यग्दृष्टिके, किन्तु वह सीमित है, यों सम्यग्दृष्टि पुरुष दुर्गतिके कारणभूत अशुभ कर्मोंका बंध नहीं करता।

सम्यग्दृष्टिके पूर्वानेक भवबद्ध दुष्कर्मोंका क्षय—जो पहले भवोंके बांधे हुए पापकर्म हैं उनका नाश कर देता है सम्यग्दृष्टि। देखिये कर्मोंका नाश करनेके लिए इस आत्माको कुछ कर्म या यत्न नहीं करना पड़ता, यहतो अपने भावोंको विशुद्ध बना रहा है कर्म अपने आप झड़ जाते हैं, जैसे कोई धोती धोई गई, फैलाते समयमें वह धोती नीचे गिर गई, धूलमें वह लिपट गई, तो उस धूलको अलग करनेके लिए कुछ अलगसे यत्न नहीं करना पड़ता, किन्तु उस धोतीको धूपमें सुखानेके लिए फैला दिया, धोती सूख जायगीतो वह धूल जरासे झिटकेमें या बिना ही यत्नके वह अपने आप झड़ जाती है। यह एक मोटी बात कह रहे हैं, किन्तु यहां आभ्यंतरमें तो यह बिल्कुल ही सही है कि आत्मातो अपने भावोंको निर्मल करता है तो कर्म अपने आप झड़ जाते हैं। आशय अच्छा बनाना और कषायोंको दूर करना बस यह ही एक पुरुषार्थ है जिससे जीवका उद्धार होता है।

जिनमें सम्यग्दृष्टिकी उत्पत्ति नहीं ऐसी दुर्गतियोंका निर्देश—दुर्गतियां कौन हैं जिनके कारण भूत कर्मोंका बंध सम्यग्दृष्टि नहीं करते। ऐसी दुर्गतियां नीचेके ६ नरक हैं। यद्यपि पहला नरक भी दुर्गति है, किन्तु वहां सम्यग्दृष्टिका उपपाद सम्भव है, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मरकर पहले नरकमें उत्पन्नहो सकता है। इससे नीचे नरकमें नहीं। तो यहां उन दुर्गतियोंको बतला रहे हैं कि जिन दुर्गतियोंके कारणभूत कर्मोंको सम्यग्दृष्टि नहीं बांधता। यह नरकायु सम्यक्त्वोत्पत्तिसे पहिले बंधी थी, भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव ये दुर्गति कहलाते हैं, अथवा यों समझ लीजिए कि सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वमें मरणकरके जिन-जिन जगहोंमें उत्पन्न नहो सकें वे सब दुर्गति कहलाती हैं। दुर्गति इसके अतिरिक्त और भी हैं, पर ये वे विशेष दुर्गतियां हैं कि जो संसार परम्पराके साधनोंको बनाये रखती हैं। सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री पर्यायमें उत्पन्न नहीं होता, नपुंसकोंमें उत्पन्न नहीं होता। स्थावर विकलत्रय असंज्ञी जीव कुभोगभूमियां म्लेच्छ देश आदिकमें सम्यग्दृष्टिकी उत्पत्ति नहीं होती। चाहे उनके व्रत भी न होतो भी सम्यग्दर्शनका इतना माहात्म्य है कि सम्यक्त्वको प्राप्त करने वाला पुरुष दुर्गतियोंमें नहीं जाता। ऐसा ज्ञानी पुरुष दर्शन प्रतिमाका धारकहो पाता है। सम्यक्त्व ऐसा अद्भुत वैभव है कि जिसके समान वैभव तीन लोक तीन कालमें कुछहो ही नहीं सकता। ऐसा यह जघन्य पात्र सम्यग्दृष्टिका यह वर्णन चल रहा है, फिरजो प्रतिमाधारी बनेगा वह मध्यम पात्र कहलाने लगता है, ऐसे सम्यग्दर्शन युक्त जीव दर्शन प्रतिमाको धारण करता है।

दार्शनिक श्रावकके निरतिचार अष्टमूल गुणपालन तथा सप्तव्यसन त्याग—दार्शनिक श्रावक पदमें इसका कितना सदाचार होता है अब यह बताते हैं। जो जीव बहुत त्रसोंसे युक्त पदार्थोंको नहीं सेवन करता, मद्य, मांस आदिक पदार्थोंको नहीं सेवता, निन्दित द्रव्योंका सेवन नहीं करता वह पुरुष दर्शनप्रतिमाका धारक कहलाता है। दर्शन प्रतिमाके लक्षणमें बताया गया है—सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न, संसार, शरीर व भोगोंसे विरक्त, पंच परमेष्ठियोंके चरणोंकी शरण लेने वाला जीव दार्शनिक श्रावक

होता है। वह दार्शनिक श्रावक निरतिचार अष्ट मूल गुणोंका धारी होता है। तो मांस आदिकजो निन्द्य पदार्थ हैं, उनके भक्षणका तो प्रश्नही नहीं, किन्तु जिन पदार्थोंमें त्रस जीव उत्पन्न होनेकी योग्यताहो गई है ऐसे पदार्थोंको भी नहीं खाता, अर्थात् चलितरस पदार्थोंका भक्षण नहीं करता। अब कौन पदार्थ कितने दिनोंमें चलितरसहो जाता है, यह स्पष्टीकरण ग्रन्थोंमें तो नहीं मिलता, कुछका ही मिलता है। पर जैसे प्रसिद्ध है और हिन्दी भाषा ग्रन्थ बनाने वालोंने लिखा है उसके अनुसार कुछ मर्यादायें कही गई हैं आटा आदिककी, ऐसी मर्यादासे बाहरका पदार्थहो जानेपर उसमें त्रस जीव पैदा होनेकी योग्यताहो जाती है। जैसे कभी १५ दिन धरा रहे आटातो वह सीड़ाहो जाता है व उसमें लटहो जाती है, तो यह बतलावो कि वह लट किस दिन पैदा हुई? उसमें जीव किस दिन पैदा हुए? जो चलते हुए लट नजर आये वे एक ही रातमें नहीं बन गए। उसमें जीवोत्पत्तिकी योग्यता बहुत दिनसे चल रही थी और जीव उत्पन्न होना प्रारम्भहो रहे थे यह तो शुद्ध तीर्थ प्रवृत्तिके लिए माननाही होगा कि ये पदार्थ इतने दिन तक खायेजा सकते हैं, इसके बाद नहीं। तोजो प्रसिद्धि है वह इस प्रकार है कि बरसातके दिनोंमें ३ दिन का, गर्मियों में ५ दिन का व सर्दियों में ७ दिन का ही खायाजा सकेगा। अन्य अन्य पदार्थोंकी अन्य अन्य प्रकारकी मर्यादा है। यद्यपि सूक्ष्मतया यह भी पूरा घटित नहीं कियाजा सकता। कोई शिमला वगैरह स्थान जहां गर्मीमें भी ठंड रहती हैतो शोधक लोग बता सकेंगे कि वहां कुछ अधिक दिन भी आटा चल सकता है। कोई मुल्क सदैव वर्षा वालेहों तो वहां बहुत कम म्याद रह सकती है। फिर भी कुछ म्याद बताये बिना लोग कैसे उस आचरणमें चलें इसलिए यह म्याद बतायी गई है। तो दर्शन प्रमिमाधारी श्रावक ऐसा ही भोजन करता है जैसा भोजन साधु संतोंको दियाजा सकता है। इसके अब रात्रि भोजनका प्रसंग न रहेगा। यद्यपि रात्रि भोजन त्याग नामकी छठी प्रतिमा कही है फिर भी वहां मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदनासे त्याग कहा है। यहां यह स्वयं नहीं करता। तो दर्शन प्रतिमामें रात्रि भोजनका त्याग है और अभक्ष्य पदार्थोंका त्याग है। सप्त व्यसनोंका त्याग है और इतना त्याग होनेके कारण यह जीव मोक्षमार्गमें गमन करने वाला कहा जाता है।

दार्शनिक श्रावककी दृढ़चित्तता, मायापाखण्डरहितता—यह दार्शनिक श्रावक अपनी भावनामें दृढ़ चित्त है, जो मद्य मांस आदिकका त्याग बताया गया है उस प्रतिज्ञाको नियमपूर्वक निभाव करता है। इसका मन चलायमान नहीं है, क्योंकि अविकार ज्ञानस्वभावके विकासका जिसके ध्येय बन गया है उसमें मायाचार, कपट, पाखण्ड नहीं होता, मायाचारमें सभी बातेंआ जाती हैं, फिरभी विशेषतया यह जानना कि जो पाखण्ड मायाचार करता है वह उसका बहुत खोटा परिणाम है, ऐसा पुरुष प्रतिमाधारी नहींहो सकता। त्यागी व्रती साधु श्रावक बहुत सरल होता है और सहजजो उसकी मुद्रा बनी, भेष बना उसके उठने बैठने बोलचालका जो सरलतया ढंग बनता है बस वह है पाखंडसे रहित। पाखण्डतो सम्यग्दृष्टि ही नहीं करता। प्रतिमाधारीकी बाततो विशेषतया है। जो पुरुष अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिए किसी प्रकारका बाहरी काम, पाखण्डका कार्य करता है जैसे कि अपने बारेमें अपनी बुद्धिसे बात फैलाना कि मैं दूसरोंको सुखी करता हूं, गंडा तावीज देना और इस बुद्धिसे कि इसमें मेरा नाम यश फैलेगा, ये सब बातें पाखण्डकी हैं। पाखण्डका काम इस प्रतिमाधारीके नहीं रहता। जिसको लौकिक यशकी

चाहहो वही पाखण्डमें पड़ता है। यह ज्ञानी जानता है कि मैं अमूर्त ज्ञानमात्र हूं। इस मुझको कोई नहीं जानता। जो लोग जानते हैं सो इस देहको जानते हैं और इस शकलसे ही मेरेको समझते हैं, पर मैं यह शकल ही नहीं हूं, यह शकल तो किसी दिन आगमें जल जायगी। यह देह मैं नहीं हूं, मैं अमूर्त ज्ञानमात्र हूं। अब इसको लोकमें यशकी क्या जरूरत? आवश्यकतातो यह है कि इस मुझ अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मामें यथार्थ ज्ञानप्रकाशहो और यह मैं अपने आपके स्वरूपमें मग्न होकर रमता रहूं, बस यह ही प्रयोजन है मुझे, अन्य कुछ बात न चाहिए। ऐसा जिसका मन दृढ़ है वह पुरुष पाखण्ड कैसे करेगा?

दार्शनिक श्रावकको निदानरहितता व संसार शरीर भोग निर्विण्णता—यह दार्शनिक श्रावक निदानसे रहित है। न लोकमें धर्मके एवजमें सुखकी अभिलाषा करता है, न परलोकमें सुखकी अभिलाषा करता है। जो हो सो हो। मेरेको तो अपना सहजस्वरूप निरखकर इस हीमें उपयोग बसाये रहनेका काम है, अन्य कुछ बातपर मेरा अधिकार नहीं। जो मेरे अधिकारकी बात है, मेरे स्वरूपमें है बस उस हीमें रमता हूं, यही वृत्ति होती है ज्ञानी पुरुषकी और इसी कारण परलोक सम्बंधी कल्पना ही यहां नहीं करता और परलोक इहलोक है क्या? इहलोक मायने यह आत्मा, परलोक मायने उत्कृष्ट आत्मा। परका अर्थ उत्कृष्ट भी है, परका अर्थ दूसरा भी है। तो जो यह उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूप है यह हीतो मेरा लोक है यह ही परलोक है। तो जो अपने आपके सहज स्वरूपमें निवास करता है उसको निदान नहींहो सकता। यह दार्शनिक श्रावक संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त है। संसार रागद्वेष विकारभावये कर्मका निमित्त पाकर हुए हैं नैमित्तिक हैं, मेरे स्वभाव नहीं है, ऐसा जानने वाला विकारमें राग नहीं रख रहा। यह शरीर अपवित्र है, हाड़, मांस आदिकका पिण्ड है, अत्यन्त भिन्न है, ऐसे शरीरसे क्या राग करना? ज्ञानी श्रावक को शरीरसे राग नहीं होता। भोग पञ्चेन्द्रियके विषयोंकाउपभोग, ठंडा गर्म, सुहा गया, रूखा, चिकना, कोमल, कठोर सुहा गया, यह स्पर्श इन्द्रियका भोग। मीठा, खट्टा, इष्ट रस सुहा गया, यह रसना इन्द्रियका भोग है। सुगंध, इत्र, तेल फुलेल आदिक सुहा गये, यह घ्राणेन्द्रियका भोग है। सुन्दर रूप, इष्ट रूप, सुहा गया, यह चक्षु इन्द्रिय द्वारा भोग है, और सुन्दर शब्द, राग रागनीके शब्द सुहा गए, यह कर्णेन्द्रियका भोग है, और दुनियामें नामहो, प्रशंसाहो, यशहो, ऐसी भीतरी बात सुहा गयी, यह मनका भोग है। इन भोगोंको सम्यग्दृष्टि जीव क्या चाहेगा? जिसने अपने ज्ञानको ज्ञानमें लेकर अनुभव करके अलौकिक आनन्द प्राप्त किया है वह इन असार पराधीन भोगोंकी कैसे चाह करेगा? यह दार्शनिक श्रावक भोगोंसे विरक्त है।

दार्शनिक श्रावककी पञ्चगुरुचरणशरणता—दार्शनिक श्रावक शरण मानता है तो अपने आपके स्वरूपको शरण मानता है। और चूँकि अपने स्वरूपकी सुध, अपने स्वरूपका विकास पंचपरमेष्ठियोंके गुणोंके स्मरणके निमित्तसे होता, सो वह पंचपरमेष्ठियोंके चरणोंमें वह शरण मानता है। कोई पुरुष यदि गुरुरहित है, ऐसा सोचता है कि मैं स्वयं बुद्धिमान हूं, मेरा गुरु मैं ही हूं, अध्यात्ममें कहते हैं ना कि आत्माका गुरु आत्माही है, और इस प्रकार किसी गुरुकी छायामें न रहे और अपनेको निर्गुरु रखकर जीवन बितायेतो उसमें वह आत्मसंयमन नहींहो पाता है, और प्रगतिकी दिशा प्रेरणा नहीं मिल पाती है जिस कारणसे वह आगे प्रगति नहीं करता। इसलिए गुरुवोंके चरणोंका शरण ग्रहण करना,

कल्याणार्थीके लिए आवश्यक है। ऐसे गुरु उत्कृष्टतया ये आचार्य, उपाध्याय, साधु हैं और कोई केवल गुरुभक्ति तक ही सीमित रहे, उसके आगे कोई आदर्श न देखेतो भी वह आगे प्रगति नहीं कर पाता। मुझे क्या बनना है, कैसे लक्ष्य सिद्ध करना है, यह ही जिसकी दृष्टिमें नहीं है वह प्रगति क्या करेगा? अच्छा मकान बनानेके लिए पहले अच्छे नक्शे ढंगसे बनावाये जाते हैं ताकि यहतो याद रहे कि मकान बनाते हुए में ऐसा बनाना है आगे चलकर और जिसके चित्तमें वह पूरा मकान बनवाये जानेका नक्शा नहो तो वह कैसे मकान बनवायगा? भले ही वह हाथ पैरकी क्रियायें कर रहा हो पर उसके दिशाभूल है, ऐसे ही अरहंत सिद्ध प्रभुकी सुध न होनेके कारण धर्ममार्गमें प्रवृत्ति करके आखिर मुझे बनना क्या है, मेरी स्थिति क्या बनेगी, यह बात जब चित्तमें नहीं है तो भी मोक्षमार्गमें प्रगति नहींहो सकती। इस कारण यह दार्शनिक श्रावक, मोक्षपक्षमें चलने वाला भव्य पंचपरमगुरुके चरणकी शरण ग्रहण करता है। उसके शरण ग्रहण करनेके मायने यह है कि उनके गुणोंमें अनुराग होना और गुरुजन जो मार्ग बतायें उस मार्गके प्रति श्रद्धान रखना कि मेरा भला इसही मार्गसे चलकर होगा, यह ही उन पंचपरम गुरुवोंके चरणोंकी शरण ग्रहण करना कहलाता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव निरतिचार अष्टमूल गुण पालता हुआ, निरतिचार सप्त व्यसन त्यागको धारण करता हुआ निरन्तर आत्माकी धुन रखने वाला पंचपरम गुरुवोंके गुणोंमें अनुराग रखने वाला श्रावक दार्शनिक श्रावक कहलाता है।

निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः॥ १३८॥

अर्थ—निरतिचार पाँचों अणुव्रतों और सप्तशीलों को भी जो तीनों शल्यों से रहित धारण करता है वह व्रतियों में व्रतिक पद का धारी माना गया है

व्रतप्रतिमाधारी श्रावकका स्वरूप—इस आर्याछन्दमें दूसरी प्रतिमाके धारण करने वाले दार्शनिकका निरूपण किया गया है जो अतिचार रहित ५ अणुव्रतकोंतो लिखा है निरतिचार, पर ७ शीलोंको अपि शब्द कह कर कहा गया है। इससे यह प्रसिद्ध होता है कि ७ शीलोंके अतिचारतो कदाचित् लगते रहते हैं दूसरी प्रतिमाधारी श्रावकको, किन्तु ५ अणव्रत निरतिचार ही रहते हैं, ५ अणुव्रत हैं—(१) अहिंसाणुव्रत, (२) सत्याणुव्रत, (३) अचौर्याणुव्रत, (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत और (५) परिग्रह परिमाणाणुव्रत। तीन गुणव्रत हैं, (१) दिग्व्रत, (२) अनर्थ दण्डव्रत और (३) भोगोपभोग परिमाणव्रत। ४ शिक्षाव्रत हैं—(१) सामायिक, (२) प्रोषधोपवास, (३) अतिथि सम्विभाग और (४) सल्लेखना। इस प्रकारसे इन १२ व्रतोंका जो पालन करता है वह व्रती श्रावक माना गया है।

ज्ञानीकी दृढ़चित्तता व क्षमाशीलता—यह व्रती श्रावक दृढ़ चित्त है, जो प्रतिज्ञा ली है उससे चलित नहीं होता। कुछ उपसर्ग उपद्रव भी आये तो उन्हें भी समतासे सह लेता है। इसके परिणाम क्षमाशील हैं, उसने सर्व जीवोंको अपने समान स्वरूप वाला निरखा है और जाना है कि आत्मा तो सहज निरपराध है, जो कुछ विकार है वह सब कर्मका प्रतिफलन है। इस आत्माका क्या अपराध?

यद्यपि कर्मोदयमें इस आत्माके ही गुण विकृत हुए मगर स्वभावसे तो ऐसा विकृत नहीं होता। तो स्वभावदृष्टिसे दूसरे जीवोंको निरखता है इस कारण यह क्षमाशील बना रहता है।

(१) व्रतीश्रावककी दयाप्रवृत्ति व महारम्भसे निवृत्ति—यह व्रती श्रावक दया सहित अपनी प्रवृत्ति करता है। किसी भी जीवको मेरे द्वारा आघात न पहुंचे, ऐसा भाव रखता है, क्योंकि उसने सर्व जीवोंको अपने समान माना इस कारण जैसे किसी दूसरेकी चेष्टामें अपना दिल दुःखेतो ऐसे ही दूसरेका भी दिल दुःखता है, विघात होता है, इस कारण वह अपने समान ही परको मानने वाला व्रती श्रावक कोई भी व्यापार प्रवृत्ति ऐसी नहीं करता जिसमें दूसरे जीवोंको कोई बाधा पहुंचे और कदाचित् कभी थोड़ा प्रमादहो जायतो उसकी निन्दा और गर्हा करता है, अपने आपमें पछतावा करता है और गुरुके समक्ष दोषोंका निवेदन करता हुआ और उनका प्रायश्चित लेता हुआ उसका पालन करता है। यह व्रती श्रावक महान् आरम्भ वाले कार्योंका त्याग कर देता है, जैसे खेत जोतनेका व्यापार, भूमि खोदनेका व्यापार, पत्थर निकालनेका, संगमरमर निकालनेका, और और भी धातु उपधातु निकालनेका व्यापार, कोयला निकालनेका ऐसे व्यापारको नहीं करता। और भट्टा लगाना, जंगल फुंकवाना, तालाब सुखवाना, जंगल काटना, ऐसे महान आरम्भ वाले व्यापारको व्रती श्रावक नहीं करता, क्योंकि इस व्यापारमें बड़ी हिंसा है।

व्रती श्रावककी त्रसघातसे दूरवर्तिता—यह व्रती श्रावक त्रस जीवोंके घातको न तो स्वयं करता है, न दूसरोंसे कराता है, न करते हुएको अनुमोदता है, याने कृतकारित अनुमोदनासे उसके त्रस घातका त्याग है और वह मन, वचन, कायसे स्वयं अपने ही द्वारा मनसे विचारकर त्रस जीवोंके घातको नहीं करता, मायने त्रस घातका वह मनमें विचार नहीं करता। दूसरे पुरुषको भी प्रेरणा करे उसका घात कराये, ऐसा मनमें चिन्तन नहीं करता। कोई जीव त्रस घात करताहो तो उस पुरुषकी मन से अनुमोदना नहीं करता कि मनमें सोचले कि इसने अच्छा किया। इसी प्रकार वचनसे भी त्रस घातका परिहार करता है। वचनसे स्वयं त्रस कायिक जीवोंका घात नहीं करता। खोटे वचन बोलनेसे जीवोंको तकलीफ होती है। तो वचनोंसे हिंसा नहीं करता अथवा हिंसा सम्बन्धी वचन नहीं बोलता। तुझे मारूंगा, हिंसा करूंगा, आदिक वचनोंसे वह दूर रहता है। वचनसे त्रस घातकी हिंसा नहीं कराता। जैसे दूसरेको वचनों द्वारा प्रेरणा दे कि तू यह काम करले जिसमें कि त्रस घात होता है इसी तरह वचनोंसे अनुमोदना भी नहीं करता, किसीका किसीने घात कियाहो तो उसका वचनोंसे समर्थन करे, शाबासी दे, अनुमोदना करे, यह प्रवृत्ति व्रती श्रावककी नहीं होती। इसी प्रकार शरीरसे भी न त्रसघात करता है न शरीरसे कराता है और न करते हुएको शरीरसे अनुमोदता है। जैसे मुख हिलाना, हाथ हिलाना आदि इस प्रकारकी काय चेष्टाओंसे समर्थन नहीं करता है। यों ९ कोटिसे त्रस घातका, हिंसाका त्याग करने वाला जीव व्रती श्रावक कहलाता है।

(२) व्रती श्रावकके सत्याणुव्रतका पालन—सत्याणुव्रतमें यह जीव अपने वचनोंका बड़ा नियंत्रण रखता है। हिंसाके वचन न बोलेगा। जैसे कि लोग जरासी भी बातमें, दिल दुखनेकी कह देते हैं मारने छेदने आदिककी बातें ऐसे कर्कश वचन किसीको न बोलना। जो वचन दूसरेको चुभें ऐसे

वचनोंको व्रती श्रावक नहीं बोलता। जैसे कि तू मूर्ख है, तू बैल है, तू कुछ नहीं जानता है, तू बड़ा दुष्ट है, मैं तुझे मारूंगा, छेदूँगा, ऐसे वचन व्रती श्रावक नहीं बोलता। यह दूसरेकी गुप्त बातोंको भी नहीं कहता। जैसे किसीका कोई गुप्त वार्तालापहो तो उसे प्रकट करनेमें यहतो मानता है कि इसे क्लेश होगा, कष्ट होगा, ऐसा जानकर वह गुप्त बातको प्रकट नहीं करता, किन्तु दूसरोंका जिससे हितहो ऐसे प्रिय वचन परिमित शब्दोंमें बोलता है। यह व्रती श्रावक धर्म सम्बंधी वार्ता ही अधिक करता है। चूँकि यह गृहस्थीमें है इस कारण कभी आजीविका आदिक सम्बंधी वार्ता करता है और आत्माका अनुभव करनेमें जो अलौकिक आनन्द पाया है उसका निरन्तर स्मरण करनेसे धर्म सम्बंधी वचन बोलनेमें इसकी प्रायः वृत्ति रहती है। यह कभी धन आदिक संग्रह करनेके लिए, दूसरोंको ठगने वाला मिथ्या उपदेश नही करता। यह कभी स्त्री पुरुषोंके रहस्यकी एकान्तकी बात प्रकाशित नहीं करता। किसी पुरुषने कोई बात कहीहो अथवा न कहीहो, वह एककी दूसरेसे चुगली नहीं करता, और कभी ऐसे वचन नहीं बोलता कि जिसमें धरोहरका अपहरणहो। जैसे कोई मानो ५ हजार रुपये किसीके पास रख गया, अब मांगते समय उसे ४ हजारका ही याद है, तो वह कहता है कि जो मैं ४ हजार रुपये तुम्हारे पास रख गया था वे दे दो, तो वह बड़ा प्रसन्न होकर बोलता, हां हांले जावो। उसे मालूम है कि १ हजार यह भूल रहा है लेकिन उसे न बोलना, ऐसा काम व्रती श्रावक नहीं करता। ऐसे ही दूसरेके कोई अभिप्राय जानले और ईर्ष्या के कारण उसके अभिप्रायको प्रकाशित करे, यह होती है ईर्ष्या रखने वाले पुरुषकी चेष्टा, ऐसे वचन व्रती श्रावक नहीं कहता, इस प्रकार यह व्रती श्रावक सत्याणुव्रतका पालन करता है।

(३) व्रती श्रावकका अचौर्याणुव्रत—अचौर्याणुव्रतमें दूसरेकी धरी, पड़ी, गिरी चीजको नहीं ग्रहण करता, यहतो है ही, पर बहुत मूल्यकी चीज अल्प मूल्यमें नहीं ग्रहण करता। यद्यपि देखनेमें ऐसा लगता है कि वहतो एक रोजगार है वह दे रहा है, खुश होकर भीदे रहा है, पर यहतो जानता है कि यह बहुत मूल्यकी चीज है, मैं इसे चौथाईमें ही ले रहा हूं तो इसकोतो पूरा चोरीका दोष है। व्रती श्रावक इस तरहसे अल्पमूल्यमें चीज ग्रहण नहीं करता। किसीकी चीज भूली पड़ीहो उसे भी नहीं लेता। थोड़ा भी लाभहो अपने रोजगारमें उसमें भी वह संतुष्ट रहता है। इस व्रती श्रावक ने अपने जीवनका लक्ष्य धनका संग्रह करना नहीं बनाया, लक्ष्य बनाया है कि मैं आत्माके सहज स्वरूपका अनेक बार अनुभव करता रहूं और इस सहज ज्ञानस्वभावके ज्ञानके अभ्याससे संसारके संकटोंसे छूट जाऊं यह ही लक्ष्य रहता है। जब धन संचयका लक्ष्य नहीं हैतो यह अपने आपही वृत्ति बनती है कि थोड़ा भी लाभहो तो उसमें भी संतोष रहता है। यह व्रती श्रावक मायाचारसे अथवा लोभवश होकर या क्रोध, मानके कारण किसी दूसरेके द्रव्यका हरण नहीं करता। इसकी मति विशुद्ध है, अपने लक्ष्यमें दृढ़ चित्त है, इस प्रकार यह व्रती श्रावक अचौर्य व्रतका पालन करता है।

(४) व्रती श्रावकका ब्रह्मचर्याणुव्रत—ब्रह्मचर्याणुव्रतमें इस व्रती श्रावककी अविकार ब्रह्मस्वरूप पर दृष्टि होनेसे निरन्तर आत्मतत्त्वकी धुन रहती है। और ऐसे ही परमार्थ ब्रह्मचर्यकी साधनामें उमंग रहती है। यह फिर बाह्य ब्रह्मचर्यकी भी सुरक्षा रखता है। यह शरीर अशुचिमय है। हाड़ मांस, लोहू, चाम, दुर्गन्धमय ऐसे देहको देखकर उसका रूप और सुन्दरता जो कि मनको मुग्ध करने वाली है,

उसको दुर्गन्ध और अशुचिके रूपमें ही देखता है, शरीर परजो चमक दमक है सो शरीरमें रहने वाले मल मूत्र आदि दुर्गन्धित चीजें उनके ऊपर चमड़ी होनेसे यह ऊपर कुछ सुन्दरता नजर आती है। उसका कारण ये दुर्गन्धित पदार्थ ही हैं। सो इस प्रकार अशुचिमय देहको निरखकर यह विकारके भावोंसे रहित रहता है, पर स्त्रीको बहिन बेटीकी तरह मानता है और किसी भी स्त्रीमें मन, वचन, कायसे किसी भी प्रकारका विकारभाव नहीं लाता और स्व स्त्रीमें ही यह संतोषभावसे रहता है। ऐसा यह व्रती श्रावक ब्रह्मचर्याणुव्रतका पालन करता है। इन सब व्रतोंके सम्बंधमें जब व्रती श्रावकका वर्णन चला था इसी ग्रन्थमें वहां विशेषतया वर्णन किया गया था, कैसे वह निरतिचार पालन करता है? अपने पुत्र पुत्री आदिकको छोड़कर अन्य मित्र स्वजन, परिजनोंका यह विवाह करने करानेमें अपना उपयोग नहीं लगाता। यह व्रती श्रावक अनंग अर्थात् कामसेवनके अंगसे भिन्न प्रकार क्रीड़ा नहीं करता, अयोग्य वचन नहीं बोलता, स्वस्त्रीमें भी अतीव तृष्णा नहीं रखता और जो कुशील स्त्री हैं उनसे रंचमात्र भी वचन व्यवहार नहीं रखता। उनके यहां आना-जाना, यह प्रवृत्ति नहीं करता। ९ बाड़ बतायी गई हैं, उनके विरुद्ध प्रसंगोंका परिहार करता हुआ बाड़ोंकी रक्षा करता हुआ यह आत्मधुनमें रहकर अपने ब्रह्मचर्याणुव्रतका पूर्ण पालन करता है।

(५) व्रती श्रावकका परिग्रह परिमाणाणुव्रत—व्रती श्रावक जिन्होंने इन पौद्गलिक पिण्डोंको अपनेसे भिन्न निरखा है और उन पौद्गलिक पिण्डोंसे अपनेमें कुछ भी नहीं आता। सुख-दुःख सब कुछ खुदकी कल्पनासे ही होते हैं, जिनका ऐसा निर्णय है वे बाह्य पदार्थोंमें तृष्णा कैसे करेंगे? लोभका नाश कर संतोष रसायनसे ही यह व्रती निर्दोष रहता है। यह समस्त जगतके समागमको विनश्वर जानता है अतएव उसके तृष्णा न रही, लेकिन जब तक यह गृहस्थीमें है तब तक कुछ परिग्रह रहे बिना जीवन नहीं चल सकता, अतएव परिग्रहतो है किन्तु उनका परिमाण कर लेता है। मुझे अधिक परिग्रहकी आवश्यकता ही नहीं है ऐसे निर्णयके कारण वह वर्तमान परिस्थितिके अनुसार परिग्रहका परिमाण करता है, और उसमें कभी भी यह अतिचार नहीं लाने देता कि कभी कोई परिग्रह परिमाणको कम करले। उसके एवजमें किसी दूसरे प्रकारका परिग्रह बढ़ा ले या कोई भीतरकी सीमातोड़कर उसे परिमाण समझकर कुछ बढ़ाले ऐसी वृत्ति व्रती श्रावककी नहीं होती। तो निरतिचार ५ अणुव्रत जिस श्रावकके पलते हैं और ७ शीलका भी जिसके पूर्ण अभ्यास चलता है, कुछ-कुछ अतिचार भले ही लगें मगर उनकी भी प्रतिज्ञाको निभाता है वह पुरुष व्रती श्रावक है। मुख्य ७ शीलोंमें यदि पूर्णतया निरतिचार पालनहो तो फिर अगली प्रतिमा किसलिए धारण करता है? दूसरी प्रतिमासे आगेकीजो प्रतिमाये हैं, परिग्रह त्याग प्रतिमासे पहले पहलेकी वे ७ शीलोंकी पुष्ट करनेके लिए ही हैं। जैसे तीसरी प्रतिमासे सामायिक शिक्षा व्रतका पूर्ण पालन है, चौथी प्रतिमामें प्रोषधोपवास व्रतका निरतिचार पालन है। ऐसे निरतिचार शील अगली प्रतिमामें पलते हैं, फिर भी यह व्रती श्रावक निरतिचारोंको पालनेका ही ध्यान रखता है। यों बारह व्रत पालन कर अपने जीवनमें आत्मतत्त्वकी दृष्टिका दृढ़ अभ्यास बनाता है।

(६) व्रतीश्रावकका दिग्व्रतनामक अणुव्रत—अब ५ अणुव्रतके बाद ३ गुणव्रतका निरूपणआ रहा है। उन गुणव्रतोंमें प्रथम गुणव्रत है दिग्व्रत। इस व्रती श्रावक ने अपने लोभ कषायके विनाशके

लिए सर्व दिशावोंका परिमाण कर लिया है कि मैं अमुक-अमुक दिशामें इतने क्षेत्रसे बाहर न जाऊंगा, न सम्बंध रखूँगा, ऐसा दिग्व्रत लेनेका प्रयोजन है लोभका विनाश। कभी यह तीर्थयात्राके लिए अथवा अन्य धार्मिक कार्योंके लिए कुछ मर्यादा से बाहर भी जाता है, पर वहां लोभकी अगर प्रवृत्ति रखेगा या साथ ही यह सोचेगा कि यहां तकतो आये ही हैं, यहां यह चीज सस्ती मिलती है, इसे लेते चलें, काफी लाभ मिल जायगा, तो ऐसा करने पर उसके दिग्व्रतका भंगहो जायगा। दिशावोंकी मर्यादा करनेके लिए प्रसिद्ध क्षेत्रोंका निर्देश इसके लिए बहुत स्मृति रखने वाला होता है। जैसे उत्तर दिशामें हिमालय पर्वत तक, दक्षिणमें कन्याकुमारी महानदी तक, इस प्रकार किसी प्रसिद्ध क्षेत्रका या किसी पर्वतका नाम लेकर मर्यादा करली जाती है। अथवा मील कोशका परिमाणकी मर्यादा करली जाती है। जो मर्यादाकी है उसमें बाहर न जाना यह दिग्व्रत कहलाता है। उस मर्यादाके बाहर यह पत्र भी न डालेगा, वहां किसी अपने आदमीको भी न भेजेगा। कोई सोचे कि मेरातो नियम है कि मैं हिन्दुस्तानसे बाहर न जाऊंगा, किसी कामके लिए दूसरे आदमीको भेज दे विदेशतो ऐसा यह व्रती नहीं कर सकता है, क्योंकि दिग्व्रतका प्रयोजनतो लोभ कषायका विनाश करना है। लोभवश हीतो वह दूसरेको भेजता है। तो जो दिशावोंकी मर्यादाकी उससे बाहर नतो किसीको भेजेगा, न वहांसे कोई चीज मंगायगा, न पत्र व्यवहार करेगा, न किसी समय ऐसा सोचकर कि चलो पूर्व दिशामें मर्यादा कम करलें, पश्चिम दिशामें मर्यादा बढ़ालें, क्षेत्र उतनाका ही उतना रहेगा, ऐसा सोचकर किसी दिशा की मर्यादा बढ़ा लेना यह व्रती श्रावक न करेगा। यह तो कभी-कभी दिग्व्रतके अन्दर भी कुछ दिनकी मर्यादा लेकर सीमित क्षेत्रोंमें ही आना जाना रखेगा। इसकी दृष्टितो और कम क्षेत्रोंमें अपने आपकी वृत्ति रखना है। वह मर्यादासे बाहर क्षेत्र बढ़ाये यहतो कभी सोच ही न सकेगा। तो इस प्रकार दिग्व्रतमें जो मर्यादाकी है उसे कभी भूलेगा नहीं। उससे बाहर जानेकी इच्छा करेगा नहीं, और कितना ही प्रयोजनहो, उससे आगे जायगा नहीं। हां कोई धर्म कार्यहो, तीर्थ यात्रा आदिकहो, विशुद्ध धर्म कार्य जहां अन्य कषायका कोई विचार स्थान रंच नहीं है, कभी बाहर ऐसा जाना पड़ेतो यात्रा कर सकेगा। जब ऐसा सोचले कि अमुक तीर्थ इतनी दूर हैतो भला यह है कि वहां तकही दिग्व्रतकी मर्यादा रख ले ताकि किए हुए व्रतमें कभी भी किसी प्रकारकी कोई त्रुटि न आ सके।

(७) अनर्थदण्ड विरति नामक द्वितीय गुणव्रत और उसके प्रकार—व्रती श्रावकके अनर्थ दण्डव्रतकी अब चर्चाकी जा रही है। अनर्थ दण्डका अर्थ है—जो कार्य कुछभी प्रयोजनको सिद्ध नहीं करता और नित्य पापको ही करता है वह सब अनर्थ कहलाता है और दण्ड भी है, अर्थात् बिना प्रयोजन पापको अनर्थ दण्ड कहते हैं। इन अनर्थ दण्डोंका त्याग करना अनर्थ दण्ड व्रत कहलाता है, ऐसे अनर्थ दण्ड ५ हुआ करते हैं। जिन अनर्थ दण्डोंमें कोई इष्ट धन धान्यका लाभहो या अनिष्ट शत्रु आदिकका नाशहो, ऐसा कोई भी कार्य सिद्ध नहीं है और उसके संकल्पमें, संस्कारमें निरन्तर पापका बंध होता है। ऐसे अनर्थ दण्ड ५ हैं, और ५ ही नहीं, अनेक हैं। उन अनर्थ दण्डोंको जुदे रूपमें ५ कह दिया है, किन्तु हैं अनेक प्रकारके, और उनसबमें अनेक प्रकारके अनर्थ हैं, ऐसे अनर्थ ५ तरहके हैं। अपध्यान, पापोपदेश,

प्रमादचर्या, हिंसादान और दुःश्रुति। इनके त्यागको अनर्थदण्ड विरति कहते हैं, सो ये विरति भी पांच प्रकारके हैं।

(क) अपध्यान अनर्थदण्डविरति—अपध्यानका अर्थ है कि दूसरेके दोषोंको ही ग्रहण करना, दूसरेके धन सम्पत्ति आदिककी चाह रखना, पर स्त्रीका अवलोकन करना, दूसरेके झगड़ेको देखना, ऐसा कार्य करनेमें जो ध्यान बिगड़ता है वह अपध्यान नामक अनर्थदण्ड है। दूसरे पुरुषोंके दोषही दोष देखना और उन दोषोंको चर्चा करनेमें दिल बहलाना ऐसी क्रिया करनेसे इस करने वालेका कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता? न आजीविकामें सहयोग मिले, न धर्ममें। दूसरेकी लक्ष्मीको, धन सम्पदाको, निरख निरखकर चाह करना, ईर्ष्या करना, बुरा चिन्तन करना, इस विचारमें इस जीवको कौनसा प्रयोजन सिद्ध हुआ? कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं है। तो यह अनर्थ दण्ड है, परस्त्रीको देखना, इसमें कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता? व्यर्थ दूसरेका लगाव रखा, लौकिक दृष्टिसे भी परस्त्री उसकी बन न जायगी, उस पर कुछ अधिकार नहीं है और न कभी कोई उसका लाभ होगा, अथवा कदाचित् छिपे-छिपे लाभ भीहो जायतो आत्माको उससे कौनसा लाभ होता? उल्टा पाप का बंध है, तो यह ऐसा कार्य है कि जिसमें अनर्थ बहुत है। दूसरे झगड़ रहे हैं तो उनका झगड़ा देखनेमें बड़ा दिल लगता है, और कभी उनका झगड़ा शान्तसा होता दिखाई देतो यह खेदसा मानने लगता कि अब हमारा देखनेका मजा मिट रहा है, तो दूसरेके झगड़ेको देखना यह अपध्यान है। दूसरेका बुरा चिन्तन करना, विनाशका या बरबादीका भाव रखना यह सब अपध्यान अनर्थदण्ड है। इन अनर्थदण्डोंको व्रती श्रावकके त्याग रहता है। अपध्यानके त्यागको अपध्यान विरति नामक अनर्थदण्ड विरति कहते हैं।

(ख) पापोपदेशविरति नामक अनर्थदण्डविरति—दूसरा अनर्थदण्ड है पापोपदेश। जो कृषि, पशु पालन, वाणिज्य आदिका उपदेश किया जाता है अथवा किसी पुरुष स्त्रीके संयोग विषयक उपदेश किया जाता है वह पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड है। दूसरेको खेत जोतनेका उपदेश करना अथवा बताना कि यह इस तरह जोता जाता है, इस तरह पानी निकाला जाता है, यों जंगलमें आग लगायी जाती है, तृण घास आदिक इस तरह उखाड़े जाते हैं आदिक आरम्भका उपाय बताना यह आरम्भ विषयक उपदेश वाला पापोपदेश है। पशुवोंके बोलने अथवा पशु विषयक वार्ता करना इन उपायोंसे गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी, ऊंट, गधा आदिक पाले जाते हैं और उनकी संख्यामें वृद्धिकी जाती है आदिक कथन करना यह सब पापोपदेश है। वाणिज्य विषयक वार्ता करना, खरीदने बेचनेकी वार्ता बताना इस देशसे गाय, भैंस, बैल, ऊंट, हाथी आदिक लाये जायें और इस अन्य देशमें बेचे जायेंतो बड़ा लाभ होता है। इस तरह पशुओंके व्यापारका उपदेश करना पापोपदेश है। पहले समयमें नौकर बेचे जाते थे, जो जिनके नौकर हैं बसवे वहीं रहेंगे, दूसरी जगह न रहेंगे। यदि यह दूसरेको बेच देवेतो वह नौकर दूसरी जगह रहने लगेगा। जैसे गाय, भैंस जिसके हैं उसके ही घर रहेंगे। यदि दूसरे को बेच दें तो फिर उस दूसरेके घर रहेंगे। तो ऐसे तिर्यञ्चोंका या नौकरोंका व्यवसाय बताना, इस देशसे लाये, इस देशमें बेचेतो इसमें लाभ होता है, ऐसा वाणिज्यका उपाय बताना अनर्थ दण्ड है। ऐसे अनेक प्रकारके उपदेश सब पापोपदेश कहलाते हैं। अथवा जाल बनानेकी तरकीब बताना, जिस जालमें मछली, चिड़िया आदिक

फांसकर मारी जाती हैं। पापकार्यसे जो आजीविका करने वाले लोग हैं उनको उपदेश करना कि इस प्रदेशमें हिरण, सूकर, तीतर, मछली आदिक बहुत हैं तो यह बधिकोंके लिए उपदेश किया यह भी अनर्थदण्ड है। पुरुष और स्त्रीके संयोग विषयक, विवाह विषयक, उनके भोग विषयक उपदेश करना यह पापोपदेश नामक अनर्थ दण्ड है। इन सब अनर्थ दण्डोंका परिहार करना अनर्थदण्ड स्थान कहलाता है। मनुष्य को इतनी साधनातो रखना ही चाहिए कि जिनसे अपना कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता है, ऐसे व्यर्थके कार्य न करना, यह भी एक तपश्चरण जैसा ही रहेगा। तो व्रती श्रावक पापोपदेश नामक अनर्थ दण्डका त्यागी रहता है।

(ग, घ, ङ) प्रमादचर्याविरति, हिंसादानविरति एवं दुःश्रुति नामक अनर्थदंडविरति—तीसरा अनर्थदण्ड है प्रमादचर्या। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके व्यापारमें निष्प्रयोजन प्रमाद करना, बिना प्रयोजन वनस्पतिको काटना आदिक प्रमादचर्या अनर्थ दण्ड कहलाता है। अपने घरमें कुत्ता, बिल्ली, तोता, मैना वगैरह पालना यह भी अनर्थ दण्ड है, क्योंकि ऐसे जीवोंके पालनेसे खुदका कुछ प्रयोजन नहीं, दूसरे वे हिंसक जीव है। उनको हिंसामें इसने सुविधादी, यह सब अनर्थ दण्ड है। कोई प्रयोजन नहीं, भूमि खोद रहे हैं, पत्थरोंको चूरा कियाजा रहा है, बिना प्रयोजन जल बखेराजा रहा है। अग्नि और वायुका व्यापार करना आदिक कार्य प्रमादचर्या कहलाते हैं। ऐसे अनर्थ दण्डोंका त्याग करना अनर्थ दण्डव्रत है। हिंसादान नामक अनर्थदण्ड जैसे बिलाव, कुत्ते आदिकको रखना, शस्त्र, लोहा आदिका विक्रय करना लाख, खल आदिक का ग्रहण करना ये सब अनर्थ दण्ड हैं, क्योंकि बिलाव आदिक हिंसक जंतुवोंके पालन करनेसे उनके द्वारा हिंसा बनती। सो पालन करने वाला हिंसाका समर्थक कहलाता है। लोहा आदिक शस्त्र, लाख, विष वगैरह इनको देना, इनका ग्रहण करना ये सब अनर्थदण्ड कहलाते हैं। घातक जीवोंको पालनेसे उनकी प्रकृति घात करनेकी जो बनी है उसका प्रयोग करते हैं, अनेक जीवोंकी हिंसा करते हैं। तलवार आदिक दूसरेको देना, लाख, अफीम, चरस, गांजा आदिका व्यापार करना यह सब अनर्थ दण्ड कहलाता है। इनका त्याग व्रती श्रावकके होता है। पांचवां अनर्थ दण्ड है दुश्रुति। पुस्तकोंमें गंदी बातें लिखी हैं, वशीकरण, काम भोग वगैरहका वर्णन है उनका सुनना और दूसरेके दोषकी चर्चा वार्ता सुनना यह दुःश्रुति नामका अनर्थ दण्ड है। दुःका अर्थ है बुरी बात, श्रुतका अर्थ है सुनना। विषय कषाय वर्द्धक रागमोह बढ़ावनहार वार्तावोंको सुनना दुःश्रुति अनर्थदण्ड है। जिन शास्त्रोंमें मिथ्यात्वकी चर्चाहो, काम भोगका वर्णनहो, स्त्री पुरुष विषयक वार्ताओंका वर्णन हो या उनका नग्न चित्रणहो, जिनके देखने सुननेसे मनमें विकार पैदा होता है वे सब अनर्थ दण्ड कहलाते हैं। और सिनेमा देखना, गंदे-गंदे गायन सुनना ये सब भी अनर्थदण्ड कहलाते हैं। इनका त्याग व्रती श्रावकके रहता है। इस प्रकार अनर्थदण्डोंका त्याग होना दूसरा गुणव्रत है, जिसका नाम है अनर्थ दण्ड व्रत।

(७) भोगोपभोग परिमाणव्रत नामक तृतीय गुणव्रत—अब भोगोपभोग परिमाण नामका गुणव्रत कहते हैं। भोजनपान वस्त्रादिकका परिमाण करना, उससे अधिक इनका सेवन न करना सो भोगोपभोग परिमाण है। इनका परिमाण अपनी शक्तिके अनुसार मनुष्य रखते हैं, भोजन आदिकके मर्यादाकी संख्या रखते हैं, आज इतनी बार भोजन करूंगा आदिक। तो उनका परिमाण बनानासो

भोगोपभोग नामका गुणव्रत है। यहां भोग और उपभोगदो शब्द दिए गए हैं, जिसमें भोगका अर्थ है वह वस्तु जिसका एक बार सेवन किया जायतो फिर आगे सेवनके योग्य न रहे। जैसे जो भोजन खाया है वह पुनः खाने लायक नहीं रहता। जो इष्ट तेल लगाया है शरीरमें वह यदि कुछ अधिक भी होतो उस सबको पोंछ कर कोई नहीं लगाता। तोजो बारबार भोगनेमें आयेंवे उपभोग कहलाते हैं जैसे वस्त्र आदिक उनका परिमाण करना यह तीसरा गुण व्रत हुआ।

(८) सामायिकनामक प्रथम शिक्षाव्रत व सामायिक योग्य स्थान व आसन—अब शिक्षाव्रतमें सामायिक नामके प्रथम शिक्षाव्रतका स्वरूप कहते हैं। सामायिक कहते हैं समता परिणाम रखनेको। गृहस्थ निरन्तर समतापरिणाम नहीं रख सकता। अथवा समता परिणाम रखना कठिनहो रहा। कभी कुछहो पाता है तो समताका अभ्यास करनेके लिए क्षेत्र काल आसन आदिक बातोंको सही समझें कि किस क्षेत्रमें बैठकर सामायिक करना, किस आसनसे सामायिक करना, किस समयमें सामायिक करना। कैसे मन, वचन, कायको शुद्ध रखना आदिक बातें जानकर अपने मन, वचन, कायकी शुद्धि करनासो सामायिक नामका शिक्षा व्रत है। कैसा स्थान होना चाहिए जहां सामायिक की शुद्धिहो? तो इतनातो स्थूल निर्णय है कि कुछ एकान्त स्थान होना चाहिए, जहां वार्तालापहो रहा हो, स्वयं भी कुछ संकेतसे करदे ऐसे स्थानपर सामायिक शुद्ध नहीं होती है। कर्कश शब्द न होना चाहिए, वह स्थान सामायिकके लिए प्रशंसनीय है, बहुत जनोंका आवागमन भी जहां न हो, वह स्थान सामायिकके योग्य है। जहां मच्छर आदिकका प्रकोप न हो वह सामायिकके योग्य स्थान है। ऐसा सामायिक करने वाला पुरुष स्थानका निर्णय रखता है।

सामायिकके समय—समयमें तीन समय सामायिकके बताये गए हैं—सुबह, दोपहर और सायंकाल। इन तीन समयोंमें उत्कृष्ट यथा ६-६ घड़ी काल बताया गया है सामायिक करनेका। सो विनयपूर्वक सामायिकमें आदरभाव रखते हुए सामायिक करना चाहिए। जहां ६ घड़ीका समय बताया है उसका अर्थ यह है कि सूर्योदयसे पहले तीन घड़ी और सूर्योदयके बाद तीन घड़ी, यह समय है सुबहकी सामायिकका। इसी प्रकार ठीक दोपहरसे तीन घड़ी पहले और ३ घड़ी बाद यह दोपहरके सामायिक का काल है, इसी प्रकार सूर्यास्तसे तीन घड़ी पहले और तीन घड़ी बादका ऐसा ६ घड़ी सामायिक करनेका समय है। सामायिकके कालमें सामायिकमें विनयभाव रखते हुए सामायिक करना ऐसा उत्कृष्ट विनय वाला गणधर देवने सामायिकका स्वरूप कहा है। विनयका अर्थ हैजो विशेष रूपसे ले जाय। अपने आपके गुणोंमें आदर होना यह वास्तविक विनय है ऐसा विनययुक्त महापुरुषोंने सामायिकका काल बताया है।

सामायिकमें आत्मस्वरूपका चिन्तन—सामायिकके योग्य आसन भी होना चाहिए। वह आसन पर्यङ्क आसन है अथवा कायोत्सर्ग है। ऐसे आसनोंमें ध्यान धरना। ऐसे आसनको लगाकर सामायिकके काल प्रमाण तक इन्द्रिय व्यापारसे जुदा होना चाहिए, क्योंकि धर्म नाम है आरम्भ परिग्रहसे रहित जीवन बिताते हुए अपने अविकार ज्ञानस्वभावसे उपादेय बुद्धि रखना। तो भले प्रकार आसन लगाकर समयका परिमाण करके इन्द्रियके व्यापारसे रहित होकर समता परिणामका आलम्बन करना। पर्यङ्क आसन मांडकर

या कायोत्सर्गसे खड़े होकर इन्द्रिय व्यापारको तजकरजो समता परिणाम रखनेका अभ्यास करता है वह अपने ज्ञानस्वभावको विकासकी ओर ही ले जाता है। यह सामायिक शिक्षा व्रतका नियम रखने वाला जिन वचनोंमें एकाग्रतासे श्रद्धालु है। सामायिकमें अपने शरीरका सम्वरण रहता है, अपनी ओर झुका हुआ रहता है। सो बारबार अंजुलि करके जो कि श्रद्धाका विशेष गुण है अपने स्वरूपमें लीन होकर आत्मस्वरूपका विचार करे। यह सामायिक शिक्षा व्रती क्षेत्रका परिमाणले लेता। क्षेत्र परिमाण में अवधि है अपने शरीर प्रमाणकी। कदाचित खड़े हुए सामायिक करते में ऐसी निद्रा आये या कुछ बेसुधीहो जाय और कदाचित वह एक निज देह प्रमाण स्थानमें हीतो गिरा। तो कभी ऐसी सम्भावनाकी भी बातहोतो भी अपने देह प्रमाण जगहसे आगे व्यापार न करना चाहिए। अर्थात् कोई चेष्टा न करे, ऐसी द्रव्य, क्षेत्र काल, आसनकी मर्यादा रखकर अंतस्तत्त्वका जो ध्यान करते हैं वे पुरुष सामायिक व्रतको सफलतासे प्राप्त करते हैं। सामायिक शिक्षा व्रतमें प्रथम बार जमीन पर मस्तक झुकाकर पंचगुरुको प्रणाम किया जाता है। और वंदना करनेकी मुद्रामें अंजुलीको आवर्तसे घुमाकर चारों दिशाओंमें चार प्रणामोंको करता है और मन, वचन, कायकी शुद्धिपूर्वक आत्मध्यानमें लगता है। तो ऐसा प्रतिदिन तीन समय सामायिक करनेका संकल्प और यत्न इस व्रती श्रावकके होता है।

सामायिकका निरुक्त्यर्थ—सामायिक शब्द समयसे बना है। समय नाम है आत्माका। समयमें जो होवे अर्थात् आत्मामें जो होवे उस भावको सामायिक कहते हैं अथवा समयमें सम् और अय् ये दो शब्द पड़े हैं, जिनका अर्थ है कि भले प्रकारसे एक रूपसे गमन करना सो समय है, याने आत्मा अपने अभेद रूपसे परिणमे, ऐसी वृत्तिको सामायिक कहते हैं। जहां आत्माकी एकरूपता बने अर्थात् रागद्वेषकी दुविधता न बने ऐसे भावको सामायिक कहते हैं। अथवा आत्माको एक रूप करना जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है। इस छंदमें सामायिक करने वाला पुरुष जाप भी जपेगा, स्तुति भी करेगा, बारह भावनायें भी भायेगा, कभी आत्मतत्त्वको निरखनेका अभ्यास भी रखेगा पर ये सब अपने आत्माको अभेदरूप करनेके प्रयोजनसे हैं। अथवा सामायिक का अर्थ है सर्व प्राणियोंमें समताभाव रखना। देव वंदना करते समय संक्लेशरहित मनसे समस्त प्राणियोंमें साम्यभाव रखना सामायिक है। सभी प्राणी मेरे स्वरूपके ही समान हैं, ऐसा निरखकर समता भाव रखना, जिससे कि किसी प्राणी के प्रति रागद्वेषकी वृत्ति न जगे, उसे सामायिक कहते हैं।

सामायिकमें ज्ञातव्य प्रयोग—सामायिक करनेके लिए कुछ बातें जानना आवश्यक है। जिन ज्ञातव्य बातोंमें तीन बातोंका वर्णन किया। (१) एकतो सामायिक कैसे स्थानपर की जानी चाहिए? इस सम्बंधमें बताया गया कि जहां कोलाहलके शब्द न हों, लोगों की भीड़भाड़ न हो, डांस मच्छर आदिक न हों, ऐसे क्षेत्रमें सामायिक करना योग्य है, क्योंकि ऐसे क्षेत्रमें चित्तको क्षोभ नहो ऐसी स्थिति बनती है। (२) दूसरी सामायिक किस समय करना चाहिए? सामायिकके तीन काल कहे गए हैं—प्रातः, मध्याह्न और सायं। (३) तीसरी बात बतायी है कि सामायिकके लिए किस प्रकारसे बैठना चाहिए? तो इसके उत्तरमें बताया गया है कि जो आसन ध्यान करनेमें साधन हों उन आसनोंसे बैठना। उन आसनोंमें दो आसन प्रसिद्ध और उपयोगी हैं (१) एक तो पद्मासन और (२) दूसरा कायोत्सर्गासन।

इन आसनोंमें तारीफ यह है कि हाथ या पैरके तल भी अपने शरीरको या अन्यको नहीं छू रहे हैं। चित्तका क्षोभ हाथके तल अथवा पैरके तल भागसे किसी वस्तुको छूनेसे होता है। तो यह आसन इसी मुद्राका है कि तल भागसे किसीका स्पर्श नहींहो रहा।

सामायिकमें तन्मय होनेके अभिलाषियोंका कर्त्तव्य—उक्त तीन बातोंको बताकर अब चौथी बात यह बतायी जा रही है कि सामायिकमें तन्मय कैसे हुआ जाता है? सामायिक करने वाले कल्याणार्थीको प्रथमतो समस्त पापपूर्ण व्यापारका त्याग करना चाहिए।कोई पुरुष अन्यायकी आजीविका करे, अनेक लोगोंको धोखा देकर सताकर परिग्रह संचय करनेकी इच्छा रखे और ऐसाही प्रयोग करेतो उसके चित्तसे शल्य नहीं जा सकता। और जब तक निशल्यता नहीं होती तब तक समता परिणाम नहीं बनता। तो आत्मामें तन्मयता चाहने वाले पुरुष प्रथमतो अन्यायपूर्ण कार्योंको छोड़ें, फिर किसी एकान्त स्थानमें चैत्यालय गुफा, खाली मकान आदिकमें सामायिकका, समता परिणाम बर्तनेका पौरुष करें, वहां क्षेत्रकी मर्यादा कर लें कि मैं इतने क्षेत्रमें ठहरूंगा, फिर पद्मासन या कायोत्सर्ग आसन बनाये वहां कालकी मर्यादा करलें, मैं इतने काल तक सामायिक करूंगा। सामायिक योग्य स्थितिमें अपनेको रखकर इन्द्रिय व्यापारको रोक दें याने स्पर्शन इन्द्रियसे किसी चीजका स्पर्श न करें, रसना इन्द्रियसे किसी वस्तुका स्वाद न लें, गंध न लें, देखें नहीं, सुनें नहीं और मनको यहां वहां चलायें नहीं, जिनेन्द्र प्रभुने जो तत्त्व बताया है उसी तत्त्वके स्वरूपका चिन्तन करें अन्तः सहज अविकार स्वरूपके निरखनेमें उपयोग लगायेंतो ऐसी स्थिति होने में यह मन विकल्पको छोड़ देगा और आत्मस्वरूपमें तन्मय होनेका अवकाश मिलेगा। ५वां अभ्यास मनको निर्मल रखनेका है। जब किसी वस्तुको यह पुरुष इष्ट या अनिष्ट समझता है तब उसके मनमें निर्मलता नहीं रह पाती। सो सर्व पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जानकर रागद्वेषसे रहित होकर मनको निर्मल बनायें। छठी बात यह कि अपने वचनको निर्मल बनायें, धर्मयुक्त वचन ही निकले और किसीके दिलको कष्ट न पहुंचे ऐसे ही वचन निकलें। कोई कायसे चेष्टा संकेत आदिक न करें और अपने स्वरूपमें उपयोग जाय इसके लिए कायकी स्थिरता बनायेंतो ऐसे उपायोंसे यह आत्मा अपने स्वरूपके दर्शनमें तन्मयहो जाता है।

(१०) प्रोषधोपवास नामक द्वितीय शिक्षाव्रतका निर्देशन—अब शिक्षाव्रतमें प्रोषधोपवास नामक दूसरे शिक्षा व्रतका स्वरूप कहते हैं। दूसरा शिक्षा व्रत है प्रोषधोपवास। पर्वके दिनोंमें उपवास करना अथवा एकाशन करना, नीरस आहार लेना और उन समयोंमें धर्मध्यानकी विशेषता करना यह प्रोषधोपवास है। आहारका त्याग किसलिए किया? इसलिए किया कि इन विकल्पोंसे छूटकर मैं सतत् आत्मस्वरूपकी आराधनामें रहूं, तो ऐसे लक्ष्य वाले पुरुष उपवासके दिन स्नानका त्याग रखते हैं। स्नानसे क्या प्रयोजन? मुनियोंकी शिक्षा पानेके लिए प्रोषधोपवास लिया है। उपवासके दिन विलेपन न करें। शरीरमें किसी चीजका विलेपन करना यह उपवासमें योग्य नहीं है, क्योंकि इसमें चित्तको क्षोभ ही रहता है। आभूषण आदिक पहिनना, स्त्रीसम्बंध रखना, गंधकुटी आदिक लेना ये सब राग बढ़ाने वाली घटनायें हैं। प्रोषधोपवासका व्रत रखने वाले पुरुष इन सब संस्कारोंको छोड़ते हैं, उनका आभूषण वैराग्य ही है।

सो ऐसे सात्त्विक व्रतको दोनों ही पर्वोंमें यह जीव उपवास करता है। इस हीको प्रोषध नामका शिक्षा व्रत कहते हैं।

(११) अतिथि संविभाग नामक तृतीय शिक्षाव्रतका निर्देश—अब तीसरा शिक्षा व्रत है अतिथिसम्विभाग। अतिथि कहते हैं साधु संतजनोंको, जिनके जाने-आने रहनेकी कोई तिथि नहीं है। जब मन हुआ आये, मन हुआ चले गए, ऐसे तिथि रहित महापुरुषोंको अतिथि कहते हैं। और अतिथियोंके लिए जो अपने भोजन आदिकमें सम्विभाग किया जाय और अतिथियोंको आहार आदिक वैयावृत्य किया जायतो यह सब अतिथि सम्विभाग कहलाता है। पात्र तीन प्रकारके होते हैं। उत्तम पात्र हैं मुनि, मध्यम पात्र हैं श्रावक और जघन्य पात्र हैं सम्यग्दृष्टि। इन तीन प्रकारके पात्रोंको आहार, शास्त्र, औषधि, अभयदान करनासो अतिथि सम्विभाग है।

अतिथि संविभागव्रती दातारके सप्तगुण—साधु संतोंको आहार कराने वाले श्रावक श्रद्धा आदिक ७ गुणोंसे युक्त होते हैं। मैं बड़ा पुण्यवान हूं। आज मैंने एक वीतराग पात्र पाया है, अर्थात् जिसके रागद्वेष विशेष नहीं हैं, व्यक्त नहीं हैं, ऐसे पात्रको पाया है, ऐसा निरखकर अपने अतरंगमें उमंग और श्रद्धा रखना यह श्रावकका प्रथम गुण है। दूसरा गुण है पात्रके समीप बैठकर उनकी भक्ति करना। तन, मन, धन, वचनसे उनकी आवश्यक सेवाओंमें रहना। दातारमें तीसरा गुण है निर्लोभता। इस श्रावकके मनमें किसी भी वस्तुका लोभ नहीं है। इस वस्तुसे मेरा काम है इसलिए यह न दूं और यह मुझे आवश्यक विशेष नहीं है इसे दूं, इस प्रकारका भाव दातार श्रावकमें नहीं होता। श्रावकका चौथा गुण है दया। घरमें चींटी वगैरह देखकर सावधानीसे काम करता है ऐसा दातार दयालु है। चौथा गुण है शक्ति। पात्रकी सेवामें कितनाही धन व्ययहो, उसमें असमर्थता न जाहिर करना, कायर न बनना यह उसका शक्ति नामक गुण है। छठवां गुण है क्षमा। स्त्री पुत्र वगैरह कितनेही अपराध करलें फिर भी दानके समय उनपर क्रुद्ध न होना यह दातारका क्षमा गुण है। ७वां गुण है ज्ञान। यह पात्र योग्य है, यह योग्य नहीं है इस प्रकारका विवेक और ज्ञान श्रावकके रहता है। सो ऐसे ७ गुणोंसे सहित श्रावक श्रेष्ठ दाता कहलाता है। सो यह दाता योग्य पात्रको भक्ति पूर्वक आहारदान, अभय दान, औषधि दान और शास्त्रदान करता है। अतिथि सम्विभाग व्रतधारी साधुजनोंके आहार करानेकी सर्वविधि जानता है।

दानकी नव विधियां—साधुसंतोंको आहार कराने वाले श्रावकके द्वारा दानकी ९ विधियां होती हैं। प्रथम है प्रतिग्रह। भक्ति पूर्वक सद्वचन बोलते हुए साधुको बुलाना इस प्रतिग्रहमें यह श्रावक अपने घरके द्वार पर पात्रको देखकर या कुछ अन्य जगह खोजकर भक्ति पूर्वक लाकर नमोस्तु नमोस्तु तिष्ठ-तिष्ठ कहकर उनका प्रतिग्रह करता है, फिर दूसरी विधिमें वह अपने घरले जाकर ऊंचे आसन पर बैठाता है। तीसरी विधिमें साधुके पैर धोता है, चौथी विधिमें अक्षत, फल, नैवेद्य आदिकसे पात्रकी पूजा करता है। फिर चरणोंके समीप झुककर नमस्कार करता है। श्रावकके मनकी शुद्धि, वचनकी शुद्धि और कायकी शुद्धि रहती है। सब ओरसे अपनी काय कषायको संकोच कर यह श्रावक शुद्धि पूर्वक साधु संतोंको आहार देता है। ऐसे दाताके ७ गुण होते हैं। जिनके कारण यह पुण्य उपार्जन करने वाली विधियों सहित चार प्रकारका पात्रको दान देता है।

दानका महत्त्व—अब आहार आदिक दानकी महिमा बतलाते हैं। दान चार प्रकारका होता है। (१) आहारदान (२) औषधिदान (३) ज्ञानदान और (४) अभयदान। जब जिस दानकी वृत्तिमें चले तब उसकी महिमा दिखती है। आहारदान करने पर तीन दानहो ही जाते हैं। जिस साधुको आहार दियातो उसमें इतनी सामर्थ्यतो आयी कि वह स्वाध्याय आदिक कर्मोंको निर्विघ्न करे। वह आहार भी एक औषधि है, क्षुधा एक तीव्र रोग है, उस रोगकी शान्ति हुई तो यह औषधिदान भी बन गया। और आहार आदिक देनेसे मुनिको अभयकी प्राप्ति हुई। वह भयरहित होकर धर्मसाधनामें लगता है। औषधिदान देनेसे रोग शान्तहो जाया करते हैं, उससे संत जनोंकी आत्मस्वरूपकी सिद्धिमें उमंग रहती है। अभयदान करनेसे जब साधकको भय न रहातो अपने आपमें अपने उपयोगको जोड़ना सरलहो जाता है। शास्त्रदानकी तो बड़ी ही महिमा है। ज्ञान और शास्त्रसे जो अपना लगाव रखता है वह कभी केवल ज्ञानको पाले, ऐसा बीचमें विकास बना हुआ है। शास्त्रदानका फल है केवल ज्ञानलाभ व निर्वाण लाभ। ऐसा यह श्रावक सद्गुण भावना सहित चार दानोंमें अपना प्रवर्तन करता है। उसे न इस लोकमें कोई इच्छा है दान देकर, न परलोकमें कोई इच्छा है। यह श्रावकतो भक्तिसे रत्नत्रयधारियोंका वैयावृत्य करता है। जो पुरुष इहलोक और परलोककी इच्छा न रखता हुआ भक्तिपूर्वक दान करता है वह श्रावक मानों समस्त संघको रत्नत्रय धारणमें स्थापित करता है। भक्तिपूर्वक किसी भी दिन अल्प दिया हुआ दान इन्द्रादिक पदोंको प्राप्त कराता हुआ परम्परया आत्माको आत्मामें मग्न कराकर निर्वाणको प्राप्त कराता है, इस प्रकार पात्रविशेषोंकी वैयावृत्ति करना यह तीसरा शिक्षाव्रत है।

(१२) चतुर्थ शिक्षाव्रत—अब चतुर्थ शिक्षाव्रतका स्वरूप कहते हैं। चौथे शिक्षाव्रतका नाम है किसी ग्रन्थमें सल्लेखना और किसी ग्रन्थमें देशव्रत। जो सातों दिशाओंकी मर्यादाकी हुई थी उसमेंसे कुछ अवधि लेकर कम मर्यादा करना, उससे बाहर न आना-जाना यह देशव्रत है। और सल्लेखनाको चौथा शिक्षाव्रत कहते हैं। तो सल्लेखनाके अभ्यासमें पहलेसे ही काय और कषायका सल्लेखना भाव रहता है। अथवा जीवके आवीचिमरणतो सतत् चलता रहता है। सो प्रति समयमें अपनी सावधानी रखना, विषय कषायकी इच्छा न जगे ऐसी सल्लेखना प्रतिदिन निभती रहती है। तो कहीं सल्लेखना बताया, कहीं १२वें व्रतमें देशव्रत बताया। और सल्लेखनातो अन्त समयमें विशेषतयाकी ही जायगी। यह देशावकाशिक व्रत वाले इन्द्रियके विषयोंके भोगोंका परिमाण घटाता है। जब यह विषयोंसे विरक्त होगा, मनके विषयसे भी विरक्त होगा तबही यह देशावकाशिक व्रतमें बढ़ सकता है। किसी किसी ग्रन्थमें कहीं कहीं शिक्षा व्रतका अन्तिम भेद सल्लेखना कहा है। जहां सल्लेखना नहीं कहा बारह व्रतोंमें वहां बारह व्रत पालन करने वालेको अन्तमें सल्लेखनाका उपदेश किया है। सल्लेखना मरणकाल आने परकी जाती है। सल्लेखनाका अर्थ है सल्लेखना, भले प्रकारसे क्षीण करना। शरीर और कषायोंको क्षीण करनेको सल्लेखना कहते हैं। शरीरको क्षीण करना बाह्य सल्लेखना है और कषायको क्षीण करना यह अन्तरंग सल्लेखना है। यह व्रती जब किसी कठिन उपसर्ग वृद्धता रोगके आनेपर मरणकाल निश्चित समझ लेता है तब यह आहारादिका त्याग कर बाह्य सल्लेखना करता है। अन्तरङ्ग सल्लेखनातो जीवनकालमें भी करना कर्त्तव्य है और वैसे आवीचिमरणतो प्रतिसमयहो रहा है। जो आयु निकली

वह फिर वापिस नहीं आती। इसी प्रकार प्रत्येक समय आयुका क्षयहो रहा है, सो प्रति समय कषायका सल्लेखन करना आवश्यक है। सल्लेखना व्रतधारी सर्व जीवोंको क्षमा करता है, जो किसीका कुछ हर लियाहो वह उसको वापिस करता है। धर्म ध्यानमें अपना उपयोग लगाता है और ऐसा समाधिपूर्वक मरण करके यह जीव स्वर्गादिक उत्तम स्थानोंमें उत्पन्न होता है।

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामायिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी॥ १३९॥

अर्थ—जो चारों दिशाओं में क्रमशः तीन तीन आवर्त और चार प्रणाम, दो आसन करने वाला यथा जात मुनि की तरह स्थित तीनों योगों से शुद्ध व तीनों कालों में वन्दना करता है वह सामायिक नामक तृतीय प्रतिमाधारी है।

सामायिक प्रतिमा व सामायिककी विधि—देश संयत गुणस्थानमें तीसरा दर्जा अर्थात् प्रतिमा सामायिक प्रतिमा है। श्रावक सामायिककी विधिके अनुसार सामायिक करता है। सामायिककी विधि यह है कि पहले पूर्वदिशाकी ओर मुख करके खड़े होकर ९ बार णमोकार मंत्र पढ़े, पश्चात् ३ आवर्त करके अर्थात् दोनों हाथोंको जोड़कर तीन बार परिक्रमासी देकर यह उच्चारण करे मनमें कि ऊपर और नीचे जो चैत्यालय विराजमान हैं, जीव अजीव मंगल हैं उनको हमारा मन, वचन, कायसे नमस्कार हो। ऐसे घुटने टेक कर पञ्चांगसे नमस्कार करता हुआ कहे। फिर खड़े होकर उसी दिशामें ९ बार णमोकार मंत्र पढ़कर आवर्त करता हुआ ऐसा कह कर नमस्कार करे कि पूर्व दिशामें जितने चैत्यचैत्यालय हैं, जीव और अजीव मंगल हों, गुरुराज आदिक विराजमान हों, उन सबको मन, वचन, कायसे नमस्कारहो। फिर दक्षिणकी ओर मुख करके ९ बार णमोकार मंत्र पढ़कर आवर्त करता हुआ "दक्षिण दिशामें विराजमान समस्त जीव अजीव मंगलोंको नमस्कार हो। ऐसा उच्चारण करता हुआ नमस्कार करे, फिर पश्चिम दिशाकी ओर मुख करके खड़े होकर ९ बार णमोकार मंत्र पढ़कर पश्चिम दिशामें जितने जीव अजीव मंगल हैं उन सबको नमस्कारहो, ऐसा कहकर तीन आवर्त करता हुआ नमस्कार करे, फिर इसी तरह उत्तर दिशाकी ओर खड़े होकर ९ बार णमोकार मंत्र पढ़कर उत्तर दिशामें जीव अजीव मंगलोंको नमस्कारहो, ऐसा कहते हुए तीन आवर्त करके नमस्कार करे। फिर पूर्व या उत्तर दिशाकी ओर मुख करके बैठ जाय आसनसे अथवा खड़ा रहे, अब किसी मंत्रका जाप करे, बारह भावना आदिका मनमें पाठ करे, वस्तुस्वरूपका विचार करे, वंदना स्तुति भी करे और कुछ समय सर्व विकल्पोंको छोड़कर ज्ञाताद्रष्टा रहनेका पौरुष करे। सामायिक की क्रिया व काल पूरा होने पर फिर पंच नमस्कार मंत्र पढ़कर नमस्कार करता हुआ विसर्जन करे। सामायिककी इस विधिमें चारों दिशावोंमें तीन-तीन आवर्त हैं, चार प्रणाम हैं और एक प्रारम्भका संकल्प प्रणाम है। सामायिकमें यह श्रावक बालकवत् निर्विकार सरल आत्महितका चिन्तन करता हुआ रहे। मन, वचन, कायको सिद्ध करे, ऐसी सामायिक प्रातः, मध्याह्न और सायंकालजो करता है वह श्रावक सामायिक प्रतिमाका धारक कहलाता है।

सामायिकमें मुख्य ध्यातव्य तत्त्व—सामायिकमें मुख्य ध्यान परमात्माका और सहजात्माका

होता है। जो वीतराग सर्वज्ञ हुआ है वह आत्मा परमात्मा कहलाता है। जब तक शरीर सहित है तब तक वह अरहंत है, जब शरीर रहितहो जाता है तो वह सिद्ध भगवन्त होता है। सो अरहंत और सिद्धके आत्माके स्वरूपका ध्यान धरे तथा आत्माके सहज स्वरूपका ध्यान रखे ये दो ध्यान सामायिकमें मुख्य हैं। जाप जपनेके लिए अनेक प्रकारके मंत्र हैं। "ॐ" इतने एक अक्षरसे भी जाप कर सकेंगे, सिद्ध इस प्रकार दो अक्षरोंके पदका भी ध्यान धर सकेगा, अरहंत ऐसा जपकर चार अक्षरके मंत्रसे भी अपना ध्यान धराजा सकता है, ऐसे ही ५-६-१६-३५ आदि अक्षरों युक्त मंत्रोंको यह भक्ति पूर्वक जपता है। इन सब जापोंमें निर्दोष आत्माका ध्यान है। सामायिकमें ऐसी वैराग्य भावनासे वासित होना चाहिए कि इस समय उपसर्ग उपद्रव भी आयेतो मन विचलित न करे। उस समय कर्मोंके उदयका विचार करें। कर्मदो प्रकारके होते हैं—पुण्य और पाप। तो पुण्यके फलतो सुहावने रहते हैं, जिनके लिए दृष्टान्त दिए गए हैं, गुड़, खांड, शक्कर और अमृत। पाप प्रकृतियोंको उसका फल बुरा है, सो जितने भी दुःख होते हैं वे सब पापके उदयमें होते हैं। संसारके सुख यद्यपि पुण्यके उदयमें होते हैं फिर भी उस पुण्यसे क्या गुजारा चलेगाजो मिट जाने वाले हैं और फिर संसारमें जन्ममरण कराने वाले हैं। पाप पुण्य दोनोंसे रहितजो आत्माका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप वृत्ति है वही आत्म कल्याण करनेमें समर्थ है। सामायिकमें इतना समता भाव होना चाहिए कि लाभ अलाभ शत्रु मित्र, संयोग वियोग, तृण कांचन ये एक समान उसकी दृष्टिमें रहें। अब श्रावककी चौथी प्रतिमा प्रोषध है, उस प्रोषध प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं। प्रोषध व्रत द्वितीय प्रतिमामें भी कहा था, वही प्रोषध इस प्रतिमामें निरतिचार पाला जाता है—

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः॥ १४०॥

अर्थ—जो मास के चारों पर्व दिनों में अपनी शक्ति को न छिपाकर, शुभ ध्यान में रत हुआ एकाग्रता के साथ नियम से प्रोषधोपवास करता है वह प्रोषधोपवास नाम का प्रतिमाधारी श्रावक है।

अष्टमी चतुर्दशी पर्वकी शाश्वतता—इस छंदमें समन्तभद्राचार्यने प्रोषधोपवास प्रतिमाका स्वरूप कहा है। माहमें पर्वके चार दिन आते हैं प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीमें। रविव्रत आदिकजो भी व्रतके पर्व बताये गए हैं वे किसी कारण किसी दिनसे किसीने प्रारम्भ कराये। वे पर्व अनादिनिधन नहीं हैं, किन्तु अष्टाह्निका और अष्टमी चतुर्दशी ये पर्व अनादि अनन्त हैं। इन दोके सिवाय शेष सभी पर्व किसी कारणसे बने हैं। रक्षा बंधन, दीपावली और तीर्थंकरोंके कल्याणक आदिक पर्व घटनाके कारण हैं जिससे कि बने हैं। अष्टाह्निका पर्व अनादि निधन इस कारण हैं कि ८वें द्वीपमें चारों दिशावोंमें १३-१३ जिन मंदिर हैं, जिनकी रचना पूजा पाठोंमें भी बतायी जाती है। वहां भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिषि, वैमानिक, चारों प्रकारके देव कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ के अन्तिम ८ दिनोंमें पूजा करने जाते हैं, वंदना करते हैं और चौबीसों घंटे वंदना होती रहती है। वहां रात दिनका भेद है नहीं, और प्रायः ६-६ घंटे एक-एक निकायके देव वहां वंदनपूजन किया करते हैं। तो अष्टाह्निका पर्व यह अनादिसे ही चला आया है, अनादिसे ही देव होते आये हैं और वे वहां जाकर पूजन, वंदन किया करते हैं। किन्तु मनुष्योंकी शक्ति

नहीं है कि वे उस द्वीपमें जाकर पूजन वंदन कर सकें। सो मनुष्य यहीं अपनेही मंदिरोंमें वहांकी स्थापना करके, स्मरण कर पूजन किया करते हैं। अष्टमी चतुर्दशी पर्व भी अनादि निधन हैं, क्योंकि प्रतिमावोंमें इसी दिन प्रोषधोपवासकी विधि बतायी गई है। तो यों एक माहमें चार-चार पर्वके दिन आते हैं, सो उन दिनोंमें अपनी शक्ति न छिपाकर प्रोषधका नियम पालनजो करता है वह प्रोषधोपवास प्रतिमाका धारी है।

शक्त्यनुसार पालन होनेसे प्रोषधोपवासके तीन प्रकार—प्रोषधोपवासके तीन प्रकार हैं—(१) उत्तम (२) मध्यम और (३) जघन्य। उत्तम प्रोषधोपवासमें यह श्रावक सप्तमी और त्रयोदशीके दिन दोपहरके समय अर्थात् आहारोपरान्त जिनमंदिरमें जाकर सामायिक आदिक क्रियायें करके चारों प्रकारके आहारोंका त्याग कर उपवास ग्रहण करता है, यह त्याग रहेगा नवमी और पूर्णिमाके दोपहरके आरम्भ तक। इतने समय तक घरका धंधा काम काज आरम्भ छोड़कर धर्मध्यान ही करता है रात और दिन। तो प्रोषधप्रतिमाधारी धर्मध्यान पूर्वक रात बिताकर प्रातः काल उठकर सामायिक आदिक क्रियाकर्म करता है। शास्त्र स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा पूर्वक दिन व्यतीत करता है, इसी तरह रात भी व्यतीत करता है और नवमी व पूर्णमासीके सुबह पूजन विधान करके पात्रको पड़गाह कर किसी त्यागी व्रती साधुसंतको जो मिल सकें उन्हें आहार कराकर फिर आहार करता है तो यह उत्कृष्ट प्रोषध प्रतिमाके पालनका विधान है। जिसमें इतनी सामर्थ्य नहीं है वह अष्टमी और चतुर्दशीको प्रासुक जल भीले लेता है। और जो अधिक असमर्थ हो वह अष्टमी चतुर्दशीको कुछ रस छोड़कर एकाशन करता है पर इस प्रतिमामें करीब ४८ घंटे धर्म ध्यानपूर्वक रहनेका कर्त्तव्य बताया गया है।

प्रोषधपालनमें मुनिव्रत पालनका अभ्यास—प्रोषध करना कर्तव्य इसलिए बताया कि रोजजो धर्मध्यान करते रहते हैं उस धर्मध्यानमें कुछ विशेषता आनी चाहिए। सो प्रति सप्ताह अष्टमी चतुर्दशी पर्वके निकट धर्मध्यानको बढ़ाता है और मुनियोंके व्रतोंको पालनेकी शिक्षा लेता है। इसमें मुनिव्रत पालनेकी शिक्षादो प्रकार से मिलती है। प्रथमतो प्रोषध प्रतिमाधारी तीनों दिन सप्तमी, अष्टमी, नवमी तथा तेरस, चतुर्दशी, पूर्णिमा, ऐसे तीन दिन शामको जल नहीं लेता, एक बार ही जलपान करता। तो मुनि भी ऐसा ही किया करते हैं, तो एक शिक्षातो यह मिलती है, दूसरी शिक्षा धर्मध्यान और समता परिणाम अधिक समय तक रखे, यह मिलती है। आत्मस्वरूपकी धुन रखने वाला व्रती श्रावक उमंग पूर्वक सप्ताहमें इन पर्वके दिनोंमें अपना धर्मध्यान बढ़ाता है। इस प्रोषधके फलमें बहुत भवोंके संचित कर्मभी लीला मात्रमें नष्ट हो जाते हैं। प्रोषध प्रतिमाधारी प्रोषधके समयमें आरम्भ से विरक्त रहता है। जो पुरुष उपवासतो धारण करले परन्तु मोहवश आरम्भको करेतो उसका वह उपवास केवल शरीरके सोखनेके लिए ही है, उससे लेशमात्र कर्म नहीं झड़ते। प्रोषधमें प्र उपसर्ग है और औषध शब्द लगा है। संधि होने पर गुणरूप आदेश होता है। इस प्रोषधका अर्थ है प्रकृष्ट औषध याने औषधिके समान अल्प आहार करना। आहार औषधिको विशेष समझता हुआ आहार करे। यह श्रावक इन्द्रिय विषयोंसे तो विरक्त रहता ही है, पर कर्मविपाकवश मुनिजनोंकी भांति उनका त्याग नहीं कर पाता। तो वह पर्वके दिनोंमें प्रकृष्ट औषधिकी तरह आहार लेता हुआ इन समयोंमें विशेष धर्मध्यान करता है।

परमार्थ धर्मध्यान—धर्मध्यानमें उत्कृष्ट धर्मध्यान है यह कि निज सहज ज्ञानस्वरूपमें आत्मतत्त्वका

अनुभव करे। जो जीव अपने सहज स्वरूपमें आत्मस्वरूपका अनुभव कर लेता है उसको जगतमें फिर कोई कष्ट नहीं रहता। समस्त परद्रव्योंको जब जान लियातो उन अन्य पदार्थोंका परिणमन कैसा हीहो, उसमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि अथवा रागद्वेष नहीं जगता है। जीव अकेला ही है, कर्मवश होकर चारों गतियोंमें भ्रमण करता रहता है उन समस्त योनियोंमें एक यह मनुष्यभव ही उत्कृष्ट भव है कि जहां संयमका धारणहो सकता है। इसी भवमें एक अपने मौजकी लालसासे संयमसे अलग रहे और भीतरी संयमसे भी च्युत रहे। अटपट प्रवृत्तियां रहेंतो इस मनुष्य जीवनके पा लेनेसे फिर कोई लाभ नहीं रहता। इस कारण इस मनुष्यभवको एक बड़ा जिम्मेदारीका भव समझना चाहिए। किसी भी प्राणीके सम्बंधमें मेरा दुर्विचार न जगे। मुझसे जितनाहो सके, दूसरे प्राणियोंका उपकार, भलाईतो हो पर मेरी किसी भी चेष्टाके कारण दूसरेको कष्ट न पहुंचे। ऐसा शान्त परिणाम रहता है श्रावकका और सतत प्रतीति रहती है अमूर्त ज्ञानमात्र निजतत्त्वकी। मैं रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित हूं, अतएव बाह्य पुद्गलकी भांति मैं पकड़में नहीं आता हूं। आकाशकी तरह अमूर्त हूं, पर उपाधिका सम्बंध होनेसे आज विचित्र दशायेंहो रही हैं। जब मैं अपने स्वरूपकी सम्हाल करूं तो ये सब विडम्बनायें दूर हो जायेंगी और आत्मस्वभावकी भावनासे अलग रहूं तो ये संसारके दुःख बने रहेंगे, बढ़ते रहेंगे। इससे सर्व पदार्थोंको असार बेकार होनेसे निराला जानकर अपने आपके आत्मानुभवमें तृप्त रहा करें यह ही अपने आत्मापर वास्तविक दया कहलाती है। तत्त्वज्ञान करें, उसको अपनेमें प्रयोग रूपसे अनुभवें, सम्यग्दर्शन पायें और यथाशक्ति व्रत, संयम पालन करते हुए अपनेमें प्रसन्नताका अनुभव करें और अन्त समयमें आत्मसावधानी रखते हुए इस शरीरको छोड़ें, तो यह उपाय है शीघ्रही आत्म कल्याण पानेका, मोक्ष मार्ग पा लेनेका।

मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि।
नामानि योऽति सोऽयंसचित्तविरतो दयामूर्तिः॥ १४१॥

अर्थ—जो दयामूर्ति मूल, जड़, शाक, शाखा, गांठकन्द, फूल और बीज इन्हें कच्चे नहीं खाता वह सचित्त विरत नामक प्रतिमाधारी है।

पहिलेकी सब प्रतिमावोंके पालनके साथ सचित्त त्याग प्रतिमाका पालन—इस छंदमें सचित त्याग नामकी पंचम प्रतिमाका स्वरूप कहा है। जो पुरुष अपने आपके स्वरूपका श्रद्धान करके देव, शास्त्र, गुरुकी आस्थासे अपने आपमें अपने अनुभवको दृढ़ बनाकर आगे गमन करता है वह श्रावक क्रमशः कैसे कैसे त्याग बढ़ाता है और किस तरह अपने आपमें लीन होनेका मार्ग बनाता है वह सब इन प्रतिमावोंमें दिखायाजा रहा है। सचित्त त्यागी श्रावकने बारह व्रतोंका पालन किया, ३ बार नियमित निरतिचार सामायिक किया और अष्टमी चतुर्दशीके दिनोंमें एकाशन उपवास करके बहुत समय चैत्यालयमें या एकान्तमें बैठकर धर्म साधनाके लिए दिया, और वह सब बराबर करता चला आ रहा है। अब वही यहां सचित्त पदार्थोंके भक्षणका त्याग कर रहा है। जितने भी सचित्त पदार्थ फल, शाक, कंदफूल बीज हैं उन सबका त्याग करता है उनको नहीं खाता। कुछतो ऐसे अभक्ष्य सचित्त हैं कि जिन्हें पहलेसे ही नहीं खा रहा था और कुछजो बच रहे हैं सचित्त, उनका भी यहां त्याग कर चुका है।

वृक्ष या बेलसे तोड़ लेने पर भी अपक्व फलोंमें सचित्तता—सचित्त फल, शाक जिन्हें कि तौड़कर या बाजारसे खरीदकर लाते हैं तो वे फल और शाक अचित्त नहीं हैं, जैसे वृक्षमें बेल लगी थी। उस बेलसे वृक्षसे तोड़ लिया गया फलतो उसमें वह एक जीवतो नहीं है, पर प्रत्येक फल फूलमें अलगसे असंख्यात वनस्पति जीव रहते हैं। जैसे आपके शरीरका मालिक एक जीव है पर इस शरीरमेंतो अनेक जीव पड़े हैं, अंगुली कट जाय तो कटी हुई अंगुलीमें वह एक जीवतो न रहा। वहतो इस बड़े शरीरमें ही है, पर अंगुलीमें खुदमें जीव अनेक रहते हैं। ऐसेही वृक्षमें आम संतरा आदिक फल लगे हैं, बेलमें लौकी तुरई आदिक फल लगे हुए हैं, उनको तोड़ा गयातो वह वृक्ष वाला जीवतो फलमें नहीं आया, किन्तु फलमें खुद अनेक जीव रहते हैं। सो जब तक ये पके नहीं, गरम न हों, जो प्रासुक विधि है उससे प्रासुक न होंतो ये सचित्त कहलाते हैं। सचित्त पत्र, फल, छाल मूल पत्ते बीज, इनकोजो ज्ञानी जीव नहीं भक्षण करता खानेका त्याग करता है उसे हीतो सचित्त त्यागी कहते हैं। यहां पानी गर्म करता है, फल शाक आदिको बिनार कर रसोई बनाता है यह ५वीं प्रतिमा वाला, लेकिन मुखसे कच्ची चीज नहीं खाता, यद्यपि हाथसे बनाया सचित चीज उसमें भी एकेन्द्रिय जीवकी हिंसातो हुई, पर मुखसे एकेन्द्रियकी हिंसा करनेमें विशेष आसक्ति सिद्ध होती है। तो यह सचित्त त्यागी श्रावक सचित्त पदार्थोंका भक्षण नहीं करता।

स्वपर दयामूर्ति श्रावकके सचित्त त्याग की प्रतिष्ठा—सचित्त त्यागी पुरुष सचित्त पदार्थोंको स्वयंतो भक्षण करते नहीं पर उसे ऐसा विवेक रखना चाहिए कि अन्य पुरुषोंको भी सचित्तका भक्षण न कराये। तोजो पुरुष सचित्त फल आदिकका त्याग करता है उसने इस जिह्वाके स्वादको जीत लिया। अनेक फल ऐसे होते हैं कि सचित्तमें स्वाद होता है और अचित्तमें स्वाद कम रह जाता है। जैसे सेव संतरा आदिक इन्हें गर्म कर लिया जायतो इनके रसमें बदलहो जाती है। तो जो सचित्तका त्याग करते हैं उन्होंने इस दुर्जेय जिह्वाको जीत लिया। कच्चे जलमें स्वाद विशेष होता है और वह कामपोषक होता है। गरम पानी हो गयातो उसका रस बदल गया। अब उसमें कामावेशकी शक्ति नहीं रहती। तो सचित्त त्याग करनेके दो प्रयोजन हैं। (१) एकतो एकेन्द्रिय जीवकी हिंसा टल जाय। (२) दूसरे कामोत्तेजक नहो ऐसे इन दो प्रयोजनोंसे यह दयामूर्ति सचित्त त्याग करता है और वह जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञाका पालन करता है, सचित्त पदार्थोंको अचित्त करनेकी तरकीबें अनेक होती हैं। कुछ फल बिनारनेसे अचित्तहो जाते हैं, कुछ पकानेसे अचित्त होते हैं, कुछ सूखनेसे अचित्त होते हैं, तो ऐसे अचित्त फलोंका यह भक्षण करेगा, सचित्तका भक्षण नहीं करता। अब यह गृहस्थ श्रावक अपनी धर्मसाधनामें क्रमशः बढ़ रहा है। अब इसके बाद छठी प्रतिमाका वर्णन करते हैं।

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्वेष्वनुकम्पमानः॥ १४२॥

अर्थ—जो रात्रि में अन्न, पान, खाद्य, लेह्य, आदि पदार्थों को नहीं खाता वह जीवों पर दया करने वाला रात्रिभुक्त विरत नामका श्रावक है।

रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा—जिसको प्राणियों पर दया आती है ऐसा पुरुष रात्रिमें बनाये हुए भोजनको नहीं खाता और दिनमें बनाये हुए भोजनको भी रात्रि में नहीं खाता। रात्रि भोजनका त्यागतो पहली प्रतिमासे ही था, पर यहां छठी प्रतिमामें रात्रि भोजन त्याग इसलिए बतायाहै कि अब यह स्वयं रात्रिको न खायगा और दूसरोंको भी न खिलायगा। छठी प्रतिमासे पहले यह गृहस्थ दूसरोंको कभी-कभी रात्रिमें खिला देता था अथवा रात्रिमें खिलानेका हुक्म दे देता था। अब छठी प्रतिमा धारण करने पर यह रात्रिमें खायगा नहीं, न दूसरोंको खिलायगा। न रात्रिको खाने खिलानेके लिए अनुमोदना करेगा। चार प्रकारके भोजन होते हैं (१) खाद्य (२) स्वाद्य (३) लेह्य और (४) पेय। जैसे जिससे प्रतिदिन पेट भरा जाता है दाल, भात, रोटी आदिक ये खाद्य कहलाते हैं, इनका भक्षण रात्रिको यह छठी प्रतिमाधारी न करता है, न कराता है, न करते हुएको भला मानता है। स्वाद्य लड्डू पेड़ा आदिकजो रोज-रोज नहीं खाये जाते, न इनसे पेट भरता, एक स्वादका ही प्रयोजन बनाते हैं। लेह्य पदार्थ वे हैं जो चाटे जाते हैं, रबड़ी, चटनी आदिक, और पेय पदार्थ वे हैं जो पीने योग्य होते हैं जैसे दूध, जल आदिक। तो ऐसे चार प्रकारके आहार होते हैं, इन्हें छठी प्रतिमा वाला न खायगा, न खाते हुएको भला मानेगा, क्योंकि रात्रिमें जीव जंतुवोंका गमन विशेषहो जाता है, सो रात्रिभोजन करनेसे उन जीवोंका विघातहो जाता है।

रात्रि भोजनसे स्व पर विघात—अनेक जगह रात्रिमें भोजन करनेसे बारातकी बारात रुग्ण हुई, अनेक लोग मरे और अनेक बेहोश हुए। जैसे रात्रिमें कड़ाही जल रही है, मानलो खीर बनाई गई और उसमें कोई छिपकली गिरकर पक गई, उस खीरको लोगोंने खा लिया, तो उसके खाते ही दस्त आना, बुखार आना शुरु हो गया, ये सब बातें होती हैं। तो रात्रि भोजन करना जैन शासनमें बिल्कुल निषिद्ध है। बच्चे, बड़े रात्रि भोजन त्याग निभाना चाहेंतो भली भांति निभेगा, पर स्वादका लोभ लगा है इसलिए ऐसा महसूस करते कि यहतो न चल सकेगा, रात्रिमें भोजन न करें या दूध आदिक न लेंतो चल न सकेगा, ऐसा अनुभव करते हैं, पर चल क्यों न सकेगा? आज पुण्यका उदय है, अनेक वैभव प्राप्त हुए हैंतो जैसा चाहे मन कर लें, किन्तु कषायभाव आनेसे पापका बंध तुरन्त होता रहता है, और उस पापके उदयमें फिर इसे दुःख भोगना पड़ता है।

रात्रि भोजन त्यागमें आत्मलाभ—जिसने रात्रि भोजनका त्याग कियासो मानलो कि एक वर्षमें ६ माहका उपवास साही हो गया। रात्रिमें तो कुछ न खायातो यह भी एक बहुत बड़ा सदाचार है तो जो श्रावक रात्रिमें चारों ही प्रकारके भोजनको नहीं ग्रहण करतातो वह रात्रिभर उपवासमें तो रहा ही आया, रात्रिमें कुछ भी करेगा सो एक वर्षके आधे दिन याने ६ माहतो उपवास किया, ऐसा समझलो। यद्यपि वह उपवास रूप नहीं है एक त्याग किए हुए है, वह आधा वर्षतो निकल गया भोजन न करनेमें। तो रात्रि भोजन त्याग करने वालेका रात्रिमें कूटना, पीसना, पानी भरना, झाड़ू बुहारी लगाना आदिक ये सब आरम्भ दूर हो जाते हैं। रात्रि भोजन त्यागी स्त्रियां भी होती हैं, ११ प्रतिमायें स्त्रियां भी धारण कर सकती हैं, पुरुष भी धारण करते हैं, तो एक प्रश्न आता है कि किसी महिलाके छोटा बच्चा होतो वह रात्रिको उसे दूध पिलायगी या नहीं? तो यदि न पिलायेतो यह बच्चे पर दया न रही अतएव छोटा शिशुतो दिन रातमें बीसो बार दूध पी लेता होगा। तो ऐसा महापुरुषोंने बताया है कि महिलाकी छठी

प्रतिमाहो तो भी वह अपने बच्चेको दूध पिला सकती है और इसके अतिरिक्त दूसरेको न खिलायें, न स्वयं खायें, ऐसे बड़े कठोर नियंत्रणसे छठी प्रतिमाका आचरण होता है। अब सप्तम प्रतिमा ब्रह्मचर्य व्रतके सम्बंधमें कहते हैं।

मलबीजं मलयोनिं गलन्मल पूतिगंधिबीभत्सं।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः॥ १४३॥

अर्थ—जो श्रावक शरीर को मल से उत्पन्न होने वाला, मल का जनक, मल मूत्र को बहाने वाला, दुर्गन्धयुक्त, ग्लानि का उत्पादक देखता हुआ मैथुन से विरत होता है वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी कहलाता है।

ब्रह्मचर्य प्रतिमा—ब्रह्मचर्य के विरुद्ध व्यभिचारमें जो प्रवृत्ति करते हैं उनकी दृष्टि दूसरे देहपर ऐसी होती जैसे मानों वही सारभूत हो। सो यह शरीर कितना घिनावना और अपवित्र है कि मलकातो यह बीज है। जैसे बीज से अंकुर फूटता है ऐसे ही इस देहसे मल निकलता है और कितना मल निकलता? खून पीप आदिकतो सारे शरीरमें है ही, पसीना भी निकलता, हाड़, मांस, मज्जा भी सर्वत्र है। किन्तु मुखमें इतने मल हैं कि जितने सारे शरीरमें नहीं है। कह सकते हैं कि पेटमें अन्य अंगोंकी तरह मैल हैं और उसके अतिरिक्त दो मैल और अधिक हैं—टट्टी और पेशाब। मगर मुखमें तो बड़े ही मैलोंकी संख्या है। जैसे कफ निकलना, थूक आना, नाक बहना, आंख का कीचड़, कानका मैल आदिक कितने ही मैल भरे हैं इस मुखमें, मस्तकमें। तो जो अधिक गंदा है इस देहके अन्दर वह मुख है अधिक गंदा। इतनी गंदगी हाथमें कहां है? हाथमें खून है, मज्जा है, हड्डी है और मुखमें ये तो सब है ही मगर थूक, नाक, वगैरह अनेक मैल यहां पाये जाते हैं। फिर कैसा अनोखा राग है मोहियोंका कि शरीरमें सबसे अधिक प्रिय मुख लगता है इन मोही जीवोंको। तो शरीर का बीज मल है अर्थात् शरीर मल से उत्पन्न होता है और मलकी योनि है। इस शरीरसे मल निकलते हैं, निरन्तर मल झरते रहते हैं, अपवित्रता बनी रहती है, दुर्गन्ध भी है, बड़ा भयानक रूप है। यदि यह चाम ऊपर न होतातो कितना भयानक यह मनुष्य लगता। ऐसे वीभत्स बुरे देहमें जो राग नहीं करता वह ब्रह्मचारी कहलाता है। यह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी समस्त स्त्री विषयक अभिलाषाको त्याग देता है। स्त्रीजन चार प्रकारकी होती हैं। (१) एक तो देवियां (२) दूसरी मानुषी महिला, औरतें (३) तीसरी तिर्यञ्चिनी कुतिया, बिल्ली, गाय, गधी आदिक और (४) चौथे प्रकारकी स्त्रियां हैं काठ पत्थर आदिककी, जिनको देखकर हृदय बिगड़े, प्रेमवासना उमड़े वे सब हेय हैं। सो इन सभी प्रकारकी स्त्रियोंमें मनसे, वचनसे, कायसे, कृतकारित अनुमोदनासे राग न करना चाहिए। यह ब्रह्मचारी न तो स्त्रीजनोंको मनसे, वचनसे, कायसे चाहता है, न कृतकारित अनुमोदनाका दोष लगाता है, स्त्री सम्बंधी अभिलाषाही नहीं करता, न दूसरोंको इस विषयमें प्रेरणा देता है। ऐसा यह पुरुष विकार भावोंसे दूर ब्रह्मचारी कहलाता है।

अठारह हजार प्रकारके कुशीलोंका त्याग करनेसे अठारह हजार शीलके प्रकारोंका पालन—शीलके १८ हजार भेद बताये गए हैं जिनका पूर्ण पालन तो ऊंचे गुणस्थानोंमें होता है फिर भी इनसे विरक्ति रखना सभी गृहस्थोंका कर्तव्य है। वे १८ हजार शील किस तरह होते? तो १८ हजार

कुशील हैं, जिनके त्यागको शील कहा करते हैं। ४ प्रकारकी तो स्त्री, देवी, मानुषी, तिर्यञ्चिनी और अचेतन काठ, शिल्पकारीकी तो इन चार प्रकारकी चेतन अचेतन स्त्रियोंको मन, वचन, कायसे सेवना सो ये ४×३ = १२ भेद हुए। अब इन १२ प्रकारोंको कृतकारित अनुमोदनासे गुणा करनेसे १२×३ = ३६ भेद हुए और ये ३६ ही पाप ५ इन्द्रियोंसे किए जा सकते हैं तो ये ३५×५ = १८० भेद हुए। अब इनको १० संस्कारोंसे दृढ़ करना इस प्रकार ये १८०×१० = १८०० भेद हुए। वे १० प्रकारके संस्कार क्या हैं जो आत्माके परिणामसे विचलित करते? (१) पहला है शरीरका संस्कार करना, (२) दूसरा है शृंङ्गार रस राग ऐब सहित सेवन करना ये सब दोष बताये जा रहे हैं। शरीरको जो सजाता हैतो समझिये कुछ इसके चित्तमें अभी कमी है, (३) तीसरा संस्कार हँसी क्रीड़ा करना, (४) चौथा संस्कार है संसर्गकी इच्छा करना, (५) पांचवां संस्कार है विषयोंका संकल्प करना, (६) छठा संस्कार है दूसरेके शरीरकी ओर ताकना, (७) सातवां संस्कार शरीरको सजाना, (८) आठवां संस्कार है कुछ देना, नवमा संस्कार है पहिले भोगे-भोगोंका स्मरण, दसवां संस्कार है मनमें भोगकी चिन्ता करना। इन १८०० को १० काम चेष्टावोंसे गुणा करना सो १८००० कुशील होते हैं। कुशीलमें काम सम्बन्धी १० चेष्टायें होने लगती हैं। जो पुरुष विवेक नहीं करता और यदवा तदवा भावका बिगाड़ करता रहता है उसकी १० चेष्टायें कौन होती हैं? तो पहली चेष्टा कामकी चिन्ताका होना है। जो प्रेमीजन हैं वे पासमें न हों तो उनके लिए दिल बना रहे, सो पहलेतो चिन्ता होती है, जिनको काम सताता है। फिर जिसको दिलमें बसाया उसके दर्शनकी इच्छा होती है। न मिल सके दर्शनतो बड़ी दर्द भरी आहें भरता है, फिर शरीरमें पीड़ा होती है; शरीरमें जलन होने लगती, और यह उस धुनमें खाने पीनेका भी त्याग कर देता, फिर मूर्च्छितहो जाता, फिर पागल साहो जाता और फिर जीवनका भी संदेहहो जाता है, वीर्यपात होने लगता है कामी अपनी शक्तिका भंग करता है। तो शील सम्बंधी दोष १८ हजार होते हैं, तो उन दोषोंका त्याग भी १८ हजार प्रकारका हुआ। जो पूर्ण ब्रह्मचारी है वह इन भेदोंको भी उल्लंघ देता है।

ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावकका विशुद्धभाव—ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने वाला पुरुष ही दयालु है, क्योंकि विभिन्न अंगोंमें अनेक सम्मूर्छन जीव रहते हैं। तो हिंसाका परिहार करने वाले उन सब साधुवोंका परित्याग किसलिए है? तो ब्रह्मचर्य प्रतिमामें कुशीलसे विरक्ति रहती है। कितने भी सुन्दर स्त्री पुरुषको निरखकर कोई मनमें विकार नहीं आता जिसके ब्रह्मचर्य प्रतिमा होती है वह सप्तम प्रतिमाधारी कहलाता है। ११ प्रतिमावोंमें ७वीं, ८वीं, ९वी ये तीन प्रतिमायें मध्यम प्रतिमायें कहलाती हैं। और इससे नीचे गुण स्थानोंमें जघन्य और उनसे ऊपर उत्कृष्ट स्थानोंमें उत्तम कहलाती हैं। ब्रह्मचर्यका सीधा अर्थ है—ब्रह्म मायने आत्मा उसमें चर्य अर्थात् रमण करना, पर जिससे इतना न बन सकेतो परमार्थ ब्रह्मचर्य पालन करनेका मूलतो बन जाना चाहिए। सो यह ब्रह्मचारीतो मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदनासे विषयोंका परिहार करता है। लोकमें अनेक शूरवीर सुने गए, पर वास्तविक शूरता ब्रह्मचर्य प्रतिमा निभाने वालेकी है। सो आत्माका अविकार स्वरूप जानकर बाहरमें शरीरको अपवित्र निरखकर यह कुशीलसे विरक्त रहता है और अपने शील स्वभावमें उपयुक्त होता है।

जिस पुरुषने छहों द्रव्योंका स्वरूप जाना है, प्रत्येक द्रव्यका गुण पर्याय उसही में है, इस कारण

किसी द्रव्यसे किसी द्रव्यका कोई सम्बंध नहीं है। न कोई किसी अन्यका कर्ता है, यह बस रहस्य जिसको स्पष्टहो गया उस पुरुषको अब जगतके किसी पदार्थमें कुछ अभिलाषा नहीं रहती और आत्मकल्याणके लिए ही वह अग्रसर रहता है। इसका निर्णय है कि परमात्मदशासे पहलेकी सारी स्थितियां उसके लिए बेकार हैं। इन किन्हीं भी स्थितियोंमें मेरी पवित्रता नहीं, मेरेको शान्ति नहीं। व्यर्थका भ्रमभार लादकर जगतमें कष्ट पाता हूं। अब इसके किसी भी बाह्यपदार्थमें इच्छा न रही, संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त हुआ और बारह व्रतोंका अभ्यास करके समता परिणाम की दृढ़ता बनाकर प्रति सप्ताह ४८ घंटे विशेष धर्म ध्यानमें लगाकर दयावश सचित्त पदार्थोंको अब नहीं खाता, इनका त्याग कर देता है। और रात्रिके भोजनमेंतो प्रकट हिंसा है सो रात्रि भोजनतो करता ही नहीं, न कराता है, न रात्रि भोजन करने वालेकी अनुमोदना करता है। इन सब अभ्यासोंसे दृढ़ होकर इसके ब्रह्मचर्यकी बड़ी तीव्र भावना जगी है। और अब निज स्त्रीसे भी सम्बंधका त्याग करता है अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करता है।

ब्रह्मचारी की कुशीलके साधनोंसे दूर रहनेकी वृत्ति—ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक अब यह घरमें रह रहा है। किन्तु निरतिचार ब्रह्मचर्य रहे इस भावनासे वह अपनी विवाही स्त्रीके कमरेमें भी नहीं सोता। पूर्वमेंजो भोग था उन भोगोंका यह स्मरण नहीं करता। जिससे कामवासना बढ़े ऐसे पुष्ट गरिष्ट पदार्थोंको वह नहीं खाता जिसकी आत्महितकी भावना प्रबल हुई है उसे अब स्वादसे अथवा शरीरके पोषणसे कुछ प्रयोजन नहीं रहा जब यह शरीर एक दिन छूटना ही है, यह श्मशानमें जलाया जायगा, प्रकट भिन्न है, मलको बहाने वाला है, उस शरीरसे भी क्या प्रेम रहे ज्ञानीका? ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी गरिष्ट पदार्थोंका भोजन नहीं करता। जो कामोद्दीपन करें राग बढ़ाये ऐसे वस्त्र आभरण नहीं पहिनता। बनावट सजावटसे वह दूर रहता है, शुद्धसात्विक वृत्तिसे वह रहता है। वह गृहस्थ घरमें रहता हुआ भी कितना पवित्र भावनाओंका पुरुष है। रागवर्द्धक गीत, नृत्य, वादित्र आदिकका भी अब वह संग नहीं बनाता। धार्मिक गीत, धार्मिक नृत्य, धार्मिक समारोहमें इनके बीच रहता हुआहो तो अपने सद्भावोंको ही बढ़ा लेता है, इस कारण वहतो रागमें शामिल नहीं है, वहतो धर्मके अनुरागमें शामिल है, पर जिनसे राग बढ़ता है ऐसे गीत नृत्यआदिकका भी सम्बंध तज देता है। पुष्पमाला पहिनना, सुगंधित फुलेल लगाना, विलेपन करना, शृंगारकी कथायें सुनना, कहना, हास्यकी कथायें कहना सुनना, उपन्यास पढ़ना, अश्लील चित्र देखना आदिक इनसेतो अत्यन्त दूर रहता है। और भी रागकारी वस्तुवें, जैसे ताम्बूल भक्षण, जिनसे शरीरके प्रति राग जगता है, ऐसी बातोंको वह त्याग देता है। एक परम ब्रह्मस्वरूपकी भावनामें बढ़-बढ़कर वह अपनेको इस योग्य बना लेता है कि उसे अब द्रव्य उपार्जन करनेका भाव नहीं रहता, तब इसके अष्टम प्रतिमा प्रकट होती है।

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः॥ १४४॥

अर्थ—जो सेवा, खेती, व्यापार आदि आरम्भों से, जो जीव हिंसा के कारण हैं, विरक्त होता है—उन्हें त्याग देता है वह आरम्भ विरत नामक प्रतिमाधारी श्रावक है।

स्वपर प्राणविघातके कारणभूत होनेसे धनार्जनके आरम्भोंका त्याग—जो सेवा, खेती, व्यापार आदिक आरम्भोंसे निवृत्त होता है वह आरम्भ त्यागी श्रावक कहलाता है। इस आरम्भको क्यों त्यागता है? तो यह प्राणिबधके कारणभूत है। कितना ही बचावहो आजीविकाके उपायोंमें फिर भी कुछ न कुछ प्राणिवध सम्भव है। कोई सोचे कि नौकरी है या अन्य कुछ है जिसमें प्राणिवधका कार्य सम्भव नहीं है वह आरम्भ करे तो इसमें भी खुदका राग बढ़ता है, तो खुदमें घात चल रहा है—अब यह अपना भी वध नहीं सह सकता, दूसरेका वध भी नहीं सह सकता इसलिए दयालु होकर अपनी रक्षाके लिए प्राणियोंकी रक्षाके लिए यह समस्त आरम्भका त्याग कर देता है। घरमें रह रहा है परिग्रह भी पास रखे हुए है। केवल एक नई आजीविका अर्थार्जन नहीं कर रहा, पर जो पहले से संचित है उसेतो रखे हुए है, उसमें अपना गुजारा कर रहा है, तो यह बचता हुआ अब दूसरेका मुंह न ताकेगा। यह खुद आहार बना सकता है और कोई व्रती साधु संत मिलें तो उनको आहारदान करा सकता है। यहांतो प्राणिवधके कारणभूत उन षट् कर्मोंसे निवृत्त हुआहै जो आजीविकाके साधन हैं। यह आरम्भ त्यागी आरम्भ छोड़ते समय अपने घरके बड़े पुत्रादिकको बुलाकर अपना विचार बताता है और उस ही समय थोड़ा सबको विभाग करता है इनको इतना धन दिया, इनको इतना दिया, खुदके लिए इतना रख लिया और बाकीजो थोड़ा कुछ रखा है उसी अल्प धनसे दुःखियोंका, भूखोंका उपकार करता है, अपनी भी उदर पूर्ति करता है।

आरम्भ त्यागी श्रावकका प्रगतिशील आशय—आरम्भ त्यागी श्रावकको यह भय नहीं है किजो मैंने थोड़ा सा अपनी उदर पूर्तिके लिए रखा है, यदि यह निपट जायगातो क्या करेंगे? उसका एक ही निर्णय है कि अगर यह भी निपट जायतो आगे मैं प्रतिमाक्षेत्रमें बढ़ूँगा, धर्मसाधनामें बढ़ूँगा। चिन्ता उनको होती है जो धर्ममें बढ़नेकी उमंग नहीं रखते और अपने देहपर दृष्टि अधिक धरते। यह आरम्भ त्यागीजो कुछ थोड़ा अपने लिए रखा है उससे शरीरका साधन बनाया है। औषधि, भोजन, वस्त्र आदिक का साधन बनाया है। साधर्मीजनोंके दुःखोंके दूर करनेका साधन बनाया है वह अपने आरम्भका उपयोग पापारम्भमें नहीं करता। जो कुछ थोड़ा धन रखे है उसको यदि कोई चोर चुरा ले या कोई हर लेतो वह क्लेश नहीं मानता और उसे उत्पन्न करनेकी चेष्टा नहीं करता कि यदि मेरे ये १० हजार रुपये लुट गए हैं तो फिरसे मैं कमाऊं। ऐसा भाव नहीं रखता, किन्तु इस प्रसन्नताका अनुभव करता कि जो अवसर मुझे चाहिये था वह सहजही मिल गया। वह आगेकी प्रतिमावोंमें बढ़ता है और अपनेको धन्य मानता कि जो कुछ मैंने रखा था उसमें मैं रागीहो रहा था, वह भी छूट गया, ऐसा वह परिग्रहके छूटनेमें आनन्दका अनुभव करता है और परिग्रह त्याग प्रतिमा धारण करता है और यदि इस तरहसे परिग्रह न लुटेतो खुद भी परिग्रहका त्याग करके आगे बढ़ता है।

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः संतोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ॥ १४५ ॥

अर्थ—जोबाह्य दश प्रकार के धन धान्यादिक परिग्रहों में समत्व का त्यागकर निर्मम भाव में लीन रहता हुआ संतोषपूर्वक आत्मा में स्थित रहता है वह रातदिन परिचय में आने वाले परिग्रह से विरत पद का धारी है।

परिग्रह विरत श्रावकका मोक्ष मार्गमें बढ़ना—ज्ञानमय सहज आनन्दस्वरूप निज परमात्म तत्त्वकी प्रबल भावनाके कारण इस के परिग्रहके प्रति रंच भी लगाव न रहा। सो अब यह १० प्रकारके परिग्रहोंको त्यागता है एक थोड़ेसे वस्त्र और एक आध पात्र रखता है बाकी सर्वका त्याग कर देता है। उस समय अपने कुटुम्बकी बादकी जिम्मेदारीको बोलकर अपनी भावना बताता है। अब परिग्रहके प्रति भाव न रहा। मैं परिग्रहका त्याग कर रहा हूं। यह नौवीं प्रतिमा सम्बंधी त्याग है। यह परिग्रह त्याग मुनिके परिग्रह त्याग बराबर नहीं है। वहतो महाव्रतमें हैं और यह अभी देशव्रतमें है। अपने लिए वस्त्र, कमण्डल इतने मात्र रखा है, सो अपने पुत्रादिकसे कह रहा कि अब तुम इसकी सम्हाल करो और जो गृहस्थीमें रहकर सामाजिक धार्मिक कार्य आते हैं, जिनमें धन त्याग करना पड़ता है वे सब बहुत ही सम्हाले, मैं तो इनसे अलग होकर अपने निर्विकल्प अखण्ड ज्ञायक स्वरूप परम ब्रह्ममें दृष्टिको दृढ़ करनेके अभ्यासके काममें जा रहा हूं। सो जिसको कुछ देना था, जो विभाग करना था वे सब विभाग करके रुपया पैसा, सोना चांदी, गोधन मकान सभीका त्याग कर देता है। अब यदि यह उसी घरमें रहता है पुत्रोंके कहनेसे तो रहा आता है, पर उसके भावोंमें यह नहीं है कि मैं अपने मकानमें रह रहा हूं। जिस काल पुत्र थोड़ी भी निगाह फेरेंगे, संकेत करेंगे कि अब यहांसे जाइये, तो यह चला जाता है। इसके लिए मंदिर या सार्वजनिक स्थान, त्यागीजनोंके ठहरनेके स्थान ये सब बेरोकटोक पड़े हैं।

परिग्रह विरत श्रावककी वृत्ति—परिग्रह विरत श्रावक परिग्रहका त्यागकर थोड़े मूल्यके वस्त्र रखता है। बहुत मूल्यकी चीज रखनेमें त्यागी साधुके लिए शोभाकी बात नहीं है। इतनी ही बात नहीं, किन्तु एक कलंक है। बहुत बढ़िया पेन रखे, बहुत बढ़िया सुहावनी चटाई रखे, बहुत कीमती अनेक बातें रखेतो उनसे चित्तमें बिगाड़ ही है, विकार ही है, लाभ क्या है? जिन बाह्य पदार्थोंसे राग बने, ऐसी बहुत मूल्यकी चीजें अगर पासमें हैं तो कहीं यह चीज गुम न जाय, ऐसा भाव भी रखेगा। कोई चुरा न ले इसलिए थोड़ा सुरक्षाका भी भाव रखेगा, तो ये सब आत्माकी आराधनामें बाधक हैं। आत्मकल्याणार्थीको तो केवल निज ब्रह्मस्वरूपसे ही अनुराग है, उसका सारा चिन्तन, उसका सारा बोल, उसकी चेष्टा केवल उस ब्रह्म भक्तिके लिए ही है। थोड़े मूल्यके प्रामाणिक वस्त्र रखता है। हाथ पैर धोनेके लिए मात्र बर्तन रखता है। यह रहता कहां है? पुत्रादिक निवेदन करेंतो वह घरके किसी अलग कमरेमें रहता है या अन्य एकान्तमें रहता है। भोजन वस्त्रादिक घरका देवेतो उसे भी ग्रहण कर लेता है, कोई दूसरा भक्तिपूर्वक देवेतो उसे भी ग्रहण कर लेता है। कभी कोई शारीरिक व्यथाहो, असह्य वेदना हुई तो बता भी देता है घरवालोंको और वे वैयावृत्य करेंतो करें, न करेंतो न करें, उस पर कोई

अधिकार नहीं चलाता। जैसे कि घरमें रहने वाले लोग पुत्रादिक कोई कार्य न करें उसके मन माफिकतो अभी तक यह डाटता था, पर अब इसको डाटनेका या कुछभी कहनेका अधिकार नहीं है, यह सब उपशम भावसे रहता है। किसी भी समय किसी भी घटनामें यह नवम प्रतिमाधारी श्रावक पुत्रादिकसे कुछ भी उलाहनाकी बात नहीं कहता कि मैंने इतना सारा धन कमाया, मैंने यह मकान बनवाया, हमने तुमको यह मकान दिया है आदि।

परिग्रह विरत श्रावकका उत्कर्ष—भैया, एक सहज आत्म स्वरूपका अनुभव होने पर कैसा व्यवहार करना चाहिए यह सिखानेकी जरूरत नहीं रहती। जिसको आत्मस्वरूपके अनुभवकी धुन लग गई है उसका स्वयं ही उपादान इस योग्य होता है कि जो अपने आपमें क्षोभ न करे और दूसरेके क्षोभका कारण न बने। यह परिग्रह त्यागी श्रावक अपना समस्त समयजो भी बचता है भोजन पान आदिकसे, वह धर्मध्यानमें लगाता है, दूसरे से सुनना, खुद पढ़ना, दूसरोंको सुनाना, तत्त्ववार्ता करना, एकान्तमें रहकर अनेक प्रकारके चिन्तन करना, भावना करना, धर्म सम्बंधी सभी दृष्टियोंका यह प्रयोग करता है। अब नवम प्रतिमामें रहता हुआ यह श्रावक इतना अभ्यस्तहो गया है कि अब पुत्रादिक कोई वार्ता पूछतेतो उसकी अनुमोदना अथवा सम्मति नहीं देता। नवम प्रतिमा तकतो कदाचित कोई पुत्र कुछ बात पूछले, क्योंकि नया-नया भार लिया है पुत्रने तो उसमें कितनी ही कठिनाइयां भी आती हैं, कुछ मार्गदर्शन भी चाहिए, सो कदाचित पूछते थे ये पुत्रादिकतो यह संक्षिप्त शब्दोंमें कुछ बात कह भी देता था, पर अब १०वीं प्रतिमाके भाव होने वाले हैं तो इसको अब भाव न रहा कि मैं किसी भी विषयमें कुछ भी सम्मति दूं इस प्रकार अब वह दसम प्रतिमा ग्रहण करनेको उद्यत हुआ।

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे ऐहिकेषु कर्मसुवा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः॥ १४६॥

अनुमति त्याग प्रतिमाका लक्षण व आरम्भ त्याग प्रतिमा तक घरमें रहकर व्रत निभाव करनेका गुण—आरम्भ परिग्रह इस लोक सम्बंधी कार्य इन सबमें अब जिनके अनुमति न रही, समान बुद्धिहो गई वह अनुमति त्यागी श्रावक कहलाता है। घरमें रहता हुआ यह धर्मसाधना करे और इस तरह यह ९वीं १०वीं प्रतिमा तक रह सकता है, पर अधिकार पूर्वक न रहेगा ९वीं और १०वीं प्रतिमा में। दूसरा बताया गया है गृहत्यागी श्रावक मगर गृहत्यागी श्रावक कितना उच्च होना चाहिए, कितना निरपेक्ष होना चाहिए वह परिग्रह त्यागी की तरहहो तो व्रत रखे तब वह गृह विरक्त श्रावक कहला सकता। आज कुछ ऐसी खिचड़ी बन गई है कि मौजके लिएतो गृह विरत हूं इस प्रकारकी घोषणा करते हैं और वृत्ति रखते हैं गृह निरत श्रावक से भी ओछी। घरमें रहने वाला श्रावक सहज विरक्त रहता है, जो उसके पास संग है, परिग्रह है, धन है उससे भी विरक्त रहता है परन्तु घर छोड़कर अपनेको गृहत्यागी, ब्रह्मचारी जैसा कहकर धन संग्रह करनेकी तीव्र लालसा रखने लगते हैं, क्योंकि लोगोंसे धन मिलता है, मुफ्त मिलता है सो उसके प्रति विशेष वासना बन जाती है। पहले था नहीं तो अधिक लालसाहो जाती है, इस कारण जिसको आत्मकल्याण चाहिए उसको अष्टम प्रतिमा तकतो घरमें ही

रहकर निभाव करना चाहिए अन्यथा उसके मनका संतुलन ठीक नहीं रह पाता। जिससे घरमें न बने उससे घर छोड़कर क्या बनेगी? जहां तक घरमें रहकर साधारण रूप जैसी मुद्रा रखकर धर्म साधना करते नहीं बन सकता है तो जिसे वास्तवमें धर्म साधना कहते हैं वह घर छोड़कर भी नहीं बन पाता। दूसरी बात यह है कि घरमें रहकर इन प्रतिमावोंके पालन करने वालेमें अहंकार नहीं आता। मद नहीं होता, घमंड नहीं होता, जबकि प्रतिमातो चाहे पहली दूसरी ही बताये और घर छोड़कर चले तो यह अपने चित्तमें मानने लगता है कि मैं पूज्य हूं, ये लोग मेरे पूजक हैं, इन लोगोंको हाथ जोड़कर ही मुझसे वार्ता करना चाहिए। कितनी ही बातें कल्पनामें वह बढ़ा लेता है जिससे वह खुद भी परेशान रहता है और गृहस्थ श्रावक भी परेशानहो जाते हैं। तो जो आचार्योंके बताए हुए प्रतिमाओंके स्वरूपमें मुद्रा कही गई है उस मुद्रामें रहते हुए धर्म साधना करनेमें आत्महित है।

परिग्रहत्याग प्रतिमाके निर्दोष पालन कर लेनेसे अनुमति त्याग प्रतिमाके पालनकी सुगमता—जिसने परिग्रहका त्याग भली प्रकार निभाया यह भली भांति निर्णय करके कि परिग्रह हीनतो दीन दरिद्री भिखारी भी होते हैं। पर परिग्रह त्यागका महत्त्व उनके है जिनके अन्तरङ्ग परिग्रहका त्याग रहता है। क्रोध, मान, माया, लोभ हास्यादिक भाव ये जिसके अत्यन्त मंदहो गए हैं, इन आभ्यंतर परिग्रहोंसे जो विरक्त हो गया है उसके ही बाह्य परिग्रह त्यागकी शोभा है और वह सार्थक है। सो इस श्रावकने अंतरंग बहिरंग दोनोंही परिग्रहोंके त्यागकी बात निभायी थी और उससे बढ़-बढ़कर अब यह इस स्थितिमें आ गया है कि किसी भी कार्यके अनुमोदनाका भाव नहीं जगता। कोई आरम्भ सम्बंधी बात पूछेतो उसका अनुमोदक शब्द नहीं निकलता। परिग्रह सम्बंधी, घर बनाने आदिक सम्बंधी, व्यापार आदिक सम्बंधित कुछ भी बात कुटुम्बीजन पूछेंतो उसकी अनुमोदना नहीं देता और ऐसा भी समर्थन नहीं करता कि इसने यह बहुत भला किया। कितना विरक्त है यह दसम प्रतिमाधारी श्रावक कि भीतरमें इस प्रकार की भावना और वासना भी नहीं बनती। कार्योंके प्रति राग नहीं रहा है उसके समता बुद्धि होती ही है। यह अनुमति विरत श्रावक, इसको घरके लोग अथवा अन्य साधर्मीजन आहारके लिए बुलाते हैं, चाहे वह आहार खाराहो या रूखा हो, कड़वाहो, मीठा हो,उसमें स्वाद बेस्वाद नहीं मानता, एक ही दृष्टि है कि इस गड्ढेको भरना है जीवन चलानेके लिए और यह जीवन है रत्नत्रयकी साधनाके लिए। जहां रत्नत्रय धर्मके प्रति लगाव है वहां अटपट बात कैसे आ सकती है?

अनुमति त्यागी श्रावकको साम्य बुद्धि—किसी कार्यमें कुटुम्बको नुकसानहो या नफाहो अथवा किसी प्रकारकी वृद्धि हानि हो, उसमें इसको सुख दुःख नहीं होता। सर्व जीव अत्यन्त भिन्न हैं, सर्व जीवोंका भवितव्य उनकी करनीके अनुसार है, जिनके बीच घरमें रहे थे वे भी भिन्न पर जीव है। जैसे मेरे लिए जगतके अन्य जीव हैं वैसे ही घरके लोग भी उनके समान हैं, ऐसा भिन्न अपने आपको निरखा है इस कारण अब इनकी हानि वृद्धिमें हर्ष विषाद नहीं होता। जैसे अन्य जीवों पर गुजरने पर जो बात सम्भव है इनके चित्तमें वही बात कुटुम्बीजनों पर गुजरनेपर सम्भव है। ऐसा यह अनुमति त्यागी श्रावक जैसा उत्कृष्ट श्रावकमें ग्रहण किया है यह सर्व प्रकारकी बाह्य घटनाओंकी अनुमोदनासे रहित है। निरन्तर केवल यह ही वाञ्छा है कि मैं अपने सहज परमात्मतत्त्वको निरखता ही रहूं। इसीमें ही तृप्त रहूं। अन्य

कुछ कार्य मेरे करनेको नहीं है, ऐसा जिसका दर्शन है वह श्रावक है अनुमति त्यागी। पहले की ६ प्रतिमायें जघन्य प्रतिमायें मानी गई हैं, ७वीं ८वीं ९वीं प्रतिमायें मध्यममें कही गई हैं और १०वीं ११वीं प्रतिमायें उत्कृष्ट श्रावकमें कही गई हैं। उसमें भी अर्थात् उत्कृष्टमें भी उत्कृष्ट ११वीं प्रतिमा वाले श्रावक हैं। ऐसा लौकिक अनुमोदनासे रहित श्रावक अपने आत्माकी आराधनामें लगा हुआ है।

गृहितो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥ १४७ ॥

अर्थ—जो घर से मुनिवन में जाकर और गुरु के निकट व्रतों को ग्रहण कर अनशनादि तपों को तपता हुआ भिक्षावृत्ति पूर्वक आहार ग्रहण करता है वह वस्त्र के एक टुकड़े का धारी उत्कृष्ट श्रावक है।**उद्दिष्टाहार विरत उत्कृष्ट श्रावक**—श्रावकोंमें उत्कृष्ट श्रावक, उत्कृष्ट त्यागीका इसमें वर्णन किया गया है। जो घरसें चलकर मुनिवनमें जाकर गुरुके समीप व्रतको ग्रहण करके भिक्षावृत्ति से आहार करता हुआ तपश्चरणमें समय व्यतीत करता है वह उत्कृष्ट श्रावक है और वह खण्ड वस्त्रका धारी है। इस छंदमें मुख्यतया ऐलकपदका ग्रहण होता है। एकही खण्ड वस्त्र लंगोटी जैसा वस्त्र धारण करने वाले पर गौण रूपसे क्षुल्लक व्रतका भी ग्रहण होता है, क्योंकि वर्णन उत्कृष्ट ही करना चाहिये था और एक ही छंदमें किया गया है। जहां अनेक छंदोंमें वर्णन है वहांतो खोला गया है कि क्षुल्लकका यह स्वरूप हे, ऐलकका यह स्वरूप है, पर इस ग्रन्थमें एकही छंदमें, एक ही विशेषणसे जो वर्णन किया उससे उत्कृष्टतो ऐलकका ग्रहण है और गौण रुपसे क्षुल्लकका। मुनिबन, जिस बनमें मुनि रहें उसे भी मुनिबन कहते हैं और जो मुनियोंका संग है वह भी मुनिबन की तरह है। वहां यह श्रावक खण्ड वस्त्र मात्र रखकर, बाकी सर्व परिग्रहोंका त्याग करता। अनुमति त्याग प्रतिमामें बुलाने पर जाता था, पंर यह बुलाना भी छूट गया। अब भिक्षावृत्तिसे जायगा और जहां योग्य विधि मिलेगी वहां आहार ग्रहण करेगा।

अनुद्दिष्ट आहारका तात्पर्य नवकोटि विशुद्ध आहार—अनुद्दिष्ट आहार वह कहलाता है कि जो केवल मुनिके लिए ही आहार न बने। यदि गृहस्थ मुनिका ध्यान करके कि हम इनको आहार देंगे और रसोईघरमें समस्त आहार शुद्ध बनाया जा रहा है तो वहां उद्दिष्ट दोष नहीं आ पाता। उद्दिष्ट दोषका प्रयोजन है कि गृहस्थको केवल साधुके लिए अर्जन न करना पड़े यदि साधुकी बात मनमें आये और उतने मात्रसे उद्दिष्ट माना जायतो फिर अतिथि सम्विभाग व्रत नाम किसका? अतिथि सम्विभाग व्रतमें मैं साधुको भोजन कराऊंगा, ऐसी उसकी प्रतिज्ञा रहती है और व्रती श्रावक है उसके लिए भी विधान है कि वह किसी भी दिन संकल्प कर सकता है कि मैं आज अतिथिको भोजन कराऊंगा। जैसे कि कोई किसी तिथिका नियम रखता है कि अमुक मासमें अमुक तिथिको मैं अतिथि सम्विभाग करूंगा, ऐसा वर्णन है और फिर गृहस्थको चाहे केवल मुनिके उद्देश्यसे ही बनाये मानोंतो प्रथम तो वह साधु देख लेगा कि केवल एक व्यक्तिके लिए आहार बनाया गया, तो वह न लेगा, और न मालूम पड़े बहुत सामग्रीहो तो वहतो नवकोटि विशुद्ध रहेगा। उसे दोष न आयगा। जहां उद्दिष्ट आहारका त्याग बताया है उन छंदोंमें नवकोटि विशुद्ध आहार कहलाता है। इस विषयमें अन्य ग्रन्थोंमें

स्पष्ट विवरण है। कार्तिकेयानुप्रेक्षामें ये ही शब्द दिये हैं कि जो भिक्षावृत्तिसे नवकोटि विशुद्ध आहारको करता है वह उद्दिष्टाहार विरत है। उद्दिष्टाहार विरतसे मतलब केवल उद्दिष्टाहारसे मतलब नहीं, किन्तु उद्दिष्ट अन्य भी चीजहो, आसन शयन उपकरण आदिक, वे सब गर्भित हैं, पर इन सब उद्दिष्टों की मुख्यता मुनिव्रतमें है, यहां भी अभ्यास रूप निरखा जाता है।

जो पुरुष नवकोटि विशुद्ध आहार करता है भिक्षावृत्तिसे दूसरे घर पर भ्रमण करके तो वह उद्दिष्टाहार विरत कहलाता है। उस आहारमें न मन में संकल्प होता कि ऐसा किया जाय, न मनसे कराया गया हो, न मनसे अनुमोदा गयाहो, इसी प्रकार वह आहार न वचनसे किया गया हो, न कराया गयाहो, न अनुमोदा गया हो, इसी तरह वह आहार न कायसे किया गयाहो, न कराया गया हो, ऐसे आहारको ग्रहण करने वाला साधु पुरुष उद्दिष्टाहार विरत कहलाता है। यह श्रावक मुनिकी ही तरह श्रावकके घर जाकर भिक्षा भोजन करता है, श्रावकोंके द्वार पर पहुंचकर भी वह मांगता नहीं कि मुझे भोजन दो, न आहारके लिए द्वारा खटखटाता है। जैसे मुनिके योग्य नवकोटि विशुद्ध आहार बताया गया वैसा आहार करता है। अन्न पवित्र होता हुआ वह दातार और पात्रको भी पवित्र करता है। दातार शुद्ध होता हुआ वह अन्न और पात्रको भी पवित्र करता है। पात्र पवित्र होता हुआ दातार और अन्नको भी शुद्ध करता है। इस प्रकारके नव कोटिका विशुद्ध आहार करने वाला उत्कृष्ट श्रावक त्यागी कहलाता है।

उद्दिष्टाहारविरत श्रावकके दो प्रकार—उद्दिष्टाहारविरत श्रावकके दो भेद हैं—(१) लंगोटी व एक वस्त्र रखने वाला, (२) केवल लंगोटी रखने वाला, अर्थात् क्षुल्लक और ऐलक। क्षुल्लक शब्दके साथ श्रावक शब्द न जोड़ना चाहिए। जैसे कोई कहे कि यह क्षुल्लक श्रावक बन गया है तो यह अनुचित प्रयोग है। क्षुल्लकका अर्थ है छोटा, तुच्छ, तो अर्थहो जायगा तुच्छ श्रावक "क्षुल्लक शब्दके साथ मुनि शब्द जोड़ा जाता है—क्षुल्लक मुनि अर्थात् छोटा मुनि"। ऐलक श्रावक नहीं किन्तु ऐलक मुनि, अर्थात् ईषत् वस्त्र वाला मुनि। णमोकार मंत्रमें निर्ग्रन्थ मुनिको ही ग्रहण किया गया है, पर क्षुल्लक शब्दका जो अर्थ है, उसके साथ श्रावक शब्द नहीं लगता। अगर उसे श्रावक शब्दसे बोलेंगेतो उत्कृष्ट श्रावक कहेंगे। तो यह उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक अपने केश उस्तरासे भी बनवाता है, कैंचीसे भी कतरवाता है और बैठकर हस्तपात्रमें भी भोजन करता है अथवा बर्तनमें भी भोजन करता है। वसुनंदी श्रावकाचारमें दोनों बातें बतायी गई हैं, वैसे रिवाजके अनुसारतो क्षुल्लक पात्रमें ही भोजन करे, ऐलक हाथमें भोजन करे, एक नियम है, पर अभ्यास रूपकी बात अलग है। यह चारों पर्वोंमें नियमसे उपवास करता है। वह पर्व सम्बंधित तीन-तीन दिनमें शामको कुछ ग्रहण नहीं कर सकता। अर्थात् उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य किसी भी प्रकारका प्रोषध करता है।

भोजनके मिलने और न मिलनेमें इस श्रावकको समता परिणाम रहता है, खेद खिन्न नहीं होता। यह बात उस महापुरुषके बन सकती है जिसको आत्माकी धुन है। आत्मानुभवको ही जो सर्वोत्कृष्ट वैभव मानता है और अन्य क्रियाकलापोंको या संघ समागमोंको वह बेकार समझता है उसमें ही ऐसी सहनशक्तिहो सकती है कि आहार न मिलने पर भी वह समता परिणाम रख सके। जिसको आत्मदृष्टि नहीं मिली उसको समता परिणाम ऐसी स्थितिमें रखना बहुत कठिन है। दूसरे उत्कृष्ट श्रावककी यानि

ऐलककी भी वही क्रिया है किन्तु नियम है यह कि केशलुञ्च करे, पिछी रखे और हाथमें भोजन करे। ये तीनों नियम आवश्यक हैं ऐलकमें और ये तीनों नियम क्षुल्लकमें आवश्यक नहीं। केशलुञ्चके बजाय बाल बनवाभी सकता है पिछीके बजाय कोमल कोई वस्त्र सूतके भी रख सकता है और पात्रमें भी भोजन कर सकता है। उत्कृष्ट श्रावकको मुनिकी तरह योग धारण करनेका अधिकार नहीं अर्थात् उस प्रकारका तपश्चरण श्रावकको नहीं कहा गया है जिसे प्रतिमायोग कहते हैं। गर्मीमें पर्वतके शिखर पर बैठना, बरषातमें वृक्षके नीचे खड़े रहना, शीतमें नदीके किनारे रहना आदिकजो विशेष योग विधान हैं वे मुनिके लिए ही कहे गए हैं। मुनियोंमें भी विशिष्ट समर्थ मुनि करते हैं तथा जिन्हें आचार्य समर्थ समझते हैं उनको आज्ञा देते हैं।

श्रावकके षट्कर्मोंमें प्रथम आवश्यक कर्म इज्या—श्रावकोंमें सामान्यतयाजो घरमें रहने वाले पुरुष हैं उनकी चर्या षट्कर्मोंमें बतायी गयी है। जिन षट्कर्मोंको वसुनन्दी श्रावकाचारमें इस प्रकार कहा है इज्या, वार्ता, दान, स्वाध्याय, संयम और तप वैसे प्रसिद्ध रूपसे षट्कर्म ये हैं देवपूजा, गुरुपास्तिकी जगह वार्ता नामका कर्तव्य रखा है। जिस वार्तामें अन्य अनेक बातें भी आती हैं और गुरुपास्ति भी आता है, तथा गुरुपास्ति इज्यामें भी आ जाता है। इसलिए दोनों प्रकारके वर्णनोंमें कुछ विरोध नहीं है। पहला कर्तव्य है पूजा। उसके ५ भेद किए गए। नित्यपूजा, चतुर्मुख पूजा, कल्पवृक्ष पूजा, अष्टांग पूजा और इन्द्रध्वज पूजा। जो प्रतिदिन शक्ति अनुसार घरसे द्रव्यले जाकर जिनलयमें जिनेन्द्र देवकी पूजा करना अथवा चैत्यचैत्यालय बनवाना, उनके प्रबंधके लिए जायदाद आदिक लगाना और मुनिजनोंकी पूजा करना नित्य पूजा कहा है। चतुर्मुख पूजा, मुकुटबद्ध राजावों द्वाराजो कोई पूजनका विधान होता है वह चतुर्मुख पूजा है। कल्पवृक्ष पूजा, याचकोंको इच्छानुसार दान देकर तृप्त करता हुआ उदार भाव रखकरजो पूजन करता है जिनेन्द्रदेवकी, उसे कल्पवृक्ष पूजा कहते हैं। अष्टाह्निका पर्वमेंजो पूजाकी जाती वह अष्टाह्निका पूजा है, और इन्द्रादिक द्वाराजो जिनपूजाकी जाती है वह इन्द्रध्वज पूजा है।

श्रावकका द्वितीय व तृतीय कर्त्तव्य वार्ता व दान—श्रावकका दूसरा कर्त्तव्य है वार्ता। इसमें मुख्यता है न्यायपूर्वक धन कमानेकी। जो गृहस्थके योग्य असि मषि कृषि आदिक कर्तव्य बताये गए हैं जो आजीविकाके साधन हैं उन्हें न्यायपूर्वक करना यह वार्तामें मुख्य बात है, तीसरा कर्त्तव्य है दान। इस दानको चार भागोंमें बांटा गया है। (१) दयादान, (२) पात्रदान, (३) समदान और (४) सकलदान। जो प्राणी दयाके पात्र हैं उनपर दया करके दान करना दयादान कहलाता है। जिस गृहस्थके दयालुता है कि कोई भी मांगने आये, भूखा है, ठंडका सताया है तो उसको वस्त्रादिक दे, आहार आदिक दे, वह सब दयादान है। पात्रदान—तपस्वी साधु संतोंको नवधा भक्तिपूर्वक निर्दोष आहार नवधा पुर्वक देना, कमण्डल पिछी आदिक देना ये सब पात्रदान कहलाते हैं। समदान कहलाता है गृहस्थीमें परस्पर बिरादरीमें, साधर्मी बन्धुवोंमें, जैसे कन्या देना, भूमि देना, धन देना, साधन जुटाना साधर्मी भाइयोंको, यह सब समदान कहलाता है। और सकलदान वह कहलाता है कि अपने परिवारके किसीको या समाजके किसी व्यक्तिको सर्वस्व सौंपकर सबका त्याग कर देना यह सकलदान है। सकलदानका फल यह है कि वह फिर मुनि दीक्षाले लेता है।

श्रावकका कर्त्तव्य स्वाध्याय व संयम—चौथा कर्त्तव्य है स्वाध्याय। तत्त्वज्ञानका अध्ययन अध्यापन करना, जिसमें तत्त्वपर दृष्टि जाय, सहज आत्मस्वरूप पर दृष्टिकी साधक भगवद्भक्ति अथवा वस्तुस्वरूपकी चर्चा आदिक बनेतो वह सब स्वाध्याय कहलाता है। ५वां कर्त्तव्य है संयम। इन्द्रिय संयम प्राणिसंयममें बारह व्रतोंका पालन करना यह गृहस्थका संयम है और छठवां कर्त्तव्य है तप। इच्छाका निरोध, अपनी शक्तिके अनुसार विषय वाञ्छाको दूर कर अपनी धर्मसाधनामें लगना यह गृहस्थके योग्य तप कहलाता है। तो ऐसे इन षट् कर्त्तव्योंको करता हुआ श्रावक अपना मनुष्य जीवन सफल करता है और जैसे-जैसे कषायका उपशम होता जाता है, आत्मबल बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे वह प्रतिमावोंमें बढ़ता जाता है। और बढ़-बढ़कर फिर उसका अन्तिम प्रतिमाका रूप कहलाता है उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा। यह उत्कृष्ट श्रावक भगवद्भक्ति और आत्मस्वरूपकी दृष्टि इन दोनों कार्योंको ही मुख्य समझता है। फिर चूँकि आहार करना आवश्यक है अथवा अन्य कोई धार्मिक क्रिया करना आवश्यक है सो करता है, पर उन समयोंमें भी अपनी इस दृष्टि और प्रतीतिको नहीं छोड़ता। उपदेश भी देगातो उपदेश देता हुआ अपने आपके स्वरूपकी दृष्टिकी भी सम्हाल रखेगा। यह तो स्वाध्यायकाभेद है उपदेश। स्वाध्याय वह कहलाता है कि जहां स्वका अध्ययन हो, आत्मतत्त्वका अध्ययन चले, तो उपदेष्टा जो भी उपदेशमें कहता है वह अपनेको भी सुनाता रहता है, दूसरोंको भी सुनाता रहता है, उपदेशमें भी अंतस्तत्त्वकी दृष्टि स्वयंके अध्ययनकी रहती है। कोई बात पूछता है तो केवल स्वकी दृष्टि दृढ़हो, कोई शंका न रहे मेरेमें अथवाजो समझ रखी है वह पदार्थ मेरेमें पुष्ट जंचे, इन भावोंसे पृच्छना चलती है। जो लोग आत्मदृष्टिकी भावनाको छोड़कर अन्य भावोंसे पूछते हैं, ग्रहण करते हैं कि मेरा इसमें बड़प्पन जाहिर होगा या वक्तासे उत्तर न बनेतो मेरी इज्जत बढ़ेगी आदिक भावोंसे प्रश्न करते हैं तो वह स्वाध्यायमें नहीं माना गया है, इसी प्रकार आम्नाय पाठ करना, भक्तिका पाठ, विनतीका पाठजो भी पाठ करना है उसका भी अर्थ समझता हुआ करे और उसको अपने पर घटाता हुआ करेतो वह स्वाध्याय है। अनुप्रेक्षामें तो अपने आत्मतत्त्वका चिन्तन ही चलता है विशेषतया। तो जहां अतंस्तत्त्वकी दृष्टि की साधना बनती है ऐसे ये वाचना आदिक ५ प्रकारके स्वाध्याय ये स्वाध्याय कहलाते हैं।

धर्मके साधनोंमें साधकोंकी एकमात्र प्रधान दृष्टि—केवल एक ही दृष्टि है। इन सब साधकोंके मायने मुझेतो परमात्मपद पाना है अथवा यह भी नहीं सोचना है किन्तु सहज आत्माका जो स्वरूप है बस उसको निरखना है और इस ही रूप अपनेको मानना है। इसका फलतो यह ही है कि मैं परमात्मा बनूँगा। तो परमात्मपदसे पहलेकी जितनी भी स्थितियां हैं वे सब इसको बेकार लगती हैं और यहां तक भी चिन्तन चलता है कि इस ज्ञानानुभूतिके अतिरिक्त जो कुछ भी उसकी चेष्टायें होती हैं वे सब अज्ञान चेष्टायें हैं। अज्ञान, मिथ्याज्ञानको भी कहते हैं। अज्ञान, ज्ञानका पूर्ण विकास न हो, ऐसी स्थितिको भी कहते हैं। कषाय भी अज्ञान है, मिथ्यात्व भी अज्ञान है। तो जो जो भी चेष्टायें हुईं, हो रही हैं वे सब अज्ञान चेष्टायें हैं। ऐसा साधुजन भी ध्यान रखते हैं कि मेरी पहलेजो चेष्टायें रहीं वे सब अज्ञान चेष्टायें हैं। ज्ञानचेष्टातो ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान हीहो, इस तरहकी जो वृत्ति है वही वास्तवमें ज्ञानचेष्टा है। जैसे धनी पुरुष पाये हुए धनको देखकर संतुष्ट रहे, ऐसी वृत्ति नहीं कर पाता, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष पाये

हुए गुण विकासको देखकर सन्तुष्टहो जाय, रम जाय, ऐसा न करके अपनी त्रुटियोंको सामने देखता है, उस कमी पर दृष्टि रखता है कि अभी यह भी हटाना है, यह भी हटाना है और इस प्रकार अपनी उन कमियोंको हटाता है, गुण विकास होना तो स्वाभाविक ही बात है। तो कर्त्तव्य यह है कि परमात्मा होनेका ध्येय बने, भले प्रकार निर्णय बने और कुछ वाञ्छा न रहे, उसके लिए ही धुन बने और प्रयत्न बने, यह ही आत्महित प्राप्त करनेका वास्तविक उपाय है।

पापमरातिधर्मो बन्धुर्जीवस्यचेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाताध्रुवं भवति॥ १४८॥

अर्थ—पाप जीव का शत्रु है व धर्म बंधु। ऐसा निश्चय करने वाला आगम को जानता है—आगम के अनुसार प्रवृत्ति करता है तो वह निश्चय ही अपने श्रेय (कल्याण) का ज्ञाता है।

जीवका बैरी पाप—इस जीवका बैरीतो पाप है और बंधु धर्म है, ऐसा निश्चय करता हुआ जो ज्ञानी समयको जानता है मायने आत्माको जान रहा है वह अपना कल्याण अवश्य करेगा, ऐसा निश्चित है। इस अधिकारमें ११ प्रतिमावोंका वर्णन किया गया है। ११ प्रतिमाओंको अंगीकार कराकर एक बड़ी दृढ़तासे अपने आपमें लीनता पानेके लिए यहां कुछ प्रेरणा दीजा रही है। जिससे आत्माको कष्ट पहुंचे, वहीतो अनिष्ट है और कष्ट पहुंचानेका जो साधनहो वही हमारा बैरी है। तो कष्ट है आकुलता। उस आकुलताका साधन है पाप। कोई मनुष्य यदि जीवनमें यहीं पाप कर रहा है तो थोड़ी देरको पाप करते समय वह मोहवश मौज मान रहा है, वही थोड़ी देर बाद कष्टका अनुभव करने लगता है। फिर पापका बंध हुआ, उसके उदय कालमें तो ऐसे अनिवारित रूपसे कष्ट करीब आयेंगे कि जिनका कोई उपाय भी न बन सकेगा। तो जीवका बैरी है तो पाप है। लोभवश लोग पाप करते, मानवश पाप करते, लोभ और मान येदो ही खास मूल चीजें हैं, पापके कारणमें। क्रोध जिसको आता है तो मान या लोभके कारण आता है, नहींतो व्यर्थ गुस्सा करनेकी किसको पड़ी है। कोई मानमें फर्क दिखेतो गुस्सा आने लगता। लोभमें जो इष्ट समझा उसमें विघ्न आयेतो क्रोध करता है और मान और लोभके ही कारण मायाचार करता है। करीब करीब ऐसा समझाजा सकता है कुछ स्पष्ट समझनेके लिए कि आकुलताकी जड़तो है मान और लोभ उसके फलमें बनता है क्रोध और माया। यद्यपि चारों कषाय भिन्न-भिन्न स्वरूपमें हैं और उनके साधन कर्मोदय भी भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु अपनेको प्रयोग रूप करनेके लिए ऐसा जंचता है कि जड़ है समस्त अनर्थकीतो मान और लोभ है। ये मान और लोभ पाप तब तक दूर नहींहो सकते जब तक अपने आपके बारेमें यह प्रतीति न बने कि मैंतो समस्त विकारोंसे रहित केवल ज्ञातादृष्टा स्वभाव वाला हूं। यह प्रतीति होते ही कि मैं ज्ञातादृष्टा स्वभाव मात्र हूं और ऐसा ही रहनेमें मेरा कल्याण है, यह ही अपने आप पर न्याय है। ऐसी प्रतीति होते ही मान और लोभका भंगहो जाता है।

जीवके शत्रुभूत पापोंमें मिथ्यात्व व क्रोधका निर्देशन—जीवका शत्रु है पाप। उन पापोंमें मुख्य पापतो है मिथ्यात्वजो संसार परिभ्रमण करानेका मूल है। जो मैं नहीं हूं उसे मान लेना कि यह मैं हूं, जो मेरा नहीं है उसे मान लेना कि यह मेरा है, यह आशय तत्काल भी महान संकट पैदा करता

है। और इस आशयमें रहकर जो बंध होता है वह कर्मबंध अनेक भवोंमें जन्ममरण करानेका कारण बनता है। तो यहां यह निश्चय करना कि जीवका शत्रु है तो पाप है। और उन पापोंका सिरताज है तो मोह है, मिथ्यात्व है। फिर दूसरा पाप समझिये क्रोध। गुस्सा आती है तो जीवका उपयोग किस ओर लगता है? क्या आत्माकी दृष्टि रखते हुए कभी गुस्सा आ सकता? जब भी गुस्सा आता है, जिसके भी गुस्सा आता है उसके उपयोगमें कोई बाह्य विषयभूत पदार्थ रहते हैं। तोजो बाहर-बाहर डोल रहा है उसके हीतो यह पाप चलता है। घमंड इस जीव पर ऐसा आवरण छाया है कि यह अपने स्वरूपको न पाकर जो पर्याय मिली है उस पर्यायमें अहंबुद्धि रखता है, मानका कारण पर्यायमें अहंबुद्धि है। जिन त्यागी साधुवोंको भी बेतुकी क्रोध आता रहता है उसका कारण पर्यायबुद्धि ही हो सकता है। यह गृहस्थ अपने देहको निरखकर कल्पना करता है कि मैं अमुकचंद हूं, अमुकलाल हूं, व्यापारी हूं, सर्विस वाला हूं, इज्जतवाला हूं, वह यहांकी पर्यायमें आत्मबुद्धि करता है। तो पर्यायमुग्ध नग्नभेषी पुरुषने नग्न शरीरमें आत्मबुद्धि की है कि मैं मुनि हूं, जिसको आत्माके ज्ञायकस्वरूपमें आत्मतत्त्वकी दृष्टि नहीं बनती उसके पर्यायबुद्धि जगती है, और जिसके पर्याय बुद्धि है उसके क्रोधादिक कषायें बनती हैं, बढ़ती हैं।

जीवके शत्रुभूत पापोंमें मान, माया, लोभ व कामका निर्देशन—तीसरा पाप है मान घमंड इस मानके वशमें यह मनुष्य न जाने क्या-क्या अनर्थ नहीं कर रहा है। अपनेको भी सताता रहता है, दूसरोंको भी तुच्छ मानता है। और उसके खातिर कितनोंका ही यह प्राण भी दुःखाता है। चौथा पाप है माया, छल कपट करना। कोई बात किसी एकसे और तरह कहे, दूसरेसे और तरह कहे, तीसरेसे और तरह कहे या मनमें कुछ और भाव है, कहते कुछ और ढंगसे है तो इस प्रकारकी जो भीतर वक्र वृत्ति है, उसके करनेमें कितना कष्ट करता है यह जीव? दुःखी होता रहता है, फिर भी मोहका ऐसा उदय है कि उस दुःखको दुःख न मानकर कोई स्वार्थ सिद्धि सधती हुई जानेतो उसका हर्ष मानता है, पर यह माया बहुत बुरा पाप है। इसको तो शल्य तकमें भी गिनाया है। ५वां पाप है लोभ। बाह्य वस्तुओंकी इतनी तृष्णा रखना कि वही-वही उपयोगमें समाया रहे और उसीके लिए ही चेष्टायें बनती रहें तो यह तृष्णा अनर्थकारिणी वृत्ति है। एक कामका भी लोग नाम लेते हैं कि काम भी बैरी है, सो काम बैरी तो बहुत बड़ा है ही, पर इस कामका अन्तर्भाव लोभमें आता है, पर इतना बुरा पाप है काम। सब लोभोंमें सबसे बुरा लोभ है कामका। इस कामको लोभसे अलग गिनानेका प्रयास किया गया है। जब जीवके बैरी ६ माने गए हैं,—काम, क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह। ये पाप भाव है।

पापभावका विकट फल बन्धन विपत्ति—पाप भावके होते ही जो जीवके एक क्षेत्रावगाहमें कार्माणवर्गणायें हैं वे कर्मरूप बन जाती हैं। यह प्राकृतिक बात है। सूर्यका उदय हुआ तो बताओ कौन उससे प्रेरणा करने गया कि यहां धूप आ जाय? ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक योग है कि जब सूर्यका सन्निधानहो तो यहां की पृथ्वी इस प्रकार परिणम जाती है। ऐसे ही उन कर्मोंको कौन समझाने जाता है कि जीव विकार करेतो वे कर्म बंध जाते? तो न इसको प्रेरणा जीव देता है न कोई दूसरा देता है किन्तु सहज ही ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि जीवमें विकारभाव जगा कि कार्माणवर्गणायें तत्काल

कर्मरूप परिणम जाती हैं। और कर्मरूप परिणम गईं वे वर्गणायें जब उदित होती हैं या उदीरित होती हैं याने इस आत्मासे ऐसे निकलती हैं तो उस समय फिर यह जीव विकृत बन जाता है। यहां भी कौन पढ़ाने लिखाने गया, किन्तु ऐसा ही सहज निमित्त योग है, तो यह पापभाव इस जीवका बैरी है।

जीवका बन्धु धर्म—धर्मभाव जीवका बन्धु है। धर्म नाम है आत्माके स्वभावका। ऐसा स्वभाव तो सदैव है इसलिए आत्मा धर्मरूप निरन्तर है। चाहे निर्मोह अवस्थाहो, कोई अवस्थाहो, स्वभावमयतो यह जीव सदैव है, अगर सदैव है तो क्या करे? किसी लकड़हारेके अंगौछाके खूँटमें लाल बंधा है किन्तु उसका पता न होनेसे वहतो दरिद्र ही बन रहा है, भिखारी है, जैसे एक दोहामें कहते हैं कि—

"सबके पल्ले लाल हैं, लाल बिना कोई नहीं।
याते भयो कंगाल है, गांठ खोल देखी नहीं॥

वह धर्म जिसके प्रसादसे मोक्ष मिलता है, वह हम आपमें इस वक्त भी मौजूद है, वह कहीं बाहर नहीं गया, धर्म तो है पर धर्मका पालन नहींहो रहा। सो वह धर्म व्यक्त नहीं हो रहा, दो बातोंकी कमी है। पालनके मायने हैं उसकी दृष्टिआ जाना। मैं सहज शान्तस्वरूप हूं, आनन्दमय हूं, कष्ट रहित हूं, विकाररहित हूं, स्वतंत्र सत् हूं इस प्रकारकी दृष्टि नहीं बनती, सो यह धर्मसे विमुख कहलाता है। यह ही दृष्टि बनी कि धर्मका पालन होने लगा। नग्नहो जाना धर्मका पालन नहीं है, किन्तु नग्न अवस्थामें धर्मका पालन सुगम है और नग्न भेष पाये बिना, निर्ग्रन्थ हुए बिना, सर्व ओरसे निःशल्य हुए बिना धर्मका पालन नहीं बन पाता, इस कारण मुनिपदका धारण आवश्यकहो गया, मगर नग्न भेष स्वयं धर्मपालन नहीं है, वह धर्मपालनमें सहायक है, वातावरण है, आवश्यक है, अनिवार्य है, फिर भी स्वरूपदृष्टिसे देखेंतो धर्मपालनतो आत्माका आत्मामें भावरूप ही हो सकता है। शरीर जड़की क्रिया धर्मरूप नहींहो सकती। पर जो अनादिकालसे विकारभावमें पला आया है वह जीव एकदम इस धर्ममें मग्न कैसेहो सके? पूर्वबद्ध कर्मविपाकतो सता रहे हैं, अर्थात् उनके उदयमें यह जीव विकृत बन रहा। तो बराबर हैरानी होती हैतो बाह्य वातावरण धर्मपालनके अनुरूप अनुकूल बनानाही पड़ेगा। इस तरह है तो अनिवार्य मुनिभेष,जो कुछ बाह्य है फिर भी स्वरूपदृष्टिसे देखेंगेंतो आत्माका भाव ही धर्मपालन बन सकेगा। शरीरकी परिस्थितिका नाम धर्मपालन नहींहो सकता। तो आत्माका बंधुमित्र, गुरु, रक्षक, शरण, सर्वस्व धर्म है। ऐसा जो निश्चय रखता है वह पुरुष कल्याणका पात्र होता है।

निज उपादानकी सम्हालमें कल्याणका स्वाभ—मिथ्यादृष्टि जीवोंकी बुद्धि सुख दुःख पानेमें दूसरी ओर जाती है। यह इस तरह रहे, लड़के यों बोलें, व्यवहार करेंतो मेरेको सुखहो जाता, यह अनुचित बोलेंतो मेरेको दुःखहो जाता, यह कल्पना गढ़ रखी है मोही जीवने। जो सुख हुआ है इस मोही गृहस्थको सो लड़के के सद्व्यवहारकी वृत्तिसे नहीं होता है किन्तु भीतरमें कल्पना बना डाली है, यह मेरा बड़ा भला है, मेरेको बड़ा अच्छा है उस कल्पनामें सुख मानता है। कहीं बाह्य पदार्थोंसे सुख निकलकर आत्मामें नहीं आता। जिसने किसी बाह्य पदार्थकी कुछ परिणतिको दुःख माना है सो वहां दुःख किसी बाह्य पदार्थसे नहीं आया, किन्तु कल्पना गढ़ रखी है कि यह मेरे सुखमें बाधा क्यों डालता? मेरे सुखके

साधनको क्यों बिगाड़ता आदिक उस कल्पनामें दुःखका प्रादुर्भाव है। सुख दुःख बाह्य पदार्थोंसे नहीं, इस कारण बैरी कौन है? तो मेरेमें रहने वाला भाव बैरी है, और मित्र भी कोई हैतो मेरेमें रहने वाला भाव ही मित्र बन सकता है। तो पापभाव है बैरी और धर्मभाव है बन्धु, ऐसा निश्चय करने वाला पुरुष इस आत्माको जानता है, इस आत्मस्वरूपको दृष्टिमें रखता है, ऐसेही आत्मा "ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान हीहो" इस परिस्थितिको प्राप्त करता है। सोजो समयको, अतंस्तत्त्वको जानता है वही श्रेष्ठ ज्ञाता कहलाता है। जब कभी कष्टका बाह्य प्रसंग जुड़ता है उस समय ज्ञानी अपने कमाये हुए कर्म विपाकके कारण वह कष्टभी मानताहोतो भी वहां प्रतीति खोटी नहीं बनती और वह तत्त्वार्थका निर्णय रखता है कि मेरे ही कर्मका उदय है, उसका निमित्त पाकर कष्टहो रहा है। कोई दूसरा जीव मेरेको कष्ट नहीं देता। वह भी अपनी शान्तिके लिए अपना प्रयत्न करता है। उस मोहीको अपनी शान्तिके लिए प्रयत्न जंचा कि मेरेको लक्ष्यमें लेकर वह कोई विरोधकी बात किया करे। उसने इसीमें ही शान्ति समझा पर वह अपनाही कार्य कर रहा है वह मेरी विराधना नहीं कर सकता। कर्मोदयवश मैं ही अपने भावोंसे चिगकर अपनी विराधना कर पाता हूं, दूसरा नहीं, ऐसा ज्ञानीके निर्णय है, जिस ज्ञानबलके आधार पर थोड़ा आत्मभावसे चिगता है, निज दृष्टिसे हटता है तो बहुतही जल्दी फिर अपने आपको सम्हाल लेता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष आत्मकल्याणमें प्रगति करता चला जाता है।

येन स्वयं वीतकलंकविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावं।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेवसर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु॥ १४९॥

अर्थ—जो पुरुष अपने आत्माको कलंकरहित ज्ञानदर्शनचारित्रका पात्ररूप अपनेको निरखता वह पुरुष तीन लोकमें सर्वश्रेष्ठ सिद्धिको प्राप्त करता है, इसमें रंच भी संदेह नहीं। मैं हूं, दर्शन, ज्ञान, चारित्रका आधार—विश्वास होना, जानकारी होना, और रम जाना। मोही जीव भी दर्शन, ज्ञान, चारित्रका परिणमन कर रहा है और ज्ञानी संत भी दर्शन, ज्ञान, चारित्रका परिणमन कर रहा है। मोही जीव विश्वास किए हुए है विषयभूत और बाह्य पदार्थोंमें कि ये हितरूप हैं और बाह्यविषयभूत पदार्थोंमें ही यह अपना ज्ञान बनाये हुए है और उन्हींका विकल्प करके रमण कर रहा है। मोही जीवका श्रद्धान, ज्ञान और रमण बाह्य परक है और ज्ञानी संतका श्रद्धान, ज्ञान, रमण अन्तः परक है। निज सहज आत्मस्वरूपमें श्रद्धा है इसकी कि मैं यह हूं, अन्य रूप श्रद्धा इसकी कभी बनही नहीं सकती। यह है ही नहीं अन्य रूप, फिर उल्टा कैसे मानेंगे? श्रद्धालु है तो अपने सहज आत्मस्वरूप अपनेको मानना यह तो है श्रद्धान और इसही तत्त्वको जानते रहना, इसका ही ज्ञान करना यह है उसका ज्ञान और ऐसा ही ज्ञान बनाये रहने रूप रम जाना यह है उसका रमण। जिस पुरुषने ऐसे निष्कलंक रत्नत्रयस्वरूप अन्तस्तत्त्वको प्राप्त किया है वह तीन लोकमें श्रेष्ठ है।सिद्धि है वह क्या है? अपने आत्माके विकासके अतिरिक्त कौनसी ऋद्धि सिद्धिको प्राप्त करना है।

स्वाध्याय और सत्संगमें जीवनक्षण व्यतीत होनेका महत्त्व—हम आपका बहुत अच्छा भवितव्य होगाजो स्वाध्यायमें रुचि जगती रहे। आंखें काम नहीं करतींतो सुननेका काम कियाजा सकता

है। कदाचित् दोनों ही काम न करेंतो इस ज्ञानके द्वाराजो संस्कार बनाया है उस संस्कारसे मननके कामको कौन रोक सकता? स्वाध्यायमें प्रीति जगतीहो और सत्संग अधिक समय मिलता रहेतो वह उत्तम भवितव्यकी निशानी है। सत्संगका बड़ा महत्त्व है, पर सत्संग कहलाता वह संग है कि जिसमें रहने वाले प्रमुख जन संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त रहकर केवल आत्मविकासकी ही धुन बनाये रहते हों वे हैं सत्पुरुष, ऐसे पुरुषोंके संगको सत्संग कहते हैं। यदि ऐसा सत्संग नहीं है तो वह संग नहीं है, वहतो दुःसंग है, आकुलताका उत्पादक है। यदि कुछ लोगोंका ऐसा समूह बना है जिसमें एकके भी आत्माकी धुन नहीं है, बाहरी बाहरी क्रियावोंमें ही रम रहे हैं। देहमें आत्मबुद्धि बनी हुई हैतो मान और लोभका मूल कहांसे खतम होगा? और जब भीतरमें ही रम रहे हैं। देहमें आत्मबुद्धि बनी हुई तो मान और लोभका मूल कहांसे खतम होगा? और जब भीतरमें मान और लोभ बसा हुआ है तो वह फूटेगा, पद-पद पर कलह होगा, एक दूसरेको न सुहायगा। ये सारी बातें बनने लगेंगी। यदि वास्तविक सत्संग मिल जायतो इससे बढ़कर लोकमें कोई दूसरा वैभव नहीं, तिर जायगा वह पुरुष। तिरना यह ही कहलाता है कि बाह्य पदार्थोंसे दृष्टि हटाकर सहज आत्मस्वरूपमें दृष्टि रम जाय, जिसके फलसे यह आत्मा अन्य बन्धनोंसे छूटकर केवल अपने स्वभाव विकास रूप रह जाये। इसीको तो मोक्ष कहते हैं।

सहजज्ञान स्वरूप रमणकी सर्वसिद्धिरूपता—भैया सहजज्ञानस्वरूपमें रमण ही कल्याण है और ऐसी स्थिति पाये बिना संसारमें कोई कैसे ही वैभवमें रहे, वह सब धोखा है और उसका फल पतन है। जैसे कोई जितनी ऊंची दीवारसे गिरे उसको उतनी ही अधिक चोट लगेगी। तो संसारके वैभव संग समागम ये मेरे हितकारी नहीं है सो इन परपदार्थोंकी धुनतो रहना ही न चाहिए। केवल मेरेमें रत्नत्रय धर्मका कैसे विकासहो और जिस धर्मका अनुभव करके उसने शान्ति आनन्द पाया, उस रत्नत्रयका दूसरेको भी पता चले ऐसी भावना ज्ञानीके बनती है। स्वपरहितभावनाके ही बल पर वह धर्मप्रचार धर्म प्रसारकी भी भावना रखता है, तो ऐसे धर्मभावके लिए ही हम आपकी धुन रहती है, तो हम आप सुरक्षित हैं। यदि धर्मभावके प्रति प्रीति नहीं है और उसके लिए प्रगतिकी भावना नहीं है तो आज पुण्यके उदयमें चाहे कितना ही मौजके साधनोंमें हो पर रंच भी सुरक्षा नहीं है। तत्काल भी रक्षाहीन है और भविष्यमें भी रक्षाहीन है। इस कारण इस सहज रत्नत्रयभावकी दृष्टि होनी चाहिए। मैं हूं यह सहज दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप। केवल ज्ञायकभाव, केवल प्रतिभास मात्र। अपनेसे अपनेमें अपने लिए अपनेको बिठाये रखने वाला, जिसका बाहरमें रंच भी कार्य नहीं है ऐसा यह मैं आत्माराम ठीक उस ही स्वरूप हूं। उस ही स्वभावरूप हूं जैसा कि परमात्माका स्वरूप है। इस तरहजो रत्नत्रयके विकास पर दृष्टि रखता है और अपने रत्नत्रयभावको प्राप्त होता है उसको तीनों लोकमें उत्तम सर्वश्रेष्ठ निर्वाण प्राप्त होता है।

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव, सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीताज्जिनपति पदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः॥ १५०॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवानके पदपद्मोंको निरखनेके लिए यह सम्यग्दर्शन रूप लक्ष्मी कामीपुरुषको

सुखभूमि कामिनीकी तरह मेरेको सुख उत्पन्न करे और जैसे शुद्ध शीला जननी माता सुतको पालन करती है इस तरह मुझको पालन करें और गुणोंसे भूषित कन्या जैसे कुलको पवित्र करती है वैसेही मुझको पवित्र करे। इस सम्यग्दर्शनरूप लक्ष्मीको जिनेन्द्रके चरण कमलोंको निरखने वाली कहा है। सो सम्यक्त्व होनेपर जब तक इस जीवके राग शेष रहता है उसके आराध्य जिनेन्द्र भगवान होते हैं और यह अनुराग अभेद सहज आत्मभक्तिका साधन बनता है। ज्ञानी जीवको दो ही कार्य हैं—अपने सहज आत्मस्वरूपकी आराधना करना, या जहां गुणविकास है ऐसे परमात्मस्वरूपकी उपासना करना। इनदो के अतिरिक्त अन्य कुछ भी इसका शरण नहीं है, उपलक्ष्य नहीं है, ध्येय नहीं है, इसी वजहसे सम्यग्दर्शन लक्ष्मीको जिनपतिपदपद्म प्रेक्षिणी विशेषण दिया है कि यह जिनेन्द्रके चरण कमलको निरखने वाली है। यह सम्यक्त्वलक्ष्मी जीवोंको सुखी कर सकती है इसीलिए इससे आशीष चाहा है कि यह सम्यग्दर्शनरूप लक्ष्मी मुझको, जगतको याने सबको सुखी करें।

(१) सम्यक्त्व लक्ष्मीसे विशुद्ध आनन्द पानेका आशीष—यहां उदाहरण दिया है कि जैसे सुखभूमि कामिनी कामी पुरुषको सुखी करती है उदाहरण यह बिल्कुल लौकिक है पर लौकिकजनोंको समझानेके लिए लौकिक उदाहरण भी प्रयोगमें लेना पड़ता है। उदाहरणमें तो भेदकथन है, उपचार कथन है, स्त्री भिन्न द्रव्य है, पुरुष भिन्न द्रव्य है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको सुखी कैसे कर सकता है? पर प्रकरणमें भिन्न द्रव्यकी बात नहीं कही जा रही। सम्यग्दर्शन लक्ष्मी यह आत्माको छोड़कर अन्यत्र नहीं है। आत्माकी ही तारीफ है, सो सम्यग्दर्शन लक्ष्मी मुझको लोगोंको सुखी करे। यहां सुखी करे, इस रूपमें आशीष चाहा है, पर सुखी करे इस आशीषका भाव यह है कि आनन्दमय करें। सुखी होना कोई भली बात नहीं है, क्योंकि सुखका जो वास्तविक स्वरूप है, शब्दके अनुसार जो वाच्य है वहतो अपवित्र बात है। इन्द्रियको सुहावना लगे, मौजमें रहे इसे कहते हैं सुख। पर लौकिकजनोंको समझा रहे हैं और वे इस सुखसे परिचित हैं इस कारण सुख शब्द देकर ही समझाया गया है। वस्तुतः अर्थ यह होता है कि मुझको आनन्दमय करो। आनन्दतो मेरा स्वरूप है, स्वभावतः मैं आनन्दमय हूं, पर उपादानमें कारण पड़ा है इस आनन्दको नष्ट करनेका, ढकनेका विषय व कषाय और अन्तरंग निमित्त है कर्मका उदय, तथा बहिरंग निमित्त हैं आश्रयभूत अनेक कारण। सो जिसको तत्त्वका निर्णय है वही तो सम्यक्त्वका आशीष चाह रहा है। एक प्रकट यह अपने आपमें अनुभव बनता है कि सम्यग्दर्शनका जो वाच्य है, ध्येय है, लक्ष्य है सहज आत्मस्वरूप, उस सहज आत्मस्वरूपकी उपासना नियमसे उन आवरणोंको हटा देती है जो उपादानमें आवरण पड़े हैं और अपने आपको आनन्दमय अनुभव करा देती है। तो यह सम्यक्त्व लक्ष्मी मुझको आनन्दमय करे।

(२) सम्यक्त्व लक्ष्मीसे आत्मपोषण पानेका आशीष—दूसरा उदाहरण दिया है कि शुद्ध स्वभाव वाली मां जैसे पुत्रका पालन करती है उसी प्रकार यह सम्यक्त्वलक्ष्मी मेरा पालन करे। माँ का हृदय विशुद्ध है पुत्रके प्रति। पुत्रका हित चाहती है, पुत्रको हितकार्यमें लगाती है। कदाचित् पुत्र कुमार्गमें जायतो उसे थोड़ा दण्ड देकर कुमार्गसे हटाती है। तो जैसे शुद्ध प्रकृति मांकी पायी जाती है इसी प्रकार मुझ आत्माके प्रति शुद्ध प्रकृति इस सम्यग्दर्शन लक्ष्मीमें पायी जाती है। सम्यक्त्व लक्ष्मी आत्माका

हित ही चाहती है। हितमें ही लगाये रहती है और कदाचित् थोड़ा धर्मभावसे चलितहो तो इस ही की प्रेरणा है कि जो तपश्चरण आदिक लेकर पुनः यह जीव धर्ममें लग जाता है। सो जैसे शुद्धशीला मां पुत्रको पालती है, पोसती है उसी प्रकार यह शुद्धशीला सम्यक्त्व लक्ष्मी मुझको भी पाले-पोसे ऐसी सम्यक्त्व लक्ष्मी,से आशीष लिया है।

(३) सम्यक्त्व लक्ष्मीसे पवित्रता लाभका आशीष—तीसरा उदाहरण दिया है कि जैसे गुण भूषण से भूषित कन्या कुलको पवित्र करती है उसकी प्रकार गुणोंसे भूषित सम्यक्त्व लक्ष्मी मुझको पवित्र करे। कुलको पवित्र लड़का करता है पर यहां उस लड़केको छोड़ दिया है। उस लड़केकी उपेक्षाकी है और कन्याका उदाहरण लिया है।तो व्यवहारमें ऐसा मालूम पड़ता है कि कन्या आज्ञाकारिणीहो, विनयशीलहो, गुणभूषित होतो उसे देखकर कुलकी पवित्रतापर लोगोंकी दृष्टि जल्दी जाती है। वहां पुत्रको देखकर भीजो योग्यहो, कुलपर दृष्टि जाती है, पर कन्याको देखकर विशेषतया कुल पवित्रताकी ओर दृष्टि जाती है। उसका कारण यह भीहो सकता कि एकतो कन्या सरल हृदय होती है तथा जैसी रूढ़ि चली आयी है वैसी अपनेही बलपर पूरी खड़ी हुई नहीं मानते हैं लोग। कन्या जब अविवाहित है तो माता पिताके आधीन है, और जब विवाहित है तब अपने उस कुटुम्बके आधीन है। तो ऐसा होने से अशुद्धता नहो सकनेसे उसमें पवित्रता विशेष होती और गुणभूषितपनाहोतो जैसे जिन्हें लोग बेचारेसा समझते हैं और उनमें गुण दिखेंतो उसके प्रति बहुत आकर्षण होता है शुद्ध हृदयसे, ऐसे ही कन्याको जब योग्य गुणभूषित निरखते हैं तो लोगोंको उसके आदर्शके प्रति आस्था बहुत होती है। कुछ भी कारणहो यहां कन्याका उदाहरण दिया है कि जैसे कन्या कुलको पवित्र करती है ऐसे ही गुणभूषित सम्यक्त्व लक्ष्मी मुझको पवित्र करे।

ग्रन्थकर्ता व उनका वर्णनीय लक्ष्य—इस ग्रन्थके कर्ता हैं समन्तभद्राचार्य, जिनकी विद्वत्ताके लिए इस पंचमकालमें हुए ऋषिवरोंकी उपमा मिलना कठिन है। इन्हें कलिकाल सर्वज्ञ कहा जाता था। इनकी रचना आप्तमीमांसा, अष्टशती और अष्टसहस्री जैसी विशाल दृढ़ टीकायें लिखी गई हैं। कैसा प्रभुका स्तवन करते करते समस्त न्यायोंको स्पष्ट कर डालते हैं। वृहत्स्वयंभूस्तोत्र, जिसमें स्तुति तोकी गई है २४ तीर्थंकरोंकी, मगर उस स्तवनमें ही कैसा सयुक्तिक शब्दों द्वारा, संक्षिप्त शब्दों द्वारा न्यायका समस्त हृदय रख दिया है। यह विक्रम सम्वत्की पहली दूसरी शताब्दीके करीब हुए हैं, इनका पाण्डित्य अलौकिक था। समंतभद्राचार्यने इस ग्रन्थमें सर्वप्रथम धर्मका स्वरूप कहा है। सो धर्म हीतो जीवको संसारके संकटोंसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें पहुंचाता है। धर्म बिना जीवका कोई भी शरण नहीं है। कर्मका उदय प्रेरित करता है सो जीव बाह्य-बाह्य बातोंमें लगता है, पर बाह्य बाह्य बातोंमें लगनेमें जो समय गुजारा वह समय निरर्थक रहा। उससे आत्माका कोई प्रयोजन नहीं बना। जो क्षण आत्मस्वभावकी दृष्टिमें गुजरेवे क्षण सफल हैं। सो सर्वप्रथम धर्मका निर्देश किया और संकल्प किया कि मैंतो उस समीचीन, उत्कृष्ट धर्मको कहूंगा, जिसधर्मके प्रसादसे जीव संसारके सर्व संकटोंसे छूटकर अनन्त कालके लिए सहज आनन्द प्राप्त करते हैं, वह धर्म है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप।

जैन शासनकी निष्पक्षता, उदारता व सर्वहितकारिता—सम्यग्दर्शनमें देव, शास्त्र, गुरुका

यथार्थ श्रद्धान होना ये सब साधन बनते हैं सहज आत्मस्वरूपके अनुभवके। सम्यग्दर्शन प्रत्येक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंमें प्रकटहो सकता है। चाहे ७वें नरकका नारकी भीहो उसके भी सम्यक्त्वहो सकता है। हां इतनी बात अवश्य है कि सम्यक्त्व छूट जायगा मरणसे पहले नारकीका। जिनके क्षायिक सम्यक्त्व है, अथवा जो नरकसे निकलकर तीर्थंकर होंगे, उनका सम्यक्त्वतो दृढ़ है, पर शेष नारकियोंके सम्यक्त्व मरण समयमें छूट जाता है। परहो तो गया सप्तम नरकके नारकीको भी। जो शारीरिक कठिन वेदनायें सह रहा है ऐसा नारकी जीव भी सम्यग्दर्शनके प्रतापसे धीर मन वाला बना हुआ है। सम्यग्दर्शन चाण्डालके भीहो जाता है। बिल्ली, घोड़ा, हाथी, चूहे, मेंढकके भी हो जाता है। होता है बिरलेको, जिसको देशनालब्धि कभी प्राप्त हुई और निर्मल परिणाम बन रहा है, परहो सकता है प्रत्येक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तको। धर्म कितना उदार है और उसका प्ररूपक जैन शासन कितना उदार है वह जीव मात्रको निरखता है। जो भी आत्मदृष्टि करेगा वह मोक्ष मार्गमें लगता है, ऐसी उदारतापूर्ण घोषणा है जैन शासनकी, वह नारकीहो, तिर्यञ्चहो, मनुष्यहो, देवहो। हां वस्तुस्वरूप ही है ऐसा कि संयम मनुष्यके ही पायाजा सकेगा। और निर्ग्रन्थ होकर आत्म आराधनाके प्रतापसे निर्वाण मनुष्य हीपा सकते हैं। जो जैसी बात है उसको उस प्रकारसे जैन शासनने बताया है। जैन धर्म किसी एक सम्प्रदायका धर्म नहीं, जैन धर्म किसीके कुलके कारण धर्म नहीं। जैन शासनका नाता आत्मभावोंसे है। आत्मा सभी जीव हैं, हां यह उन आत्मावोंकी उस पर्यायकी योग्यता है जिससे कि असंज्ञी जीव सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं कर सकते। तो इसे यह न कहा जायगा कि यह पक्षपातकी बात कहता है। क्या करें, आचार्य देव विवश हैं उन असंज्ञी जीवोंमें ऐसी योग्यता ही नहीं है। जिसमें योग्यता है वही सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है, और वहां जैन मार्गका अनुसरण कर अनेक प्रकृतियोंका सम्वर और निर्जरा कर सकता है। जैन शासनकी निष्पक्ष घोषणा है जो वीतराग और सर्वज्ञ हैं वहतो देव हैं। जो निर्दोष वस्तुस्वरूपका कथन करने वाली वाणी है वह शास्त्र है और विषयोंसे विरक्त होकर ज्ञान, ध्यान तपश्चरणमें ही लीन रहने वाले साधु गुरु हैं। इनका श्रद्धान सम्यक्त्वका साधन है, क्योंकि सम्यक्त्व होने पर इनका ही आश्रय और प्रयोग मोक्षमार्गमें बढ़ता है।

सम्यग्दृष्टिका सम्यक्त्वाचरण—जिसके सम्यग्दर्शनहो गया वह अपने आत्मामें रंच भय और शंका नहीं रखता। उसकी दृष्टिमें यह सहज परमात्मतत्त्व स्पष्ट सामने है। जिसके निरखनेपर किसी प्रकारका भय नहीं रहता। सम्यग्दृष्टि जीव एक आत्मविकासके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं चाहता। कर्मोदयसे कैसीही विपत्तियां आयें, उनमें घबड़ाता नहीं, चित्त गिराता नहीं। इसको किसी भी व्यामोहमें आकर्षण नहीं होता। अपने गुणोंके विकासमें बढ़नेकी ही धुन इस ज्ञानी पुरुषकी होती है। वह बाहरके दोषोंको नहीं निरखता, न दोषदृष्टिमें उसका चाव है। फिर भी कहीं दोष विदितहो दूसरेमें तो उनकी उपेक्षा करता है। अथवा साधर्मी तपस्वीजनोंमें दोषहो गए होंतो धर्मभक्तिके कारण उन दोषोंको छुपाता है, सदैव अपने आपको मोक्षमार्गमें लगाये हुए है और सहवासी साधर्मीजनोंको भी इस मार्गमें लगे रहनेकी प्रेरणा करता है। अनूठा अनुराग है इस ज्ञानी पुरुषका साधर्मीजनोंमें, ऐसा अनुराग कुटुम्बीजनोंके प्रति असम्भव है। लोग सर्वाधिक प्रेम कुटुम्बियोंमें करते हैं मगर वहां स्वच्छ प्रेम नहीं होता। उसमें

मोह भरा हुआ है, खुदगर्जीको लिए होता है, विषयसे सम्बंधित होता है, पर जिसने जिन अंतस्तत्त्वका अनुभव किया है उसको ऐसे अनुभवी पुरुषोंके प्रति निश्छल प्रेम होता है। यह ज्ञानी जीव अपने आपके आचार विकासमें लगा रहता है और उसकी वृत्तिसे सहजही जैन शासनकी प्रभावना होती रहती है।

सम्यक्त्व सहित देशसंयमकी अर्थकारिता—सम्यग्दर्शन आचरणका मूल है। जिसके सम्यक्त्व नहीं उसके आचरण है, वह बेतुकी क्रिया करके कहा जायगा। जिसका लक्ष्य ही सिद्ध नहींहो पाता उसके आचरणका क्या महत्त्व है? भले ही मंद कषाय होनेसे कुछ पुण्यबंधहो गयातो उससे कुछ सुविधापूर्ण जन्मले लेगा इससे अधिक और क्या पायगा? 'ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञानहीहो', इस स्थितिके होनेका जो आनन्द है उसको सम्यक्त्वहीन कभीपा ही नहीं सकता। ऐसा यह सम्यग्दृष्टि अपने स्वानुभवमें प्रसन्न होता हुआ आगे बढ़ना चाहता है। सो चूंकि पहले बहुतसी विषयकषाय घटनाओंकी बाधा रही आयी और उसका संस्कार कुछ रूपमें शेष रह गयातो उससे बाधा आती है स्वात्ममग्न होनेमें। सो परिग्रहोंका त्याग करना, विघ्न बाधावोंको हटाना मात्र है। बाह्य परिग्रहोंके त्यागसे कहीं आत्मविकास नहीं बढ़ा। आत्मविकासतो सहज आत्मस्वरूपकी उपासनासे बढ़ा। मगर ऐसेही योग्यताका मनुष्य है कि पूर्वबद्ध कर्मका संस्कार इस आत्मविकासको नहीं बढ़ने देता—तो उनकाजो बाह्य साधन है, आश्रयभूत कारण है धन वैभव आदिक, उनका त्याग करना, यह ही बाह्य आचारमें बढ़ना कहलाता है। सो गृहस्थ पहिले क्या त्याग करता है, फिर किस तरह त्यागमें बढ़ता है और साथ ही आत्माकी आराधनामें बढ़ता है बस इसही प्रक्रियामें श्रावककी ११ प्रतिमायें बन जाती हैं, सो यह श्रावक उन प्रतिमावोंमें बढ़-बढ़कर ऐसी अपनी शक्ति बढ़ाता है कि सहज आत्मस्वरूपका वह अनुभव अधिक बार करता रहे।

सम्यक्त्वकी सर्वगुणविकासमूलता—इस ग्रन्थमें मुख्यतया सम्यक्त्व और श्रावकके व्रतोंका वर्णन है। सब सदाचारोंका आधार सम्यग्दर्शन है, इस सम्यक्त्वके होनेपर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान बनता है। चारित्र सम्यक्चारित्र बनता है। सम्यक्त्व आत्मविकासका मूल है। एक लोकमें प्रसिद्ध बात है कि कोई किसी पुरुषकी प्रशंसा करता है तो उसको यों कहकर कहते है कि यहतो सिंहके समान है। वीर है, मगर जरा सिंहकी वृत्तितो निहारो, सिंह मांस खाता है, वह क्रूर प्राणी है। मनुष्यादिकको देख लेतो उसके प्राणघात कर डाले। परन्तु लोग सिंहकी उपमा देते हैं, जिसकी प्रशंसाकी जाती है कि यह पुरुष सिंहके समान है अर्थात् यह पुरुष दूसरोंको मारने वाला है, क्रूर है, यह अर्थ हुआ, पर लोग बड़े चावसे सिंहकी उपमा सुनना पंसद करते हैं, और उसे कहते हैं सिंह वृत्ति। सिंहसे तो अच्छा और बढ़कर कुत्ता है जो कि अपने स्वामीकी सेवा करे, विनयशील रहे, गोदमें लेटे, पहरा देवे, बारबार मुख ताके और कृतज्ञ रहे। देखिये कितने गुण हैं कुत्तेमें। इन गुणोंमेंसे एक भी गुण सिंहमें नहीं है। यदि किसी पुरुषकी प्रशंसा करनाहो तो यह कहना चाहिए कि यह पुरुषतो कुत्तेके समान है, इसकी हम कहां तक बड़ाई करें, कुत्तेके समान परोपकारी है, पर ऐसा क्यों नहीं कहते लोग? उसका कारण यह है कि कुत्तेमें एक अवगुण ऐसा है जिसकी वजहसे उसके इन सारे गुणों पर पानी फिर गया, और सिंहमें एक गुण ऐसा है भीतरी कि जिसके कारण सिंहके सारे अवगुण माफसे कर दिए गए। वे गुण अवगुण क्या हैं? कुत्तेमें अवगुण

यह है कि उसे यदि कोई लाठी मारेतो वह कुत्ता उस लाठीको चबाता है, लाठीको अपराधी समझता है, उसकी बुद्धिमें यह बात नहीं आती कि मेरेको मारने वालातो यह पुरुष है। इसको कहते हैं मिथ्याबुद्धि। और इनके प्रतिपक्षमें सिंहमें यह गुण है कि कोई सिंहको तलवार मारे या कोई बंदूकका निशाना लगायेतो तलवार या बंदूक पर उसकी दृष्टि नहीं जाती। वह सीधे उस मारने वाले पुरुष पर हमला करता है। उसके सही बुद्धि है। तो ऐसे ही भेदविज्ञानी पुरुष अपनेको सताने वाले विषयकषाय पर ही धावा बोलता है, आश्रयभूत कारणों पर धावा नहीं बोलता। यह लक्ष्य बन जाता है ज्ञानी पुरुषका जिससे कि वह मोक्षमार्गमें आगे बढ़ने के लिए निर्विघ्न सफलहो जाता है।

देशसंयम, सकलसंयमकी साधना करके निश्चयरत्नत्रयाराधक होकर परमात्मत्व अवस्था पानेके पौरुषकी भावना—इस रत्नकरण्डमें आत्मसाधनाका यह क्रम संकेतित किया है कि प्रथमतो कल्याणार्थी निर्दोष सम्यक्त्वको प्राप्त करे जिसमें शंका कांक्षा आदि अङ्गविपरीत दोष नहो, देवमूढ़तादिक तीन मूढ़ताओंमेंसे कोई भी मूढ़ता नहो, ज्ञानमद आदि आठ मदोंमें से कोई भी मद न हो, कुदेवाश्रय आदि छह अनायतनोंमेंसे कोई भी अनायतन नहो। सम्यग्दृष्टि पुरुष दर्शनप्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमावोंमें एकदो आदि प्रतिमावोंको निरतिचार पालन कर जीवन बिताता व्रतपालन करके निष्प्रतीकार बुढ़ापा, रोग आदि उपस्थित होने पर सल्लेखना धारण करना कर्तव्य है। यों धर्मसाधन कर सल्लेखना सहित मरण कर श्रावक शुभ गतिमें जन्म लेता है पश्चात् कर्मभूमिमें मनुष्यभव पाकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर अभेदाउपासना करके निर्वाण प्राप्त कर सकता है। निर्वाणलाभ ही सर्वोत्कृष्ट लाभ है। अतः जीवनमें ध्येय एकमात्र यह ही रखनेमें कल्याण है कि मुझेतो परमात्मत्व अवस्था पाना है। परमात्मत्वसे पहिलेकी अवस्थायें सब मेरे लिए व्यर्थ हैं विडम्बनारूप हैं। अतः मैं शुद्धावस्था पानके लिए निज सहज शुद्ध चैतन्य स्वभावमें ही उपयोगको मग्न करूंगा।

॥ इति समाप्त ॥

मैं ज्ञान मात्र हूं मेरे स्वरूप में अन्य का प्रवेश नहीं अतः निर्भार हूं।
मैं ज्ञानघन हूं, मेरे स्वरूप में अपूर्णता नहीं, अतः कृतार्थ हूं।
मैं सहजानन्दमय हूं, मेरे स्वरूप में कष्ट नहीं, अतः स्वयं तृप्त हूं।
ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धम् चिदस्मि॥